卐 श्री महावीराय नमः 卐

जैन ज्ञान प्रकाश

(सम्पूर्ण दो खण्डों में)

लेखकः

जैन-धर्म दिवाकर, आगम रत्नाकर

आचार्य सम्राट् पूज्य श्री आत्माराम जी महाराज

के सुशिष्य

जैन भूषण, महाश्रमण

श्रद्धेय गुरुदेव श्री ज्ञान मुनि जी महाराज

संपादकः

जैन धर्म दिवाकर, ध्यानयोगी, युगपुरुष

आचार्य सम्राट् श्री शिव मुनि जी महाराज

प्रकाशकः

भगवान् महावीर मेडिटेशन एण्ड रिसर्च सेंटर ट्रस्ट

कुप्पकलां (पजाब)

पुस्तक : **जैन ज्ञान प्रकाश**

अदृष्ट आशीष : जैन धर्म दिवाकर आचार्य सम्राट् श्री आत्माराम जी महाराज

लेखक : जैन भूषण महाश्रमण श्रद्धेय गुरुदेव श्री ज्ञान मुनि जी महाराज

पूर्व सं. संपादक : मुनि श्री समदर्शी जी

सम्पादक : आचार्य सम्राट् श्री शिव मुनि जी महाराज

सहयोग : श्रमण संघीय मंत्री श्री शिरीष मुनि जी महाराज

प्रथम संस्करण : ई. सन् 1962

द्वितीय सस्करण : ई. सन् 1985

तृतीय संस्करण : मार्च 2008

प्रतियां : 1100

प्रकाशक : भगवान् महावीर मेडिटेशन एण्ड रिसर्च सेंटर ट्रस्ट
कुप्प कलां (पंजाब)

सहयोग राशि : 200 रुपए मात्र

प्राप्ति स्थान : 1. भगवान् महावीर मेडिटेशन एण्ड रिसर्च सेंटर ट्रस्ट
आदीश्वर धाम, कुप्प कलां, जिला-संगरूर, पंजाब

2. श्री अनिल जैन
1924, गली नं. 5, कुलदीप नगर
लुधियाना (पंजाब) फोन : 09417010298

मुद्रण व्यवस्था : कोमल प्रकाशन,
विनोद शर्मा, म. नं. 2088/5, गली नं. 19
प्रेम नगर, नई दिल्ली-110008
फोन : 011-65830064, 9210480385

समर्पण

शिक्षा, समता और समाधि के

स्वयंभूरमण

भक्तवत्सल

अनन्त उपकारी

आचार्य सम्राट् श्री आत्माराम जी महाराज

एवं

ज्ञान के गौरिशिखर

गुरुदेव

राष्ट्रसंत

महाश्रमण श्री ज्ञान मुनि जी महाराज के

अदृष्ट पाणि-पद्मों में

अनन्त आस्थाओं के साथ

अर्पित !

त्वदीयं वस्तु तुभ्यमेव समर्पये !

– *शिव मुनि*

(श्रमण संघीय आचार्य)

प्रकाशन-सहयोगी

धर्मप्राण सुश्रावक श्री चम्पालाल जी मकाना, दौंडबालापुर एवं माननीय श्रावकरत्न श्री किशन लाल जी कोठारी, बैंगलौर के सौजन्य से प्रस्तुत ग्रन्थ का प्रकाशन सम्पन्न हुआ है। आप दोनों महानुभाव देव, गुरु और धर्म के प्रति अनन्य आस्था रखने वाले श्रावकरत्न हैं। आचार्य श्री के प्रति अनन्य आस्थाशील ये दोनों महानुभाव सामाजिक, सांस्कृतिक और धार्मिक सेवा के प्रत्येक सुप्रसंग पर तन, मन और धन से अपनी सेवाएं समर्पित करते रहते हैं।

प्राप्त सौजन्य के लिए भगवान् महावीर मेडिटेशन एण्ड रिसर्च सेंटर ट्रस्ट आपका हार्दिक धन्यवाद ज्ञापित करता है।

— प्रकाशक

दो शब्द

'जैन ज्ञान प्रकाश' परम पूज्य गुरुदेव पंजाब केसरी श्री ज्ञान मुनि जी महाराज द्वारा रचित एक कालजयी ग्रन्थ है। इस ग्रन्थ की रचना श्रद्धेय गुरुदेव ने सन् 1962 में की। प्रश्नोत्तर शैली में होने से उन्होंने इस ग्रन्थ को "प्रश्नों के उत्तर" नाम प्रदान किया। जैन जगत में इस ग्रन्थ को बड़े आकर्षण के साथ पढ़ा गया। स्वल्प कालावधि में ही ग्रन्थ अप्राप्त प्राय: हो गया।

दूसरी बार इस ग्रन्थ का प्रकाशन सन् 1985 में हुआ। इस परिवर्द्धित संस्करण को श्रद्धेय गुरुदेव ने "हमारे समाधान" नाम से पाठकों के समक्ष उपस्थित किया। पूर्व की भांति अधिक से अधिक पाठकों ने इस ग्रन्थ को पढा। गुरु-कृपा से मुझे भी यह ग्रन्थ पढ़ने का अवसर मिला। इस ग्रन्थरत्न का सांगोपांग अध्ययन करने से मेरी अनेक जिज्ञासाएं स्वत: समाधीत हो गईं। साथ ही जैन धर्म और जैन दर्शन की विशाल ज्ञान राशि को हृदयंगम कर मेरा मानस प्रफुल्लित हो उठा। दर्शन जैसे गुरु-गंभीर विषय को श्रद्धेय गुरुदेव ने जिस सरलता और तरलता से व्याख्यायित किया है यह उन जैसे समर्थ कलमधर से ही संभव हो सकता था। मैं सोचता हूं कि अल्पज्ञ पाठक भी इस ग्रन्थ के माध्यम से जैन धर्म और दर्शन का व्यापक ज्ञान प्राप्त कर सकता है।

श्रद्धेय गुरुदेव का अपना जीवन बहुत ही सरल, मृदु और दर्पण की भांति पारदर्शी था। बनावट या दिखावट से वे कोसों दूर थे। जो एकांत में थे वही सबके सामने थे, और जो सबके सामने थे वही अपने अंतस् में थे। उनकी उसी सरल साधुता से यह अद्‌भुत ग्रन्थ अवतरित हुआ है जिसमें कहीं भी जटिलता नहीं है। विचारों की तार्किक स्पष्टता और भाषा की प्रवाहशीलता इतनी विलक्षण है कि पाठक कहीं भी अटकता नहीं है, विषय को समझने के लिए उसे कहीं पर भी अपनी कल्पनाओं को दौड़ाना नहीं पड़ता है। जिह्वा पर रखा मधु-कण जिस प्रकार स्वत: पिघल कर मुख को मिठास से भर देता है उसी प्रकार ग्रन्थ का एक-एक शब्द हृदय में सत्य का आलोक जगा देता है।

श्रद्धेय गुरुदेव का यह महान अवदान चार दशक पूर्व जितना उपयोगी था, मैं

सोचता हूं आज यह उससे भी अधिक उपयोगी है। भौतिक सुख-साधनों की दौड़ में संलग्न आज के मानव के पास इतना अवकाश नहीं है कि वह कठिन और जटिल ग्रन्थों के अध्ययन के लिए समय निकाल सके। उसे सरल और सीधी बात पसंद है जिसे वह सहजता से हृदयंगम कर सके। आज के पाठक की इस रुचि को प्रस्तुत ग्रन्थ शत-प्रतिशत पूर्ण करता है। इस ग्रन्थ की इसी विशेषता ने मुझे विशेष रूप से आकर्षित किया और इसके पुनर्मुद्रण के प्रति मेरे हृदय में जिज्ञासा का जन्म हुआ। अपनी जिज्ञासा को मैंने परम पूज्य गुरुदेव युग पुरुष आचार्य सम्राट् श्री शिवमुनि जी महाराज के समक्ष रखा। परम पूज्य आचार्य श्री ने मेरी जिज्ञासा को न केवल अपने आशीष का संबल दिया बल्कि इस ग्रन्थ को स्वयं पढ़कर और अपेक्षित संशोधन-संपादन करके पूर्वापेक्षया और अधिक महत्वपूर्ण बना दिया।

इस ग्रन्थराज की व्यापक विषय-वस्तु को देखते हुए परमपूज्य आचार्य श्री ने इसे नवीन संस्करण के साथ नवीन नाम "जैन ज्ञान प्रकाश" भी प्रदान किया।

इस ग्रन्थ की विषयवस्तु के अनुरूप इसे दो खण्डों में रखा गया है। प्रथम खण्ड के नौ अध्यायों में जैन और जैनेतर दर्शनों की पारस्परिक समानता और असमानता का दिग्दर्शन कराते हुए जैन दर्शन के विशाल और विराट सर्वमंगल रूप चिन्तन को प्रस्तुत किया है। द्वितीय खण्ड के नौ अध्यायों में धार्मिक और सैद्धान्तिक विशद चर्चाओं के साथ-साथ स्थानकवासी जैन परम्परा की प्राचीनता और कल्याणरूप मान्यताओं पर प्रकाश डाला गया है।

मुझे पूर्ण विश्वास है कि इस ग्रन्थ का पाठक जैन धर्म और दर्शन के बारे में पर्याप्त ज्ञान प्राप्त कर सकेगा। तृतीय संस्करण के इस प्रकाशन-यज्ञ में मैं अपने श्रम की यत्किंचित् आहुति अर्पित कर सका इसे मैं अपना महान पुण्य मानता हूं।

आत्मा-आत्मा के दीवट में ज्ञान के दीप प्रज्ज्वलित हों, इसी मंगल-मनीषा के साथ-

– शिरीष मुनि
(श्रमण संघीय मंत्री)

संपादकीय

मानव सृष्टि का श्रेष्ठतम प्राणी है। वह श्रेष्ठतम क्यों है? उसके श्रेष्ठतम होने के पीछे तथ्य क्या है? वह श्रेष्ठतम इसलिए नहीं है कि उसे अन्य जीवों की तुलना में श्रेष्ठ और सर्वांग-संपन्न शरीर मिला है, अथवा वह अपने बौद्धिक-बल से सृष्टि के समस्त प्राणियों पर शासन करता है। उसकी श्रेष्ठता का मूल तत्व है-उसका विधायक चिन्तन और उस विधायक चिन्तन के अनुरूप पुरुषार्थ करने की क्षमता।

शरीर के तल पर अपने भले और बुरे की सोच पशुओं में भी है। भूख लगती है तो पशु भोजन खोज लेते हैं, सर्दी-गर्मी का प्रकोप उपस्थित होता है तो उससे बचाव के साधन भी जुटा लेते हैं। पशु जगत में चिन्तन का क्षेत्र यहीं तक सीमित है। क्षुधा-तृषा, सर्दी-गर्मी से आत्म-रक्षा से आगे उनका चिन्तन कुण्ठित हो जाता है। मनुष्य की श्रेष्ठता इसी तत्व में निहित है कि वह उससे आगे भी सोच सकता है। शरीर-निर्वाह से आगे जब मानव ने सोचना शुरू किया तभी से वह पशु के स्तर से उठकर विशिष्ट स्तर का अधिकारी बना। उसने सृष्टि में श्रेष्ठतम प्राणी होने का गौरव हासिल किया।

क्या है मनुष्य का विशिष्ट चिन्तन?

वह विशिष्ट चिन्तन है-भूख क्यों लगती है? सुख-दुख क्यों संवेदनाएं देते हैं? सुख प्रिय और दुख अप्रिय क्यों लगता है? जो अप्रिय है उससे मुक्ति का, और जो प्रिय है उसे अक्षुण्ण रूप में प्राप्ति का अंतिम साधन क्या है? क्या आत्यंतिक रूप से मैं दुख से विरत और सुख से एकरूप हो सकता हूं? ये और ऐसी अनेक जिज्ञासाओं को उत्पन्न करने वाली बुद्धि मानव के पास है। उसी बुद्धि वैशिष्ट्य और तदनुसार सकारात्मक अनुसंधान में विचक्षण होने के कारण ही मानव ने सृष्टि के सर्वश्रेष्ठ प्राणी होने का गौरव पाया है।

जिज्ञासा मानव का सहज स्वभाव है। वह जैसा है, जहां है, उससे सन्तुष्ट नहीं हो पाता है। श्रेष्ठतम और सुन्दरतम को पाने की उसकी जिज्ञासा ही उसे श्रेष्ठतम और सुन्दरतम बनाती है।

आज विज्ञान ने जितनी भी उन्नति की है उसके मूल में मानव की जिज्ञासा वृत्ति ही है।

जिज्ञासा बीज है मनुष्य की समस्त सफलताओं का। समाधान के खाद-पानी से वह बीज पल्लवित और पुष्पित होता है। जिज्ञासा जिज्ञासा ही बनी रहे, उसे समाधान का खाद-पानी न मिले तो बीज वृक्ष होने से पूर्व ही निर्बीज होकर नष्ट हो जाता है।

जिज्ञासा दो तरह की होती है–भौतिक और आध्यात्मिक। भौतिक जिज्ञासा जिज्ञासु को संसार में विकास का अवकाश देती है। आध्यात्मिक जिज्ञासा से जिज्ञासु आत्मान्वेषण के पथ पर बढ़कर अपने भीतर ही परम समृद्धि के स्रोत प्राप्त कर लेता है। आध्यात्मिक जिज्ञासा से बुद्ध जन्म लेता है तो भौतिक जिज्ञासा से आइंस्टीन पैदा होता है। जड़ से जुड़ी आइंस्टीन की जिज्ञासा एक दिन जड़ में ही विलीन हो जाती है। आत्मा में अनुस्यूत जिज्ञासा से उत्पन्न बुद्ध सत्य और समाधान के सर्वोच्च शिखरों का स्पर्श कर लेता है।

श्रद्धेय गुरुदेव पंजाब केसरी श्री ज्ञान मुनि जी महाराज द्वारा रचित प्रस्तुत ग्रन्थ 'जैन ज्ञान प्रकाश' पूर्व में 'हमारे समाधान' नाम से दो बार प्रकाशित हो चुका है। इस ग्रन्थ का प्राण तत्त्व भी जिज्ञासा ही है। गुरुदेव के समक्ष धर्म और दर्शन से सम्बन्धित ऐसे सैकड़ों मौलिक प्रश्न थे जो साधारणत: जिज्ञासुओं के मस्तिष्क में आकार लेते रहते हैं। श्रद्धेय गुरुदेव ने उन मौलिक प्रश्नों के इस ग्रन्थ में सुन्दर समाधान प्रस्तुत किए हैं।

धर्म और दर्शन से सम्बन्धित सरल और जटिल प्रश्नों के वर्णनात्मक शैली में बहुत ही सरलता से समाधान प्रस्तुत करने में श्रद्धेय गुरुदेव ने पूर्ण सफलता प्राप्त की है। गुरुदेव द्वारा प्रस्तुत प्रत्येक जिज्ञासा का समाधान सत्य और तर्क की कसौटी पर खरा उतरता है। इस विशाल ग्रन्थ के सांगोपांग अध्ययन से पाठक को जैन धर्म और दर्शन का मौलिक ज्ञान सहज ही प्राप्त हो जाता है।

अज्ञ-विज्ञ पाठक जगत में यह ग्रन्थ पूर्व संस्करणों की भांति हाथों-हाथ लिया जाएगा ऐसी आशा है।

– आचार्य शिवमुनि

प्रथम संस्करण से

अपनी बात

एक बार मुझे जण्डियालागुरु (अमृतसर) जाने का अवसर मिला। वहां रात्रि को युवक-मण्डल को जैनधर्म सम्बन्धी जानकारी कराने का मौका भी प्राप्त हुआ। यह जानकारी प्रश्नोत्तर के रूप में चलती थी। कभी मैं स्वयं उनसे प्रश्न पूछता फिर उनको उनके उत्तर समझा देता, कभी वे मुझसे अपने प्रश्नों का समाधान मांगते। इस प्रकार ज्ञान-चर्चा करने से बड़ा अच्छा रुचिपूर्ण वातावरण बन जाता था। एक दिन एक युवक ने कहा कि इस प्रकार की ज्ञान-चर्चा से जो जानकारी हमें प्राप्त होती है उसे चिरस्थायी बनाए रखने के लिए एक ऐसी पुस्तक होनी चाहिए, जिसमें जैनधर्म सम्बन्धी मोटे-मोटे सभी प्रश्नों का समाधान किया गया हो और जिसके स्वाध्याय से हम क्षेत्र में साधु-मुनिराजों के विराजमान न होने पर भी ज्ञानचर्चा का लाभ प्राप्त कर सकें। मुझे भी उस युवक की बात पसन्द आई। मैंने भी सोचा कि साहित्य के बिना समाज का कभी विकास नहीं हो सकता, उसके सैद्धान्तिक विचारों तथा आचारों को जनमानस तक पहुंचाने के लिए योग्य साहित्य की नितान्त आवश्यकता हुआ करती है। परिणामस्वरूप मैंने उस युवक को आश्वासन दिया और साधु भाषा में कहा कि मैं इस काम की पूर्ति के लिए यथाशक्य प्रयास करूंगा।

जण्डियालागुरु से विहार होने पर अमृतसर, पट्टी, जीरा आदि क्षेत्रों में भ्रमण करते हुए अन्त में श्रद्धेय जैनधर्म दिवाकर आचार्य सम्राट् गुरुदेव पूज्य श्री आत्माराम जी महाराज के चरणों में लुधियाना पहुंच गए और यहीं आचार्य श्री की सेवा में चातुर्मास हो गया। जण्डियाला की बात मुझे भूली नहीं थी और लुधियाना आने पर तो उसमें और भी दृढ़ता आ गई। अन्त में, मैंने अपने आराध्य जैनधर्म-दिवाकर आचार्य सम्राट् पूज्य गुरुदेव श्री के चरणों का आश्रय लेकर इस काम को चालू कर दिया। आप प्रसन्न होंगे कि आत्मगुरु की कृपा से लगभग सात महीनों में ही पुस्तक तैयार हो गई। जो "प्रश्नों के उत्तर" इस नाम से आपके सामने है। इस पुस्तक में जैनधर्म सम्बन्धी प्रश्नों के उत्तर लिखे गए हैं। पहले प्रश्न और फिर उसका उत्तर, इस पद्धति से इसकी रचना की गई है। इसलिए इस पुस्तक का "प्रश्नों के उत्तर" यह अन्वयर्थ नामकरण किया गया है।

प्रस्तुत पुस्तक दो खण्डों में विभक्त है। पहले खण्ड में दार्शनिक एवं तात्त्विक चर्चा और द्वितीय खण्ड में धार्मिक एवं सैद्धांतिक विचार चर्चा है। प्रत्येक खण्ड में नौ-नौ अध्याय हैं। इस तरह पूरी पुस्तक में निम्न 18 अध्याय हैं –

1. जैनधर्म
2. तत्त्व-मीमांसा
3. बन्ध-मोक्ष मीमांसा
4. जैनधर्म की शाश्वतता
5. आस्तिक-नास्तिक समीक्षा
6. ईश्वर-मीमांसा
7. जैनधर्म और वैदिक धर्म
8. जैनधर्म और बौद्धधर्म
9. जैनधर्म और चार्वाक
10. सप्त-कुव्यसन-परित्याग
11. आगार (गृहस्थ) धर्म
12. अनगार धर्म
13. चौबीस तीर्थंकर
14. स्थानकवासी जैन परम्परा
15. जैन-पर्व
16. भाव-पूजा
17. जैनधर्म और विश्व-समस्याएं
18. लोक-स्वरूप

इस पुस्तक के उक्त अध्यायों में जिन बातों का विवेचन किया गया है, उनको संकलित करने में मुझे अनेकों ग्रंथों और पुस्तकों को देखना पड़ा है। उन सबका नाम निर्देश इसी पुस्तक में अन्यत्र किया जा रहा है। मैंने इन ग्रन्थों और पुस्तकों के कहीं भाव लिए हैं तो कहीं ज्यों की त्यों पंक्तियां उठाई हैं। वस्तुत: इन्हीं पुस्तकों के सहयोग से मैं इस पुस्तक की रचना कर सका हूं। अत: मैं इन ग्रन्थों और पुस्तकों के लेखक महानुभावों का हृदय से आभार मानता हूं जिनके सत्-परिश्रम से लिखी पुस्तकों का सहयोग पाकर मैं अपने मनोरथ को मूर्तरूप देने में सफल हो सका हूं। मैं हृदय से उनका अपने को आभारी पाता हूं।

इस पुस्तक के दूसरे खण्ड के एक अध्याय में आपको विशेष रूप से स्थानकवासी परम्परा द्वारा मान्य दृष्टि का परिचय मिलेगा। इस अध्याय को लिखने का मेरा उद्देश्य केवल स्थानकवासी युवकों, युवतियों को स्थानकवासी परम्परा की मान्यताओं और शिक्षाओं से शिक्षित करना है। अपनी मान्यताओं तथा मर्यादाओं से अपने सामाजिक लोगों को परिचित कराना मेरी दृष्टि में कोई बुराई नहीं है।

इस पुस्तक की प्रेस कॉपी बनाने में धर्मोपदेष्टा श्रद्धेय महासती श्री चन्दा जी महाराज

की सुयोग्य शिष्यानुशिष्याएं विदुषी महासती श्री लज्जावती जी महाराज तथा तपस्विनी श्री सौभाग्यवती जी महाराज की शिष्याएं श्री सीता जी महाराज, श्री कौशल्या जी महाराज, श्री महेन्द्रा जी महाराज आदि पूज्य साध्वियों का पर्याप्त सहयोग रहा है। इनमें भी श्री महेन्द्रा जी महाराज का सहयोग चिरस्मरणीय रहेगा, जो अस्वस्थ होते हुए भी इस कार्य में आशातीत अपना सहयोग देती रही हैं। मैं इस महासती-मण्डल का हृदय से आभारी हूं।

इस पुस्तक के सम्पादक हमारे मान्य मुनिराज पण्डित श्री समदर्शी जी हैं। समदर्शी जी की सम्पादन कला की विशेषता के सम्बन्ध में मैं क्या कहूं? संक्षेप में इतना ही निवेदन किए देता हूं कि समदर्शी जी की लेखनी का स्पर्श पाकर 'प्रश्नों के उत्तर' इस पुस्तक का कायाकल्प ही हो गया है। श्री समदर्शी जी के इस प्रेम भरे श्रम के लिए मैं इनका आभारी हूं।

अन्त में, मैं परम श्रद्धेय जैन धर्म-दिवाकर आचार्य सम्राट् गुरुदेव पूज्य श्री आत्माराम जी महाराज के पावन चरणों का आभारी हूं। क्योंकि इन्हीं के परम प्रताप से, तथा कृपाभाव से ही मैं इस पुस्तक को लिखने की क्षमता प्राप्त कर सका हूं। जैनदर्शन एक अथाह सागर है, जिसका किनारा प्राप्त करना मेरे जैसे अल्प-बुद्धि के वश की बात नहीं है। तथापि मैं इस पुस्तक में जैनधर्म के सम्बन्ध में जो कुछ लिख सका हूं, उसके पीछे मेरे धर्माचार्य आचार्य सम्राट् पूज्य गुरुदेव श्री आत्माराम जी महाराज का प्रबल अनुग्रह ही काम कर रहा है। मेरा अपना इसमें कुछ नहीं है। इसके मूल स्रोत तो श्रद्धेय गुरुदेव आचार्य सम्राट् ही हैं।

अन्त में, मैं अपने बड़े गुरुभाई, संस्कृत-प्राकृत विशारद, पण्डित श्री हेमचन्द्र जी महाराज का आभारी हूं, जो समय-समय पर मेरा मार्ग-दर्शन करते रहते हैं और मुझे प्रत्येक दृष्टि से, पूर्णतया अपना मधुर सहयोग देते रहते हैं।

– ज्ञान मुनि

30-05-1962

मुहल्ला रूपामिस्तरी

जैन स्थानक, लुधियाना

द्वितीय संस्करण

"प्रश्नों के उत्तर" नाम से लगभग 22 वर्ष पहले प्रस्तुत पुस्तक का प्रथम संस्करण प्रकाशित हुआ था। आज भी पाठकों के मन में इसके प्रति बड़ा आदर है। यही कारण है कि आज भी लोग इस पुस्तक को बड़ी उत्कण्ठा तथा लालसा से पढ़ते हैं, पढ़ाते हैं।

इस पुस्तक को लिखने का मेरा लक्ष्य था जैन युवक और युवतियां इसके द्वारा जैनधर्म का ज्ञान प्राप्त करें। एक बार भी यदि कोई इसे पढ़ ले तो जैन धर्म के ज्ञान की दृष्टि से वह व्यक्ति अधूरा न रहे। जहां तक मेरा अनुभव है, मेरा लक्ष्य सफल रहा है। जिसने भी इस पुस्तक को अथ से इति तक ध्यानपूर्वक पढ़ा है, इसका चिन्तन एवं मनन कर लिया है, वह जैन सिद्धान्तों के उपवन में बिना किसी संकोच के मस्ती से भ्रमण करता है, जैनेतर लोगों से चर्चा भी कर सकता है, और उस चर्चा में पूर्णतया सफल रहता है।

प्रथम संस्करण समाप्त था, दूसरे संस्करण की वर्षों से मांग की जा रही थी। मैं इस ख्याल में था कि पुस्तक की मांग काफी है अत: इसका प्रकाशन हो ही जाना चाहिए। प्रसन्नता की बात है कि खरड़ की श्री शालिग्राम जैन प्रकाशन समिति ने इसके प्रकाशन का सब दायित्व संभाल लिया है। समिति के अधिकारियों का मैं हृदय से धन्यवादी हूं। जिन दानी सज्जनों ने साहित्य प्रकाशन के इस महायज्ञ में अपनी-अपनी आहुतियां डालने का औदार्य दिखलाया है उनका भी धन्यवादी हूं।

नाम व आकार परिवर्तन भी किया गया है। हमारे पाठक भविष्य में जो सुझाव देंगे, उनका भी आदर किया जाएगा। अत: पाठकों से निवेदन है कि आपके विचार में पुस्तक में अन्य कौन से प्रश्न और उनके उत्तर आने चाहिएं अवश्य लिखने का औदार्य करें।

धन्यवाद !

जैन स्थानक
फेस-6, नियर वैरियर
26-09-1984

– ज्ञान मुनि
मोहाली (रोपड़)
पंजाब

अनुक्रमणिका

प्रथम खण्ड : पृष्ठ 25 से 270

(दार्शनिक एवं तात्विक-चर्चा)

जैन धर्म : प्रथम अध्याय–पृष्ठ 25 से 65

तत्त्व मीमांसा : द्वितीय अध्याय–पृष्ठ 66 से 121

बन्ध-मोक्ष-मीमांसा : तृतीय अध्याय–पृष्ठ 122 से 168

जैनधर्म की शाश्वतता : चतुर्थ अध्याय–पृष्ठ 169 से 183

आस्तिक-नास्तिक समीक्षा : पंचम अध्याय–पृष्ठ 184 से 193

ईश्वर-मीमांसा : षष्ठम अध्याय–पृष्ठ 194 से 218

जैनधर्म और वैदिकधर्म : सप्तम अध्याय–पृष्ठ 219 से 244

जैन धर्म और बौद्ध धर्म : अष्टम अध्याय–पृष्ठ 245 से 261

जैन-दर्शन और चार्वाक दर्शन : नवम अध्याय–पृष्ठ 262 से 270

द्वितीय खण्ड : पृष्ठ 271 से 602

(धार्मिक तथा सैद्धान्तिक चर्चा)

सप्त कुव्यसन-परित्याग : दशम अध्याय–पृष्ठ 273 से 329

आगार-धर्म : ग्यारहवां अध्याय–पृष्ठ 330 से 390

अनगार-धर्म : बारहवां अध्याय—पृष्ठ 391 से 428

चौबीस तीर्थंकर : तेरहवां अध्याय–पृष्ठ 429 से 470

स्थानकवासी जैन परम्परा : चौदहवां अध्याय–पृष्ठ 471 से 513

जैन पर्व : पन्द्रहवां अध्याय–पृष्ठ 514 से 532

भाव पूजा : सोलहवां अध्याय–पृष्ठ 533 से 552

जैन-धर्म और विश्व-समस्याएं : सत्रहवां-अध्याय पृष्ठ 553 से 568

लोक-स्वरूप : अठारहवां अध्याय-पृष्ठ 569 से 602

परिशिष्ट

जैन ज्ञान प्रकाश

प्रथम खण्ड

[दार्शनिक एवं तात्विक चर्चाएं]

प्रथम अध्याय

जैन-धर्म

✓ **प्रश्न**–'जैन' शब्द का शाब्दिक अर्थ क्या है?

उत्तर–'जैन' जिन शब्द से निष्पन्न होता है। 'जिन' शब्द जि=जये धातु से बना है[1], अर्थात् जो जीतता है, विजय प्राप्त करता है, वह जिन[2] है और उस विजेता का उपासक जैन कहलाता है।

प्रश्न–क्या जिन भी दूसरे पर विजय प्राप्त करता है? उसके भी कोई शत्रु हैं?

उत्तर–जिन एक महान विजेता होता है। वह अपने मोह, लोभादि असाधारण शत्रुओं को परास्त करके जगन्नाथ बनता है। परन्तु, उसकी यह विजय किसी मानव पर नहीं होती, वह किसी इन्सान को नहीं पछाड़ता। उसका संघर्ष किसी जीवधारी से नहीं, परन्तु राग-द्वेष से, काम-क्रोध से और मनोविकारों से होता है। वह अनन्त काल से संसार चक्र में परिभ्रमण कराने वाले, नरक के महागर्त में गिराने वाले राग-द्वेष को परास्त करता है। वस्तुत: राग-द्वेष ही आत्मा के असली शत्रु हैं। मानव-मानव में शत्रुता का भाव पैदा करने वाले ये ही हैं। इन्हीं के कारण मनुष्य बाह्य शत्रुओं की कल्पना करता है, एक इन्सान दूसरे इन्सान को अपना दुश्मन समझने लगता है।

राग और द्वेष मानव-मन के विकारी भाव हैं। मनपसन्द वस्तु पर मोह या आसक्ति को राग और नापसन्द वस्तु से नफरत, घृणा एवं तिरस्कार करने की वृत्ति को द्वेष कहते हैं।

राग और द्वेष ही संसार परिभ्रमण के मूल कारण हैं। इनसे मन में मोह जागता है। मोह से कर्म का बन्ध होता है। कर्म-बन्ध ही जन्म-मरण का मूल कारण है और जन्म-मरण ही

1. जि जये, जयतीति जिन:, जिनो देवताऽस्य इति जैन:।
2. It is also applicable to all those men and women who have conquered their lower nature and who have by means of a thorough victory over all attachments and anti-pathies realised the Highest.

–Dr. Radhakrishnan, Indian Philosophy, I; p. 286.

वास्तविक दु:ख है।[1] वस्तुत: राग-द्वेष ही दु:ख-दैन्य के मूल कारण और आत्म-विकास के प्रतिबन्धक हैं। इन अन्तरंग महाशत्रुओं को जीतने वाले महापुरुष को जिन कहते हैं।

प्रश्न—जिन कौन होते हैं?

उत्तर—जो जीवन के काम-क्रोध-मोह-लोभ आदि विकारों को जीतता है, उन पर विजय प्राप्त करता है, वह जिन है। जिन किसी व्यक्ति-विशेष का नाम नहीं है। न उस पर किसी सम्प्रदाय, धर्म, पंथ या मजहब का ही आधिपत्य है। जिनत्व देश, जाति, मजहब, रंग एवं वर्गभेद के खूंटों से बंधा हुआ नहीं होता। भगवान् महावीर के शब्दों में, राग-द्वेष पर विजय प्राप्त करने वाला प्रत्येक मानव जिन बन सकता है। चाहे वह किसी भी जाति का हो, किसी भी देश का हो, किसी भी पंथ का हो, किसी भी लिंग में हो, किसी भी वेश-भूषा में हो। यही कारण है कि जैन-दर्शन में सिद्ध 15 प्रकार के बतलाये हैं।[2] हां तो, राग-द्वेष, काम-क्रोध, मोह-माया आदि मनो-विकारों का उन्मूलन करने वाला जिन होता है। जिसे सर्वज्ञ, वीतराग, अर्हन्त, परमात्मा, तीर्थंकर आदि अनेक नामों से स्मरण किया जाता है।

प्रश्न—'जैन समाज' किसे कहते हैं?

उत्तर—इस वाक्य में जैन और समाज दो शब्द हैं। जैन उस व्यक्ति को कहते हैं—जो जिन का उपासक है। समाज का अर्थ है—व्यक्तियों का समुदाय। जिन भगवान् के उपासक व्यक्तियों, या यों कहिए कि जिनत्व की साधना के पथ पर गतिशील व्यक्तियों के समूह को जैन-समाज कहते हैं। जैन कोई जाति नहीं, समाज है, धर्म है। किसी भी जाति का, रंग का, देश का व्यक्ति जैन बन सकता है। भगवान् महावीर के शासन में सभी जाति के मुनि एवं गृहस्थ सम्मिलित थे। भगवान् महावीर स्वयं क्षत्रिय थे, गौतम स्वामी ब्राह्मण थे, जम्बू स्वामी वैश्य थे और हरिकेशी मुनि चाण्डाल (हरिजन) थे। सद्गृहस्थों में शकडालपुत्र कुम्हार थे,

---

1. रागो य दोसो वि य कम्मबीयं, कम्मं च मोहप्पभवं वयंति।
   कम्मं च जाइ-मरणस्स मूलं, दुक्खं च जाइ-मरणं वयंति।।

   —उत्तरा०, अ० 32, गा० 7.

2. 15 प्रकार के सिद्ध होते हैं—1. तीर्थ-सिद्धा, 2. अतीर्थ-सिद्धा, 3. तीर्थंकर सिद्धा, 4. अतीर्थंकर-सिद्धा, 5. स्वयंबुद्ध-सिद्धा, 6. प्रत्येकबुद्ध-सिद्धा, 7. बुद्धबोधित-सिद्धा, 8. स्वलिंग-सिद्धा, (जैनमुनि वेश में) 9. अन्य-लिंग-सिद्धा (जैनेतर संन्यासियों के वेश में), 10. गृह-लिंग-सिद्धा (गृहस्थ के वेश में), 11. स्त्रीलिंग-सिद्धा, 12. पुरुषलिंग-सिद्धा, 13. नपुंसकलिंग-सिद्धा, 14. एक-सिद्धा, 15. अनेक-सिद्धा।

आनन्द पटेल (जाट) थे और सुलसा बढ़ई जाति की नारी थी। सब के साथ समान व्यवहार होता था, घृणा एवं तिरस्कार की भावना नहीं थी। काश ! आज के जैन जातिगत सहिष्णुता को कायम रख सकते, तो जैनधर्म उन्नति के शिखर से कभी नहीं गिर पाता।

प्रश्न–जैन हिन्दू हैं या नहीं?

उत्तर–यह एक महत्वपूर्ण प्रश्न है, जिस पर हमें जरा गहराई से सोचना-विचारना एवं समझना है।

हिन्दू शब्द के आज तीन अर्थ हमारे सामने हैं। एक भौगोलिक, दूसरा धार्मिक एवं तीसरा राष्ट्रीय। भौगोलिक दृष्टि से सिन्धु नदी के इस ओर बसने वाले लोग सिन्धु कहलाते थे। जब फारसी इधर आये तो वे उन्हें हिन्दू कहने लगे। क्योंकि फारसी में 'स' का उच्चारण 'ह' होता है। इससे पहले-पहल सिन्धु नदी के मैदान में बसने वाले लोगों के लिए हिन्दू शब्द का प्रयोग शुरू हुआ और धीरे-धीरे सारे भारतीयों के लिए इसका प्रयोग होने लगा। इसी के आधार पर भारत को भी हिन्दुस्तान के नाम से पुकारने लगे।

कुछ काल के बाद वैदिक परम्परा ने हिन्दू शब्द को अपना लिया। फलत: वैदिक परम्परा-मान्य क्रियाकाण्ड करने वाले व्यक्ति को हिन्दू कहने लगे। इस तरह हिन्दू शब्द एक सम्प्रदाय विशेष के लिए प्रयुक्त होने लगा।

जब देश में राष्ट्रीयता का विकास हुआ तो उसके साथ-साथ हिन्दू शब्द के अर्थ का भी विस्तार हो गया। राष्ट्रीय दृष्टि से हिन्दू वह है, जो हिन्दुस्तान को अपनी मातृभूमि, पितृभूमि एवं पुण्यभूमि मानता है, जो राष्ट्र के प्रति ईमानदार है और अपना राष्ट्रीय दायित्व निभाता है।

भौगोलिक एवं राष्ट्रीय परिभाषा के अनुसार जैन भी हिन्दू हैं। वे भारत के निवासी हैं, भारत को अपना देश मानते हैं, मातृभूमि, पितृभूमि और अपनी पुण्यभूमि समझते हैं एवं राष्ट्रहित के लिए अपनी सेवाएं देते रहे हैं और दे रहे हैं।

हिन्दू शब्द का जब 'वैदिक धर्मावलम्बी' अर्थ किया जाता है, तब जैन अपने आपको हिन्दू नहीं समझते। धर्म के सम्बन्ध में अब यह भ्रम दूर हो गया है कि जैन धर्म वैदिक धर्म या किसी अन्य धर्म की शाखा है[1]। वह वैदिक-धर्म से भिन्न एक स्वतन्त्र और मौलिक धर्म है। उसका धार्मिक आचार-विचार वैदिक आचार-विचार से सर्वथा भिन्न है। अत: धार्मिक दृष्टि से जैन जैन हैं, वैदिक नहीं।

---

1. इस विषय पर आगे के पृष्ठों में विस्तारपूर्वक विचार करेंगे।

वास्तव में हिन्दू एक जाति (राष्ट्रीय जाति) है, न कि धर्म। राष्ट्र के दुर्भाग्य से कुछ लोगों ने हिन्दू शब्द को धर्म की साम्प्रदायिक कारा में कैद कर लिया। इससे राष्ट्र को समय-समय पर अनेकों कठिनाइयों का सामना करना पड़ा। राष्ट्र के अन्य धर्म जैन, बौद्ध, सिख, मुसलमान आदि जिन को वैदिक धर्म पर विश्वास नहीं था, अलग हो गये। इससे राष्ट्र की आन्तरिक शक्ति कमजोर हो गई और वह परतन्त्रता की बेड़ी में जकड़ा गया। समय ने करवट ली और देश में फिर से राष्ट्रीयता की भावना उद्बुद्ध हुई जिससे हिन्दू शब्द को साम्प्रदायिकता की काल कोठरी से मुक्त करके विशुद्ध राष्ट्रीय क्षेत्र में लाने का प्रयास किया जा रहा है। परिणामस्वरूप भारत में रहने वाला प्रत्येक व्यक्ति अपने आप को हिन्दू मानने में गौरव का अनुभव करने लगा है। सदियों से बिखरे मनके फिर से एक माला में इकट्ठे हो रहे हैं। यह राष्ट्र का सद्भाग्य ही है।

प्रश्न--जैन धर्म का क्या अर्थ है?

उत्तर--जैनधर्म का अर्थ समझने से पहले यह समझ लेना आवश्यक होगा कि धर्म के उद्भव होने का क्या कारण रहा है? मनुष्य के सामने ऐसी कौन-सी कठिन एवं जटिल समस्याएं आईं जिन्हें सुलझाने के लिए उसे धर्म का सहारा लेना पड़ा? ऐसी कौन-सी परिस्थितियां उपस्थित हुईं जिनके कारण उसके मन में धर्म की प्रखर ज्योति उद्बुद्ध हुई?

कुछ विद्वानों का अभिमत है कि प्रकृति के अनोखे कार्यों को देख कर मनुष्य के मन में एक विचारणा प्रस्फुटित हुई और उसने चिन्तन का रूप लिया। चिन्तन की गहराई में गोता लगाते-लगाते उसकी विचारधारा वहां जा पहुंची जिसके आगे तर्क एवं बुद्धि की पहुंच नहीं थी। इसी चिन्तनधारा में से धर्म की भावना का उद्भव हुआ। दूसरे विचारकों को यह कल्पना ठीक नहीं जची। उनकी विचारधारा के अनुसार धर्म की उत्पत्ति मानव-जीवन में आने वाले भय एवं आकांक्षाओं के कारण हुई। कुछ विचारकों ने केवल भय को ही धर्म का जनक माना। उनका विश्वास है कि भय ही एक ऐसा कारण था, जिससे बचने के लिए मनुष्य ने ईश्वर के अस्तित्व में विश्वास किया। कुछ चिन्तकों ने इस विचारधारा का खण्डन किया कि धर्म-आश्चर्य, भय एवं आकांक्षाओं के कारण उत्पन्न हुआ है। हो सकता है कि उसने धर्म के प्रकाश में भय से बचने का मार्ग खोजा हो, परन्तु वह उसकी उत्पत्ति का कारण नहीं हो सकता। धर्म की उत्पत्ति का कारण है--मानव-जीवन में रही हुई नैतिकता की भावना।

विभिन्न विचारकों ने धर्म की उत्पत्ति के सम्बन्ध में विभिन्न दृष्टियों से सोचा-विचारा है और भिन्न-भिन्न विचारों का समर्थन किया है। इन समस्त विचारधाराओं का विश्लेषण

करने से यह स्पष्ट हो जाता है कि धर्म की उत्पत्ति का कारण प्रकृति की विचित्रता, आश्चर्य एवं आकांक्षा नहीं है। यह माना जा सकता है कि मनुष्य की असहाय अवस्था के साथ भय का मिश्रण रहा हो। समस्त भारतीय चिन्तनधारा ने धर्म की उत्पत्ति का मूल कारण दु:ख माना है। जैन विचारकों का भी यही अभिमत रहा है कि धर्म का उद्‌भव भव-भ्रमण के दु:खों से छुटकारा पाने के हेतु हुआ है। धर्म का महत्वपूर्ण कार्य मनुष्य को जन्म-मरण के दु:खों से मुक्त करना है।

दु:खों का मूल कारण राग-द्वेष है। राग-द्वेष कर्म के बीज हैं, कर्म मोह से उत्पन्न होते हैं। कर्म ही जन्म-मरण के मूल कारण हैं और जन्म-मरण ही दु:ख है।[1] अत: धर्म का मुख्य उद्देश्य है--राग-द्वेष को क्षय करना। इसलिए जो धर्म राग-द्वेष के क्षय करने का, काम-क्रोध को जीतने का, मोह-अंधकार को हटाने का मार्ग बताता है, वह जैनधर्म है। अथवा यों कहिये कि राग-द्वेष विजेता जिन भगवान् के द्वारा जो धर्म प्ररूपित किया गया है, वह जैन धर्म है।

प्रश्न--धर्म की परिभाषा क्या है?

उत्तर--धर्म शब्द 'धृ' धारणे धातु से बना है। अत: धर्म का व्युत्पत्ति-मूलक अर्थ हुआ "धारणात् धर्म:" अर्थात् जो धारण किया जाय, वह धर्म है। जैनागमों में वस्तु के स्वभाव को भी धर्म कहा है।[2] प्रत्येक वस्तु का अपना स्वतन्त्र स्वभाव होता है। वही स्वभाव उसका धर्म माना जाता है। जैसे--अग्नि का स्वभाव उष्ण है, पानी का स्वभाव शीतल है। अत: अग्नि का धर्म उष्णता है और पानी का धर्म शीतलता। अग्नि का संयोग पाकर पानी भी उष्ण हो जाता है। उसका स्पर्श उष्ण प्रतीत होता है। अधिक उष्ण हुआ तो हाथ आदि शरीर के अवयवों पर गिरने से उन्हें भी जला देता है। अग्नि के संसर्ग से इतनी विकृति आने पर भी वह अपने मूल स्वभाव को नहीं त्यागता। पानी चाहे जितना गर्म क्यों न हो, आग पर डालने पर वह उसे बुझा देगा। गर्म होने पर भी आग को बुझाने का उसका स्वभाव नष्ट नहीं हुआ। इसी तरह आत्मा के अहिंसा, संयम, तप आदि गुणों को या निजी स्वभाव को भी धर्म माना है।[3] इसके अतिरिक्त नियमोपनियम, विधि-निषेध, विधान, परम्परा, व्यवहार, आचरण, कर्त्तव्य, अधिकार, न्याय, सद्‌गुण, नैतिकता, क्रिया-काण्ड, सत्कर्म आदि अर्थों में धर्म का इस्तेमाल होता रहा

1. उत्तरा०, अ० 32 गा० 7
2. वत्थुसहावो धम्मो।
3. "धम्मो मंगलमुक्किट्ठं, अहिंसा संजमो तवो।"--दशवैकालिक, अ० 1, गा० 1

है। वैदिक परम्परा में वेद-विहित विधि-विधान या क्रियाकाण्ड को धर्म माना गया है। बौद्ध परम्परा में धर्म का अर्थ वह नियम, विधान या तत्त्व है, जिसका बुद्ध प्रवर्तन करते हैं, जिसे धर्म-प्रवर्तन भी कहते हैं।

इस तरह धर्म शब्द अनेक अर्थों में प्रयुक्त हुआ है। सभी विचारक अपनी-अपनी धारणा या मान्यता के अनुरूप विभिन्न स्थानों पर अनेक तरह से अर्थ करते हैं। अत: धर्म की कोई एक सर्वसम्मत व्याख्या उपलब्ध नहीं होती है। उसका ऐसा कोई लक्षण नहीं है, जो सभी परम्पराओं को मान्य हो। फिर भी हम इतना कह सकते हैं कि समस्त विचारक इस बात से सहमत हैं कि धर्म मानव के विचार और आचार का आवश्यक अंग है। दोनों अंग जीवन विकास के लिए आवश्यक हैं। एक को हम अन्तरंग कहते हैं और दूसरे को बाह्य। अन्तरंग विचारप्रधान होता है और बाह्य चारित्रप्रधान। इसे हम दर्शन और चारित्र के नाम से भी जान सकते हैं।

प्रश्न - दर्शन और चारित्र में क्या अन्तर है? दोनों में समानता है या नहीं? है तो किस रूप में?

उत्तर- दर्शन और चारित्र में कितना साम्य है और कितना वैषम्य है इसे समझने से पहले दर्शन और चारित्र के अर्थ को समझ लेना आवश्यक होगा। उसकी जानकारी के बिना दोनों का भेद और अभेद समझ में नहीं आ सकेगा। अत: पहले हम दोनों की परिभाषा पर विचार करेंगे।

दर्शन का शाब्दिक अर्थ होता है-दृष्टि। यों तो प्रत्येक व्यक्ति देखता ही है। जिस व्यक्ति को आंखें मिली हैं, वह उनका उपयोग करता ही है। उनसे संसार के पदार्थों को देखता-परखता ही है। परन्तु हम यहां जिस 'दृष्टि' का प्रयोग कर रहे हैं, उसका अर्थ आंखों से देखना मात्र नहीं है। जनसाधारण की दृष्टि में और दार्शनिक की दृष्टि में अन्तर रहा हुआ है। दार्शनिक दृष्टि का उद्‌भव स्थान आंखें न होकर, बुद्धि है, विवेक है, तर्क है, विचार एवं चिन्तन-मनन है। सामान्य व्यक्ति जहां आंखों से देखता है, वहां दार्शनिक उसी पदार्थ को विचार और चिन्तन-मनन की अन्तर्दृष्टि से देखता है। दूसरे शब्दों में, यों कह सकते हैं कि साधारण-दृष्टि बाह्य आंखों से काम लेती है और दार्शनिक-दृष्टि अन्तर् आंखों से अवलोकन करती है। विवेक, विचार, तर्क एवं चिन्तन-मनन इन आन्तरिक आंखों के ही पर्याय हैं।

प्रत्येक व्यक्ति अपने आसपास के विविध पदार्थों को देखता है। वह अपने आपको सामाजिक प्राणी समझता है। अत: वह अपने आपको दुनियावी पदार्थों से घिरा हुआ पाता है।

वह ऐसा सोचता है कि इन चीजों से मेरा कोई न कोई सम्बन्ध अवश्य जुड़ा हुआ है। परन्तु मैं किस रूप में संसार के पदार्थों के साथ सम्बद्ध हूं? जब मानव-मन में यह जानने की जिज्ञासा उत्पन्न होती है, तब उसमें विवेक जागृत होता है। उसकी बुद्धि कार्य में प्रवृत्त होती है, चिन्तन-मनन का प्रवाह प्रवहमान हो उठता है। इसी को दर्शन कहते हैं।

दर्शन का मुख्य काम है--जीवन और जगत का परिज्ञान करना। दार्शनिक जीवन और जगत को खण्डश: नहीं देखता। वह दोनों के अखण्ड स्वरूप का अध्ययन करता है, चिन्तन-मनन एवं दर्शन करता है। वह अपनी बौद्धिक एवं वैचारिक शक्ति का उपयोग प्रत्येक तत्व की गहराई तक पहुंचने में करता है। उसका अन्वेषण समय या स्थान विशेष से बंधा हुआ नहीं होता है। सच्चा दार्शनिक सम्पूर्ण काल और सत्ता का द्रष्टा होता है।[1] उसके सोचने-विचारने का क्षेत्र एवं चिन्तन-मनन की दृष्टि विशाल एवं विस्तृत होती है। इससे हम इस निष्कर्ष पर पहुंचते हैं कि ज्ञान की अपेक्षा दर्शन का क्षेत्र अधिक विस्तृत है। विचार-शक्ति की सभी शाखाएं, ज्ञान-विज्ञान की सभी धाराएं दर्शन के अन्तर्गत आ जाती हैं। वह ज्ञान की प्रत्येक धारा का चिन्तन-मनन एवं अवलोकन करता है। विश्व के सभी तत्वों का दर्शन करता है। इससे हमारे कहने का यह तात्पर्य नहीं है कि वह सारे विश्व को प्रत्यक्ष रूप में देखता है। जब हम यह कहते हैं कि दर्शन सम्पूर्ण विश्व का चिन्तन करता है, तब इसका अर्थ यह समझना चाहिए कि वह विश्व के मूलभूत सिद्धान्तों का, तत्वों का दर्शन करता है या जानकारी करता है। जगत के मूल में कौन-सा तत्व काम रहा है? जीवन का उसके साथ क्या सम्बन्ध है? आध्यात्मिक और भौतिक तत्वों की सत्ता में क्या अन्तर है? दोनों में सामंजस्य बैठ सकता है या नहीं? वास्तविक तत्व या सत्य की कसौटी क्या है? ज्ञान और बाह्य पदार्थ के बीच क्या सम्बन्ध है? इत्यादि तथ्यों का अन्वेषण करना दर्शन का मुख्य प्रयोजन है। अन्वेषण का काम भौतिक विज्ञान भी करता है। परन्तु दर्शन की विशेषता यह है कि वह भौतिक विज्ञान की तरह केवल जगत का या पदार्थों (तत्वों) का विश्लेषण ही नहीं करता प्रत्युत उसकी उपयोगिता पर भी चिन्तन-मनन करता है, सोचता-विचारता है। उपयोगितावाद ही दर्शन की अपनी विशेषता है। इसी सूझ-बूझ के आधार पर वह जीवन के सही तथ्य को जानने-समझने की घोषणा करता है। यह नितान्त सत्य है कि जीवन और जगत का घनिष्ठ सम्बन्ध है। हम जीवन को जगत से सर्वथा पृथक् नहीं कर सकते, उसे एकदम झुठला नहीं सकते। अत: जगत के स्वरूप को समझने के पूर्व जीवन के स्वरूप को समझने की आवश्यकता है। जीवन की

1 The spectator of all times and existence. - Plato

वास्तविकता को समझने वाला व्यक्ति जगत के सही स्वरूप का भी परिज्ञान कर लेता है, यह सहज समझ में आने वाला सत्य है।

चारित्र का सरल और सीधी भाषा में अर्थ होता है–आचरण। मनुष्य अपने विचारों के अनुरूप जो प्रवृत्ति करता है, उसे आचरण कहते हैं। साधारणत: प्रत्येक मनुष्य किसी न किसी रूप में आचरण करता ही है। क्योंकि प्रवृत्ति जीवन का एक अंग है। उसका प्रवाह जीवन में सतत रूप से प्रवहमान रहता है। फिर भी सभी मनुष्यों के आचरण को चारित्र नहीं कहते। किसी भी कार्य में प्रवृत्त होने का नाम चारित्र नहीं है। चारित्र शब्द का प्रयोग हम उस आचरण या प्रवृत्ति के लिए करते हैं, जिससे आत्मा का अभ्युदय होता हो या नि:श्रेयस् (मुक्ति) की साधना सधती हो। अत: वे सारी प्रवृत्तियां चारित्र हैं, जो आध्यात्मिक प्रगति में सहायक हैं, या यों कह सकते हैं कि वे सभी प्रवृत्तियां चारित्र हैं, जिनके द्वारा महापुरुषों ने मुक्ति को प्राप्त किया है या मुक्ति के पथ पर बढ़ने का मार्ग बताया है। इसके अतिरिक्त, सामाजिक नियमों, रीति-रिवाजों, परम्पराओं, विधि-विधानों एवं जीवन की नैतिकता को भी चारित्र या आचरण के नाम से पुकारते हैं। नैतिक जीवन से भटक जाने वाले व्यक्ति को आचार या चारित्र-भ्रष्ट या भ्रष्टाचारी कहना बोलचाल की भाषा बन गई है। इतनी लम्बी चर्चा के बाद हम इस निष्कर्ष पर पहुंचे कि जीवन को उन्नत बनाने वाली, ऊपर उठाने वाली प्रवृत्ति का नाम चारित्र है।

हम यह देख चुके हैं कि दर्शन और चारित्र पृथक्-पृथक् हैं। दोनों का विषय स्वतन्त्र है। दोनों का कार्यक्षेत्र एक दूसरे से भिन्न है। दर्शन का क्षेत्र विचारप्रधान है और चारित्र का आचारप्रधान। दर्शन का काम पदार्थों के स्वरूप को जानना-समझना है। जीव और जगत के वास्तविक स्वरूप का परिज्ञान करना है और चारित्र का काम नि:श्रेयस् (मुक्ति) के मार्ग में प्रतिबन्धक प्रवृत्तियों का परित्याग करना तथा संसार के बन्धन से छुड़ाने वाली प्रवृत्तियों का आचरण करना है। इस दृष्टि से दर्शन और चारित्र दोनों का विषय भिन्न है। विषय की दृष्टि से भिन्न होते हुए भी दोनों का परस्पर घनिष्ठ सम्बन्ध है। दोनों एक दूसरे के सहयोगी हैं, परिपूरक हैं। चारित्र-रूप धर्म मुक्ति का रास्ता है, परन्तु उस पथ पर गति करने से पहले यह जानना भी अत्यावश्यक है कि संसार क्या है? कर्म क्या है? कर्मबन्ध का कारण क्या है तथा उससे छुटकारा पाने का उपाय क्या है? इन सबका परिज्ञान हुए बिना चारित्र का परिपालन करना कठिन ही नहीं, असम्भव है और संसार के पदार्थों एवं उसके स्वरूप का परिज्ञान करके उससे छुटकारा पाने हेतु चारित्र का पालन न हो तो उस ज्ञान या जानकारी मात्र से आत्मा

का विकास होना भी असम्भव है। अत: भगवान् महावीर की भाषा में सिर्फ पदार्थों की जानकारी कर लेने से भी मुक्ति नहीं होती और न केवल चारित्र से ही मुक्ति की साधना सधती है। मुक्ति की प्राप्ति के लिए दोनों का समन्वय होना जरूरी है।[1] क्योंकि दर्शन आंख है तो चारित्र पैर है। दर्शन के अभाव में चारित्र गति तो कर सकेगा परन्तु दृष्टि का अभाव होने से वह सही एवं गलत मार्ग को नहीं समझ सकेगा। इसी तरह चारित्र के अभाव में दर्शन देख तो सकता है परन्तु गति नहीं कर सकता। वह मुक्ति-पथ का अवलोकन करता है, पर पहुंच नहीं सकता। अपने लक्ष्य पर पहुंचने के लिए दोनों के समन्वय की आवश्यकता है। दर्शन से चारित्र निखरता है और चारित्र से दर्शन की प्रतिष्ठा है। अत: दोनों का सम्बन्ध सहज ही समझ में आ सकता है।

स्याद्वाद या अनेकान्त

प्रश्न--जैन परम्परा में विचारों को अभिव्यक्त करने का, तत्व-निरूपण का क्या तरीका रहा है? कुछ दार्शनिकों ने एकान्त नित्यत्व की भाषा का प्रयोग किया है, तो कुछ विचारकों ने एकान्त अनित्यत्व की भाषा का सहारा लिया है। जैनों ने कौन-सी भाषा में विश्लेषण किया है?

उत्तर--जैन विचारकों ने दुनिया के सभी पहलुओं पर गहराई से चिन्तन-मनन किया है। उनकी तत्व-निरूपण की शैली अपूर्व रही है। जहां अन्य दार्शनिकों ने एकांगीदृष्टि से वस्तु के स्वरूप का चिन्तन-मनन एवं निरूपण किया, वहां जैनों ने अनेकांगीदृष्टि से अवलोकन किया। भगवान् महावीर एवं उनके पूर्व में हुए अन्य सभी तीर्थंकरों ने वस्तु के स्वरूप का वर्णन एकान्तदृष्टि से नहीं, प्रत्युत अनेकान्तदृष्टि से किया है, क्योंकि दुनिया में स्थित प्रत्येक पदार्थ अनन्त गुण युक्त है। अत: उसके एक गुण को पकड़ कर अन्य गुणों की उपेक्षा करना वस्तु के यथार्थ स्वरूप को नहीं समझना है। उसके वास्तविक स्वरूप का परिज्ञान करने के लिए प्रत्येक वस्तु में अन्तर्निहित अनेक गुणों का अवलोकन एवं प्रत्यक्षीकरण करने के लिए अनेकान्त अर्थात् अनेक तरह से समझने की दृष्टि होनी चाहिए।

श्री भगवती सूत्र (व्याख्या-प्रज्ञप्ति सूत्र) तथा कल्पसूत्र की टीका में वर्णन आता है कि भगवान् महावीर ने छद्मस्थ अवस्था में (केवलज्ञान प्राप्त करने के पहले) 10 स्वप्न

---

1. ज्ञान क्रियाभ्यां मोक्ष:, या, सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्ष-मार्ग:। – तत्वार्थ सूत्र 1, 1

देखे।[1] इन दस स्वप्नों में भगवान् महावीर ने एक विचित्र पंखयुक्त कोयल का भी एक स्वप्न देखा।[2] उक्त स्वप्न के फल का वर्णन करते हुए आगम में बताया गया है कि भगवान् महावीर स्व-पर सिद्धान्त का प्रतिपादन करने वाले विचित्र द्वादशांग का उपदेश देंगे।[3] आगम के इन पृष्ठों का अनुशीलन करने से यह स्पष्ट हो जाता है कि आगमकार ने कितने सुन्दर, सरस और सरल ढंग से सिद्धान्त का निरूपण किया है। चित्र-विचित्र पंख वाले पुंस्कोकिल का अर्थ स्याद्वाद या अनेकान्तवाद ही है। द्वादशांग सूत्रों में आदि से अन्त तक स्याद्वाद भाषा का ही प्रयोग हुआ है। भगवान् की वाणी एक वर्ण के पंख वाली कोकिल के समान नहीं, चित्र-विचित्र पंख युक्त कोकिल की तरह है। जहां एक ही वर्ण के पंख होते हैं वहां एकांत होता है और एकान्तवाद वस्तु के वास्तविक स्वरूप का वर्णन करने में असमर्थ है, अत: भगवान् महावीर को एकान्त इष्ट नहीं था। दूसरी बात यह है कि वस्तु अनेक गुण युक्त है और उसके अनेक गुणों को एक दृष्टि से नहीं अपितु अनेक अपेक्षाओं से ही जाना जा सकता है। वस्तु अनेक गुण युक्त है अत: उसको जानने वाला ज्ञान भी अनेक अपेक्षाओं से युक्त होता है। तीर्थंकर सर्वज्ञ बनने के बाद केवल ज्ञान से दुनिया में स्थित सभी वस्तुओं को भली-भांति जानते-देखते हैं। अत: केवलज्ञान अनेकान्त या स्याद्वादपूर्वक होता है और यह स्वप्न भी भगवान् ने केवलज्ञान होने के पूर्व ही देखा था। अस्तु, इस उदाहरण के द्वारा यह बताया गया है कि भगवान् महावीर ने तत्वों का निरूपण अनेकान्त दृष्टि से किया है।

आगमों में जो त्रिपदी–उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य का वर्णन आता है, यह अनेकान्तवाद ही है। ऐसा माना जाता है कि तीर्थंकरों को केवलज्ञान होने के बाद जब गणधर अपनी शंकाओं का समाधान प्राप्त करके उनके पास दीक्षित होते हैं तब तीर्थंकर पहले उन्हें उक्त त्रिपदी का उपदेश देते हैं और उसी के आधार पर वे गणधर चौदह पूर्व का ज्ञान प्राप्त कर लेते हैं। अस्तु, चौदह पूर्व या यों कहिए समस्त पदार्थों के ज्ञान का मूल त्रिपदी में सन्निहित है। भगवान् महावीर ने इसी का प्रतिपादन किया है। उन्होंने स्पष्ट शब्दों में कहा कि प्रत्येक द्रव्य उत्पाद,

---

1. "समण भगवं महावीरे छउमत्थ–कालियाए अतिमराइयंसि इमे दस महासुविणे पासित्ता णं पडिबुद्धे।" -भगवती सूत्र (पं. बेचरदास दोसी) श० 16, उ० 6, पृष्ठ 17।
2. "एगं च णं महं चित्तविचित्तपक्खगं पुंसकोकिलं–सुविणे पासित्ता णं पडिबुद्धे।" –भगवती सूत्र, वही।
3. --जण्णं समणे भगवं महावीरे एगं महं चित्तविचित्त-जाव-पडिबुद्धे तण्णं समणे भगवं महावीरे विचित्तं ससमयपरसमइयं दुवालसंग -गणिपिडगं आघवेति, पन्नवेति, परूवेति, दंसेति, निदंसेति, उवदंसेति।" –भगवती सूत्र, वही, पृष्ठ 18।

व्यय और ध्रौव्य युक्त है। संसार में कोई भी द्रव्य (पदार्थ) ऐसा नहीं है कि जो एकान्त नित्य या एकान्त अनित्य हो। जहां नित्यता की प्रतीति होती है वहां अनित्यता की अनुभूति भी अवश्य होती है और जहां अनित्यता दिखाई देती है वहां नित्यता का भी अस्तित्व स्पष्ट परिलक्षित होता है। दोनों अवस्थाएं सापेक्ष हैं। एक अनुभव में दूसरे अनुभव की प्रतीति अवश्य होती है। जब किसी द्रव्य में नित्यता की प्रतीति होती है तो उसी क्षण उसी पदार्थ में अनेक तरह की अनित्यता का भी अनुभव होता है। इसी तरह जब अनित्यता की प्रतीति होती है तब उसी समय उस पदार्थ में नित्यता की अनुभूति भी होती है। यही वस्तु की अनेकरूपता है। इसी अपेक्षा को ध्यान में रखकर द्रव्य पदार्थ को उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य युक्त कहा है। जैसे, स्वर्ण का कंकण बनाया और उस कंकण को तोड़कर बटन बनाये। इस तरह हम देखते हैं कि स्वर्ण की डली रूप का नाश हुआ और कंकण रूप का उत्पादन हुआ तथा फिर कंकण रूप का नाश और बटन रूप का उत्पाद हुआ। इस प्रकार आकार-प्रकार बदलता रहा परन्तु उन सभी बदलने वाले आकारों में स्वर्ण का स्वर्णत्व कायम रहा, उसका नाश नहीं हुआ। अत: हम कह सकते हैं कि द्रव्य (स्वर्णत्व) की अपेक्षा से सोना नित्य है और कंकण आदि पर्यायों की अपेक्षा से अनित्य। इसी तरह संसार का प्रत्येक द्रव्य द्रव्यत्व रूप से नित्य है और पर्याय रूप से अनित्य। प्रत्येक द्रव्य की पुरातन पर्यायों का नाश होता है और नई पर्यायों का उत्पाद होता है और इस परिवर्तन की स्थिति में भी द्रव्य का नाश नहीं होता, उसका अपना स्वरूप सदा स्थित रहता है। अत: प्रत्येक द्रव्य नित्यानित्य है। कोई भी द्रव्य न एकान्त नित्य है और न एकान्त अनित्य।

विभज्यवाद और अनेकान्तवाद

तथागत बुद्ध ने भी अनेकान्त का सहारा लिया है। मज्झिमनिकाय में माणवक के "गृहस्थ आराधक होता है या नहीं?" इस प्रश्न का उत्तर एकान्त 'हां' या 'न' के स्वर में न देकर इस प्रकार दिया है कि गृहस्थ भी यदि मिथ्यावादी है तो वह निर्वाणमार्ग का आराधक नहीं हो सकता और श्रमण भी यदि मिथ्यावादी है तो वह भी उस मार्ग की आराधना-साधना नहीं कर सकता। उभय साधक यदि सम्यक् प्रतिपत्तिसम्पन्न हैं तो दोनों आराधक हो सकते हैं। यहां बुद्ध ने अपने आपको विभज्यवादी कहा है। किसी प्रश्न का उत्तर इस प्रकार देना कि यह ऐसा ही है या ऐसा नहीं है, एकान्तवाद है और बुद्ध को यह एकान्तवाद इष्ट नहीं है। अत: उन्होंने माणवक के प्रश्न का उत्तर विभाजनपूर्वक दिया है।

भगवान् महावीर ने भी इस शब्द का प्रयोग किया है। श्रमण-निर्ग्रन्थ को कैसी भाषा बोलनी चाहिए; इसका उत्तर देते हुए कहा है कि श्रमण विभज्यवाद की भाषा बोले।[1] इसका अर्थ स्याद्वाद या अनेकान्तवाद किया है। इसे स्याद्वाद, अपेक्षावाद, अनेकान्तवाद और विभज्यवाद भी कहते हैं। सबका तात्पर्य यही है कि वस्तु सापेक्ष है, अतः प्रत्येक वस्तु को अपेक्षा दृष्टि से समझना चाहिए।

तथागत बुद्ध ने भी विभज्यवाद का उल्लेख किया है और भगवान् महावीर ने भी उसका उपदेश दिया है, फिर दोनों में अन्तर क्या रहा? यह प्रश्न उठना स्वाभाविक है। यह सत्य है कि तथागत बुद्ध ने कई प्रश्नों का उत्तर विभज्यवाद की भाषा में दिया है, परन्तु उनके विभज्यवाद का उतना विस्तार नहीं हुआ जितना भगवान् महावीर के विभज्यवाद या स्याद्वाद का हुआ है। बुद्ध ने विभज्यवाद का प्रयोग सीमित दायरे में किया है, जबकि महावीर ने सभी प्रश्नों का उत्तर देते समय अनेकान्तवाद का प्रयोग किया है। तथागत बुद्ध और श्रमण भगवान् महावीर के विभज्यवाद सिद्धान्त में यही अन्तर है कि एक संकुचित दायरे में ही रहे तो दूसरे ने उसका उपयोग विस्तृत क्षेत्र में किया।

माणवक और बुद्ध की तरह भगवान् महावीर के साथ गौतम, जयन्ती, जमाली, स्कन्धक, गांगेय अनगार आदि कई श्रमण एवं गृहस्थों के प्रश्नोत्तर हुए हैं। भगवती सूत्र में इन प्रश्नोत्तरों को देखा जा सकता है। उनमें से हम कुछ उदाहरण यहां देंगे, जिससे श्रमण भगवान् महावीर और तथागत बुद्ध के बीच रहा हुआ अन्तर स्पष्ट हो जाये।

जयन्ती ने भगवान् महावीर से पूछा कि भगवन् ! जीव का सोना अच्छा है या जागना? बलवान होना अच्छा है या निर्बल? भगवान् महावीर ने इसका उत्तर एकान्त 'हां' या 'न' में न देकर, उभयात्मक रूप से दिया है। एक अपेक्षा से जीव का सोये रहना अच्छा है, तो दूसरी अपेक्षा से जागते रहना श्रेयस्कर है। इसी तरह एक दृष्टि से जीवों का सबल होना श्रेष्ठ है, तो दूसरी दृष्टि से निर्बल होना। इसके कारण का उल्लेख करते हुए कहा गया है कि जो जीव अधार्मिक हैं, अधर्मानुगामी हैं, अधर्मिष्ठ हैं, अधर्माख्यायी हैं, अधर्म-प्रलोकी हैं, अधर्म-प्ररञ्जन हैं, अधर्म-समाचर हैं, अधर्म वृत्ति वाले हैं वे सुषुप्त रहें यह अच्छा है, क्योंकि वे जब तक सोते रहेंगे तब तक छः काय के जीव त्रास एवं उत्पीड़न से बचे रहेंगे और वे स्व, पर और उभय को अधार्मिक प्रवृत्ति में प्रवृत्त नहीं करेंगे। जो जीव धार्मिक हैं उनका जागना श्रेयस्कर

1. "भिक्खू विभज्जवायं च वियागरेज्जा।" – सूत्रकृतांग-1, 14, 22.

है। क्योंकि वे जगत के जीवों का कल्याण करने वाले हैं, उनसे सब प्राणियों को सुख-शान्ति मिलती है। इसी तरह अधार्मिक जीवों का निर्बल होना अच्छा है, जिससे बहुत से जीव सन्ताप से बचे रहेंगे। धार्मिक वृत्ति वाले व्यक्तियों का सबल होना अच्छा है। क्योंकि वे अपनी ताकत से अनेक प्राणियों को सुख देंगे।[1]

इसी तरह भगवान् महावीर से जमाली ने यह पूछा कि लोक नित्य है या अनित्य[2]? स्कन्धक ने पूछा कि लोक सान्त है या अनन्त है[3]? जीव की नित्यता-अनित्यता पर भी पूछा गया[4]। इस तरह के और भी अनेक प्रश्न पूछे गये, जिनका महावीर ने स्याद्वाद की भाषा में उत्तर दिया। परन्तु बुद्ध ने इन प्रश्नों को अव्याकृत कहकर टाल दिया। इसलिए बुद्ध का विभज्यवाद विस्तार नहीं पा सका। उन्होंने लोक की नित्यता-अनित्यता, सान्तता-अनन्तता तथा जीव की नित्यता-अनित्यता जैसे गम्भीर एवं महान् प्रश्नों का विभज्यवाद की भाषा में उत्तर न देकर उनकी उपेक्षा कर दी। परन्तु भगवान् महावीर ने किसी भी प्रश्न की उपेक्षा नहीं की। उन्होंने जमाली के प्रश्न का उत्तर देते हुए कहा–जमाली ! लोक शाश्वत-नित्य भी है और अशाश्वत-अनित्य भी। क्योंकि वह सदा बना रहता है। अतीत, अनागत, और वर्तमान तीनों कालों में कोई भी ऐसा समय नहीं मिलता, जबकि लोक का अस्तित्व नहीं रहा हो या नहीं रहेगा, इसलिए वह शाश्वत-नित्य है। और लोक हमेशा एक रूप में स्थित नहीं रहता। अवसर्पिणी और उत्सर्पिणी रूप काल चक्र में परिवर्तित होता रहता है, अत: वह अनित्य भी है। इसी प्रकार लोक की सान्तता-अनन्तता का उत्तर देते हुए कहा गया है कि लोक चार प्रकार का है– 1. द्रव्य लोक, 2. क्षेत्र लोक, 3. काल लोक, 4. भाव लोक। द्रव्य की अपेक्षा लोक द्रव्य एक है, अत: वह सान्त है। क्षेत्र की अपेक्षा से लोक असंख्यात योजन कोटा-कोटि विस्तार और परिक्षेप वाला कहा गया है, अत: वह सान्त है। काल से सदा विद्यमान है, अत: वह ध्रुव, नित्य, शाश्वत, अक्षय, अव्यय, अवस्थित है। उसका कहीं अन्त नहीं है। भाव की अपेक्षा से लोक के अनन्त वर्णपर्याय, गंधपर्याय, रसपर्याय और स्पर्शपर्याय हैं, अत: वह अनन्त है। इस तरह द्रव्य और क्षेत्र से लोक सान्त है, तो काल और भाव की अपेक्षा से अनन्त है।

---

1. भगवती सूत्र 12, 2, 443
2. भगवती सूत्र 8, 33, 387
3. भगवती सूत्र 2, 1, 80/4
4. भगवती सूत्र 7, 2, 273

इसी तरह जीव की नित्यता-अनित्यता के सम्बन्ध में गौतम द्वारा पूछे गये प्रश्न का उत्तर देते हुए भगवान् महावीर ने कहा कि हे गौतम ! जीव नित्य भी है और अनित्य भी है। द्रव्य की अपेक्षा से जीव नित्य है, शाश्वत है, क्योंकि वह कभी भी जीव से अजीव नहीं होता। परन्तु उसकी ज्ञान, दर्शन आदि पर्यायें प्रतिक्षण बदलती रहती हैं, अतः पर्याय-परिवर्तन की अपेक्षा से वह अनित्य है। इस तरह जीव नित्यानित्य है। अन्य प्रश्नों के उत्तर में भी भगवान् महावीर की यही भाषा रही है। उन्होंने बुद्ध की तरह किसी भी प्रश्न को अव्याकृत कहकर उसकी उपेक्षा नहीं की। प्रत्येक प्रश्न का सापेक्ष भाषा में समाधान किया और सारी दार्शनिक गुत्थियों को सुलझाने के लिए समन्वय का मार्ग प्रस्तुत किया। इस तरह हम देख चुके हैं कि तथागत बुद्ध के विभज्यवाद से श्रमण भगवान् महावीर का विभज्यवाद अधिक विस्तृत और स्पष्ट था। उसमें संशय, अस्पष्टता का जरा भी धुंधलापन नहीं था।

एकान्तवाद और अनेकान्तवाद (स्याद्वाद)

वस्तु का साक्षात्कार करने के लिए अनेक दृष्टियां हैं। एकान्तवादी उनमें से किसी एक दृष्टि का समर्थन करते हैं, जैसा कि उनके नाम से ही स्पष्ट है। ये वाद सदा दो विरोधी रूपों में दिखायी देते हैं। कभी नित्य और अनित्य के रूप में इनके दर्शन होते हैं, तो कभी सामान्य और विशेष के रूप में, कभी सत् और असत् के रूप में, कभी निर्वचनीय और अनिर्वचनीय के रूप में और कभी हेतु और अहेतु के रूप में परिलक्षित होते हैं। एकान्त मान्यता के आग्रह के कारण दोनों वाद सदा आपस में टकराते रहते हैं। वे निरन्तर एक-दूसरे का विरोध करने में ही संलग्न रहते हैं।

नित्यवादी आत्मा में किसी तरह का परिवर्तन ही नहीं स्वीकार करते, तो अनित्यवादी पर्यायों की बदलती हुई स्थिति को ही देख पाते हैं, वे उस पर्याय परिवर्तन को सभी स्थितियों में स्थित रहने वाले आत्मा की अनुभूति करते हुए भी उसे मानने से इन्कार करते हैं। कुछ विचारक अद्वैतवाद को जगत का मौलिक तत्त्व मानते हैं, द्वैत या भेद—जो स्पष्ट दिखायी देते हैं उन्हें मिथ्या कहकर ठुकरा देते हैं, इस तरह वे केवल सामान्य को ही स्वीकार करते हैं। तो दूसरे भेदवाद के समर्थक एकान्त भेद को ही एकमात्र प्रमाण मानते हैं। उनकी दृष्टि में वस्तु का विशेष स्वरूप ही वास्तविक है, सामान्य स्वरूप है ही नहीं। सद्वाद को मानने वाले किसी भी द्रव्य में होने वाले उत्पाद और विनाश को सही नहीं मानते। इसके विपरीत असद्वादी प्रत्येक कार्य को अभिनव मानते हैं। उनके विचारानुसार कारण में कार्य नहीं रहता,

प्रत्युत उससे सर्वथा भिन्न एक अभिनव तत्त्व उत्पन्न होता है। कुछ एकान्तवादी विचारक दुनिया को अनिर्वचनीय मानते हैं। उनके मत में दुनिया-जगत को न सत् कहा जा सकता है और न असत् ही अथवा उसके लिए हम किसी शब्द का प्रयोग ही नहीं कर सकते, तो कुछ विचारकों ने कहा कि हम जगत के प्रत्येक पदार्थ का निर्वचन कर सकते हैं। हेतुवादियों का कहना है कि दुनिया के प्रत्येक तत्त्व को तर्क से जाना जा सकता है और अहेतुवादी तर्क के सर्वथा विरोधी हैं। उनका कहना है कि किसी भी तत्त्व का निर्णय करने में तर्क समर्थ नहीं है। इस तरह एकान्तवाद पर आधारित मत सदा परस्पर टकराते रहते हैं। क्योंकि जहां एक विचार का समर्थन और दूसरे की उपेक्षा या विरोध होता है, वहीं टक्कर होती है। पुरातन काल से चले आ रहे दार्शनिक संघर्ष एवं कलह-कदाग्रह तथा वर्तमान में चल रहे सामाजिक, धार्मिक, राष्ट्रीय एवं अन्तर्राष्ट्रीय झगड़ों का मूल कारण एकान्तवाद ही है। अपने विचारों का एकान्त आग्रह और दूसरे के विचारों का तिरस्कार करने की दुर्भावना ही संघर्ष की जननी है।

यह हम ऊपर बता आये हैं कि वस्तु अनेकधर्म युक्त है। उसमें एकान्तता जैसी कोई बात नहीं है। अस्तु, अपेक्षा दृष्टि से देखते हैं तो सभी विचारक सत्य के एक अंश को प्रत्यक्ष करते हुए दिखायी देते हैं। जैन दर्शन में इसे नयवाद कहते हैं। उसमें कोई नय वस्तु का सामान्य दृष्टि से अवलोकन करता है, तो कोई विशेष स्वरूप को ध्यान में रखकर वस्तु का विश्लेषण करता है और दोनों दृष्टियां सही हैं। क्योंकि दोनों दृष्टियां वस्तु का अवलोकन अपनी-अपनी दृष्टि से करती हैं और साथ में दोनों एक- दूसरे के विचारों का आदर भी करती हैं। सामान्य दृष्टि विशेष का सर्वथा तिरस्कार नहीं करती और विशेष दृष्टि सामान्य की एकान्ततः उपेक्षा नहीं करती। यही कारण है कि एक दृष्टि का समर्थन करने पर भी वे सत्य के निकट हैं, वस्तु को जानने में समर्थ हैं और उनमें परस्पर टक्कर भी नहीं होती। और जब यह नय अपनी दृष्टि के समर्थन के साथ दूसरी दृष्टि का तिरस्कार करने लगता है, तब वह सत्य का अनुसंधानकर्ता न रहकर संघर्ष का कारण बन जाता है और उस स्थिति में उसे जैन परिभाषा में दुर्नय कहा है। अस्तु, एकान्तवाद असत्य है, वस्तु का निर्णय करने में असमर्थ है और संघर्ष का कारण है। इसलिए भगवान् महावीर को एकान्तवाद स्वीकार नहीं है। वे वस्तु को सापेक्ष दृष्टि से देखते हैं।

स्याद्वाद और सप्तभंगी

हम इस बात को स्पष्ट कर चुके हैं कि वस्तु में स्थित अनेक धर्मों का सापेक्ष दृष्टि

से विवेचन करने का नाम स्याद्वाद है। स्याद्वाद में किसी भी विचार या मत का तिरस्कार नहीं किया जाता है, अपितु अपेक्षा से वस्तु के स्वरूप का अवलोकन किया जाता है। उदाहरण के तौर पर जब हम यह विचार करते हैं कि वस्तु सत् है, उस समय उसका दूसरा पहलू असत् भी हमारे सामने आ जाता है। हम उसका एकदम तिरस्कार नहीं कर सकते। क्योंकि असत् भी वस्तु में मौजूद है। यदि हम एकान्ततः सत् या असत् को ही स्वीकार करते हैं और उसके दूसरे पक्ष को नहीं स्वीकार करते हैं तो वस्तु के वास्तविक स्वरूप को प्रत्यक्ष कर ही नहीं सकते। यदि वस्तु एकान्त सत् रूप है तो फिर पदार्थों में स्थित वैचित्र्य एवं पृथक्त्व घटित ही नहीं होगा। उदाहरण के तौर पर घट-पट का पृथक् अस्तित्व ही नहीं रह जाएगा। क्योंकि घट भी सत् है और पट भी सत् है। अतः घट, पट बन जाएगा या पट, घट बन जाएगा। इस तरह दुनिया के सभी पदार्थ एक ही स्वरूप को प्राप्त हो जाएंगे। परन्तु ऐसा होता नहीं है। सब पदार्थों का अपना-अपना स्वतन्त्र अस्तित्व है। इससे यह स्पष्ट सिद्ध हो जाता है कि वस्तु सत् भी है और असत् भी। घट घटरूप से सत् है, तो पट रूप से असत् भी है। पट पटरूप से सत् और घटरूप से असत् है। इस तरह वह सदसत् है और उभयरूप से अवक्तव्य है। इसी तरह वह सत् अवक्तव्य, असत् अवक्तव्य और उभयरूप अवक्तव्य है। ऐसे वस्तु का सात भंगों से विवेचन किया जा सकता है।

कुछ विचारकों का कहना है कि एक ही पदार्थ में दो विरोधी धर्म नहीं पाए जा सकते। परन्तु उनका यह कथन सत्य से परे है। उनका विरोध केवल विरोध के लिए है, क्योंकि वस्तु में स्थित दो या दो से अधिक विरोधी धर्म स्पष्टतः प्रतीत होते हैं। कई एकान्तवादी विचारकों के ग्रन्थों में इसका उल्लेख मिलता है। सत्, असत् और अनुभय अर्थात् न सत् और न असत् इन तीन पक्षों की झलक हमें ऋग्वेद के नासदीय सूक्त में मिलती है। दो विरोधी पक्षों का एक वस्तु में होना तो उपनिषत्कार को भी मान्य है। उदाहरण के तौर पर हम यहां उपनिषदों से कुछ वाक्य उद्धृत करते हैं -

'तदेजति तन्नैजति'[1]

'अणोरणीयान् महतो महीयान्'[2]

'सदसद्वरेण्यम्'[3]

---

1. ईशोपनिषद् 5.
2. कठोपनिषद् 1, 2, 20.
3. मुण्डकोपनिषद् 2, 2, 1.

इत्यादि वाक्यों में एक ही वस्तु में दो विरोधी धर्मों का उल्लेख मिलता है। श्वेताश्वेतरोपनिषद् में हमें तीसरा अनुभय भंग भी मिलता है। उपनिषदों एवं बौद्ध ग्रन्थों में चतुर्भंगी का उल्लेख भी मिलता है। तथागत बुद्ध ने चारों पक्षों को अव्याकृत कहा है। बुद्ध से पूछा गया कि–

मरणान्तर तथागत है?

मरणान्तर तथागत नहीं है?

मरणान्तर तथागत है और नहीं है?

मरणान्तर न तथागत है, न नहीं है?

बुद्ध ने इन चारों पक्षों को अव्याकृत कहकर टाल दिया। संजयवेलट्ठिपुत्त भी इस प्रकार के चार पक्ष युक्त प्रश्नों का उत्तर न 'हां' की भाषा में देता है और न 'नकार' की भाषा में।

इससे हम इस निर्णय पर पहुंचे कि एक ही वस्तु में अनेक धर्मों का होना अनुभवगम्य है। भगवान् महावीर संजयवेलट्ठिपुत्त की तरह संशयवादी नहीं हैं और न वे बुद्ध की तरह संकुचित दायरे में ही आबद्ध हैं। वे प्रत्येक प्रश्न का निश्चयात्मक (सन्देहरहित) भाषा में उत्तर देते हैं। उनका उत्तर एकान्तवाद की भाषा में नहीं, अनेकान्तवाद की भाषा में होता है। वे प्रत्येक वस्तु का अपेक्षा से विश्लेषण करते हैं, जिसके सात विकल्प बनते हैं, उसे सप्तभंगी कहते हैं। सप्तभंगी का विस्तृत वर्णन भगवती सूत्र में देखा जा सकता है। जैन दार्शनिकों ने भी आगम की सप्तभंगी को स्वीकार किया है। उसी को आधार मानकर उन्होंने तत्त्व का विश्लेषण किया है। सात भंग निम्न हैं –

1. स्यात् अस्ति, 2. स्यात् नास्ति, 3. स्यात् अस्ति नास्ति, 4. स्यात् अवक्तव्य (न अस्ति, न नास्ति), 5. स्यात् अस्ति अवक्तव्य, 6. स्यात् नास्ति अवक्तव्य, और 7. स्यात् अस्ति-नास्ति अवक्तव्य। उक्त सात भंगों में मौलिक अस्ति और नास्ति दो भंग हैं। शेष चार या सात भंग अस्ति--नास्ति की ही अवस्थाएं विशेष हैं। अस्ति और नास्ति एक नहीं हो सकते हैं। क्योंकि दोनों विरोधी धर्म हैं।

उपरोक्त सात भंगों में पहला भंग विधि के आधार पर है। इस भंग में घट के अस्तित्व का विधि-पूर्वक विवेचन किया गया है।

दूसरे भंग में निषेध की भाषा का व्यवहार किया गया है। पहले भंग में विधि की

स्थापना की गई है और दूसरे में उसका प्रतिषेध किया गया है।

तीसरे भंग में क्रमशः दोनों का प्रतिपादन किया गया है।

चौथा भंग विधि और निषेध को युगपत् प्रतिपादन करता है। और युगपत् प्रतिपादन करना वाणी की शक्ति से बाहर है, अतः इस भंग को अवक्तव्य भंग कहते हैं।

पांचवां भंग विधि और युगपत् विधि-निषेध का प्रतिपादन करता है। यह भंग पहले और चौथे भंग के संयोग से बना है।

छठा भंग निषेध और अवक्तव्य का प्रतिपादन करता है। अतः वह तीसरे और चौथे के संयोग से बना है।

सातवां भंग उभयात्मक और अवक्तव्य का प्रतिपादन करता है। अतः वह तीसरे और चौथे के संयोग से बना है।

इस तरह जब हम कहते हैं कि कथंचित् घट है तो उसका यह अर्थ नहीं है कि घट के पूरे रूप के सम्बन्ध में हमें संशय है। यह कथन संशय की भाषा में नहीं, निश्चय की भाषा में है। जैनों ने वस्तु का विवेचन स्याद्वाद की भाषा में किया है। अतः वे एक अपेक्षा को लेकर प्रतिपादन करते हैं। परन्तु उस अपेक्षा में उन्हें किसी तरह का संशय नहीं है। पूरे निश्चय के साथ वे वस्तु के स्वरूप का प्रतिपादन करते हैं। घट कथंचित् है, इसका अर्थ इतना ही है कि वह किसी अपेक्षा से है। क्योंकि 'है' के साथ 'नहीं है' यह भी जुड़ा हुआ है। यदि 'है' केवल इतना ही मानेंगे, 'नहीं है' का सर्वथा तिरस्कार कर देंगे तो संसार के सभी पदार्थ घट रूप हो जाएंगे। फिर घट-पट का भेद रह ही नहीं जाएगा। अतः कथंचित् या स्यात् कहने का तात्पर्य यह है कि घट स्व-रूप की अपेक्षा से है और पर-रूप की अपेक्षा से नहीं है, इसी बात को दार्शनिक भाषा में यों कह दीजिए कि घट घटत्व रूप से सत् है और पटत्व रूप से असत् है।

द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव की अपेक्षा से स्वरूप और पररूप का विवेचन करना भी अप्रासंगिक नहीं होगा। जैसे घट का द्रव्य मिट्टी है, वह मिट्टी से बनता है। अतः जिस द्रव्य से घट बना है उस द्रव्य की अपेक्षा से सत् है और शेष द्रव्य की अपेक्षा से असत् है। जिस क्षेत्र में घट स्थित है उस क्षेत्र की अपेक्षा से वह सत् है और अन्य सभी क्षेत्रों की अपेक्षा से असत् है। जिस काल में घट मौजूद है उस काल की अपेक्षा से सत् है, शेष काल की अपेक्षा से असत् है। भाव का तात्पर्य है--पर्याय या आकारविशेष। जिस पर्याय या आकारविशेष का घट है, उस पर्याय एवं आकार की अपेक्षा से वह सत् है, शेष पर्यायों एवं आकारों की दृष्टि

से असत् है। अस्तु, प्रत्येक पदार्थ स्वद्रव्य, स्वक्षेत्र, स्वकाल और स्वभाव की अपेक्षा से सत् है और परद्रव्य, परक्षेत्र, परकाल और परभाव की अपेक्षा से असत् है। इसीलिए कथंचित् या स्यात् शब्द का प्रयोग इस बात को सूचित करने के लिए किया जाता है, न कि संशय के कारण। स्यात् शब्द लगा देने से वस्तु की सापेक्षता का पता लग जाता है। इसके अभाव में एकान्तवाद के प्रयोग होने का भय बना रहता है। अत: अनेकान्त या स्याद्वाद की भाषा में स्यात् या कथंचित् का प्रयोग होना जरूरी है।

आक्षेप और समाधान

कुछ विचारक स्याद्वाद की आलोचना करते हुए उसे पागलों का प्रलाप कहते हैं। यह उनके अज्ञान या साम्प्रदायिक अभिनिवेश का ही कारण हो सकता है। अन्यथा वे ऐसा कहने का साहस ही न करते। हमें यह खेद के साथ कहना पड़ता है कि उन दार्शनिकों ने स्याद्वाद को समझने का प्रयत्न ही नहीं किया। उन्होंने जो स्याद्वाद की आलोचना की वह भी सुने-सुनाए विचारों पर से ही की है, ऐसा प्रतीत होता है। किसी भी दार्शनिक ने जैनों के स्याद्वाद का अनुशीलन करके आलोचना की हो, ऐसी संभावना कम ही लगती है। यदि ऐसा होता तो उनकी आलोचना का दूसरा रूप होता। उस दार्शनिक युग की बात छोड़िए, आज भी जैन दर्शन के ग्रन्थों का प्रकाशन हो गया और वे सर्वत्र उपलब्ध भी हैं, फिर भी बहुत से विद्वान् दूसरे दार्शनिकों द्वारा विरोधी के रूप में व्यक्त किए गए विचारों को पढ़कर ही जैन दर्शन एवं स्याद्वाद पर अपने विचार बना लेते हैं। यही कारण है कि स्याद्वाद के सम्बन्ध में उन्हें भ्रम बना रहता है। क्योंकि विरोधी दर्शन में स्याद्वाद के सम्बन्ध में जो कुछ कहा गया उसमें पूरी वास्तविकता हो, ऐसा नहीं कहा जा सकता। प्रत्येक दर्शन की वास्तविक मान्यता का यथार्थ ज्ञान करने के लिए उसी दर्शन के ग्रन्थ पढ़ना आवश्यक है। अत: स्याद्वाद के स्वरूप को समझने के लिए जैन दर्शन एवं जैनागमों का अध्ययन करना आवश्यक है अन्यथा स्याद्वाद के सही रूप का ज्ञान नहीं हो सकेगा।

बौद्ध दर्शन के प्रमुख विचारक धर्मकीर्ति ने स्याद्वाद को उन्मत्तों-पागलों का बकवाद कहा है और जैनों को निर्लज्ज कहा है।[1] आचार्य शान्तिरक्षित ने भी तत्व-संग्रह में ऐसी ही भाषा का प्रयोग किया है। उसने कहा है—स्याद्वाद् जो सत् और असत्, एक-अनेक, भेद-अभेद, सामान्य-विशेष जैसे विरोधी विचारों का सुमेल करता है, वह उन्मत्तों की

1. प्रमाणवार्तिक 1, 182-185.

बौखलाहट है।[1] इसी प्रकार शंकराचार्य जैसे विद्वान् ने भी स्याद्वाद को एक तरह का पागलपन माना है।[2]

स्याद्वाद की आलोचना करते हुए इन विचारकों ने जिन युक्तियों का आश्रय लिया है, उनका निर्देश करते हुए हम आगे की पंक्तियों में एक-एक का समाधान करेंगे।

1. कुछ विचारकों का कहना है कि विधि और निषेध दो विरोधी धर्म हैं। अत: वे एक ही वस्तु में युगपत् नहीं पाए जा सकते। जैसे एक ही वस्तु में नील और अनील वर्ण नहीं देखे जाते। अत: यह कहना गलत है कि एक ही वस्तु में भिन्न-अभिन्न, सदसत्, वाच्यावाच्य धर्म युगपत् पाए जाते हैं। इस तरह अन्य विरोधी धर्म भी एक वस्तु में युगपत् नहीं पाए जा सकते। परन्तु स्याद्वाद इस बात को अभिव्यक्त करता है कि दो विरोधी धर्म एक ही वस्तु में युगपत् रह सकते हैं। इसलिए वह दोषयुक्त है।

हमारा रात-दिन का अनुभव इस बात का प्रत्यक्ष प्रमाण है कि एक ही वस्तु में युगपत् दो विरोधी धर्म देखे जाते हैं। एक अपेक्षा से किसी द्रव्य में[3] एकत्व का आभास मिलता है तो दूसरी अपेक्षा से अनेकत्व का परिज्ञान भी होता है। यह सत्य है कि एकत्व अनेकत्व से भिन्न है, न एकत्व अनेकत्व बनता है और न अनेकत्व एकत्व बनता है। पर दोनों विरोधी धर्म एक वस्तु में युगपत् पाए जाते हैं, इसमें विरोध जैसी बात नहीं है। बौद्धों ने भी चित्रज्ञान माना है। जब एक ज्ञान में चित्रवर्ण का प्रतिभास होता है और उसके होने में किसी तरह की बाधा एवं विरोध नहीं है, तब फिर एक पदार्थ में दो विरोधी धर्म की सत्ता मानने में क्या आपत्ति है? नैयायिक भी चित्रवर्ण की सत्ता को स्वीकार करते हैं। उनकी मान्यतानुसार एक ही वस्त्र में संकोच विस्तार हो सकता है। एक ही वस्त्र रक्त-अरक्त, पीत-अपीत हो सकता है, तब फिर एक ही वस्तु में एक और अनेक, नित्य और अनित्य आदि की सत्ता को मानने से इन्कार करने का क्या कारण है? हमें लगता है कि इसके पीछे एकमात्र अपनी मान्यता का आग्रह एवं साम्प्रदायिक अभिनिवेश ही कारण है, जिसके कारण दार्शनिक एक वस्तु में विरोधी धर्मो की सत्ता को स्वीकार करते हुए भी स्याद्वाद पर दोषारोपण करते हैं। परन्तु उनका यह प्रयास

---

1. तत्व-संग्रह 311 327.
2. शांकर-भाष्य 2, 2, 33.
3. द्रव्य की अपेक्षा से सुवर्ण में एकत्व है और वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्श, संस्थान इन पर्यायों की अपेक्षा से उसमें अनेकत्व है।

सूर्य पर धूल फैंककर उसे प्रच्छन्न करने जैसा बाल प्रयास ही कहा जा सकता है। क्योंकि वस्तु का स्वरूप ही ऐसा है कि उसमें अनेक धर्मों को स्वीकार किए बिना उसका स्वरूप स्पष्ट ही नहीं हो सकता और न हमारा व्यवहार ही चल सकता है।

2. कुछ विचारकों का तर्क है कि यदि वस्तु को भेदाभेद उभयात्मक मानेंगे तो उसमें यह दोष आएगा कि वस्तु की एकरूपता नहीं रह पाएगी। क्योंकि भेद का आश्रय अलग होगा और अभेद का आश्रय अलग। इस तरह उसकी एकरूपता नष्ट हो जाएगी।

यह तर्क भी गलत है। क्योंकि भेद और अभेद अलग-अलग वस्तु या वस्तु-अंशों में नहीं है। वे एक ही वस्तु में हैं। जो वस्तु एक अपेक्षा से भेदात्मक है, वही वस्तु दूसरी दृष्टि से अभेदात्मक है। जैसे हम एक ही वस्त्र को संकोच और विकासशील कहते हैं तो उसका यह अर्थ नहीं है कि उसका एक कोना संकोचशील है और दूसरा कोना विकासशील। परन्तु उसका तात्पर्य यह है कि वह पूरा वस्त्र संकोचशील और विकासशील है। अथवा जो भाग संकोचशील है वही विकासशील है और जो भाग विकासशील है वही संकोचशील। इसी तरह भेद-अभेद विरोधी धर्म एक ही वस्तु में रहते हैं, विभिन्न वस्तुओं में नहीं, अत: उनका आश्रय भिन्न मानने की आवश्यकता नहीं। एक ही वस्तु के आश्रय में अनेक धर्म अनुभव सिद्ध हैं, इसके लिए किसी अपर प्रमाण की आवश्यकता नहीं है।

3. वह धर्म जिसमें भेद माना जाता है तथा वह धर्म जिसमें अभेद स्वीकार किया जाता है, दोनों का परस्पर क्या सम्बन्ध है? यदि भिन्न है तो पुन: यह प्रश्न उठता है कि वह भेद जिसमें है उससे भी वह भिन्न है या अभिन्न? इस प्रकार अनवस्था दोष होगा और यही दोष अभिन्न मानने पर आएगा।

स्याद्वाद पर अनवस्था का दोषारोपण करना गलत है। क्योंकि जैन दर्शन यह नहीं मानता कि भेद और अभेद भिन्न हैं और भेद और अभेद जिसमें रहता है वह धर्म अलग है। वस्तु के परिणामी (परिवर्तनशील) स्वभाव को भेद कहते हैं और अपरिणमनशील स्वभाव को अभेद कहते हैं। भेद और अभेद कोई बाहर से आकर वस्तु के साथ नहीं जुड़ते। परन्तु वस्तु स्वयं भेदाभेदात्मक है। द्रव्य की अपेक्षा वस्तु अभेदात्मक है तो पर्याय की अपेक्षा भेदात्मक है। ऐसी स्थिति में इस तरह के सम्बन्ध का प्रश्न ही उपस्थित नहीं होता। जब उसके भेद और अभेद के सम्बन्ध का प्रश्न ही नहीं उठता तब उस पर अनवस्था का दोष लगाना तो स्वत: ही व्यर्थ सिद्ध हो जाता है।

4. जहां भेद है वहां अभेद है और जहां अभेद है वहां भेद है। भेद और अभेद का भिन्न-भिन्न आश्रय न होने से दोनों एक बन जाएंगे। इस तरह संकर दोष उत्पन्न होगा।

यह कथन भी सत्य से परे है। आश्रय एक होने का तात्पर्य यह नहीं है कि आश्रित भी एक हो जाए। बौद्ध भी तो इस बात को मानते हैं कि एक ही ज्ञान में चित्रवर्ण का आभास होता है, फिर भी सभी वर्ण एक नहीं होते। न्याय-वैशेषिकों की मान्यतानुसार एक ही वस्तु में सामान्य और विशेष रहते हैं, फिर दोनों एक रूप नहीं हो जाते। जब उनमें एकरूपता नहीं आती तो क्या कारण है कि स्याद्वाद के द्वारा मान्य एक ही वस्तु में स्थित दो विरोधी धर्मों का आश्रय एक होने से भेद और अभेद में एकरूपता आ जाएगी? अस्तु, यह मानना भ्रम है कि आश्रय एक होने पर दोनों विरोधी धर्म एक हो जाते हैं क्योंकि भेद और अभेद दोनों एक नहीं, भिन्न हैं। दोनों की अलग-अलग प्रतीति होती है। अत: दोनों का आश्रय एक होने पर भी दोनों को पृथक्-पृथक् मानना चाहिए।

5. कुछ दार्शनिक स्याद्वाद पर यह दोष लगाते हैं कि जहां भेद है, वहां अभेद है और जहां अभेद है, वहां भेद है। इस तरह भेद और अभेद आपस में बदले जा सकते हैं। इसमें व्यतिकर दोष लग जाएगा।

यह कथन भी स्याद्वाद एवं वस्तु के स्वरूप को नहीं समझने का परिणाम है। स्याद्वाद व्यतिकर दोष से दूषित नहीं है। भेद और अभेद दोनों धर्म वस्तु में स्वतन्त्र रूप से रहते हैं। दोनों का अपना-अपना अस्तित्व है। फिर दोनों की अपने-अपने स्वरूप में प्रतीति होती है। अत: एक-दूसरे का एक दूसरे में परिवर्तन होने की कल्पना करना मिथ्या है। स्याद्वाद भेद को भेद रूप से और अभेद को अभेद रूप से स्वीकार करता है।

6. तत्त्व भेदाभेदात्मक होने से किसी निश्चित धर्म का निर्णय नहीं हो पाएगा और निश्चित निर्णय के अभाव में संशय उत्पन्न हो जाएगा। संशय तत्त्वज्ञान का विरोधी है। इस तरह स्याद्वाद से तत्त्वज्ञान नहीं हो सकेगा?

स्याद्वाद को संशय ज्ञान समझना भारी भूल है। भेदाभेदात्मक ज्ञान का होना संशय नहीं है। संशय तब होता है, जब किसी धर्म का निर्णय न हो। यह समझ में न आ रहा हो कि वस्तु भेदात्मक है या अभेदात्मक, वहां संशय ज्ञान होता है और उस स्थिति में तत्त्व का सही निर्णय नहीं हो पाता है। परन्तु स्याद्वाद में ऐसे ज्ञान को अवकाश नहीं है, उसमें तो वस्तु का स्पष्ट रूप परिलक्षित होता है। वस्तु का भेद रूप भी निश्चित है और अभेद रूप भी निश्चित है।

जैन दर्शन में वस्तु के स्वरूप को समझने के लिए जो स्यात् शब्द का व्यवहार होता है, कई दार्शनिक उसे शायद के अर्थ में समझकर उसे संशयात्मक ज्ञान मानने लगते हैं। शंकराचार्य जैसे विद्वान् ने भी स्यात् शब्द के अर्थ को समझने में भारी भूल की है। स्यात् शब्द का अर्थ शायद नहीं है। उसका अर्थ अपेक्षा या दृष्टि है। जब हम यह कहते हैं कि वस्तु स्यात् भेदात्मक है, स्यात् अभेदात्मक है तो हमारा कहने का अभिप्राय यह नहीं है कि वस्तु शायद भेदात्मक है या शायद अभेदात्मक। हमारा तात्पर्य यह है कि वस्तु द्रव्य की अपेक्षा से अभेदात्मक है और पर्याय की अपेक्षा से भेदात्मक है। और दोनों विवक्षा में ज्ञान निश्चयात्मक है। जैन दर्शन को वस्तु के भेदाभेद होने में जरा भी संशय नहीं है। अत: स्याद्वादपूर्वक होने वाला ज्ञान निश्चयात्मक है। अत: संशय के आश्रय में रहे हुए जितने भी दोष हैं, वे इस पर लागू नहीं होते।

सुप्रसिद्ध विद्वान् आनन्दशंकर ध्रुव की भी मान्यता है कि स्याद्वाद संशयवाद नहीं है। वे वजनदार शब्दों में कहते हैं–"स्याद्वाद का सिद्धान्त संशयवाद तो है ही नहीं। वह मनुष्य को विशाल उदार-दृष्टि से पदार्थ को देखने के लिए प्रेरित करता है और विश्व के पदार्थों का किस प्रकार से अवलोकन किया जाए यह सिखाता है[1]।" यह वस्तु का एकान्त अस्तित्व नहीं मानता और न वह उस प्रकार के स्वीकरण को सर्वथा अस्वीकार ही करता है। वह कहता है कि वस्तु है या नहीं, यह दोनों आपेक्षिक दृष्टि से कहे जा सकते हैं। भारत के माने हुए दार्शनिक राष्ट्रपति डॉ० राधाकृष्णन ने भी उसी बात को पुष्ट करते हुए लिखा है–"वास्तविकता का सच्चा और सचोट प्रतिपादन तो मात्र आपेक्षिक और तुलनात्मक ही हो सकता है और उस प्रतिपादन की शक्यता वह स्वीकार करता है। प्रत्येक सिद्धान्त सत्य होता है, परन्तु कुछ निश्चित संयोगों में ही अर्थात् परिकल्पना में ही। वस्तु अनेक धर्मी होने के कारण कोई भी बात निश्चय रूप में नहीं कही जा सकती है। वस्तु के विविध धर्मों को अभिव्यक्त करने के लिए विधि-निषेध सम्बन्धी शब्द प्रयोग सात प्रकार से होता है। यही स्याद्वाद सिद्धान्त है[2]।" इस तरह भारतीय एवं पाश्चात्य दार्शनिकों का भी अभिमत है कि स्याद्वाद संशयवाद नहीं, प्रत्युत वस्तु के यथार्थ स्वरूप को जानने का एक प्रशस्त मार्ग है।

7. कुछ विद्वान् यह तर्क देते हैं कि स्याद्वाद एकान्तवाद के आधार पर ही स्थित रह सकता है। स्याद्वाद की मान्यता है कि प्रत्येक वस्तु सापेक्ष है। उन सापेक्ष धर्मों के मूल में जब

1. कन्नोमल, सप्तभंगी न्याय, प्रस्तावना, पृ० 8.

2. History of Indian Philosophy, – Dr. Radha Krishnan, Part I, p. 302.

तक कोई एक ऐसा तत्त्व न हो कि जो सब सापेक्ष धर्मों को एक सूत्र में बांध सके, तब तक वे धर्म स्थित नहीं रह सकते। अत: उन सबको एक सूत्र में आबद्ध रखने वाला धर्म होना चाहिए, जो स्वयं निरपेक्ष हो और ऐसे निरपेक्ष तत्त्व की सत्ता स्वीकार करने पर स्याद्वाद का महल धराशायी हो जाएगा।

स्याद्वाद को एकान्तवाद कहना उसके अर्थ को नहीं समझना है। स्याद्वाद एक सापेक्ष दृष्टि है। वह वस्तु के वास्तविक स्वरूप को देखती है। स्याद्वाद वस्तु के सामान्य स्वरूप को भी स्वीकार करता है और विशेष स्वरूप को भी। वह यह नहीं कहता कि वस्तु में एकरूपता है ही नहीं। वह वस्तु की एकरूपता को भी स्वीकार करता है। परन्तु उससे वह एकान्तवादी नहीं हो जाता। क्योंकि जब वह एक अपेक्षा से एकरूपता स्वीकार करता है, तब दूसरी अपेक्षा से उसमें अन्तर्निहित अनेक-रूपता को भी ध्यान में रखता है, वह उसका तिरस्कार नहीं करता। जैसे स्थानांग सूत्र में '**एगे आया**'–एक आत्मा है कहा गया है, वहां अनेक आत्मा के तथ्य को आंखों से ओझल नहीं किया है। एक आत्मा है–यह कहने का तात्पर्य इतना ही है कि आत्म-द्रव्य की अपेक्षा से सभी आत्माएं समान हैं, उनमें सामान्य की अपेक्षा एकरूपता होने के कारण एक कहा गया है। परन्तु इसका यह अर्थ समझना भारी भूल है कि एक आत्मा का निरूपण करते समय अनेक आत्मा के सिद्धान्त को भुला दिया गया या अनेक आत्मा की मान्यता के विरुद्ध कहा गया। '**एगे आया**' की मान्यता में अनेक आत्मवाद का जरा भी विरोध नहीं है। क्योंकि दोनों मान्यताएं सापेक्ष हैं, अत: वे आपस में कभी नहीं टकराती हैं। सामान्य–द्रव्य समानता की दृष्टि से एक आत्मा है तो विशेष–व्यक्ति की दृष्टि से अनेक आत्मा हैं। एक के उच्चारण के साथ अनेक जुड़ा हुआ है और अनेक के साथ एक। अत: स्याद्वाद एक को मानता है वहां अनेक का तिरस्कार नहीं करता है, इस कारण उस पर एकान्तवादी होने का दोषारोपण करना गलत है।

8. कुछ तार्किकों का यह तर्क है कि वस्तु कथंचित् यथार्थ है और कथंचित् अयथार्थ है। इस मान्यता से स्याद्वाद स्वयं कथंचित् सत्य और कथंचित् मिथ्या हो जाएगा? और इस स्थिति में स्याद्वाद के द्वारा तत्त्व का वास्तविक ज्ञान हो सकेगा, यह कैसे माना जा सकता है? क्योंकि जो प्रमाण कथंचित् मिथ्या है, वह सही ज्ञान कराने में बाधक ही होता है।

यह हम ऊपर बता चुके हैं कि स्याद्वाद तत्त्व विश्लेषण करने की एक सापेक्ष दृष्टि है। अनेक धर्मयुक्त तत्त्व को उसी रूप में देखने का नाम स्याद्वाद है। जो वस्तु जिस रूप में स्थित है उसे तद्रूपेण यथार्थ स्वीकार करना, तथा तदितर रूप में अयथार्थ मानने का नाम

स्याद्वाद है। इस अपेक्षा से स्याद्वाद भी यदि एक दृष्टि से अयथार्थ या असत्य है, तो वैसा मानने में हमें कोई आपत्ति नहीं है। हम इस बात को मानते हैं कि स्याद्वाद भी कथंचित् सत्य है और कथंचित् मिथ्या। अनेकान्त दृष्टि से स्याद्वाद सत्य है, यथार्थ है और एकान्त की अपेक्षा से वह अयथार्थ है, मिथ्या है। जिस वस्तु का जिस दृष्टि से प्रतिपादन हो सकता है, उस दृष्टि से उसका विवेचन करने में स्याद्वाद सदा तत्पर है। स्याद्वाद को समझने के लिए स्याद्वाद की दृष्टि से देखने पर ही उसका यथार्थ रूप समझ में आ सकता है। अत: स्याद्वाद अनेकान्त दृष्टि की अपेक्षा से यथार्थ है। क्योंकि वस्तु अनेक धर्मयुक्त है, इसलिए उसका विवेचन अनेकान्त दृष्टि से ही हो सकता है, एकान्त दृष्टि से नहीं। इस कारण अनेकान्त की अपेक्षा वह सत्य है, यथार्थ है, और उससे वस्तु का यथार्थ ज्ञान होने में किसी तरह की बाधा उपस्थित नहीं होती, और एकान्त दृष्टि से वह अयथार्थ है। इसलिए एकान्त दृष्टि से तत्त्व का विश्लेषण करना जैनों को इष्ट नहीं है।

9. कुछ विचारकों का कथन है कि सप्तभंगी में प्रयुक्त पीछे के तीन भंग व्यर्थ हैं। यदि एक दूसरे के संयोग से संख्या बढ़ाना हो तो सात ही क्यों अनन्त भंग बना सकते हो?

हम ऊपर इस बात को स्पष्ट कर चुके हैं कि मौलिक भंग दो हैं–1. अस्ति और 2. नास्ति। शेष सभी भंग विवक्षाभेद से बनते हैं। यहां तक कि तीसरा और चौथा भंग भी पूर्ण स्वतंत्र नहीं कहा जा सकता। यह ठीक है कि जैनाचार्यों ने सात की संख्या को स्वीकार किया है, और सात भंग मानने का कारण भी विस्तार से बताया है। परन्तु जैन दर्शन की मौलिक मान्यता सात की नहीं, दो की है और भगवती सूत्र में अस्ति और नास्ति दो भंग के आधार पर सात भंग बनाए हैं और गांगेय अनगार के प्रश्नोत्तर के आधार पर आचार्यों ने सैकड़ों भंग बनाए हैं और आगे कहा गया कि इस तरह हम संख्यात, असंख्यात, अनन्त भंग बना सकते हैं। परन्तु मूल भंग दो ही हैं। बौद्धों एवं कुछ वैदिक दर्शनों ने भी चार भंग माने हैं। वे चारों भंग अस्ति और नास्ति इन दो पर ही आधारित हैं और इसका कारण यह है कि वस्तु न एकान्त रूप से अस्ति रूप है और न एकांतत: नास्ति रूप। क्योंकि वस्तु उभयात्मक है। एक अपेक्षा से वह अस्ति रूप दिखायी देती है और दूसरी अपेक्षा से देखने पर नास्ति रूप से प्रतीत होती है और दोनों रूप समान हैं। न अस्ति नास्ति से बलवान है और न नास्ति अस्ति से अधिक बलिष्ठ है। दोनों समान रूप से वस्तु की यथार्थता को प्रकट करते हैं। इसलिए वस्तु के यथार्थ स्वरूप का परिज्ञान करने के लिए दोनों की सत्ता को स्वीकार करना जरूरी है। अत: अस्ति और नास्ति दो भंग मुख्य हैं, शेष भंग उसी के आधार पर स्थित हैं। वस्तु को समझने की

कोटियां–श्रेणियां सात हैं, इसलिए सात भंग माने गए हैं।

10. दर्शन ग्रन्थों में स्याद्वाद पर यह भी आक्षेप किया गया है कि स्याद्वाद को स्वीकार करने वाले केवलज्ञान के अस्तित्व को नहीं मान सकते। क्योंकि केवल ज्ञान एकान्त रूप से पूर्ण होता है। उसकी उत्पत्ति के लिए बाद में किसी की अपेक्षा नहीं रहती।

तत्त्व की दृष्टि से स्याद्वाद और केवलज्ञान में अन्तर नहीं है। वस्तु का ज्ञान जिस रूप में केवली करते हैं, उसी रूप में स्याद्वादी भी करता है। पदार्थ का ज्ञान करने की दृष्टि दोनों की भिन्न नहीं है। दोनों में भेद सिर्फ इतना ही है कि केवलज्ञानी जिस वस्तु को प्रत्यक्ष ज्ञान से जानेगा, स्याद्वादी छद्मस्थ उसे परोक्ष–श्रुतज्ञान से देखेगा। केवलज्ञान पूर्ण है, वह साक्षात् आत्मा से होता है, उसमें किसी तरह का आवरण नहीं होता, परन्तु इसका पूर्ण होने का यह अर्थ नहीं है कि वह एकान्तवादी होता है। केवली भी वस्तु के स्वरूप को सापेक्ष दृष्टि से ही जानेगा। क्योंकि वस्तु सापेक्ष है, अनेक धर्म युक्त है और केवली उस वस्तु के द्रव्य एवं पर्याय सभी रूपों का प्रत्यक्षत: अवलोकन करते हैं। वे वस्तु में रहे हुए सामान्य और विशेष उभय धर्मों को देखते हैं, अत: केवलज्ञान को अनेकान्त से भिन्न एकान्त मानना युक्तिसंगत नहीं कहा जा सकता।

दूसरे, केवलज्ञान भी उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य युक्त है। वह भी परिणामी नित्य है। उसकी पर्यायों में परिवर्तन होता रहता है। जैसे काल अन्य पदार्थों पर वर्तता है, वैसे वह केवलज्ञान पर भी वर्तता है। जैन केवलज्ञान को कूटस्थ नित्य नहीं, परिणामी नित्य मानते हैं। काल की अपेक्षा से प्रत्येक वस्तु की तीन–अतीत, वर्तमान और अनागत अवस्थाएं हैं। केवलज्ञान वस्तु की तीनों काल की अवस्थाओं को जानता-देखता है। परन्तु वह इन तीनों अवस्थाओं को जिस रूप में आज देखता है, कल उन्हीं तीनों अवस्थाओं को भिन्न रूप से जानेगा-देखेगा। क्योंकि आज का जो वर्तमान है वह कल का अतीत बन जाएगा और कल का जो अनागत था वह वर्तमान हो जाएगा। इस तरह वस्तु की पर्यायों को आज उसने वर्तमान रूप से जाना था, कल उन्हें ही अतीत रूप से जानेगा और जिन्हें आज भविष्य रूप से देखता है उन्हें कल वर्तमान रूप से देखेगा। इस तरह काल भेद से केवलज्ञान में भी अन्तर होता है और इस अन्तर के साथ-साथ अथवा वस्तु की अवस्थाओं के परिवर्तन के साथ-साथ ज्ञान की अवस्था–पर्यायों में परिवर्तन होता है। अस्तु केवलज्ञान एकान्तवादी और कूटस्थ नित्य नहीं, प्रत्युत परिणामी नित्य है। इसलिए स्याद्वाद और केवलज्ञान में कोई मौलिक अन्तर या विरोध नहीं है। छद्मस्थ का और केवली का दोनों ही ज्ञान स्याद्वादपूर्वक होते हैं और दोनों

ज्ञान वस्तु का अनेकान्त दृष्टि से अवलोकन करते हैं।

इतने लम्बे विवेचन के बाद हम इस निष्कर्ष पर पहुंचे कि स्याद्वाद पागलों का प्रलाप या उन्मत्तों की बौखलाहट नहीं, अपितु वस्तु के सही रूप को जानने का यथार्थ साधन है। दार्शनिक ग्रन्थों में हम स्पष्ट रूप से देखते हैं कि एकान्तवाद का आग्रह रखकर चलने वाले दार्शनिकों को भी प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से स्याद्वाद का सहारा लेना ही होता है। इसको माने बिना वस्तु के पूर्ण रूप को न जाना जा सकता है और न दुनिया का व्यवहार की चल सकता है। हम यह प्रत्यक्ष में देखते हैं कि हमारे सभी व्यवहार सापेक्षता के आधार पर ही चलते हैं। यदि हम एकान्त को स्वीकार कर लें तो व्यावहारिक जगत में एक क्षण भी नहीं टिक सकते, हमारा सारा व्यवहार ही समाप्त हो जाएगा। इस संसार की एवं संसार में स्थित पदार्थों तथा व्यवहार की सापेक्षता को देखकर वैज्ञानिकों ने भी सापेक्षवाद को स्वीकार किया है। अत: जैनों का सापेक्ष सिद्धान्त कपोल कल्पित नहीं, प्रत्युत वैज्ञानिक आधार पर आधारित है।

राजनैतिक संघर्षो का समाधान–स्याद्वाद

स्याद्वाद दार्शनिक समस्याओं का सही समाधान रहा है। जैनाचार्यों ने सभी दर्शनों का, विचारों का समन्वय करके दार्शनिक संघर्षों को समाप्त करने का प्रयत्न भी किया है। परन्तु वर्तमान में दार्शनिक युग प्राय: समाप्त हो गया है। दार्शनिक संघर्ष भी धीरे-धीरे समाप्त होते जा रहे हैं। वर्तमान युग वैज्ञानिक युग है और इस युग में राजनीति की प्रमुखता है, इसलिए आज हमें दार्शनिक संघर्षों की जगह राजनैतिक संघर्ष दिखाई देते हैं। राष्ट्रीय एवं अन्तर्राष्ट्रीय दोनों दृष्टियों से राजनैतिक संघर्ष अखाड़े बने हुए हैं जिनमें राष्ट्रीय एवं अन्तर्राष्ट्रीय राजनेता एक-दूसरे को परास्त करने के लिए जी-जान से व्यस्त रहते हैं। कुछ दिन पूर्व केरल में कम्युनिस्ट पार्टी की सरकार को अपदस्थ करने के लिए लड़ाई लड़ी गई, जिसमें विरोधी पार्टी के नेता सफल रहे तथा अन्य प्रान्तों में सरकारी पार्टी एवं गैर सरकारी पार्टियों में विधान सभा एवं उसके बाहर चलने वाला संघर्ष इस बात का ज्वलन्त उदाहरण है कि पार्टी के नेता राष्ट्र हित की अपेक्षा पार्टी के स्वार्थ को सर्वोपरि महत्त्व देते हैं। यही कारण है कि सरकारी पार्टी के सदस्यों पर यह पाबन्दी लगा दी जाती है कि वे सरकार से विरोधी विचार रखते हुए भी उसके विरोध में मत नहीं दे सकते। चाहे सत्य हो या असत्य, पार्टी का समर्थन करना एवं उसके बहुमत की प्रतिष्ठा को बनाए रखना प्रत्येक सदस्य का कर्त्तव्य है और विरोधी पार्टी का लक्ष्य यह रहता है कि हर बात में सरकार का विरोध करना, भले ही वह सत्य भी क्यों

न हो। यही कारण है कि इन पार्टियों के एकांगी दृष्टिकोण एवं स्वार्थों की चक्की में जनता कुचली जाती है।

यही स्थिति अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में है। विश्व में अभी रूस और अमेरिका दो विशेष शक्तिशाली गुट माने जाते हैं। एक साम्यवादी विचारों का समर्थक और परिपोषक है, तो दूसरा पूंजीवादी एवं साम्राज्यवादी विचारधारा का। दोनों विश्व को अपनी दृष्टि से चलाना चाहते हैं। उन्हें अपने दृष्टिकोण के सिवाय अन्य का दृष्टिकोण नजर ही नहीं आता। कुछ दिन पूर्व रूस के प्रधानमंत्री ख्रुश्चोव ने अमेरिका की यात्रा की। उन्होंने U.N.O. (संयुक्त राष्ट्रसंघ) में भाषण दिया था। अपने उक्त भाषण में निःशस्त्रीकरण के सम्बन्ध में रूस की तरफ से एक प्रस्ताव रखने की घोषणा करते हुए ख्रुश्चोव ने कहा—"सभी देश चार वर्ष के अन्दर-अन्दर पूर्ण निःशस्त्रीकरण कर लें। सभी स्थल, जल और नभ सेनाएं समाप्त कर दी जाएं, विदेशी सैन्य प्रधान कार्यालय और युद्ध मन्त्रालय खत्म कर दिए जाएं, सैनिक शिक्षा के संस्थान बन्द कर दिए जाएं, विदेशी सैनिक अड्डे समाप्त कर दिए जाएं, अणुबम नष्ट कर दिए जाएं और उनका उत्पादन आगे से निषिद्ध कर दिया जाए[1]।

विश्व शान्ति के लिए प्रस्तुत किए गए ख्रुश्चोव के विचारों से हम पूर्णतः सहमत हैं। गांधी और विनोबा की अहिंसामय भाषा में ख्रुश्चोव ने भी बोलना शुरू किया है, इसके लिए हम उन्हें बधाई देते हैं। परन्तु अपने इन विचारों को मनवाने के लिए उन्होंने जो अपने भाषणों में धमकियां दी हैं, उससे हम सहमत नहीं हैं। विश्व के सामने अपने विचार रखने का हमें पूरा अधिकार है, परन्तु उन्हें मनवाने के लिए किसी पर दबाव डालना तथा उसके लिए आग्रह करना उपयुक्त नहीं कहा जा सकता। अमेरिका में दिए गए अपने एक भाषण में ख्रुश्चोव ने धमकी भरे शब्दों में कहा—"यदि आप लोग निःशस्त्रीकरण के लिए तैयार नहीं और आप शस्त्रों की घुड़दौड़ जारी रखना चाहते हैं, तो ठीक है। हम इस चुनौती को स्वीकार करते हैं। हममे भी ताकत है और हम आधुनिक से आधुनिक हथियार तैयार कर सकते हैं।[2] इस तरह के वाक्यों में यह सन्देह बना रहता है कि सेना आदि को समाप्त करने की बात केवल प्रचार मात्र तो नहीं है।

हम यह देख चुके हैं कि संघर्ष का मूल कारण एकांगी दृष्टि है। ख्रुश्चोव के पक्ष के समर्थक राष्ट्र उनके प्रस्ताव को महत्त्व देते हैं, तो अमेरिकन गुट के राष्ट्र उसके विरोध की

1. The Times of India (daily) 19-9-59, p. 1, Col. 4
2. हिन्दुस्तान (दैनिक) 21 सितम्बर, 1959

तैयारी में लगे हैं। प्रत्येक राजनेता अपने विचारों को सही और दूसरे के विचारों को गलत सिद्ध करने का प्रयत्न करता है। अस्तु संघर्ष का अन्त केवल उच्च आदर्शों का प्रदर्शन करने मात्र से नहीं होगा, उसके लिए आवश्यकता इस बात की है कि अपने विचारों को रखने के साथ हम अपने विरोधी विचारों का भी आदर करें। उनकी सर्वथा उपेक्षा न करके उनके विचारों को उनकी दृष्टि से परखने का प्रयत्न करें। आज आवश्यकता इस बात की है कि सापेक्षवाद को दार्शनिक एवं वैज्ञानिक क्षेत्र में ही सीमित न रखकर उसका राजनैतिक, सामाजिक एवं पारिवारिक जीवन में भी विस्तार करें। जब सभी क्षेत्रों में स्याद्वाद या सापेक्षवाद का प्रयोग करने लगेंगे तो सारी समस्याएं सुलझते देर नहीं लगेगी, वर्तमान में राष्ट्रीय-अन्तर्राष्ट्रीय एवं सांप्रदायिक क्षेत्रों में बढ़ रहा तनाव स्वयं ही निर्मूल हो जाएगा।

विचारकों की दृष्टि में—स्याद्वाद

इस तरह हमने देखा स्याद्वाद सभी दृष्टियों से सत्य या वास्तविकता को जानने का साधन है। अब हम स्याद्वाद के सम्बन्ध में कुछ विचारकों के विचार प्रस्तुत करेंगे –

प्रो० हर्मन जेकोबी

''जैन धर्म के सिद्धान्त प्राचीन भारतीय तत्त्वज्ञान और धार्मिक पद्धति के अभ्यासियों के लिए बहुत महत्वपूर्ण हैं। इस स्याद्वाद सिद्धान्त से सर्वसत्य विचारों का द्वार खुल जाता है।''

इण्डिया ऑफिस लन्दन के प्रधान पुस्तकालय के अध्यक्ष डॉ० थामस

न्यायशास्त्र में जैन न्याय का बहुत ऊंचा स्थान है। स्याद्वाद का विषय बड़ा गम्भीर है। वह वस्तुओं की भिन्न-भिन्न परिस्थितियों पर अच्छा प्रकाश डालता है।

आचार्य आनन्द शंकर बापू भाई ध्रुव

स्याद्वाद मनुष्य को विशाल और उदार दृष्टि से पदार्थ को देखने के लिए प्रेरित करता है और विश्व के पदार्थों का किस प्रकार से अवलोकन किया जाए यह सिखाता है।

स्याद्वाद का सिद्धान्त बौद्धिक अहिंसा है। बुद्धि या विचारों से भी किसी का न अनिष्ट चिन्तन करना और न किसी को बुरा कहना ही स्याद्वाद का सुखद परिणाम है।

राष्ट्रपति डॉ० राधाकृष्णन

वास्तविकता का सच्चा और सचोट प्रतिपादन तो मात्र आपेक्षिक और तुलनात्मक ही

हो सकता है। वस्तु अनेकधर्मी होने के कारण कोई भी बात निश्चय रूप में नहीं कही जा सकती। वस्तु के विविध धर्मों को अभिव्यक्त करने के लिए विधि-निषेध सम्बन्धी शब्द का प्रयोग सात प्रकार से होता है, जिसे जैन परिभाषा में सप्तभंगी कहते हैं। यही स्याद्वाद सिद्धान्त है।

महात्मा गांधी

जिस प्रकार स्याद्वाद को मैं जानता हूं, उसी प्रकार मैं उसे मानता हूं। मुझे अनेकान्त बड़ा प्रिय है।

श्री काका कालेलकर

अनेकान्तवाद अथवा स्याद्वाद अहिंसा धर्म का एक उज्ज्वल रूप है। इसकी तात्त्विक, दार्शनिक और तार्किक चर्चा बहुत हो चुकी है। इसमें अब किसी को दिलचस्पी नहीं रही है। परन्तु सांस्कृतिक क्षेत्र में, अन्तर्राष्ट्रीय राज्य में, गोरे, काले, पीले या गेहूं वर्णी भिन्न-भिन्न वर्णों के सम्बन्ध के बारे में अगर हम समन्वयवाद को चलायेंगे और स्याद्वाद को नया रूप देंगे, तो जैन संस्कृति फिर से सजीवन और तेजस्वी बनेगी। अगर इस क्षेत्र में जैन समाज ने कुछ पुरुषार्थ करके दिखलाया तो बिना कहे दुनिया भर के मनीषी जैन शास्त्रों का अध्ययन करेंगे और इस नव प्रेरणा का उद्गम कहां है, उसे ढूंढ़ेंगे।

महामहोपाध्याय पं० राम मिश्र शास्त्री

स्याद्वाद जैन धर्म का अभेद्य किला है, जिसके अन्दर प्रतिवादियों के मायावी गोले प्रवेश नहीं करते।

स्व० पं० महावीर प्रसाद द्विवेदी

प्राचीन ढर्रे के हिन्दू धर्मावलम्बी बड़े-बड़े शास्त्री तक अब भी नहीं जानते कि जैनियों का स्याद्वाद किस चिड़िया का नाम है। धन्यवाद है जर्मनी, फ्रांस और इंग्लैंड के कुछ विद्यानुरागी विशेषज्ञों को जिनकी कृपा से इस (जैन) धर्म के अनुयायियों के कीर्ति-कलाप की खोज की और भारतवर्ष के इतर जनों का ध्यान आकृष्ट किया। यदि ये विदेशी विद्वान् जैनों के धर्म ग्रन्थों की आलोचना न करते, उनके प्राचीन लेखकों (ग्रन्थों) की महत्ता प्रकट नहीं करते, तो हम लोग शायद आज भी पूर्ववत् अज्ञान के अन्धकार में ही रहते।

नयवाद

प्रश्न–हम देखते हैं कि जैनों ने भी कई जगह एकांतवाद का सहारा लिया है। जैनों

का मान्य नयवाद एकांतवाद का ही एक रूप है। क्योंकि हरेक नय एकांत दृष्टि से सोचता है। अत: फिर यह कैसे कहा जा सकता है कि जैन एकांतवादी नहीं; अनेकांतवादी हैं?

उत्तर—नयवाद को एकांतवाद समझना, उसके यथार्थ ज्ञान का न होना ही समझना चाहिए। नयवाद एकांतवाद नहीं है। यह एकांत दृष्टि से नहीं प्रत्युत, एक अपेक्षा से या एक दृष्टि से सोचता है और उसके एक दृष्टि से सोचने में दूसरी दृष्टि का अस्तित्व भी उसके सामने बना रहता है। अत: हम यों कह सकते हैं कि वह अपनी दृष्टि से विचार करता है, परन्तु दूसरी दृष्टि की सर्वथा उपेक्षा नहीं करता या दूसरी दृष्टि को सर्वथा मिथ्या नहीं करता। अत: नयवाद एकांत नहीं अनेकांतमूलक है। स्याद्वाद-अनेकांतवाद और नयवाद में कोई विरोध नहीं है।

द्रव्य और प्रमाण

वस्तु का परिज्ञान दो तरह से होता है—सकलादेश और विकलादेश से। जिस ज्ञान से वस्तु के पूरे रूप का परिबोध होता है उसे सकलादेश कहते हैं, आगमिक एवं दार्शनिक भाषा में उसे स्याद्वाद या प्रमाण कहते हैं। वस्तु में स्थित अनेक धर्मों में से जो एक धर्म की विवक्षा करता है, उसे विकलादेश कहते हैं और आगमिक भाषा में नय कहते हैं। स्याद्वाद या प्रमाण वस्तु के सम्पूर्ण रूप को देखता है और नयवाद वस्तु के एक अंश का अवलोकन करता है। नयवाद वस्तु के किसी एक अंश को लेकर उसका प्रतिपादन करता है। उसके दूसरे अंश से उसका कोई मतलब नहीं रहता। वह दूसरे पहलू का न विधान करता है और न निषेध ही। यदि वह वस्तु के दूसरे अंशों का—जो उसकी परिधि से बाहर हैं, वर्णन करने लगे तो फिर वह नय नहीं रहकर प्रमाण या स्याद्वाद बन जाएगा। और यदि वह वस्तु के दूसरे अंश का निषेध करने लगे तो वह नयाभास हो जाएगा, क्योंकि वस्तु में दूसरे अंश (धर्म) का अस्तित्व है, फिर भी उस अस्तित्व का निषेध करना मिथ्या कथन करना है। इस मिथ्या-दूषण से वह नय भी सम्यक्नय न रहकर मिथ्यानय या असम्यक्नय बन जाएगा। अस्तु, नयवाद वस्तु के एक धर्म का ही विवेचन करता है, वह वस्तु के दूसरे धर्मों का न प्रतिपादन करता है और न निषेध करता है। इसका अर्थ यह नहीं है कि नयवाद वस्तु के एक धर्म को ही जानता है, अन्य को नहीं जानता। वह भी वस्तु को अनेक धर्म युक्त जानता / मानता है। वस्तु को अनेक धर्म युक्त जानकर ही वह उसके एक अंश / धर्म की विवक्षा करता है। क्योंकि उसके विवेचन की मर्यादा एक अंश तक ही सीमित है, फिर भी वह दूसरे अंशों / धर्मों का तिरस्कार नहीं करता

है, इसलिए नयवाद भी सम्यक् है और वस्तु को जानने का–चाहे अंश रूप से ही, यथार्थज्ञान है।

द्रव्य और पर्याय अथवा सामान्य और विशेष

वस्तु अनेक धर्म-युक्त है। अत: उसका विवेचन अनेक दृष्टियों से किया जा सकता है। वे अनेक दृष्टियां दो भागों में विभक्त की जा सकती हैं–सामान्य दृष्टि और विशेष दृष्टि या द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक। इन दो दृष्टियों में सारी दृष्टियों का समावेश हो जाता है। क्योंकि वस्तु द्रव्य और पर्याययुक्त है। अत: सामान्य–अभेदमूलक जितनी दृष्टियां हैं उन सबका द्रव्य में और भेदमूलक जितनी दृष्टियां हैं उनका पर्याय में समावेश हो जाता है। दो दृष्टियों में सभी दृष्टियां समाविष्ट हो जाती हैं। इसलिए नय के भी मुख्य दो भेद माने हैं–द्रव्यार्थिक नय और पर्यायार्थिक नय। शेष सभी इनके ही भेद-उपभेद हैं। भगवान् महावीर ने तत्त्वों का विश्लेषण करते समय इन दोनों नयों का आधार लिया है। भगवती सूत्र में वस्तु की नित्यता-अनित्यता का जो विवेचन मिलता है, वह द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक दृष्टि से ही किया गया है। द्रव्य की अपेक्षा से जीव नित्य-शाश्वत है और पर्याय की अपेक्षा से अनित्य-अशाश्वत है। इसी तरह स्थानांग सूत्र के प्रथम स्थान में जो '**एगे आया**' का तथा भगवती आदि अन्य आगमों में अनन्त जीवों का जो उल्लेख किया गया है, वह भी द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक दृष्टि से ही किया गया है। सामान्य दृष्टि से आत्मा एक है, तो विशेष दृष्टि से आत्माएं अनन्त हैं। द्रव्यार्थिक नय आत्म द्रव्य की अपेक्षा से सबको अभेदात्मक मानता है और पर्यायार्थिक नय विभिन्न पर्यायों एवं सब आत्माओं के स्वतन्त्र अस्तित्व की अपेक्षा से सबके भेद का ज्ञान करता है। इन दोनों दृष्टियों को सामने रख कर ही भगवान् महावीर ने कहा कि "आत्मा एक भी है और अनेक भी।" दोनों दृष्टियां अपनी-अपनी दृष्टि से वस्तु में रहे हुए अनेक धर्मों में से एक धर्म को स्वीकार करती हैं, परन्तु दूसरे का विरोध नहीं करतीं, इसलिए इन में आपस में संघर्ष नहीं होता और इसी कारण इनको सम्यक्नय कहा गया है।

द्रव्य और प्रदेश

द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक दृष्टि की तरह द्रव्यार्थिक और प्रदेशार्थिक दृष्टि से भी वस्तु का विवेचन किया जा सकता है। यह हम बता चुके हैं कि द्रव्यार्थिक दृष्टि एकता की सूचक है और प्रदेशार्थिक दृष्टि अनेकता को व्यक्त करती है। पर्यायार्थिक और प्रदेशार्थिक दृष्टि एक नहीं है। पर्याय और प्रदेश में अन्तर यह है कि पर्याय–द्रव्य की देश और कालकृत

अनेक अवस्थाएं हैं और प्रदेश द्रव्य के अवयव हैं। परमाणु जितने स्थान को घेरता है वह एक प्रदेश है। जैनदर्शन की मान्यतानुसार कुछ द्रव्यों के प्रदेश नियत हैं और कुछ द्रव्यों के अनियत। जीव-आत्मा के प्रदेश सर्व देश और सर्व काल में नियत हैं। उनकी संख्या में न अभिवृद्धि होती है और न ह्रास ही। यह बात अलग है कि वे जिस शरीर में स्थित रहते हैं, उसके अनुरूप छोटे-बड़े हो सकते हैं, परन्तु आत्म-प्रदेशों की संख्या में कोई परिवर्तन नहीं होता। वे संकोच-विस्तार वाले हैं, जैसा छोटा या बड़ा शरीर मिलता है उसी के अनुरूप आत्म-प्रदेश अपना संकोच या विस्तार कर लेते हैं। जैसे दीपक छोटे कमरे में अपने जितने प्रदेशों को फैलाता है, उतने ही प्रदेशों को बड़े कमरे में फैला देता है। कमरे के छोटे और बड़े होने मात्र से दीपक के प्रदेशों में कोई अन्तर नहीं पड़ता, उसी तरह शरीर के छोटे-बड़े होने से आत्म-प्रदेशों की संख्या में कोई अन्तर नहीं आता। आत्म-प्रदेशों की तरह धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय और लोकाकाश के प्रदेश भी नियत हैं। पुद्गलास्तिकाय के प्रदेश अनियत हैं, स्कन्ध के अनुसार उसके प्रदेशों में अन्तर होता रहता है। पर्याय हमेशा अनियत रहती है। क्योंकि उसमें सदा परिवर्तन होता रहता है।

श्रमण भगवान् महावीर ने जिस तरह पर्याय दृष्टि से वस्तु का विवेचन किया है, उस तरह प्रदेश दृष्टि से भी निरूपण किया है। उन्होंने अपना उदाहरण देते हुए कहा कि मैं द्रव्य की दृष्टि से एक हूं, ज्ञान और दर्शन रूप पर्यायों की दृष्टि से दो हूं और प्रदेशों की दृष्टि से अक्षय, अव्यय और नित्य हूं। क्योंकि आत्म-प्रदेशों की संख्या में कभी भी न्यूनाधिकता नहीं होती। वस्तु की अनेकता को सिद्ध करने के लिए भी प्रदेश दृष्टि का उपयोग किया गया है। द्रव्य दृष्टि से आत्मा एक है, परन्तु प्रदेश दृष्टि से आत्मा अनेक है, क्योंकि आत्म-प्रदेश असंख्यात हैं। इसी तरह धर्मास्तिकाय द्रव्य दृष्टि से एक है और प्रदेश दृष्टि से अनेक है, क्योंकि वह भी असंख्यात प्रदेशी है। अन्य द्रव्यों के सम्बन्ध में भी ऐसा ही समझना चाहिए। इस तरह द्रव्य और प्रदेश दृष्टि से भी वस्तु के स्वरूप का परिबोध होता है।

व्यवहार और निश्चय

वस्तु जिस रूप में परिलक्षित हो रही है, तद्रूप ही है या उससे भिन्न रूप में है? यह प्रश्न प्राचीन काल से दार्शनिकों के संघर्ष का कारण बना रहा है। कुछ दार्शनिक वस्तु के दो रूप मानते हैं- प्रातिभासिक और पारमार्थिक। चार्वाक आदि भूतवादी विचारक परमार्थ और प्रतिभास रूप में कोई भेद नहीं करते। उनके विचार से इन्द्रिय से दिखाई देने वाला तत्त्व ही

पारमार्थिक सत्य है। भगवान् महावीर ने उभय रूपों को स्वीकार किया है। इन्द्रिय की सहायता से दिखाई देने वाला वस्तु का स्थूल स्वरूप है, इसके अतिरिक्त वस्तु का सूक्ष्म स्वरूप भी होता है, वह आंखों से दिखाई नहीं देता। श्रुत या आत्म प्रत्यक्ष से देखा जाता है। वस्तु का स्थूल रूप व्यवहार दृष्टि से सत्य है, सूक्ष्म रूप निश्चय दृष्टि से सत्य है। व्यवहार दृष्टि इन्द्रिय आश्रित होने से स्थूल है और निश्चय दृष्टि इन्द्रियातीत होने से सूक्ष्म है। परन्तु दोनों दृष्टियां सम्यक् हैं।

भगवती सूत्र में गौतम भगवान् महावीर से पूछते हैं कि पतले गुड़ (फाणित) में कितने वर्ण, गन्ध, रस और स्पर्श होते हैं? भगवान् महावीर ने इसका उत्तर निश्चय और व्यवहार दृष्टि से दिया है। उन्होंने कहा—व्यवहार दृष्टि से गुड़ मधुर है, मीठा है और निश्चय दृष्टि से उसमें 5 वर्ण, 2 गन्ध, 5 रस और 8 स्पर्श पाये जाते हैं।[1] इसी तरह गन्ध, रस से युक्त अन्य पदार्थों के सम्बन्ध में भी दोनों दृष्टियों से उत्तर दिया है। इस तरह निश्चय के साथ उन्होंने व्यवहार को भी सत्य माना है। उन्होंने निश्चय-परमार्थ के आगे व्यवहार को झुठलाया नहीं। यही नयवाद एवं स्याद्वाद दृष्टि का महत्व है।

नय के भेद

स्थानांग सूत्र के सातवें स्थान में और अनुयोगद्वार सूत्र में सात नयों का उल्लेख मिलता है। अनुयोगद्वार सूत्र में शब्द, समभिरूढ़ और एवंभूत नय को शब्द नय माना है। शेष चार के लिए कोई नाम निर्देश नहीं किया। पीछे के आचार्यों ने सात नयों को स्पष्टत: दो भागों में बांट दिया—1. अर्थ नय और 2. शब्द नय। अन्तिम तीन नयों को आगम में 'शब्द नय' कहा गया है, अत: पहले चार नयों को अर्थ नय मान लिया गया। 1. नैगम, 2. संग्रह, 3. व्यवहार और 4. ऋजुसूत्र नय अर्थ को विषय करते हैं, अत: वे 'अर्थ नय' हैं और शब्द को अपना विषय बनाने वाले शब्द, समभिरूढ़ और एवंभूत 'शब्द-नय' हैं।

आचार्य सिद्धसेन के मतानुसार वचन के जितने प्रकार हो सकते हैं, नय के भी उतने ही भेद होते हैं और जितने नय के भेद हैं उतने ही मत हैं।[2] इस दृष्टि से नय के अनन्त भेद हो सकते हैं। परन्तु अनन्त भेदों का वर्णन करना हमारी शक्ति के बाहर है। यों द्रव्य और पर्याय

1. भगवती सूत्र, श० 18 उ० 6.
2. जावइया वयणपहा, तावइया चेव होंति नयवाया।
जावइया णयवाया, तावइया चेव परसमया।। — सन्मतितर्क, प्रकरण 3.47

इन दो रूपों में सारे भेद समाविष्ट हो जाते हैं। परन्तु द्रव्य और पर्याय को अधिक स्पष्ट करने के लिए उनके अवान्तर भेद किए गए हैं। इस सम्बन्ध में हमें तीन विचार-धाराएं दिखाई देती हैं। आगम और दिगम्बर परम्परा सीधे तौर पर नयों के सात भेद मानती है—1. नैगम, 2. संग्रह, 3. व्यवहार, 4. ऋजुसूत्र, 5. शब्द, 6. समभिरूढ़ और 7. एवंभूत।[1] आचार्य सिद्धसेन दिवाकर 6 नय मानते हैं, वे नैगम नय को स्वतन्त्र नहीं स्वीकार करते हैं।[2] तत्त्वार्थसूत्र में नय के 5 भेद किए हैं—1. नैगम, 2. संग्रह, 3. व्यवहार, 4. ऋजुसूत्र, 5. शब्द।[3] इसमें पहले नैगम नय के दो भेद किये हैं—देश परिपेक्षी और सर्व परिपेक्षी और शब्द नय के सांप्रत, समभिरूढ़ और एवंभूत तीन भेद माने हैं। परन्तु इन सब में सात भेद वाली आगम परम्परा अधिक प्रसिद्ध है।

नैगम नय

नैगम नय वस्तु को सामान्य और विशेष उभयात्मक दृष्टि से स्वीकार करता है। क्योंकि सामान्य और विशेष एक-दूसरे से सम्बद्ध हैं। एक के अभाव में दूसरे का अस्तित्व घट ही नहीं सकता। इसलिए नैगम नय उभयात्मक स्वरूप की विवक्षा करता है[4]। कभी वह सामान्य को मुख्य मानकर विवक्षा करता है, तो कभी विशेष को मुख्य मानकर। जिस समय सामान्य को मुख्य मानकर विवक्षा करता है, उस समय विशेष गौण हो जाता है और जब विशेष को मुख्य आधार मानता है, तब सामान्य गौण हो जाता है। उसके विवेचन में एक मुख्य और दूसरा गौण रहता है, परन्तु वह ग्रहण उभयात्मक स्वरूप का करता है। यह बात अलग है कि कभी सामान्य की प्रधानता होती है और विशेष की अप्रधानता, तो कभी विशेष का प्रधान स्थान होता है और सामान्य का अप्रधान। परन्तु, नैगमनय उभय स्वरूप का ग्रहण करता है, एक का नहीं।

इससे यह प्रश्न उठता है कि जब वस्तु को उभयात्मक रूप से जानता है, तब फिर वह विकलादेश—नय कैसे रहा? वस्तु के उभयात्मक स्वरूप को स्वीकार करने वाला ज्ञान सकलादेश होता है। अत: इस दृष्टि से नैगम को नय नहीं, सकलादेश—प्रमाण मानना चाहिए।

नैगम सकलादेश—प्रमाण नहीं, विकलादेश—नय ही है। क्योंकि सकलादेश में वस्तु

---

1. स्थानांग सूत्र, 7, 552; —तत्त्वार्थ राजवार्तिक 1, 33.
2. सन्मति तर्क में नय प्रकरण।
3. तत्त्वार्थ० 1, 34-35.
4. नैगमो मन्यते वस्तु, तदेतदुभयात्मकम्।
   निर्विशेषं न सामान्यं, विशेषोऽपि न तद् बिना।। —नयकर्णिका

के सब धर्मों का समान रूप से ग्रहण होता है। उसमें प्रमुखता और गौणता का भाव नहीं होता और नैगम वस्तु के उभय धर्मों को प्रमुख और गौण रूप से ही स्वीकार करता है। अत: वह सकलादेश नहीं, विकलादेश–नय ही है, ऐसा मानना चाहिए।

कुछ आचार्य नैगम को संकल्पमात्रग्राही भी मानते हैं।[1] किसी व्यक्ति के द्वारा किये जाने वाले कार्य का संकल्प मात्र नैगम नय है। जैसे कोई व्यक्ति बाजार में कागज खरीदने जाता है, मार्ग में उससे कोई पूछे कहां जा रहे हो, तो वह कहता है कि जरा लेख लिखना है। जबकि अभी तो वह कागज लाने जा रहा है, लेख लिखने में तो अभी बहुत समय पड़ा है, उस बीच में और कोई बाधा भी उपस्थित हो सकती है। फिर भी उसका वचन सत्य कहा जाता है। क्योंकि लेख लिखने का संकल्प करके ही वह कागज खरीदने चला है। इस तरह संकल्प मात्र को भी नैगम नय कहते हैं।

संग्रह नय

संग्रह नय सामान्यग्राही होता है।[2] वह वस्तु के अभेद स्वरूप को ग्रहण करता है। यह हम देख चुके हैं कि वस्तु भेदाभेद–सामान्य-विशेष उभय रूप है। परन्तु, संग्रह नय सामान्य को ही अपना विषय बनाता है। यह नय पर और अपर के भेद से दो प्रकार का है। पर में वह अस्तित्व रूप से सभी पदार्थों का संग्रह कर लेता है। क्योंकि जीव अजीव आदि जितने भी पदार्थ हैं, सबका अस्तित्व–सत्ता है। अत: सत्ता रूप से वह सभी पदार्थों को एक मानता है।[3] क्योंकि सत्ता सब में समान रूप से है। जैसे नीलादि आकार वाले सभी ज्ञान 'ज्ञानसामान्य' के भेद हैं, उसी तरह जीवाजीवादि सभी पदार्थ सत् होने से सत्ता सामान्य की दृष्टि से एक हैं।

यह हम देख चुके हैं कि द्रव्य में रहने वाली सत्ता पर सामान्य है। परन्तु द्रव्य में स्थित जो द्रव्यत्व सामान्य है, वह अपर सामान्य है। इसी तरह गुण में जो सत्ता है वह पर सामान्य है और जो गुणत्व सामान्य है वह अपर सामान्य है। द्रव्य के और भी कई भेद-प्रभेद होते हैं। जैसे जीव द्रव्य सत्ता की दृष्टि से पर सामान्य है, तो जीवत्व की दृष्टि से अपर सामान्य है। सत्ता की दृष्टि से सभी द्रव्यों के साथ उसका भी संग्रह हो जाता है। परन्तु जीवत्व की अपेक्षा से वह अन्य सभी द्रव्यों से भिन्न है, फिर भी अपर सामान्य की दृष्टि से वह एक भी है।

---

1. अर्थसंकल्पमात्रग्राही नैगम:। –तत्त्वार्थ राजवार्तिक 1, 3, 2
2. सामान्यमात्रग्राही परामर्श-संग्रह:। –प्रमाणनयतत्त्वालोक 7, 13.
3. सर्वमेकं सद्विशेषात्

क्योंकि सभी जीव जीवत्व की दृष्टि से समान हैं। इसी संग्रह नय को ध्यान में रखकर कहा गया कि आत्मा एक है।[1] इस तरह द्रव्यत्व, गुणत्व आदि अपेक्षाओं से जितने अपर सामान्य हैं तथा सत्ता की दृष्टि से जो पर सामान्य है अथवा यों कहिए जितने भी प्रकार के सामान्य या अभेद हो सकते हैं, उन सबका ग्रहण करने वाला संग्रह नय है।

व्यवहार नय

संग्रह नय ने जिस अर्थ को ग्रहण किया है, उसका विधिपूर्वक अवहरण–पृथक्करण करना व्यवहार नय है।[2] संग्रह नय अभेद को ग्रहण करता है और व्यवहार नय भेद को स्वीकार करता है। संग्रह नय द्वारा स्वीकृत सामान्य किस रूप में है, इस तथ्य का विश्लेषण करने के लिए व्यवहार नय विशेष को स्वीकार करता है। ये दोनों नय द्रव्य को ही ग्रहण करते हैं। परन्तु, संग्रह नय द्रव्य को अभेद रूप से स्वीकार करता है और व्यवहार नय भेद रूप से। संग्रह नय सत्ता की अपेक्षा से सभी पदार्थों को पर सामान्य रूप से ग्रहण करता है। व्यवहार नय उसी का पृथक्करण करते हुए कहता है कि सत् क्या है? वह द्रव्य है या गुण? द्रव्य है तो जीव द्रव्य है या अजीव द्रव्य? जीव द्रव्य में भी नारक है, देव है, मनुष्य है, तिर्यञ्च है या मुक्त–सिद्ध जीव है? नारक में प्रथम नरक का नारक है या दूसरी, तीसरी यावत् सातवीं नरक का? इस तरह वह अभेदपूर्वक स्वीकृत पदार्थों की भेदपूर्वक विवक्षा करता है क्योंकि लोक व्यवहार भेदपूर्वक ही चल सकता है, अभेदपूर्वक नहीं। और इस नय का मुख्य उद्देश्य व्यवहार सिद्धि है[3]। इसलिए यह भेद को अपना विषय बनाता है। उक्त तीनों नय द्रव्य को अपना विषय बनाते हैं, अत: द्रव्यार्थिक नय हैं और आगे कहे जाने वाले चारों नय पर्याय को अपना विषय बनाते हैं, इसलिए पर्यायार्थिक नय हैं।

ऋजुसूत्र नय

भेद–पर्याय की दृष्टि से जो पदार्थ का विश्लेषण करता है, वह ऋजुसूत्र नय है[4]। यह नय भूत और भविष्य का ग्रहण न करके मात्र वर्तमान का ग्रहण करता है। क्योंकि पर्याय

---

1. एगे आया। –स्थानांग सूत्र 1, 1.
2. अतो विधिपूर्वकमवहरणं व्यवहार:। –तत्त्वार्थ राजवार्तिक 1, 33, 6.
3. व्यवहारानुकूल्यात् प्रमाणानां प्रमाणता।
   नान्यथा बाध्यमानानां ज्ञानानां तत्प्रसंगत:।।
4. भेदं प्राधान्यतोऽन्विच्छन् ऋजुसूत्रनयो मत:। –लघीयस्त्रय 3, 6, 70-71.

वर्तमान में ही अवस्थित रहती है। भूत और भविष्य में द्रव्य स्थित रहता है, परन्तु पर्याय स्थित नहीं रहती। मनुष्य कई बार वर्तमान को ही स्वीकार करता है, भूत और भविष्य को देखता तक नहीं। इसका यह अर्थ नहीं है कि भूत और भविष्य सर्वथा असत्य है। वह भूतकाल और भविष्यकाल की सत्ता को तो स्वीकार करता है, परन्तु जब वह वर्तमानकाल को ही अपना प्रवृत्ति क्षेत्र बनाता है, तब ऐसा समझना चाहिए कि उसका प्रयोजन वर्तमान से होता है। क्योंकि वस्तु की पर्याय प्रतिक्षण बदलती रहती है। अत: जिस क्षण मनुष्य कार्य में प्रवृत्त है, उस क्षण की पर्यायों में और अगले क्षण की पर्यायों में अन्तर हो जाता है। वर्तमान की अवस्था वर्तमान तक ही सीमित है। इसीलिए वर्तमान की स्थिति एक समय की कही गयी है और पर्याय भी अपने स्वरूप में एक समय तक स्थित रहती है, दूसरे समय में उसमें परिवर्तन हो जाता है। अस्तु काल की अपेक्षा से अवस्थाएं भिन्न हैं, यदि उन पर्यायों में भिन्नता नहीं हो, तो सभी काल की अवस्थाएं एक हो जायेंगी। इसी तरह वस्तु की भिन्नता से भी अवस्था में भेद होता है। एक वस्तु की अवस्था दूसरी वस्तु की अवस्था से भिन्न होती है। 'जैसे हंस श्वेत–सफेद है'। इस वाक्य में हंस में और श्वेतपन में जो विभिन्नता नहीं दीख रही है उसे बताने के लिए ऋजुसूत्र नय कहता है कि हंस अलग है और उसका श्वेतपन या उज्ज्वलपन अलग है। यदि ऐसा न माना जाये तो हंस और बगुला एक हो जायेंगे। क्योंकि दोनों श्वेत हैं, अत: श्वेत वर्ण के जितने भी पशु–पक्षी होंगे वे एक हो जायेंगे। इस तरह ऋजुसूत्र नय क्षणिकवाद को स्वीकार करता है। उसकी दृष्टि में प्रत्येक वस्तु परिवर्तनशील है। क्योंकि प्रत्येक वस्तु की पर्याएं प्रतिक्षण बदलती रहती हैं। काल और वस्तुभेद की तरह यह नय देश–क्षेत्र भेद से भी वस्तु में भेद मानता है।

शब्द नय

उपरोक्त चारों नय अर्थ को अपना विषय बनाते हैं, अत: अर्थ नय हैं। प्रस्तुत शब्द नय और इसके बाद के दो नय भी शब्द को अपना विषय बनाते हैं, अत: तीनों शब्द नय हैं।

शब्द नय–काल, कारक, लिंग, संख्या आदि के भेद से अर्थ का भेद मानता है।[1] काल तीन हैं–भूत, वर्तमान और भविष्य। कारक सात हैं–कर्त्ता, कर्म, करण, सम्प्रदान, अपादान, सम्बन्ध, अधिकरण। लिंग तीन हैं–पुलिंग, स्त्रीलिंग और नपुंसकलिंग। संख्या के भी तीन भेद हैं–एकवचन, द्विवचन और बहुवचन। इत्यादि भेद से शब्द के अर्थ में भी भेद हो जाता है।

1. कालादि-भेदेन ध्वनेरर्थभेदं, प्रतिपद्यमान: शब्द:। –प्रमाणनयतत्त्वालोक, 7.

काल की अपेक्षा से अर्थ भेद का उदाहरण इस प्रकार दिया जा सकता है—"काशी नगरी थी, और काशी नगरी है।" उक्त दोनों वाक्यों में जो अर्थ भेद परिलक्षित होता है, वह शब्द नय की दृष्टि से है। इस तरह कारकादि के भी उदाहरण दिये जा सकते हैं। कहने का तात्पर्य इतना ही है कि शब्द नय कालादि के भेद से अर्थ में भेद मानता है। परन्तु वह शब्द भेद से अर्थ भेद नहीं मानता है। जैसे कुम्भ और कलश दो भिन्न शब्द हैं, फिर भी शब्द नय उसके अर्थ में भेद नहीं मानता है। शब्द नय अनेक पर्याय—अनेक शब्दों द्वारा सूचित वाच्यार्थ को एक ही पदार्थ समझता है।[1] अस्तु वह कालादि के भेद से ही अर्थ भेद मानता है, शब्द भेद से नहीं।

समभिरूढ़ नय

शब्द नय कालादि के भेद से अर्थ भेद मानता है। एक काल या एक लिंग वाले पयार्यवाची शब्दों में वह भेद नहीं करता है। परन्तु जब यह भेद-बुद्धि कुछ आगे बढ़ती है, तो वह शब्द-भेद से भी अर्थ-भेद मानने लगती है, यह दृष्टि समभिरूढ़ नय के नाम से जानी जाती है। यह व्युत्पत्ति के भेद से पर्यायवाची शब्दों के अर्थ में भी भेद स्वीकार करता है।[2] यह नय केवल कालादि के भेद पर ही अर्थ भेद मानना पर्याप्त नहीं समझता। इसकी दृष्टि में जहां शब्द भेद है वहां अर्थ भेद अवश्य है।[3] उदाहरण के लिए निर्ग्रन्थ, श्रमण और मुनि तीन शब्द लें। शब्द नय की दृष्टि से इन तीनों शब्दों के अर्थों में कोई अन्तर नहीं है, क्योंकि तीनों का लिंग एक है। परन्तु समभिरूढ़ नय को यह बात मान्य नहीं है। वह कहता है कि यदि व्युत्पत्ति भेद से अर्थ भेद नहीं मानेंगे तो तीनों शब्द एक हो जाएंगे। अस्तु, तीनों शब्दों के अर्थ में अन्तर है, क्योंकि तीनों शब्दों की व्युत्पत्ति भिन्न है। 'निर्गतो ग्रन्थिर्यस्य स: निर्ग्रन्थ:'। 'श्रमं करोतीति श्रमण:'। 'मौनं धारयतीति मुनि:'। इस तरह तीनों शब्द अपने-अपने भिन्न अर्थों को लिए हुए हैं, अत: वे एक नहीं हो सकते। द्रव्य और भाव ग्रन्थि–गांठ का त्याग करने वाले का अर्थ निर्ग्रन्थ है, श्रम—तपस्या करने वाला यह श्रमण शब्द का अर्थ है और मौन धारण करने वाला यह मुनि शब्द का अर्थ है। इस तरह समभिरूढ़ नय शब्द-भेद से अर्थ मानता है।

1. अर्थशब्दनयोऽनेकै: पर्यायैरेकमेव च।
मन्यते कुम्भ-कलश-घटाद्येकार्थवाचक:।। —नयकर्णिका, 14
2. पर्याय-शब्देषु निरुक्तिभेदेन, भिन्नमर्थं समभिरोहन् समभिरूढ:। —प्रमाणनयतत्त्वालोक 7,36.
3. पर्याय-शब्दभेदेन भिन्नार्थस्याधिरोहणात्।
नय: समभिरूढ स्यात्, पूर्ववच्चास्य निश्चय:।। —श्लोकवार्तिक

एवंभूत नय

प्रस्तुत नय समभिरूढ़ नय से भी एक कदम आगे रखता है। समभिरूढ़ नय व्युत्पत्ति भेद से अर्थ मानता है, परन्तु एवंभूत नय कहता है कि जिस समय व्युत्पत्ति सिद्ध अर्थ घटित होता हो उस समय ही उस शब्द का अर्थ ग्रहण करना चाहिए।[1] यथा—जिस समय बाह्य एवं आभ्यन्तर ग्रन्थि—परिग्रह की गांठों से रहित हो उस समय ही निर्ग्रन्थ कहना चाहिए, परन्तु जिस समय राग-द्वेष में परिणति हो रही हो या बाह्य पदार्थों के संग्रह में प्रवृत्ति कर रहा हो, उस समय निर्ग्रन्थ नहीं कहना चाहिए। जिस समय श्रम या तपश्चर्या कर रहा हो, उस समय श्रमण और जिस समय मौन धारण कर रखी हो, उस समय मुनि कहना चाहिए।

सप्त नयों का पारस्परिक सम्बन्ध

यह हम देख चुके हैं कि पीछे के नय का विषय पहले के नय के विषय से संकुचित होता जाता है। नैगम नय का दायरा सबसे विस्तृत है। क्योंकि वह सामान्य एवं विशेष उभय को ही अपना विषय बनाता है। कभी सामान्य को प्रमुखता देता है और विशेष को गौणता, तो कभी विशेष को प्रधानता देता है और सामान्य को अप्रधानता। संग्रह नय का क्षेत्र पूर्व नय से सीमित हो जाता है। वह केवल सामान्य को ही स्वीकार करता है। व्यवहार नय संग्रह द्वारा स्वीकृत विषय का ही कुछ विशेषताओं के आधार पर विभाजन करता है। ऋजुसूत्र नय का विषय व्यवहार नय से भी कम है, क्योंकि व्यवहारनय त्रिकालिक विषय का अस्तित्व स्वीकार करता है, परन्तु ऋजुसूत्रनय केवल वर्तमान को ही स्वीकार करता है। शब्द नय का क्षेत्र उससे भी सीमित है, क्योंकि वह कालादि के भेद से ही शब्द के अर्थ में अन्तर मानता है। समभिरूढ़ नय व्युत्पत्ति भेद से अर्थ मानता है और एवंभूतनय शब्द की व्युत्पत्ति के अनुरूप जिस समय प्रवृत्ति हो रही हो उस समय ही उस व्युत्पत्ति सिद्ध अर्थ को मानता है। इस तरह एवंभूत नय का दायरा सबसे छोटा है। इस तरह सातों नय एक दूसरे के साथ सम्बद्ध हैं। उत्तर-उत्तर नय पूर्व-पूर्व नय पर आधारित हैं। और पूर्व-पूर्व नय की अपेक्षा उत्तर-उत्तर नय सूक्ष्म और सूक्ष्मतर होता जाता है।

स्याद्वाद और नयवाद का सम्बन्ध

जैनदर्शन के चिंतन की दृष्टि काफी विस्तार से पाठकों के सामने आ गई है। इतने

1. "क्रिया परिणतार्थ चेदेवम्भूतो नयो वदेत्। —द्रव्यानुयोग तर्कणा

विस्तृत विवेचन के बाद यह स्पष्ट हो गया है कि नयवाद एकान्तवादी नहीं है। नयवाद, स्याद्वाद दृष्टि को सामने रखकर ही विवेचन करता है। यह तो विवेचन करने की एक शैली है कि वह कभी सामान्य की दृष्टि से वस्तु का विवेचन करता है, तो कभी विशेष की अपेक्षा से। कभी उसकी दृष्टि में द्रव्य की प्रमुखता होती है, तो कभी पर्याय की प्रमुखता रहती है। इसी अपेक्षा से सातों नयों को द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक दो भागों में विभक्त किया गया है। प्रथम के तीन सामान्य की ओर अधिक झुके हुए हैं, तो पीछे के चार नयों में विशेष की ओर अधिक झुकाव है। सामान्य और विशेष या द्रव्य और पर्याय ये दोनों ही वस्तु में स्थित हैं। स्याद्वाद भी दोनों को स्वीकार करता है और नयवाद भी दोनों दृष्टियों को सामने रखता है। अन्तर सिर्फ विवेचन करने का है, दोनों की विवेचन शैली–पद्धति में अन्तर है। वह यह कि स्याद्वाद वस्तु के समग्र रूप का विवेचन करता है और नयवाद वस्तु के एक अंश का विवेचन करता है। परन्तु दोनों की दृष्टि सापेक्ष है। अतः स्याद्वाद एवं नयवाद में कोई सैद्धान्तिक भेद नहीं है।

❑ ❑ ❑

तत्त्व-मीमांसा

प्रश्न–संसार में तत्त्व (पदार्थ) कितने हैं?

उत्तर–जैन दर्शन में तत्त्वों की संख्या नौ मानी है। आगम में नौ तत्त्वों का उल्लेख मिलता है और तत्त्वार्थसूत्र में सात तत्त्वों का उल्लेख किया है। परन्तु इससे मान्यता में कोई अन्तर नहीं आता। केवल संख्या गिनने का अन्तर है।

जीव, अजीव, पुण्य, पाप, आस्रव, संवर, निर्जरा, बन्ध और मोक्ष ये नौ तत्त्व हैं। सात तत्त्व स्वीकार करने वाले पुण्य-पाप को अलग नहीं गिनते। इसका अर्थ यह नहीं है कि वे पुण्य-पाप को मानते ही नहीं। वे भी पुण्य-पाप को स्वीकार करते हैं।[1] परन्तु, उनकी गणना आस्रव या बन्ध तत्त्व में कर लेते हैं। शुभ और अशुभ परिणामों से शुभ-अशुभ कर्मों का बन्ध होता है। ये शुभाशुभ परिणाम भाव पुण्य-पाप हैं। और उनसे बंधने वाले शुभाशुभ कर्म द्रव्य पुण्य-पाप हैं। अत: सैद्धान्तिक दृष्टि से नौ और सात तत्त्व मानने में कोई अन्तर नहीं पड़ता। यदि मूल तत्त्व नौ मान लेते हैं तो फिर किसी तत्त्व के अवान्तर भेद नहीं करने पड़ते हैं और सात की संख्या मानते हैं तो बन्ध के दो अवान्तर भेद करके नौ की गणना को पूरा कर दिया जाता है। चाहे किसी भी तरह से मानें, जैन मान्यता के अनुसार तत्त्वों की संख्या नौ है। इसमें संसार के सभी पदार्थों का समावेश हो जाता है।

इसमें भी मूल तत्त्व दो ही हैं–एक जीव और दूसरा अजीव; या यों भी कह सकते हैं, एक जड़ और दूसरा चेतन। शेष सात तत्त्व इन्हीं के अवान्तर भेद हैं। सभी पदार्थों का सरलता से बोध हो सके इसलिए तत्त्वों का वर्गीकरण किया गया है। अन्यथा विश्व का कोई भी ऐसा पदार्थ नहीं है, जो जड़-चेतन से पृथक् किसी तीसरी किस्म का हो। सभी पदार्थ चेतन या जड़ दो ही रूपों में पाये जाते हैं।

1. शुभ: पुण्यस्य, अशुभ: पापस्य। –तत्त्वार्थ सूत्र, 6, 3-4.

आत्म-मीमांसा

भारतीय चिन्तनधारा का विकास आत्म तत्त्व को केन्द्र मानकर हुआ है। चार्वाक का विचार, चिन्तन-मनन एवं सिद्धान्त भी इसमें बाधक नहीं है। चार्वाक दर्शन का गहराई से अनुशीलन करने पर यह स्पष्ट हो जाता है, कि उसने आत्मा की चेतना शक्ति को मानने से इन्कार नहीं किया है किन्तु उसने सिर्फ चेतन के स्वरूप की व्याख्या अपने ढंग से की है। उसने आस्तिक माने जाने वाले सभी भारतीय दर्शनों से विपरीत दिशा में सोचा है। उसे नास्तिक एवं अनात्मवादी कहने का यही कारण है कि उसने आत्मा को चेतन तो माना है, परन्तु उस चेतन (आत्मा) की स्वतन्त्र एवं पृथक् सत्ता को नहीं माना। इस तरह सभी भारतीय दर्शन आत्मा को आधार मानकर चले हैं। अत: प्रत्येक भारतीय के लिए यह आवश्यक है कि वह आत्मा के सम्बन्ध में भी सोचे-समझे एवं जाने। इस विचार को सामने रखते हुए हम जरा विस्तार से भारतीय दर्शनों की आत्मा विषयक मान्यता पर प्रकाश डालने का प्रयत्न करेंगे।

किसी वस्तु के स्वरूप का परिज्ञान करने से पहले उसके अस्तित्व के विषय में जान लेना अत्यावश्यक है। इस दृष्टि से आत्मा के स्वरूप का विचार करने से पहले हम इस बात पर विचार करेंगे कि आत्मा के अस्तित्व के विषय में भारतीय चिंतकों की क्या दृष्टि रही है।

भारतीय चिंतनधारा में आज श्रमण एवं ब्राह्मणों का साहित्य उपलब्ध है। श्रमणों एवं ब्राह्मणों की बढ़ती हुई आध्यात्मिक प्रवृत्ति एवं अध्यात्म चिन्तनधारा के प्रवाह में आत्म-विरोधी चिन्तकों की विचारधारा एवं साहित्य प्रवाहमान हो गया। ब्राह्मणों ने अनात्मवादियों के विषय में प्रासंगिक रूप से जो कुछ कहा उसी का वेदों से लेकर उपनिषदों तक में उल्लेख मिलता है। जैनागमों एवं पिटकों (बौद्धग्रन्थों) में भी विरोधी विचारधारा के खण्डन के रूप में अनात्मवादियों के सिद्धान्त का उल्लेख किया गया है। अनात्मवादियों के सिद्धान्त की सही जानकारी देने वाला कोई ग्रन्थ नहीं है। दार्शनिक टीका ग्रन्थों से इतनी जानकारी मिलती है कि दार्शनिक ग्रन्थों के रचना काल में अनात्मवादियों ने अपने विचार बृहस्पति सूत्र के रूप में रखे थे। किन्तु दुर्भाग्य से आज वह ग्रन्थ भी उपलब्ध नहीं है। अत: आत्मा के सम्बन्ध में उनकी मान्यता क्या रही है, इसकी जानकारी आत्मवादी विचारकों के शास्त्रों एवं दार्शनिक ग्रन्थों में उल्लिखित आधार पर ही की जा सकती है।

अनात्मवादी चार्वाक यह नहीं कहता है कि आत्मा नहीं है, वह आत्मा का या उसकी चेतना शक्ति का अभाव नहीं मानता। उसकी मान्यता यह है कि एक या एकाधिक (अनेक) जितने भी पदार्थ या तत्त्व हैं, उनमें आत्मा नाम का कोई स्वतन्त्र या मौलिक तत्त्व नहीं है। कई

तत्त्वों के संयोग से आत्मा या चेतना शक्ति का प्रादुर्भाव होता है। वह उन्हीं तत्त्वों का एक रूप है, उनसे भिन्न कोई स्वतन्त्र शक्ति नहीं है। इसी बात को लक्ष्य में रखते हुए उद्योतकर ने न्यायवार्तिक में कहा है कि आत्मा के अस्तित्व के सम्बन्ध में दार्शनिकों में सामान्यत: मतभेद नहीं है। मतभेद या विवाद है तो वह आत्मा के स्वरूप को मानने के सम्बन्ध में है। कोई शरीर को ही आत्मा मानते हैं, कोई बुद्धि को, कोई इन्द्रियों को, कोई मन को और कोई संघात को आत्मा समझते हैं। कुछ ऐसे विचारक भी हैं कि जो इन सबसे पृथक् आत्मा के स्वतन्त्र अस्तित्व को मानते हैं।[1] इससे स्पष्ट है कि भारतीय संस्कृति के सभी विचारकों ने आत्मा को मानने से इन्कार नहीं किया। आत्मा के विषय में उनका कोई मतभेद नहीं है, मतभेद है उसके स्वरूप को लेकर।

मानव जब तक चिन्तन की गहराई में नहीं उतरता, अपने अन्दर नहीं झांकता-देखता, तब तक उसकी दृष्टि, उसकी विचारधारा, उसकी सोचने-समझने की शक्ति बाह्य पदार्थों तक ही सीमित रहती है, और जब तक मनुष्य बाहरी पदार्थों की ओर ही देखता-विचारता है तब तक वह उन्हें ही मौलिक तत्त्व के रूप में स्वीकार करता है। क्योंकि उनके अतिरिक्त उसके सामने अन्य कोई द्रव्य है ही नहीं जिस पर वह कुछ सोचे-विचारे। यही कारण है कि उपनिषदों में कई ऐसे विचारकों का अभिमत देखने को मिलता है, जिन्होंने जल[2] वायु[3] जैसे इन्द्रियग्राही पदार्थों को विश्व के मूल तत्त्व के रूप में स्वीकारा है। उनकी विचारशक्ति आत्मा के अमूर्त स्वरूप तक पहुंची ही नहीं। आत्मा की बात तो दूर रही, भौतिक तत्त्वों में भी वे सूक्ष्म शक्तियों का साक्षात्कार करने में असफल रहे। उनकी निगाह मूर्त और उसमें भी स्थूल पदार्थों को ही देख सकी और वे उन्हीं की अनुभूति कर सके। पर इतना तो मानना होगा कि यह उनके चिन्तन की पहली भूमिका थी। विश्व को जानने की जिज्ञासा मानव मन में जग चुकी थी। उसका मन-मस्तिष्क चिन्तन के क्षेत्र में अंगड़ाई लेने लगा था।

जब मानव मनन के क्षेत्र में आगे बढ़ा, जरा गहराई में उतरा तो उसने मूर्त पदार्थों को मौलिक तत्त्व न मानकर असत्[4], सत्[5], आकाश[6] आदि सूक्ष्म एवं बुद्धिग्राह्य पदार्थों को

1. न्यायवार्तिक पृ० 366
2. बृहदारण्यक 5, 5, 1.
3. छान्दोग्योपनिषद, 4, 3.
4. छान्दोग्य उपनिषद, 3, 19, 1.
5. छान्दो० 6, 2.
6. छान्दो० 1, 9, 1, 7, 12

स्वीकार किया। वह कुछ आगे तो बढ़ा, परन्तु अभी तक भौतिक पदार्थों से ऊपर नहीं उठा। उसका चिन्तन जड़त्व पर ही अटक गया। ऐसा प्रतीत होता है कि उसने इन बाह्य तत्त्वों को ही मौलिक माना हो और इन्हीं अतीन्द्रिय तत्त्वों में से ही आत्मा की उत्पत्ति की हो।

जब चिन्तक की चिन्तनधारा बाह्य पदार्थों से हटकर अन्दर की ओर मुड़ी, या यों कहिए कि जब साधक विश्व के मूल को बाहर नहीं, अपितु अपने भीतर ही शोधने लगा, तब उसने प्राण[1] तत्त्व को मौलिक तत्त्व के रूप में स्वीकारा, और प्राण तत्त्व से विकास करके वह ब्रह्म या आत्माद्वैत तक पहुंच गया हो, ऐसा लगता है।

आत्मिक चिन्तन की उत्क्रान्ति के इस स्वरूप का समर्थन आत्मा से सम्बद्ध मिलने वाले विभिन्न नामों से होता है। आचारांग सूत्र में जीव के लिए भूत, सत्व, प्राण जैसे शब्दों का जो व्यवहार देखने को मिलता है, वह चिन्तनधारा के आत्मा तक पहुंचने के इतिहास को प्रस्तुत करता है। प्राचीन विचारक किसी एक तत्त्व को ही विश्व का मूल या मौलिक तत्त्व मानते थे। उन्होंने दो या अधिक तत्त्वों को कभी नहीं स्वीकारा। अतः उन्हें हम आत्म-अद्वैतवादी कह सकते हैं।

इस आत्म-अद्वैत विचारधारा के समय में एवं उससे भी पहले द्वैत विचारधारा भी प्रवाहमान थी। इसके प्रमाण पाली त्रिपिटक, जैन आगम एवं सांख्यदर्शन आदि ग्रन्थों में भरे पड़े हैं। बौद्ध, जैन और सांख्य के विचार से विश्व के मूल में केवल एक ही जड़ या चेतन मौलिक तत्त्व नहीं, बल्कि जड़ और चेतन ऐसे दो मौलिक तत्त्व हैं, जिसके आधार पर यह विश्व खड़ा है। जैनों ने उसे जीव और अजीव के रूप में स्वीकार किया, सांख्य ने पुरुष और प्रकृति के रूप में माना और बौद्धों ने उसे नाम और रूप कहकर पुकारा।

सांख्य जैनों की तरह व्यक्ति भेद से अनेक जीव–चेतन मानता है। परन्तु यह प्रकृति--जड़ को एक मूल तत्त्व मानता है। जैन, चेतन की तरह जड़ को भी एक नहीं, अनेक तत्त्व स्वीकार करते हैं। न्याय-दर्शन और वैशेषिक दर्शन भी जड़ और चेतन दो तत्त्व मानते हैं और जड़ को सांख्य की तरह एक मौलिक तत्त्व न मानकर जैनों की तरह अनेक तत्त्व स्वीकार करते हैं। ये सभी बहुवादी आत्मा को मानते हैं, परन्तु कुछ ऐसे बहुवादियों का वर्णन भी मिलता है, जो आत्मा को स्वतन्त्र एवं मौलिक तत्त्व नहीं स्वीकार करते। दार्शनिक टीका ग्रन्थों एवं आगमों में चार्वाक, नास्तिक, बार्हस्पत्य और लोकायत आदि मतों का खण्डन करते हुए लिखा है कि इन लोगों की मान्यता है कि इस लोक में पृथ्वी, अप, तेज, वायु और आकाश

1. छान्दो० 1, 11, 5; 4, 3, 3; 3, 15, 4.

ये पांच महाभूत हैं और इनसे एक आत्मा उत्पन्न होती है और उनके नाश के साथ आत्मा का भी नाश हो जाता है, आत्मा नाम का कोई मौलिक एवं स्वतन्त्र तत्त्व नहीं है।[1]

इससे स्पष्ट परिलक्षित होता है कि आत्म-स्वरूप की मान्यता में जो विभिन्नता दृष्टिगोचर होती है, उसमें चिन्तन का एक विकास क्रम सन्निहित है। उपनिषद् में यह विकास क्रम और स्पष्ट हो जाता है।

भूतवादी

मनुष्य ने पहले बाह्य शक्तियों की महान् ताकत को देखकर उन्हें विश्व का मूल कारण माना हो, ऐसा लगता है। परन्तु मनुष्य को इतने मात्र से सन्तोष नहीं हुआ, उसने अपना ध्यान दुनिया के भौतिक पदार्थों पर से हटाकर अपने अन्दर लगाया, तो उसे जीवन में महान् स्फूर्ति का दर्शन हुआ। उसने अन्य भौतिक पदार्थों की अपेक्षा अपने अन्दर अधिक स्फूर्ति का अनुभव किया, और वह इस निर्णय पर पहुंचा कि मेरा शरीर ही आत्मा है। देह के अतिरिक्त कोई आत्म तत्त्व हो ऐसा दिखाई नहीं पड़ता। छान्दोग्य उपनिषद् में एक कथा दी है कि असुरों में से वैरोचन और देवों में से इन्द्र प्रजापति के पास आत्म-स्वरूप जानने को गए। प्रजापति ने उनके सामने पानी से भरे दो बर्तन रखकर उनमें देखने को कहा और फिर पूछा कि तुम क्या देख रहे हो? दोनों ने उत्तर दिया कि नख से लेकर शिखा तक अपना ही स्वरूप। प्रजापति ने कहा, बस यही आत्मा है। इससे असुरों को तो सन्तोष हो गया, वे देह का परिपोषण करने में व्यस्त रहने लगे, परन्तु इन्द्र को इस उत्तर से सन्तोष नहीं हुआ। देहवादियों की मान्यता है कि अन्न से ही शरीर बना है और अन्न से ही बढ़ता है, अत: आत्मा अन्नमय ही है "अन्नमया एव प्राणा"।[2]

जैन और बौद्ध दोनों के शास्त्रों में इस मत को तज्जीवतच्छरीरवादी कहा है। बौद्धों के दीर्घनिकाय और जैनों के रायपसेणीय सूत्र में नास्तिक राजा प्रदेशी का विस्तृत वर्णन मिलता है कि वह आत्मा को देह से भिन्न नहीं मानता था। उसने आत्मा को खोजने के लिए अनेक प्रयत्न किए, फिर भी वह उसमें असफल रहा। इसका कारण स्पष्ट है कि वह आत्मा को देह या भौतिक तत्त्व मानकर ही अन्वेषण करता रहा, उसको साकार रूप में पाने का प्रयत्न करता रहा। यदि वह आत्मा को चेतन, अमूर्त एवं शरीर से पृथक् मानकर उसका अन्वेषण करता, तो उसके अन्वेषण की प्रक्रिया और ही होती। फिर वह उसे देह में नहीं खोजता, बल्कि अपने

---

1. सूत्रकृतांग 1, 1, 1, 7-8
2. तैत्तरीय० 2, 1, 2.

अन्दर झांककर देखता, चिन्तन की गहराई में पहुंचने का प्रयत्न करता। जैसा कि केशी श्रमण के प्रतिबोध के बाद उसने प्रयत्न किया था और वह उसमें सफल भी रहा। इस तरह कुछ विचारक देह को ही आत्मा मानते थे। उनकी स्थूल दृष्टि शरीर के आगे नहीं देख सकी और न उनका चिन्तन ही आत्मस्वरूप तक पहुंच सका।

प्राणात्मवादी

कुछ विचारकों ने देह को ही आत्मा माना। परन्तु कई चिन्तकों को इतने मात्र से सन्तोष नहीं हुआ। वे जरा चिन्तन की गहराई में उतरे, तो उनका ध्यान सबसे पहले प्राण की तरफ गया। निद्रा के समय शरीर और इन्द्रियां सो जाती हैं, तब भी प्राण जागृत रहता है, अर्थात् श्वासोच्छ्वास निरन्तर चलता रहता है, उसका कार्य उस समय भी बन्द नहीं होता। अतः उनकी दृष्टि प्राण तक पहुंची और उन्होंने प्राण को आत्मा स्वीकार किया।

शरीर का बहुत कुछ कार्य इन्द्रियों पर आधारित है, इसलिए कुछ साधकों की दृष्टि इन्द्रियों पर भी गयी और उन्होंने इन्द्रियों को आत्मा माना। बृहदारण्यक में इसका स्पष्ट उल्लेख मिलता है कि इन्द्रियां स्वयं कार्य करने में समर्थ हैं। इस तरह इन्द्रियों को आत्मा मानने की परम्परा चली। इसका खण्डन दार्शनिक एवं टीका ग्रन्थों में मिलता है। इससे यह स्पष्ट है कि किसी समय किसी व्यक्ति की यह मान्यता रही हो। इस मत के विचारकों का यह विश्वास था कि मृत्यु प्राण की नहीं, बल्कि इन्द्रियों की होती है। मृत्यु इन्द्रियों को थका देती है, शिथिल कर देती है और निष्प्राण बना देती है। इस तरह इन्द्रियों के मध्य में निवसित प्राण का मृत्यु कुछ नहीं बिगाड़ती। इन्द्रियों की गति बन्द होने के कारण प्राण रुक जाता है और मनुष्य मर जाता है। इस प्रकार इन्द्रियों ने ही प्राण का स्थान ले लिया और ये ही आत्मा मानी जाने लगीं। जैनागमों में भी दस प्राणों में इन्द्रियों को भी प्राण माना है, परन्तु उन्हें आत्मा से भिन्न स्वीकार किया है।

मनोमय आत्मा

मानव-चिन्तन इन्द्रियों और प्राण तक ही सीमित नहीं रहा। वह आगे भी सोचता रहा और उसी चिन्तन की गहराई में उसने मन को देखा। वह सोचने लगा—मन इन्द्रियों एवं प्राणों से भी महत्वपूर्ण है। इन्द्रियों एवं प्राण का संचालक मन ही है। मन का सम्पर्क होने पर ही इन्द्रियां अपने विषय को ग्रहण कर सकती हैं, उसके अभाव में कोई इन्द्रिय किसी विषय के ग्रहण करने में स्वतन्त्र नहीं है, अतः मन ही आत्मा है या विश्व का मूल तत्त्व है।

यह नितान्त सत्य है कि इन्द्रिय एवं प्राण की अपेक्षा मन सूक्ष्म है। परन्तु वह भौतिक (जड़) है या अभौतिक (चैतन्य), इस विषय को लेकर दार्शनिकों में काफी मतभेद रहा है। फिर भी इतना तो मानना होगा कि कुछ विचारक मन को अभौतिक मानते थे। न्याय-वैशेषिक दर्शन में मन को अणु मानते हुए भी उसे पृथ्वी आदि भूतों के अणु से विलक्षण माना है।[1] सांख्यदर्शन ने ऐसा माना है कि जीवन में भूतों की निष्पत्ति होने से पहले ही प्राकृतिक अहंकार में से मन का उद्‌भव हो जाता है, इससे भूतों की अपेक्षा मन की सूक्ष्मता का संकेत मिल ही जाता है। वैभाषिक बौद्धों ने तो मन को विज्ञान का समानान्तर कारण स्वीकार किया है।[2] तैत्तरीय उपनिषद् में "अन्योन्तरात्मा मनोमय:" इस वाक्य से मन को आत्मा माना है। वृहदारण्यक[3] एवं छान्दोग्य[4] उपनिषद् में मन को परम ब्रह्म सम्राट् और ब्रह्म कहा है।

इस तरह कुछ विचारक मन को अभौतिक तत्त्व के रूप में स्वीकारते थे। जैनों ने इन्द्रियों की तरह मन को भी प्राण माना है और 10 प्राणों में उसका भी समावेश किया गया है।[5] और उसे सबसे सूक्ष्म माना है, फिर भी उसे भौतिक ही माना है। क्योंकि अन्य इन्द्रियों की तरह उसका निर्माण भी परमाणुओं के समूहरूप स्कन्धों से होता है।

जब विचारकों ने मन के आगे सोचना शुरू किया तो उन्हें लगा कि मन भी स्वयं निर्णय करने में समर्थ नहीं है, वह भी किसी के द्वारा संचालित है। मन और प्राण प्रज्ञा के द्वारा ही अपने-अपने विषय की जानकारी कर सकते हैं। अत: कौषीतकी उपनिषद् में प्राण को प्रज्ञा या प्रज्ञा को प्राण कहा गया है।[6] इसी तरह तैत्तरीय उपनिषद् में विज्ञानात्मा को मनोमय आत्मा कहा है और ऐतरेय उपनिषद् में प्रज्ञान ब्रह्म की जो पर्यायें गिनाई गई हैं, उसमें मन भी शामिल है। इससे स्पष्ट होता है कि मन के साथ प्रज्ञा, प्रज्ञान और विज्ञान का सम्बन्ध रहा हुआ है। उक्त तीनों शब्द एकार्थक हैं। मन भी सूक्ष्म है, परन्तु उसे कुछ दार्शनिक भौतिक मानते हैं और कुछ अभौतिक। पर जब से प्रज्ञा, प्रज्ञान या विज्ञान को आत्मा माना जाने लगा तब से कुछ दार्शनिक आत्मा को भौतिक से अभौतिक मानने लगे।

---

1. न्याय सूत्र, 3, 2, 11; वैशेषिक सूत्र, 7, 1, 23.
2. षण्णामनन्तरातीत विज्ञानं यद्धि तन्मन: । —अभिधर्मकोष, 1, 17.
3. बृहदा० 4, 1, 6.
4. छान्दो० 7, 3, 1.
5. श्रोत्र इन्द्रिय, चक्षु इन्द्रिय, घ्राण इन्द्रिय, रसना इन्द्रिय, स्पर्श इन्द्रिय, मन, वचन, काया, श्वासोच्छ्‌वास और आयुष्य बल प्राण ।
6. यो वै प्राण: सा प्रज्ञा या वा प्रज्ञा स प्राण: । —कौषीतकी, 3, 2; 3, 3.

प्रज्ञा को इन्द्रियों का अधिष्ठाता अवश्य माना गया परन्तु अभी तक प्रज्ञा के स्वयं प्रकाशक रूप की ओर किसी का ध्यान नहीं गया। वह सब इन्द्रियों का स्वामी है, फिर भी इन्द्रियों की सहायता के बिना किसी विषय की जानकारी नहीं कर सकता। सुषुप्तावस्था में इन्द्रियां सुप्त रहती हैं, अत: उस समय ज्ञान नहीं होता। इसी तरह दूसरे जन्म में जब तक इन्द्रियों की प्राप्ति नहीं हो जाती, तब तक प्रज्ञा अपना काम नहीं कर सकती। इन्द्रियां प्रज्ञा के अधीन हैं, ऐसा मानने पर भी यह कहा जाता है कि वह इन्द्रियों के सहयोग बिना कुछ भी नहीं कर सकती। इसका कारण यह है कि उन्होंने प्रज्ञा और प्राण को एक माना है और जब तक प्राण को ही प्रज्ञा मानने का आग्रह है, तब तक उन्हें प्रज्ञा का स्वयं-प्रकाशक रूप ध्यान में न आये, यह स्वाभाविक ही है।

जैनों ने प्राण और प्रज्ञा को भिन्न माना है। प्राण परमाणु के समूह से बना स्कन्ध है और प्रज्ञा या ज्ञान आत्मा का गुण है। प्राणों की संख्या बदल भी सकती है, कभी कम-ज्यादा भी हो सकती और कभी उसका अभाव भी हो सकता है (सिद्ध अवस्था में), परन्तु ज्ञान आत्मा में सदा काल बना रहता है, उसका अभाव कभी नहीं होता। अत: प्राण एवं प्रज्ञा एक नहीं, भिन्न तत्त्व हैं।

प्रज्ञा का काम जानना है। इसलिए वह स्वयं प्रकाशक है। जो ज्ञान स्वयं को नहीं जानता वह पर को भी नहीं जान सकता। जैसे दीपक दूसरे पदार्थों को प्रकाशित करता है, उसी तरह अपने को भी प्रकाशित करता है। जैसे दीपक या सूर्य को देखने के लिए दूसरे दीपक या सूर्य को लाने की आवश्यकता नहीं होती है इसी तरह स्वयं को जानने के लिए दूसरे के ज्ञान की भी आवश्यकता नहीं होती है। उसका अपना ज्ञान स्वयं को भी देखता-जानता है और 'पर' को भी। जो ज्ञान 'पर' को जान सकता है किन्तु स्वयं को नहीं जानता, वह ज्ञान नहीं हो सकता। क्योंकि जो पर को जानेगा वह स्वयं को भी जानेगा ही अर्थात् यों भी कहा जा सकता है कि स्वयं को जाने बिना पर का ज्ञान नहीं होता।

इतना होते हुए भी अन्वेषण चलता रहा और जब आत्मा के शुद्ध चैतन्य एवं आनन्द रूप तक पहुंचे तो कहा गया कि आत्मा-अन्नमय आत्मा अर्थात् जिसे शरीर कहते हैं, उससे पृथक् है। शरीर रथ है और उस रथ को चलाने वाला रथी रथ से भिन्न है। उसी तरह इस शरीर का संचालक ही आत्मा है। आत्मा और शरीर दोनों पृथक् हैं। आत्मा के अभाव में इन्द्रियां एवं प्राण कुछ नहीं कर सकते। इसलिए आत्मा प्राण का भी प्राण है। प्रश्नोपनिषद् में यहां तक कहा गया कि प्राण का जन्म आत्मा से ही होता है। इस तरह आत्मा को शरीर, प्राण, मन और

इन्द्रियों से पृथक् और उन सबका संचालक माना गया और उसे पुरुष, चेतन, ब्रह्म, आनन्द आदि नामों से पहचाना गया है।

उस पुरुष या आत्मा को अजर, अक्षर, अमृत, अमर, अव्यय, अज, नित्य, ध्रुव, शाश्वत और अनन्त माना है।[1] और यह भी माना है कि वह अशब्द, अस्पर्श, अरूप, अव्यय, अरस, नित्य, अगन्धवत्, अनादि, अनन्त, महत् तत्त्व से परे, ध्रुव है। ऐसे आत्मा को जान-समझकर मनुष्य मृत्यु के मुख में से मुक्त हो जाता है।[2]

उपनिषदों का आत्मवाद एवं तथागत बुद्ध का अनात्मवाद

जब हम आत्मा के विकास क्रम पर दृष्टि डालते हैं, तो ऐसा प्रतीत होता है कि पहले पहल विचारकों की दृष्टि बाह्य पदार्थों पर अटकी रही। उसके बाद चिन्तन बढ़ता गया और विचारकों ने शरीर, प्राण, इन्द्रिय एवं मन से अतिरिक्त आत्म तत्त्व को स्वीकार किया और यह भी माना कि वह इन्द्रियग्राह्य नहीं बल्कि अतीन्द्रिय है। इस बात को मानने के बाद उसके स्वरूप को जानने की इच्छा जागृत हुई और सभी विचारकों ने आत्मा के स्वरूप को जानने एवं उसकी व्याख्या करने में अपनी सारी शक्ति लगा दी और उसमें वे इतने तल्लीन हो गए कि आत्मानन्द के सामने उन्हें सारे सुख फीके लगने लगे। यहां तक कि आत्म-विद्या के सामने स्वर्ग के सुख भी तुच्छ प्रतीत होने लगे। अत: आत्मा की शुद्ध ज्योति का दर्शन करने के लिए उन्होंने सांसारिक ऐश्वर्य एवं सुख साधनों को त्यागकर कठोर तपश्चर्या के मार्ग को सहर्ष स्वीकार किया। नचिकेता जैसा सुकुमार बालक भी मृत्यु के बाद आत्मा की क्या स्थिति होती है, इसे जानने के लिए इतना व्याकुल हो उठा कि उसे धन-सम्पत्ति एवं स्वर्ग का विपुल ऐश्वर्य भी भुलावे में नहीं डाल सका। आत्म-विद्या को जानने के लिए वह यमराज के सारे प्रलोभनों को ठुकरा देता है। मैत्रेयी के सामने भी जब अपने पति की सम्पत्ति का अधिकार लेने का प्रसंग आया, तो उसने उस प्रस्ताव को ठुकराकर आत्म-विद्या की शोध में अपना जीवन लगाना चाहा। उसने स्पष्ट शब्दों में कहा कि जिस धन-वैभव से मैं अमर नहीं बन सकती उसे लेकर क्या करूं? उसने अपने पति से कहा कि आप मुझे वह विद्या सिखाएं, जो मुझे अजर-अमर बना सके।

इस तरह बाह्य सुखों से हटकर, आत्म-तत्त्व को जानने की प्रबल जिज्ञासा विचारकों

---

1. कठोपनिषद्, 3, 2.
2. वही, 1, 3, 15.

में बढ़ने लगी और परिणामस्वरूप वैदिक क्रिया-काण्ड के प्रति विचारकों की अरुचि होने लगी। वे अपना ध्यान शुष्क क्रिया-काण्ड से हटाकर आत्मा के प्रत्यक्षीकरण में लगाने लगे। परन्तु आत्मा के अमूर्त स्वरूप को प्रत्यक्ष में न देख सकने के कारण विचारकों में आत्म-स्वरूप के विषय में एकरूपता नहीं रही। जिस विचारक के चिन्तन में जो कुछ सूझा उसी का उसने प्रतिपादन किया। इससे कुछ विचारकों के मन में आत्म-तत्त्व के विरुद्ध प्रतिक्रिया होने लगी। तथागत बुद्ध के विचारों में यह प्रतिक्रिया स्पष्ट रूप से देखने को मिलती है। क्योंकि सभी उपनिषदों का सार यह है कि विश्व के मूल में एक शाश्वत आत्मा—ब्रह्म तत्त्व है, और कुछ नहीं। उपनिषद् के ऋषियों ने यहां तक कह दिया कि जो व्यक्ति अद्वैत तत्त्व को न मानकर द्वैत या भेद की कल्पना करते हैं, वे अपने सर्वनाश को निमन्त्रण देते हैं।[1] इस तरह के एकान्त नित्य-शाश्वत और अद्वैत आत्म-स्वरूप की मान्यता बढ़ने लगी और विचारक स्पष्ट दिखाई पड़ने वाले द्वैत को मिथ्या बताने लगे, तब उसका विरोध होने लगा। तथागत बुद्ध विरोधी के रूप में सामने आये। यह बात अलग है कि उन्हें अनात्मवाद के सिद्धान्त को फैलाने में कितनी सफलता मिली। इसका मूल्यांकन करना इतिहासकारों का काम है। हम तो यहां इतना ही बताना चाहते हैं कि तथागत बुद्ध आत्म-विरोधी चिन्तन लेकर मैदान में उतरे और उन्होंने वजनदार शब्दों में अद्वैतवाद एवं नित्यवाद का खण्डन किया।

तथागत बुद्ध आत्म-तत्त्व को बिल्कुल अस्वीकार नहीं करते हैं। परन्तु उपनिषदों में आत्मा को जिस प्रकार से एकान्त नित्य, अद्वैत और विश्व का एकमात्र मौलिक तत्त्व माना गया है, बुद्ध ने उसका विरोध किया है और उन्होंने वजनदार शब्दों में कहा है कि आत्मा एकान्त नित्य नहीं है। यदि उसे एकान्त नित्य माना जाए तो उसमें कार्यकारित्व भाव घट नहीं सकेगा।

आगमों एवं दार्शनिक ग्रन्थों में वर्णित भूतवादियों एवं चार्वाक आदि के अनात्मवाद और बुद्ध के अनात्मवाद के सिद्धान्त में इतना ही साम्य है कि दोनों पक्ष आत्मा को सम्पूर्ण रूप से स्वतन्त्र द्रव्य और नित्य या शाश्वत नहीं मानते। उभय पक्ष इस बात में भी सहमत हैं कि आत्मा उत्पन्न होता है। परन्तु बुद्ध और चार्वाक की मान्यता में भेद यह है कि बुद्ध पुद्गल-आत्मा, जीव या चित्त नाम की एक स्वतन्त्र वस्तु भी मानते हैं और भूतवादी चार या पांच भूत के अतिरिक्त आत्मा नाम की किसी स्वतन्त्र वस्तु को नहीं मानते। बुद्ध भी जीव या

---

1. मनसैवानुद्रष्टव्यं नेह नानास्ति किंचन।
मृत्योः स मृत्युमाप्नोति य इह नानेव पश्यति।। --बृहदा० 4, 4, 19; कठो० 4, 11.

पुद्गल को अनेक कारणों से उत्पन्न होने वाला मानते हैं और इस कारण उसे परतन्त्र भी मानते हैं परन्तु उसकी उत्पत्ति में विज्ञान (चैतन्य) और विज्ञानेतर दोनों प्रकार के कारण मौजूद रहते हैं। जबकि भूतवादियों का कहना है कि चार या पांच भूतों के अतिरिक्त कोई भी चैतन्य कारण नहीं है, जिससे आत्मा की उत्पत्ति हाती है। बुद्ध चार या पांच भूतों की तरह विज्ञान को भी एक मूल तत्त्व मानते हैं और वह जन्य होने से अनित्य है, अशाश्वत है। और वे चैतन्य-विज्ञान की सन्तति को अनादि मानते हैं। जलधार की तरह वह एक रूप से परिलक्षित होने पर भी एक-दूसरे जल बिन्दु की तरह भिन्न है। ऐसी विज्ञानधारा को बुद्ध ने माना है, परन्तु भूतवादियों को किसी भी तरह की भूतेतर चैतन्य शक्ति मान्य नहीं है और न वे विज्ञानधारा को ही मानते हैं।

तथागत बुद्ध ने रूप, वेदना, संज्ञा, संस्कार, विज्ञान, इन्द्रियों, इन्द्रियों के विषय और उनसे होने वाले ज्ञान, मन, मानसिक धर्म और मनोविज्ञान इन सभी विषयों पर सोचा-विचारा है और अन्त में सभी को अनित्य, दु:ख और अनात्म रूप से बताया है। वे अपने से पूछते हैं कि उक्त विषय नित्य है? तो उत्तर मिलता कि नहीं, अर्थात् दुनिया में कोई भी वस्तु नित्य नहीं है। तब फिर पूछते हैं कि अनित्य वस्तु सुख रूप होती है या दु:खरूप? उत्तर में कहते हैं-दु:ख रूप। तब फिर प्रश्न होता है-क्या दु:खरूप तत्त्व आत्मा हो सकते हैं? उत्तर निषेध की भाषा में होता है, अर्थात् ये सारे विषय अनात्मा हैं। संसार में शाश्वत सुखरूप आत्मा जैसी कोई चीज ही नहीं है, यह बात वे श्रोताओं को समझा देते थे।[1]

तथागत बुद्ध अनात्मवादी हैं परन्तु उच्छेदवादी नहीं, क्योंकि वे चार्वाक आदि की तरह एकान्ततः आत्मा का उच्छेद नहीं करते। बुद्ध को चार्वाक का एकान्त देहात्मवाद भी मान्य नहीं और उपनिषद् का एकान्त सर्वान्तर्यामी नित्य, ध्रुव, शाश्वत आत्मा भी मान्य नहीं। उनके विचार में आत्मा शरीर से एकान्त अभिन्न है ऐसा भी कहना उचित नहीं और एकान्त भिन्न है ऐसा मानना भी उपयुक्त नहीं। उन्हें भूतवादियों का भौतिकवाद भी एकान्त प्रतीत होता है और उपनिषद् का कूटस्थनित्य आत्मवाद भी एकान्त दिखाई देता है। इसलिए उनका मार्ग दोनों वादों के बीच का या मध्यम मार्ग है। जिसे वे 'प्रतीत्यसमुत्पादवाद' (अमुक वस्तु की अपेक्षा से अमुक वस्तु का निर्माण हुआ) कहते हैं।

बुद्ध के मत में संसार में सुख-दु:ख आदि अवस्थाएं, कर्म, जन्म, मरण, बन्ध-मुक्ति

1. देखो संयुक्तनिकाय 12, 70, दीघनिकाय-महानिदानसुत्त, 15.

आदि सभी बातें हैं। परन्तु इन सबका कोई स्थिर आधार नहीं। ये सब अवस्थाएं पूर्व-पूर्व के कारणों से उत्पन्न होती हैं और एक अभिनव कार्य को उत्पन्न करके नष्ट हो जाती हैं। बुद्ध को न तो पूर्व के कार्य का सर्वथा उच्छेद इष्ट है और न नित्यत्व ही इष्ट है। पदार्थ की उत्तर अवस्था पूर्व से सर्वथा असम्बद्ध है, अपूर्व है ऐसा भी नहीं कहा जा सकता। क्योंकि उभय अवस्थाएं कार्य-कारण की शृंखला में आबद्ध हैं। पूर्व की पर्यायों का संस्कार उत्तर की पर्यायों को मिल जाता है, इससे वे तद्रूप ही हैं अथवा उत्तर पूर्व से अभिन्न है, ऐसा भी उन्हें इष्ट नहीं है, क्योंकि इस सिद्धान्त को मानने से द्रव्य का नित्यत्व सिद्ध हो जाता है। इससे बुद्ध के क्षणिकवाद को गहरा धक्का पहुंचता है। अत: बुद्ध ने यह कहकर इस प्रश्न को टाल दिया कि पूर्व अवस्था उत्तर अवस्था से न तो सर्वथा भिन्न है और न सर्वथा अभिन्न है, परन्तु अव्याकृत है।[1]

दार्शनिकों का आत्मवाद

उपनिषद् काल के बाद अनेक वैदिक दर्शनों की परम्परा स्थापित हुई और आत्मा के सम्बन्ध में उनका दृष्टिकोण उपनिषदों से भिन्न रहा। उपनिषदों में भी अनेक विचार परम्पराएं सुरक्षित हैं, परन्तु उन सबमें एक बात सामान्य रूप में पाई जाती है, वह है अद्वैतवाद। भले ही भूतवादी हों या चेतनवादी, सभी विश्व के मूल में भूत या चेतन एक ही तत्त्व मानते हैं। ऋग्वेद में भी विश्व के मूल तत्त्व को एक माना है, परन्तु उन्होंने उसका भूत या चेतन नाम नहीं रखा।[2] ब्राह्मण काल में उसे प्रजापति का नाम दिया गया और उपनिषदों में उसे सत्, असत्, आकाश, जल, वायु, प्राण, मन, प्रज्ञा, आत्मा, ब्रह्म आदि अनेक नाम से जाना पहचाना गया। परन्तु सभी विचारकों ने अद्वैतवाद को नहीं छोड़ा। परन्तु वैदिक दर्शन में सभी को अद्वैतवाद स्वीकार नहीं है। न्याय-वैशेषिक, सांख्य, पूर्वमीमांसा आदि दर्शनों ने विश्व के मूल में जड़ और चेतन दो मूल तत्त्वों को स्वीकार किया है और आत्मा को भी एक नहीं, अनेक माना है तथा जड़ से भिन्न चेतन स्वरूप स्वीकार किया है।

जैन दर्शन ने भी विश्व के मूल में जीव और अजीव या जड़ और चेतन ो मौलिक तत्त्वों को स्वीकार किया है। चेतन के शुद्ध स्वरूप को अमूर्त माना है। फिर भी सांसारिक आत्माओं को मूर्त और अमूर्त दोनों रूप में स्वीकार किया है। ज्ञानादि गुणों की अपेक्षा या आत्म द्रव्य की अपेक्षा वह अमूर्त है, परन्तु कर्म के साथ सम्बद्ध होने से वह व्यवहार दृष्टि से मूर्त

---

1. मिलिन्द प्रश्न 2, 25-33.
2. तदेकं। ऋग्वेद 10, 129.

भी है। बुद्ध ने भी पुद्गल (आत्मा) को मूर्त और अमूर्त कहा है। परन्तु, अन्य सभी दार्शनिकों ने चेतन को अमूर्त ही माना है।

इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि विश्व के मूल में भूत (जड़) या चेतन एक ही तत्त्व नहीं, बल्कि जड़ और चेतन दो मौलिक तत्त्व हैं और दोनों ही तत्त्व स्पष्ट दृष्टिगोचर हो रहे हैं।

आत्मा एक है या अनेक

यह हम ऊपर बता आए हैं कि उपनिषद् काल में अद्वैतवाद का महत्त्व रहा है। वेदान्त में भी अद्वैतवाद ही देखने को मिलता है। आचार्य शंकर ने भी ब्रह्मसूत्र भाष्य में अद्वैतवाद को ही परिपुष्ट किया है। सभी ने एक आत्मा के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया है, परन्तु दुनिया में जो अनेक आत्माएं स्पष्ट परिलक्षित हो रही थीं, उनका वे एकदम तिरस्कार नहीं कर सके। इसकी झलक हमें ब्रह्मसूत्र की विभिन्न व्याख्याओं में स्पष्ट रूप से देखने को मिलती है। परन्तु इन सब व्याख्याकारों में एकमत नहीं रहा, इससे वेदान्त दर्शन में हमें विचारभेद से अनेक परम्पराएं दृष्टिगोचर होती हैं।

अन्य वैदिक दर्शनों ने भी आगम के रूप में वेद और उपनिषदों को माना है। परन्तु उन्हीं को अक्षरश: आधार मानकर अपने दर्शनशास्त्रों की रचना नहीं की। उन दार्शनिकों ने भी जैनों की तरह जड़ और चेतन दो तत्त्वों तथा अनेक आत्माओं के सिद्धान्त को माना। इससे स्पष्ट है कि ये वैदिक दर्शन वेदबाह्य विचारधारा से प्रभावित हुए हैं। इन पर प्राचीन सांख्य एवं जैनों का असर मालूम होता है। प्राचीन सांख्यदर्शन जैनदर्शन के काफी निकट था। उस समय वह वेदबाह्य दर्शन गिना जाता था। बाद के विचारकों ने उसे वैदिक विचारधारा का कुछ पुट देकर वैदिक दर्शन का रूप दे दिया। यह एक ऐतिहासिक तथ्य है और सभी इतिहासवेत्ता इस बात से भली-भांति परिचित हैं।

वेदान्त में विभिन्न विचारभेद

शंकराचार्य का मायावाद

आचार्य शंकर का मानना है कि वास्तव में ब्रह्म एक ही है, संसार में और कोई मूल तत्त्व नहीं है। एक ब्रह्म होते हुए जो अनेक जीवात्मा दिखाई देती हैं, वह अज्ञान एवं माया के कारण परिलक्षित होती हैं। जैसे रज्जू में सर्प का ज्ञान भ्रम से होता है, उसी तरह अनेक जीवों का जो भान होता है, वह भी भ्रम है। जबकि रज्जू सर्प नहीं, न सर्प रूप से उत्पन्न ही हो सकती

है और न वह सर्प को उत्पन्न ही करती है, फिर भी उसमें सर्प का भ्रम होता है। इसी तरह ब्रह्म न तो अनेक जीव रूप से उत्पन्न होता है और न अनेक जीवों को उत्पन्न करता है, फिर भी संसार में अनेक जीव दृष्टिगोचर होते हैं, यह अविद्या है, माया है। इस प्रकार अनेक जीव मायिक हैं, मिथ्या हैं। इसी कारण उन्हें ब्रह्म का विवर्त कहते हैं। जब तक अज्ञान है, तब तक अनेक जीव दिखाई देते हैं। अज्ञान का पर्दा फटते ही जीव ब्रह्मस्वरूप में मिल जाता है, फिर द्वैत नहीं रह जाता। इस तरह आचार्य शंकर के मत को 'केवलाद्वैत' कहते हैं। क्योंकि यह केवल ब्रह्म को ही सत्य मानता है, और किसी को नहीं।[1] आचार्य शंकर की दृष्टि से सारा संसार मिथ्या है, भ्रम है, माया है। 'ब्रह्मसत्यं जगत्मिथ्या' यह इनकी मान्यता है। इसलिए इनके मत को मायावाद भी कहते हैं।

सत्योपाधिवाद

भास्कराचार्य ने आचार्य शंकर से विपरीत दिशा में सोचा है। भास्कराचार्य भी एक ब्रह्म को मानते हैं, परन्तु प्रत्यक्ष दिखाई देने वाले अनेक जीवों को आचार्य शंकर की तरह मिथ्या नहीं मानते। आचार्य भास्कर की मान्यता है कि निरुपाधिक ब्रह्म अनादिकालीन सत्य उपाधि के कारण अनेक जीव रूप में प्रकट होता है। नित्य, शुद्ध, मुक्त और कूटस्थ ब्रह्म जिस कारण से अनेक जीवों के रूप में अवतरित होता है, उसे उपाधि कहते हैं। उस उपाधि के कारण से ब्रह्म अनेक जीवों के रूप में दिखाई देता है, इससे उन्हें औपाधिक रूप से जीव समझना चाहिए। अर्थात् जब वे निरुपाधिक हों तब उन्हें ब्रह्म और सोपाधिक हों तब जीव कहना- मानना चाहिए। आचार्य भास्कर इस उपाधि को सत्य मानते हैं, इस कारण उनके मत को भी 'सत्योपाधिक' कहते हैं।

विशिष्टाद्वैतवाद

आचार्य रामानुज के विचार से ब्रह्म—कारण और कार्य दोनों है। सूक्ष्म चिद् और अचिद् की दृष्टि से विशिष्ट ब्रह्म कारण और स्थूल चिद् और अचिद् की अपेक्षा से वह कार्य है। दोनों विशिष्टों को एक मानने के कारण रामानुज के मत को विशिष्टाद्वैतवाद कहते हैं। क्योंकि ब्रह्म के सूक्ष्म चिद् के विभिन्न स्थूल परिणामस्वरूप अनेक जीव हैं और उसका सूक्ष्म अचिद् रूप स्थूल जगत के रूप में प्रकट होता है। जीव अनेक हैं, नित्य हैं, अणु परिमाण हैं और जीव एवं जगत ब्रह्म का ही कार्य होने से मिथ्या नहीं, सत्य हैं। मुक्त अवस्था में जीव ब्रह्म रूप

1. एको ब्रह्म द्वितीयो नास्ति।

बनकर उसके सान्निध्य में रहता है। जीव और ब्रह्म दोनों कार्य कारण रूप से भिन्न होते हुए भी एक हैं। क्योंकि कार्य कारण का ही परिणाम है। अतः दोनों एक हैं, अद्वैत हैं।

द्वैताद्वैत-भेदाभेदवाद

आचार्य निम्बार्क की दृष्टि से चित् और अचित् ये ब्रह्म के दो रूप हैं। उक्त दोनों रूप ब्रह्म से भिन्न भी हैं, और अभिन्न भी हैं। जिस तरह वृक्ष और पत्तों में, दीप और प्रकाश में भेदाभेद है, उसी प्रकार ब्रह्म और चिद् एवं अचिद् रूप दोनों में भेदाभेद सम्बन्ध है। जगत ब्रह्म की शक्ति का रूप है, अतः सत्य है। जीव ब्रह्म का अंश है और अंश अंशी का भेदाभेद सम्बन्ध है। ऐसे जीव अनेक हैं, नित्य हैं और अणुपरिमाण हैं। यह भी रामानुज की तरह मुक्त दशा में जीव का भेद मानते हैं, पर उसे ब्रह्म से भिन्न नहीं, अभिन्न ही मानते हैं। अतः इनके मत को द्वैताद्वैत या भेदाभेदवाद कहते हैं।

भेदवाद

आचार्य मध्व वेदान्ती हैं, फिर भी उनका विचार अन्य वेदान्तियों से भिन्न दिशा में प्रवहमान हुआ है। ब्रह्मसूत्र की व्याख्या उन्होंने अपने विचार के अनुरूप की है। उन्होंने आचार्य शंकर आदि के विचारों के खूंटे से अपने दिमाग को बांध कर नहीं सोचा। यह सत्य है कि रामानुज आदि आचार्यों ने शंकर की तरह अनेक जीवों एवं जगत को मिथ्या नहीं कहा है। परन्तु अद्वैत की सुरक्षा सबने की है और सबने अद्वैत का ही समर्थन किया है। परन्तु आचार्य मध्व ने द्वैत का समर्थन किया है। उन्होंने ब्रह्म को निमित्त कारण और जीव को उपादान कारण माना है। वे जीवों में ही परस्पर भेद है इतना ही नहीं, परन्तु यह भी मानते हैं कि जीव ब्रह्म से भी भिन्न है। उनके विचार से जीव अनेक हैं, नित्य हैं, अणु-परिमाण हैं। ब्रह्म की तरह जीव भी सत्य है, केवल वह उसके अधीन है।

अविभागाद्वैतवाद

विज्ञानभिक्षु का कहना है कि प्रकृति और पुरुष–जीव ब्रह्म से अलग दिखाई देने पर भी उससे विभक्त–अलग रह नहीं सकता। जीव अनेक हैं, नित्य हैं, व्यापक हैं। जीव और ब्रह्म का सम्बन्ध पिता-पुत्र का सा सम्बन्ध है। जैसे जन्म के पहले पुत्र पिता में ही समाविष्ट था, उसी तरह जीव पहले ब्रह्म में समाहित था। जन्म के समय वह ब्रह्म में से प्रकट होता है और प्रलय के समय फिर से उसी में लीन हो जाता है। ब्रह्म की इच्छा-आकांक्षा से जीव का प्रकृति के साथ सम्बन्ध होता है और जगत की सृष्टि होती है।

शैवमत

वेदान्त एवं उपनिषद् को मानने वालों के अतिरिक्त एक और दर्शन है, जो वेदान्त को न मानते हुए भी अद्वैतवाद को मानता है। वे शिव के उपासक शैव हैं और उनके दर्शन को 'प्रत्यभिज्ञा' दर्शन कहते हैं। उनके विचार से ब्रह्म के स्थान में अनुत्तर नाम का एक तत्त्व है। यह तत्त्व सर्वशक्तिमान और नित्य है। उसे शिव और महेश्वर भी कहते हैं। जीव और जगत ये दोनों शिव की इच्छा से उसमें से प्रकट होते हैं। इस कारण जीव और जगत दोनों मिथ्या नहीं, सत्य हैं।

जीव को एक और अनेक मानने के सम्बन्ध में समस्त दार्शनिकों में दो विचारधाराएं काम कर रही हैं। उपनिषद्, वेदान्त (मध्वाचार्य को छोड़कर) और शैव अद्वैतवाद को मानते हैं और शेष न्याय-वैशेषिक, सांख्य, पूर्व-मीमांसक आदि वैदिक दार्शनिक और बौद्ध, आजीविक, जैन आदि अवैदिक दार्शनिक अनेक जीव मानते हैं अर्थात् द्वैतवाद को मानते हैं।

जैनों का द्वैतवाद

जैनों ने विश्व की रचना में जीव और अजीव दो मूल तत्त्व माने हैं और जीव भी एक नहीं, अनेक माने हैं। विशेषावश्यकभाष्य में भगवान् महावीर का शिष्यत्व स्वीकार करने के पहले इन्द्रभूति गौतम की शंकाओं का निराकरण करते हुए भगवान् महावीर ने विश्व के मूल में एक ब्रह्म मानने की बात को तात्त्विक एवं व्यावहारिक दृष्टि से अनुचित बताया और अनन्त जीवों के स्वतन्त्र अस्तित्व को वास्तविक बताया।

गौतम ने प्रश्न किया था कि जैसे लोक में सर्वत्र एक आकाश व्याप्त है, उसी तरह नारक, देव, मनुष्य और तिर्यञ्च गतियों में स्थित विभिन्न जीवों में एक ही आत्मा मान लें, तो क्या आपत्ति है? इसका स्पष्टीकरण करते हुए भगवान् महावीर ने कहा—हे गौतम ! ऐसा होना सम्भव नहीं है। आकाश सर्वत्र एक इसलिए मान्य है कि उसमें सर्वत्र एक समान लक्षण पाया जाता है। परन्तु जीव या आत्मा के सम्बन्ध में ऐसी बात नहीं है। प्रत्येक जीव एक-दूसरे से विलक्षण है। इसलिए उन्हें सर्वत्र एक है; ऐसा नहीं माना जा सकता। क्योंकि लक्षणभेद से वस्तु का भेद स्वत: सिद्ध हो जाता है। इसका साधक प्रमाण इस प्रकार दिया जा सकता है—जीव अनेक—भिन्न हैं, क्योंकि उनमें लक्षणभेद है, जैसे—घट-पट आदि। क्योंकि जो वस्तु भिन्न—अनेक नहीं होती उसमें लक्षणभेद भी नहीं होता, जैसे—आकाश।

यदि जीव को एक ही माना जाए तो फिर संसार-मोक्ष आदि की व्यवस्था बन ही नहीं

सकेगी और जो हम एक व्यक्ति को दु:खी और दूसरे को सुखी तथा किसी को बन्धनयुक्त और किसी को मुक्त-सिद्ध अवस्था में देखते या अनुभव करते हैं, यह प्रत्यक्ष व्यवहार भी गलत ठहरेगा। क्योंकि एक ही समय में एक जीव सुखी और दूसरा दु:खी रह नहीं सकता। इसी तरह एक बन्धनयुक्त और दूसरा मुक्त भी नहीं बन सकता। क्योंकि एक ही जीव में एक ही समय में एक सुखी, दूसरा दु:खी यह विरुद्ध अनुभूति नहीं हो सकती, परन्तु प्रत्यक्ष में ऐसा देखा जाता है, अत: जीव एक नहीं, विभिन्न हैं, अनेक हैं, अनन्त हैं, ऐसा मानना चाहिए।

इन्द्रभूति द्वारा दिया गया यह तर्क भी विचारणीय है कि आप (महावीर) जीव का लक्षण उपयोग मानते हैं और यह उपयोग लक्षण दुनिया के समस्त जीवों में एक-सा है, तो फिर उन विभिन्न जीवों में विलक्षणता एवं अनेकता मानने का क्या कारण है? उत्तर में कहा गया कि सामान्य रूप से उपयोग लक्षण सभी जीवों में समान है, फिर भी प्रत्येक जीव में उपयोग भी विशेष-विशेष प्रकार का परिलक्षित होता है या यों कह सकते हैं कि उपयोग का उत्कर्ष एवं अपकर्ष जीवों में अनन्त प्रकार का देखा जाता है, इससे स्पष्ट है कि सभी जीवों का उपयोग अलग-अलग है। यदि सब जीवों को एक जीव रूप माना जाए तो सबका ज्ञान-दर्शनरूप उपयोग एक समान होगा, परन्तु हम प्रत्यक्ष में अनुभव करते हैं कि एक जीव का ज्ञान-दर्शनरूप उपयोग दूसरे जीव से भिन्न है अर्थात् किसी में ज्ञान का उत्कर्ष देखने को मिलता है, तो किसी में अपकर्ष।

दूसरी बात यह है कि जीव को एक मान लें तो फिर उसे सर्वव्यापक भी मानना होगा, जैसे कि आकाश। और उसे सर्वव्यापक मानने से यह दोष आएगा कि उसमें सुख-दु:ख, बन्ध-मुक्ति आदि बातें घटित नहीं होंगी। एक जीव के दु:खी होने पर सभी दु:खी और एक के सुखी होते ही सब सुखी हो जाएंगे। ऐसा कहना चाहिए कि आत्मा को एक मान लेने पर संसार में सुख रह ही नहीं जाएगा, समस्त संसारी जीव दु:खी ही नजर आएंगे। क्योंकि संसार में नारकी और तिर्यञ्च जीव ही अधिक हैं और प्राय: ये सब दु:खी होते हैं, अत: फिर तो सारा संसार दु:खी ही होना चाहिए, क्योंकि किसी व्यक्ति के सारे शरीर में रोग फैला हुआ हो और मात्र एक अंगुली ही रोग मुक्त रही हो, तो भी उसका सारा शरीर रोग युक्त ही कहा जाता है।[1] अत: संसार के अधिक भाग के जीव दु:खग्रस्त होने से सभी जीव दु:खी प्रतीत होने चाहिएं, परन्तु व्यवहार में ऐसा नहीं देखा जाता। एक के सुखी होने पर या मुक्त होने पर न दूसरा सुखी या मुक्त होता है और न एक के दु:खी होने पर दूसरा दु:खी ही होता है। इससे

1. विशेषावश्यक भाष्य गाथा 1581 से 1584 तक।

यह स्पष्ट हो जाता है कि जगत के सभी जीव एक नहीं, अनेक हैं, स्वतन्त्र हैं।

प्रश्न–जैन दर्शन जीवों को अनेक मानता है, परन्तु स्थानांग सूत्र में 'एगे आया' अर्थात् आत्मा एक है, ऐसा माना है। एक जगह आत्मा को एक मानना और दूसरी जगह अनेक मानना, क्या यह इस बात का प्रतीक नहीं कि जैनागमों में भी आत्मा के सम्बन्ध में एक मान्यता नहीं है।

उत्तर–जैनों की मान्यता एक रूप ही है, उसमें विरोध जैसी कोई बात नहीं है। आत्मा को जो एक और अनेक माना गया है उसमें केवल अपेक्षाभेद है, सैद्धान्तिक भेद या विरोध नहीं है। सिद्ध और संसारी सभी आत्माएं असंख्यात् प्रदेशी हैं और सबका उपयोग लक्षण है। अत: समान गुण की अपेक्षा से उन्हें एक कहा है और वह भी समान स्वरूप की अपेक्षा से, न कि व्यक्ति की अपेक्षा से। यह हम पहले ही स्पष्ट कर चुके हैं कि जीव का उपयोग लक्षण सामान्य रूप से एक है, परन्तु विशेष दृष्टि से सब जीवों का उपयोग लक्षण उत्कर्ष एवं अपकर्ष की अपेक्षा से अनेक प्रकार का है, अत: जैनों द्वारा मान्य एक एवं अनेक आत्मा के सिद्धान्त में कोई विरोध नहीं है। स्वरूप में समानता होने पर भी सबकी अनुभूति पृथक्-पृथक् है। अत: जैनों का 'एगे आया' का सूत्र अनेक जीववाद को भी परिपुष्ट करता है।

यह प्रश्न होना स्वाभाविक है कि यदि जीवों को एक नहीं अनेक मानेंगे, तो फिर यह भी मानना होगा कि संसार एक दिन जीव रहित हो जाएगा। क्योंकि जीव अनादि काल से मोक्ष जाते रहे हैं, अभी भी जाते हैं और भविष्य में भी जाते रहेंगे। इससे एक दिन ऐसा भी आ सकता है कि सारे जीव मुक्ति में चले जाएं और दुनिया खाली हो जाए।

इसका समाधान यह है कि संसार में जीव अनन्त हैं और अनन्त संख्या का अर्थ ही यह है कि उसका कभी अन्त नहीं होता। अनन्त में से अनन्त घटाने पर भी वह अनन्त ही रहता है। जैसे उदाहरण के तौर पर प्याज के छोटे-छोटे टुकड़े को लेते हैं, उसमें असंख्यात गोले हैं, प्रत्येक गोले में असंख्यात पर्त हैं, प्रत्येक पर्त में संख्यात शरीर हैं और प्रत्येक शरीर में अनन्त जीव हैं। यह एक प्याज के टुकड़े की बात है। इस तरह पूरे प्याज में भी अनन्त जीव हैं और पूरे प्याज में ही नहीं समस्त निगोद योनि के जीव भी अनन्त हैं। परन्तु सभी अनन्त आपस में तरतम भाव वाले हैं। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि अनन्त का कभी अन्त नहीं आता। अनन्त काल तक अनन्त जीव मोक्ष जाते रहेंगे, फिर भी संसार के जीव अनन्त ही रहेंगे। गणित ने इस बात को और स्पष्ट कर दिया है। दशमलव के तरीके से आप एक अंक में से

$\frac{1}{10}, \frac{1}{100}, \frac{1}{1000}$ ... ... आदि संख्याओं को हजारों, लाखों, करोड़ों वर्षों तक घटाते रहें, फिर भी एक का अंक समाप्त नहीं होता। यह बात गणित का विद्यार्थी भली-भांति जानता है, फिर भी सर्व साधारण की समझ में सरलता से आ जाए, इसलिए हम यहां गणित का एक उदाहरण भी दे देते हैं।

हम एक (Unity) का दसवां भाग लेवें, फिर $\frac{1}{100}$, फिर $\frac{1}{1000}$ और इसी प्रकार $\frac{1}{10000}$ आदि आप अपनी इच्छानुसार भाग ले सकते हैं। हजारों वर्षों तक एक को उक्त भागों में विभक्त कर सकते हैं। एक में से आप सब रकमों (Terms) को घटाते (Subtract) चले जाएं तब भी एक (Unity) समाप्त नहीं होगा अर्थात् कभी भी शून्य (Zero) नहीं आएगा। यह पद्धति इस प्रकार है –

$$1 - \left(\frac{1}{10} + \frac{1}{100} + \frac{1}{1000} + \frac{1}{10000} + \dots \text{Infinity times}\right)$$

$$\therefore 1 - \left(\frac{1}{10} + \frac{1}{10^2} + \frac{1}{10^3} + \frac{1}{10^4} + \dots \dots \infty \text{ times}\right)$$

क्योंकि $\frac{1}{100} = \frac{1}{10^2}, \frac{1}{1000} = \frac{1}{10^3}, \frac{1}{10000} = \frac{1}{10^4}$ और ∞ का अर्थ है अधिक से भी अधिक (Infinity)। इनको हम Terms in the Geometrical Progression or in short G. P. series कहते हैं। आप F.A. (Intermediate Standard) की Algebra की पुस्तक में G. P. series to infinity का sum देख सकते हैं, इसका Formula (हल करने का तरीका) इस प्रकार है –

$$\text{ɿ}\,\infty = \frac{a}{1-r}$$

Where ɿ ∞ = sum to infinity (सारे भागों का जोड़)

a = G. P. series में पहली रकम

r = Common ratio of any two successive terms of the G. P. series.

परन्तु यहां a = पहली रकम = $\frac{1}{10}$

$r = \text{Common ratio} = \frac{1}{10}$

$$\text{इसलिए} \quad \ell \infty = \frac{a}{1-r} = \frac{\frac{1}{10}}{\frac{1}{1-10}} = \frac{\frac{1}{10}}{\frac{10-1}{10}} = \frac{\frac{1}{10}}{\frac{9}{10}}$$

$$= \frac{1}{10} \div \frac{9}{10} = \frac{1}{10} \times \frac{10}{9} = \frac{1}{9}$$

$$\text{परन्तु हमें चाहिए} \quad 1 - \left[\frac{1}{10} + \frac{1}{10^2} + \frac{1}{10^3} + \cdots\cdots\right] \text{ या } 1 - \ell \infty$$

$$\text{क्योंकि} \quad \ell \infty = \frac{1}{10} + \frac{1}{10^2} + \frac{1}{10^3} \quad \text{या} \quad 1 - \frac{1}{9}$$

$$\text{क्योंकि} \quad \ell \infty = \frac{1}{9} \quad \text{ऊपर देखें और} \quad 1 - \frac{1}{9} = \frac{8}{9}$$

इससे यह स्पष्ट हो गया एक (Unity) में से उपरोक्त हिस्से घटाते रहने पर भी एक की संख्या समाप्त नहीं होती है। भले ही उसमें से infinity (अनन्त) बार ही क्यों न Subtract कर दिया जाए। अस्तु हम ऐसा कह सकते हैं कि एक में से थोड़ा-थोड़ा करके हजारों वर्षों तक घटाते रहने पर भी एक समाप्त नहीं होता।[1] इसी तरह अनन्त भी एक ऐसी संख्या है कि उसमें से अनन्त निकाल लेने पर भी उसका अन्त नहीं आता। अत: जीवों को अनन्त मान लेने से कोई दोष नहीं आता। इसलिए अनुभव से यह सिद्ध हो गया है कि जीव एक नहीं, अनन्त ही हैं।

आत्मा का परिमाण

आत्मा के आकार के संबंध में उपनिषदों में अनेक कल्पनाएं दिखाई देती हैं। इन सब

1. आदरणीय प्रोफेसर श्री के. वी. चावला, M A , Malwa Engineering College, Sanewal (Ludhiana) के सौजन्य से।

परिकल्पनाओं के बाद सभी ऋषियों का झुकाव जीव को व्यापक मानने की ओर रहा है। इस तरह अधिकांश वैदिक दर्शन जीव को व्यापक मानने के पक्ष में हैं। रामानुजाचार्य आदि कुछ विचारक जिन्होंने आचार्य शंकर के बाद ब्रह्मसूत्र की व्याख्या की है, उन्होंने ब्रह्म-आत्मा को व्यापक और जीव-आत्मा को अणु माना है। चार्वाक चैतन्य को देह-परिमाण मानता है और बौद्धों ने भी पुद्गल (आत्मा) को देह-परिमाण माना है। जैन तो आत्मा को देह-परिमाण मानते ही हैं। उपनिषदों में भी आत्मा को देह-परिमाण मानने का उल्लेख मिलता है। कौषीतकी उपनिषद् 4, 20 में कहा है कि जिस तरह म्यान में तलवार व्याप्त है, उसी तरह आत्मा शरीर में नख से लेकर चोटी तक व्याप्त है। इसी तरह तैत्तिरीय उपनिषद् में अन्नमय, प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय और आनन्दमय ये सब आत्मा शरीर प्रमाण बताए हैं।

आत्मा को शरीर से सूक्ष्म मानने वाले मत भी हैं। कुछ विचारकों का मानना था कि आत्मा चावल या जव (यव--जौ) के दाने जितना बड़ा है।[1] कुछ का कहना था कि वह अंगुष्ठ परिमाण है।[2] कुछ की दृष्टि में यह आया कि वह बेंत जितना बड़ा है।[3] कुछ चिन्तक उसे अणु से भी अणु मानने लगे[4]। और आखिर में जब यह माना जाने लगा कि आत्मा अवर्णनीय है, तब ऋषियों ने उसे "अणोरणीयान महतो महीयान" कह कर सन्तोष माना।[5]

जैनों ने संसार में स्थित आत्मा को देह-परिमाण मानने के साथ-साथ उसे व्यापक भी माना है। यों तो आत्मा देह-परिमाण ही है, परन्तु केवलज्ञान की अपेक्षा से उसे व्यापक माना है। जिस समय केवली समुद्घात करता है उस समय वह अपने आत्म प्रदेशों को सम्पूर्ण लोकाकाश में फैला देता है। अस्तु इस दृष्टि से आत्मा व्यापक भी है, अन्यथा आत्मा देह-परिमाण ही है।

जीव को सर्वव्यापक न मानकर देह-व्यापक मानने का कारण यह है कि उसके गुण शरीर में ही प्रत्यक्ष देखे जाते हैं। जिस प्रकार घट के गुण घट से बाहर न होने से वह सर्वव्यापी नहीं माना जाता, उसी तरह आत्मा के गुण भी शरीर से बाहर परिलक्षित नहीं होते हैं, इस कारण वह देह से बाहर नहीं माना जा सकता। क्योंकि जहां जिस वस्तु की अनुपलब्धि होती

1. बृहदा० 5, 6, 1
2. कठो० 2, 2, 12
3. छान्दो० 5, 18
4. मैत्रेयी उपनिषद् 6, 38
5. कठो० 1, 2, 20

है, वहां वह पदार्थ नहीं माना जाता है। जैसे पट को घट रूप नहीं माना जा सकता, क्योंकि वहां घटत्व की अनुपलब्धि है। इसी प्रकार देह के बाहर आत्मा नहीं पायी जाती, क्योंकि वहां आत्मत्व की अनुपलब्धि है। किसी भी प्रमाण से आत्मा के गुण देह के बाहर दिखायी नहीं देते, इसलिए उसे सर्वव्यापक मानना उपयुक्त नहीं है। इसके अतिरिक्त जीव का कर्तृत्व, भोक्तृत्व, बन्ध, मोक्ष, सुख-दु:ख आदि सब उसमें तभी घटित हो सकते हैं, जबकि उसे असर्वगत–देहव्यापी और अनेक माना जाए।[1]

आत्मा अणु या चावल या जौ के दाने या अंगुष्ठ या बेंत परिमाण भी नहीं है। यदि आत्मा अणुरूप है, तो वह सारे शरीर में नहीं रहकर शरीर के किसी एक खास विभाग में रहेगा। इससे वह शरीर के किसी भी भाग में होने वाली सुख-दु:खानुभूति को नहीं कर सकेगा। क्योंकि यह हम प्रत्यक्ष में देखते हैं कि शरीर के किसी अंग में लकवा आदि बीमारी होने से चेतना विलुप्त हो जाती है, तो उस अंग में ठण्डे या गर्म किसी भी तरह के स्पर्श की या सुई चुभाने पर उसकी वेदना की अनुभूति नहीं होती है। उसी तरह यदि आत्मा अणुरूप है तो वह शरीर के जिस भाग में है, उसे छोड़कर अन्य भाग में किसी तरह के स्पर्श आदि की अनुभूति नहीं होनी चाहिए। परन्तु शरीर के हर भाग में स्पर्श आदि की अनुभूति होती है। इससे स्पष्ट है कि आत्मा अणुरूप नहीं, बल्कि शरीर-परिमाण है, शरीर के चप्पे-चप्पे में व्याप्त है।

चावल, जौ, अंगुष्ठ या बेंत परिमाण माना जाए तो मनुष्य आदि कई बड़े शरीरधारी प्राणियों के पूरे शरीर में व्याप्त न होकर उसके एक भाग में ही प्राप्त होगी। इससे उसमें उपरोक्त दोष आएगा। और सूक्ष्म छोटे जीवों के शरीर में समा नहीं सकने से वह शरीर के बाहर रहेगी और यह अनुभव के विरुद्ध है। क्योंकि आत्मा के गुण शरीर के बाहर उपलब्ध नहीं होते। अत: आत्मा को सर्वव्यापक एवं अणु आदि परिमाण मानना अनुभव एवं प्रत्यक्ष आदि सभी प्रमाणों से विरुद्ध है।

शुद्ध आत्मा का इन्द्रियगोचर कोई आकार नहीं है, क्योंकि वह अरूपी है। परन्तु कर्मों के साथ सम्बद्ध होने से उसे जिस तरह का साधन मिलता है, उसमें अपने आत्म-प्रदेशों को फैला देती है। जैसे–एक दीपक अपने प्रकाश से पूरे कमरे को जगमगा देता है, परन्तु जब उसी दीपक को छोटी-सी कटोरी के नीचे रखा जाता है, तो वह उतने से स्थान को ही प्रकाशित

---

1 विशेषावश्यकभाष्य, 1585-1587.

कर पाता है। जैसे–दीपक का प्रकाश साधन के अनुसार थोड़े एवं विस्तृत भाग में फैलता रहता है इसी तरह आत्म-प्रदेश भी स्वभाव से संकोच-विस्तार वाले होते हैं। इसलिए उन्हें जैसा साधन मिलता है, उसी के अनुरूप फैल एवं सिकुड़ जाते हैं। अस्तु संसारी आत्मा शरीरव्यापी है, ऐसा मानना चाहिए।

आत्मा-जीव नित्यानित्य है

सांख्य का कूटस्थवाद

आत्मा अर्थात् जीव को नित्य माना जाए या अनित्य, इस सम्बन्ध में दार्शनिकों में काफी मतभेद है। भूतवादी तो आत्मा–चेतना को अनित्य मानते ही हैं। क्योंकि वे शरीर को ही आत्मा मानते हैं, अत: शरीर के नाश के साथ आत्मा का भी विनाश हो जाता है। परन्तु जो दार्शनिक भूतों एवं शरीर से आत्मा को अतिरिक्त मानते हैं, उनमें भी नित्यानित्यत्व के सम्बन्ध में विभिन्न मान्यताएं हैं।

सांख्यदर्शन आत्मा को कूटस्थ[1] नित्य मानता है जबकि सांख्यदर्शन परिणामवादी है। वह प्रकृति को परिणामी मानता है, परन्तु आत्मा को अपरिणामी ही मानता है। वह आत्मा में किसी भी तरह की परिणति नहीं मानता। उसका कहना है कि आत्मा सदा शुद्ध–बुद्ध एवं उज्ज्वल है, उसमें किसी तरह का विकार पैदा नहीं होता। यहां तक कि मोक्ष भी आत्मा का नहीं, प्रकृति का होता है।[2] क्योंकि सुख-दु:ख, ज्ञान आदि पुरुष (आत्मा) के धर्म नहीं, प्रकृति के धर्म हैं।[3] इस तरह सांख्यदर्शन ने आत्मा को कर्त्ता तो नहीं माना, पर उसे भोक्ता अवश्य माना है।[4] परन्तु इस भोग को लेकर आत्मा में परिणामित्व घटित हो जाने की संभावना होने से कुछ सांख्य विचारकों ने भोग को भी आत्मा का धर्म स्वीकार करने से इन्कार कर दिया।[5] इस तरह उन्होंने आत्मा के कूटस्थ-नित्यवाद को पूर्ण सुरक्षित रखने का प्रयत्न किया।

नैयायिक-वैशेषिकों का नित्यवाद

नैयायिक-वैशेषिक द्रव्य और गुण को भिन्न मानते हैं। वे सुख–दु:ख, ज्ञान आदि गुणों

---

1. सबसे ऊपर अवस्थित, जो सदा एक रूप में स्थित रहे, अपरिणामी–परिणाम से रहित।
2. सांख्यकारिका 62.
3. सांख्यकारिका 10.
4. सांख्यकारिका 17.
5. सांख्यकारिका 17.

को आत्मा में मानते हैं और उन सब गुणों को अनित्य मानते हैं। परन्तु उन ज्ञानादि गुणों की अनित्यता के कारण आत्मा की अनित्यता उन्हें स्वीकार नहीं है। उनकी दृष्टि से आत्मा नित्य ही है। जैन दर्शन ज्ञानादि गुणों को आत्मा से अभिन्न मानता है और उनकी पर्यायों की अनित्यता की अपेक्षा से आत्मा को भी अनित्य मानता है।

बौद्धों का अनित्यवाद

तथागत बुद्ध ने पुद्गल--जीव को एकान्त अनित्य माना है। प्रत्येक समय में विज्ञान आदि चित्क्षण नए-नए उत्पन्न होते हैं, और ये अभिनव विज्ञानक्षण उस पुद्गल से सर्वथा भिन्न नहीं हैं। इस तरह पुद्गल--जीव उन की दृष्टि से नित्य नहीं है, परन्तु उसकी सन्तति अनादि काल से चली आ रही है और आगे भी प्रवहमान रहेगी। इस तरह द्रव्य रूप से नित्यता तो नहीं परन्तु सन्तति-नित्यता तो बौद्धों को भी अभीष्ट है, मान्य है। कार्य-कारण की परम्परा को सन्तति कहते हैं। यह परम्परा कभी विशृंखलित नहीं हुई और भविष्य में भी नहीं होने वाली है। कुछ बौद्ध चिन्तकों की दृष्टि में निर्वाण-मुक्ति के समय यह परम्परा समाप्त हो जाती है, परन्तु कुछ विचारकों का मानना है कि निर्वाण दशा में भी विशुद्ध चित्त की परम्परा विद्यमान रहती है। इस अपेक्षा से ऐसा लगता है कि सन्तति-नित्यता बौद्धों को भी मान्य है।

वेदान्त का परिणामी-नित्यवाद

वेदान्त में ब्रह्म को एकान्त नित्य माना है। जीव के सम्बन्ध में व्याख्याकारों में कुछ विचार-भेद है। आचार्य शंकर ब्रह्म को सत्य और जीवात्मा को मिथ्या, माया मानते हैं। वह मायिक होते हुए भी अनादिकालीन अज्ञान के कारण अनादि तो है, परन्तु नित्य नहीं है। क्योंकि अज्ञान का नाश होते ही वह जीवात्मा ब्रह्म रूप में लीन हो जाता है और उसके जीव भाव का नाश हो जाता है। इससे ऐसा लगता है कि मायिक जीव ब्रह्म रूप से नित्य है और माया रूप से अनित्य है।

आचार्य शंकर के अतिरिक्त वेदान्त के सभी व्याख्याकार जीवात्मा को ब्रह्म का परिणाम मानते हैं। इस दृष्टि से भी जीवात्मा को परिणामी-नित्य मानना चाहिए। जैन और मीमांसक भी जीव को परिणामी-नित्य मानते हैं। वेदान्त और इनके परिणामी-नित्यवाद में अन्तर यह है कि जैन और मीमांसक के मत में जीव स्वतन्त्र है और उसमें परिणमन होता रहता है, परन्तु वेदान्तियों की दृष्टि से जीव स्वतन्त्र नहीं बल्कि ब्रह्म का ही अंश है, अत: उसमें जीव और ब्रह्म की अपेक्षा से परिणामित्व समझना चाहिए।

कुछ दार्शनिकों ने आत्मा को एकान्त नित्य माना है, तो कुछ ने एकान्त अनित्य। नित्य या अनित्य मानने वालों ने भी नरक-स्वर्ग, मोक्ष आदि की कल्पना की है। अत: यदि आत्मा को एकान्त नित्य मानते हैं, तो उनमें सर्वथा एकरूपता आ जाएगी, भेद जैसी कोई बात रह ही नहीं जाएगी। इससे लोक-परलोक, स्वर्ग-नरक एवं मोक्ष की व्यवस्था घट नहीं सकेगी और एकान्त अनित्य मानने पर एकरूपता का सर्वथा नाश हो जाएगा, भेद ही भेद अवशेष रह जाएगा। दोनों अवस्थाओं में आत्मा में कृतकारित्व घट नहीं सकेगा, लोक-परलोक की व्यवस्था भी बैठ नहीं सकेगी। अत: जीव को एकान्त नित्य मानना भी दोषयुक्त है और एकान्त अनित्य मानना भी दोषयुक्त है। अत: जैनों ने जीव (आत्मा) को नित्यानित्य माना है। आत्म द्रव्य की अपेक्षा से वह नित्य है। क्योंकि अनात्म तत्त्वों से आत्मा का निर्माण नहीं होता है तथा आत्मा अपने स्वरूप का परित्याग करके कभी भी अनात्मा नहीं बनती। आत्मा में ज्ञानादि गुण भी अभेद रूप से हैं और उन ज्ञानादि की पर्यायों में प्रतिक्षण परिवर्तन होता रहता है। पुरातन पर्यायों का नाश होता है और नई पर्यायों का उत्पाद होता है, इस दृष्टि से आत्मा अनित्य भी है। क्योंकि वे बदलने वाली पर्याएं आत्मा से अभिन्न हैं। अत: अपेक्षाकृत आत्मा नित्य भी है और अनित्य भी है। वह न तो सांख्य की तरह कूटस्थनित्य है और न बौद्धों की मान्यतानुसार एकान्त अनित्य है। यह सत्य है कि उसकी पर्यायों में परिवर्तन होता है। वह परिवर्तन द्रव्य की नित्यता को सुरक्षित रखते हुए होता है। अत: आत्मा परिणामी-नित्य है अर्थात् नित्यानित्य है। मीमांसक दर्शन के प्रमुख विचारक कुमारिलभट्ट को भी यह परिणामी-नित्यवाद स्वीकार है।[1]

आत्मा का कर्तृत्व और भोक्तृत्ववाद

आत्मा कर्ता एवं भोक्ता है या नहीं, इस सम्बन्ध में सभी दार्शनिक एकमत नहीं हैं। उपनिषदों में आत्मा का कर्तृत्व और भोक्तृत्व दोनों उपलब्ध होते हैं। वहां जीव को फल-प्राप्ति के लिए कर्म का कर्त्ता और उस कृत कर्म का भोक्ता भी कहा है[2], और यह भी माना है कि जीव न स्त्री है, न पुरुष है और न नपुंसक है। परन्तु अपने कर्म के अनुसार जिस-जिस योनि के शरीर को धारण करता है, वह उसके साथ सम्बद्ध हो जाता है और संकल्प, विषयों का स्पर्श, दृष्टि और मोह तथा इसी तरह अन्न-जल आदि से शरीर की उत्पत्ति एवं अभिवृद्धि

1. तत्त्वसंग्रह, कारिका 223-227.
2. श्वेताश्वतर, 5, 7

होती है। शरीर-युक्त जीव स्वकर्म के अनुसार विभिन्न स्थानों में परिभ्रमण करता है और कर्म के कारण ही प्रत्येक जन्म में वह शरीर की अपेक्षा से भिन्न परिलक्षित होता है।[1] बृहदारण्यक में भी कहा है कि अच्छा कार्य करने वाला अच्छा और बुरा कार्य करने वाला बुरा होता है। "**पुण्यो वै पुण्येन कर्मणा भवति पापः पापेन।**"[2] इस तरह जीव को कर्ता एवं भोक्ता मानते हुए भी उपनिषत्कार ब्रह्म को—यह जीव जिसका अंश है—अकर्ता एवं अभोक्ता ही मानते हैं, वह केवल अपनी लीला का दर्शक है, इसके अतिरिक्त वह कुछ नहीं है।[3]

दार्शनिकों की मान्यता

सांख्य पुरुष को अकर्ता मानता है। वह ब्रह्म को नहीं मानता है। अतः निरीश्वरवादी सांख्य ने ब्रह्म के समान पुरुष को भी अकर्ता माना है। उसकी मान्यता है कि सुख-दुःख, स्वर्ग-नरक, पुण्य-पाप आदि कर्म पुरुष के नहीं होते हैं। यहां तक कि मोक्ष भी पुरुष का नहीं होता है। बन्ध-मोक्ष आदि सभी कार्य प्रकृति के होते हैं। वह पुरुष में कर्तृत्व मानने से सर्वथा इन्कार करता है, परन्तु पुरुष में भोक्तृत्व तो वह भी मानता है। कुछ सांख्य विचारक पुरुष में भोग भी नहीं मानते। क्योंकि भोग मानने से फिर उसमें एकान्त नित्यता नहीं रह जाएगी। इसलिए वे पुरुष-आत्मा को कर्ता एवं भोक्ता न मानकर, मात्र द्रष्टा ही मानते हैं।

नैयायिक-वैशेषिक ने आत्मा में कर्तृत्व और भोक्तृत्व दोनों माने हैं। वे आत्मा को एकान्त नित्य मानते हुए भी कर्म का कर्ता और कर्मजन्य फल का भोक्ता मानते हैं, यहां तक कि परमात्मा में भी कर्तृत्व मानते हैं। क्योंकि वह जगत का कर्ता है।

यहां यह प्रश्न उठना स्वाभाविक ही है कि नैयायिक-वैशेषिक आत्मा को नित्य मानते हैं। अतः इनके मत में आत्मा कर्ता एवं भोक्ता दोनों कैसे हो सकती है? यदि वह कर्ता है, तो सदा-सर्वदा कर्ता ही बनी रहेगी और भोक्ता है, तो वह सदा के लिए भोक्ता ही बनी रहेगी। कर्ता के बाद भोक्ता या भोक्ता के बाद कर्ता दोनों कैसे हो सकती है? यदि उसमें एक के बाद दूसरा रूप या धर्म पाया जाएगा, तो फिर वह एकान्त नित्य न रहकर परिणामी हो जाएगी? फिर उसमें अनित्यता भी आ जाएगी? इस शंका का समाधान इस प्रकार किया गया है—आत्म द्रव्य नित्य है, फिर भी ज्ञान, चिकीर्षा और प्रयत्न आदि जो समवाय हैं, वह कर्तृत्व है अर्थात्

1. श्वेताश्वतर, 5, 10-12.
2. बृहदा० 3, 2, 13.
3. मैत्रायणी, 2, 10, 11.

आत्मा में ज्ञानादि का समवाय सम्बन्ध होना यही आत्मा का कर्तृत्व है।[1] क्योंकि आत्मा में जो ज्ञान का सम्बन्ध होता है, वह उससे अलग भी हो जाता है। कारण कि ज्ञान स्वयं उत्पन्न भी होता है और विनाश को भी प्राप्त हो जाता है। इसी तरह सुख-दु:ख के संवेदन का जो समवाय है, वह आत्मा का भोक्तृत्व है।[2] यह संवेदन या सुख-दु:ख का अनुभव भी ज्ञानरूप होने से यह भी आत्मा में स्वभावत: विनष्ट होता है। इतना होने पर भी आत्मा स्वयं विकृत नहीं होता। क्योंकि उत्पत्ति और विनाश अनुभव के होते हैं, आत्मा के नहीं। मात्र समवाय सम्बन्ध होने से आत्मा को भोक्ता कहते हैं, परन्तु इतना मानने मात्र से उसमें कर्तृत्व नहीं आ जाता है। क्योंकि उस सम्बन्ध के छूट जाने के बाद वह भोक्ता नहीं रह जाता है। इनकी दृष्टि में द्रव्य और गुण में भेद है। अत: गुण में परिवर्तन होने पर भी द्रव्य में परिवर्तन नहीं होता है। परन्तु आत्मा को परिणामी-नित्य मानने वाले जैनों की दृष्टि से आत्मा की ज्ञानादि पर्यायों में सदा एकरूपता नहीं रहती। वही आत्मा कर्ता रूप से परिणत होकर भोक्तारूप से भी परिणत होता है। दोनों परिणतियां भिन्न होते हुए भी, दोनों अवस्थाओं में आत्मा का अस्तित्व है। अत: परिणति होने मात्र से आत्म द्रव्य में एकान्त अनित्यता नहीं आ जाती। आत्मा का मूल रूप परिवर्तनीय सभी अवस्थाओं में सुरक्षित रहता है। परन्तु ज्ञानादि पर्यायें भी आत्मा से अभिन्न हैं, इसलिए पर्याय परिवर्तन की अपेक्षा से आत्मा को अनित्य भी मानते हैं। नैयायिक-वैशेषिक ज्ञानादि पर्यायों को आत्मा से भिन्न मानते हैं, परन्तु यह मान्यता बुद्धिगम्य नहीं कही जा सकती। यह सत्य है कि गुण और गुणी दो हैं, परन्तु यह भी सत्य है कि गुण गुणी से अभिन्न भी है। अत: गुणों में होने वाला परिवर्तन गुणी में भी मानना चाहिए। इस दृष्टि से आत्मा एकान्त नित्य नहीं, बल्कि परिणामी नित्य ही सिद्ध होता है।

बौद्ध भी पुद्गल-आत्मा को कर्ता और भोक्ता मानते हैं। उनके सिद्धांतानुसार नाम-रूप का समुदाय पुद्गल-आत्मा है। एक नाम-रूप से दूसरा नाम-रूप उत्पन्न होता है। जिस नाम-रूप ने कर्म किया है वह तो नष्ट हो जाता है, परन्तु जो दूसरा नाम-रूप उत्पन्न होता है वह पूर्वकृत कर्म का भोक्ता है। इस प्रकार सन्तति की अपेक्षा से पुद्गल-आत्मा में कर्तृत्व और भोक्तृत्व दोनों पाए जाते हैं। इस सम्बन्ध में बौद्धों की यह कारिका सुप्रसिद्ध है –

---

1. ज्ञानचिकीर्षाप्रयत्नानां समवाय: कर्तृत्वम्। –न्यायवार्तिक, 3, 1, 6.
2. सुख-दु:ख संवित्समवायो भोक्तृत्वम्। न्यायवार्तिक, 3, 1, 1.

"यस्मिन्नेव हि सन्तानो आहिता कर्मवासना,
फलं तत्रैव सन्धत्ते कर्पासे रक्तता यथा।"[1]

जिस सन्तान में कर्मवासना मानी है, उसी सन्तान में कपास की रक्ततावत् फल भी उपलब्ध होता है।

धम्मपद में भी इस बात को स्वीकार किया गया है कि आत्मा ने स्वयं पाप किया है और वह आत्मा से ही उत्पन्न हुआ है।[2] और जो पाप करता है, उसे उस कटुक फल को भोगना ही पड़ता है।[3] इस संसार में ऐसा कोई स्थान नहीं है, जहां पहुंचकर मनुष्य कृत-पाप के फल को बिना भोगे ही छूट जाए अर्थात् मनुष्य दुनिया के किसी भी भाग में चला जाए, फिर भी उसे पाप का फल अवश्य भोगना होता है।[4] बुद्ध ने एक जगह अपने विषय में भी कहा है कि आज से 91 कल्प पहले मैंने अपनी ताकत से एक पुरुष को मारा था और उसी कर्मविपाक के परिणामस्वरूप मेरे पैर में कांटा चुभा है। इससे स्पष्ट है कि बौद्ध आत्मा में कर्तृत्व और भोक्तृत्व दोनों मानते हैं। वे पुद्गल-आत्मा को भले ही अनित्य कहें, परन्तु संतति की दृष्टि से उसे नित्य माने बिना उनका भी काम नहीं चलता। इतने लम्बे विवेचन के बाद हम इस निर्णय पर पहुंचे कि सबको घूम-फिरकर परिणामी नित्यवाद पर ही आना पड़ता है। भले ही वे उसे शब्दों में मानें या न मानें।

जैनों ने तो आत्मा में कर्तृत्व और भोक्तृत्व स्पष्ट रूप से माना है। आगमों में कहा गया है कि आत्मा अनेक तरह के कर्म करता है।[5] कर्म से ही जीव नरक, स्वर्ग, असुर आदि योनियों को प्राप्त करता है, और कर्म के संसर्ग से वह अनेक दु:ख एवं वेदना को वेदता है।[6] कृतकर्म को भोगे बिना मुक्ति नहीं हो सकती।[7] कर्म, करने वाले (कर्ता) का अनुगमन करता है।[8] आत्मा ही कर्म का कर्ता है और वही उनका नाश करने वाला है।[9] इस तरह अनेक वाक्यों से

1. स्याद्वाद मंजरी में उद्धृत, कारिका 18.
2. अत्तना व कतं पापं अत्तजं अत्तसंभवं। —धम्मपद, 161.
3. करोन्तो पापकं कम्मं यं होती कटुकंफलं। —धम्मपद, 66.
4. न अन्तलिक्खे, न समुद्दमज्झे, न पब्बतानं विवरं पविस्सं,
न विज्जती सो जगतिप्पदेसो यत्थट्ठितो मुञ्चेय पापकम्मा। —धम्मपद 127.
5. कम्मा णाणाविहा कट्टु। —उत्तरा० 3, 2.
6. उत्तरा० 3, 3; 3, 6.
7. कडाण कम्माण न मोक्ख अत्थि। —उत्तरा० 13, 10.
8. उत्तरा० 13, 23.
9. उत्तरा० 20, 37.

आत्मा को कर्म का कर्ता और भोक्ता सिद्ध किया है। जिस तरह उपनिषद् में जीवात्मा को कर्म का कर्ता और भोक्ता कहने पर भी परमात्मा को उससे रहित माना है, उसी तरह आचार्य कुन्दकुन्द ने भी जीव को व्यवहार दृष्टि से कर्ता और भोक्ता माना है, निश्चय दृष्टि से नहीं, अर्थात् हम यों कह सकते हैं कि संसारी जीव कर्ता और भोक्ता है, परन्तु सिद्ध जीव कर्म के कर्तृत्व और फल के भोक्तृत्व से रहित है।[1] क्योंकि वहां कर्मबन्ध का कारण कषाय और योग नहीं है, इसलिए वहां कर्तृत्व-भोक्तृत्व का अभाव है।

इस तरह हमने देखा कि अनेक विचारक आत्मा को अनेक तरह से मानते हैं। कुछ विचारक आत्मा को एकान्त भौतिक मानते हैं और कुछ अभौतिक। अभौतिक मानने वाले विचारकों में भी आत्मा के स्वरूप को मानने में एकरूपता नहीं है। कुछ विचारक आत्मा को एकान्त नित्य मानते हैं, कुछ एकान्त अनित्य मानते हैं, तो कुछ उसे परिणामी-नित्य या नित्यानित्य मानते हैं। जिसकी चर्चा हम ऊपर बहुत विस्तार से कर चुके हैं। सब विचारकों ने अपनी-अपनी मान्यता के अनुसार आत्मा में कर्तृत्व एवं भोक्तृत्व घटाने का प्रयत्न किया है। एक बात में हम सभी आस्तिक विचारकों को एकमत पाते हैं वह यह है कि सभी विचारक शुद्ध आत्मा अर्थात् निर्वाण अवस्था में आत्मा को कर्म का कर्ता एवं भोक्ता नहीं मानते हैं। इससे स्पष्ट परिलक्षित होता है कि सब दर्शनों का मूल उद्देश्य आत्मा को शुद्ध बनाने का रहा है।

जैन दर्शन का इस सम्बन्ध में अपना मौलिक चिन्तन है। यहां अधिक विस्तार में न जाकर, इतना ही कहना पर्याप्त होगा कि जहां अन्य दार्शनिक अपने-अपने पक्ष के समर्थन एवं दूसरे पक्ष का खण्डन तथा विरोध करने में अपनी सारी शक्ति लगा रहे थे, वहां जैन विचारक समन्वय की भावना लेकर सामने आए। उन्होंने अपने पक्ष को, अपने विचारों को सप्रमाण रखा और दूसरे पक्ष की कमजोरियों को भी दिखाने का प्रयास किया, परन्तु किसी विचार की उपेक्षा नहीं की। उन्होंने प्रत्येक पदार्थ को अनेक दृष्टि-बिन्दु से सोचा विचारा और दार्शनिकों में चल रहे विवाद को दूर करने का प्रयत्न किया। जैनों ने स्पष्ट शब्दों में कहा कि आत्मा को नित्य या अनित्य मानना अपेक्षा से सत्य है। जब तक इस मान्यता के साथ अपेक्षा लगी है, तब तक वह मान्यता सत्य है। क्योंकि वह भी एक दृष्टि है, जिसे जैन परिभाषा में नय कहते हैं। इसमें विचारक अपने विचारों की पुष्टि करता है, परन्तु साथ में दूसरे के दृष्टिबिन्दु की सर्वथा उपेक्षा नहीं करता। उसे अपना मन्तव्य रखने का अधिकार है, परन्तु दूसरे

1 समयसार, ९३-९४

पक्ष को एकान्त मिथ्या कहकर उसका तिरस्कार करना भी उचित नहीं है। जहां अपना मण्डन और दूसरे विचार की सर्वथा उपेक्षा या तिरस्कार किया जाता है, वहां दृष्टि में विकार आ जाता है, इसलिए उसे नय नहीं कहकर नयाभास कहा है। अस्तु जब दार्शनिकों की दृष्टि एकांगी बन गई, तब ही संघर्ष प्रारंभ हुए। अन्यथा संघर्ष जैसी कोई बात नहीं थी। विचार भेद से एक दूसरे में काफी अन्तर होने पर भी सभी भारतीय दर्शन आपस में मेल भी खाते हैं, वे एक दूसरे के सर्वथा विरोधी नहीं हैं। भक्त कवि आनन्दघन जी ने भी कहा है –

''षड् दर्शन जिन अंग भणीजे, न्यास षडंग जो साधे रे।
नमी जिणंद ना चरण उपासक, षड् दर्शन जो अराधे रे।।''

अस्तु जैनों का यह आग्रह रहा है कि किसी भी वस्तु को एकान्त दृष्टि से नहीं, अनेकान्त दृष्टि से देखना चाहिए। आत्मा के सम्बन्ध में भी उनका यही दृष्टि बिन्दु रहा है कि वह न एकान्त नित्य है और न एकान्त रूप से अनित्य। वह द्रव्य की दृष्टि से नित्य भी है और पर्याय की दृष्टि से अनित्य भी है। इस अपेक्षावाद को मान लेने पर सारे संघर्ष समाप्त हो जाते हैं। वैज्ञानिक दृष्टि भी यही कहती है कि प्रत्येक वस्तु को अपेक्षा से समझना चाहिए, क्योंकि दुनिया में सभी पदार्थ सापेक्ष हैं।

इतनी विस्तृत विचार-चर्चा के बाद हम यह स्पष्ट रूप से देख चुके हैं कि आत्मा शरीर से भिन्न है, असंख्यात प्रदेशी है और व्यक्तिशः अनन्त है। जैनागमों में जीवों की गति एवं जाति (एकेन्द्रियादि) की दृष्टि से विभाजन करते हुए लिखा है –

जीव के मूल भेद दो हैं–1. सिद्ध और 2. संसारी।[1] जो जीव कर्म बन्धन से आबद्ध हैं, जन्म, जरा और मृत्यु के प्रवाह में प्रवहमान हैं, एक गति से दूसरी गति में परिभ्रमण करते हैं, वे संसारी जीव हैं, और जो इनसे मुक्त-उन्मुक्त हो चुके हैं, कर्म एवं कर्मजन्य शरीर आदि आवरणों को हटा चुके हैं, वे सिद्ध हैं। सिद्ध भगवान् के सिर्फ शुद्ध आत्मा होती है। सिद्धशिला में स्थित अनन्त जीवों में किसी तरह का भेद नहीं होता, सभी समान गुण-धर्म वाले होते हैं। संसारी जीवों में कर्मजन्य अनेक भेद-प्रभेद पाए जाते हैं। संसारी जीव के भी मुख्य रूप से दो भेद हैं–1. त्रस और 2. स्थावर। त्रस वह है, जो त्रास-दुःख से बचने के लिए सुख के स्थान पर आ-जा सके और स्थावर वह है, जो एक स्थान पर स्थित रहे। त्रस जीवों के भी चार भेद हैं- 1. द्वीन्द्रिय, 2. त्रीन्द्रिय, 3. चतुरिन्द्रिय और 4. पञ्चेन्द्रिय। स्थावर जीवों के पांच

1. उत्तराध्ययन सूत्र 36, 49

भेद हैं– 1. पृथ्वीकाय, 2. अप्काय-जल, 3. तेजस्काय-अग्नि, 4. वायुकाय, 5. वनस्पतिकाय। उत्तराध्ययन सूत्र में अग्नि और वायु को त्रस काय में गिना है। यह सापेक्ष दृष्टि से समझना चाहिए। अग्नि और वायु की योनि स्थावर नामकर्म के उदय से प्राप्त होती है। अत: इस दृष्टि से ये स्थावर कहलाते हैं। परन्तु उक्त जीवों में एक स्थान से दूसरे स्थान में जाने की गति देखी जाती है। वायु एवं अग्नि की दशों दिशाओं में गति है, पहुंच है, इस अपेक्षा से इसे त्रस भी कहा गया है।[1] प्रश्न पूछा जा सकता है कि पानी भी गतिशील है, प्रवहमान है, फिर उसे त्रस में क्यों नहीं गिना गया? इसका कारण यह है कि पानी की अपनी गति नहीं है। उसमें द्रवत्व होने के कारण वह उस दिशा में बहता है, किन्तु नीचे से ऊपर की ओर बहने की उसकी अपनी शक्ति नहीं है, अत: उसे गति एवं नाम कर्म दोनों अपेक्षा से स्थावर माना है। इस तरह से पृथ्वी, पानी, अग्नि, हवा एवं वनस्पति ये पांचों स्थावर सजीव हैं, सचेतन हैं। आगम में इस बात को विस्तार से समझाया गया है कि पृथ्वी आदि योनि में सजीवता है, चैतन्य है। फिर भी कुछ लोगों को पृथ्वी आदि में जीवत्व है, इस पर विश्वास नहीं होता। उन लोगों का कहना है कि द्वीन्द्रिय आदि जीवों की चेतना व्यक्त है, स्पष्ट है। क्योंकि उन्हें सुख-दु:ख की अनुभूति होती है। परन्तु हमें पृथ्वी आदि एकेन्द्रिय जीवों में सुख-दु:खादि की अनुभूति होती हुई स्पष्ट नजर नहीं आती है, उन जीवों की चेतना व्यक्त रूप से परिलक्षित नहीं होती है। अत: उनमें जीव है, यह कैसे माना जाये?

किसी प्राणी–जीव में स्पष्ट रूप से अभिव्यक्ति होती है और किसी में स्पष्ट रूप से अभिव्यक्ति नहीं होती है। परन्तु इतने मात्र से हम उनमें जीवत्व से इन्कार नहीं कर सकते। क्योंकि एक ऐसा व्यक्ति जिसके आंख नहीं है, कान और नाक में सुनने-सूंघने की तथा जबान में बोलने की शक्ति नहीं है और उसके हाथ-पैर भी नहीं हैं या कट गए हैं, वह व्यक्ति न गति कर सकता है, न कोई हरकत कर सकता है और न बोलकर अपने विचारों को अभिव्यक्त ही कर सकता है, ऐसी स्थिति में हम उसे सजीव कहेंगे या निर्जीव? उत्तर स्पष्ट है–सजीव। अभिव्यक्ति न होते हुए भी वह व्यक्ति सजीव है, तो क्या कारण है कि पृथ्वी आदि जीवों में सजीवता को न माना जाए? केवल चेतना की अभिव्यक्ति न होने मात्र से हम किसी भी जीव को निर्जीव नहीं कह सकते हैं।

पानी और वनस्पति की सजीवता तो वैज्ञानिकों ने भी मान ली है। विज्ञानवेत्ताओं ने अपने प्रयोगों से प्रमाणित कर दिया है कि पानी की एक नन्हीं-सी बूंद में अनगिनत जीव हैं।

---

1. उत्तराध्ययन सूत्र, 36, 69-70

वनस्पति पर काफी प्रयोग हो चुके हैं। मनुष्य एवं पशु-पक्षियों की तरह उसे भी रोग के कीटाणु आ घेरते हैं और वनस्पति-चिकित्सक उसे औषधियों के द्वारा पुन: स्वस्थ करने या स्वस्थ रखने का प्रयत्न करते हैं। पानी एवं खाद के मिलने पर घास-फूस एवं पौधों में अभिवृद्धि भी होती है।

गौतम स्वामी के इस प्रश्न का–"वनस्पति के जीव आहार कैसे करते हैं?" उत्तर देते हुए भगवान् महावीर ने कहा कि "हे गौतम ! मूल में स्थित जीव मूल को स्पर्श किए हुए हैं और वे पृथ्वीकाय से भी प्रतिबद्ध हैं, इसलिए वे पृथ्वीकाय का आहार करते हैं और उसे अपने शरीर रूप में परिणमन करते हैं। इसी तरह कंद के जीव मूल से प्रतिबद्ध होने से उससे आहार ग्रहण करते हैं। इसी तरह स्कंध के जीव कंद से, शाखा के जीव स्कंध से और आगे प्रतिशाखा, पत्र, पुष्प, फल एवं बीज में स्थित जीव अपने पूर्व के जीवों से सम्बद्ध हैं और वे उसी क्रम से उनसे आहार ग्रहण करके उसे अपने शरीर रूप में परिणत करते हैं।"[1] रोग का होना तथा रोगी पौधे को निरोग करना एवं उसके योग्य खुराक मिलने से पौधों की अभिवृद्धि का होना, इस बात को प्रमाणित करता है कि उसमें जीवन है। ये सब चेतनता के, जीवन के लक्षण हैं। निर्जीव पदार्थ न कभी रोगी होते हैं, न उनके रोग का इलाज होता है और न उनमें अभिवृद्धि ही होती है। परन्तु, वनस्पति में यह सब होता है। इससे यह स्पष्ट होता है कि उसमें आत्मा-चेतना है।

वनस्पति में सजीवता की प्रतीक एक बात यह भी है–उक्त जीवों में क्रोध, ईर्ष्या, प्रसन्नता-अप्रसन्नता आदि विकार भी पाए जाते हैं। प्रसिद्ध वैज्ञानिक डॉ. जगदीश चन्द्र बोस ने अपनी प्रयोगशाला में वनस्पति पर प्रयोग करके तथा उसके बाद जनता के सामने उसका प्रदर्शन करके सारी दुनिया को यह दिखा दिया कि पेड़-पौधों में मनुष्य की तरह सुख-दु:ख में प्रसन्न एवं अप्रसन्न होने के विकारी भाव मौजूद हैं। और इस तरह के प्रयोग करके उन्होंने वैज्ञानिकों को वनस्पति में सजीवता मानने के लिए बाध्य कर दिया। उन्होंने वैज्ञानिक साधनों के द्वारा विज्ञानवेत्ताओं एवं जनता को स्पष्ट दिखा दिया कि वनस्पति में ईर्ष्या, क्रोध, प्रसन्नता, नाराजगी आदि विकारी भाव हैं। कुछ पेड़-पौधे ऐसे हैं कि उनकी तारीफ करने पर, उनकी प्रशंसा के पुल बांधने पर, वे खिल उठते हैं और निन्दा करने पर मुरझा जाते हैं। अशोक वृक्ष के लिए कहा जाता है कि वह कामदेव के संसर्ग से स्खलित गति वाली, चपल नयन संयुक्ता, सोलह शृंगार सज्जिता नवयुवती के नूपुर से शब्दायमान सुकोमल चरण का संस्पर्श पाकर ही

1. भगवती सूत्र, शतक, 7, उद्देशक 3.

पल्लवित-पुष्पित होता है। लाजवन्ती का विकसित पौधा पुरुष के हाथ का संस्पर्श पाते ही मुरझा जाता है। दक्षिण अफ्रीका के जंगलों में कुछ पौधे ऐसे हैं, जो अपने निकट आने वाले कीट-पतंगों को हजम कर जाते हैं। इन सब उद्धरणों एवं वैज्ञानिक प्रयोगों से यह स्पष्टत: सिद्ध हो जाता है कि वनस्पति सजीव है, चेतनायुक्त है। उसमें भी मनुष्य एवं अन्य पशु-पक्षियों तथा कीड़े-मकोड़ों की तरह आत्मा है।

यह हम पहले बता चुके हैं कि पानी की सजीवता को वैज्ञानिकों ने भी मान लिया है। फिर भी कुछ लोग पानी को उपयोगी होने के कारण घी-तेल की तरह सजीव नहीं मानते। परन्तु यह तर्क उपयुक्त नहीं कहा जा सकता। उपयोगी होने मात्र से ही कोई पदार्थ सजीव से निर्जीव नहीं हो जाता है। हाथी-घोड़े आदि बहुत से जानवर उपयोगी हैं, फिर भी हम उन्हें सजीव मानते हैं। दूसरी बात यह है कि घी-तेल एवं पानी में अन्तर है। दुनिया के सभी तरल पदार्थ निर्जीव नहीं होते। जब कोई आत्मा हथिनी के गर्भ में आती है तो वह पहले-पहल तरल रहती है। शरीर-विशेषज्ञों की यह मान्यता है कि मनुष्य या पशु के गर्भ में उत्पन्न होने वाली आत्माएं सर्वप्रथम तरल रूप में ही पैदा होती हैं। उनमें सघनता एवं अंगोपांगों का आकार बाद में बनता है। अण्डे में रहा हुआ जीव भी कुछ काल तक तरल रहता है। और इन सब तरल पदार्थों को सजीव एवं चेतन माना है। अस्तु तरल होने मात्र से पानी को निर्जीव नहीं, सजीव मानना चाहिए।

पृथ्वी एवं वनस्पति की तरह पानी भी बढ़ता है। आप समझते होंगे कि वर्षा से पानी बढ़ता है। नहीं, वर्षा से तो पानी कम होता है। कारण यह होता है कि वर्षा के पहले सूर्य समुद्र तथा सरिताओं में से पानी को सोखता है। वह वाष्प बनाकर आकाश में पहुंचाता है और ठण्डी हवा का सहयोग पाकर वाष्प फिर से पानी के रूप में परिवर्तित हो जाता है और बादल बनकर आकाश में इधर-उधर मंडराता रहता है और किसी पदार्थ से टकराकर बरस पड़ता है। तो वर्षा का जल बाहर से नहीं, पृथ्वी पर स्थित जल-स्रोत में से ही आता है। वाष्प रूप में ऊपर उठते समय कुछ पानी हवा में मिल जाता है, कुछ सूख जाता है, इस तरह पानी कम होता है, बढ़ता नहीं। हां, तो एक तो पानी बादलों के रूप में जाकर कम होता है, और दूसरे, प्रतिदिन असंख्य जलराशि मनुष्य, पशु-पक्षी, पेड़-पौधों आदि के काम में आती है। इस तरह हमेशा जल का इतना इस्तेमाल होने पर भी वह घटता नहीं, प्रत्युत बढ़ता ही जाता है। इससे स्पष्ट है कि समुद्र, सरिता आदि में स्थित जल में अभिवृद्धि होती है। यह बात अलग है कि हम पत्थर एवं पेड़-पौधों की तरह उसे प्रत्यक्ष में बढ़ते हुए नहीं देखते। इस तरह उसमें होने वाली अभिवृद्धि

से यह प्रमाणित होता है कि पानी सजीव है और उसकी चेतनता सब प्रमाणों से सिद्ध है।

अब देखना यह है कि पृथ्वी, अग्नि और वायु में भी जीव–चेतनता है या नहीं? कुछ लोगों का कहना है कि पत्थर ठोस एवं सख्त होता है, अत: उसमें आत्मा कैसे प्रवेश कर सकती है? आप सदा देखते हैं कि शरीर में स्थित हड्डी सख्त एवं सघन होती है फिर भी उसके एक-एक अणु में आत्म-प्रदेश व्याप्त हैं। जीवित मनुष्य एवं पशु की हड्डी का एक अणु भी ऐसा नहीं कि जिसमें आत्म-प्रदेशों का अभाव हो। दूसरी बात यह है कि लोहा भी सघन होता है। परन्तु जब उसे आग में डालते हैं तो अग्नि के परमाणु लोहे के गोले में प्रविष्ट हो जाते हैं। जब सघन लोहे में भी अग्नि के साकार परमाणु प्रवेश कर जाते हैं, तो पत्थर आदि सघन पदार्थों में अमूर्त आत्म-प्रदेशों के प्रविष्ट होने में संशय को अवकाश है ही नहीं। इससे स्पष्ट हो गया है कि जब हड्डी में आत्म-प्रदेश रहते हैं और इसे हम सदा-सर्वदा देखते हैं, तो फिर पत्थर आदि में आत्मा–चेतनता मानने में किसी भी तरह का विरोध नहीं होना चाहिए।

आगमों में कहा गया है कि परमाणु की गति में कोई बाह्य पदार्थ बाधक नहीं बनता है। वह सघन एवं स्थूल पदार्थों में से भी गति कर लेता है। जब सूक्ष्म परमाणुओं के लिए यह बात है–जो कि साकार हैं, तो जो आत्म-प्रदेश निराकार हैं, उनकी गति में रुकावट कैसे हो सकती है? वे सघन पदार्थों में से भी बिना किसी तरह की रुकावट के आ–जा सकते हैं, उनमें प्रवेश पा सकते हैं।[1]

इस तरह पत्थर में चेतनता सिद्ध होती है। केवल आगम एवं तर्क से ही नहीं, हम इस बात को प्रत्यक्ष में भी देखते हैं। आपने देखा होगा कि खान में स्थित पत्थर सदा बढ़ता रहता है। उसके आकार- प्रकार में भी परिवर्तन होता रहता है। परन्तु जो पत्थर खान से निकाल लिया गया है, और बाहर के हथियारों- औजारों से तथा धूप-पानी के थपेड़ों से निर्जीव हो गया है, उसमें अभिवृद्धि नहीं होती। इससे स्पष्ट है कि पत्थर में भी सजीवता है। अत: केवल आगम के आधार पर ही नहीं, अपने अनुभव के बल पर भी कह सकते हैं कि पत्थर या पृथ्वी में चेतनता है, आत्मा है।

अग्नि की सजीवता तो प्रत्यक्ष दिखाई देती है। शरीर की उष्णता एवं जुगनू का प्रकाश सजीवता के प्रतीक हैं। शरीर में उष्णता एवं जुगनू में चमक न हो तो वे सजीव नहीं रहेंगे, और अग्नि में भी उष्णता एवं प्रकाश होने से वह भी सजीव है। इसके अतिरिक्त जब उसे

1. पएसी ! जीवे वि अप्पडिहयगइ पुढविं भिच्चा, सिलं भिच्चा, पव्वयं भिच्चा अन्तोहिंतो बहिया निग्गच्छइ।
–रायपसेणीय सूत्र, 63.

वायु एवं ईंधन मिलता रहता है, तो उसमें भी अभिवृद्धि होती है, वह भी फैलती है, बढ़ती है। वायु के अभाव में अग्नि किसी भी हालत में सचेतन नहीं रह सकती। प्रज्वलित दीपक एवं अंगारों को किसी बर्तन से बन्द करके बाहर से मिलने वाली हवा को प्रविष्ट नहीं होने देते हैं, तो वह दीपक एवं अंगारे तुरन्त बुझ जाते हैं। यही कारण है कि किसी व्यक्ति के शरीर पर पहने हुए वस्त्रों में लगी हुई आग को बुझाने के लिए डॉक्टर उस पर पानी न डालकर गर्म कम्बल या मोटे वस्त्र से उसके शरीर को आवृत्त करने की सलाह देते हैं। क्योंकि इससे उसे बाहर से वायु का मिलना बन्द हो जाता है और उसके अभाव में वह तुरन्त बुझ जाती है। इस तरह खुराक एवं वायु के अभाव में उसकी जीवन-लीला समाप्त हो जाती है। इसलिए अग्नि भी सजीव है।

यह तर्क दिया जाता है कि उष्णता में जीव कैसे जीवित रह सकता है? यह तो जीव के शरीर का स्वभाव बन जाता है कि वह जिस वायुमण्डल में रहता है, उस तरह की गर्मी-सर्दी को सहने का अभ्यस्त हो जाता है। अत्यधिक ठण्डे प्रदेश में रहने वाले व्यक्ति यदि बिना किसी साधन के गर्मी के मौसम में अत्यधिक गर्म प्रदेश में आ जाएं तो एक मिनट में वे घबरा जाते हैं, जबकि वहां के निवासी मस्ती से अपनी जिन्दगी बिता देते हैं। जवासा एवं आक के पौधे गर्मी में फले-फूले रहते हैं। अतः इसमें कोई आश्चर्य की बात नहीं कि उष्णता में भी जीव रह सकते हैं। भगवती सूत्र में गौतम स्वामी के एक प्रश्न का उत्तर देते हुए भगवान् ने फरमाया है कि हे गौतम ! वनस्पति के जीव वर्षा ऋतु में अधिक आहार लेते हैं और ग्रीष्म ऋतु में थोड़ा आहार लेते हैं। इस पर गौतम स्वामी ने पूछा कि जब गर्मी में वनस्पति के जीव थोड़ा आहार लेते हैं, तो कुछ पौधे गर्मी में भी पल्लवित-पुष्पित एवं हरे-भरे क्यों दिखाई देते हैं? इसका उत्तर देते हुए भगवान् ने कहा कि हे गौतम ! बहुत से उष्णयोनि के जीव आकर उनमें उत्पन्न होते हैं। इसलिए वे पौधे उस भीषण गर्मी में भी हरे-भरे दिखाई देते हैं।[1] इससे स्पष्ट सिद्ध होता है कि उष्णता में भी जीवन रह सकता है।

वायु की सजीवता भी स्पष्ट है। कुछ लोग आंखों से दृष्टिगोचर न होने के कारण वायु को सजीव नहीं मानते हैं। परन्तु उनका यह तर्क उपयुक्त नहीं कहा जा सकता। क्योंकि बहुत से ऐसे पदार्थ हैं, जो आंखों से दिखाई नहीं देते, फिर भी हम उनके अस्तित्व को मानते हैं। जैसे देवता का शरीर हमें प्रत्यक्ष दिखाई नहीं देता। कई योगी मन्त्र-तन्त्र और औषधि के प्रयोग

1. भगवती सूत्र, शतक, 7, उद्देशक 3.

से अपने स्थूल शरीर को छुपा लेते हैं, अदृश्य हो जाते हैं, फिर भी हम उन्हें सजीव मानते हैं। अत: वायु–हवा आंखों से दिखाई न देने मात्र से ही निर्जीव नहीं कही जा सकती। प्रत्यक्षीकरण केवल आंखों से ही नहीं, श्रोत्र, घ्राण, रसना और स्पर्श इन्द्रिय से भी होता है। जैसे फूल एवं इत्र की सुगन्ध आंखों से दिखाई नहीं देती है, फिर भी विचारकों ने उसे साकार रूप में स्वीकार किया है। क्योंकि घ्राण इन्द्रिय–नासिका से उसके अस्तित्व एवं साकारता का पता लगता है। इसी तरह स्पर्श इन्द्रिय के द्वारा वायु–हवा का भी प्रत्यक्षीकरण होता है। अत: उसे अदृश्य कहना या मानना गलत है, मिथ्या है। इससे यह स्पष्ट हो गया कि वायु दृश्यमान और सजीव है।

स्थावर के बाद त्रस आते हैं। त्रस के चार भेद हैं–द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और पञ्चेन्द्रिय। द्वीन्द्रिय में वे प्राणी हैं, जिनके शरीर और जिह्वा ये दो इन्द्रियां हैं। सीप, लट आदि जन्तु इसमें लिए जाते हैं। जिन जीवों के शरीर, जिह्वा और घ्राण इन्द्रिय–नाक है, उन्हें त्रीन्द्रिय कहा जाता है। कीड़े-मकोड़े, खटमल, जूं आदि जन्तु त्रीन्द्रिय में गिने जाते हैं। शरीर, जिह्वा, नाक और आंख इन चार इन्द्रियों से युक्त प्राणी को चतुरिन्द्रिय कहते हैं। मक्खी-मच्छर, बिच्छू, टिडा, पतंगा आदि जन्तु इसमें समाविष्ट किए गए हैं। जो प्राणी शरीर, जिह्वा, नाक, आंख और कान पांचों इन्द्रियों से युक्त होते हैं, उन्हें पञ्चेन्द्रिय कहते हैं। पञ्चेन्द्रिय के दो भेद होते हैं– 1. सन्नी पञ्चेन्द्रिय और 2. असन्नी पञ्चेन्द्रिय। सन्नी पञ्चेन्द्रिय के चार भेद हैं– 1. नारक, 2. तिर्यंच, 3. मनुष्य और 4. देव। नारक जीव नरक में रहते हैं। नरक सात हैं– 1. रत्न प्रभा, 2. शर्करा प्रभा, 3. बालु प्रभा, 4. पंक प्रभा, 5. धूम प्रभा, 6. तम प्रभा और 7. तमतमा प्रभा।[1]

तिर्यंच के पांच भेद हैं– 1. जलचर–जल में विचरण करने वाले मत्स्य, मेंढक, मगरमच्छ आदि। 2. स्थलचर–जमीन पर चलने वाले घोड़ा, गधा, गाय, भैंस, कुत्ता, सिंह आदि। 3. खेचर–आकाश में उड़ने वाले हंस, मयूर, कोयल आदि। 4. उरपुर–पेट के बल रेंगने वाले सर्प आदि और 5. भुजपुर–भुजाओं के बल पर गतिशील नेवला, गिलहरी आदि।

मनुष्य–कर्मभूमि और अकर्मभूमि के भेद से दो प्रकार के माने गए हैं। कर्मभूमि में भी जम्बूद्वीप, धातकीखण्ड, पुष्करार्ध और उसमें भरत, ऐरावत और महाविदेह क्षेत्र एवं आर्य-अनार्य आदि क्षेत्रों के भेद-उपभेद से तथा अकर्मभूमि में भी देवकुरु, उत्तरकुरु,

1. नरक और स्वर्ग पर 'लोक स्वरूप' अध्याय में प्रकाश डालेंगे।

हरिवास, रम्यक्वास, हेमवय, हिरण्यवय और 56 अन्तर्द्वीपों की अपेक्षा से अनेक भागों में विभक्त हैं।

देवों के भी चार भेद हैं–1. भवनपति, 2. वाण-व्यन्तर, 3. ज्योतिष्क और 4. वैमानिक। असन्नी पञ्चेन्द्रिय के दो भेद हैं–1. तिर्यंच और 2. मनुष्य। असन्नी तिर्यंच के सन्नी तिर्यंच की तरह पांच भेद हैं और उनके नाम उसी प्रकार हैं। असन्नी मनुष्य के 14 भेद हैं, वे जीव–1. टट्टी (मल-विष्ठा), 2. पेशाब (मूत्र), 3. खंखार, 4. कफ, 5. नाक के मैल, 6. वमन, 7. पित्त, 8. पीप, 9. खून, 10. मृत कलेवर, 11. वीर्य, 12. स्त्री-पुरुष के संयोग, 13. नाली और 14. समस्त अशुचि स्थानों में उत्पन्न होते हैं।

इस तरह अनेक गति, जाति एवं योनियों में अनन्त जीव विद्यमान हैं। उनकी सजीवता को आगम, तर्क, अनुभव एवं वैज्ञानिक दृष्टि के ठोस प्रमाणों से प्रमाणित किया गया है। इतनी लम्बी चर्चा से हम स्पष्टत: देख चुके हैं कि आत्मा है और वह स्वतन्त्र रूप से गतिशील है। उसके विकास और पतन में निमित्त अनेक मिलते हैं, परन्तु वस्तुत: विकास के शिखर को संस्पर्श करने तथा पतन के गर्त में गिरने वाला वह स्वयं है। न कोई उसे धक्का देकर नरक में भेज सकता है और न कोई हाथ पकड़कर स्वर्ग में पहुंचा सकता है। इस तरह जैन दर्शन अनन्त आत्माओं के स्वतन्त्र अस्तित्व को स्वीकार करता है।

जड़ (अजीव) मीमांसा

हम पहले बता चुके हैं कि संसार में मूल द्रव्य दो हैं–जीव और अजीव या चैतन्य और जड़। जिसे सांख्य प्रकृति और पुरुष के नाम से पुकारते हैं और वेदान्ती ब्रह्म और माया के रूप में उसका विवेचन करते हैं। जीव द्रव्य का विवेचन पिछले प्रकरण में कर चुके हैं, प्रस्तुत प्रकरण में अजीव द्रव्य के विषय में कुछ विचार करेंगे।

अजीव या जड़ चैतन्य से रहित होता है। जड़ परमाणु में भी हरकत होती है, वह भी गति करता है। फिर भी वह जीव से भिन्न है। क्योंकि जीव में चेतना है, ज्ञान है, उपयोग है और जड़ में इनका अभाव है। इसके (अजीव के) पांच भेद माने गए हैं–1. धर्म 2. अधर्म 3. आकाश 4. पुद्गल और 5. काल।[1]

---

1. कई आचार्य काल को स्वतन्त्र द्रव्य नहीं मानते। उनके विचार से धर्म, अधर्म, आकाश और पुद्गल ये अजीव के चार भेद हैं। विशेष जानकारी के लिए देखें। –तत्त्वार्थ सूत्र (पं. सुखलाल संघवी) पृ. 185.

धर्म और अधर्म द्रव्य

यहां धर्म और अधर्म का अर्थ आंत्मा की शुद्धाशुद्ध परिणति से नहीं है और न इनका अर्थ पुण्य-पाप के रूप में ही अभीष्ट है। ये दोनों स्वतन्त्र द्रव्य हैं और आकाश की तरह सम्पूर्ण लोक में व्याप्त हैं, वर्ण, गन्ध, रस, और स्पर्श से रहित हैं, अरूपी हैं, अमूर्त हैं। उनका कोई आकार नहीं है, फिर भी दोनों अखण्ड द्रव्य हैं। इनमें कोई हरकत नहीं होती। धर्म, अधर्म, आकाश और काल चारों निष्क्रिय द्रव्य हैं। पुद्गल में हरकत होती है। वह जीव की तरह गतिशील है, सक्रिय है।

आकाश अनन्त है। वह लोक और अलोक में भी व्याप्त है। आकाश में स्थित लोक के आकार को या यों कहिए, लोक की सीमा को निश्चित करने के लिए यह नितान्त जरूरी है कि कोई ऐसी विभाजक रेखा किसी वास्तविक आधार पर तय की जाए, जिससे लोक मर्यादा जानी जा सके और पुद्गल एवं जीवों का गमन उस अक्षांश रेखा को लांघकर अलोक में नहीं हो सके। आकाश अखण्ड, अमूर्त और अनन्त प्रदेशी द्रव्य है। उसकी अपनी सत्ता सब जगह एक समान है। वह जीव और पुद्गलों को सर्वत्र अवकाश देता है। परन्तु, उसमें जीव और पुद्गलों को लोकाकाश में ही रोक रखने की प्रतिबन्धक शक्ति नहीं है। उसमें लोक और अलोक आकाश के प्रदेश हैं, परन्तु स्वभाव-भेद नहीं है। उसका अवकाश देने का स्वभाव सर्वत्र एक-सा है। इसलिए जीव और पुद्गलों का लोक के बाहर गमन न हो, यह नियन्त्रण करने की शक्ति आकाश में नहीं है। जीव एवं पुद्गल स्वयं गतिशील हैं और जब वे गति करते हैं तो फिर उनके ठहरने या स्थित होने का सवाल ही नहीं उठता। परन्तु यह भी निश्चित है कि जीव और पुद्गल लोक के बाहर गमन नहीं करते हैं। अत: उन्हें लोक में ही रोक रखने वाला लोकाकाश के बराबर एक अमूर्त, निष्क्रिय और अखण्ड द्रव्य है। जो गतिशील जीव और पुद्गल की गति में साधारण कारण होता है। यह द्रव्य स्वयं हरकत नहीं करता है और न ही किसी पदार्थ को गति करने के लिए प्रेरित ही करता है। परन्तु जो पदार्थ अपने स्वभाव से गति करते हैं, तब उनकी गति में सहायक होता है। इस द्रव्य के अभाव में कोई भी पदार्थ-भले ही वह जीव हो या पुद्गल, गति नहीं कर सकता। इस द्रव्य का अभाव गतिशील द्रव्यों की गति का अवरोधक है और यह द्रव्य लोकाकाश-परिमाण है, अलोक में नहीं है। इस कारण जीव एवं पुद्गल गतिशील स्वभाव वाले होने पर भी अलोक में नहीं जा सकते हैं। इस द्रव्य को जैनागमों में धर्म द्रव्य माना गया है।

जीव और पुद्गल गति भी करते हैं और स्थित भी होते हैं। जैसे गति करने में धर्म द्रव्य साधारण कारण है, उसी प्रकार स्थित होने वाले जीव और पुद्गलों के स्थित होने में अधर्म द्रव्य साधारण कारण है। वह भी धर्म द्रव्य की तरह लोकव्यापी, निष्क्रिय, अखण्ड एवं अमूर्त द्रव्य है। इसके अस्तित्व का परिज्ञान लोक के अन्तिम प्रदेश तक ही होता है, क्योंकि अलोक आकाश में धर्म द्रव्य का अभाव होने के कारण जीव और पुद्गलों की गति नहीं होती। अत: जड़-चेतन सभी पदार्थों को लोक में ठहरने के लिए इसके सहयोग की अपेक्षा रहती है।

ये दोनों द्रव्य स्वयं गतिशील नहीं हैं, किन्तु चलने और ठहरने वाले जीव और पुद्गलों की गति एवं स्थिति में साधारण निमित्त होते हैं। दोनों द्रव्य लोकव्यापी, निष्क्रिय, अखण्ड और अमूर्त हैं तथा दोनों उत्पाद-व्यय रूप से परिणमन करते हुए भी नित्य हैं। लोकालोक का विभाग इन्हीं दो द्रव्यों के आधार पर आधारित है।

यह एक तर्क है कि आकाश अवकाश देता है, तो उसे स्थिति का कारण क्यों न माना जाए? स्थित होने में अधर्म द्रव्य को साधारण कारण मानने की क्या आवश्यकता है? उत्तर में निवेदन है कि यदि आकाश को स्थित होने का कारण मानते हैं, तो आकाश तो अलोक में भी विद्यमान है। क्योंकि वह अखण्ड द्रव्य है और अनन्त प्रदेशी है। लोकाकाश तो असंख्यात प्रदेशी है, उसका अनन्त भाग तो अलोक में ही है और वहां वह किसी भी पदार्थ के ठहरने में सहायक नहीं बनता, तब वह लोक में स्थित होने वाले पदार्थों का कैसे सहायक हो सकता है। वह चलने एवं ठहरने के लिए स्थान (अवकाश) दे देता है, परन्तु स्थित होने में सहायक नहीं होता। स्थित होने वाले जीव या पुद्गल किसी भी द्रव्य को स्थान दे देना और बात है और उसके ठहरने में सहायक बनना और बात है। स्थान देना और ठहरना एक नहीं, दो क्रियाएं हैं। स्थान अर्थात् अवकाश देने का स्वभाव आकाश का है, तो ठहरते हुए को ठहरने में सहयोग देने का स्वभाव अधर्म द्रव्य का है। अत: अधर्म द्रव्य ही जीव और पुद्गल के स्थित होने में साधारण कारण है। जिस प्रकार मछली को गति करने के लिए पानी और थके हुए पथिक को विश्राम लेने के लिए वृक्ष की छाया सहयोगी होती है, उसी तरह धर्म और अधर्म द्रव्य जीव और पुद्गलों की गति एवं स्थिति में सहायक होते हैं।

प्रो० घासीराम जैन ने अपनी ''कासमोलाजी ओल्ड एण्ड न्यू'' पुस्तक में धर्म द्रव्य की तुलना आधुनिक विज्ञान के ईथर नामक तत्त्व से की है और अधर्म द्रव्य की तुलना 'सर आइजक न्यूटन' के आकर्षण सिद्धान्त से की है। वैज्ञानिकों ने भी ईथर तत्त्व को अमूर्त, व्यापक और निष्क्रिय मानने के साथ गति का आवश्यक माध्यम भी माना है। यह जैनों के

धर्म द्रव्य के समान ही है। अधर्म द्रव्य और विज्ञान के आकर्षण सिद्धान्त की तुलना करते हुए प्रो० जैन ने लिखा है–''यह जैनधर्म के अधर्म विषयक मान्यता की सबसे बड़ी विजय है कि विश्व की स्थिरता के लिए विज्ञान ने अदृश्य आकर्षण शक्ति की सत्ता को स्वयंसिद्ध प्रमाण के रूप में स्वीकार किया है और प्रसिद्ध वैज्ञानिक आइन्स्टीन ने उसमें सुधार करके उसे क्रियात्मक रूप दिया है। अब आकर्षण सिद्धान्त को सहायक रूप में माना जाता है, मूलकर्ता के रूप में नहीं। इसलिए अब वह जैन दर्शन के अधर्म द्रव्य की मान्यता के बिल्कुल अनुरूप बैठता है।''

आकाश द्रव्य

जिस द्रव्य में जीव, अजीवादि सभी द्रव्य युगपत् अवकाश पाए हुए हैं, वह आकाश द्रव्य है। पुद्गल भी परस्पर एक दूसरे पदार्थ को अवकाश देते हुए देखे जाते हैं, जैसे तख्त पर घड़ी, शीशी में तेल आदि। फिर इसे आकाश का ही गुण कैसे कहा जा सकता है? तख्त पर पुस्तक एवं अन्य पदार्थों के आधार पर अन्य पदार्थ स्थित दिखाई देते हैं, वहां भी आकाश ही है और वे पदार्थ अमुक पदार्थ पर रहे हुए होने पर भी आकाश में ही स्थित हैं। क्योंकि प्रत्येक पदार्थ में जितना भाग खाली या खुला है, वह आकाश ही है और दूसरे पदार्थ उसी आकाश में स्थित होते हैं। अत: यह कहना उपयुक्त नहीं जंचता कि एक पदार्थ दूसरे पदार्थ को अवकाश देता है। यदि व्यवहार दृष्टि से ऐसा मान भी लें तब भी आकाश के लक्षण में कोई अन्तर नहीं पड़ता। क्योंकि कोई भी पदार्थ विश्व के समस्त पदार्थों को युगपत् (एक साथ) अवकाश नहीं दे सकता। वह कुछ ही पदार्थों को ठहरने का स्थान देता है, परन्तु आकाश सभी द्रव्यों को एक साथ स्थित होने का स्थान देता है।

आकाश अनन्त प्रदेश युक्त, निष्क्रिय, अमूर्त और अखण्ड द्रव्य है। इसके मध्य भाग में चौदह राजू का पुरुषाकार लोक है। इसके कारण यह लोक-आकाश और अलोक-आकाश इन दो भागों में विभक्त हो जाता है। लोक के चारों ओर अलोक-आकाश फैला हुआ है। लोक आकाश असंख्यात प्रदेशी है और शेष भाग अनन्त प्रदेशी है। अलोक में केवल आकाश ही है और अन्य कोई द्रव्य नहीं है। आकाश के प्रदेश वस्त्र में तन्तु की तरह पंक्तिबद्ध हैं। एक परमाणु जितने आकाश को रोकता है उसे प्रदेश कहते हैं। इस नाप के अनुसार आकाश अनन्त प्रदेश वाला है।

लोकाकाश में सूर्योदय की अपेक्षा से पूर्व-पश्चिम आदि दिशाओं की गणना होती है। परन्तु दिशा-विदिशा कोई स्वतन्त्र द्रव्य नहीं है। यदि पूर्व-पश्चिम आदि के व्यवहृत होने के

कारण दिशा को भी स्वतन्त्र द्रव्य मान लें, तो फिर दिशा की अपेक्षा से दक्षिण देश, उत्तर देश आदि का व्यवहार होने से देश को भी स्वतन्त्र द्रव्य मानना होगा और फिर प्रान्त, गांव, जिला, तहसील आदि अनेकों स्वतन्त्र द्रव्यों को स्वीकार करना होगा। अत: किसी अपेक्षा विशेष के कारण व्यवहार होने मात्र से दिशाओं को स्वतन्त्र द्रव्य नहीं माना जा सकता है। उनका कोई स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं है। क्योंकि ढाई द्वीप के बाहर जहां सूर्यादि गतिशील नहीं हैं तथा अलोक में जहां सूर्यादि का अभाव है, वहां दिशा-विदिशाओं का व्यवहार ही नहीं होता। यदि आकाश की तरह दिशा भी स्वतन्त्र द्रव्य होती तो ढाई द्वीप के बाहर एवं अलोक में उनका व्यवहार होता। परन्तु वहां दिशा-विदिशा का व्यवहार नहीं होता है, अत: दिशा को स्वतन्त्र द्रव्य मानना युक्तिसंगत नहीं है।

वैशेषिक आदि दार्शनिक शब्द को आकाश का गुण मानते हैं। परन्तु यह युक्तिसंगत नहीं है। आज के विज्ञान ने यह प्रमाणित कर दिया है कि शब्द आकाश का गुण नहीं है। रेडियो, ग्रामोफोन आदि अनेक यन्त्रों से शब्द को ग्रहण करके उसे इष्ट स्थान पर भेजा जाता है तथा जब चाहे तब सुना जा सकता है। इन वैज्ञानिक प्रयोगों से यह स्पष्ट सिद्ध हो गया है कि शब्द आकाश का गुण नहीं, पुद्गल है। शब्द पुद्गल के द्वारा स्वीकार किया जाता है, पुद्गल ही इसे धारण करता है, पुद्गलों से रोका जाता है, पुद्गलों को रोकता है, पुद्गल—कान आदि के पर्दों को भी फाड़ देता है, पौद्गलिक वातावरण में कंपन पैदा करता है, इससे वह पौद्गलिक है।

आकाश अमूर्त है, अत: उसका गुण अमूर्त द्रव्य हो सकता है, न कि मूर्त पदार्थ। शब्द अमूर्त नहीं है। क्योंकि अमूर्त पदार्थ मूर्त पुद्गल के द्वारा न तो पकड़ा ही जा सकता है और न उसे यन्त्रों के द्वारा स्थानान्तर में भेजा ही जा सकता है। किन्तु शब्द दो स्कन्धों के संघर्ष से पैदा होता है और अपने आस-पास के स्कन्धों को भी शब्दायमान कर देता है। अर्थात् वह अपने प्रवाह-पथ में पड़ने वाले स्कन्धों को शब्द पर्याय में बदल देता है और इस तरह वह दूर-दूर तक फैल जाता है। जैसे—जल में कंकड़ डालने पर एक लहर उत्पन्न होती है और वह लहर अपने आस-पास के अन्य जलकणों को तरंगित करती हुई जलाशय को तरंगित कर देती है और वह 'वीचीतरंग न्यायवत्' जलाशय के वातावरण को तरंगित करती हुई काफी दूर तक फैल जाती है। इसी तरह शब्द भी आस-पास के स्कन्धों को शब्दमय बनाते हुए बहुत दूर तक फैल जाते हैं। इसलिए उन्हें अमूर्त आकाश का गुण मानना विज्ञान, तर्क एवं बुद्धि के सर्वथा विपरीत है।

विज्ञान शब्द एवं प्रकाश की गति के लिए जिस ईथर नामक पदार्थ के माध्यम की कल्पना करता है, वह आकाश नहीं है। हम पहले ही बता चुके हैं कि वैज्ञानिकों का ईथर जैनों के धर्म द्रव्य के समान अमूर्त, निष्क्रिय, लोकव्यापी और परिणमनशील तत्त्व है और वह जीव एवं पुद्गल की गति में साधारण कारण है।

आकाश एक अखण्ड द्रव्य है और अनन्त प्रदेशी है। यदि उसे अनन्त प्रदेशी न माना जाए तो पंजाब और बंगाल के आकाश में कोई अन्तर नहीं रह जाएगा। दोनों प्रदेश एक ही क्षेत्र में आ जायेंगे। परन्तु ऐसा नहीं होता, क्योंकि पंजाब के आकाश प्रदेश और बंगाल के आकाश प्रदेश अलग-अलग हैं। इसी कारण उसे अनन्त प्रदेश वाला माना है। आकाश एक होने पर भी दोनों प्रान्तों के आकाश प्रदेश भिन्न-भिन्न हैं। इससे क्षेत्र व्यवस्था ठीक ढंग से घटित हो जाती है।

बौद्धदर्शन में आकाश को असंस्कृत माना है और उसका विवेचन अनावृत्ति (आवरण रहित) रूप से किया है।[1] यह न किसी पदार्थ को आवृत्त करता है और न किसी पदार्थ से प्रच्छन्न होता है। असंस्कृत का मतलब होता है—उत्पादादि धर्मों से रहित। एकान्त-क्षणिकवादी बौद्ध दर्शन के द्वारा आकाश को असंस्कृत मानना कुछ समझ में नहीं आता है। भले ही इसे अनावृत्त माना जाये फिर भी वह भावात्मक पदार्थ है, इसे स्वयं बौद्धों ने माना है।[2] और बौद्धों के मत में भावात्मक पदार्थ उत्पादादि धर्मों से रहित नहीं होता। यह बात अलग है कि हम उसमें होने वाले उत्पादादि धर्मों का विवेचन न कर सकें। किन्तु उनके स्वरूप से इन्कार नहीं किया जा सकता और न उसे मात्र आवरणाभाव ही माना जा सकता है। क्योंकि समस्त जीव-अजीव आदि द्रव्य आकाश से वेष्टित हैं और उसकी पर्यायों में भी प्रति समय परिवर्तन होता रहता है। अत: आकाश न तो अनावृत ही है और न उत्पादादि धर्मों से रहित ही है। वह उत्पाद-व्ययरूप परिणमनशील, नित्य-शाश्वत पदार्थ है। वह अकृत्रिम और अनादि-अनन्त है। क्षेत्र की दृष्टि से लोकाकाश सान्त है और अलोकाकाश अनन्त है। क्योंकि अलोक आकाश का कहीं अन्त नहीं है।

पुद्गल द्रव्य

वर्ण, गंध, रस और स्पर्श युक्त सभी मूर्त पदार्थ पुद्गल हैं।[3] पुद् और गल् इन दो

---

1. तत्राकाशमनावृत्तिः । --अभिधर्म कोश, 1, 5.
2. अभिधर्म कोश, 1, 28.
3. स्पर्शरसगंधवर्णवन्तः पुद्गलाः । —तत्त्वार्थ सूत्र, 5, 23.

धातुओं के संयोग से पुद्गल शब्द बना है। पुद् का अर्थ होता है पूरण अर्थात् वृद्धि और गल् का अर्थ है—गलना, ह्रास को प्राप्त होना। इस तरह जो पदार्थ पूरण और गलन या मिलने और बिछुड़ने के कारण विविध रूपों में परिवर्तित होता रहता है, उसे पुद्गल कहते हैं।[1] संसार के सभी मूर्त पदार्थों में यह स्वभाव परिलक्षित होता है। यह हम सदा देखते हैं, अनुभव करते हैं कि हमारे अपने शरीर में एवं दुनिया के अन्य पदार्थों में प्रतिक्षण परिवर्तन होता रहता है। परमाणुओं का संयोग-वियोग हर मूर्त पदार्थ में होता है। दूसरे शब्दों में हम यों कह सकते हैं कि अनन्त परमाणुओं का समूह ही मूर्त पदार्थ के रूप में इन्द्रियगोचर होता है, उसमें से अनेक पुराने परमाणु अलग होते हैं और अनेक नये परमाणु आकर सम्मिलित होते हैं। इस तरह एक परमाणु दूसरे परमाणु के साथ मिलता और बिछुड़ता रहता है। इस प्रकार परमाणु में भी पुद्गल संज्ञा अर्थयुक्त है। क्योंकि पुद्गल का मूल रूप परमाणु ही है। परमाणुओं का समूह स्कन्ध कहलाता है। पर्यायों की दृष्टि से उसमें परिवर्तन होता है, कुछ परमाणुओं के संयोग-वियोग से नई पर्याय (रूप) का प्रदुर्भाव होता है और पुरातन पर्यायों का विनाश होता है, परन्तु परमाणुरूप द्रव्य का अस्तित्व सदा बना रहता है। जैसे ऑक्सीजन और हाइड्रोजन दो गैसों के परमाणुओं का संयोग उभयनिष्ठ गैसरूप पर्यायों का विनाश और जलकायिक शरीर की पर्यायों का उत्पादक है। इस प्रक्रिया से गैसरूप का नाश होकर पानी का उत्पाद होता है और दोनों रूपों में परमाणु रूप का नाश नहीं होता है। अथवा यों कहिये, प्रत्येक पदार्थ पर्यायों की दृष्टि से उत्पाद-व्यय युक्त होने पर भी परमाणु द्रव्य की अपेक्षा से शाश्वत है, नित्य है।

धर्म, अधर्म, आकाश और पुद्गल इन चार द्रव्यों में धर्म और अधर्म द्रव्य को जैनों ने ही माना है। जैनेतर दर्शनों में उनका वर्णन नहीं मिलता है। आकाश और पुद्गल को अन्य दार्शनिकों ने भी माना है। जैनदर्शन आकाश को द्रव्य रूप में मानता है, अन्य दार्शनिकों ने उसे मात्र आकाश कहा है और उसके स्वरूप-मान्यता में भी भेद है। पुद्गल शब्द जैनों का पारिभाषिक शब्द है, अन्यत्र नहीं मिलता है। इतर दर्शनों में यह प्रकृति, माया एवं परमाणु के नाम से व्यवहृत है। बौद्ध ग्रन्थों में पुद्गल शब्द मिलता है। वहां उसका प्रयोग अजीव के अर्थ में नहीं, बल्कि जीव के अर्थ में हुआ है।

पदार्थों का रूप-परिवर्तन या उत्पन्न एवं विनष्ट होना यह पुद्गल का स्वभाव है। मोटे तौर पर हम जिन पदार्थों का आस्वादन करते हैं, स्पर्श करते हैं, अवलोकन करते हैं, श्रवण

---

1. पूरणगलनान्वर्थ संज्ञत्वात् पुद्गलाः। —तत्त्वार्थ राजवार्तिक 5, 1, 24.

करते हैं और सूंघते हैं, वे सभी पदार्थ पुद्गल हैं। अत: जैनदर्शन में पुद्गल का स्वरूप वर्ण, गन्ध, रस एवं स्पर्श युक्त साकार माना गया है। यहां तक कि अति सूक्ष्म माना जाने वाला परमाणु भी साकार है, वर्णादि से युक्त है। आधुनिक वैज्ञानिकों ने भी अणु-परमाणु (Atom) को खोज निकाला है, फिर भी जैनों के परमाणु और वैज्ञानिकों के (Atom) में काफी अन्तर है। जैनों की दृष्टि से परमाणु अविभाज्य अंश है अर्थात् उसके दो टुकड़े नहीं किये जा सकते, यहां तक कि जिसके दो भागों की कल्पना भी न की जा सके, जिसका वह स्वयं ही आदि है, वही मध्य है और वही अन्त है अथवा जिसका आदि, मध्य और अन्त एक ही है, वह परमाणु है।[1] परन्तु वैज्ञानिकों के (Atom) का ऐसा स्वरूप नहीं है। विज्ञानवेत्ताओं ने (Atom) के इलैक्ट्रॉन, प्रोट्रॉन और न्यूट्रॉन आदि भेद माने हैं अर्थात् वैज्ञानिकों ने (Atom) को कई भागों में बांट दिया है। अत: वैज्ञानिकों का (Atom) जैनों द्वारा मान्य परमाणु नहीं, प्रत्युत परमाणुओं का समूह है।

पुद्गल द्रव्य के स्कन्ध, स्कन्ध देश, स्कन्ध प्रदेश और परमाणु ये चार भेद होते हैं।[2] अनन्तानन्त परमाणुओं के मिलने से स्कन्ध बनता है, स्कन्ध के अर्ध भाग को स्कन्ध देश और उसके भी आधे हिस्से को स्कन्ध प्रदेश कहते हैं। परमाणु सबसे छोटा हिस्सा होता है। उसका विभाग नहीं होता है। ग्रीक के दार्शनिक जेनो ने यह स्वीकार नहीं किया कि पुद्गल का भी अन्तिम भाग अणु हो सकता है। उसने यह तर्क दिया कि आप पुद्गल का चाहे जितना छोटा विभाग करें, वह टुकड़ा रूपादि युक्त होगा और जो हिस्सा रूपादि युक्त है, उसका फिर विभाग हो सकता है। वह विभाग भी रूपादि युक्त होगा, अत: उसका विभाग एवं आगे होने वाले विभागों का भी विभाग होना सम्भव है, क्योंकि वे सब विभाग रूपादि युक्त होंगे। अणु को निरवयव मानने से उसमें अनवस्था दोष होगा। अत: यह मानना गलत है कि पुद्गल का अविभाज्य अंश या विभाग होता है। इसके उत्तर में एक प्रसिद्ध विचारक 'एरिस्टोटल' ने कहा कि जेनो का यह तर्क सही नहीं कहा जा सकता। जहां तक कल्पना का सवाल है, हम अणु के भी अणु करते जायेंगे, किन्तु प्रैक्टीकल रूप में ऐसा नहीं हो सकता। जब हम किसी वस्तु को विभक्त करने लगते हैं तब वह विभाग कहीं न कहीं पहुंचकर अवश्य रुकता है। जिस

---

1. अन्तादि अन्तमज्झं, अन्तान्तं णेव इंदिए गेज्झं।
   जं दव्वं अविभागी, तं परमाणु विजाणीहि।। —तत्त्वार्थ राजवार्तिक 5/25, 1, 1.
2. खंधा या खंधदेसा य, तप्पएसा तहेव य।
   परमाणुणो य बोधव्वा, रूविणो य चउव्विहा।। –उत्तराध्ययन सूत्र, 36, 10.

खण्ड के बाद उसका विभाग नहीं होता, वही अणु है। काल्पनिक खण्ड के विषय में माना जा सकता है कि वह अन्त रहित है, क्योंकि कल्पना की पहुंच अनन्त तक है। परन्तु पदार्थ के विषय में ऐसा मानना गलत होगा और अनुभव से भी विरुद्ध होगा, क्योंकि पदार्थ अन्त सहित है, उसका किनारा स्पष्ट परिलक्षित होता है। सबसे बड़ा प्रमाण यह है कि पदार्थ मूर्त है और मूर्त सदा सान्त होता है। इसलिए पुद्गल का अन्तिम हिस्सा अवश्य होता है। उसका जो अन्तिम भाग है, वही अणु है और वह अविभाज्य अंश है।

हम प्रारम्भ में ही बता चुके हैं कि पुद्गल वर्ण, गंध, रस, स्पर्श सहित होते हैं। स्कन्धादि में तो यह बात स्पष्ट रूप से दिखाई देती है। परन्तु परमाणु में कैसे घटित होगी, जिसका कोई विभाग नहीं होता और जो न इन्द्रियगोचर ही होता है? यह प्रश्न उठना स्वाभाविक है। इसका उत्तर इस प्रकार दिया गया है कि परमाणु आंखों से दिखाई नहीं देता फिर भी वह मूर्त है, साकार है। क्योंकि वह स्कन्ध-रूप कार्य का कारण है। जब कार्य मूर्त है, तो कारण भी मूर्त ही होगा। अमूर्त से मूर्त की उत्पत्ति नहीं होती और स्कन्ध की उत्पत्ति परमाणुओं के मिलने से होती है, इसलिए परमाणु वर्ण, गंध, रस, स्पर्श युक्त साकार है। फिर भी एक परमाणु में स्कंध की तरह 5 वर्ण, 2 गंध, 5 रस, 8 स्पर्श नहीं पाए जाते। एक परमाणु में 1 वर्ण, 1 गंध, 1 रस और 2 स्पर्श पाए जाते हैं।[1] दो स्पर्श वे ही पाए जाते हैं, जो परस्पर विरोधी न हों। कोमल, कठिन, शीत और उष्ण ये चार स्पर्श अणु में नहीं पाए जाते हैं। क्योंकि उक्त चारों स्पर्श सापेक्ष हैं, अत: स्कंध में ही पाए जाते हैं।

अणु पुद्गल का शुद्ध रूप है। वह शब्द नहीं है, क्योंकि शब्द के लिए अनन्त अणुओं के सम्मिलन की आवश्यकता रहती है, अत: वह शब्द का कारण नहीं है। इसी तरह स्कंध भी एक एकाधिक अणुओं का होता है। अत: अणु और स्कंध में भी भेद है।

अणु इन्द्रियग्राह्य नहीं होता है। तब फिर उसे अरूपी या अमूर्त क्यों न मान लिया जाए? हमारी किसी भी इन्द्रिय से उसका परिज्ञान न होने पर भी परमाणु अरूपी नहीं है। क्योंकि

---

1. स्कन्ध अनेक परमाणुओं के मिलने से बना है। जैनदर्शन की यह मान्यता है कि स्निग्ध-स्निग्ध और रूक्ष-रूक्ष परमाणुओं का बंध नहीं होता। पर स्निग्ध और रूक्ष परमाणुओं का बन्ध होता है। इस दृष्टि से सभी परमाणुओं में दोनों स्पर्श नहीं पाए जा सकते। कुछ परमाणु, स्निग्ध स्पर्श वाले होंगे तो कुछ रूक्ष स्पर्श वाले। इसी तरह वर्ण, गन्ध, रस भी विभिन्न परमाणुओं के सुमेल से एक ही स्कन्ध में संघटित रूप से रहते हैं। फिर भी जिस वर्ण, गन्ध एवं रस के परमाणुओं की अधिकता होती है, वह वर्ण, गन्ध एवं रस प्रमुख रूप से इन्द्रिय-गोचर होता है और शेष गौण रूप से रहते हैं।

उसका स्कंधादि रूप कार्य मूर्त है। जो अरूपी तत्त्व होता है, उसका कार्य भी अरूपी ही होता है। स्कंधादि मूर्त एवं साकार कार्य से परमाणु की साकारता का स्पष्ट अनुभव होता है। अतः सूक्ष्म होने पर भी परमाणु को साकार माना गया है।

जैनदर्शन मानता है कि स्कंध में से जो अणु पैदा होते हैं, वे भेद से होते हैं।[1] इससे यह प्रश्न हो सकता है कि फिर अणु भी अनित्य हो जाएगा। क्योंकि जो अणु पैदा होता है, उसका विनाश भी होता है। अतः परमाणु रूप से पुद्गल द्रव्य की नित्यता की जो मान्यता है, वह घटित नहीं हो सकेगी? नहीं, ऐसी बात नहीं है। इस मान्यता से पुद्गल द्रव्य की नित्यता में कोई अंतर नहीं पड़ेगा। क्योंकि पुद्गल के दो रूप बताए गए हैं—एक अणु रूप से और दूसरा स्कंध रूप से।[2] जो पुद्गल अणु-परमाणु रूप हैं, उनके उत्पन्न होने का सवाल ही नहीं उठता है। परंतु जो परमाणु स्कंध के रूप में परस्पर मिले हुए हैं, वे एक-दूसरे से विलग हो सकते हैं या नहीं, यह प्रश्न है? इसका उत्तर इस प्रकार दिया गया है कि भेदपूर्वक वे भी स्कंध से अलग होकर परमाणु हो सकते हैं। जब स्कंध में भेद होता है, स्कंध टूटता है, तब अणु पैदा होता है। इस अपेक्षा से अणु स्कंध का कार्य है। परन्तु अणु की उत्पत्ति संयोग से नहीं होती, क्योंकि वह अविभाज्य अंश है। जहां संयोग होगा वहां एकाधिक अणु होंगे, कम से कम दो तो होंगे ही और दो अणुओं वाला स्कंध होता है। इससे स्पष्ट है कि अणु को जो कार्य रूप या उत्पन्न होना माना है, वह स्कंध में रहे हुए अणुओं को उस स्कंध से अलग होने की अपेक्षा से माना है।

वैशेषिक दर्शन की पदार्थ-मान्यता

वैशेषिक दर्शन नौ पदार्थ मानता है—पृथ्वी, अप्, तेज, वायु, आकाश, काल, दिक्, आत्मा और मन।[3] प्रथम चार द्रव्यों में उसने जिन गुणों को माना है, वे सब पुद्गल द्रव्य में आ जाते हैं। वैशेषिक पृथ्वी में वर्ण, गंध, रस, स्पर्श चार गुण; अप् में वर्ण, रस, स्पर्श तीन गुण; तेज में वर्ण और स्पर्श दो गुण और वायु में केवल स्पर्श गुण मानते हैं। जैन दर्शन सभी में चारों गुण मानता है, क्योंकि वर्ण, गंध, रस और स्पर्श सहचारी हैं। वायु में रूप स्पष्टतया दिखाई नहीं देता है, इसका कारण हमारी चक्षु इन्द्रिय की पटुता की कमी है, न कि वायु ही रूप रहित है। उसका रूप अनुभव-सिद्ध है, क्योंकि वह स्पर्शाविनाभावी है। जैसे घट-पट-तख्त

---

1. भेदादणुः। —तत्त्वार्थ सूत्र, 5, 27.
2. अणवः स्कन्धाश्च । —तत्त्वार्थ सूत्र, 5, 25.
3. पृथिव्यप्तेजोवायवाकाशकालदिगात्ममनांसि । —तर्कसंग्रह ।

आदि में रूप है, क्योंकि वहां स्पर्श है। वायु में रूप होते हुए भी दृष्टिगोचर नहीं होता, इसका कारण यह है कि चक्षु आदि इन्द्रियां स्थूल विषय को ही ग्रहण कर सकती हैं। जैसे पृथ्वी में सूक्ष्म गंध के रहते हुए भी घ्राणेन्द्रिय उसे ग्रहण नहीं कर सकती, उसी तरह वायु में स्थित रूप को भी चक्षु इन्द्रिय देख नहीं सकती। जैनों की यह मान्यता वैज्ञानिकों की प्रयोगशाला में भी सिद्ध हो चुकी है। वैज्ञानिकों ने यह प्रमाणित कर दिया कि वायु को निरन्तर ठण्डा करते रहने पर वह नीले रंग में परिवर्तित हो जाता है, जैसे वाष्प को पानी के रूप में बदला जा सकता है।[1] जब वायु में वर्ण–रूप सिद्ध हो गया तो गन्ध और रस तो स्वत: सिद्ध हो जाते हैं। इस प्रकार जैसे वायु में चारों गुण पाए जाते हैं, वैसे अप् और तेज में भी चारों ही गुण पाए जाते हैं। इसे स्पष्ट करने की आवश्यकता नहीं है।

वैशेषिक दर्शन जैसे पृथिवी आदि द्रव्यों में भिन्न गुण स्वीकार करता है, वैसे ही उन विभिन्न द्रव्यों में भिन्न परमाणुओं के अस्तित्व को भी मानता है। पृथ्वी के परमाणु अलग हैं, पानी के परमाणु अलग हैं, इसी तरह अन्य सभी द्रव्यों के परमाणु अलग हैं, और वे परमाणु एक दूसरे परमाणुओं से भिन्न हैं। यह उनका परमाणु नित्यवाद है। उनकी मान्यता है कि सभी द्रव्यों के परमाणु नित्य होते हैं, उनके कार्य में परिवर्तन होता रहता है, किन्तु उन परमाणुओं में परिवर्तन नहीं होता। परन्तु यह मानना युक्तिसंगत नहीं है। क्योंकि यह देखा जाता है कि एक द्रव्य के परमाणु दूसरे द्रव्य के परमाणुओं के रूप में बदल जाते हैं। ऑक्सीजन और हाइड्रोजन दो गैसों का सम्मिश्रण होता है या किया जाता है, तो दो गैसों के रूप में स्थित वायु के परमाणु पानी के रूप में परिवर्तित हो जाते हैं। अस्तु जैनदर्शन द्रव्यों के भिन्न-भिन्न परमाणुओं को नहीं मानता है, और आज का विज्ञान भी इस बात को मानता है कि एक द्रव्य के परमाणु दूसरे द्रव्य के परमाणुओं के रूप में परिवर्तित होते हैं या किए जा सकते हैं। ग्रीक दार्शनिक ल्युसिपस और डेमोक्रेट्स भी परमाणुओं के भेद को नहीं मानते हैं। वे सब परमाणुओं को एक जाति का मानते हैं। वह जाति भूत-सामान्य या जड़-सामान्य है। यही बात जैनदर्शन मानता है। समस्त परमाणु जड़–अजीव हैं और परिणामी नित्य हैं।

स्कन्ध की उत्पत्ति

यह हम ऊपर बता चुके हैं कि पुद्गल चार प्रकार का होता है–स्कन्ध, स्कन्ध देश,

1. Air can be converted bluish liquid by continuous cooling, just as steam can be converted into water —जैन दर्शन (मोहन लाल मेहता) पृ. 182.

स्कन्ध प्रदेश और परमाणु। सभी स्कन्ध परमाणुओं के समूह हैं। उनका निर्माण तीन तरह से होता है–भेद पूर्वक, संघात-संश्लेष पूर्वक और भेद-संघातपूर्वक।[1]

भेद दो तरह से होता है–आभ्यन्तर और बाह्य। स्कन्ध में स्वयं विदारण होता है। अत: आन्तरिक कारण से स्कन्ध में से जो परमाणु अलग होते हैं, उसमें किसी बाहरी कारण की अपेक्षा नहीं होती। जैसे मन स्कन्ध के परमाणु बिना बाहरी आघात के ही स्कन्ध से अलग हो जाते हैं, उन्हें स्कंध से पृथक् होने के लिए बाहरी भेद की जरूरत नहीं होती। परन्तु बाहरी कारण से होने वाले भेद में स्कंध के अतिरिक्त दूसरे कारण की अपेक्षा होती है। उस कारण के होने पर स्कंध में उत्पन्न होने वाले भेद को बाह्य कारण मानते हैं।

अलग-अलग रहे हुए परमाणुओं का एकीभाव होना संघात है। यह भी आभ्यन्तर और बाह्य भेद से दो प्रकार का होता है। दो पृथक्-पृथक् परमाणुओं का मिलन या दो से अधिक परमाणुओं का संयोग संघात कहलाता है।

भेद और संघात उभयपूर्वक बनने वाला स्कंध भेद-संघात कहलाता है। उदाहरण के तौर पर एक स्कंध में से एक हिस्सा टूटकर अलग हुआ और उसी समय दूसरा स्कंध आकर उसमें मिल गया या मिला दिया गया और वह एक अभिनव स्कंध बन जाता है। इस प्रक्रिया से निर्मित स्कंध को भेद और संघात उभयपूर्वक मानते हैं। इस प्रकार तीन तरह से स्कंध का निर्माण होता है। कभी केवल भेद से, कभी केवल संघात से और कभी भेद और संघात से।

दो या दो से अधिक पृथक्-पृथक् रहे हुए परमाणुओं का संघात-संश्लेष या बंध कैसे होता है? जैन दार्शनिकों ने इसका उत्तर देते हुए कहा है कि परमाणुओं में जो संश्लेष होता है- वह उनमें रहे हुए स्निग्ध और रूक्ष स्पर्श के कारण होता है।[2] बंध में इन बातों का होना जरूरी है --

1. जघन्य गुण युक्त अवयवों का बंध नहीं होता है।

2. समान गुण होने पर भी सदृश अवयवों का अर्थात् स्निग्ध से स्निग्ध या रूक्ष से रूक्ष अवयवों का बंध नहीं होता है।

3. दो से अधिक गुण वाले अवयवों का बंध होता है।[3]

---

1. भेदसंघातेभ्य उत्पद्यन्ते । –तत्त्वार्थ सूत्र, 5, 26.
2. स्निग्धरूक्षत्वाद् बन्ध: । –तत्त्वार्थ सूत्र, 5, 33.
3. न जघन्य गुणानाम्। गुणसाम्ये सदृशानाम्। द्वयधिकादिगुणानां तु। –तत्त्वार्थ सूत्र, 5, 34-36.

इससे यह स्पष्ट हो गया है कि परमाणुओं में स्निग्धत्व या रूक्षत्व का अंश या गुण जघन्य होने पर उनमें बंध नहीं होता, मध्यम या उत्कृष्ट गुण होने पर ही उनका बंध होता है। दूसरे निषेध का तात्पर्य यह है कि समान गुण युक्त सदृश अवयवों में परस्पर बंध नहीं होता है। जैसे स्निग्ध से स्निग्ध या रूक्ष से रूक्ष अवयवों का बंध नहीं होता है। इसे और सीमित करते हुए कहा गया है कि असमान गुण वाले सदृश अवयवों में भी तभी बंध होता है, जब एक अवयव का स्निग्धत्व या रूक्षत्व गुण दूसरे अवयव से दो गुण अधिक हो। इससे यह स्पष्ट हो गया है कि एक अवयव के स्निग्धत्व या रूक्षत्व की अपेक्षा दूसरे अवयव का स्निग्धत्व या रूक्षत्व एक गुण अधिक हो तो भी उनका बंध नहीं होता, दो गुण अधिक होने पर ही बंध होता है।[1]

बन्ध की मान्यता में दो परम्पराएं हमारे सामने हैं–श्वेताम्बर और दिगम्बर। श्वेताम्बर परम्परा की यह मान्यता है कि दो परमाणु जघन्य गुण वाले हों तो उनका बंध नहीं होता है। किन्तु एक परमाणु जघन्य गुण युक्त हो और दूसरा मध्यम या उत्कृष्ट गुण युक्त हो तो दोनों में बंध हो जाता है। परन्तु दिगम्बर परम्परा में यदि दो परमाणुओं में से एक परमाणु भी जघन्य गुण वाला है, तो उनमें बंध नहीं होता है। परन्तु श्वेताम्बर सिद्धांत के अनुसार एक परमाणु से दूसरे परमाणु में स्निग्धत्व या रूक्षत्व दो, तीन, चार यावत् संख्यात, असंख्यात, अनन्त गुण अधिक होने पर भी बंध हो जाता है, एक गुण अधिक का बंध नहीं होता। जबकि दिगम्बर मान्यतानुसार एक अवयव से दूसरे अवयव में स्निग्धत्व या रूक्षत्व दो गुण अधिक होने पर ही बंध होता है, न कि एक गुण अधिक होने पर बंध होता है और न तीन, चार यावत् अनन्त गुण अधिक होने पर बंध होता है। श्वेताम्बर परम्परा की धारणा के अनुसार दो, तीन आदि गुणों के अधिक होने पर जो बंध का विधान है, वह सदृश अवयवों के लिए है, असदृश अवयवों के लिए नहीं। किन्तु दिगम्बर धारणा के अनुसार यह बंध-विधान सदृश और असदृश दोनों प्रकार के अवयवों के बंध के लिए है। श्वेताम्बर और दिगम्बर परम्पराओं के

---

1. बंध परिणामे ण भंते ! कइविहे पण्णत्ते ?
गोयमा ! दुविहे पन्नत्ते, तं जहा -णिद्धबंधण- परिणामे, लुक्खबंधण-परिणामे।
समणिद्धाए बंधो ण होइ, समलुक्खाए वि ण होई।
वेमायणिद्धलुक्खत्तणेण, बंधो उ खंधाणं।।
णिद्धस्स णिद्धेण दुयाहिए णं, लुक्खस्स लुक्खेण दयाहिए णं।
णिद्धस्स लुक्खेण उवेइ बंधो, जहण्णवज्जो विसमो समो वा।। –प्रज्ञापना सूत्र, पद 13.

बंध विषयक मतभेद का सार निम्न कोष्ठकों में दिया जाता है।[1]

श्वेतांबर परम्परा

	गुण	सदृश	विसदृश
1.	जघन्य + जघन्य	नहीं	नहीं
2.	जघन्य + एकाधिक	नहीं	है
3.	जघन्य + द्वयाधिक	है	है
4.	जघन्य + त्र्याधिकादि	है	है
5.	जघन्येतर + सम जघन्येतर	नहीं	है
6.	जघन्येतर + एकाधिक जघन्येतर	नहीं	है
7.	जघन्येतर + द्वयाधिक जघन्येतर	है	है
8.	जघन्येतर + त्र्याधिक जघन्येतर	है	है

दिगम्बर परम्परा

1.	जघन्य + जघन्य	नहीं	नहीं
2.	जघन्य + एकाधिक	नहीं	नहीं
3.	जघन्य + द्वयाधिक	नहीं	नहीं
4.	जघन्य + त्र्याधिकादि	नहीं	नहीं
5.	जघन्येतर + सम जघन्येतर	नहीं	नहीं
6.	जघन्येतर + एकाधिक जघन्येतर	नहीं	नहीं
7.	जघन्येतर + द्वयाधिक जघन्येतर	है	है
8.	जघन्येतर + त्र्याधिकादि जघन्येतर	नहीं	नहीं

दो असदृश गुण वाले अवयवों में बंध होता है, तो वे परमाणु किस रूप में परिणत होते हैं? कौन परमाणु किसको अपने में परिणत करता है? यह तो हम ऊपर बता चुके हैं कि

1. तत्त्वार्थ सूत्र (पं. सुखलाल संघवी) पृ. 202.

समान गुण वाले सदृश अवयवों का तो बंध होता नहीं। विसदृश बंध के समय कभी एक सम अवयव दूसरे सम अवयव को अपने रूप में परिणत कर लेता है, तो कभी दूसरा सम अवयव पहले सम अवयव को अपने रूप में परिवर्तित कर लेता है। जैसा द्रव्य, क्षेत्र आदि का संयोग मिलता है, वैसा परिवर्तन हो जाता है। और जब अधिक गुण एवं हीन गुण का बंध होता है, तब अधिक गुण युक्त अवयव हीन गुण वाले अवयव को अपने रूप में बदल लेता है। जिस परम्परा में समान गुण वाले अवयवों में बध ही नहीं होता, वहां अधिक गुण युक्त अवयव हीन गुण वाले अवयव को अपने रूप में बदल लेता है, इतना ही पर्याप्त है।

पुद्‌गल के मुख्य रूप से स्कंध और अणु ये दो भेद हैं। इन भेदों के आधार पर बनने वाले छः भेदों का वर्णन भी मिलता है।[1]

1. स्थूल-स्थूल–स्वर्ण, लोहा, काष्ठ, पत्थर आदि ठोस पदार्थ इसमें गिने जाते हैं।
2. स्थूल-दूध, दही, मक्खन, पानी आदि द्रव–बहने वाले पदार्थ स्थूल के अंतर्गत आते हैं।
3. स्थूल-सूक्ष्म–प्रकाश, विद्युत, उष्णता आदि अभिव्यक्तियां स्थूल-सूक्ष्म की श्रेणी में आती हैं।
4. सूक्ष्म-स्थूल–वायु, वाष्प आदि सूक्ष्म-स्थूल के अंतर्गत समझे जाते हैं।
5. सूक्ष्म–मनोवर्गणा आदि अचाक्षुष द्रव्य सूक्ष्म पुद्‌गल हैं।
6. सूक्ष्म-सूक्ष्म–पुद्‌गल का अविभाज्य अंश परमाणु सूक्ष्म-सूक्ष्म कोटि में आता है।

अचाक्षुष पुद्‌गल स्कंध भेद और संघात से चाक्षुष बनते हैं। जब कोई स्कंध सूक्ष्मत्व से निवृत्त होकर स्थूलत्व को प्राप्त होता है, तब उसमें कुछ नए परमाणु अवश्य मिलते हैं और कुछ पुरातन परमाणु अलग भी होते हैं। मिलना और अलग होना यही भेद और संघात है।

प्रश्न–पुद्‌गल का इतना लम्बा वर्णन करने पर भी यह समझ में नहीं आया कि उनका काम क्या है?

उत्तर–पुद्‌गल अनन्त हैं और उनके स्थूल-स्थूल, स्थूल, स्थूल-सूक्ष्म आदि प्रकार

1. तत्त्वार्थ सूत्र (पं. सुखलाल संघवी)

से अनंत स्कंध बनते-बिगड़ते रहते हैं। इस दृष्टि से पुद्गलों के अनंत कार्य होते हैं। फिर भी कुछ विशिष्ट कार्य हैं, जिन पर प्रकाश डालने का प्रयत्न करेंगे। वे कार्य हैं—शब्द, बंध, सौक्ष्म्य, स्थौल्य, संस्थान, भेद, तम, छाया, आतप और उद्योत।[1] ये पुद्गल के असाधारण गुण हैं अर्थात् पुद्गल के अतिरिक्त अन्य द्रव्यों में नहीं मिलते हैं।

शब्द

वैशेषिकदर्शन शब्द को आकाश का गुण मानता है। सांख्यदर्शन शब्द तन्मात्रा से आकाश की उत्पत्ति मानता है। परन्तु दोनों मान्यताएं गलत हैं। हम पहले बता आए हैं कि शब्द पुद्गल है। क्योंकि शब्द का उद्भव दो पुद्गल स्कन्धों में परस्पर संघर्ष होने से होता है। अत: वह पुद्गल से उत्पन्न होता है और अपने मार्ग में पड़ने वाले पुद्गलों को तरंगित करता है, कंपित करता है तथा पुद्गलों द्वारा ग्रहण होकर एक स्थान से दूसरे स्थान को पहुंचाया जाता है और हमारी कर्णेन्द्रिय द्वारा ग्रहण किया जाता है। इससे स्पष्ट हो जाता है कि शब्द पुद्गल द्रव्य है और मूर्त है। किन्तु आकाश अमूर्त है, इसलिए शब्द उसका गुण नहीं बन सकता है और न उसकी तन्मात्रा से आकाश का उद्भव ही हो सकता है। क्योंकि मूर्त पदार्थ अमूर्त द्रव्य का न तो गुण बन सकता है और न वह अमूर्त को उत्पन्न ही कर सकता है। जब शब्द मूर्त है, पुद्गल है, तो उसकी तन्मात्रा भी तद्रूप ही होगी। अत: उससे आकाश की उत्पत्ति मानना अनुभवगम्य भी नहीं है।

शब्द के मुख्य रूप से दो भेद हैं—1. प्रयोगज और 2. वैस्रसिक। जो शब्द आत्मा के प्रयत्न से उत्पन्न होता है, वह प्रयोगज और जो बिना प्रयत्न के उत्पन्न होता है वह वैस्रसिक कहलाता है। मेघों-बादलों की गर्जना वैस्रसिक है। प्रयोगज शब्द के 6 प्रकार बतलाये गये हैं—1.भाषा, 2. तत, 3. वितत, 4. घन, 5. शुषिर, और 6. संघर्ष। भाषा-मनुष्य आदि की व्यक्त और पशु-पक्षी आदि की अव्यक्त ऐसी अनेकविध भाषाएं हैं। 2. तत-चमड़ा लपेटे हुए अर्थात् मृदंग, पटह आदि का शब्द। 3. वितत-तार युक्त वीणा, सारंगी आदि वाद्यों का शब्द। 4. घन-झालर, घण्टा आदि का शब्द। 5. शुषिर-फूंककर बजाये जाने वाले शंख-बंशी आदि का शब्द। 6. संघर्ष-लकड़ी या डंडे आदि के संघर्ष से होने वाला शब्द।[2]

---

1. शब्दबन्धसौक्ष्म्यस्थौल्यसंस्थानभेदतमश्छायाऽऽतपोद्योतवन्तश्च। —तत्त्वार्थ सूत्र, 5, 24.
2. तत्त्वार्थ सूत्र (पं. सुखलाल संघवी) पृष्ठ 207.

बन्ध

बन्ध के विषय में हम पिछले पृष्ठों पर लिख चुके हैं। शब्द की तरह बन्ध भी दो प्रकार का है–वैस्रसिक और प्रायोगिक। पहला आदिमान और अनादिमान के भेद से दो प्रकार का है। स्निग्ध और रूक्ष गुणयुक्त परमाणुओं से निर्मित मेघ, विद्युत, वर्षा, इन्द्रधनुष आदि विषयक बन्ध आदिमान वैस्रसिक है और धर्म, अधर्म और आकाश का जो बन्ध है, वह अनादि है। प्रायोगिक बन्ध भी दो तरह का है–अजीव विषयक और जीवाजीव विषयक। काष्ठ और राल आदि पदार्थों का बन्ध अजीव विषयक और आठ कर्मों का एवं शरीर आदि का बन्ध जीवाजीव विषयक प्रायोगिक बन्ध है।

सौक्ष्म्य

सौक्ष्म्य भी अन्त्य और आपेक्षिक के भेद से दो प्रकार का है। परमाणु का सौक्ष्म्य अन्त्य है, क्योंकि वह पुद्गल का अविभाज्य अंश है, उससे और सूक्ष्म भाग नहीं हो सकता। अन्य पदार्थों की सूक्ष्मता आपेक्षिक है, जैसे–सन्तरा तरबूज की अपेक्षा सूक्ष्म है और अखरोट सन्तरे की अपेक्षा सूक्ष्म है, इत्यादि।

स्थौल्य

सूक्ष्म की तरह स्थूलता भी दो प्रकार की है–अन्त्य और आपेक्षिक। जगत् व्यापक महास्कन्ध अन्त्य स्थूल है, उससे अधिक बड़ा और कोई स्कन्ध नहीं होता है। तरबूज, सन्तरा और अखरोट आदि की स्थूलता सापेक्ष है।

संस्थान

इत्थं और अनित्थं के भेद से संस्थान दो प्रकार का है। जिस संस्थान की दूसरे संस्थान के साथ तुलना की जा सके वह इत्थं संस्थान है और जिसकी किसी संस्थान के साथ तुलना न की जा सके या जिसका कोई निश्चित आकार न हो वह अनित्थं संस्थान है। मेघादि का संस्थान अनित्थं स्वरूप है और अन्य पदार्थों का इत्थं संस्थान है।

भेद

यह तो हम पहले बता चुके हैं कि स्कन्ध एवं अणु का निर्माण भेद से भी होता है। वह भेद 6 प्रकार का है–1. उत्कर, 2. चूर्ण, 3. खण्ड, 4. चूर्णिका, 5. प्रतर और 6.

अणुचटन। काष्टादि के चीरने से जो पुद्गलों का विभक्तिकरण होता है, उसे उत्कर कहते हैं। गेहूं, चना, बाजरा आदि को चक्की में पीसने पर जो स्वरूप होता है, उसे चूर्ण कहते हैं। घट आदि के टुकड़े होना खण्ड कहलाता है। चने, मूंग, चावल, जौ आदि के छिलकों को अलग करना चूर्णिका है। अभ्र-पटलादि को अलग करने का नाम प्रतर है और तप्त लोहे को घन से पीटने पर उसमें से स्फुलिंग का उछलना अणुचटन कहलाता है।

तम

नैयायिक अंधकार को स्वतंत्र द्रव्य न मानकर प्रकाश का अभाव मात्र मानते हैं। परन्तु जैनदर्शन इस बात को नहीं मानता, वह अंधेरे को अभाव न मानकर प्रकाश की तरह भावात्मक पदार्थ मानता है। क्योंकि पुद्गल सदा रूप आदि से युक्त होता है और अंधेरे में रूप आदि का सद्भाव है। जैसे प्रकाश में भास्वर-उज्ज्वल रूप और उष्ण स्पर्श लोकप्रसिद्ध है, उसी तरह अंधेरे में भी अभास्वर-कृष्ण रूप और शीत स्पर्श की स्पष्ट प्रतीति होती है। अत: अंधकार प्रकाश का अभाव नहीं, परन्तु भावात्मक पदार्थ है और परमाणुओं का स्कंध है।

छाया, आतप और उद्योत

प्रकाश पर आवरण का आ जाना छाया है। सूर्य, अग्नि आदि का उष्ण प्रकाश आतप और चन्द्र, मणि एवं खद्योत आदि का शीतल प्रकाश उद्योत कहलाता है।

उपरोक्त कार्य पुद्गल के असाधारण कार्य हैं। अर्थात् ये शुद्ध पौद्गलिक होते हैं। कुछ कार्य ऐसे हैं, जो जीव और पुद्गल के सम्बन्ध से होते हैं। शरीर, वाणी, मन, नि:श्वास-उच्छ्वास, सुख-दु:ख, जीवन-मरण आदि कार्य उभय द्रव्यों के सम्बन्ध से निष्पन्न होते हैं।

स्कन्ध की अपेक्षा से पुद्गल विभिन्न आकार-प्रकार में परिलक्षित होता है। परन्तु, उसका शुद्ध रूप परमाणु है। भौतिक-वैज्ञानिकों ने पहले 92 मौलिक तत्त्वों (Elements) की खोज की थी। उनका वजन और शक्ति के अंश भी निर्धारित किए थे। मौलिक तत्त्व का अर्थ होता है--एक तत्त्व का दूसरे रूप को प्राप्त न करना। इस परिभाषा के अनुसार अब वर्तमान वैज्ञानिक कोष में केवल एटम (Atom) ही मौलिक तत्त्व के रूप में अवशेष रहा है। यही एटम अपने आस-पास चारों तरफ गतिशील इलेक्ट्रोन और प्रोटोन की संख्या के भेद से ऑक्सीजन, हाइड्रोजन, चांदी, स्वर्ण, लोहा, तांबा, यूरेनियम, रेडियम आदि अवस्थाओं को धारण कर लेता है। ऑक्सीजन के अमुक इलेक्ट्रोन या प्रोट्रोन को तोड़ने या मिलाने पर वही हाइड्रोजन बन जाता है। इस तरह ऑक्सीजन और हाइड्रोजन दो मौलिक तत्त्व न होकर एक

तत्त्व की अवस्था विशेष ही मालूम होते हैं। वह मूल तत्त्व केवल अणु (Atom) है।[1] जैनदर्शन भी इसी सिद्धांत को मानता है। अलग-अलग दिखाई पड़ने वाले स्कन्ध विभिन्न तत्त्व नहीं हैं। भेद और संघात से या वैज्ञानिक भाषा में यों कहिए कि रासायनिक परिवर्तनों के कारण एक स्कन्ध में से अमुक प्रकार के परमाणु के बिखरने–अलग होने और मिलने से वह दूसरे स्कन्ध के रूप में बदल जाता है। परन्तु सभी स्कन्धों में स्थित परमाणु का नाश नहीं होता, उसका शुद्ध रूप सदा बना रहता है। अत: परमाणु को पुद्गल का शुद्ध रूप माना गया है।

काल द्रव्य

जैनागमों में काल का लक्षण वर्त्तना बताया गया है। तत्त्वार्थ सूत्र में वर्त्तना, परिणाम, क्रिया और परत्व-अपरत्व ये काल के उपकार बताए गए हैं।[2] अपने-अपने पर्याय की उत्पत्ति में स्वयमेव प्रवर्त्तमान द्रव्यों को निमित्त रूप से प्रेरणा करना वर्त्तना है। स्व-स्वरूप का परित्याग किए बिना द्रव्य की पर्यायों में होने वाला परिवर्तन या पर्यायों की पूर्वावस्था की निवृत्ति और उत्तरावस्था की उत्पत्ति को परिणाम कहते हैं। पर्यायों में जो स्पन्दन होता है उसे गति कहते हैं। ज्येष्ठत्व यह परत्व है और कनिष्ठत्व अपरत्व है। यद्यपि वर्त्तना आदि कार्य यथासम्भव धर्मास्तिकाय आदि द्रव्यों के ही हैं, तथापि काल सबका निमित्त कारण होने से यहां उन्हें काल का कार्य माना गया है।[3]

काल सभी पदार्थों पर वर्तता है। अभिनव पदार्थ को पुरातन बनाता है और पुरातन को समाप्त करता है। यहां समाप्त करने का अर्थ पुद्गल के वर्तमान रूप से है, न कि द्रव्य रूप से। क्योंकि द्रव्य सदा स्थित रहता है, नए से पुराना एवं समाप्त होने का कार्य पर्यायों का है। पर्याएं एक रूप से समाप्त होकर दूसरे रूप को धारण करती रहती हैं और उसमें काल निमित्त रूप से कारण होता है।

काल दो तरह का माना गया है–1. निश्चय काल और 2. व्यवहार काल। लोकाकाश पर स्थित जो असंख्यात कालाणु (काल द्रव्य) हैं, उन्हें निश्चय काल कहते हैं। इनके निमित्त से वस्तु में परिवर्तन होता है और प्रत्येक द्रव्य की पर्यायों में उत्पाद और व्यय होता रहता है। समय, आवलिका, मुहूर्त, दिन-रात, महीना, वर्ष, शताब्दी आदि को व्यवहार काल कहते हैं।

---

1. जैनदर्शन (प. महेन्द्र कुमार) पृ. 182
2. तत्त्वार्थ सूत्र, 5, 22
3. तत्त्वार्थ सूत्र (पं. सुखलाल संघवी) पृ. 205

यह अनन्त समय (पर्याय) वाला है। यों तो समय एक ही होता है। क्योंकि वर्तमान एक समय का ही होता है। परन्तु भूत और भविष्य की अपेक्षा से अनन्त समय होते हैं। इस कारण काल को अनन्त समय वाला कहा गया है। यंह व्यवहार काल सौर मण्डल एवं घड़ी आदि से जाना-पहचाना जाता है।

काल को प्राय: सभी दार्शनिकों ने माना है। उन्होंने मात्र व्यवहार काल को माना है। काल द्रव्य को जैनों ने ही स्वीकार किया है। कुछ आचार्य उसे स्वतन्त्र द्रव्य नहीं मानते, परन्तु कुछ स्वतन्त्र द्रव्य मानते हैं। हां, वे भी उसे अस्तिकाय (समूह रूप) नहीं मानते हैं। अस्तु, काल के असंख्यात अणु एक-दूसरे से सम्बद्ध नहीं हैं, परन्तु मुक्ता कणों की भांति आकाश के प्रत्येक प्रदेश पर अलग-अलग स्थित हैं। इस तरह जैनों ने छ: द्रव्य माने हैं-धर्म, अधर्म, आकाश, काल, पुद्गल और जीव। उनमें पांच अस्तिकाय (समूह रूप) हैं और काल समूह रूप नहीं है। प्रथम के पांचों द्रव्य अर्थात् जीव द्रव्य को छोड़कर शेष पांचों द्रव्य अजीव हैं, चेतना-रहित हैं।

❑ ❑ ❑

बन्ध-मोक्ष मीमांसा

प्रश्न--जगत् जीव और अजीव या जड़ और चेतन पर आधारित है, यह तो समझ में आ गया। परन्तु यह आत्मा संसार में क्यों परिभ्रमण करती है, जड़ पुद्गलों का इसके साथ कैसे सम्बन्ध होता है? वह सम्बन्ध सदा बना रहता है या उसका अन्त भी किया जा सकता है? यदि किया जा सकता है तो किस तरह किया जा सकता है? इसे स्पष्ट रूप में समझायें!

उत्तर--जैनागमों में यह बताया गया है कि कर्मबन्ध के कारण आत्मा संसार में परिभ्रमण करता है। कषाययुक्त योगों की प्रवृत्ति से कर्म-पुद्गल आत्मा के साथ सम्बद्ध होते हैं। आत्मा और कर्मों का सम्बन्ध अनादि काल से है। परन्तु यह सदा के लिए बना रहेगा, ऐसी बात नहीं है। क्योंकि अनादिकालीन सम्बन्ध प्रवाह रूप से है। व्यक्तिश: कर्म-पुद्गलों में प्रति समय परिवर्तन होता रहता है। पुराने कर्म अपना फल देकर नष्ट हो जाते हैं और नये कर्मो का बन्ध होता रहता है। अत: आत्म-साधना के द्वारा कर्मों का आत्यन्तिक क्षय भी किया जा सकता है।

कर्म-पुद्गलों के आगमन की प्रक्रिया को आस्रव कहते हैं। कषाययुक्त योग प्रवृति से समागत कर्म-पुद्गलों का आत्म-प्रदेशों के साथ प्रकृति, स्थिति, अनुभाग और प्रदेश रूप से सम्बन्ध होने को बन्ध कहते हैं। आस्रव और बंध--शुभ और अशुभ रूप से दो प्रकार का होता है। शुभ को पुण्य और अशुभ को पाप भी कहते हैं। नये कर्म-पुद्गलों के आगमन को रोकने की साधना को संवर तथा पूर्वसंचित कर्मों को क्षय करने की क्रिया को निर्जरा कहते हैं। इस तरह नये कर्मों का आगमन रोककर, पुराने कर्मो का क्षय करने से एक समय कर्मो का आत्यन्तिक नाश हो जाता है, आत्मा कर्मबंधन से मुक्त हो जाता है। इस तरह अनादि काल से कर्म प्रवाह सम्बद्ध आत्मा उनसे सदा के लिए उन्मुक्त हो जाता है। यह बात पुण्य, पाप, आस्रव, संवर, बंध, निर्जरा और मोक्ष इन सात तत्वों के द्वारा स्पष्ट की गयी है। हम यहां इस पर जरा विस्तार से विचार करेंगे।

पुण्य तत्त्व

आचार्य उमास्वाति ने कहा है–"**शुभः पुण्यस्य।**" जिन कर्म-प्रकृतियों का फल शुभ होता है, सुख रूप में मिलता है, उन्हें पुण्य कहते हैं। पुण्य शब्द का अर्थ है '**पुनातीति पुण्यम्**' अर्थात् जो कर्म आत्मा को पावन-पवित्र बनाने का कारण बनता है, वह पुण्य है। मनुष्य जन्म, स्वस्थ शरीर, निर्दोष पांच इन्द्रियां, शास्त्र का श्रवण, सद्गुरु का सम्पर्क, धर्म करने की अभिरुचि, यहां तक कि तीर्थंकर नामकर्म का बंध भी पुण्य से होता है। पुण्य जीवन का विकासक है, उसके कारण जीव को विविध सुख-साधन एवं जीवन विकास की सामग्री प्राप्त होती है।

जैनाचार्यों ने पुण्य दो प्रकार का माना है–1. पुण्यानुबंधी पुण्य और 2. पापानुबंधी पुण्य। पहला पुण्य वह है जिसके द्वारा पुण्य से प्राप्त मानव-जीवन एवं साधनों का उपयोग शुभ कार्य में होता है और वह पुण्य का अनुबंध करने में सहायक बनता है। दूसरे प्रकार का पुण्य वह है, जिसके द्वारा प्राप्त सामग्री का व्यय दुष्कर्मों में होता है और उससे पुण्य के बदले पाप कर्म का संग्रह होता रहता है। अस्तु जो साधन वर्तमान में पुण्य एवं निर्जरा के कारण बनते हैं, वे पुण्यानुबंधी पुण्य के उदय से मिले हैं और जिनके द्वारा पाप कर्मो का संग्रह होता है अथवा जो मानव मन को विषय-वासना एवं भोगों की ओर घसीटते हैं, वे पापानुबंधी पुण्य के उदय से मिले हैं। यह सत्य है कि उनकी प्राप्ति के पीछे पुण्य एवं शुभ कर्म का हाथ रहा है, परन्तु साथ में भावना की विशुद्धता न होने से वे बाहरी रूप से सुख-साधन होते हुए भी जीव के लिए घोर दुःख एवं पतन के कारण बनते हैं।

यह नितांत सत्य है कि दुनिया की सारी व्यवस्था कर्मों के अनुसार होती है। पूर्व में किये हुए कर्म यदि उनकी निर्जरा नहीं की है तो अवश्य उदय में आते हैं। अतः हमें मिलने वाले अच्छे एवं बुरे साधन कर्म के परिणाम ही हैं। परन्तु, इतना होते हुए भी यह आत्मा सर्वथा कर्मो के अधीन नहीं है। उसकी शक्ति कर्मों से भी अधिक है। वह केवल पुण्य-पाप के भरोसे पर ही नहीं है। यदि ऐसा ही हो तब तो वह कभी भी पुण्य-पाप के बंधन से मुक्त-उन्मुक्त हो ही नहीं सकेगी। आत्मा को वर्तमान में जो कुछ मिला है, वह कर्म का फल है, परन्तु उस कर्म प्रवाह को बदलने की शक्ति भी आत्मा में है। वह पापानुबंधी पुण्य से प्राप्त हुए साधनों को शुभ, शुद्ध, शुद्धतर और शुद्धतम बना सकती है, दुःख के निमित्तों को सुख रूप में बदल सकती है, कर्मबंध के कारणों को कर्म तोड़ने के साधन बना भी सकती है। नंदीषेण को पापानुबंधी पुण्य एवं अशुभ कर्म के उदय से कुबड़ा शरीर, कुरूप चेहरा

अव्यवस्थित अंगोपांग, कर्कश स्वर मिला था। वह सबके लिए उपहास एवं घृणा का पात्र बना था। यत्र-तत्र-सर्वत्र उसे घृणा-तिरस्कार एवं अपमान सहना पड़ता था। कोई व्यक्ति उसकी शक्ल-सूरत देखना नहीं चाहता था। कोई भी उसके शब्द सुनना पसन्द नहीं करता था। वह बेचारा जीवन से ऊबकर मरने को चल पड़ा और वहां एक महात्मा का योग पाकर स्वयं महात्मा-तपस्वी बन गया। वह शरीर, वह वाणी जो कर्मबंध का कारण बन रही थी, जीवन एवं भावना के बदलते ही वह निर्जरा एवं संवर का कारण बन गयी। एक दिन जिसे कोई अपने पास खड़ा नहीं रहने देना चाहता था, उसी की सेवा में देव रहने लगा। इससे स्पष्ट हो जाता है कि शुभ या अशुभ कर्म के उदय से उपलब्ध शुभाशुभ साधनों को मनुष्य बदल भी सकता है। अशुभ साधनों को शुभ एवं शुभ को अशुभ बनाने की शक्ति मनुष्य के हाथ में है। कर्म–चाहे शुभ हों या अशुभ, जड़ हैं और आत्मा चेतन है। वह अनन्त शक्ति युक्त है, अपनी ताकत से सारे कर्मों को तोड़ने में समर्थ है। आवश्यकता इस बात की है कि वह अपनी ताकत को समझकर उसका ठीक तरह से उपयोग करे।

पुण्य का फल शुभ होता है। वह अनेक तरह के शुभ भावों एवं कार्यों से बंधता है। फिर भी शास्त्रकारों ने उसे नौ प्रकार का बताया है, जिससे प्रत्येक व्यक्ति सरलता से समझ सके। वह वर्गीकरण इस प्रकार है–1. अन्न-पुण्य 2. पान-पुण्य 3. लयन-पुण्य, 4. शयन-पुण्य, 5. वस्त्र-पुण्य, 6. मन-पुण्य, 7. वचन-पुण्य, 8. काय-पुण्य, 9. नमस्कार-पुण्य।[1] संक्षेप में पुण्य बंध के ये नौ कारण हैं।

1. **अन्न-पुण्य**–साधु को एवं बुभुक्षित मनुष्य को शुद्ध हृदय एवं दया-अनुकम्पा युक्त निःस्वार्थ भाव से यथा-योग्य अन्न का दान देने से पुण्य कर्म का बंध होता है।

2. **पान-पुण्य**–इसी तरह शुभ भावों से, निस्वार्थ बुद्धि से पानी का दान देने से भी पुण्य कर्म का बंध होता है।

3. **लयन-पुण्य**–पात्रादि उपकरण देने से भी पुण्य होता है।

4. **शयन-पुण्य**–रहने के लिए मकान देने से भी पुण्य होता है।

5. **वस्त्र-पुण्य**–वस्त्र का दान करने से भी पुण्य होता है।

6. **मन-पुण्य**--मन से दूसरों का हित चाहने से पुण्य होता है।

---

1. स्थानांग सूत्र, स्थान ९।

7. **वचन-पुण्य**–गुणिजनों का गुणकीर्तन करने एवं सबके साथ प्रेम-स्नेह से मधुर भाषण करने से भी पुण्य बंध होता है।

8. **काय-पुण्य**–शरीर से दूसरों की सेवा-शुश्रूषा करने, दुखियों के दु:ख को दूर करने का प्रयत्न करने से, दूसरों के हित में अपना जीवन लगा देने से भी पुण्य बंधता है।

9. **नमस्कार-पुण्य**–गुण युक्त व्यक्ति को नमन करने तथा उस की विनय-भक्ति करने से पुण्य का बन्ध होता है।

पुण्य 42 प्रकार से उदय में आता है। यह सत्य है कि वह बंधन रूप है। परन्तु इससे वह एकांत त्याज्य नहीं है। क्योंकि संसार समुद्र पार करने में वह सहायक होता है। जैसे समुद्र के एक किनारे से दूसरे किनारे तक पहुंचाने के लिए नौका उपयुक्त साधन है, फिर भी वह सदा पकड़े रखने योग्य नहीं है। उसका उपयोग अपने मनोनुकूल स्थान पर पहुचने तक ही रहता है। इच्छित स्थान पर पहुंचते ही वह त्याज्य है। इसी तरह पुण्य भी 13वें गुणस्थान तक पहुंचने के लिए उपयोगी है। बाद में उसकी कोई आवश्यकता नहीं रह जाती है। अत: छद्मस्थ अवस्था में पुण्य उपादेय है, तो वीतराग अवस्था में त्याज्य है। अस्तु पुण्य को एकान्त रूप से त्यागने योग्य बताना या मानना गलत है।

पाप तत्त्व

पाप का लक्षण पुण्य से विपरीत है। तत्त्वार्थ सूत्र में कहा है–"**अशुभः पापस्य**" अर्थात् पाप का फल अशुभ होता है। जीवन यात्रा में जो कटुक क्षण गुजरते हैं, जो मुंसीबतों के पहाड़ मानव पर गिरते हैं या जो दु:खों-वेदनाओं की बिजली कड़कती हैं, वह सब पाप का परिणाम ही है। नरक और तिर्यञ्च गति की यात्रा भी मानव पाप के यान में बैठकर ही करता है। नरक, तिर्यञ्च, मनुष्य और देवगति में जीव जो कष्ट, पीड़ा एवं वेदनाएं झेलता है, उसका श्रेय भी इसी साथी को है। पाप की दोस्ती मानव को नरक के महागर्त में गिराने वाली है, संसार में परिभ्रमण कराने वाली है।

पाप कर्म बंधने के अनेक कारण हैं। अशुभ विचारों की जितनी तरंगें हैं, उतने ही पाप कर्म के भेद हो सकते हैं। परन्तु सरलता से सब की समझ में आ जाये, इसलिए आगमों में पाप कर्म बन्ध के 18 भेद माने हैं–1. प्राणातिपात, 2. मृषावाद, 3.अदत्तादान, 4. मैथुन, 5. परिग्रह, 6. क्रोध, 7. मान, 8. माया, 9. लोभ, 10. राग, 11. द्वेष, 12. कलह,

13. अभ्याख्यान, 14. पैशुन्य, 15. परपरिवाद, 16. रति-अरति, 17. मायामृषा और 18. मिथ्यादर्शनशल्य।

1. **प्राणातिपात**–किसी भी प्राणी के प्राणों का नाश करना, हिंसा करना।

2. **मृषावाद**–असत्य भाषण करना।

3. **अदत्तादान**–दूसरे के अधिकार में रही हुई वस्तु को उसके मालिक की बिना इच्छा एवं आज्ञा के उठाना तथा दूसरे के अधिकारों, हितों एवं स्वार्थों का अपहरण करना।

4. **मैथुन**–व्यभिचार का सेवन करना।

5. **परिग्रह**–धनादि वस्तुओं एवं सुख-साधनों पर आसक्ति रखना, भोगों में मूर्च्छित होकर रहना।

6. **क्रोध**–आवेश में आना।

7. **मान**–अहंकार या अभिमान करना।

8. **माया**–छल-कपट करना, धोखा देना।

9. **लोभ**–पदार्थों की तृष्णा रखना, लालच करना।

10. **राग**–किसी मनोनुकूल पदार्थ, व्यक्ति एवं परिस्थिति के प्रति मोह-ममत्व रखना।

11. **द्वेष**–प्रतिकूल पदार्थ, व्यक्ति एवं परिस्थिति के आने पर जल उठना तथा उनसे नफरत एवं घृणा करना।

12. **कलह**–वाग्युद्ध करना।

13. **अभ्याख्यान**–किसी पर झूठा दोषारोपण करना।

14. **पैशुन्य**–चुगली खाना।

15. **परपरिवाद**–किसी की झूठी या सच्ची निंदा करना।

16. **रति-अरति**–विषय-भोगों में आनन्दित होना।

17. **मायामृषा**–कपटयुक्त झूठ बोलना।

18. **मिथ्यादर्शनशल्य**–तत्त्व में अतत्त्व बुद्धि तथा अतत्त्व में तत्त्व बुद्धि रखना या प्रत्येक कार्य संसाराभिमुख होकर करना।

मोटे रूप से पाप बन्ध के ये अठारह कारण बताए गए हैं। इस तरह के और भी अशुभ विचारों का चिन्तन, कटुभाषा का प्रयोग एवं दुष्कर्मों में प्रवृत्ति करना भी पाप कर्म के बन्ध का कारण है। पाप कर्म 82 प्रकार से उदय में आता है। विविध योनियों में अशुभ साधनों का उपलब्ध होना पाप कर्म का फल है।

जैनों की यह मान्यता रही है कि पाप कर्म के बन्ध के साथ कुछ पुण्य प्रकृतियां तथा पुण्य के साथ कुछ पाप प्रकृतियां बंधती हैं। तो यहां यह प्रश्न उठना स्वाभाविक है कि फिर यह क्यों कहा गया कि पुण्य का फल शुभ एवं पाप का फल अशुभ होता है? तर्क ठीक है। प्रदेश बन्ध की दृष्टि से पुण्य के साथ-साथ पाप प्रकृतियां एवं पाप के साथ पुण्य प्रकृतियां भी बंधती हैं, परन्तु उनकी मात्रा नगण्य-सी होती है। इसलिए उनका वहां कोई मूल्य नहीं रहता है। दूसरी बात यह है कि पुण्य से शुभ एवं पाप से अशुभ कर्मों का जो बन्ध कहा गया है, वह प्रदेश बन्ध की दृष्टि से नहीं, प्रत्युत अनुभाव (रस) बन्ध की दृष्टि से कहा गया है। अत: पुण्य के साथ कुछ पाप की एवं पाप के साथ कुछ पुण्य की प्रकृतियों का प्रदेश बन्ध होता है, फिर भी जो अनुभाव (रस) का बन्ध होता है, वह पुण्य का शुभ एवं पाप का अशुभ ही होता है और फल भी अनुभाव के अनुसार मिलता है। अस्तु "शुभ: पुण्यस्य" तथा "अशुभ: पापस्य" का कथन असंगत नहीं है।

पाप कर्म मानव को सदा गिराने वाला है। उससे आत्मा भारी बन कर नीचे की ओर ही गति करती है। वह उसे कभी ऊपर नहीं उठने देता है। उसको सदा नरक, तिर्यञ्च आदि गतियों में भ्रमण कराता रहता है। अत: पाप एकान्त त्याज्य है। किसी भी तरह से वह आचरणीय नहीं है।

आस्रव तत्त्व

जिस मार्ग से कर्म आते हैं, उसे आस्रव कहते हैं। आगम में ऐसे पांच आस्रवों का उल्लेख मिलता है-1. मिथ्यात्व, 2. अविरति, 3. प्रमाद, 4. कषाय, और 5. योग। आत्मा के जिन भावों-विचारों से कर्मों का आगमन होता है, उन परिणामों को भावास्रव कहते हैं और कर्म-पुद्गलों के आगमन को द्रव्य-आस्रव कहते हैं। जबकि मिथ्यात्व आदि परिणामों (विचारों) को भाव-बन्ध भी कहा है।[1] फिर इसे भावास्रव कैसे कहा गया है? इसे यों समझना चाहिए कि प्रथम क्षणभावी परिणाम कर्मों को खींचने की कारणभूत योग प्रवृत्ति में सहायक

1. परिणामे बन्ध:।

होते हैं, अत: उन्हें भावास्रव कहते हैं और अग्रिम-क्षणभावी परिणाम बन्ध में कारण होने से उन्हें भाव-बन्ध कहा है। क्योंकि भावास्रव या परिणाम जितने तीव्र, मन्द और मध्यम होते हैं, तद्रूप ही कर्म आते हैं और आत्म-प्रदेशों के साथ उनका बन्ध होता है।

आस्रव का दूसरा नाम योग भी है। आस्रव के पांच भेदों में योग का भी उल्लेख मिलता है। योग तीन माने गए हैं–1. मन, 2. वचन, और 3. शरीर। मिथ्यात्वादि सभी प्रवृत्तियों के साधन मानसिक, वाचिक और कायिक योग ही हैं। इन्हीं के द्वारा प्रत्येक आत्मा सोचता-विचारता, बोलता एवं कर्म करता है। अत: योग आस्रव का मुख्य कारण होने से आस्रव को योग भी कहते हैं।

आस्रव शुभ और अशुभ के भेद से दो प्रकार का है। शुभ को पुण्य और अशुभ को पाप कहते हैं। इन दोनों को आस्रव के अन्तर्गत गिनने से सात तत्त्व होते हैं और अलग गणना करने से तत्त्वों की संख्या नौ बनती है। आगम परम्परा में नौ तत्त्व माने गए हैं और तत्त्वार्थ सूत्र में सात तत्त्वों का उल्लेख मिलता है। परन्तु सैद्धान्तिक दृष्टि से दोनों परम्पराओं में कोई मतभेद नहीं है। मात्र संख्या गिनने की प्रक्रिया में ही अन्तर है।

आस्रव भी एकान्त रूप से त्याज्य नहीं है। शुभास्रव साधक अवस्था में उपादेय है और सिद्ध अवस्था में त्यागने योग्य है, पर अशुभ आस्रव एकान्तत: त्यागने योग्य है।

संवर तत्त्व

संवर शब्द सम् उपसर्ग पूर्वक 'वृ' धातु से बना है। 'वृ' का अर्थ रोकना या अटकाना होता है। इस तरह संवर का अर्थ होता है अच्छी तरह से या भली-भांति रोकना। वह भी पांच प्रकार का है–1. सम्यक्त्व, 2. व्रत-प्रत्याख्यान, 3. अप्रमाद, 4. अकषाय, और 5. योगों का गोपन। आत्मा के जिन शुद्ध, निर्मल एवं पावन-पवित्र परिणामों से कर्मों का आना रुकता है, उन परिणामों को भाव-संवर कहते हैं और उस विचार परिणति से जो आते हुए कर्म रुक जाते हैं, उन्हें द्रव्य-संवर कहते हैं। अस्तु आत्मा की जिस उज्ज्वल-समुज्ज्वल भावना से कर्मों के आने का रास्ता बन्द होता है या आते हुए कर्म रुकते हैं, उस भावना एवं प्रक्रिया को संवर कहते हैं।

आध्यात्मिक जीवन में संवर को अत्यधिक महत्व दिया गया है। जीवन का मूल लक्ष्य सर्व कर्मबन्ध से मुक्त होना है और इस कार्य में आत्मा तब तक सफल नहीं हो सकती, जब

तक वह कर्म के आगमन को नहीं रोक देती है। क्योंकि कर्मों का आना जारी रहेगा तो वह कर्मबन्धन से कभी भी मुक्त नहीं हो सकती, भले ही वह कितनी ही लम्बी तपश्चर्या क्यों न करती रहे। तपस्या से वह पूर्व बंधे कर्मों का क्षय करेगी, परन्तु वर्तमान एवं अनागत में आने वाले कर्मों के द्वार को उसने नहीं रोका है, तो वह पुराने कर्मों के स्थान में नए कर्मों का बन्ध करती रहेगी। इस तरह आत्मा कभी भी कर्म-बन्धन से छूट नहीं सकेगी। अत: यह जरूरी है कि आत्मा संवर के द्वारा वर्तमान एवं अनागत में आने वाले कर्मों को रोके और निर्जरा के द्वारा पूर्व बंधे कर्मों का क्षय करे, इससे वह निष्कर्म बन जाएगी और निष्कर्म बनना ही निर्वाण या मुक्ति को प्राप्त करना है। यही आत्मा का मूल उद्देश्य है, जहां पहुंचकर वह अनन्त सुख-शान्ति का अनुभव करती है। अत: आत्म-शान्ति प्राप्त करने के लिए संवर अत्यावश्यक है। यह आत्मा की शुद्ध चेतना को प्रकट करने का साधन है।

बन्ध तत्त्व

आत्म-प्रदेशों के साथ कर्मवर्गणा के पुद्गलों का सम्बन्ध होने का नाम बन्ध है। बन्ध का अर्थ मिलन या संयोग है। परन्तु यह टेबल और उस पर स्थित घड़ी का-सा संयोग नहीं है। यह एक ऐसा मिलन-मिश्रण है, जिससे द्रव्य में एक तरह का रासायनिक (Chemical) परिवर्तन होता है। इस परिवर्तन से दोनों द्रव्यों में कुछ विकृति आ जाती है। इस तरह का मेल होने पर दोनों द्रव्यों के निजी स्वरूप में कुछ परिवर्तन या विकृति आ जाती है। इस तरह आत्म प्रदेशों के साथ कर्म का संयोग होने पर आत्मा केवल अपने स्वरूप में नहीं रह पाती, उसमें कुछ विकृति आ जाती है। परन्तु इतना होने पर भी आत्मा एवं पुद्गल दोनों अपने शुद्ध स्वरूप को खो नहीं बैठते हैं। अनन्त काल तक आत्मा एवं कर्म का सम्बन्ध रहने पर भी दोनों अपने अस्तित्व को कायम रखे रहते हैं। यह सत्य है कि दोनों में विकृति आ जाती है, परन्तु फिर भी आत्मा अनात्मा या पुद्गल रूप में तथा पुद्गल आत्मा के रूप में नहीं बदलते हैं। क्योंकि आत्मा एवं पुद्गलों का सम्बन्ध संसार अवस्था में अनन्त काल तक रहता है, कई अभव्य जीवों का अनन्त-अनन्त काल तक रहेगा अथवा यों कहिए कि वे कभी कर्म-पुद्गलों के बन्धन से मुक्त नहीं हो सकेंगे, फिर भी वह सम्बन्ध नित्य एवं स्थिर नहीं है। प्रवाह की दृष्टि से भले ही हम कह दें कि भव्य जीव अनन्त काल तक और अभव्य जीव सदा कर्मों के साथ सम्बद्ध रहते हैं, परन्तु वास्तव में देखा जाए तो इनका सम्बन्ध अस्थायी ही है। क्योंकि पूर्व में बंधे कर्म-वर्गणा के पुद्गल आत्म-प्रदेशों से हटते रहते हैं और दूसरे नए कर्म-पुद्गल

आते रहते हैं। अस्तु कर्म-पुद्गलों का आत्म-प्रदेशों के साथ मिलन-मेलन एवं बिछुड़न साथ-साथ होता रहता है। इससे यह स्पष्ट हो गया है कि कर्मों का बन्ध स्थायी नहीं है। यदि बन्ध को स्थायी मान लिया जाए, तो फिर जीव कभी भी मुक्त नहीं हो सकेगा। अस्तु कर्मबन्ध से आत्मा में विकृति आती है, कभी-कभी वह अपने स्वरूप को भूल भी जाती है, परन्तु उसका निजी अस्तित्व कभी भी समाप्त नहीं होता, विकृति आने पर भी वह अनात्म अवस्था को कभी भी प्राप्त नहीं होती है।

कर्मबन्ध के कारण ही जीव संसार में परिभ्रमण करता है और विविध गतियों एवं योनियों में अनेक तरह के सुख-दु:ख का भी संवेदन करता है। जीवन के उत्कर्ष एवं अपकर्ष में कर्म का बहुत बड़ा हाथ है। जैन विचारकों ने जीव के उत्थान एवं पतन का मूल कारण कर्म को माना है और साथ में यह भी माना है कि प्रत्येक आत्मा शुभ या अशुभ कर्म करने एवं तोड़ने में स्वतन्त्र है। आत्मा स्वयं ही कर्म का कर्ता एवं भोक्ता है तथा कर्मबन्धन तोड़ने वाला भी स्वयं ही है। सारी संसार व्यवस्था कर्म पर ही आधारित है। जैन दार्शनिकों (Jain Philosophers) ने कर्मवाद का बड़े विस्तार एवं गहराई से विश्लेषण किया है। भारतीय-संस्कृति के अन्य विचारकों ने भी कर्मवाद पर कुछ सोचा-विचारा है। हम यहां तुलनात्मक दृष्टि से भारतीय-संस्कृति के सभी चिन्तकों के कर्म सम्बन्धी चिन्तन-मनन पर विचार करेंगे।

कर्म विचार का मूल

वैदिक युग में कर्मवाद पर जरा भी नहीं सोचा गया। इससे हम यह तो नहीं कह सकते कि वैदिक ऋषियों को मनुष्य-मनुष्य में तथा मनुष्य एवं अन्य पशु-पक्षियों में रहा हुआ अन्तर दिखाई ही न दिया हो। विभिन्न जीवों में रहे हुए वैचित्र्य को उन्होंने देखा अवश्य होगा, परन्तु इसके कारण को अन्तरात्मा में शोधने के बदले उन्होंने बाहर में ही शोधा हो और किसी भौतिक शक्ति या प्रजापति जैसे तत्त्व को मानकर सन्तोष किया हो, ऐसा लगता है, इसी कारण उनकी दृष्टि कर्मवाद का प्रत्यक्षीकरण नहीं कर सकी हो। वेद युग से लेकर ब्राह्मण काल तक सारा तत्त्वज्ञान बाह्य साधनों को बटोरने एवं भौतिक शक्तियों को प्राप्त करने का साधन रहा है और उक्त साधनों की प्राप्ति के लिए वे देवों एवं प्रजापति की स्तुति करने तथा उन्हें प्रसन्न करने के लिए यज्ञ करने में ही व्यस्त दिखाई देते हैं। अस्तु यह नि:संदेह कहा जा सकता है कि वैदिक युग में आध्यात्मिक चिन्तन का उदय (प्रारम्भ) नहीं हो पाया था।

ब्राह्मण काल के बाद उपनिषदों का युग प्रारम्भ होता है। उपनिषद् वेद-ब्राह्मण ग्रन्थों

का अन्तिम भाग होने से इन्हें भी वैदिक ही समझना चाहिए। वेदों में तो कर्म पर कहीं विचार नहीं किया गया, परन्तु उपनिषदों में अदृष्ट कर्म को माना गया है। वेदों के समय जो देवों एवं प्रजापति को महत्त्व मिला था, उपनिषद् युग में उसका स्थान यज्ञ ने ले लिया था। उपनिषदों के अनुसार कर्म का फल देने की शक्ति यज्ञ में मौजूद है। इस तरह वैदिक परम्परा में कर्म पर चिन्तन पहले-पहल उपनिषदों में मिलता है। दार्शनिक एवं ऐतिहासिक विद्वानों की यह मान्यता है कि वैदिक परम्परा में उपनिषदों से पहले कर्म पर विचार नहीं किया गया था। इस पर यह प्रश्न सहज ही उठता है कि उपनिषदों में यह परम्परा कहां से आयी?

कुछ विद्वानों का कहना है कि वैदिकों ने यह सिद्धान्त भारत के आदिवासियों (Primitive people) से लिया हो। विद्वानों की इस मान्यता का खण्डन करते हुए प्रो. हिरियन्ना ने यह तर्क दिया है कि आदिवासियों की यह मान्यता कि आत्मा मरकर वनस्पति में जन्म लेता है, निरा बहम (Superstition) है। इस कारण उनके इस विचार को कि मनुष्य मरकर वनस्पति ही होता है, दार्शनिक नहीं कह सकते हैं। अत: यह मानना उचित नहीं कहा जा सकता कि वैदिकों ने कर्मवाद का सिद्धान्त आदिवासियों से लिया था।[1]

जब हम जैनों के कर्मवाद का गहराई से अध्ययन करते हैं, तो यह स्पष्ट हो जाता है कि वैदिक परम्परा में जो कर्मवाद की मान्यता आयी है, उस पर जैन परम्परा का असर पड़ा है। भले ही जैन परम्परा का पहले श्रमण, निर्ग्रन्थ या अन्य कोई नाम रहा हो, परन्तु यह निश्चित है कि वैदिक परम्परा में मान्य कर्मवाद पर जैनों के चिन्तन का स्पष्ट असर परिलक्षित होता है।

वेद युग से लेकर उपनिषद् काल तक वैदिक ऋषियों की यह मान्यता रही है कि चेतन या जड़ किसी एक तत्त्व से सृष्टि का निर्माण हुआ है और वह अनादि नहीं, सादि है। परन्तु कर्मवाद के अनुसार सृष्टि सादि नहीं, अनादि है। जीव और जड़ दोनों अनादि काल से हैं और जीव (आत्मा) के साथ कर्म का सम्बन्ध भी अनादि काल से चला आ रहा है। उपनिषद् काल के बाद के वैदिक साहित्य में भी सृष्टि को अनादि माना गया है और इस मान्यता के लिए भी वह कर्म सिद्धान्त की आभारी है, यह एक ऐतिहासिक सच्चाई है। जैनागमों में स्पष्ट रूप से कहा गया है कि आत्मा जो बार-बार जन्म-मरण करती है, उसका मूल कारण कर्म है और कर्म आत्मा के साथ अनादि काल से लगे हुए हैं। अत: जब तक कर्म का सम्बन्ध चालू है, तब तक आत्मा की मुक्ति होना असम्भव है। इस तरह संसार को अनादि मानने का सिद्धान्त

1 Outlines of Indian Philosophy—Hiriyanna, p. 790.

प्राय: सभी वैदिक दर्शनों ने बाद में स्वीकार किया है।

जैन परम्परा ने सदा कर्मवाद को महत्व दिया है। इस परम्परा में देववाद को जरा भी महत्त्व नहीं दिया गया है। आत्मा के विकास एवं पतन में किसी भी बाह्य शक्ति का हाथ नहीं है। देव तो क्या ईश्वर भी न किसी का उत्थान कर सकता है और न किसी को पतन के महागर्त में ही गिरा सकता है। यह सारी शक्ति आत्मा में है। अत: हमें कर्म सिद्धान्त की जो विस्तृत एवं गहरी व्याख्या जैन ग्रन्थों में उपलब्ध होती है, वैसी अन्यत्र उपलब्ध होनी दुर्लभ है। एक जीव के आध्यात्मिक विकास के प्रारम्भ से लेकर अन्त तक के सोपान में तथा इसी तरह पतन के मार्ग में कर्म किस तरह कार्य करता है और इस दृष्टि से कर्म का कितना वैचित्र्य है, इसका विशद विवेचन जैन परम्परा के सिवाय अन्यत्र नहीं मिलता है। अत: विद्वानों एवं दार्शनिकों ने इस बात को निस्संदेह माना है कि कर्मवाद की मान्यता का मूल स्रोत (Source) जैन परम्परा में उपलब्ध होता है। पीछे की सभी वैदिक परम्पराओं पर जैन कर्म सिद्धान्त का ही असर है।

कालवाद

कर्म के स्वरूप का वर्णन करने के पहले इस बात पर विचार कर लेना भी उपयुक्त होगा कि उस समय के विचारकों ने कर्म के स्थान में किसके अस्तित्व को स्वीकार किया था।

वैदिक ऋषियों के मन में इस बात का विचार तो उठा ही था कि इस सृष्टि का कोई कारण होना चाहिए। परन्तु इसका कारण क्या है ऋग्वेद में इसका कोई उल्लेख नहीं मिलता है। श्वेताश्वतर में इसका उल्लेख मिलता है और वहां पर काल, स्वभाव, यदृच्छा, नियति, भूत और पुरुष इत्यादि वादों को गिनाया गया है। इस तरह विचारक सृष्टि में उपरोक्त कारणों में से किसी एक-एक कारण को सृष्टि का निमित्त कारण मानते रहे हैं। इनमें कालवादी सबसे पुरातन प्रतीत होता है। उसकी मान्यता है –

काल ने ही पृथ्वी को उत्पन्न किया है। काल के कारण ही सूर्य तपता है और सारे भूत उसी के आधार पर स्थित हैं। काल के कारण ही वृक्ष फलते-फूलते हैं, धान पकता है, वर्षा होती है, या एक शब्द में कहें तो दुनिया के सारे कार्य काल का निमित्त पाकर ही पूरे होते हैं। अत: काल ईश्वर है, प्रजापति का भी पिता है। महाभारत में तो सुख-दु:ख, जीवन-मरण इन सबका आधार तथा विश्व-वैचित्र्य का कारण काल को ही माना है।[1] काल

1. महाभारत, शान्तिपर्व 33, 23.

के महत्त्व को नैयायिकदर्शन ने भी माना है। उसने ईश्वर आदि कारणों के साथ काल को भी सृष्टि का निमित्त कारण माना है।[1] इस तरह कुछ विचारकों की यह मान्यता रही है कि सृष्टि के सभी कार्य काल की परिपक्वता पर आधारित हैं।

स्वभाव

कुछ विचारकों का कहना है, सृष्टि के सभी कार्य स्वभाव से होते हैं। ईश्वर या कर्म जैसी कोई वस्तु नहीं है। बुद्ध-चरित्र में कहा गया है कि जगत का वैचित्र्य स्वभाव से ही है। जैसे–कांटे को कौन तीक्ष्ण करता है? पशु-पक्षियों में इतना वैचित्र्य क्यों है? इन सब प्रश्नों का एक ही उत्तर दिया गया है कि स्वभाव से। गीता और महाभारत में भी स्वभाववाद का उल्लेख मिलता है। इनके मत से पदार्थों का स्वभाव ही ऐसा है कि वे अपने-अपने रूप में परिणत हो जाते हैं। स्वभाववादियों का यह श्लोक सर्वत्र प्रसिद्ध है –

नित्यसत्वा भवन्त्यन्ये नित्यासत्वाश्च केचन।
विचित्राः केचिदित्यत्र तत्स्वभावो नियामकः॥
अग्निरुष्णो जलं शीतं, समस्पर्शस्तथानिलः।
केनेदं चित्रितं तस्मात्, स्वभावात् तद्व्यवस्थितः॥

यदृच्छावाद

यदृच्छा शब्द का अर्थ अकस्मात् होता है। इस मत के मानने वालों का कहना है कि सृष्टि के निर्माण में कोई कारण नहीं है। बिना किसी नियत कारण के ही अकस्मात् कार्य निष्पन्न हो गया। कुछ लोग स्वभाववाद और यदृच्छावाद को एक ही मानते हैं। परन्तु ऐसा नहीं है, क्योंकि स्वभाववादी सृष्टि के निर्माण में स्वभाव को कारण मानते हैं, परन्तु यदृच्छावादी उसके पीछे कोई कारण नहीं मानते हैं।

नियतिवाद

नियतिवादी लोक-परलोक मानते थे, परन्तु वे किसी भी कार्य को कर्म के आधार पर नहीं मानते थे। उनका यह कहना था कि जैसा होना निश्चित है वैसा ही होगा, उसके लिए किसी तरह का पुरुषार्थ करने की आवश्यकता नहीं है। इस मत का उल्लेख बौद्ध पिटकों एवं जैन आगमों में विस्तार से मिलता है। बौद्ध ग्रन्थों में पूरण काश्यप और मंखली गोशालक के मतों का उल्लेख है। जैनागमों में पहले मत को अक्रियावाद और दूसरे को नियतिवाद बताया

1. जन्यानां जनकः कालो; जगतामाश्रयो मतः। –न्यायसिद्धान्त मुक्तावली, 45.

है। दोनों नामों में अन्तर है, परन्तु मान्यता में काफी साम्य है। बौद्ध ग्रन्थों में गोशालक की मान्यता का उल्लेख इस प्रकार किया है–"प्राणियों की पवित्रता और अपवित्रता का न कोई कारण है और न हेतु ही। अपने पुरुषार्थ से कुछ नहीं होता है। किसी कार्य के होने में पुरुष का कोई पराक्रम, बल, वीर्य, शक्ति आदि निमित्त नहीं है। सभी सत्व, सभी प्राणी, सभी जीव निर्बल हैं, वीर्य रहित हैं। वे सब नियति–भाग्य, जाति–वैशिष्ट्य और स्वभाव से बदलते हैं। 84 लाख महाकल्प का भ्रमण करने के बाद अच्छे और बुरे दोनों तरह के प्राणियों के दु:खों का नाश हो जाता है। कोई व्यक्ति ऐसा कहे कि शील, व्रत, तप और ब्रह्मचर्य से अपरिपक्व कर्मों को परिपक्व बना लूंगा तथा परिपक्व कर्मों को भोग कर शून्यवत् कर दूंगा तो ऐसा होने का नहीं है।[1]

पूरण काश्यप का कहना है कि किसी ने कोई कार्य किया है, करवाया है; किसी को किसी ने काटा है, कटवाया है; किसी को त्रास-दु:ख दिया है, दिलवाया है; इसी तरह प्राणियों का वध, चोरी, व्यभिचार आदि पाप कार्य किए हैं, या करवाए हैं तो उस करने या करवाने वाले व्यक्ति को पाप नहीं लगता है। तीक्ष्ण चाकू या तलवार लेकर कोई व्यक्ति पृथ्वी पर मांस का ढेर लगा दे, तब भी उसे जरा भी पाप नहीं लगेगा। गंगा नदी के दक्षिण किनारे जाकर कोई मार-काट करे या अन्य दुष्कर्म करे, तो उसे जरा भी पाप नहीं लगता है और गंगा के उत्तरी तट पर जाकर कोई दान देवे या दिलवाए, यज्ञ करे या करवाए, तो उसे जरा भी पुण्य नहीं होता है। दान, धर्म, संयम, सत्य, त्याग आदि कार्य करने से जरा भी पुण्य नहीं होता है।[2] अक्रियावादियों के मत का इसी तरह का वर्णन जैनागमों में भी मिलता है।[3]

गोशालक एवं काश्यप का मत एक-दूसरे के काफी निकट है। दोनों कर्मवाद को अस्वीकार करते हैं। दोनों की मान्यता है कि आत्मा पुण्य-पाप कुछ नहीं करता है। न व्यभिचार करना पाप है और न दान, शील, तप आदि सत्कार्य करना धर्म है। जो कुछ होना है वही होता है, किसी तरह का पुरुषार्थ करने की आवश्यकता नहीं है। दोनों की समान मान्यता के कारण ही काश्यप के शिष्य उसकी मृत्यु के बाद गोशालक के मत में मिल गए थे।

---

1. बुद्ध चरित्र (धर्मानन्द कौशाम्बी) पृ. 181.
2. बुद्ध चरित्र (कौशाम्बी) पृ. 170.
3. कुव्वं च कारयं चेव, सव्वं कुव्वं न विज्जई।
   एवं अकारओ अप्पा, एवं ते उ पगब्भिआ।। –सूत्रकृतांग 1, 1, 1, 13.

अज्ञानवाद

इस मत का प्रवर्तक संजय बेलट्ठीपुत्र था। यह न नास्तिक था और न इसे आस्तिक ही कहा जा सकता है। इसे हम तर्कवादी कह सकते हैं। इसने परलोक, नरक, स्वर्ग, कर्म, निर्वाण जैसे अदृश्य पदार्थों के सम्बन्ध में स्पष्ट शब्दों में कहा कि इनके लिए न निषेध की भाषा में कहा जा सकता है और न स्वीकार की भाषा में तथा न उभय रूप से कहा जा सकता है और न अनुभय रूप से।[1]

भगवान् महावीर ने स्याद्वाद के द्वारा वस्तु के अनेक रूप युक्त होने को सिद्ध कर दिया है। परन्तु जब मनुष्य के मन में संशय होता है और उसे ठीक समाधान नहीं मिलता या वह दूसरे के द्वारा स्वीकृत सत्य-तथ्य को स्वीकार करने को तैयार नहीं होता है, तब अज्ञानवाद की ओर झुकता है। इसलिए सूत्रकृतांग सूत्र में यह कहा गया है कि अज्ञानवादी तर्क करने में कुशल-प्रवीण होते हैं, परन्तु उनके बोलने का ढंग असम्बद्ध होता है। वे स्वयं संशयरहित नहीं हुए अथवा उन्हें अपनी मान्यता पर भी सन्देह रहा हुआ है। वे स्वयं अज्ञानी हैं और भोले-भोले लोगों में अज्ञान फैलाते हैं, उन्हें गलत ढंग से समझाते हैं।

जैनों का समन्वयवाद

जैनों ने भी काल, स्वभाव, नियति, पूर्वकृत कर्म और पुरुषार्थ आदि को माना है। परन्तु किसी कार्य के होने में किसी एक को ही नहीं माना है। उन्होंने इन पांचों के समन्वय को माना है। आचार्य सिद्धसेन दिवाकर ने कहा है कि इन पांचों कारणों में से किसी एक कारण को स्वीकार करना और शेष कारणों का तिरस्कार करना मिथ्यात्व है और कार्य की निष्पत्ति में पांचों का समन्वय मानना सम्यक् धारणा है।[2] आचार्य हरिभद्र सूरी ने भी यही बात कही है।[3] इससे स्पष्ट हो जाता है कि जैनों ने केवल कर्म या पुरुषार्थ को ही नहीं माना है। उन्होंने मुख्य-गौण भाव से पांचों कारणों को स्वीकार किया है।

कर्म का स्वरूप

साधारणत: कर्म का शाब्दिक अर्थ क्रिया होता है। वेदों से लेकर ब्राह्मण काल तक के वैदिक ग्रन्थों में इसी अर्थ को माना गया है और यज्ञ-याग आदि नित्य-नैमित्तिक क्रियाओं

---

1. बुद्ध चरित्र (कौशांबी) पृ. 178.
2. कालो सहाव णियइ पुव्वकम्म पुरिसकारणेगंता ।
   मिच्छत्तं तं चेव उ समासओ हुंति सम्मत्तं ।। —षष्ठं द्वात्रिंशिका।
3. शास्त्रवार्ता समुच्चय, 2, 79-80.

को कर्म कहा गया है। जैनों ने भी कर्म का अर्थ क्रिया माना है, परन्तु उन्होंने केवल इसी अर्थ को ही नहीं स्वीकार किया। संसारी जीव की प्रत्येक क्रिया तो प्रवृत्ति है ही, परन्तु उस क्रिया के पीछे स्थित जो परिणामों–विचारों का प्रवाह है, उससे पुद्गल द्रव्य आत्मा के साथ सम्बद्ध हो जाते हैं, इस बन्धन को भी जैन परिभाषा में कर्म कहते हैं। इस तरह कर्म दो प्रकार के हैं–1. द्रव्यकर्म और 2. भावकर्म।

आत्मा की क्रिया अर्थात् परिणाम की धारा भावकर्म है और उस क्रिया से आबद्ध होने वाले पुद्गल द्रव्यकर्म हैं। क्योंकि परिणामों द्वारा संग्रहीत कर्म जीव को कार्य में प्रवृत्त करते हैं, अतः आत्मा के साथ सम्बद्ध होने वाले पुद्गलों को भी कर्म कहते हैं। क्रिया और कर्म का परस्पर कार्य कारण भाव सम्बन्ध है और यह सम्बन्ध कबूतरी और उसके अण्डे के समान अनादि है। परन्तु इनका अनादि सम्बन्ध सन्तति की अपेक्षा से है। भावक्रिया से द्रव्यकर्म उत्पन्न होता है। इसलिए भावक्रिया कारण और द्रव्यकर्म उसका कार्य है। परन्तु यदि द्रव्यकर्म का अभाव हो तो फिर भावक्रिया की निष्पत्ति भी नहीं हो सकती, जैसे सिद्धावस्था में द्रव्यकर्म नहीं है तो वहां भावक्रिया भी उत्पन्न नहीं होती अथवा दोनों का अभाव होता है। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि भावक्रिया की उत्पत्ति में द्रव्यकर्म कारण है।

यह प्रश्न हो सकता है कि भावकर्म सांसारिक आत्मा की प्रवृत्ति या क्रिया है, तो वह कौन-सी क्रिया या प्रवृत्ति है, जिससे द्रव्यकर्म का बन्ध होता है? क्रोध, मान, माया और लोभ, जिन्हें जैन परिभाषा में कषाय कहते हैं, आत्मा के ये वैभाविक परिणाम या मनोविकार ही भावकर्म हैं अथवा आत्मा में राग-द्वेष और मोह की जो परिणति होती है, उसे भी भावकर्म कहते हैं। राग-द्वेष-मोह या कषायों की प्रवृत्ति का आविर्भाव मन, वचन और काय योग के द्वारा होता है। इसलिए कषाय और योग को द्रव्यकर्मबन्ध का कारण माना है। योग और कषाय की प्रवृत्ति एक रूप दिखाई देती है, फिर भी ये दोनों भिन्न हैं। कषाय और योग का सम्बन्ध रंग और वस्त्र के सम्बन्ध जैसा है। बिना रंग का सफेद वस्त्र एकरूप होता है, परन्तु रंग चढ़ने के बाद उसमें एकरूपता नहीं रह पाती है। हल्के और गहरे रंग का भेद खड़ा हो जाता है। इसी तरह कषाय रहित मन, वचन और काया के योग की प्रवृत्ति सफेद वस्त्र की तरह एकरूप है, उससे कर्मबन्ध नहीं होता, सिर्फ कर्मवर्गणा के पुद्गल आते हैं और तुरन्त झड़ जाते हैं, वे आत्मा के साथ सम्बद्ध नहीं हो पाते हैं और कषाय युक्त योग रंगीन वस्त्र की तरह है, उसमें एकरूपता नहीं रहती है। उसकी तीव्रता और मन्दता के अनुरूप द्रव्यकर्म का तीव्र या मन्द बन्ध होता है।

नैयायिक, वैशेषिक और जैन

नैयायिक दर्शन ने भी राग, द्वेष और मोह को दोष माना है।[1] इन दोषों से प्रेरित होकर जीव के मन, वचन और काया की प्रवृत्ति होती है, उससे धर्म-अधर्म संस्कार की उत्पत्ति होती है और यह आत्मा का गुण है। नैयायिक गुण को गुणी से भिन्न मानते हैं और वे गुण को आत्मा की तरह चेतन नहीं मानते हैं। यह हम देख चुके हैं कि जैन भी राग-द्वेष और मोह को कर्म बन्ध का कारण मानते हैं और नैयायिक भी। जैन जिसे भावकर्म कहते हैं, नैयायिक उसको दोष कहते हैं। जैन जिस क्रिया को योग कहते हैं, नैयायिक उसे दोषजन्य प्रवृत्ति के नाम से पुकारते हैं। जैन परिभाषा में जिसे कर्म कहते हैं, नैयायिकों ने उसका नाम संस्कार रखा है। द्रव्यकर्म को जैन भी जड़ मानते हैं और नैयायिक भी संस्कार को जड़ स्वीकार करते हैं। दोनों की सैद्धान्तिक मान्यताओं में अन्तर इतना ही है–नैयायिक संस्कार को आत्मा का गुण मानते हैं और जैन द्रव्यकर्म को आत्मा से भिन्न पुद्‌गल मानते हैं। जरा गहराई से सोचें तो संस्कार भी दोषजन्य प्रवृत्ति से पैदा होते हैं और द्रव्यकर्म भी भावकर्म अर्थात् कषाय और योग से उत्पन्न होते हैं। जब हम यह कहते हैं कि द्रव्यकर्म कषाय और योग से उत्पन्न होते हैं, तो इसका यह तात्पर्य नहीं है कि कषाय और योग (द्रव्य कर्म) पुद्‌गलों को उत्पन्न करता है। पुद्‌गल तो पहले से ही विद्यमान है। आत्मा के कषाय युक्त परिणामों का पुद्‌गलों पर ऐसा संस्कार पड़ता है कि वे पुद्‌गल कर्म वर्गणा के रूप को प्राप्त होकर आत्मा के साथ सम्बद्ध हो जाते हैं।

जैन विचारकों ने स्थूल शरीर के साथ-साथ सूक्ष्म शरीर भी माना है। जैन परिभाषा में उसे कार्मण शरीर कहते हैं। कार्मण शरीर से स्थूल शरीर की निष्पत्ति होती है। यह कार्मण शरीर एक गति से दूसरी गति में जाते समय भी जीव के साथ रहता है। नैयायिकों ने भी स्थूल शरीर के साथ एक अव्यक्त शरीर माना है और उसे अतीन्द्रिय स्वीकार किया है।[2] जैनों ने भी इसे अतीन्द्रिय कहा है।

इस तरह कर्म सिद्धान्त की मान्यता में नैयायिक दर्शन जैनों के काफी निकट है। वैशेषिक दर्शन की मान्यता नैयायिक दर्शन की तरह ही है। सिर्फ अन्तर इतना ही है कि वैशेषिक दर्शन ने धर्म-अधर्म रूप संस्कार को अदृष्ट नाम दिया है। सिर्फ नाम का अन्तर है, सिद्धान्त का नहीं। क्योंकि वैशेषिक दर्शन भी नैयायिक दर्शन की तरह अदृष्ट को आत्मा का

1. न्यायसूत्र 4, 1, 3-4; 1, 1, 17.
2. न्यायवार्तिक 3, 2, 68.

गुण मानता है।[1] उभय दर्शन की यह मान्यता है कि दोष से संस्कार और जन्म होता है और जन्म से दोष उत्पन्न होता है। इस तरह दोनों का अनादि सम्बन्ध है। जैन भी द्रव्यकर्म और भावकर्म का सन्तति या प्रवाह रूप से अनादि सम्बन्ध मानते हैं।

योग दर्शन और जैन

योगदर्शन पांच क्लेश मानता है–अविद्या, 2. अस्मिता, 3. राग, 4. द्वेष और 5. अभिनिवेश। उक्त क्लेश से क्लिष्टवृत्ति–चित्त व्यापार उद्‌बुद्ध होता है और उससे धर्म-अधर्म रूप संस्कार अवतरित होते हैं। क्लेश को भावकर्म, क्लिष्ट वृत्ति को योग और संस्कार को द्रव्यकर्म के स्थान पर रख सकते हैं। योगदर्शन में भी इनके कार्य-कारण भाव को अनादि माना है।

इस तरह जैनदर्शन और योगदर्शन की मान्यता में बहुत कुछ साम्य है। दोनों सिद्धान्तों में कुछ अन्तर भी है, वह इस प्रकार है–योगदर्शन क्लेश, क्लिष्टवृत्ति और संस्कार का सम्बन्ध आत्मा के साथ नहीं मानकर चित्तवृत्ति के साथ मानता है और यह चित्तवृत्ति–अन्तःकरण, प्रकृति का विकार है। जैनदर्शन भी कषाय या राग, द्वेष और मोह–भावकर्म को विकार मानता है और द्रव्यकर्म को भी विकृति का परिणाम मानता है, परन्तु उसका आत्मा के साथ सम्बन्ध होना भी स्वीकार करता है। इन विकृत परिणामों के कारण ही आत्मा संसार में परिभ्रमण करती है। यदि उनका आत्मा के साथ सर्वथा सम्बन्ध ही नहीं होता है, तो फिर उसके संसार भ्रमण का कोई कारण नहीं रह जाता है। जैसे मिट्‌टी का वही पिण्ड घूमता है, जिसका कुम्भकार की चाक के साथ सम्बन्ध हुआ है, परन्तु वह मृत्तिका पिण्ड कभी नहीं घूमता है जिसका चाक के साथ सम्बन्ध जुड़ा हुआ नहीं है। इसी तरह जिस आत्मा के साथ द्रव्य और भाव कर्म का सम्बन्ध नहीं होता है वह आत्मा कभी भी संसार में नहीं घूमती, जैसे मुक्त-सिद्ध जीव। लेकिन संसारी आत्मा संसार में परिभ्रमण करती है, अतः ऐसा मानना चाहिए कि द्रव्य और भावकर्म का या कषाय, योग और कर्म पुद्‌गलों का आत्मा के साथ सम्बन्ध होता है।

सांख्य और जैन

जैन और सांख्य दर्शन की मान्यता में सबसे बड़ा मतभेद यह है कि सांख्य

1. प्रशस्तपाद भाष्य पृ. 47.

पुरुष-आत्मा को कूटस्थ नित्य मानता है। इसलिए उसकी मान्यतानुसार पुरुष में कोई परिवर्तन नहीं होता है। बन्ध और मोक्ष भी पुरुष का नहीं, प्रकृति का होता है। शुभ-अशुभ कर्म का कर्ता भी पुरुष नहीं, प्रकृति है। जबकि जैन दर्शन आत्मा को परिणामी नित्य मानता है अथवा आत्म-पर्यायों में भी परिवर्तन होता है। आत्मा का कर्म के साथ सम्बन्ध होता है और वह कर्मबन्ध से मुक्त भी हो सकती है। इसका तात्पर्य यह है कि आत्मा का बन्ध और मोक्ष होता है।

इतना अन्तर होते हुए भी दोनों दर्शनों की मान्यता में साम्य भी है। पुरुष और प्रकृति की बात छोड़ दें तो कर्मबन्ध की जो प्रक्रिया है, वह जैन और सांख्य की प्राय: एक-सी है। जैन दर्शन में राग, द्वेष, मोह आदि भावों के कारण पौद्गलिक कार्मण शरीर का आत्मा के साथ अनादि काल से सम्बन्ध माना गया है। यह कार्य-कारण भाव सम्बन्ध बीजांकुर की तरह है। इसमें यह नहीं कह सकते कि पहले कौन है और पीछे कौन है। इसी तरह सांख्य दर्शन में भी लिंग शरीर का पुरुष के साथ अनादि काल से सम्बन्ध माना है, और यह लिंग शरीर मोह, राग-द्वेष जैसे विकारी भावों से उत्पन्न हुआ है और इसका कार्य-कारण भाव सम्बन्ध भी बीजांकुर की तरह है।[1] जैन जिस तरह औदारिक शरीर और कार्मण-सूक्ष्म शरीर को पृथक् मानते हैं, उसी तरह सांख्य भी लिंग शरीर को स्थूल शरीर से भिन्न मानते हैं। जैन सूक्ष्म और स्थूल दोनों शरीरों को पौद्गलिक मानते हैं। सांख्य ने भी दोनों को प्राकृतिक ही माना है। जैनों ने दोनों शरीरों को पुद्गल का विकार माना है, फिर भी दोनों शरीर वर्गणा के पुद्गलों को भिन्न-भिन्न माना है। सांख्य ने भी एक को तन्मात्रिक और दूसरे को माता-पिता से जन्य माना है। जैन मानते हैं कि मृत्यु के समय औदारिक आदि स्थूल शरीर नष्ट हो जाता है, परन्तु संसारावस्था में कार्मण शरीर जीव के साथ सदा रहता है। उसी कार्मण शरीर के माध्यम से ही जीव अपने गन्तव्य स्थान तक पहुंचता है। सांख्य भी ऐसा ही मानते हैं कि मृत्यु के समय स्थूल शरीर नष्ट हो जाता है, परन्तु लिंग शरीर स्थित रहता है और एक स्थान से दूसरे स्थान में गति करते समय साथ रहता है। दोनों की मान्यता है कि नए जन्म के समय जीव नए औदारिक (स्थूल) शरीर को ग्रहण करता है। दोनों दर्शन इस बात में एकमत हैं कि मुक्ति के समय कार्मण या लिंग शरीर भी छूट जाता है, मुक्त अवस्था में सिर्फ विशुद्ध चैतन्य ही रहता है। जैन मानते हैं कि कार्मण शरीर की गति में कोई प्रतिघात नहीं होता। सांख्य भी मानते

---

1. सांख्यकारिका (माठर वृत्ति) 52.

हैं कि लिंग शरीर अव्याहत गति करता है। जैन कार्मण शरीर को उपयोग रहित मानते हैं और सांख्य दर्शन भी लिंग शरीर को निरुपयोग मानता है।

जबकि सांख्य रागादि भावों को, लिंग शरीर को और अन्य भौतिक पदार्थों को प्रकृति का विकार मानता है, फिर भी सांख्य इनमें जातिगत भेद स्वीकार करते हैं। जैनों की भी यह मान्यता है कि जीव में जो रागादि भाव हैं, वे पुद्गलकृत हैं और कार्मण शरीर भी पुद्गलकृत है, फिर भी दोनों में मौलिक भेद हैं। रागादि भावों का उपादान कारण आत्मा है और निमित्त कारण पुद्गल है, तो कार्मण शरीर का उपादान कारण पुद्गल और निमित्त कारण आत्मा है। सांख्य का कहना है कि प्रकृति जड़ होने पर भी पुरुष के संसर्ग से चेतन की तरह प्रवृत्त होती है। जैन भी पुद्गल को जड़ मानते हुए ऐसा कहते हैं कि जब पुद्गल आत्मा से सम्बद्ध होकर कर्म रूप बन जाता है, तब वह चेतन की तरह कार्य करने लगता है। जैन संसारी आत्मा और शरीर, कर्म आदि जड़ पदार्थों का सम्बन्ध क्षीर-नीरवत् मानते हैं। सांख्य भी पुरुष और शरीर, इन्द्रिय, बुद्धि आदि का सम्बन्ध क्षीर-नीरवत् स्वीकार करते हैं। दोनों दर्शन कर्मबन्ध या फल-भोग में ईश्वर जैसी किसी शक्ति का माध्यम नहीं मानते हैं। अस्तु सांख्य दर्शन भी कर्मबन्ध की प्रक्रिया जैनों की तरह ही मानता है।

बौद्ध दर्शन

बौद्धों ने भी जीवों की विचित्रता कर्म-कृत मानी है। वे कर्म की उत्पत्ति में लोभ (राग), द्वेष और मोह को कारण मानते हैं। राग, द्वेष और मोह युक्त होकर जीव–सत्त्व, मन, वचन और काया की प्रवृत्ति करता है और उससे फिर राग-द्वेष-मोह उत्पन्न होता है। इस तरह संसार-चक्र चलता है और इस प्रक्रिया को अनादि माना है। विसुद्धिमग्ग में नागसेन ने कर्म को अरूपी कहा है। बौद्ध परिभाषा में उसे वासना और अविज्ञप्ति कहा है। मानसिक क्रियाजन्य संस्कार–कर्म को वासना और वचन एवं काया जन्य संस्कार को अविज्ञप्ति कहा गया है। बौद्धों ने जो कर्म का कर्तृत्व और भोक्तृत्व तथा कर्म को अनादि माना है, वह सन्तति की अपेक्षा से माना है।

मीमांसा दर्शन

मीमांसा दर्शन एक अपूर्व नाम के पदार्थ को स्वीकार करता है। उसका कहना है कि मनुष्य जो अनुष्ठान करता है, वह क्रिया रूप होने से क्षणिक–अनित्य है। इससे उस अनुष्ठान से एक अपूर्व नाम का पदार्थ उत्पन्न होता है, जो अनुष्ठान–यज्ञ-यागादि क्रिया का फल देता

है। कुमारिल ने अपूर्व नाम की व्याख्या करते हुए कहा है—अपूर्व अर्थात् योग्यता। आचार्य शंकर ने अपूर्व का खण्डन किया है और कहा है कि कर्म के अनुसार ईश्वर फल प्रदान करता है और उसने इस बात को सिद्ध करने का प्रयत्न भी किया है कि कर्म से फल नहीं मिलता, परन्तु ईश्वर ही फल देता है।[1]

कर्मबन्ध के कारणों की इतनी विस्तृत व्याख्या का निष्कर्ष यह रहा है कि सभी दार्शनिक राग-द्वेष-मोह को कर्मबन्ध का कारण मानते हैं। जैन जिसे द्रव्यकर्म कहते हैं, अन्य दार्शनिक उसे कर्म कहते हैं और उसी के ही संस्कार, वासना, अविज्ञप्ति, अपूर्व पदार्थ आदि नाम रखे हैं। यह कर्म पुद्गल द्रव्य है, गुण है, धर्म है या अन्य कोई स्वतन्त्र द्रव्य, इस विषय में सभी दार्शनिकों में थोड़ा-बहुत मतभेद है, जिसे हमने देखा है। अब हम द्रव्यकर्म के भेदों पर विचार करेंगे।

कर्म के भेद

कर्म के भेद की मान्यता में सभी विचारक एकमत नहीं हैं। फिर भी पुण्य-पाप, धर्म-अधर्म, कुशल-अकुशल, शुभ-अशुभ इस तरह कर्म के दो रूप तो सभी दार्शनिकों ने माने हैं। जिस कर्म का फल अनुकूल या सुख रूप प्रतीत होता है, उसे पुण्य और जिसका फल प्रतिकूल या दु:ख रूप प्रतीत होता है उसे पाप माना है। उपनिषद्, जैन, सांख्य, बौद्ध, योग, न्याय-वैशेषिक आदि सभी दर्शनों ने यही परिभाषा स्वीकार की है और सभी दार्शनिकों ने पुण्य हो या पाप दोनों से छुटकारा पाना ही आत्मा का लक्ष्य माना है। इसलिए पुण्य कर्मजन्य अनुकूल वेदना को भी ज्ञानी पुरुषों ने सुख रूप नहीं, बल्कि निश्चय दृष्टि से दु:ख रूप माना है। तात्पर्य यह है कि कर्मजन्य सुख, सुख नहीं, दु:ख ही है, क्योंकि उसके पीछे जन्म-मरण का दु:ख लगा हुआ है।

पुण्य और पाप—कर्म के इन दो भेदों को सभी विचारकों ने माना है। कर्म की शुभ और अशुभ दृष्टि को सामने रखकर बौद्ध[2] और योग दर्शन[3] के ग्रन्थों में चार भेद किए हैं, शुक्ल, कृष्ण, शुक्ल-कृष्ण और अशुक्लाकृष्ण। पुण्य को शुक्ल, पाप को कृष्ण, पुण्य-पाप युक्त कर्म को शुक्ल-कृष्ण और पुण्य-पाप रहित कर्म को अशुक्लाकृष्ण कर्म कहते हैं। कर्म

1. ब्रह्मसूत्र (शांकरभाष्य), 2, 2, 38-41.
2. दीघनिकाय, 3, 1, 2.
3. पातञ्जल योग दर्शन, 4, 7.

का चौथा भेद वीतराग पुरुषों में पाया जाता है। उनमें राग-द्वेष का अभाव होने से वे पुण्य और पाप के संवेदन से सर्वथा रहित हैं।

इसके अतिरिक्त बौद्धों ने कृत्य, पाकदान, पाककाल की दृष्टि से प्रत्येक के चार-चार भेद करके 12 भेद माने हैं[1] और अभिधम्मत्थ-संग्रह में पाकस्थान की अपेक्षा से 4 भेद और बढ़ा दिए हैं।[2] योग दर्शन में बौद्धों की तरह कर्मों की गणना तो नहीं की गई है, फिर भी उसमें इस पर विचार किया गया है। इतना होने पर भी कर्म के भेदोपभेदों का व्यवस्थित वर्णन जैसा जैन आगमों एवं कर्म ग्रन्थों में मिलता है, वैसा अन्य दर्शनों में उपलब्ध नहीं होता है।

कर्म की मूल और उत्तर प्रकृतियां

जैन आगमों एवं ग्रन्थों में कर्म की मूल आठ प्रकृतियां मानी हैं–1. ज्ञानावरण, 2. दर्शनावरण, 3. वेदनीय, 4. मोहनीय, 5. आयु, 6. नाम, 7. गोत्र, और 8. अन्तराय। उक्त आठ कर्मों की अनेक उत्तर प्रकृतियां और विभिन्न जीवों की अपेक्षा से आगमों में कर्म का निरूपण किया गया है और किस गति या दृष्टि के जीवों में कितने कर्म-बन्ध, उदय, उदीरणा, सत्ता इत्यादि में रहते हैं, इसका भी विस्तृत विवेचन किया गया है। इन सबका यहां विस्तार से विवेचन न करके केवल कर्म की उत्तर प्रकृतियां गिना देते हैं।

1. ज्ञानावरणीय कर्म

यह कर्म ज्ञान को ढंकने वाला है। इस कर्म के उदय से आत्मा स्व और पर-स्वरूप को ठीक-ठीक नहीं जान पाता है। इस आवरण को पट्टी के समान माना है। आंख पर जितने मोटे वस्त्र की पट्टी बंधी हुई होगी, उतना ही कम दिखाई देगा। उसी तरह ज्ञानावरण का जितना गहरा आवरण होगा, आत्मा में उतना ही ज्ञान का विकास कम होगा। यह कर्म आत्मा में स्थित ज्ञान को पूर्ण रूप से प्रच्छन्न नहीं करता है। आत्मा में थोड़ा-बहुत ज्ञान तो हर स्थिति में रहता ही है। क्योंकि ज्ञान आत्मा का लक्षण है, अत: उसका सर्वथा लोप नहीं होता। जैनागमों में ज्ञान 5 प्रकार का माना गया है–1. मतिज्ञान, 2. श्रुतज्ञान, 30. अवधिज्ञान, 4. मन:पर्यवज्ञान और 5. केवलज्ञान। अत: ज्ञानावरण कर्म भी उक्त 5 प्रकार का है, यथा मतिज्ञानावरण आदि।

---

1. विसुद्धिमग्ग, 19, 14-16.
2. अभिधम्मत्थ संग्रह, पृ. 19.

2. दर्शनावरणीय कर्म

आत्मा के दर्शन गुण को आवृत्त करने वाले कर्म को दर्शनावरण कर्म कहते हैं। इसे राजा के द्वारपाल की उपमा दी गयी है। द्वारपाल चाहे तो किसी व्यक्ति को राजा के दर्शन करने से रोक भी सकता है। उसी तरह जब तक उक्त कर्म का उदय रहता है, तब तक आत्मा अपने स्वरूप का दर्शन नहीं कर पाता। दर्शनावरण कर्म भी आत्मा में स्थित अनन्त दर्शन को सर्वथा आवृत्त नहीं करता है।

दर्शन 4 प्रकार का है–1. चक्षुदर्शन, 2. अचक्षुदर्शन, 3. अवधिदर्शन और 4. केवलदर्शन।

दर्शनावरण कर्म के नौ भेद किए हैं। वे इस प्रकार हैं–1. चक्षुदर्शनावरण, 2. अचक्षुदर्शनावरण, 3. अवधिदर्शनावरण, 4. केवलदर्शनावरण, 5. निद्रा, 6. निद्रा-निद्रा, 7. प्रचला, 8. प्रचला-प्रचला और 9. स्त्यानर्द्धि निद्रा।

3. वेदनीय कर्म

इस कर्म के उदय से आत्मा में सुख-दु:ख का संवेदन होता है। इस कर्म को मधु से लिप्त तलवार की उपमा दी है। सांसारिक सुख उक्त मधु के समान है, जो मधुर स्वाद की अनुभूति कराने के साथ जिह्वा को भी काट देता है। अथवा सांसारिक सुखों के पीछे दु:ख का अथाह सागर ठाठें मार रहा है। वेदना दो प्रकार की होती है–सुख रूप और दु:ख रूप। इसलिए वेदनीय कर्म भी दो प्रकार का माना है–1. साता वेदनीय–सुख रूप, और 2. असाता वेदनीय–दु:ख रूप।

4. मोहनीय कर्म

यह आत्मा के सम्यक्दर्शन और चारित्र अर्थात् आत्मा के मूल गुणों का अवरोधक है। इस कर्म को मद्य की उपमा दी गयी है। जैसे मद्य का नशा कर लेने पर मनुष्य अपनी चेतना को खो बैठता है, उसी तरह मोह कर्म के उदय से आत्मा अपने स्वरूप को समझ नहीं पाता है।

मोह कर्म दो प्रकार का माना है–(1) दर्शनमोह, और (2) चारित्रमोह।

(1) दर्शनमोह के तीन भेद माने हैं–1. सम्यक्त्वमोहनीय, 2. सम्यक्मिथ्यात्वमोहनीय (मिश्र मोहनीय), और 3. मिथ्यात्वमोहनीय।

(2) चारित्रमोह के दो भेद हैं–1. कषाय और, 2. नोकषाय। कषाय 16 प्रकार का है–1. अनन्तानुबन्धी कषाय, 2. अप्रत्याख्यानी कषाय, 3. प्रत्याख्यानी कषाय और 4. संज्वलन कषाय। प्रत्येक कषाय के 1. क्रोध, 2. मान, 3. माया, और 4. लोभ–ये चार भेद होते हैं। इस प्रकार कषाय के कुल 16 भेद होते हैं।

नोकषाय के 9 भेद होते हैं–1. हास्य, 2. रति, 3. अरति, 4. भय, 5. शोक, 6. दुगंच्छा, 7. स्त्रीवेद, 8. पुरुषवेद, 9. नपुंसकवेद।

इस तरह दर्शनमोह के 3 और चारित्रमोह के 25, कुल मिलाकर मोहनीय कर्म के 28 भेद होते हैं।

5. आयु कर्म

इस कर्म के उदय से आत्मा किसी एक गति के प्राप्त शरीर में रहता है। इस कर्म का क्षय होते ही वह उस शरीर को त्याग देता है, जिसे व्यवहार भाषा में मृत्यु कहते हैं। इस कर्म का स्वभाव कारागार (जेल) के समान है। क्योंकि जेल में कैदी के बन्धन का निश्चित समय होता है, उसी तरह आत्मा का एक गति में प्राप्त स्थूल शरीर के साथ रहने का भी निश्चित समय होता है। संसार में चार गतियां हैं–1. नरक, 2. तिर्यंच, 3. मनुष्य, और 4. देव। इसलिए आयु कर्म भी चार प्रकार का माना है–1. नरक आयु, 2. तिर्यंच आयु, 3. मनुष्य आयु, और 4. देव आयु।

6. नाम कर्म

यह कर्म चित्रकार के तुल्य है। जैसे चित्रकार अनेक आकार-प्रकार के चित्र चित्रित करता है, उसी तरह नाम कर्म भी देव, नारक, मनुष्य, तिर्यञ्च आदि विभिन्न नामों की रचना करता है। नाम कर्म के कई भेद हैं। नाम कर्म के भेद चार अपेक्षाओं से किए जाते हैं। एक अपेक्षा से 42, दूसरी अपेक्षा से 93, तीसरी अपेक्षा से 103 और चौथी अपेक्षा से 67 भेद किए गए हैं।

42 भेद–1. गति, 2. जाति, 3. तनु-शरीर, 4. उपांग, 5. बन्धन, 6. संघातन, 7. संहनन, 8. संस्थान, 9. वर्ण, 10. गन्ध, 11. रस, 12. स्पर्श, 13. आनुपूर्वी, और 14. विहायोगति, ये चौदह पिण्ड प्रकृतियां कहलाती हैं। 1. पराघात नाम, 2. उच्छ्वास नाम, 3. आतप नगर, 4. उद्योत नाम, 5. अगुरुलघु नाम, 6. तीर्थंकर नाम, 7. निर्माण नाम, 8. उपघात नाम, ये आठ प्रत्येक प्रकृतियां कही जाती हैं। 1. त्रस नाम, 2. बादर नाम, 3. पर्याप्त नाम,

4. प्रत्येक नाम, 5. स्थिर नाम, 6. शुभ नाम, 7. सुभग नाम, 8. सुस्वर नाम, 9. आदेय नाम और 10. यशःकीर्ति नाम, इन दस प्रकृतियों को त्रस दशक कहते हैं। 1. स्थावर नाम, 2.सूक्ष्म नाम, 3. अपर्याप्त नाम, 4. साधारण नाम, 5. अस्थिर नाम, 6. अशुभ नाम, 7. दुर्भग नाम, 8. दुःस्वर नाम, 9. अनादेय नाम और 10. अयशः कीर्ति नाम। इन दस प्रकृतियों को स्थावर दशक कहते हैं। इस तरह नाम कर्म के 14 + 8 + 10 + 10 = 42 भेद होते हैं।

93 भेद–गति नाम कर्म के 4 भेद–1. नरक, 2. तिर्यञ्च, 3. मनुष्य, और 4. देव। जाति नाम कर्म के 5 भेद–1. एकेन्द्रिय, 2. द्वीन्द्रिय, 3. त्रीन्द्रिय, 4. चतुरिन्द्रिय, 5. पंचेन्द्रिय। शरीर नाम कर्म के 5 भेद–1. औदारिक 2. वैक्रिय, 3. आहारक, 4. तैजस, और 5. कार्मण शरीर। उपांग नाम कर्म के 3 भेद–1. औदारिक अंगोपांग नाम कर्म, 2. वैक्रिय अंगोपांग नाम कर्म, और 3. आहारक अंगोपांग नाम कर्म। बन्धन नाम कर्म के 5 भेद–1. औदारिक शरीर बन्धन नाम कर्म, इसी तरह वैक्रियादि पांचों शरीरों के साथ बन्धन नाम कर्म जोड़ देना चाहिए। संघातन नाम कर्म के 5 भेद–1. औदारिक शरीर संघातन नाम कर्म, इसी तरह वैक्रिय आदि के साथ संघातन नाम कर्म जोड़ देना चाहिए। संहनन नाम कर्म के 6 भेद–1. वज्रऋषभ नाराच, 2. ऋषभ नाराच, 3. नाराच, 4. अर्ध नाराच, 5. किलिका, और 6. सेवार्त। संस्थान नाम कर्म के 6 भेद–1. समचतुस्र, 2. न्यग्रोध, 3. सादि, 4. कुब्ज, 5. वामन, और 6. हुण्डक संस्थान। वर्ण के 5 भेद हैं–1. कृष्ण, 2. नील, 3. रक्त-लाल, 4. पीत, और 5. श्वेत वर्ण। गन्ध के 2 भेद–सुरभिगन्ध और दुरभिगन्ध। रस के 5 भेद–1. तिक्त, 2. कटु, 3. कषाय, 4. आम्ल, और 5. मधुर रस। स्पर्श के 8 भेद–1. गुरु, 2. लघु, 3. मृदु, 4. कठोर, 5. शीत, 6. उष्ण, 7. स्निग्ध और 8. रूक्ष स्पर्श। आनुपूर्वी के 4 भेद–1. नरकानुपूर्वी, 2. तिर्यञ्चानुपूर्वी, 3. मनुष्यानुपूर्वी, और 4. देवानुपूर्वी। विहायोगति के 2 भेद–शुभ और अशुभ विहायोगति। इस तरह 14 पिण्ड प्रकृतियों के 65 भेद हुए। इनके साथ 8 प्रत्येक प्रकृतियां, त्रस दशक और स्थावर दशक, ये 28 प्रकृतियां जोड़ देने से नाम कर्म के 65+28=93 भेद हो जाते हैं।

103 भेद–93 भेद उपरोक्त और बन्धन नाम कर्म के 5 भेद की जगह 15 भेद भी होते हैं। वे निम्न प्रकार हैं–1. औदारिक-औदारिक बन्धन नाम कर्म, 2. औदारिक-तैजस् बन्धन नाम कर्म, 3. औदारिक-कार्मण बन्धन नाम कर्म, 4. वैक्रिय-वैक्रिय बन्धन नाम कर्म, 5. वैक्रिय-तैजस् बन्धन नाम कर्म, 6. वैक्रिय-कार्मण बन्धन नाम कर्म, 7. आहारक-आहारक बन्धन नाम कर्म, 8. आहारक-तैजस बन्धन नाम कर्म, 9. आहारक-कार्मण बन्धन नाम कर्म,

10. औदारिक-तैजस-कार्मण बन्धन नाम कर्म, 11. वैक्रिय-तैजस-कार्मण बन्धन नाम कर्म, 12 आहारक-तैजस-कार्मण बन्धन नाम कर्म, 13. तैजस-तैजस बन्धन नाम कर्म, 14. तैजस-कार्मण बन्धन नाम कर्म, और 15. कार्मण-कार्मण बन्धन नाम कर्म। इस तरह बन्धन नाम कर्म के दस भेद बढ़ा देने से नाम कर्म के 93+20=103 भेद हो जाते हैं।

67 भेद—बन्धन नाम कर्म के 15 भेद और संघातन नाम कर्म के 5 भेदों का 5 शरीर नाम कर्म में समावेश कर दें और वर्ण, गन्ध, रस और स्पर्श के 20 भेदों को वर्ण, गन्ध, रस और स्पर्श इन चार में समाविष्ट कर देते हैं, तो शेष 67 प्रकृतियां ही बचती हैं। बन्धन नाम के 15, संघातन नाम के 5 और वर्णादि की 16, इस तरह कुल 36 प्रकृतियां 103-36=कम करने से, नाम कर्म की शेष 67 प्रकृतियां रहती हैं। इस अपेक्षा से नाम कर्म की 42, 93, 103 और 67 प्रकृतियां होती हैं।

7. गोत्र कर्म

इसे कुम्भकार के समान माना है। जैसे कुम्भकार अनेक तरह के घट बनाता है, जिसमें से कुछ घट कलश के रूप में पूजे जाते हैं या घी, पानी आदि शुभ पदार्थ रखने के काम में आते हैं, तो कुछ घट मदिरा आदि अशुभ पदार्थ भरने के काम में भी लाए जाते हैं। उसी तरह इस नाम कर्म के उदय से जीव कभी उच्च गोत्र में जन्म लेता है तो कभी नीच गोत्र में भी जन्म ग्रहण करता है। ऊंच और नीच के भेद से गोत्र कर्म दो प्रकार का माना गया है।

8. अन्तराय कर्म

यह कर्म भण्डारी-कोषाध्यक्ष के समान कहा गया है। कोषाध्यक्ष के अनुकूल न होने पर राजा अपनी इच्छानुसार धन का व्यय नहीं कर सकता। उसी तरह इस कर्म के उदय से शक्तियां प्राप्त नहीं होती हैं। इस कर्म के 5 भेद हैं—1. दान-अन्तराय, 2. लाभ-अन्तराय, 3. भोग-अन्तराय, 4. उपभोग-अन्तराय, और 5. वीर्य-अन्तराय।

प्रकृतियों का बन्ध

8 कर्म की 120 प्रकृतियों का बन्ध होता है। वह इस प्रकार है—ज्ञानावरण की 5, दर्शनावरण की 9, वेदनीय की 2, मोहनीय की 26, सम्यक्त्व-मोहनीय और सम्यक्त्व-मिथ्यामोहनीय (मिश्र मोहनीय) इन दो प्रकृतियों का बन्ध नहीं होता है, बन्ध तो मिथ्यात्व मोहनीय का होता है, परन्तु परिणामों में विशुद्धि और अर्धशुद्धि होने पर सम्यक्त्व और मिश्र

मोहनीय की दोनों प्रकृतियां बन जाती हैं, आयु की 4, नाम की 67, गोत्र की 2 और अन्तराय की 5=120 प्रकृतियां।

उपरोक्त 120 में मोहनीय कर्म की निकाली गई दो प्रकृतियां मिला देने पर 122 प्रकृतियां बन जाती हैं। ये 122 प्रकृतियां उदय और उदीरणा की अधिकारिणी हैं।

8 कर्म की 158 उत्तरप्रकृतियां होती हैं। इसमें नाम कर्म की 103 प्रकृतियां मिलाई गई हैं। इसमें से बन्धन नाम कर्म के 5 भेद लिए जाएं तो 158-10=148 प्रकृतियां शेष रहती हैं। ये 148 प्रकृतियां सत्तायोग्य हैं अथवा इनकी सत्ता रहती है।

कर्मबन्ध का कारण

जैन आगमों एवं ग्रन्थों में कर्मबन्ध के सम्बन्ध में तीन मान्यताएं प्रचलित हैं--एक मान्यता है कषाय और योग, ये दो कर्मबन्ध के कारण हैं, दूसरी मान्यता मिथ्यात्व, अव्रत, कषाय और योग चार को कारण मानती है और तीसरी परम्परा उसमें प्रमाद को जोड़कर पांच कारण मानती है। दो कारण मानने वालों ने शेष कारणों का कषाय में समावेश कर लिया है। इस तरह कषाय और योग कर्मबन्ध के कारण हैं, इस मान्यता में किसी का विरोध नहीं है। इसमें भी कषाय को कर्मबन्ध का प्रबल कारण माना है। क्योंकि कषाय रहित योग के कारण केवल कर्म आते हैं, परन्तु कषायाभाव के कारण उनका बन्ध नहीं होता है। इसलिए आगमों में राग-द्वेष को कर्म का बीज कहा है।[1] अत: कर्मबन्ध का प्रमुख कारण कषाय है। परन्तु उसे अभिव्यक्त करने का साधन योग है। मन, वचन और काया–इन तीनों योगों में से किसी एक योग की सहायता के बिना कषाय की अभिव्यक्ति नहीं हो सकती है। अत: यह जानना आवश्यक है कि इन तीनों आधारों में से मुख्य आधार कौन सा है? ब्रह्मबिन्दु उपनिषद्, 2 में कहा गया है–

मन एव मनुष्याणां कारणं बन्धमोक्षयो:।
बन्धाय विषयासक्तं मुक्त्यै निर्विषयं स्मृतम्॥

इसमें मन को कर्मबन्धन का प्रबल कारण माना है। इसी के सहयोग से मन, वचन और काया की प्रवृत्ति में शुद्धता एवं मलीनता आती है। गीता में भी कहा गया है–हे कृष्ण! यह मन बड़ा चंचल है, इसका निरोध करना सरल नहीं है।[2] परन्तु यह निश्चित है कि इसका

1. रागो य दोसो वि य कम्मबीयं । –उत्तराध्ययन, 32, 6.
2. चंचलं हि मन: कृष्ण ! –श्री भगवद्गीता, 6, 34.

निरोध होने पर ही मुक्ति होती है। जैनागमों में भी मन को प्रमुख माना है। कर्मबन्ध के लिए वचन और शरीर की क्रिया के स्थान में जीव के परिणामों–आन्तरिक भावों या मानसिक चिन्तन को कर्मबन्ध का प्रमुख कारण माना है।[1]

जैनों की तरह उपनिषदों में भी मन को शुद्ध और अशुद्ध दो तरह का माना है। काम-संकल्परूप मन को अशुद्ध और उससे रहित मन को शुद्ध माना है।[2] अशुद्ध मन संसार का कारण है और शुद्ध मन मुक्ति का। जैन विचारकों ने भी इस बात को माना है कि जब तक कषाय का क्षय नहीं हो जाता, तब तक अशुद्ध मन रहता है और 12वें गुणस्थान में और उसके बाद 13वें गुणस्थान में शुद्ध मन की ही प्रवृत्ति होती है और 14वें गुणस्थान में पहुंचते ही केवली सर्वप्रथम मनयोग का निरोध करते हैं, उसके बाद वचन और काययोग का निरोध करते हैं।[3]

इस तरह जैनों ने मनयोग को प्रबल माना है। उसका निरोध कर लेने के बाद वचन और काय योग का सहज ही निरोध हो जाता है। जब तक मन का निरोध नहीं होता, तब तक वचन और काय योग का निरोध नहीं होता। क्योंकि इन दोनों योगों का संचालक मन है। उस पर विजय पा लेने पर सब पर विजय हो जाती है। आध्यात्मिक भक्त कवि आनन्दघन जी ने कुन्थुनाथ भगवान् की प्रार्थना करते हुए कहा है–

मन जीत्युं तो सगलो जीत्युं ऐ बात नहीं खोटी,
एम कहे मैं जीत्युं ते नवी मानुं, एही बात छे कंईं मोटी।
हो कुंथु जिन ! मनड़ो किम ही न बांझे।।

इस तरह हिंसा-अहिंसा का आधार भी मन को माना है। मानसिक परिणति विशुद्ध हो रही है, तो उस समय शरीर से हिंसा होने पर भी पाप कर्म का बन्ध नहीं होता है और उसके विपरीत कोई व्यक्ति प्रत्यक्ष में शरीर से किसी भी जीव की हिंसा करता हुआ दिखाई नहीं दे रहा है, परन्तु मन में किसी के प्रति कलुषित परिणाम लिए हुए है, तो वह पाप कर्म का बन्ध कर लेता है। विशेषावश्यकभाष्य में कहा है कि अशुभ परिणाम हिंसा है, चाहे उससे बाह्य रूप से जीवों की घात–हिंसा हो या न हो और परिणामों में विशुद्धता है तो बाह्य रूप से द्रव्यहिंसा होने पर भी पाप कर्म का बंध नहीं होता है।[4] आगम में भी यही कहा गया है कि

1. परिणामे बन्धः ।
2. ब्रह्मबिन्दु उपनिषद्, 1.
3. विशेषावश्यक भाष्य, 3059 से 3064.
4. विशेषावश्यक भाष्य, 1766.

अयतनापूर्वक चलने-उठने, खाने-पीने, बोलने आदि की, की जाने वाली क्रिया से छः काय की हिंसा एवं पाप कर्म का बन्ध होता है और यतनापूर्वक उक्त क्रिया करने में पाप कर्म का बन्ध नहीं होता है।[1] इतना होते हुए भी बौद्धों ने जैनों पर जो यह आक्षेप किया है "जैन केवल काय दण्ड को ही महत्त्व देते हैं," यह उनका भ्रम है और इस भ्रम का मुख्य कारण साम्प्रदायिक अभिनिवेश ही है, ऐसा मानना चाहिए। अन्यथा यह आक्षेप कोई मूल्य नहीं रखता है।

जैनों की तरह बौद्ध भी मन को कर्मबन्ध का प्रबल कारण मानते हैं। उपालिसुत्त में मन को ही बन्ध का मुख्य कारण कहा है। धम्मपद में भी कहा है–

मनोपुव्वंगमा धम्मा मनोसेट्ठा मनोमया।
मनसा चेव पुट्ठेन भासति वा करोति वा।।
ततो न दुक्खमन्वेति चक्कं व वहतो पदं।।

उपरोक्त विचारों से यह स्पष्ट हो गया है कि कर्मबंध में प्रबल कारण मन है अथवा यों कह सकते हैं कि परिणामों की तीव्रता और मन्दता के अनुसार ही कर्मों का तीव्र एवं मन्द बन्ध होता है। अतः कषाय और योग को कर्मबन्ध कहा गया है, वह उपयुक्त ही है। मिथ्यात्व आदि का उसी में समावेश हो जाता है। क्योंकि अनन्तानुबंधी कषाय का उदय मिथ्यात्व है, अप्रत्याख्यानी कषाय का उदय अव्रत है और प्रत्याख्यानी कषाय का उदय प्रमाद है। अतः कर्मबन्ध के उक्त दो, और मिथ्यात्व, अव्रत, कषाय और योग इन चार तथा उसमें प्रमाद को मिलाकर किए गए 5 भेदों में कोई सैद्धांतिक विरोध नहीं है, मात्र संख्या का भेद है। इससे मान्यता में किसी भी तरह का अन्तर नहीं पड़ता है।

कर्म-फल का स्थान

काल, स्वभाव, ईश्वर आदि को एकांत आधार मानने वाले विचारक जगत में दिखाई देने वाले वैचित्र्य का कारण उन सबको मानते हैं। जो दर्शन एकांत अद्वैत को स्वीकार करते हैं या मात्र-चेतन से ही सृष्टि की उत्पत्ति मानते हैं, उनके मत में अदृष्ट-कर्म या माया ही वैचित्र्य का कारण है। नैयायिक-वैशेषिक द्वैत को मानते हैं, फिर भी सृष्टि-वैचित्र्य का कारण अदृष्ट-कर्म को स्वीकार करते हैं। उनके मतानुसार जड़ और चेतन सभी कार्यों में अदृष्ट साधारण कारण है। बौद्धदर्शन जड़ सृष्टि में कर्म को कारण नहीं मानता है। यहां तक कि वे

1. दशवैकालिक सूत्र, 4/1-7.

वेदना को भी सर्वथा कर्म का कारण नहीं मानते हैं। मिलिन्दप्रश्न में इसके 8 कारण माने हैं- 1. वात, 2. पित्त, 3. कफ, और 4. इन तीनों का सन्निपात, 5. ऋतु, 6. विषमाहार, 7. औपक्रमिक, और 8. कर्म।

उक्त आठ कारणों में से किसी एक कारण से जीव को वेदना का संवेदन होता है। अत: सुख-दु:ख की संवेदना के कारण आठ ही हैं, इसके अतिरिक्त कोई व्यक्ति पूर्वकर्म को संवेदना का कारण मानता है, तो यह मिथ्या है। क्योंकि इसका बहुत थोड़ा भाग ऐसा है, जो पूर्वकृतकर्म का फल हो, अधिकांश भाग तो दूसरे कारणों पर ही आधारित है। संवेदना का कौन-सा भाग पूर्वकृत कर्म का है, इसका निर्णय तो बुद्ध ही कर सकता है।[1]

जैनदर्शन इस बात को मानता है कि कर्म का सम्बन्ध आत्मा से है। भौतिक वस्तुओं पर उसका कोई असर नहीं होता है। पुद्गलों का भी पुद्गलों के साथ बन्ध होता है, परन्तु उसके बंध की व्यवस्था दूसरी तरह से है। जिसका वर्णन तत्त्व-मीमांसा अध्याय के अजीव विचारणा प्रकरण में कर चुके हैं। परन्तु आत्मा के साथ जो कर्म का बंध होता है, वह की जाने वाली क्रिया के साथ चल रहे परिणामों या भावनाओं के द्वारा ही होता है और वह भावना या परिणाम जीव के ही होते हैं। अत: परिणामों से युक्त संसारी जीव-आत्मा ही कर्मबन्ध करता है।

जीवों में जो वैचित्र्य नजर आता है वह बंधे हुए कर्म का फल है। नारक, तिर्यञ्च, मनुष्य और देव आदि जो विभिन्न रूप हैं, औदारिक, वैक्रिय आदि विभिन्न शरीर मिले हैं तथा सुख-दु:ख, सम्पत्ति-विपत्ति, ज्ञान-अज्ञान, चारित्र-अचारित्र आदि की उपलब्धि होती है, वह कर्म के ही कारण से होती है। परन्तु भूकम्प आदि जैसे भौतिक कार्यों में कर्म का सीधा सम्बन्ध नहीं है। यह बात कर्म की मूल और उत्तर प्रकृतियों में भी स्पष्ट हो जाती है।[2]

परिणाम और प्रकृति का सम्बन्ध

यह एक सोचने-समझने की बात है कि जड़ प्रकृति पर कर्म-वर्गणा के पुद्गलों का कोई असर नहीं होता है। उसमें होने वाला परिवर्तन जड़ परमाणुओं के संघटन-विघटन पर

1. मिलिन्दप्रश्न, 4, 1, 62.
2. विशेष विस्तार से जानने वाले जिज्ञासु कर्मग्रन्थ, भाग छठा, हिन्दी अनुवाद (पं. फूलचन्द सिद्धांतशास्त्री) की प्रस्तावना, पृ. 43 देखें।

आधारित है, परन्तु कर्म से उसका कोई सम्बन्ध नहीं है। फिर भी ये परिवर्तन एक अपेक्षा से कर्म से सम्बन्धित भी हैं। जड़ के कर्मों से नहीं, बल्कि चेतन के, जीव के कर्म से प्रभावित हैं। जैसे भूकम्प आदि आकस्मिक घटनाएं घटित होती हैं, जिन्हें जनसाधारण की भाषा में दैवी प्रकोप कहते हैं। वैज्ञानिक दृष्टि से ये घटनाएं कुछ रासायनिक परिवर्तनों के कारण होती हैं और सैद्धान्तिक दृष्टि से पुद्गल परमाणुओं के जुड़ने-टूटने के परिणामस्वरूप प्रकृति में परिवर्तन आता है। परन्तु वह घटना उस स्थान में स्थित जीवों के दुःख एवं संवेदना का जो कारण बनती है, वह उन जीवों के सामूहिक वेदनीय कर्म के उदय का ही फल है।

यह स्पष्ट है कि आत्मा के शुभाशुभ विचारों का प्रकृति पर भी असर होता है। श्रमण-संस्कृति इस बात को मानती है कि तीर्थंकर जिस क्षेत्र में विराजमान होते हैं, उस क्षेत्र के आस-पास 25 योजन अर्थात् 200 मील तक कोई उपद्रव नहीं होता है, कोई संक्रामक रोग नहीं फैलता है, राष्ट्रीय एवं अन्तर्राष्ट्रीय संकट पैदा नहीं होता है, अनावृष्टि-अतिवृष्टि के कारण दुष्काल नहीं पड़ता है। यह उन महापुरुषों के उज्ज्वल, महोज्ज्वल विचार परमाणुओं का ही असर है कि वे प्रकृति के परमाणुओं को प्रकुपित नहीं होने देते। आत्मा के शुद्ध अध्यवसायों से अनुप्राणित वे शुद्ध-सात्त्विक एवं शान्त परमाणु उस क्षेत्र के आसपास स्थित समस्त परमाणुओं को शान्त-प्रशान्त बना देते हैं। यही स्थिति अशुभ विचार के बुरे परमाणुओं के सम्बन्ध में भी समझनी चाहिए। जब वे सामूहिक रूप से प्रवहमान होते हैं, तो प्रकृति के शान्त वातावरण में हलचल मचा देते हैं, तूफान-सा ला देते हैं।

मनोवैज्ञानिक भी इस बात को मानते हैं कि मनुष्य के मन में अच्छे-बुरे जैसे भी विचार बनते हैं, उसके अनुरूप परमाणुओं में कालापन या उज्ज्वलता तथा कटुता या मधुरता आती है।[1] और उन भावनाओं से अनुरंजित परमाणु जब व्यक्ति के शरीर से निकलकर बाहर आते हैं तो बाहर के परमाणुओं को भी प्रभावित किए बिना नहीं रहते। वे शुभाशुभ एवं विशुद्ध भावों से रंगे हुए परमाणु अन्य परमाणुओं के साथ मिलकर प्रकृति के वातावरण में परिवर्तन ले आते हैं। जिसे वैज्ञानिकों की भाषा में रासायनिक परिवर्तन कहते हैं। रासायनिक परिवर्तन भी क्या है? परमाणुओं का मिलना एवं अलग होना ही रासायनिक परिवर्तन है। जब हाइड्रोजन और ऑक्सीजन दो गैसों के परमाणु अपने-अपने स्कन्ध में से अलग होकर आपस में मिल या मिला दिए जाते हैं, तो उनमें परिवर्तन आ जाता है, वे अपने स्वरूप को छोड़कर पानी के

1. इसे जैन परिभाषा में लेश्या कहते हैं। लेश्या के वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्श आदि शुभाशुभ परिणामों-विचारों के अनुसार अच्छे-बुरे होते हैं।

रूप में परिलक्षित होने लगते हैं। तो परमाणुओं में यह रासायनिक परिवर्तन स्कन्ध के संघटन-विघटन के कारण ही होता है। अत: चाहे वैज्ञानिकों के शब्दों में कहूं, मनोवैज्ञानिकों की दृष्टि से कहूं या एक सैद्धान्तिक की भाषा में कहूं–बात एक ही है कि आत्मा के शुभाशुभ भावों से अनुरंजित परमाणुओं का बाहर के परमाणुओं पर भी असर होता है और उससे प्रकृति में अच्छा या बुरा परिवर्तन आता है।

मैं बता रहा था कि भूचाल आदि प्राकृतिक प्रकोप जीवों के सामूहिक वेदनीय कर्म का फल भी हैं। व्यक्ति स्वयं कर्म का बन्ध करता है और स्वयं उसके फल को भोगता है। किन्तु कुछ कर्म ऐसे भी होते हैं, जो सामूहिक रूप से बांधे जाते हैं, तो भोगने के समय भी सामूहिक रूप से उदय में आते हैं। भूकम्प, अनावृष्टि-अतिवृष्टि, महामारी आदि संक्रामक रोग, बाढ़ आदि प्राकृतिक तूफान सामूहिक रूप से बंधे हुए कर्मों के फल हैं। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि प्रत्येक कर्म व्यक्तिगत या सामूहिक जिस रूप में बंधा है, उस रूप में भी फल देता है। रोग-बीमारी, कुरूप शरीर, बेढंगे अंगोपांग, दरिद्रता आदि सभी बुरी वस्तुएं तथा स्वस्थ एवं सुन्दर शरीर, व्यवस्थित अंगोपांग, भरा-पूरा परिवार आदि सभी अच्छे संयोग अशुभ और शुभ कर्मों के फल हैं।

सामूहिक बन्ध

यह तो स्पष्ट हो गया है कि बंधे हुए कर्म अपना फल देते हैं। व्यक्तिगत कर्मबन्ध की चर्चा हम विस्तार से कर चुके हैं। परन्तु सामूहिक कर्मबन्ध के सम्बन्ध में हमने पीछे कहीं चर्चा नहीं की है। और यहां सामूहिक कर्मफल का प्रसंग चल पड़ा है, अत: हम यहां इस पर भी जरा विचार कर लें तो अप्रासंगिक नहीं होगा। यह हम पहले बता चुके हैं कि जो प्राकृतिक विपत्तियां आती हैं, वे उक्त प्रदेश में स्थित जीवों के अशुभ कर्मोदय का ही फल है। इसमें यह प्रश्न पूछा जा सकता है कि बहुत-से जीव सामूहिक बन्ध कैसे करते हैं?

इसके उत्तर में हम दो छोटे-से उदाहरण देना उपयुक्त समझते हैं, जिससे सारी स्थिति साफ हो जायेगी। एक जगह वेश्या का नृत्य एवं संगीत हो रहा है, हजारों व्यक्ति उसे देख-सुन रहे हैं और उसके रूप-सौन्दर्य, नृत्य के विकारी हाव-भाव एवं संगीत के माधुर्य को देख-सुन करके सबके मन में वासना जगती है। उसका नृत्य एवं संगीत बन्द होते ही आवाजें कसी जाती हैं, सीटियां बजाई जाती हैं, इत्यादि अनेक तरह से विकृत भावों को व्यक्त किया जाता है।

किसी प्रान्त में साम्प्रदायिक दंगे होते हैं, एक-दूसरे राष्ट्र में युद्ध चलता है, उस समय

अखबारों, रेडियो आदि साधनों से उसके समाचारों को जानकर मन में उनके प्रति द्वेष एवं घृणा के भाव आते हैं, तथा उन हिंसक दुष्कर्मों की प्रशंसा करने वाले भी मिल जाते हैं।

इस तरह के प्रसंग सामूहिक रूप से पाप कर्मबन्ध के कारण बनते हैं। और इसी तरह किसी महापुरुष के सत्कार्य की सामूहिक रूप से प्रशंसा करने तथा उसके द्वारा बताये गये सम्यक् मार्ग पर सामूहिक रूप से गति करने से सामूहिक रूप से पुण्य कर्म का बन्ध होता है। जिसके परिणामस्वरूप परिवार, समाज एवं राष्ट्र में जहां भी उक्त सदात्माएं रहती हैं, वहां सदा सुख-शान्ति का सागर ठाठें मारता रहता है।

इतनी लम्बी विचारणा के बाद हम इस निर्णय पर पहुंचे कि आत्मा के द्वारा किये गये शुभाशुभ कर्म आत्मा को मिलने वाले अच्छे एवं बुरे संयोगों के रूप में मिलते हैं। दुनिया में मिलने वाले अच्छे एवं बुरे सभी संयोग कर्म के फल हैं और इसी कारण एक ही माता से उत्पन्न दो भाइयों के रहन-सहन एवं दु:ख-सुख का भोग करने में भिन्नता नजर आती है। यह भिन्नता दोनों आत्माओं के अपने-अपने किये हुए कर्मों का ही फल है।

बन्ध और विपाक की प्रक्रिया

जैनागमों में बन्ध चार प्रकार का माना है–1. प्रकृतिबन्ध, 2. प्रदेशबन्ध, 3. अनुभागबन्ध, और 4.स्थितिबन्ध। लोक में ऐसा कोई स्थान नहीं है, जहां कर्मयोग्य पुद्गल न हों अथवा सारा लोक कर्म योग्य पुद्गलों से भरा है। अत: प्रत्येक स्थान में स्थित जीव मन, वचन और काया की प्रवृत्ति से अपने निकट में स्थित कर्मयोग्य पुद्गलों को सभी दिशा-विदिशाओं से ग्रहण करता है। जिस स्थान में जीव के आत्म-प्रदेश स्थित हैं, उतने स्थान में रहे हुए कर्म-पुद्गलों को आत्मा ग्रहण करती है, यह कर्म ग्रहण की क्षेत्र मर्यादा है। परमाणुओं की संख्या की मर्यादा योगों की तरतमता पर आधारित है। योगों की प्रवृत्ति अधिक होती है, तो परमाणुओं की संख्या भी अधिक होती है और प्रवृत्ति स्वल्प होती है, तो परमाणु भी अल्प संख्या में आते हैं। इस प्रक्रिया को जैन परिभाषा में प्रदेशबन्ध कहते हैं।

आत्मा द्वारा ग्रहण किये गए परमाणु ज्ञानावरणादि कर्म प्रकृतियों के रूप में परिणत होते हैं, उसे प्रकृतिबन्ध कहते हैं। योग की प्रवृत्ति से परमाणुओं की संख्या और ज्ञानावरणादि प्रकृतियों की व्यवस्था होती है, इस कारण इस प्रक्रिया को प्रदेशबन्ध और प्रकृतिबन्ध कहते हैं। आत्मा को वस्तुत: अमूर्त माना जाता है, फिर भी कर्म संयोग के कारण उसे कथंचित् मूर्त भी माना गया है। क्योंकि आत्मा और कर्म का सम्बन्ध दूध-पानी के सम्बन्ध जैसा है। सांख्य

ने भी संसारावस्था में पुरुष और प्रकृति का सम्बन्ध स्वर्ण पर जमे मल जैसा माना है। नैयायिक-वैशेषिक ने भी धर्माधर्म का आत्मा के साथ समवाय सम्बन्ध माना है। इसी से वे एकीभूत दिखाई देते हैं, उन्हें पृथक् करके बताना असम्भव है। केवल लक्षण भेद से ही उन्हें आत्मा से पृथक् समझ सकते हैं।

योगों की प्रवृत्ति से प्रकृति और प्रदेश बन्ध होता है। परन्तु उसके साथ कषाय की जो प्रवृत्ति होती है, उससे स्थिति और अनुभाग-रसबन्ध होता है। परिणामों में कषाय की मन्दता होती है, तो उन कर्मों का स्थिति और अनुभाग बन्ध भी मन्द-हल्का होगा और कषाय की तीव्रता होगी तो बन्ध भी प्रगाढ़ होगा, परन्तु कषाय के अभाव में आत्मा के साथ कर्म परमाणुओं का बन्ध नहीं होता है। जिस प्रकार सूखी दीवार पर रेती के परमाणु नहीं चिपकते हैं, उसी तरह कषाय रहित आत्मा पर कर्म-रज भी नहीं चिपकती है। कर्मों का बन्ध कषाय युक्त योग प्रवृत्ति से होता है। उसका स्थिति और अनुभाग बन्ध भी कषाय से होता है। परन्तु इसमें अन्तर इतना ही है कि प्रदेश और प्रकृति बन्ध कषाय युक्त योग-प्रवृत्ति से होता है और स्थिति एवं अनुभाग बन्ध कषाय युक्त परिणामों से होता है।

योगदर्शन में भी क्लेश रहित योगी के अकृष्णाशुक्ल कर्म माना है अर्थात् उसके शुभाशुभ कर्म का बन्ध नहीं होता। बौद्धों ने अर्हंत में क्रिया चेतना स्वीकार करके कर्मबन्ध का निषेध किया है। इनकी क्रिया चेतना का रूप जैनों की ईर्यापथ क्रिया से मिलता-जुलता है।

इस तरह चार प्रकार से कर्म का बन्ध माना है। परन्तु बंधा हुआ कर्म तुरन्त फल देता हो, ऐसी बात नहीं है। वह अपने समय पर फल देता है। जिस प्रकार आग पर भोजन सामग्री चढ़ाते ही नहीं पक जाती, उसमें कुछ समय लगता है। इसी तरह कर्म का पाक-काल पूरा होने पर ही कर्म अपना फल देता है। इसे जैन परिभाषा में 'अबाधाकाल' कहते हैं। अबाधाकाल पूरा होने पर ही बंधे हुए कर्म परमाणु-फल देने को तत्पर होते हैं, इसे कर्म का उदय काल कहते हैं। उदय में आये हुए कर्म फल देकर आत्मा से अलग हो जाते हैं और तप-संयम के द्वारा भी पूर्व में बंधे हुए कर्मों को आत्मा से अलग किया जाता है, इसे निर्जरा कहते हैं। और आत्मा से समस्त कर्मों को सर्वथा अलग कर देने को मोक्ष कहते हैं।

आत्मा और कर्म का सम्बन्ध

प्रश्न–कर्मबन्ध की बात तो स्पष्ट हो गयी। परन्तु यह समझ में नहीं आया कि कर्म आत्मा पर कैसे छा जाते हैं? क्योंकि आत्मा अमूर्त है और कर्म मूर्त। ऐसी स्थिति में दोनों का

सम्बन्ध कैसे हुआ? मूर्त ने अमूर्त को कैसे आवृत्त कर लिया?

उत्तर–भारतीय चिन्तनधारा के सभी विचारकों ने आकाश को अमूर्त माना है और घट-पट आदि पदार्थों को मूर्त स्वीकार किया है। और इस बात को हम सदा प्रत्यक्ष देखते हैं कि घट-पट आदि मूर्त पदार्थों का अमूर्त आकाश के साथ सम्बन्ध जुड़ा हुआ है। वे जितने आकाश प्रदेश में स्थित होते हैं, उतने आकाश प्रदेशों को आवृत कर लेते हैं। एक और भी उदाहरण है–जब अन्धेरी चलती है तो आकाश पर धूल छा जाती है, चारों तरफ धुंधलापन हो जाता है। तो ये घट-पट एवं धूलि कण आदि सभी पदार्थ मूर्त हैं, फिर भी इनका अमूर्त आकाश के साथ सम्बन्ध होता है और ये अमूर्त आकाश को प्रच्छन्न कर लेते हैं। इसी तरह मूर्त कर्म भी आत्मा के साथ सम्बद्ध होने पर आत्म-गुणों को प्रच्छन्न कर लेता है।

प्रश्न–मूर्त पदार्थों का अमूर्त के साथ सम्बन्ध होता है, यह ठीक है। परन्तु अमूर्त पदार्थ पर मूर्त पदार्थ का कोई असर तो होता नहीं। जैसे वायु और अग्नि आकाश में स्थित रहते हैं, फिर भी आकाश पर उनका कोई असर नहीं होता है। तो फिर अमूर्त आत्मा को मूर्त कर्म कैसे प्रभावित कर सकता है?

उत्तर–अग्नि का पदार्थों पर दो तरह से प्रभाव पड़ता है। एक तो यह कि जिस पदार्थ में आग रहे वह प्रदेश अग्निमय दिखाई दे और दूसरा यह कि उस प्रदेश में स्थित पदार्थों को जलाकर भस्म कर दे। यह ठीक है कि अग्नि आकाश को जला नहीं सकती, परन्तु जिस स्थान में अग्नि प्रज्वलित होती है, उतने आकाश प्रदेश अग्निमय ही दिखाई देते हैं। वे आग से प्रभावित हुए बिना नहीं रहते। रहा जलाने का प्रश्न? अमूर्त पदार्थ ही नहीं, कई ऐसे मूर्त पदार्थ भी हैं कि जिन पर आग का कोई असर नहीं होता। जैसे वस्तुओं को पानी के प्रभाव से बचाने के लिए वाटर प्रूफ (Water proof) वस्त्र का निर्माण किया गया, उसी तरह वैज्ञानिकों ने (Fire proof) वस्त्र का भी निर्माण कर लिया है। यह वस्त्र आग के प्रभाव से सर्वथा अछूता रहता है। जम्मू-कश्मीर के पहाड़ों में इस तरह का पत्थर पाया जाता है, जिससे रूई की तरह रेशे निकलते हैं। मेहनत करने पर उसके धागे भी बनाये जा सकते हैं। उस रूई की विशेषता यह है कि उस पर आग का असर नहीं होता।[1] इससे स्पष्ट होता है कि आग बहुत से मूर्त पदार्थों को भी नहीं जला सकती, परन्तु जब आग की लपटें उन पदार्थों के पास होती हैं तो

1. जम्मू गवर्नमेण्ट कालेज के जीओलॉजी (Geology) विभाग के प्रोफेसर ने मुझे बताया कि इससे बना तार न आग से पिघलता है, न जलता है और न दूसरे रूप में परिवर्तित ही होता है, अर्थात् आग के कारण इसे किसी तरह की क्षति नहीं पहुंचती। –सम्पादक

वे आगमय परिलक्षित होते हैं। उसी तरह आकाश भी अग्निमय दृष्टिगोचर होता है। इसलिए हम यह नहीं कह सकते कि वह आग के प्रभाव से सर्वथा अछूता है। इतना ही कह सकते हैं कि आग आकाश के स्वरूप को बदल नहीं सकती। आग के बुझते ही आकाश फिर से निर्मल और स्वच्छ प्रतीत होने लगता है। यही बात आत्मा और कर्मों के सम्बन्ध में है।

कर्म आत्मा के अस्तित्व को समाप्त करने में सर्वथा असमर्थ हैं। आत्मा कर्म के प्रभाव से इतनी ही प्रभावित होती है कि जब तक कर्मों का प्रवाह प्रवहमान रहता है, तब तक वह कर्ममय दिखाई देती है। जैसे आग के प्रभाव से आकाश अमूर्त होते हुए भी काले, पीले, लाल आदि कई रंगों में दिखाई देता है, उसी तरह कर्म के प्रवाह से आत्मा भी गिरगिट की तरह अनेकों रंग बदलता हुआ परिलक्षित होता है। परन्तु कर्म का स्रोत सूखते ही आत्मा अपने शुद्ध रूप में आ जाता है। अनन्त-अनन्त काल तक कर्म के प्रभाव में रहकर भी उसके शुद्ध आत्म स्वरूप में जरा भी परिवर्तन नहीं आता है। अस्तु कर्म आत्मा को बाह्य रूप से प्रभावित करता है, परन्तु वह उसे अपने या अन्य रूप में परिवर्तित नहीं कर सकता है।

दूसरी बात यह है कि आत्मा का ज्ञान गुण अमूर्त है और शराब मूर्त है। जब मनुष्य शराब का सेवन करता है तो वह ज्ञान एवं चेतना को ढक लेती है, थोड़ी देर के लिए मनुष्य अपने ज्ञान एवं चेतना को खो बैठता है। तो इस तरह देखा जाता है कि अमूर्त पदार्थ भी मूर्त पदार्थो से प्रभावित होते हैं।

एक बात और भी है, वह यह है कि जैनदर्शन आत्मा को कथंचित् मूर्त भी मानता है। संसारी जीव अनादि काल से कर्म के आवरण से आवृत होने के कारण संसार में एक योनि से दूसरी योनि में परिभ्रमण करते हैं तथा सशरीर होते हैं। शरीर मूर्त ही होता है और प्राणयुक्त शरीर को व्यवहार में आत्मा का प्रतीक मानते हैं। इस अपेक्षा से उन्हें मूर्त भी कहा गया है और मूर्त कर्म संसारी जीवों को ही प्रभावित करता है, जो उसके बन्धनों से आबद्ध हैं।

कर्म स्वयं फल-प्रदाता है

प्रश्न- कर्म जड़ है। उसे अपने शुभाशुभ होने का कोई बोध नहीं है और कर्म का कर्त्ता फल भोगना नहीं चाहता है। ऐसी स्थिति में जड़ कर्म उसे शुभाशुभ फल कैसे देंगे?

उत्तर-यह ठीक है कि कर्म जड़ है, परन्तु वह चेतन के साथ सम्बद्ध होने के कारण उसमें भी यथासमय फल देने की शक्ति पैदा हो जाती है। जड़ पुद्गलों का भी यह स्वभाव है कि ये जिस रूप में संघटित होते हैं या किए जाते हैं, उसी के अनुसार अपना असर भी

दिखाते हैं। कुछ बम्ब ऐसे होते हैं कि जिनमें विस्फोटक पदार्थ भरते समय उनके फटने का समय अंकित कर दिया जाता है और परिणामस्वरूप वह बम्ब बिना चलाए एवं बिना किसी चीज से टकराए ही यथासमय फट जाता है। तो पुद्गलों को भले ही समय एवं शुभाशुभ का ज्ञान नहीं है, परन्तु जिस रूप में उनका संग्रह हुआ है, उस रूप में उनकी स्वयं ही परिणति होती है। उसके लिए किसी ईश्वर को इधर-उधर भाग-दौड़ करने की आवश्यकता नहीं है।

हम जानते हैं कि विष निर्जीव है, उसे किसी व्यक्ति को मारने का भी ज्ञान नहीं है। फिर भी मनुष्य के न चाहने पर भी विष का प्रभाव पड़े बिना नहीं रहता है। जो व्यक्ति विष खाने के बाद मरना नहीं चाहता है, फिर भी विष का असर होते ही मनुष्य मरणासन्न हो जाता है और वह बचने के लिए चिल्लाता है। वैद्य-डाक्टर विष को निकालने का प्रयत्न करते हैं। यदि विष खून में मिल गया है और उसके निकालने के प्रयत्न सफल नहीं हुए हैं, तो वह व्यक्ति सदा के लिए मृत्यु की गोद में सो जाता है। जब विष भी अपना प्रभाव दिखाए बिना नहीं रहता, तब आत्मा के साथ सम्बद्ध कर्म अपना प्रभाव दिखाए बिना कैसे रहेंगे।

परमाणुओं का वैचित्र्य

जैनों का कर्मवाद का सिद्धान्त केवल तर्क या कल्पना के आधार पर नहीं रचा गया है। सर्वज्ञों द्वारा जैसा देखा गया है, उसी रूप में उसका विवेचन किया गया है। अत: उसमें सन्देह को जरा भी स्थान नहीं है। परमाणुओं की विलक्षणता तो आज के युग में स्पष्ट हो गई है। इन पंक्तियों के लेखक का चातुर्मास जैनधर्म दिवाकर, आचार्य सम्राट गुरुदेव पूज्य श्री आत्माराम जी महाराज के चरणों में लुधियाना था। उन दिनों श्री हंसराज जी वायरलैस लुधियाना आए थे। उन्होंने अपनी वैज्ञानिक प्रतिभा के अनेकों वैज्ञानिक चमत्कार दिखलाए थे। परमाणुओं में कितना विलक्षण आकर्षण है, ये किस तरह काम करते हैं, और कैसे असंभावित दृश्यों को प्रस्तुत कर देते हैं, यह सब कुछ उन्होंने अपनी विज्ञान कला प्रदर्शनी में दिखलाया था। परिचय के लिए चन्द चमत्कारों का निर्देश निम्न पंक्तियों में कर रहे हैं –

1. **आवाज पर चलने वाला पंखा**–यह पंखा आदमी की भांति आज्ञा मानता है। 'चलो' का आदेश पाते ही चल पड़ता है और 'ठहरो' की आज्ञा मिलते ही रुक जाता है।

2. **अद्भुत नल**–यह नल आदमी के सन्मुख आते ही पानी गिराने लगता है और आदमी के पीछे हट जाने पर अपने आप पानी गिराना बन्द कर देता है।

3. चोर को पकड़ने वाली मशीन–यह एक ऐसा यन्त्र है कि चोर के घर में प्रविष्ट होते ही चोर-चोर पुकारती है और अलार्म बजाती है।

4. संसार का सबसे छोटा रेडियो सैट–यह रेडियो सैट माचिस की डिबिया जितना छोटा होता है और हिन्दुस्तान के सब स्टेशन सुनाता है।

5. जीवित मनुष्य का रेडियो–मनुष्य को एक विशेष प्रकार का मिक्स्चर पिलाकर उसके शरीर में से ही रेडियो का कार्यक्रम सुना जाता है।

6. टेलीविजन–इसके द्वारा हम अपने घर में बैठकर टेलीविजन पर होने वाले प्रोग्रामों को भी आंखों से देख सकते हैं।

7. बिजली का बल्ब–यह बल्ब मनुष्य के आदेश पर प्रकाश देना शुरू कर देता है और बुझने की आज्ञा मिलते ही बुझ जाता है।

इसके अतिरिक्त अन्य भी ऐसी अनेक वस्तुएं हैं, जिनको देखकर परमाणु शक्ति की विलक्षणता का बोध होता है। वस्तुत: परमाणु शक्ति भी विचित्र है। जिसे देख-सुनकर मनुष्य आश्चर्यान्वित हो उठता है। जैन दर्शन का कर्मवाद परमाणुवाद का ही रूपान्तर है। जब बिना चेतना के ही परमाणु अनेक आश्चर्यकारी दृश्य उपस्थित कर देते हैं, तब चेतना शक्ति का सान्निध्य पाकर ये कर्म विभिन्न दृश्य दिखला दें, तो इसमें आश्चर्य की क्या बात है?

इस तरह कर्म बंधते और फल देते हैं। जैन दर्शन की मान्यता है कि कर्मों में ही फल देने की शक्ति है। जैसे शराब आदि नशीले पदार्थों में उन्मत्त बनाने की शक्ति है अथवा जो व्यक्ति नशे का सेवन करता है, वह अवश्य उसकी लहरों में झूमता है, उसका नशा देने के लिए किसी ईश्वर को आने की जरूरत नहीं होती। उसी तरह कर्म में ही फल प्रदान करने की शक्ति है। प्रत्येक कर्म का जितना अबाधाकाल है, उसके बाद वह कर्म उदय में आता है और अपना फल देकर नष्ट हो जाता है। कर्म का मुख्य कार्य यह है कि जब तक उसका बंध होता रहता है, तब तक जीव को मोक्ष नहीं मिलता है। समस्त कर्मों की निर्जरा करने पर ही जीव मुक्त होता है।

कर्मों की विभिन्न अवस्थाएं

यह हम देख चुके हैं कि कर्म का बंध किस प्रकार का होता है और बंधे हुए कर्म अपना फल कैसे देते हैं। जैनों की यह सैद्धान्तिक मान्यता है कि किए हुए कर्मों का फल भोगे

बिना मुक्ति नहीं होती।[1] परन्तु ऐसा एकान्त नियम नहीं है कि कर्म जिस रूप में बंधा है, उसी रूप में फल देता है। उसमें परिवर्तन भी हो सकता है। जैनागमों में कर्म की बंधादि दस अवस्थाओं का वर्णन करके कर्म-फल में होने वाले परिवर्तन की प्रक्रिया को भी व्यवस्थित रूप दिया गया है। ये दस अवस्थाएं निम्न हैं 1. बंध, 2., सत्ता, 3. उद्वर्तन-उत्कर्षण, 4. अपवर्तन-अपकर्षण, 5. संक्रमण, 6. उदय, 7. उदीरणा, 8. उपशमन, 9. निधत्ति, और 10. निकाचित।

1. बंध

आत्मा के साथ कर्म-पुद्गलों का सम्बन्ध होना तथा उनका प्रकृतिबंध, प्रदेशबंध, स्थितिबंध और अनुभागबंध के रूप में बंधना बंध कहलाता है। बंध होने पर ही अन्य अवस्थाएं होती हैं, बंध के अभाव में और कोई अवस्था नहीं होती।

2. सत्ता

बंधे हुए कर्म समय पर उदय में आते हैं और फल देकर आत्म-प्रदेशों से अलग हो जाते हैं। प्रत्येक कर्म अपना अबाधाकाल पूरा होने पर ही उदय में आता है—फल देना प्रारम्भ करता है। अत: अबाधाकाल पर्यन्त सभी कर्मों का आत्मा के साथ सम्बन्ध बना रहता है, इसे सत्ता कहते हैं, अत: बंधे हुए कर्म तब तक सत्ता में रहते हैं, जब तक उनका अबाधाकाल पूरा नहीं हो जाता है।

3-4. उद्वर्तन और अपवर्तन

आत्मा के साथ कर्मों का बंध होते समय कषाय की परिणति के अनुसार अनुभाग और स्थिति का बंध होता है, परन्तु कर्म का अभिनव बंध होते समय कषाय की तीव्रता और मन्दता से उस अनुभाग और स्थिति को अधिक और कम बना लेना क्रमश: उद्वर्तन और अपवर्तन कहलाता है।

इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि कर्म की स्थिति और उसका रस नियत नहीं है। परिणामों की धारा को बदलकर हम बंधे हुए कर्मों की स्थिति और अनुभाग-रस को कम या ज्यादा भी बना सकते हैं। बुरे कर्म करने के बाद शुभ कार्य करके या शुभ कर्म के बाद दुष्कर्म करके अशुभ या शुभ कर्म की बद्ध स्थिति और अनुभाग को कम कर देते हैं और बुरा कर्म

---

1. कडाण कम्माण न मोक्ख अत्थि। —उत्तराध्ययन, 4, 3.

करने के बाद फिर दुष्कर्म करके या शुभ कर्म कर चुकने के पश्चात् फिर सत्कर्म करके अशुभ या शुभ कर्म की स्थिति और अनुभाग को बढ़ा भी लेते हैं।

5. संक्रमण

एक कर्म प्रकृति के पुद्गलों को दूसरी सजातीय कर्म प्रकृति के रूप में बदलने की प्रक्रिया को संक्रमण कहते हैं। यह परिवर्तन मूल कर्मों में नहीं होता, परन्तु मूल कर्मों की उत्तर प्रकृतियों में होता है। उसमें भी कुछ अपवाद है। जैसे आयु कर्म की चार प्रकृतियां–1. नरक आयु, 2. तिर्यञ्च आयु, 3. मनुष्य आयु और 4. देव आयु, तथा मोह कर्म की दर्शनमोह और चारित्रमोह दो प्रकृतियों में परस्पर संक्रमण नहीं होता है। शेष कर्मों की उत्तर प्रकृतियों में संक्रमण की भजना है अर्थात् संक्रमण होता भी है और नहीं भी होता। कारण यह है कि 5 ज्ञानावरण, 9 दर्शनावरण, 16 कषाय, मिथ्यात्व, भय, जुगुप्सा, तैजस, कार्मण, वर्ण, रस, गन्ध, स्पर्श, अगुरुलघु, उपघात, निर्माण और 5 अंतराय, ये 47 ध्रुव बंध की उत्तर प्रकृतियां हैं, इनमें अपने-अपने कर्म की उत्तर प्रकृतियों में सदा-सर्वदा परस्पर संक्रमण होता है। परन्तु शेष अध्रुव बन्ध की प्रकृतियों के लिए ऐसा नियम है कि वे अपनी-अपनी मूल प्रकृतियों से अभिन्न जो उत्तर प्रकृतियां हैं, उनमें जो अबध्यमान प्रकृतियां हैं, उनका बध्यमान प्रकृतियां में संक्रमण होता है, परन्तु बध्यमान प्रकृतियों का अबध्यमान प्रकृतियों में संक्रमण नहीं होता। इसलिए ऐसा कहा गया कि उत्तर प्रकृतियों में संक्रमण की भजना है।[1]

6 उदय

आत्मा के साथ आबद्ध कर्म जब फल प्रदान करता है, तब उसे कर्म का उदय कहते हैं। कुछ कर्म केवल प्रदेश उदय वाले होते हैं, वे उदय में आकर निर्जरा को प्राप्त हो जाते हैं, उनका कोई फल नहीं मिलता। परन्तु कुछ कर्मों का प्रदेशोदय के साथ विपाकोदय भी होता है, वे कर्म अपना फल प्रदान करके ही निर्जरा को प्राप्त होते हैं।

7 उदीरणा

आत्मा के साथ आबद्ध कर्मों को नियत काल से पहले उदय में ले आने की प्रक्रिया को उदीरणा कहते हैं। जैसे नियत समय पर पकने वाले फलों को पकने से पहले कच्चे ही तोड़कर विशेष प्रक्रिया से जल्दी पका लिया जाता है, उसी प्रकार बंधे हुए कर्मों को भी

1. विशेषावश्यकभाष्य, 1939.

नियतकाल से पहले भोगा जा सकता है। सामान्यत: नियम यह है कि जिस कर्म का उदय चल रहा है, उस कर्म के सजातीय कर्म की ही उदीरणा की जा सकती है।

8. उपशमन

बंधे हुए कर्म की ऐसी अवस्था बना देना जिसमें कर्म का उदय और उदीरणा न हो सके, परन्तु उद्वर्तन, अपवर्तन और संक्रमण हो सकता है तथा उपशमन काल के समाप्त होते ही वह कर्म उदय में आकर फल देना शुरू कर देता है।

9. निधत्ति

कर्म की ऐसी अवस्था जिसमें उदीरणा एवं संक्रमण नहीं होता, परन्तु उद्वर्तन और अपवर्तन तो उसमें भी हो सकता है।

10. निकाचित

कर्मबन्ध की वह स्थिति, जिसमें उद्वर्तना, अपवर्तना, उदीरणा और संक्रमण कुछ नहीं होता है। जिस कर्म को जिस रूप में बांधा है, उसी रूप में फल भोगना निकाचित कर्म कहलाता है।

कर्म की अवस्थाओं का इतना व्यवस्थित वर्णन अन्य किसी दर्शन में नहीं मिलता है। कुछ अवस्थाओं का वर्णन मिलता है। योग-दर्शन में नियतविपाकी कर्म की व्याख्या निकाचित के समान ही की गयी है।[1] और उसमें कही गयी आवापगमन प्रक्रिया की संक्रमण के साथ तुलना कर सकते हैं। योगदर्शन में कुछ अनियतविपाकी कर्मों का भी उल्लेख मिलता है, जो फल दिये बिना ही नष्ट हो जाते हैं, उनकी तुलना जैनों के प्रदेशोदय के साथ ही की जा सकती है।[2]

कर्म-फल का संविभाग

कुछ विचारकों की यह मान्यता है कि एक व्यक्ति द्वारा किये गये कर्म का फल दूसरे व्यक्ति को मिलता है। वैदिक परम्परा में यह मान्यता रही है कि मृत व्यक्ति के पीछे उसके नाम से दिये जाने वाले दान का फल उसे मिलता है। बौद्ध भी इस बात को मानते हैं। उन्होंने

1. पातञ्जल योग दर्शन, 2, 4.
2. विशेष जानकारी के लिए देखें–कर्मग्रन्थ (हिन्दी अनुवाद, पं. सुखलाल संघवी) भाग 1 से 6.

भी प्रेत योनि को माना है। अत: उसके नाम से किये गये दानादि का फल उसे मिलता है। परन्तु यह फल उसे प्रेत योनि में ही मिलता है, यदि वह देव योनि में हो तो वह फल कर्ता को ही मिलेगा। राजा मिलिन्द के एक प्रश्न का–'क्या प्रेत को अकुशल–पाप कर्म का भी फल मिलता है?' उत्तर देते हुए नागसेन ने कहा है कि 'नहीं, पाप कर्म करने की प्रेत की अनुमति नहीं होने से उसे पाप कर्म का फल नहीं मिलता है।' इससे भी उसे सन्तोष नहीं हुआ, तब नागसेन ने कहा 'पाप कर्म परिमित होता है, इसलिए उसका संविभाग नहीं हो सकता और कुशल–पुण्य कर्म अपरिमित होता है, इस कारण उसका संविभाग हो सकता है।'[1]

जैनागमों की यह मान्यता रही है कि कर्म का फल कर्ता को ही मिलता है। क्योंकि आत्मा ही दु:ख-सुख की कर्ता है और वही उस कृत कर्म के फल की भोक्ता है।[2] शुभ या अशुभ किसी भी कर्म-फल का संविभाग नहीं होता है। जैनागमों में यह स्पष्ट कहा गया है कि जो व्यक्ति कर्म करता है, उसके फल का किसी में विभाजन नहीं होता है, फल–भोग के समय कोई भी सम्बन्धी साथ नहीं देता है।[3] यह हम प्रत्यक्ष में देखते हैं कि प्राय: रोगी औषधि ग्रहण करने पर स्वस्थ हो जाता है और अपथ्य सेवन करने से और ज्यादा बीमार हो जाता है। इस तरह औषधि और अपथ्य का फल वही पाता है। परन्तु ऐसा कभी नहीं होता कि एक व्यक्ति के औषध-सेवन या अपथ्य-सेवन से दूसरे व्यक्ति का रोग नष्ट हो जाये या बढ़ जाये। इसी तरह स्वयं के किये हुए कर्म का फल स्वयं को ही भोगना होता है, उसका जरा भी विभाग नहीं होता। यदि दूसरे द्वारा किये गये शुभ कर्म का फल जन्मान्तर में मिलने लगे तो फिर किसी भी व्यक्ति को शुभ कर्म करने की आवश्यकता ही नहीं रहेगी। अपने कुटुम्बी जनों द्वारा कृत शुभ कर्म के फल से वह परलोक में दु:खों से मुक्त हो जायेगा। इस तरह व्यक्ति के द्वारा कृत अशुभ कर्म व्यर्थ हो जायेगा और फिर धर्म–कर्म करने की भी कोई आवश्यकता नहीं रहेगी। अत: यह मानना गलत है कि एक व्यक्ति द्वारा कृत कर्म का फल दूसरे व्यक्ति को मिलता है।

सिक्खों के गुरु सन्त नानक देव ने भी इस बात को उचित नहीं माना है। उनके जीवन का एक प्रसंग है कि एक बार वे नदी में स्नान कर रहे थे। स्नान कर चुकने के बाद उन्होंने

1. मिलिन्द प्रश्न, 4, 8, 30-35 पृष्ठ 288.
2. उत्तराध्ययन सूत्र, 20, 37.
3. संसारमावन्न परस्स अट्ठा, साहारणं जं च करेइ कम्मं।
कम्मस्स ते तस्स उ वेयकाले ण बंधवा बंधवयं उवेंति।। –उत्तराध्ययन सूत्र, 4, 4.

अपनी अंजली में नदी का पानी भरकर अपने खेतों की ओर फैंकना शुरू कर दिया। यह प्रक्रिया एकाध घण्टे तक चलती रही। लोग देखकर हैरान रह गये। वे सोचने लगे—आज गुरुजी को क्या हो गया है? उन्होंने इस तरह पानी फैंकने का कारण पूछा तो गुरुजी ने बताया कि मैं अपने खेतों को पानी दे रहा हूं। लोग कहने लगे कि गुरुजी! आज आपका स्वास्थ्य ठीक तो है न? जरा सोचिए तो क्या यहां से फैंका हुआ पानी खेतों में पहुंच सकेगा? गुरु जी ने जरा मुस्कराते हुए कहा—क्यों नहीं? जब तुम लोगों के द्वारा सूर्य को चढ़ाया हुआ जल सूर्यलोक में पहुंच जाता है, पितरों को चढ़ाया हुआ भोग पितृलोक में पहुंच जाता है, तो मेरा यह पानी खेतों तक क्यों नहीं पहुंचेगा? अवश्य पहुंचना चाहिए। यदि यह पानी खेतों तक नहीं पहुंचता है, तो फिर सूर्य एवं पितरों को चढ़ाया हुआ जल एवं भोजन भी सूर्यलोक एवं पितृलोक आदि स्थानों में पहुंच सकेगा, यह सोचना चन्द्र पकड़ने की बाल-क्रीड़ा से अधिक महत्त्व नहीं रखता है।

इस तरह यह स्पष्ट हो जाता है कि व्यक्ति शुभ या अशुभ जैसा भी कर्म करता है, उसका फल उसी को मिलता है। कर्म-फल में अन्य किसी का संविभाग नहीं होता।

निर्जरा तत्त्व

संसार में आत्मा और कर्म-पुद्गलों का सम्बन्ध अनादि काल से चला आ रहा है। प्रत्येक संसारी आत्मा प्रतिक्षण कर्म-पुद्गलों का संग्रह करता है। कोई समय ऐसा नहीं जाता जिसमें कि वह कर्मों का ग्रहण न करता हो। परन्तु ग्रहण करने की प्रक्रिया के साथ-साथ वह त्याग भी करता रहता है। वह जिन कर्मों का फल भोग चुका होता है, वे कर्म उसके आत्म-प्रदेशों से अलग हो जाते हैं। इस प्रक्रिया को आगमिक भाषा में निर्जरा कहते हैं। यों तो प्रत्येक आत्मा में प्रति समय कर्मों की निर्जरा होती रहती है और वह शुभ एवं अशुभ दोनों तरह के कर्मों की होती है। शुभ योगों के द्वारा आत्मा अशुभ कर्मों की निर्जरा करती है और अशुभ योगों के द्वारा शुभ कर्मों की निर्जरा करती है और उसके साथ क्रमश: शुभ और अशुभ कर्मों का बन्ध भी करती है।

यह हम पहले बता चुके हैं कि बंधे हुए कर्म अपना अबाधाकाल पूरा होने पर उदय में आते हैं और अपना फल देकर आत्म-प्रदेशों से अलग हो जाते हैं। जैसे फल पककर स्वत: ही वृक्ष से गिरकर अलग हो जाता है, उसी तरह आबद्ध कर्म भी अपना फल देकर आत्मा से अलग हो जाते हैं। इससे कर्मों के आवागमन की जो परम्परा है, वह बनी रहती है। पुरातन

भी प्रेत योनि को माना है। अत: उसके नाम से किये गये दानादि का फल उसे मिलता है। परन्तु यह फल उसे प्रेत योनि में ही मिलता है, यदि वह देव योनि में हो तो वह फल कर्ता को ही मिलेगा। राजा मिलिन्द के एक प्रश्न का--'क्या प्रेत को अकुशल–पाप कर्म का भी फल मिलता है?' उत्तर देते हुए नागसेन ने कहा है कि 'नहीं, पाप कर्म करने की प्रेत की अनुमति नहीं होने से उसे पाप कर्म का फल नहीं मिलता है।' इससे भी उसे सन्तोष नहीं हुआ, तब नागसेन ने कहा 'पाप कर्म परिमित होता है, इसलिए उसका संविभाग नहीं हो सकता और कुशल–पुण्य कर्म अपरिमित होता है, इस कारण उसका संविभाग हो सकता है।'[1]

जैनागमों की यह मान्यता रही है कि कर्म का फल कर्ता को ही मिलता है। क्योंकि आत्मा ही दु:ख-सुख की कर्ता है और वही उस कृत कर्म के फल की भोक्ता है।[2] शुभ या अशुभ किसी भी कर्म-फल का संविभाग नहीं होता है। जैनागमों में यह स्पष्ट कहा गया है कि जो व्यक्ति कर्म करता है, उसके फल का किसी में विभाजन नहीं होता है, फल-भोग के समय कोई भी सम्बन्धी साथ नहीं देता है।[3] यह हम प्रत्यक्ष में देखते हैं कि प्राय: रोगी औषधि ग्रहण करने पर स्वस्थ हो जाता है और अपथ्य सेवन करने से और ज्यादा बीमार हो जाता है। इस तरह औषधि और अपथ्य का फल वही पाता है। परन्तु ऐसा कभी नहीं होता कि एक व्यक्ति के औषध-सेवन या अपथ्य-सेवन से दूसरे व्यक्ति का रोग नष्ट हो जाये या बढ़ जाये। इसी तरह स्वयं के किये हुए कर्म का फल स्वयं को ही भोगना होता है, उसका जरा भी विभाग नहीं होता। यदि दूसरे द्वारा किये गये शुभ कर्म का फल जन्मान्तर में मिलने लगे तो फिर किसी भी व्यक्ति को शुभ कर्म करने की आवश्यकता ही नहीं रहेगी। अपने कुटुम्बी जनों द्वारा कृत शुभ कर्म के फल से वह परलोक में दु:खों से मुक्त हो जायेगा। इस तरह व्यक्ति के द्वारा कृत अशुभ कर्म व्यर्थ हो जायेगा और फिर धर्म-कर्म करने की भी कोई आवश्यकता नहीं रहेगी। अत: यह मानना गलत है कि एक व्यक्ति द्वारा कृत कर्म का फल दूसरे व्यक्ति को मिलता है।

सिक्खों के गुरु सन्त नानक देव ने भी इस बात को उचित नहीं माना है। उनके जीवन का एक प्रसंग है कि एक बार वे नदी में स्नान कर रहे थे। स्नान कर चुकने के बाद उन्होंने

---

1 मिलिन्द प्रश्न, 4, 8, 30-35 पृष्ठ 288.

2. उत्तराध्ययन सूत्र, 20, 37

3 संसारमावन्न परस्स अट्ठा, साहारणं जं च करेइ कम्मं।
कम्मस्स ते तस्स उ वेयकाले, ण बंधवा बंधवयं उवेंति।। - उत्तराध्ययन सूत्र, 4, 4.

अपनी अंजली में नदी का पानी भरकर अपने खेतों की ओर फैंकना शुरू कर दिया। यह प्रक्रिया एकाध घण्टे तक चलती रही। लोग देखकर हैरान रह गये। वे सोचने लगे—आज गुरुजी को क्या हो गया है? उन्होंने इस तरह पानी फैंकने का कारण पूछा तो गुरुजी ने बताया कि मैं अपने खेतों को पानी दे रहा हूं। लोग कहने लगे कि गुरुजी! आज आपका स्वास्थ्य ठीक तो है न? जरा सोचिए तो क्या यहां से फैंका हुआ पानी खेतों में पहुंच सकेगा? गुरु जी ने जरा मुस्कराते हुए कहा—क्यों नहीं? जब तुम लोगों के द्वारा सूर्य को चढ़ाया हुआ जल सूर्यलोक में पहुंच जाता है, पितरों को चढ़ाया हुआ भोग पितृलोक में पहुंच जाता है, तो मेरा यह पानी खेतों तक क्यों नहीं पहुंचेगा? अवश्य पहुंचना चाहिए। यदि यह पानी खेतों तक नहीं पहुंचता है, तो फिर सूर्य एवं पितरों को चढ़ाया हुआ जल एवं भोजन भी सूर्यलोक एवं पितृलोक आदि स्थानों में पहुंच सकेगा, यह सोचना चन्द्र पकड़ने की बाल-क्रीड़ा से अधिक महत्त्व नहीं रखता है।

इस तरह यह स्पष्ट हो जाता है कि व्यक्ति शुभ या अशुभ जैसा भी कर्म करता है, उसका फल उसी को मिलता है। कर्म-फल में अन्य किसी का संविभाग नहीं होता।

निर्जरा तत्त्व

संसार में आत्मा और कर्म-पुद्गलों का सम्बन्ध अनादि काल से चला आ रहा है। प्रत्येक संसारी आत्मा प्रतिक्षण कर्म-पुद्गलों का संग्रह करता है। कोई समय ऐसा नहीं जाता जिसमें कि वह कर्मों का ग्रहण न करता हो। परन्तु ग्रहण करने की प्रक्रिया के साथ-साथ वह त्याग भी करता रहता है। वह जिन कर्मों का फल भोग चुका होता है, वे कर्म उसके आत्म-प्रदेशों से अलग हो जाते हैं। इस प्रक्रिया को आगमिक भाषा में निर्जरा कहते हैं। यों तो प्रत्येक आत्मा में प्रति समय कर्मों की निर्जरा होती रहती है और वह शुभ एवं अशुभ दोनों तरह के कर्मों की होती है। शुभ योगों के द्वारा आत्मा अशुभ कर्मों की निर्जरा करती है और अशुभ योगों के द्वारा शुभ कर्मों की निर्जरा करती है और उसके साथ क्रमशः शुभ और अशुभ कर्मों का बन्ध भी करती है।

यह हम पहले बता चुके हैं कि बंधे हुए कर्म अपना अबाधाकाल पूरा होने पर उदय में आते हैं और अपना फल देकर आत्म-प्रदेशों से अलग हो जाते हैं। जैसे फल पककर स्वतः ही वृक्ष से गिरकर अलग हो जाता है, उसी तरह आबद्ध कर्म भी अपना फल देकर आत्मा से अलग हो जाते हैं। इससे कर्मों के आवागमन की जो परम्परा है, वह बनी रहती है। पुरातन

कर्म आत्मा से अलग होते हैं और अभिनव कर्म आ चिपटते हैं। यदि फल-भोग के समय राग-द्वेष या कषाय की तीव्रता हो तो नवीन कर्मों का प्रगाढ़ बन्ध हो जाता है। इस तरह इस निर्जरा से संसार-परिभ्रमण की परम्परा समाप्त नहीं होती है।

कर्मों को आत्मा से अलग करने का तप भी एक साधन है। तपश्चर्या से बंधे हुए कर्मों की समय से पूर्व भी निर्जरा की जा सकती है। इसके भी दो भेद माने गये हैं–1. अकाम और 2. सकाम। जो तप किसी कामना-आकांक्षा से किया जाता है या विवेक एवं ज्ञान से रहित किया जाता है, उससे भी अशुभ कर्मों की निर्जरा तो होती है, परन्तु उससे मुक्ति का मार्ग नहीं सधता है। निदानपूर्वक या अज्ञान से की जाने वाली तपश्चर्या भी संसार परिभ्रमण का ही कारण है, इसलिए उसको अकाम निर्जरा कहा है। बौद्ध एवं वैदिक ग्रन्थों में भी अज्ञानपूर्वक की जाने वाली क्रिया से परमपद या निर्वाण प्राप्ति का निषेध किया गया है। गीता में भी निष्काम कर्म करने का आदेश दिया गया है। अस्तु, ज्ञानशून्य एवं कामनायुक्त किया जाने वाला तप मुक्ति का साधन नहीं होने से अकाम निर्जरा की कोटि में गिना गया है।

सम्यक्ज्ञानपूर्वक बिना किसी तरह की चाह के किया जाने वाला तप मुक्ति का साधन है। इससे अशुभ कर्मों की निर्जरा होती है। इस तरह आत्मा संवर से नये कर्मों के आगमन को रोकती है और उक्त तप से पूर्वसंचित कर्मों की निर्जरा करती है, अत: फलस्वरूप एक दिन वह कर्म-बन्धनों से सर्वथा मुक्त हो जाती है। अत: उक्त प्रक्रिया को सकाम निर्जरा कहते हैं।

सम्यक्ज्ञानपूर्वक किया जाने वाला तप दो प्रकार का है–1. बाह्य और 2. आभ्यन्तर। बाह्य तप के 6 भेद हैं–1. अनशन, 2. अनौदर्य, 3. भिक्षाचरी, 4. रस-परित्याग, 5. कायक्लेश और 6. प्रतिसंलीनता तप।

1. अनशन–एक दिन, दो दिन या उससे अधिक दिन या जीवन पर्यन्त के लिए आहार-पानी का त्याग कर देना। इसके अतिरिक्त गर्म पानी पीकर भी अनशन किया जाता है, इस प्रकार के अनशन को तिविहार अनशन कहते हैं, इसमें अशन–रोटी, चावल, सब्जी आदि, खादिम–बादाम-पिस्ता आदि मेवा या फल, स्वादिम–इलायची, सुपारी, पान आदि पदार्थों का त्याग होता है। जिस अनशन में पानी का भी त्याग कर देते हैं, उसे चउविहार अनशन कहते हैं।

2. अनौदर्य–भूख से कम खाना। यदि 32 ग्रास की भूख है, फिर भी वह 8 ग्रास

खाकर सन्तोष करता है, तो वह 3/4 भाग अनौदर्य तप करता है, इसी तरह 16 ग्रास, 24 ग्रास खाता है, तो वह क्रमश: 1/2 और 1/4 भाग अनौदर्य तप करता है और यदि वह एक ग्रास भी कम खाता है, तब भी उसे अनौदर्य तप कहते हैं।

3. भिक्षाचरी—कई घरों में से निरवद्य और एषणिक भिक्षा लाकर उसमें सन्तोष करना भिक्षाचरी तप कहलाता है।

4. रस-परित्याग—दूध, दही, घी, मक्खन, मिष्ठान्न आदि रसों का त्याग करने का नाम रस-परित्याग तप है।

5. कायक्लेश—सर्दी में नग्न बदन होकर छाया में बैठना तथा गर्मी में खुले शरीर धूप में आतापना लेना कायक्लेश तप है।

6. प्रतिसंलीनता—मर्यादा से कम वस्त्र रखना प्रतिसंलीनता तप कहलाता है।

इसी तरह आभ्यन्तर तप के भी 6 भेद हैं—1. प्रायश्चित्त, 2. विनय, 3. वैयावृत्य, 4. ध्यान, 5. स्वाध्याय, और 6. कायोत्सर्ग।

1. प्रायश्चित्त—भूल से या जानकर हुए दोषों की नि:शल्य भाव से आलोचना करके प्रायश्चित्त स्वीकार करना और फिर से वह भूल न हो, इसके लिए सावधान रहना प्रायश्चित्त तप है।

साधु के लिए यह अनिवार्य है कि वह अपनी साधना में सदा सावधान होकर विवेकपूर्वक गति करे। फिर भी छद्मस्थ अवस्था के कारण कभी भूल एवं गलती हो जाना स्वाभाविक है। क्योंकि साधक भी आखिर इन्सान है, मनुष्य है। इसलिए वह प्रमादवश गलती कर बैठता है। उस समय उसके लिए बताया गया है कि वह उस भूल की शूल को छिपाए नहीं, बल्कि गुरु या दीक्षा में अपने से बड़े मुनि के पास आलोचना करके प्रायश्चित्त स्वीकार कर ले। चाहे कितनी भी बड़ी गलती क्यों न हो सच्चा साधक उसे छिपाता नहीं। छिपाना गलती करने की अपेक्षा अधिक भयंकर पाप है। उससे झूठ आदि दोषों को पनपने का प्रश्रय मिलता है, इसलिए छुपाना महापाप माना गया है और पता लगने पर भूल की अपेक्षा भी उस छुपाने की भावना का अधिक प्रायश्चित्त बताया गया है।

कहने का तात्पर्य यह है कि आलोचना-प्रायश्चित्त को तप कहा गया है। इसका कारण यह है कि इससे हृदय में निष्कपटता की भावना उद्बुद्ध होती है, सत्य का प्रकाश फैलता है और आत्मा में निर्भयता की उज्ज्वल एवं निर्मल धारा प्रवहमान होती है, जिसके प्रवाह में पाप

कर्म की कालिमा बह जाती है। ऊपर से यह तप मालूम नहीं होता है, क्योंकि इसमें शरीर का जोर नहीं लगता। परन्तु अपनी भूल को स्वीकार करने में आत्मा को मजबूत एवं पवित्र बनाना होता है और मन एवं बुद्धि पर जबरदस्त नियंत्रण करना पड़ता है। इसलिए इसे आभ्यन्तर तप कहा है।

2. विनय–वय में, गुणों में, दीक्षा में, वृद्ध या बड़े मुनियों का आदर-सम्मान करना तथा अपने से छोटे साधुओं के साथ प्रेम-स्नेह का व्यवहार रखना विनय तप कहलाता है।

3. वैयावृत्य–अपने से बड़े व्यक्तियों की, गुरु की, वृद्ध की, बीमार की एवं नवदीक्षित साधु की सेवा-शुश्रूषा करना वैयावृत्य तप कहलाता है। सेवा-शुश्रूषा में भी मन पर नियंत्रण करना पड़ता है, सहिष्णुता रखनी पड़ती है। इसलिए इसे भी आभ्यन्तर तप कहा है।

4. ध्यान–सीखे हुए तत्त्वों का एकाग्र मन से चिन्तन-मनन करना। इनमें शरीर की अपेक्षा मन एवं वचन योग की वृत्ति पर अधिक नियंत्रण करना पड़ता है। शरीर एवं वचन को स्थिर करना फिर भी सहज है, परन्तु मन को एकाग्र करना, चिन्तन में लगाना सबसे अधिक कठिन है और उसके एकाग्र बने बिना ध्यान एवं चिन्तन हो नहीं सकता। इसलिए इसे भी आभ्यन्तर तप कहा है।

5. स्वाध्याय–पढ़े हुए ज्ञान का, शास्त्रों का तथा साहित्य का अध्ययन करना। स्वाध्याय शब्द का वास्तविक अर्थ है–स्व+अध्याय अर्थात् अपना–आत्म-स्वरूप का अध्ययन-चिन्तन करना। आत्मस्वरूप को जानने का नाम स्वाध्याय है अर्थात् जिस साहित्य से आत्म-स्वरूप का बोध होता हो उस ओर आत्मा की प्रगति होती हो, उसका वाचन करना भी स्वाध्याय कहलाता है। इसमें भी चित्त वृत्ति को एकाग्र करना होता है।

6. कायोत्सर्ग–इस शब्द का शाब्दिक अर्थ है–शरीर का त्याग कर देना। इसका तात्पर्य मर जाना नहीं है। शरीर-त्याग का मतलब है उस पर से ममत्व-आसक्ति हटा लेना।

इस तरह बाह्य और आभ्यन्तर तप के 12 भेद होते हैं। तप निर्जरा का कारण है, अत: निर्जरा के भी उक्त 12 भेद माने गये हैं।

मोक्ष तत्त्व

बन्ध एवं बन्ध के कारणों का सर्वथा अभाव एवं बंधे हुए कर्मों का आत्यन्तिक क्षय होने का नाम मोक्ष है। जब आत्मा संवर के द्वारा कर्मों का आगमन रोक देती है और निर्जरा

के द्वारा पूर्व संचित कर्मों का सर्वथा क्षय कर देती है, तब वह कर्मजन्य सूक्ष्म एवं स्थूल दोनों तरह के शरीरों से रहित होकर ऊर्ध्वगमन करती है और लोक के अन्त भाग में जाकर सदा के लिए स्थित हो जाती है। यह हम पहले अजीव तत्त्व के विवेचन में बता चुके हैं कि अलोक में जीव या पुद्गल कोई पदार्थ गति नहीं कर सकता है। क्योंकि वहां धर्मास्तिकाय का अभाव है और उसके अभाव में जीव या पुद्गल गति नहीं कर सकता है। इसलिए सिद्ध लोक के अन्त में स्थित रहते हैं, अलोक में नहीं जा सकते हैं।

मोक्ष शाश्वत है

कुछ विचारक यह तर्क देते हैं कि मोक्ष शाश्वत नहीं है। क्योंकि कर्मों के सर्वथा नष्ट होने पर उसका निर्माण होता है और जिस वस्तु का निर्माण होता है, उसका एक दिन विनाश भी अवश्य होता है। अत: मुक्त अवस्था भी सदा नहीं रह सकती।

यह सत्य है कि जिस वस्तु का निर्माण होता है, उसका नाश भी होता है। परन्तु मोक्ष के लिए ऐसा कहना गलत है। क्योंकि मोक्ष का कभी निर्माण नहीं हुआ, न कभी होता है और न कभी होगा। मोक्ष कोई आत्मा की नई अवस्था नहीं है, जिसका अभिनव निर्माण हो। आत्मा अनादि काल से कर्मों से आवृत होने के कारण संसार में परिभ्रमण करती है, अनेक अनुकूल एवं प्रतिकूल वेदनाओं का संवेदन करती है। उस कर्म आवरण को हटा देने का नाम मुक्ति या मोक्ष है। अपने शुद्ध स्वरूप को प्राप्त करने का नाम ही मोक्ष है और वह स्वरूप अनादि काल से चला आ रहा है। संसार अवस्था में आत्मा का जो शुद्ध स्वरूप था, उसमें और मोक्ष अवस्था के स्वरूप में कोई अन्तर नहीं रहता है। संसार अवस्था में वह कर्मों से आवृत्त थी और मुक्त अवस्था में आवरण रहित हो जाती है। मुक्ति में वही आत्मस्वरूप रहता है, उसका अभिनव निर्माण नहीं होता है। अत: उसकी शाश्वतता में कोई दोष आने का प्रश्न ही नहीं उठता।

वस्तुत: संसार परिभ्रमण का मूल कारण है–राग-द्वेष या कषाय। मुक्त अवस्था में राग-द्वेष या कषाय का अभाव है, अत: मोक्ष में स्थित आत्मा संसार में फिर से जन्म नहीं लेती। वृक्ष तभी तक अंकुरित, पुष्पित एवं फलित होता है जब तक उसका बीज सुरक्षित रहता है। बीज के जल जाने पर उस दग्ध बीज से अंकुर पैदा नहीं हो सकता। इसी तरह जिस आत्मा ने राग-द्वेष रूप संसार में परिभ्रमण कराने वाले बीजों का नाश कर दिया है, वे आत्माएं कभी भी जन्म ग्रहण नहीं करती हैं।

जैनों की यह मान्यता है कि कर्म और आत्मा का सम्बन्ध अनादि काल से है। और अनादि सम्बन्ध सदा स्थायी होता है। फिर यह कैसे माना जा सकता है कि आत्मा बन्धनों को तोड़कर सिद्ध-बुद्ध-मुक्त बन जाती है?

इसका उत्तर यह है कि जैनों ने कर्म और आत्मा का अनादि काल से जो सम्बन्ध माना है, वह प्रवाह की दृष्टि से माना है, न कि व्यक्ति की दृष्टि से। यह हम ऊपर बता चुके हैं कि आबद्ध कर्म अपने समय पर उदय में आते हैं और फल देकर आत्म-प्रदेशों से अलग हो जाते हैं, परन्तु कर्म-बन्ध का प्रवाह चालू होने से उसके स्थान में दूसरे कर्मों का बन्ध हो जाता है। इस तरह जब तक संवर के द्वारा आत्मा कर्मों के आगमन को रोक नहीं देता है, तब तक प्रतिसमय पुराने कर्मों की निर्जरा होती रहती है और नये कर्म आते रहते हैं। इस प्रकार आत्मा सदा कर्मों से आवृत ही रहता है, एक समय भी ऐसा नहीं जाता है कि जिसमें कर्मों का आवागमन नहीं होता हो। अत: प्रवाह की दृष्टि से कर्म आत्मा के साथ अनादि काल से लगे हुए हैं। परन्तु व्यक्ति की दृष्टि से प्रत्येक कर्मबंध का समय निश्चित है, अत: वह सादि है और सादि होने के कारण उसका नाश भी हाता है या किया जा सकता है। आत्मा पहले संवर के द्वारा नये कर्मों का आगमन रोकती है और फिर निर्जरा के द्वारा पहले बांधे हुए कर्मों का सर्वथा क्षय करके मोक्ष को प्राप्त करती है। इस तरह कर्मों का आत्यन्तिक क्षय करके आत्मा सदा-सर्वदा के लिए कर्मबन्ध एवं तज्जन्य साधनों एवं फल-भोग से सर्वथा मुक्त होकर निर्वाण पद को प्राप्त कर लेती है और वहां सदा काल शुद्ध आत्म-स्वरूप में स्थित रहती है।

❑ ❑ ❑

चतुर्थ अध्याय

जैनधर्म की शाश्वतता

प्रश्न–जैनधर्म का उद्भव कब हुआ? इसके संस्थापक कौन थे? यह प्राचीन है या अर्वाचीन है? यदि प्राचीन है, तो उसका क्या प्रमाण है?

उत्तर–आगमों में बताया गया है कि जैनधर्म अनादि काल से चला आ रहा है। बीते हुए अनन्त-अनन्त काल में अनन्त तीर्थंकर हो चुके हैं, जिन्होंने साधना के द्वारा स्वयं मुक्ति को प्राप्त किया और भव्य प्राणियों को भी निर्वाण का मार्ग बताया। श्री नन्दीसूत्र में कहा गया है कि तीर्थंकरों द्वारा प्ररूपित द्वादशांगी गणिपिटक अनादि-अनन्त है।[1] क्योंकि इतने लम्बे काल में एक भी समय ऐसा नहीं आया, जबकि द्वादशांगी गणिपिटक का अस्तित्व न रहा हो। वह सदा काल विद्यमान रहा है। उपदेश की दृष्टि से भले ही हम यह कह सकते हैं कि जिस

---

1. द्वादशांगी गणिपिटक की अनादि-अनन्तता सापेक्ष दृष्टि से है। सादि-सान्तता और अनादि-अनन्तता के चार भेद किए गए हैं- 1. द्रव्य, 2. क्षेत्र, 3. काल, और 4. भाव।

द्रव्य से; एक पुरुष--अमुक तीर्थंकर के शासन में उक्त तीर्थंकर द्वारा प्ररूपित होने से गणिपिटक सादि-सान्त है और अनेक पुरुषों–तीर्थंकरों द्वारा प्ररूपित होने के कारण वह अनादि-अनन्त है।

क्षेत्र से; 5 भरत, 5 ऐरावत की अपेक्षा से गणिपिटक सादि-सान्त है। क्योंकि उक्त क्षेत्रों में सदा काल तीर्थंकर नहीं होते और 5 महाविदेह क्षेत्र की अपेक्षा से वह अनादि-अनन्त है। वहां सदाकाल तीर्थंकर होते हैं, वहां कभी भी तीर्थंकरों का अन्तर नहीं पड़ता है।

काल से; अवसर्पिणी-उत्सर्पिणी की अपेक्षा से गणिपिटक सादि-सान्त है। क्योंकि उक्त कालचक्र में कुछ समय ऐसा होता है, जिसमें तीर्थंकर नहीं होते, परन्तु जहां उक्त कालचक्र नहीं है, वहां की अपेक्षा से वह अनादि-अनन्त है।

भाव की अपेक्षा से; तीर्थंकर भगवान् ने द्वादशांगी गणिपिटक की प्ररूपणा की, गणधरों ने उसे धारण किया, अपने शिष्य-प्रशिष्यों को उसका उपदेश दिया, हेतु, दृष्टान्त, नय एवं उपमा आदि के द्वारा समझाया, इस अपेक्षा से वह सादि-सान्त है और क्षयोपशम भाव की अपेक्षा से वह सदा स्थित रहता है, अत: अनादि-अनन्त है। –नन्दीसूत्र, 42 (मूल सुत्ताणि), पृष्ठ 309.

समय जो तीर्थंकर होते हैं, वे द्वादशांगी का उपदेश देते हैं, इससे सभी तीर्थंकर उसके उपदेष्टा हैं, परन्तु निर्माता नहीं हैं। क्योंकि अनादि काल से वह निर्बाध गति से प्रवहमान है। और सभी उपदेष्टाओं के चिन्तन में एकरूपता होने के कारण उसमें बताया गया आचार और विचार रूप त्रैकालिक सत्य भी एक ही होता है। जैसे—आचार में सामायिक-समभाव की साधना प्रमुख है और विचार में अनेकान्त-स्याद्वाद या विभज्यवाद प्रमुख है। और आज तक हुए अनन्त-अनन्त तीर्थकरों ने इसी त्रैकालिक सत्य का उपदेश दिया है, द्वादशांगी गणिपिटक का मूलाधार सामायिक और अनेकान्त-स्याद्वाद ही है। इस त्रैकालिक सत्य के उपदेश की अपेक्षा से द्वादशांगी गणिपिटक को अनादि-अनन्त कहा है। और जब उपदेश अनादि-अनन्त है, तो उसके उपदेष्टा तो स्वत: ही अनादि-अनन्त सिद्ध हो जाते हैं। और जब जैनधर्म के आगम एवं आगमों के उपदेष्टा अनादि काल से विद्यमान हैं, तब फिर धर्म को अनादि काल से मानने में शंका-संशय को जरा भी अवकाश नहीं रह जाता है।

त्रैकालिक सत्य के उपदेश एवं उपदेष्टा की अपेक्षा से जैनधर्म अनादि काल से चला आ रहा है। इसलिए इसके उद्‌भव काल एवं संस्थापक का पता लगाना असम्भव है। उसी वस्तु का उद्‌भव स्रोत ढूंढ़ा जा सकता है, जिसका निर्माण किसी काल विशेष में हुआ हो। परन्तु, जो अनादि काल से प्रवहमान है, उसका समय खोज निकालना इन्सान की शक्ति से बाहर है। फिर भी क्षेत्र एवं काल की अपेक्षा से हम धर्मोपदेशक का समय निकाल सकते हैं। जैनधर्म मं काल की गणना उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी की अपेक्षा से की जाती है। उत्सर्पिणी में मनुष्य आदि का शरीर, आयु, शक्ति आदि बढ़ती है और अवसर्पिणी में इन सबका ह्रास होता है। प्रत्येक उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी दस कोटा-कोटि सागरोपम की होती है। उत्सर्पिणी एवं अवसर्पिणी के मिले हुए 20 कोटा-कोटि सागरोपम के काल को एक कालचक्र कहते हैं। संसार में ऐसे अनन्त-अनन्त कालचक्र बीत चुके हैं और बीतते जा रहे हैं। वर्तमान कालचक्र में अभी अवसर्पिणी काल का पञ्चम आरा चल रहा है। इस काल के तीसरे आरे के अन्तिम भाग में अर्थात् करीब एक कोटा-कोटि सागरोपम पूर्व इसी भरतक्षेत्र में भगवान् ऋषभदेव का जन्म हुआ था। ये इस काल और इस क्षेत्र की अपेक्षा से पहले तीर्थंकर या धर्मोपदेष्टा थे। उन्होंने यहां सबसे पहले चार तीर्थ की स्थापना की, धर्म का मार्ग बताया। उनके बाद 23 तीर्थंकर और हुए, जिन्होंने उसी त्रैकालिक सत्य आचार और विचार रूप सामायिक धर्म एवं अनेकान्त दृष्टि का उपदेश दिया। भगवान् महावीर अन्तिम अर्थात् 24 वें तीर्थंकर थे। इसलिए वर्तमान में उपलब्ध आगम भगवान् महावीर द्वारा प्ररूपित माने

जाते हैं। क्योंकि वे ही हमारे निकट काल में हुए हैं।

इस तरह हम जैनागमों एवं जैन इतिहास की दृष्टि से देख चुके हैं कि जैनधर्म कोई अभिनव धर्म नहीं, अपितु प्राचीन धर्म है, और वह भी इतना प्राचीन कि उसके मूल स्रोत तक पहुंचने की शक्ति किसी भी तथ्य में नहीं है। अब हम जैनेतर ग्रन्थ एवं विचारकों के आधार पर विचार करेंगे कि उनकी दृष्टि में भी जैनधर्म अर्वाचीन नहीं, प्राचीन ही है।

वैदिक परम्परा का विश्वास है कि वर्तमान में उपलब्ध साहित्य में वेद सबसे प्राचीन हैं। हम यहां इस बात की सत्यता एवं असत्यता को जांचने में समय न लगाकर, इस बात पर विचार करेंगे कि उसमें भी अपने युग के पूर्व से चले आ रहे जैनधर्म के सम्बन्ध में उल्लेख मिलता है या नहीं? क्योंकि यदि वेद प्राचीनतम साहित्य है, तो उसमें उल्लिखित धर्म एवं धार्मिक व्यक्ति उससे भी प्राचीन स्वत: सिद्ध हो जाते हैं। क्योंकि प्रत्येक लेखक अपने ग्रन्थ में उन्हीं व्यक्तियों, धर्मों एवं रीति-रिवाजों के सम्बन्ध में लिखता है, जो उसके समय से पहले हुए हों या उसके काल में विद्यमान हों। इसी अपेक्षा से हम यह निस्सन्देह कह सकते हैं कि जैनधर्म वेदों से भी प्राचीन है। क्योंकि वेदों में भी जैनधर्म एवं उसके उपदेष्टा तीर्थंकरों का उल्लेख मिलता है। और यह बात प्राय: पूर्वीय एवं पाश्चात्य सभी निष्पक्ष विद्वानों एवं ऐतिहासिकों को मान्य है कि जैनधर्म वैदिक धर्म की शाखा नहीं, बल्कि एक स्वतन्त्र एवं मौलिक धर्म है और वह वेद युग से भी पहले भारत में विद्यमान रहा है।[1]

भगवान् ऋषभदेव वर्तमान काल के प्रथम तीर्थंकर हैं। विष्णुपुराण में भी ऋषभदेव के जीवन का उल्लेख किया गया है। उसमें लिखा है कि "नाभिराज की महारानी मरुदेवी की कुक्षि से महामना ऋषभदेव पुत्र रूप में जन्मे। उनके सौ पुत्र थे, जिनमें भरत सबसे ज्येष्ठ पुत्र था। न्याय और बुद्धिपूर्वक राज्य करने के पश्चात् ऋषभदेव ने पृथ्वी का राज्य भरत को दे दिया था, आदि।[2]

वैदिक परम्परा द्वारा मान्य प्राचीन ग्रन्थ श्री भागवतपुराण में भगवान् ऋषभदेव के जीवन का विस्तार से वर्णन मिलता है। उसमें लिखा है कि ऋषभदेव अर्हन् का अवतार

---

1. विष्णुपुराण और भागवतपुराण आदि वैदिक साहित्य के इन सब उल्लेखों से हम (डॉ. याकोबी) इस निर्णय पर पहुंचते हैं कि जैनों की कथा में कुछ ऐतिहासिकता है, जो ऋषभदेव को जैनों का पहला तीर्थंकर मानती है। —इण्डि. एण्टी. (डॉ. याकोबी) पृष्ठ 163.
2. विष्णुपुराण (विल्सन) पृष्ठ 163.

रजोगुण युक्त मनुष्यों को मोक्ष मार्ग दिखाने के लिए हुआ है।[1]

भागवतपुराण में जिस ऋषभदेव का वर्णन मिलता है, वह जैनों के ऋषभदेव के अतिरिक्त और कोई नहीं हैं। विल्सन ने विष्णुपुराण में भागवत पुराण की टिप्पण देते हुए लिखा है–"उसमें ऋषभदेव की तपस्या का विस्तार से वर्णन दिया गया है। इतना ही नहीं, बल्कि अन्य किसी पुराण में उपलब्ध नहीं होने वाली बातें भी उसमें विशिष्ट रूप से वर्णित हैं। इसमें ऋषभदेव के विहार–भ्रमण के दृश्यों का वर्णन सबसे रोचक है। जैसे–कोंक, बंकाट, कटुक और दक्षिण कर्नाटक तथा द्वीप कल्प के पश्चिमी भाग का रोचक वर्णन है और यह भी संकेत कर दिया गया है कि उक्त देशों के लोगों द्वारा जैनधर्म स्वीकार कर लिया गया था।[2]

ऋषभदेव के अतिरिक्त पांचवें तीर्थंकर सुमतिनाथ के सम्बन्ध में भी भागवत में उल्लेख मिलता है कि "वह कितने ही नास्तिकों द्वारा देव रूप में पूजित होगा।" इसके सिवाय भगवान् नेमिनाथ (कृष्ण के भाई और जैनों के बाईसवें तीर्थंकर हैं और उग्रसेन की पुत्री राजीमती के कारण कृष्ण की कथा से सम्बद्ध हैं) का भी उल्लेख मिलता है।[3]

वैदिक परम्परा के प्राचीन ग्रन्थों में ऋग्वेद का महत्त्वपूर्ण स्थान है। भगवान् ऋषभदेव के सम्बन्ध में उसमें उल्लेख मिलता है। एक जगह लिखा है –

"तू अखण्ड पृथ्वीमण्डल का सार त्वचा रूप है, पृथ्वीतल का भूषण है और दिव्य ज्ञान द्वारा आकाश को नापता है। हे ऋषभनाथ सम्राट् ! इस संसार में जगरक्षक व्रतों का प्रचार करो।"[4]

भगवान् ऋषभदेव के निर्वाण स्थान के सम्बन्ध में उल्लेख करते हुए शिव पुराण में लिखा है–"विश्व का कल्याण करने वाले सर्वज्ञ जिनेश्वर भगवान् ऋषभदेव कैलाश पर्वत पर मुक्ति को प्राप्त हुए।"[5]

---

1. अयमवतारो रजसोपप्लुतकैवल्योपशिक्षणार्थः। –भाग. स्कंध 5, अध्याय 6.
2. विष्णुपुराण (विल्सन) पृष्ठ 164, टिप्पण।
3. इण्डि. एण्टी, (डॉ. याकोबी) पृष्ठ 163.
4. आदित्या त्वगसि आदित्य सदासीद् अस्तभ्नादद्यां वृषभो तरिक्षं जमिमीते वरिमाणम्। पृथिव्या आसीत् विश्वा भुवनानि, सम्राट् विश्वे तानि वरुणस्य व्रतानि। --ऋग्वेद 30 अ. 3.
5. कैलाशे पर्वते रम्ये, वृषभोऽयं जिनेश्वरः।
   चकार स्वावतारं च, सर्वज्ञः सर्वगः शिवः।। –शिवपुराण, 59.

शिव पुराण के प्रस्तुत श्लोक में ऋषभदेव के लिए जिनेश्वर विशेषण का प्रयोग किया गया है और जिनेश्वर शब्द जैन तीर्थंकर या अर्हन्त के लिए प्रयुक्त होता है। जैनों की मान्यता के अनुरूप ही शिवपुराण में भगवान् ऋषभदेव का निर्वाण कैलाश पर्वत पर माना गया है। इस सम्बन्ध में जैन साहित्य एवं शिवपुराण दोनों में एक समान उल्लेख मिलता है।

भारतीय साहित्य में 'योगवशिष्ठ' ग्रन्थ का महत्त्वपूर्ण स्थान है। इस ग्रन्थ में वशिष्ठ जी ने भगवान् राम को धर्मोपदेश दिया है। उक्त ग्रन्थ में एक स्थान पर भगवान् राम की आन्तरिक कामना का चित्रण करते हुए भगवान् राम के मुख से कहलाया है कि "मैं राम नहीं हूं। मुझे किसी वस्तु की चाह नहीं है। मेरी अभिलाषा तो यही है कि जिनेश्वर देव की तरह अपनी आत्मा में शान्ति लाभ प्राप्त करूं।"[1]

इससे स्पष्ट हो जाता है कि जैनधर्म भगवान् राम से भी पूर्व में विद्यमान था। यदि भगवान् राम के समय में या उसके पहले जिनेश्वर भगवान् का अस्तित्व नहीं होता, तो राम के मन में उनका स्मरण करने की भावना ही कैसे जगती? परन्तु राम के मन में जिनेश्वर भगवान् की तरह शान्ति प्राप्त करने की जो भावना उद्बुद्ध हुई, उससे उस समय भी जैनधर्म के होने का स्पष्ट प्रमाण मिलता है। इतिहासकार राम के युग को 11 लाख वर्ष पूर्व मानते हैं। इससे जैनधर्म 11 लाख वर्ष से भी पूर्व था, यह स्वत: सिद्ध हो जाता है।

यजुर्वेद में भगवान् नेमिनाथ का वर्णन मिलता है। एक मन्त्र में लिखा है कि "भाव यज्ञ को प्रकट करने वाले, संसार के सब जीवों को सब प्रकार से यथार्थ उपदेश देने वाले और जिनके उपदेश से सब जीवों की आत्मा बलवान होती है, उन सर्वज्ञ नेमिनाथ के लिए आहुति समर्पित है।"[2]

प्रभासपुराण में भी लिखा है, "पवित्र रैवताचल (गिरनार) पर्वत पर नेमिनाथ जिनेश्वर हुए, जो कि ऋषियों के आश्रयभूत और मोक्ष के कारण थे।"[3]

---

1. नाहं रामो न मे वाञ्छा, भावेषु न मे मन:।
   शान्तिमास्थातुमिच्छामि, स्वात्मन्येव जिनो यथा।। –योगवशिष्ठ
2. वाजस्यनु प्रसव आवभूवेमा च विश्व भुवनानि सर्वत:। स नेमिराजा परियाति
   विद्वान् प्रजां पुष्टिं वर्द्धयमानो अस्मै स्वाहा। –यजुर्वेद 9, 25.
3. रेवताद्रौ जिनो नेमिर्युगादिर्विमलाचले।
   ऋषीणामाश्रयादेव, मुक्ति मार्गस्य कारणम्।। –प्रभासपुराण

जैन भी यही मानते हैं कि भगवान् नेमिनाथ का निर्वाण गिरनार (रैवताचल) पर्वत पर हुआ था।

नागपुराण में भगवान् ऋषभदेव का जैनागमों में प्रयुक्त आदिनाथ नाम भी मिलता है और उनके नाम-स्मरण की महिमा का भी उल्लेख किया गया है। उक्त प्रसंग में लिखा है कि "जो फल 68 तीर्थों की यात्रा करने से होता है, वह फल आदिनाथ भगवान् का नाम-स्मरण करने से होता है।"[1]

वेदों एवं पुराणों में यत्र-तत्र जैनधर्म की प्राचीनता के सम्बन्ध में अनेकों उदाहरण मिलते हैं। और भी प्रमाण दिए जा सकते हैं, परन्तु विस्तारभय से अधिक उदाहरण न देकर, अब हम कुछ आधुनिक विद्वानों के विचारों का अवलोकन करेंगे कि उन्होंने जैनधर्म के सम्बन्ध में क्या कहा है।

डॉ. शार्पेन्टियर ने लिखा है कि "मथुरा के जैन शिलालेखों की परीक्षा करने पर हम देखते हैं कि इनमें गृहस्थ भक्तों द्वारा ऋषभदेव को अर्घ्य अर्पित किए जाने का उल्लेख है।[2] इसके अतिरिक्त बहुत से शिलालेखों में केवल एक अर्हन्त का ही नहीं, अपितु अर्हन्तों का उल्लेख है।[3] भले ही उन शिलालेखों में राजाओं के नाम न खुदे हों, फिर भी सब इण्डो-सिदियन काल के हैं ऐसा स्पष्ट प्रकट होता है। और यदि कनिष्क एवं उनके वंशजों का काल शक युग ही माना जाता हो, तो ये लेख पहली और दूसरी सदी के मालूम होते हैं। इससे स्पष्ट होता है कि जैनधर्म के संस्थापक महावीर नहीं थे। यह उनसे भी पहले था, इसमें अनेक तीर्थंकर हो चुके हैं।[4]

डॉ. याकोबी लिखता है कि यदि हम तीर्थंकरों की बात को छोड़ भी दें, तब भी हिन्दूधर्म के प्राचीनतम ग्रन्थों में हमें जैन तत्त्व-ज्ञान के सम्बन्ध में उल्लेख मिलता है। ब्रह्मसूत्र जिसे तेलांग और अन्य विद्वानों ने ईसा पूर्व चौथी सदी की प्राचीन रचना माना है, में स्याद्वाद और आत्मा सम्बन्धी जैनधर्म की मान्यता का खण्डन किया गया है। इसके अतिरिक्त

---

1. अष्ट षष्टिषु तीर्थेषु, यात्रायां यत्फलं भवेत्।
आदिनाथस्य देवस्य, स्मरणेनापि तद् भवेत्।। —नागपुराण
2. प्रीयताम्भगवानृषभश्रीः, अर्थात–भगवान् ऋषभदेव प्रसन्न हों। —एपी., इण्डि., पुस्तक 1, पृ. 386.
3. नमो अरहतानं, अर्थात् अर्हन्तों को नमस्कार हो। —वही पृ. 383.
4. एपी. इण्ड., पुस्तक 1, पृ. 371.

महाभारत, मनुस्मृति, शिवसहस्त्र नाम, तैत्तिरीय आरण्यक, यजुर्वेद संहिता और अन्य हिंदू शास्त्रों में जैनधर्म सम्बन्धी हमें अनेक उल्लेख प्राप्त होते हैं।[1]

डॉ. शार्पेन्टियर कहता है कि तथ्यों के सामान्य विचार की दृष्टि से यह वक्तव्य विश्वस्त माना जा सकता है कि शास्त्र का प्रमुख भाग महावीर और उनके निकटस्थ अनुयायिओं ने तैयार किया था, अत: इसके अतिरिक्त एक दूसरी परम्परा भी है, वह यह है कि पूर्वों की रचना स्वयं महावीर ने की थी और अंगों की रचना उनके गणधरों ने की थी।[2]

इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि महावीर और उनके उत्तराधिकारी गणधर आगम साहित्य के कर्ता हैं। जब यह कहा जाता है कि महावीर आगम के कर्ता थे, तो उसका यह अर्थ नहीं है कि ये शास्त्र उनके ही लिखे हुए हैं। किन्तु, उसका तात्पर्य यह है कि जो कुछ लिखा गया है, उसका उपदेश उन्होंने दिया था। क्योंकि भारतवर्ष में कर्तृत्व मुख्य रूप से वस्तु पर से ही माना जाता है। जब तक कि भाव वही हो तो शब्द किसके हैं, यह बात अप्रासंगिक मानी जाती है। फिर जैन-साहित्य की कुछ विशिष्टताओं के कारण हम देख सकते हैं कि धर्म की भांति आगम साहित्य में वर्धमान और उनके समय के पहले तक का भी अनुसंधान मिलता है। इससे हम कह सकते हैं कि जैनधर्म महावीर से भी बहुत पहले का है।[3]

प्राचीन इतिहास के सुप्रसिद्ध आचार्य प्रो. नागेन्द्रनाथ वसु अपने हिन्दी विश्वकोष के प्रथम भाग के 64वें पृष्ठ पर लिखते हैं –

''ऋषभदेव ने ही संभवत: लिपि विद्या के लिए लिपि-कौशल का उद्‌भावन किया था। ऋषभदेव ने ही संभवत: ब्रह्मविद्या की शिक्षा के लिए उपयोगी ब्राह्मी लिपि का प्रचार किया था।''

महामहोपाध्याय डॉ. श्री सतीशचन्द्र विद्याभूषण, प्रिन्सिपल संस्कृत कालेज कलकत्ता, ने कहा है, ''जैनधर्म तब से संसार में प्रचलित है, जब से संसार में सृष्टि का आरम्भ हुआ है। मुझे इसमें किसी बात का उज्र नहीं कि यह वेदान्त आदि दर्शनों से पूर्व का है।''

इतिहास शास्त्र के सुप्रसिद्ध अन्तर्राष्ट्रीय जर्मन विद्वान् डॉक्टर जेकोबी ने लिखा है,

1. Sacred Books of the East, Vol. 8, p. 32, और अमेरिकन ओरियंटल सोसायटी पत्रिका, संख्या 31, पृ. 29; डॉ. याकोबी का लेख।
2. Sacred Books of the East, Vol. 22, Introduction, p. 45.
3. कल्पसूत्र (सं. डॉ. याकोबी), पृष्ठ 15.

"जैनधर्म सर्वथा स्वतन्त्र धर्म है। मेरा विश्वास है कि वह किसी का अनुकरण नहीं है। इसीलिए प्राचीन भारतवर्ष के तत्त्वज्ञान और धर्म-पद्धति का अध्ययन करने वालों के लिए बड़े महत्त्व की चीज है।"

मेजर जनरल फर्लांग ने लिखा है, "जैनधर्म बहुत पुराना भारतीय धर्म है। इसके आरम्भ का पता लगाना कठिन है। ओकसियाना, कासविया, बलख, समरकन्द में भी फैला हुआ था। सन् ईसवी से अनगिनत वर्ष पूर्व जब भारत में द्रविड़ लोग राज्य करते थे, तब यह तत्त्वज्ञानपूर्ण धर्म फैला हुआ था। आर्य लोगों के गंगा व सरस्वती नदी तक आने के पूर्व जैन तीर्थंकरों की शिक्षा फैली हुई थी।"[1]

प्रसिद्ध प्रोफेसर सर डॉक्टर राधाकृष्णन ने लिखा है, "जैन पुराणों में ऋषभदेव को धर्म का संस्थापक कहा है। इस बात के प्रमाण मिले हैं कि सन् ईसवी से 100 वर्ष पूर्व लोग ऋषभदेव की पूजा किया करते थे, जो पहले जैन तीर्थंकर हैं। इसमें कोई सन्देह नहीं है कि जैनधर्म श्री वर्धमान और पार्श्वनाथ से भी पहले फैला हुआ था। यजुर्वेद में ऋषभदेव, अजित व अरिष्टनेमि इन तीन तीर्थंकरों के नाम प्रसिद्ध हैं। 'भागवत पुराण' भी कहता है कि श्री ऋषभ ने जैनधर्म को स्थापित किया था।"[2]

स्वतन्त्र भारत के प्रथम गवर्नर जनरल राजगोपालाचार्य ने भी अपने एक प्रवचन में कहा है, "जैनधर्म प्राचीन है और उसका विश्वास अहिंसा में है।"

उक्त सब विद्वान् अजैन हैं और प्राय: सब पक्के वेदानुयायी हैं, तथापि इन्होंने अपने सच्चे एवं निष्पक्ष हृदय से जैनधर्म का अस्तित्व प्राचीन और वेदों से पूर्व का स्वीकार किया है। उक्त विद्वानों के उद्‌गारों से स्पष्टतया सिद्ध हो जाता है कि जैनधर्म सर्वथा स्वतन्त्र धर्म है, वेदों से भी बहुत प्राचीन है और भगवान् ऋषभदेव द्वारा प्रवर्तित धर्म है। इसके अतिरिक्त योगवाशिष्ठ में जिन का, महाभारत शान्तिपर्व अध्याय 232 में जैनधर्म के स्याद्वाद का, अग्नि-पुराण अध्याय 16 में अर्हत् का, शिवपुराण में श्वेताम्बर जैन साधुओं के वेष का वर्णन भी उपलब्ध होता है। इन सब वर्णनों से मालूम होता है कि योगवाशिष्ठ, महाभारत तथा पुराण काल से पहले जैनधर्म प्रचलित था।

जैन इतिहास के अनुसार भरत चक्रवर्ती जैन थे। राम, लक्ष्मण, भगवती सीता जैन थे।

---

1 The Short Studies in Science Co-operative Religion.

2 Indian Philosophy (Dr Radhakrishanan).

कृष्ण, बलभद्र, सत्यभामा, रुक्मिणी आदि सब जैनधर्म के अनुयायी थे। इसी तरह महाबली पाण्डव और सती द्रौपदी भी जैनधर्म के महापथ के पथिक थे। किन-किन के नाम लिखे जाएं, भारत की बड़ी-बड़ी विभूतियां जैनधर्म को मानती थीं। इससे यह स्पष्ट है कि जैनधर्म भारत का व्यापक धर्म था।

प्रश्न–कई विचारक कहते हैं कि जैनधर्म बौद्धधर्म की शाखा है, क्या यह सत्य है?

उत्तर–इतिहासवेत्ता जैनधर्म के आदिकाल को खोजने में प्रयत्नशील हैं। कुछ विचारक जैनधर्म के मूल ग्रन्थों को देखे बिना ही इधर-उधर के ग्रन्थों में जैनधर्म के सम्बन्ध में लिखी हुई बातों के आधार पर कल्पना करने लगते हैं। महात्मा बुद्ध और भगवान् महावीर समकालीन थे और दोनों ने याज्ञिक हिंसा, जातिवाद एवं वर्णभेद का विरोध किया था। इससे कई विचारकों को यह भ्रम हो गया कि महात्मा बुद्ध के बाद जैनधर्म का प्रादुर्भाव हुआ। परन्तु, जब पाश्चात्य एवं भारतीय विद्वानों ने जैन ग्रन्थों एवं आगमों का अनुशीलन-परिशीलन शुरू किया और उन पर गहराई से चिन्तन-मनन करने लगे तो उन्हें यह स्पष्ट हो गया कि जैनधर्म बौद्ध या वैदिक धर्म की शाखा नहीं है, वह एक स्वतन्त्र एवं मौलिक धर्म है और वैदिक काल से पहले भी उसका अस्तित्व रहा है।[1] बहुत-से विचारकों ने भगवान् ऋषभदेव को जैनधर्म का प्रथम तीर्थंकर स्वीकार किया है। भगवान् महावीर से पूर्व हुए 23वें तीर्थंकर भगवान् पार्श्वनाथ को सभी विचारक ऐतिहासिक व्यक्ति मानने लगे हैं।[2] इसमें अब किसी को सन्देह नहीं रह गया है। अत: इससे स्पष्ट होता है कि जैनधर्म भगवान् महावीर और बुद्ध से भी पहले था। इसलिए जैनधर्म बौद्धधर्म की शाखा नहीं, बल्कि उसके अस्तित्व काल के पहले से चला आ रहा है।

डॉ. याकोबी कहता है कि "निर्ग्रन्थों का उल्लेख बौद्धों ने अनेक बार किया है। यहां तक कि पिटकों के प्राचीनतम भाग में भी निर्ग्रन्थों के सम्बन्ध में उल्लेख मिलता है। परन्तु बौद्धों के सम्बन्ध में स्पष्ट उल्लेख अभी तक तो प्राचीनतम जैन सूत्रों में कहीं भी मेरे देखने में नहीं आया है। जबकि उनमें जमाली, गोशालक आदि अन्य पाखण्डी धर्माचार्यों के विषय में लम्बे-लम्बे कथानक मिलते हैं। क्योंकि, बाद के समय में दोनों धर्मों का पारस्परिक

1. इस विषय पर पीछे के पृष्ठों पर विस्तार से वर्णन कर चुके हैं।
2. Parsva was a historical person, is now admitted by all as very probable.
   -Sacred Books of the East, Vol. 45, Introduction, pp. 21-33.

सम्बन्ध जैसा हो गया था, उससे यह स्थिति एकदम विपरीत है और दोनों धर्मों के समकालिक प्रारम्भ की हम लोगों की कल्पना के भी यह प्रतिकूल है। इसलिए हम इस निष्कर्ष पर पहुंचे हैं कि निर्ग्रन्थ धर्म बुद्ध के समय में नया स्थापित नहीं हुआ था। पिटकों का अभिमत भी यही बताता है। क्योंकि उसमें कहीं विरोधी सूचन नहीं मिलता।[1]

यह स्पष्ट है कि बौद्ध पिटकों में निर्ग्रन्थों का कई जगह वर्णन मिलता है और उनके 'चातुज्जाम धम्म अर्थात् चातुर्याम धर्म' का भी उल्लेख मिलता है। चातुर्याम–चार महाव्रत रूप धर्म भगवान् पार्श्वनाथ के युग तक था। भगवान् महावीर ने पञ्चयाम या पांच महाव्रत रूप धर्म का उपदेश दिया था जिसमें उन्होंने ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह इन दो महाव्रतों को अलग-अलग कर दिया था। बौद्ध पिटकों में पांच महाव्रतों का कहीं उल्लेख नहीं मिलता, यत्र-तत्र चार याम धर्म का उल्लेख मिलता है और यह चार याम धर्म भगवान् पार्श्वनाथ के समय तक था। भगवान् पार्श्वनाथ बुद्ध से पहले हुए हैं और प्रायः सभी ऐतिहासिक विद्वान इस बात को मानते हैं कि बुद्ध ने पहले भगवान् पार्श्वनाथ की परम्परा में दीक्षा स्वीकार की थी। उनके द्वारा स्वीकृत तप एवं उस समय का उनका रहन-सहन इस बात को स्पष्ट बताता है कि पहले वे जैनधर्म की परम्परा में दीक्षित हुए थे। जो भी कुछ हो, जैनधर्म बौद्धधर्म की शाखा नहीं है। वह बौद्धधर्म से भी प्राचीन है और यह बात जैन और बौद्ध साधुओं के आचरण एवं सैद्धांतिक मान्यताओं से भी स्पष्ट हो जाती है।

जैन साधु	बौद्ध भिक्षु
* श्वेत वस्त्र पहनते हैं।	* कषाय रंग के वस्त्र पहनते हैं।
* पैदल घूमते हैं। किसी भी तरह की सवारी का उपयोग नहीं करते।	* बौद्ध भिक्षुओं के लिए सवारी में बैठने का प्रतिबन्ध नहीं है। वे खुले रूप में सवारी करते हैं।
* धन-धान्य आदि परिग्रह नहीं रखते और न किसी से स्वीकार ही करते हैं।	* आवश्यकतानुसार पैसा रखने या लेने का विधान है। वर्तमान काल में तो ये धन-सम्पत्ति का संग्रह भी करने लगे हैं।

1 Sacred Books of the East, Vol. 9, p 161.

जैन साधु	बौद्ध भिक्षु
* कच्ची सब्जी का स्पर्श तक नहीं करते।	* कच्ची सब्जी तो क्या, मांस खाने से भी परहेज नहीं करते।
* रात्रि को भोजन नहीं करते और न रात को पानी ही पीते हैं	* रात्रि भोजन या पानी आदि पीने पर कोई प्रतिबन्ध नहीं है।

इस तरह दोनों सम्प्रदायों में आचरण सम्बन्धी बहुत बड़ा अन्तर मिलता है। इसके अतिरिक्त दोनों सम्प्रदायों की सैद्धांतिक मान्यताओं में भी एकरूपता या समानता नहीं है।

जैनधर्म	बौद्धधर्म
* अनेकान्तवाद को मानता है।	* क्षणिकवाद को मानता है।
* जीव, अजीव, पुण्य-पाप आदि नव-तत्त्व को मानता है।	* दु:ख, आयतन, समुदाय और मार्ग इन चार को मानता है।
* आत्मा के कर्ममल से रहित नितान्त शुद्ध स्वरूप को मोक्ष माना है।	* आत्मा के अस्तित्व के नाश को मोक्ष स्वीकार किया है। मोक्ष अर्थात् शून्य अवस्था।

इस तरह आचार सम्बन्धी एवं सैद्धांतिक मान्यताओं में दोनों परम्पराओं में बहुत अन्तर है और इसी के आधार पर हम यह कह सकते हैं कि जैनधर्म बौद्धधर्म से सर्वथा भिन्न है। इसके अतिरिक्त आधुनिक विद्वानों ने भी जैनधर्म को स्वतन्त्र धर्म माना है और उसे बौद्धधर्म से पहले का स्वीकार किया है।

लोकमान्य पं. बालगंगाधर तिलक अपने केसरी समाचार पत्र में लिखते हैं–''महावीर स्वामी जैनधर्म को पुन: प्रकाश में लाए, इस बात को आज 2400 वर्ष बीत चुके हैं। बौद्धधर्म की स्थापना के पहले भी जैनधर्म भारत में फैला हुआ था, यह बात विश्वास करने योग्य है। 24 तीर्थंकरों में महावीर स्वामी अन्तिम तीर्थंकर थे। इससे भी जैनधर्म की प्राचीनता जानी जाती है।"

बाबू अम्बुजाक्ष सरकार एम. ए. बी. एड. लिखते हैं–"यह अच्छी तरह प्रमाणित हो चुका है कि जैनधर्म बौद्धधर्म की शाखा नहीं है। महावीर स्वामी जैनधर्म के स्थापक नहीं हैं। उन्होंने केवल प्राचीन जैनधर्म का प्रचार किया है।"

इन सब प्रमाणों से स्पष्ट हो जाता है कि जैनधर्म बौद्ध या वैदिक धर्म की शाखा नहीं है। यह एक स्वतन्त्र धर्म है और ऐतिहासिकों की पहुंच एवं वेद काल के पूर्व से चला आ रहा है। अत: जैनधर्म को बौद्धधर्म की शाखा कहना या मानना असंगत और इतिहास के भी विरुद्ध है, या यों कहिए कि सत्य को झुठलाना है।[1]

प्रश्न–हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास (सं. 750 से 1750), लेखक डॉ. रामकुमार वर्मा, एम. ए., पी-एच.डी., (प्रयाग विश्वविद्यालय) के सिद्ध साहित्य नामक विभाग में पृष्ठ 118-119 पर लिखा है–"जब वे (मत्स्येन्द्रनाथ)[2] सिंहलद्वीप गए तो वहां की रानी पद्मावती के रूप पर आसक्त होकर वहीं रहने लगे, तब गोरखनाथ को अपने गुरु के पतन की गाथा मालूम हुई तो वे सिंहलद्वीप गए और वहां उन्होंने अपने गुरु मत्स्येन्द्रनाथ को रानी पद्मावती के अन्त:पुर में पाया। उन्होंने अपनी योगविद्या से स्मरण दिलाकर उनका विवेक जागृत किया। मत्स्येन्द्रनाथ को ज्ञान हुआ और वे रानी पद्मावती को छोड़कर फिर योगारूढ़ हो गए। फिर वे पद्मावती से उत्पन्न अपने दोनों पुत्रों पारसनाथ और नेमिनाथ (जो आगे चलकर जैन तीर्थंकर हुए) को साथ लेकर नेपाल चले गए।

प्रस्तुत सन्दर्भ में पारसनाथ और नेमिनाथ को जैन तीर्थंकर लिखा है और उन्हें मत्स्येन्द्रनाथ के पुत्र स्वीकार किया है। क्या यह सत्य है?

उत्तर–यह बात नितांत असत्य है और केवल सांप्रदायिक ईर्ष्यावश जैनों का तिरस्कार करने की दृष्टि से ही सिद्ध साहित्य में इसका उल्लेख किया गया है। मत्स्येन्द्रनाथ और भगवान् नेमिनाथ तथा पार्श्वनाथ में कालगत साम्य भी नहीं है। मत्स्येन्द्रनाथ 13वीं सदी में हुए हैं[3] और भगवान् नेमिनाथ और पार्श्वनाथ का समय विक्रम संवत् के शुरू से भी बहुत पहले का है। भगवान् नेमिनाथ को 85000 वर्ष से भी कुछ ऊपर हो चुके हैं और भगवान् पार्श्वनाथ को 2750 वर्ष बीत चुके हैं। भगवान् पार्श्वनाथ भगवान् महावीर से 250 वर्ष पहले हुए थे और भगवान् महावीर के निर्वाण को 2500 वर्ष हो चुके हैं। ऐतिहासिक विद्वान भी

1. जैनधर्म की प्राचीनता को प्रमाणित करने वाले वेदवाक्य तथा ऐतिहासिक जैनेतर विद्वानों के अभिमत को और अधिक जानने के अभिलाषियों को 'सत्यार्थदर्पण' लेखक पं. अजितकुमार जैन शास्त्री, प्राप्तिस्थान–मन्त्री, साहित्य विभाग, भारतवर्षीय दिगम्बर जैन संघ, चौरासी मथुरा, से प्रकाशित ग्रन्थ को देखना चाहिए।
2. इनका दूसरा नाम मछन्दरनाथ था, ये श्री गोरखनाथ के गुरु माने जाते हैं।
3. लक्ष्मीनारायणकृत "श्री ज्ञानेश्वर चरित्र" के हिन्दी अनुवाद के आधार से गोरखनाथ ज्ञानेश्वर के प्रपितामह अम्बकपन्त के समकालीन हुए हैं। अम्बक पन्त ने 1270 के लगभग गोरखनाथ का शिष्यत्व स्वीकार किया था। अत: गोरखनाथ का समय विक्रम की 13वीं शताब्दी सिद्ध होता है। इसके अतिरिक्त डॉ. रामकुमार वर्मा भी इनका समय 13वीं शताब्दी का मध्य भाग ही मानते हैं और मत्स्येन्द्रनाथ गोरखनाथ के समकालीन थे, अत: मत्स्येन्द्रनाथ का समय भी 13वीं शताब्दी का मध्य भाग ही प्रमाणित होता है।

इस तथ्य को स्वीकार कर चुके हैं। इस पर हम पीछे के पृष्ठों पर विस्तार से लिख आए हैं। अत: यहां इतना ही कहना पर्याप्त होगा कि यह उल्लेख केवल सांप्रदायिक अभिनिवेश के वश किया गया है। सांप्रदायिक नशे में उन्मत्त होकर मनुष्य कुछ का कुछ कह जाता है। वह इससे भी अधिक असत्य कह सकता है। वह उस समय सत्य-असत्य का कुछ भी ख्याल नहीं रखता, अत: हमें इस पर आश्चर्य नहीं होता, परन्तु हमें आश्चर्य एवं दु:ख इस बात का होता है कि इतिहास के प्रसिद्ध विद्वान डॉ. रामकुमार वर्मा इतनी गम्भीर एवं अक्षम्य भूल कैसे कर गए?

यह कहा जा सकता है कि वर्मा जी ने अपनी तरफ से कुछ नहीं कह कर सिद्ध साहित्य में आई हुई घटना का उल्लेख मात्र किया है। यह बात मानी भी जा सकती है। भाषा-विशेषज्ञ साहित्य का अनुसंधान करते समय प्रत्येक साहित्य का उद्धरण देते रहे हैं। क्योंकि उनकी दृष्टि ऐतिहासिक शोध की रही है। परन्तु, जिस उद्धरण में उन्हें ऐतिहासिक एवं साहित्यिक भूल प्रतीत होती है, उस पर वे टिप्पणी लिखने से भी नहीं चूकते। यह सत्य है कि वे उद्धरण में प्रत्येक साहित्यकार के शब्दों को ही उद्धृत करते हैं, उसमें जरा भी कांट-छांट नहीं करते और करनी भी नहीं चाहिए। परन्तु टिप्पणी के द्वारा उसमें रही हुई असंगति को दिखाकर पाठकों के मन-मस्तिष्क को उस भूल से बचा सकते हैं और बड़े-बड़े संशोधक (Research Scholar) ऐसा ही करते हैं। साहित्यकार का मत कहां तक सही या गलत है, इस बात को वे ऐतिहासिक एवं साहित्यिक प्रमाण देकर स्पष्ट कर देते हैं। परन्तु वर्मा जी ने प्रस्तुत प्रसंग पर कोई टिप्पण नहीं दिया। वे इस बड़े भारी असत्य को कैसे स्वीकार कर गए, यह हमारी समझ में नहीं आया। आज इतिहास का साधारण पाठक भी इस बात को जानता है कि भगवान् पार्श्वनाथ और नेमिनाथ का युग तो छोड़िए, भगवान् महावीर का युग भी मत्स्येन्द्रनाथ से 12 सदी पहले का है। हम यह नहीं मान सकते कि यह भूल वर्मा जी के ध्यान में नहीं आई हो। हां, यह हो सकता है कि उन्होंने सोचा हो कि जैनों में कोई विरोध करने वाला तो है नहीं, जो दिल में आए सो कह एवं लिख जाओ। इससे यह स्पष्ट होता है कि वर्मा जी के मन में जैनधर्म के प्रति उपेक्षा एवं तिरस्कार की भावना रही है और यह मनोवृत्ति एक रिसर्च स्कॉलर के लिए बहुत बड़ा दोष एवं कलंक है। क्या वर्मा जी इस कलंक को धो सकेंगे?

दूसरे, जैन समाज की भी एक कमजोरी है कि वह अभी तक इतने बड़े भारी असत्य को अनावृत करके नहीं रख सकी है। किसी भी जैन विद्वान या विचारक ने इसका खुला विरोध नहीं किया है। जैन विचारकों का यह कर्त्तव्य हो जाता है कि वर्मा जी को उनकी भूल से सावधान करके उसे सुधारने के लिए प्रेरित करें तथा जनता के मन-मस्तिष्क से उस झूठ

को निकालने के लिए उसे वास्तविक स्थिति से परिचित कराएं और प्रस्तुत प्रकरण में उक्त उद्धरण की असत्यता को स्पष्ट करने वाली टिप्पण लगाने के लिए लेखक एवं प्रकाशक को प्रेरित करें। इस तरह का प्रयत्न नहीं किया गया तो सांप्रदायिक प्रवाह में प्रवहमान लेखक जैनधर्म पर प्रहार करते हुए जरा भी संकोच नहीं करेंगे। अत: जैनों को प्रत्येक असत्य का–चाहे उसे कितने ही बड़े विद्वान क्यों न कह गए हों स्पष्ट शब्दों में विरोध करना चाहिए। जनता एवं पाठकों के सामने सत्य को रखते हुए हमें जरा भी डरना नहीं चाहिए।

यह स्पष्ट है कि वर्मा जी ने भगवान् पार्श्वनाथ और नेमिनाथ के सम्बन्ध में जो कुछ लिखा या उद्‌धृत किया है, वह सर्वथा असत्य है, ऐतिहासिक दृष्टि से भी उसमें जरा भी सत्यता को अवकाश नहीं है। आशा है, वर्मा जी उस पर निष्पक्ष दृष्टि से सोचेंगे और ऐतिहासिक विद्वान एवं रिसर्च स्कॉलर होने के नाते अपनी भूल को सुधारने का प्रयत्न करेंगे।

प्रश्न–जैनधर्म के धारक वैश्य लोग ही हैं या इसके पालक राजा लोग भी थे? भारत के प्राचीन इतिहास में किसी ऐसे राजा का नाम बता सकते हैं, जो जैनधर्म का अनुयायी रहा हो?

उत्तर–जैन जगत का विश्वास है कि भगवान् ऋषभदेव से लेकर महावीर पर्यन्त चौबीसों तीर्थंकरों का जन्म राजवंशों में ही हुआ था। प्रत्येक तीर्थंकर के काल में अनेकानेक जैन राजा भी हुए, चक्रवर्ती भी हुए, जिन्होंने जैन धर्म में दीक्षा ली थी और जैनधर्म के प्रचार एवं प्रसार में सहायता प्रदान की थी। मर्यादापुरुषोत्तम श्री राम और त्रिखण्डाधिपति श्री कृष्ण भी जैन थे। श्री राम ने जैन साधु बनकर मुक्ति प्राप्त की थी और श्री कृष्ण के छोटे भाई गजसुकुमार भगवान् नेमिनाथ के चरणों में दीक्षित हुए थे। श्री कृष्ण ने स्वयं गजसुकुमार को भगवान् नेमिनाथ के पास जैन साधु बनवाया था। भगवान् नेमिनाथ ने बताया था कि श्रीकृष्ण भी भविष्य में 12वें तीर्थंकर बनेंगे। इसके अतिरिक्त अनेकानेक जैन राजा हुए हैं, इतिहास इस बात का साक्षी है। फिर भी, भगवान् महावीर के समकालीन एवं बाद में हुए जैन राजाओं का उल्लेख कर देना उचित प्रतीत होता है।

राजा चेटक भगवान् महावीर के अनन्य श्रद्धालु श्रावक एवं वैशाली के अत्यन्त प्रभावशाली और वीर राजा थे। वे 18 देशों के गणराज्य के अध्यक्ष थे। उनकी प्रतिज्ञा थी–मैं अपनी कन्याओं का विवाह केवल जैन-धर्मानुयायी राजाओं के साथ ही करूंगा, किसी अजैन के साथ नहीं। सिन्धु के उदायन, अवन्ती के चण्डप्रद्योतन, कौशाम्बी के शतानीक, चम्पा के दधिवाहन और मगध के श्रेणिक राजा महाराज चेटक के दामाद थे। ये सभी राजा जैनधर्म के अनुयायी थे। राजा उदायन ने तो भगवान् महावीर के पास दीक्षा स्वीकार करके मोक्ष पद प्राप्त किया था।

इतिहास प्रसिद्ध मगध नरेश बिम्बसार जैन साहित्य में श्रेणिक के नाम से विख्यात रहे हैं। जैन शास्त्रों में इनका जीवनवृत्त उपलब्ध होता है। इनको जैन बनाने वाले अनाथी मुनि थे। अनाथी मुनि के सदुपदेश से इन्होंने जैन धर्म को स्वीकार किया था। इनका पुत्र सम्राट कूणिक भी भगवान् महावीर का अनन्य भक्त था। वह भगवान् महावीर का समाचार प्राप्त करके ही भोजन ग्रहण करता था। कूणिक के पुत्र उदायी ने भी जैनधर्म को स्वीकार किया था।

काशी-कौशल के अठारह लिच्छवी और मल्लि राजाओं ने भगवान् महावीर का निर्वाण-उत्सव मनाया था। उनके द्वारा प्रसारित वीर-निर्वाण-उत्सव आज दीपमाला के रूप में मनाया जाता है। ये सब राजा भी जैनधर्म को मानने वाले थे।

मौर्य सम्राट् चन्द्रगुप्त जैनधर्म के अनुयायी थे। वे श्री भद्रबाहु स्वामी के पास दीक्षा स्वीकार करके मैसूर प्रान्त (दक्षिण) में गए थे। श्रवणबेलगोला की गुफा में उन्होंने आत्म-साधना की थी।

महाराज चन्द्रगुप्त के पोते सम्राट् अशोक अपने पूर्व राज्यकाल में जैन थे। ईसवी सन् से 100 वर्ष पूर्व हुए कलिंग देश के सम्राट् राजा खारवेल भी जैन थे। यह बात उड़ीसा के खण्डगिरि के शिलालेखों से प्रसिद्ध है। दक्षिण व पश्चिम में राज्य करने वाले अनेक देशों के राजा जैन थे। गंग वंश के भी सब राजा जैन थे। इस वंश ने दूसरी से 11वीं शताब्दी तक दक्षिण में राज्य किया था। राजकूट वंश के प्रसिद्ध राजा अमोघवर्ष भी जैन थे। अठारह देशों में आज्ञा चलाने वाले महाराज कुमारपाल जैन थे। इस प्रकार जैनधर्म को मानने वाले अनेक राजा लोग थे, जिन्होंने जैनधर्म की प्रभा को फैलाने में योग देकर अपने जीवन को यशस्वी बनाया था।

राजाओं के अतिरिक्त मन्त्री और सेनापति भी जैनधर्म के अनुयायी रहे हैं। जैन मन्त्रियों में वस्तुपाल और तेजपाल का नाम इतिहास की अमूल्य सम्पत्ति है। दोनों भाई बाघेला वंश के राजा वीरधवल के मन्त्री थे। राजनीति के पण्डित और जैनधर्म के अनन्य भक्त होकर भी समस्त धर्मों के प्रति बड़े उदार थे। मेवाड़ के महाराणा प्रतापसिंह के प्रधानमन्त्री भामाशाह जैन को कौन नहीं जानता? संकट काल में बारह वर्ष तक 25 हजार आदमी भोजन कर सकें इतना धन भामाशाह ने महाराणा प्रताप को दिया था। मेवाड़ में आज भी भामाशाह के वंशज ज़ीवित हैं, जो जैन हैं। अजमेर के राजा विजयसिंह के सेनापति धनराज सिंघवी जैन थे। गुजरात के सोलंकी राजा भीमदेव के सेनाध्यक्ष आभु भी जैन थे।

❑ ❑ ❑

आस्तिक-नास्तिक समीक्षा

प्रश्न–आस्तिक और नास्तिक शब्द का व्याकरण-सम्मत क्या अर्थ होता है?

उत्तर–भारतीय चिन्तन धारा दो भागों में विभक्त है–1. आस्तिक और 2. नास्तिक। कुछ चिन्तनशील विचारक, दार्शनिक आत्मा और परलोक के अस्तित्व को स्वीकार करते हैं तथा आयु कर्म समाप्त होने के बाद आत्मा एक गति के शरीर को त्याग कर दूसरी गति या योनि के शरीर को धारण करती है, इस बात में विश्वास करते हैं और उसे आगम, तर्क एवं अनुभव से प्रामाणिक मानते हैं। ऐसी मान्यता में श्रद्धा रखने वाले विचारकों को दार्शनिक भाषा में आस्तिक कहते हैं और जो विचारक आत्मा एवं परलोक के अस्तित्व को स्वीकार नहीं करते, उन्हें नास्तिक कहते हैं। फलितार्थ यह निकला कि आत्मवाद में विश्वास रखने वाले दार्शनिक आस्तिक कहलाते हैं और अनात्मवाद को आधार मानकर चलने वाले विचारक नास्तिक कहलाते हैं। उक्त उभय शब्दों की व्याख्या करते हुए वैयाकरणों ने भी यही बात कही है। शाकटायन का व्याकरण बहुत प्राचीन माना जाता है। पाणिनी ने अपने द्वारा रचित व्याकरण में शाकटायन व्याकरण के प्रमाण दिए हैं। आचार्य शाकटायन लिखते हैं–

''**दैष्टिकास्तिक-नास्तिकाः। 3, 2, 61.**

दैष्टिकादयतदस्येति षष्ठ्यन्ते ठणन्ता नियात्यन्ते। दिष्टा प्रमाणानुपातिनी मतिरस्य, दिष्टं दैवं प्रमाणमिव मतिरस्येति वा दैष्टिकः। अस्ति परलोक पुण्यपापमिति च मतिरस्येत्यास्तिकः। एवं नास्तीति नास्तिकः।

पाणिनीय व्याकरण सिद्धान्त कौमुदी में आचार्य भट्टो जी दीक्षित ने भी उक्त उभय शब्दों पर अपना अभिमत प्रकट करते हुए लिखा है –

'**आस्ति-नास्ति दिष्टं मतिः। 4, 4, 60.**

तदस्य इत्येव अस्ति परलोक इत्येवं मतिर्यस्य स आस्तिकः। नास्तीति मतिर्यस्य स नास्तिकः। दिष्टमिति मतिर्यस्य स दैष्टिकः।''

आचार्य हेमचन्द्र सूरि ने नास्तिक की परिभाषा करते हुए लिखा है–''**नास्ति पुण्यं पापमिति मतिरस्य स नास्तिकः**'', अर्थात् जिसकी बुद्धि में पुण्य-पाप का अस्तित्व नहीं है, उसे नास्तिक कहते हैं।

उक्त वैयाकरणों द्वारा दी गयी परिभाषाओं से यह स्पष्ट हो गया कि आस्तिक और नास्तिक शब्द की मूल प्रकृति अस्ति और नास्ति शब्द हैं। अस्ति शब्द सत्ता का, अस्तित्व का परिचायक है और नास्ति शब्द निषेध का संसूचक है। जिन विचारकों एवं दार्शनिकों का आत्मा, परलोक, पुण्य-पाप आदि के अस्तित्व में विश्वास है, श्रद्धा है, वे आस्तिक हैं, और जो विचारक इनके अस्तित्व में विश्वास नहीं रखते अर्थात् जिनकी मति-बुद्धि एवं धारणा यह है कि आत्मा, परलोक, पुण्य-पाप आदि कुछ नहीं है, वे नास्तिक हैं। इस तरह यह आस्तिक और नास्तिक शब्दों का व्याकरण-सम्मत एवं व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ माना जाता है।

प्रश्नव्याकरण सूत्र में नास्तिक का स्वरूप बताते हुए यही कहा गया है कि कुछ लोग मानते हैं कि जीव नहीं है, जाति नहीं है, जीव को पुण्य-पाप का फल नहीं मिलता है, नरक-स्वर्ग आदि कुछ नहीं है। इस तरह आत्मा, पुण्य-पाप एवं परलोक आदि तत्त्वों के अस्तित्व को स्वीकार नहीं करने वाले को नास्तिक कहा है।[1]

प्रश्न–जैन-दर्शन आस्तिक-दर्शन है या नास्तिक-दर्शन?

उत्तर–जैनदर्शन का भली-भांति अनुशीलन-परिशीलन करने से यह स्पष्ट हो जाता है कि वह आस्तिक दर्शन है। क्योंकि, जैनदर्शन आत्मा के स्वतन्त्र अस्तित्व को मानता है, परलोक, पुण्य-पाप, कर्म-बन्धन, मुक्ति आदि के अस्तित्व को स्पष्टतः स्वीकार करता है। वस्तुतः जैनदर्शन ने उक्त तत्त्वों पर जितनी गहराई से सोचा-विचारा और जितना सूक्ष्म अन्वेषण किया है, उतना किसी भी विचारक ने नहीं किया। प्रायः सभी दार्शनिकों एवं चिन्तकों ने ऊपर-ऊपर से उड़ानें भरी हैं, पर आत्मा की गहराई में उतरने का जैन विचारकों के अतिरिक्त किसी ने साहस किया हो ऐसा दिखाई नहीं देता। इसलिए आत्मा के स्वतन्त्र अस्तित्व मानने तथा पुण्य-पाप एवं कर्मबन्ध तथा मुक्ति के सम्बन्ध में हमें जितने स्पष्ट एवं तर्कसम्मत प्रमाण जैनदर्शन में उपलब्ध होते हैं, उतने अन्य दार्शनिक ग्रन्थों में उपलब्ध नहीं

1. प्रश्नव्याकरण सूत्र, 2. 7.

होते। जैनों का आगम एवं दर्शन साहित्य आत्म तत्त्व के विवेचन से भरा पड़ा है। जैनदर्शन द्वारा मान्य नव तत्त्वों में आत्मा या जीव तत्त्व मुख्य है, नव तत्त्व का प्राण है। इसके अतिरिक्त कोई व्यक्ति अपने ज्ञान की विशिष्टता से या तीर्थंकर अथवा किसी विशिष्ट ज्ञानी के उपदेश से इसको जान लेता है कि मैं पूर्व-पश्चिम आदि किसी एक दिशा से आया हूं और मेरी आत्मा उत्पत्तिशील है तथा इन दिशा-विदिशाओं में स्थित विभिन्न योनियों में परिभ्रमण करने वाला मैं ही हूं, राग-द्वेष के संसर्ग के कारण मेरी आत्मा बार-बार जन्म-मरण करती है।[1] आत्मा ही सुख-दु:ख का कर्त्ता एवं भोक्ता है, आत्मा ही वैतरणी नदी तथा कूटशामली वृक्ष (नरकों में प्रवहमान दु:खद नदी एवं वृक्ष) को प्राप्त करता है और वही कामधेनु के सुख का उत्पादक है। बन्धन और मुक्ति को प्राप्त करने वाला आत्मा ही है।[2]

संसारी आत्मा के एक गति से दूसरी गति में परिभ्रमण करने के सम्बन्ध में भी जैनागमों में पाठ मिलता है। जैसे गीता में कर्मयोगी श्री कृष्ण ने अर्जुन से कहा—हे अर्जुन ! जिस अविनाशी योग के सम्बन्ध में मैं तुम्हें बता रहा हूं, मैंने इसका सर्वप्रथम उपदेश विवस्वत को दिया था, उसने अपने पुत्र मनु को और मनु ने इक्ष्वाकु को दिया था। तब अर्जुन ने पूछा—भगवन् ! आपका जन्म तो अब हुआ है और विवस्वत का जन्म आप से बहुत समय पहले हो चुका है, फिर आपने उसे इस योग का उपदेश कैसे दिया?

इसका उत्तर देते हुए श्री कृष्ण ने कहा—हे अर्जुन ! मेरे और तेरे इस जन्म के पहले अनेकों जन्म हो चुके हैं। तू इस बात नहीं जानता है, परन्तु मैं इसे भली-भांति जानता हूं।[3]

इसी तरह भगवान् महावीर ने भी गौतम से कहा—हे गौतम ! तेरा और मेरा बहुत काल से अर्थात् अनेक जन्मों से सम्बन्ध चला आ रहा है, तू मेरा पुराना परिचित है। भगवान् महावीर के इस कथन को सुनकर गौतम स्वामी को भी भगवान् के साथ किए गए पूर्व-जन्मों का तथा उनके साथ रहे हुए सम्बन्ध का परिज्ञान हो गया।[4]

इस तरह पुनर्जन्म की मान्यता को प्रमाणित करने वाले आगमों में अनेक उद्धरण मिलते हैं। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि जैनदर्शन आत्मा, परलोक, पुनर्जन्म आदि को मानता

1. श्री आचारांग सूत्र 1, 1, 5.
2. उत्तराध्ययन सूत्र 20.
3. बहूनि मे व्यतीतानि, जन्मानि तव चार्जुन !
   तान्यहं वेद सर्वाणि, न त्वं वेत्थ परंतप ! --श्री भगवद्गीता, 4, 5.
4. चिरसंसिट्ठोऽसि मे गोयमा ! चिरपरिचियोऽसि मे गोयमा . . . –श्री भगवती सूत्र, शतक 14, उद्देशक 7.

है। इसलिए वह नास्तिक दर्शन नहीं, आस्तिक दर्शन है। पाश्चात्य एवं भारतीय विद्वान तथा विचारक भी जैनदर्शन को आस्तिक दर्शन के रूप में स्वीकार करते हैं। सन् 1955 की महावीर जयन्ती के अवसर पर दिल्ली में आयोजित एक सभा में भगवान् महावीर के जीवन पर प्रकाश डालते हुए भारत के प्रसिद्ध विद्वान, सर्वोदयी विचारक काका कालेलकर ने स्पष्ट शब्दों में कहा था –

''जिस जमाने में कहीं-कहीं मनुष्य का मांस खाने वाले लोग भी थे, मनुष्य को गुलाम बनाकर बेचा जाता था, सेनाओं के बीच युद्ध होते थे और पशु-मांस का आहार तो सार्वजनिक था। ऐसे समय में पानी और हवा में जो सूक्ष्म जीव होते हैं, उनके प्रति आत्मीयता बतलाना और विश्व में अहिंसा की स्थापना करने का अभिप्राय रखना तथा यह विश्वास रखना कि इतनी व्यापक अहिंसा भी मनुष्य का हृदय कबूल करेगा और किसी दिन उसे सिद्ध भी करेगा—यह उच्चकोटि की आस्तिकता है। ईश्वर पर या शास्त्र पर विश्वास रखना गौण है। मनुष्य-हृदय पर विश्वास रखना कि वह विश्वात्मैक्य की ओर अवश्य बढ़ेगा। यह सबसे बड़ी आस्तिकता है। इसलिए मैंने भगवान् महावीर को आस्तिक-शिरोमणि कहा है।[1]

इससे स्पष्ट हो जाता है कि जैनदर्शन आस्तिक दर्शन है और उसकी आस्तिकता सब दर्शनों से उत्कृष्ट है। आत्मा एवं लोक-परलोक के सम्बन्ध में जैन चिन्तकों ने जितनी गहराई से चिन्तन-मनन एवं अन्वेषण करके प्रकाश डाला है, उतना गहरा विचार किसी भी दार्शनिक ने नहीं दिया। इसलिए आज भी सभी निष्पक्ष विचारक जैनदर्शन को आस्तिक दर्शन के रूप में स्वीकार करते हैं और गांधीवादी नेता काका कालेलकर तो जैनदर्शन को एक उत्कृष्ट आस्तिक दर्शन और भगवान् महावीर को आस्तिक-शिरोमणि मानते हैं।

प्रश्न–आस्तिक-नास्तिक शब्द व्याकरण-सम्मत परिभाषा के अनुसार ही साहित्य में प्रयुक्त होते रहे हैं या आगे चलकर उनमें कुछ परिवर्तन हुआ है? यदि परिवर्तन हुआ है, तो परिवर्तन आने का वास्तविक कारण क्या रहा है?

उत्तर–इस प्रश्न का समाधान पाने से पहले हमें शब्द और व्याकरण के सम्बन्ध को भी भली-भांति समझ लेना चाहिए। यह बात हमें सदा ध्यान में रखनी चाहिए कि व्याकरण शब्दों को परिष्कृत करता है, न कि उनकी रचना। प्रत्येक भाषा का यही नियम है कि उसके

1. श्रमण, वर्ष 7, अंक 12.

उच्चारण एवं प्रयोग के रूप को व्यवस्थित करना व्याकरण का काम है। इससे यह स्पष्ट होता है कि शब्द का निर्माण व्याकरण से नहीं, बल्कि जनता की बोल-चाल की भाषा से होता है। व्याकरण केवल इतना ही काम करता है कि जनता या साहित्यिकों के द्वारा जिस शब्द का जिस अर्थ में प्रयोग होता है, उस अर्थ को या परिभाषा को स्पष्ट करके उसके रूप को व्यवस्थित बना देता है, उसमें रही हुई उच्चारण की अशुद्धता या कमी दूर कर देता है।

इससे यह स्पष्ट होता है कि पाणिनी एवं शाकटायन से भी पहले आस्तिक-नास्तिक शब्द का प्रयोग परलोक आदि के स्वरूप को स्वीकार करने और अस्वीकार करने के अर्थ में ही हुआ था और वैयाकरणों ने उसी अर्थ को स्वीकार करते हुए उसकी परिभाषा की है। अत: पाणिनीय युग तक इसी अर्थ में उभय शब्दों का प्रयोग होता रहा। यदि शाकटायन और पाणिनी के बीच के युग में इन उभय शब्दों की अर्थ मान्यता में भेद आया होता तो पाणिनी अष्टाध्यायी में उसका उल्लेख अवश्य करते। पाणिनी के बाद भी भट्टोजी दीक्षित ने ''सिद्धान्त कौमुदी'' के मूलसूत्र एवं उसकी व्याख्या में उसी अर्थ को स्वीकार किया है। उन्होंने कहीं भी यह संकेत नहीं दिया कि उक्त उभय शब्दों की अर्थगत मान्यता में परिवर्तन हुआ है। यदि तब तक अर्थ-मान्यता में परिवर्तन हुआ होता तो वे उसका उल्लेख किए बिना नहीं रहते। परन्तु, उन्होंने उभय शब्दों की परिभाषा में कोई परिवर्तन नहीं किया। इससे यह स्पष्ट प्रमाणित होता है कि सिद्धान्त कौमुदी की रचना के समय तक आस्तिक-नास्तिक शब्दों का प्रयोग आत्मादि क अस्तित्व को मानने और न मानने के अर्थ में ही होता रहा है।

परन्तु, दार्शनिक युग में आकर इसकी परिभाषा में अन्तर डाला गया। आत्मा आदि के अस्तित्व में विश्वास रखने, न रखने के साथ ईश्वर को जोड़ा गया। ईश्वर भी उनका अपना एक पारिभाषिक शब्द है। उसका अर्थ है—जो एक है, जगन्नियन्ता है, संसार का निर्माता है, भाग्य का विधाता है, कर्मफल का प्रदाता है, बार-बार संसार में अवतार लेता है, संसाररूपी घटीयन्त्र का संचालक है तथा समस्त प्राणी जगत का सर्वेसर्वा है।

इसके बाद ज्यों-ज्यों साम्प्रदायिक अभिनिवेश बढ़ता गया, त्यों-त्यों कुछ दार्शनिकों एवं विचारकों के मन में एक-दूसरी परम्परा को या सम्प्रदाय को नीचा दिखाने का भाव बढ़ता गया और इसी कारण उभय शब्दों की परिभाषा में परिवर्तन होता गया। आस्तिक-नास्तिक शब्द की परिभाषा के बदले हुए रूप परमत-विद्वेष के परिचायक हैं। इससे यह स्पष्ट पता लगता है कि दार्शनिक युग में साम्प्रदायिक मनोवृत्ति का काफी प्राबल्य था और उस युग में

ये दार्शनिक अपने आपको श्रेष्ठ सिद्ध करने के लिए दूसरी सम्प्रदायों पर शब्दों का कीचड़ उछाला करते थे। इसी साम्प्रदायिकता का परिणाम है कि विशाल एवं व्यापक अर्थ में प्रयुक्तमान आस्तिक-नास्तिक शब्द की परिभाषा को एक साम्प्रदायिक दायरे में बांधने का प्रयत्न किया गया और ईश्वरकर्तृत्व के साथ यह भी जोड़ दिया गया कि जो वेद को प्रामाणिक नहीं मानते वे नास्तिक हैं। इस शब्द को जोड़ा ही नहीं गया, बल्कि और सभी अर्थों को गौण करके केवल इतनी ही परिभाषा बना दी कि जो वेद को प्रामाणिक नहीं मानता वह नास्तिक है और इसी अपेक्षा से जैन एवं बौद्ध दर्शन को नास्तिक दर्शन कहा गया। वस्तुत: देखा जाए तो जैनदर्शन नास्तिक दर्शन नहीं, आस्तिक दर्शन है। परन्तु, साम्प्रदायिक अभिनिवेश के कारण मनुष्य सत्य को झुठलाकर असत्य की स्थापना एवं प्ररूपणा करने से नहीं हिचकता, यह इसका ज्वलन्त उदाहरण है।

एक बात यह भी ध्यान देने योग्य है कि वैदिक पुराणों में अद्वैत वेदान्त के प्रतिपादक आचार्य शंकर को भी जैनदर्शन, बौद्धदर्शन और चार्वाक दर्शन की तरह नास्तिक कहा है और उनके द्वारा प्ररूपित मायावाद को असत्-मिथ्या शास्त्र कहा है। मायावाद एक तरह से मिथ्यावाद एवं नास्तिक मान्यता है।[1]

यह हम ऊपर देख आए हैं कि व्याकरण की दृष्टि से आस्तिक-नास्तिक का यह अर्थ किसी भी तरह घटित नहीं होता। इससे यह स्पष्ट प्रमाणित होता है कि इस परिभाषा की रचना के पीछे सत्यता, प्रामाणिकता एवं ईमानदारी के स्थान में साम्प्रदायिकता का खुला हाथ रहा है और वह भी सम्प्रदाय विशेष का तिरस्कार करने की दृष्टि से इस परिभाषा को बदला गया है। आधुनिक विद्वान इस बात से सहमत हैं कि इस परिभाषा को बदलने के पीछे साम्प्रदायिक विद्वेष की भावना ही मूल कारण है।

वैदिक परम्परा का विश्वास है कि वेद अपौरुषेय हैं, मनुष्य इनका रचयिता नहीं है।

1. मायावादी वेदान्ती (शंकर भारती) अपि नास्तिक एव पर्यवसाने संपद्यते इति ज्ञेयम्। अत्र प्रमाणानि सांख्यप्रवचनभाष्योदाहृतानि पद्मपुराणवचनानि यथा–
मायावादमसच्छास्त्रं प्रच्छन्नं बौद्धमेव च।
मयैव कथितं देवि कलौ ब्राह्मणरूपिणा।।
अपार्थं श्रुतिवाक्यानां दर्शयल्लोकगर्हितम्।
कर्मस्वरूपत्याज्यत्वमत्र च प्रतिपाद्यते।।
सर्वकर्मपरिभ्रंशान्नैष्कर्म्यं तत्र चोच्यते।
परमात्मजीवयोरैक्यं मयात्र प्रतिपाद्यते।। –सांख्य प्रवचन भाष्य, 1, 1; न्याय कोश, पृ. 372.

इनका निर्माण भगवान् ने किया है, किन्तु जैन परम्परा इस बात को नहीं मानती। जैन परम्परा प्रत्येक शास्त्र को पुरुषकृत मानती है और वह वेदों को सर्वथा प्रामाणिक रूप से स्वीकार नहीं करती है। वेदों के नाम से की जाने वाली पशु-हिंसा तथा ईश्वर-कर्तृत्व आदि असंगत मान्यताओं पर जैनदर्शन का किंचित् विश्वास नहीं है। जैनदर्शन धर्म के नाम पर की जाने वाली निरपराध मूक प्राणियों की हिंसा का कभी भी समर्थन नहीं करता, प्रत्युत दृढ़ता के साथ उसका विरोध करता है। यह वैदिक दार्शनिकों को असह्य था, इसलिए उन्होंने जैनों को नास्तिक प्रमाणित करने के लिए आस्तिक-नास्तिक शब्दों की व्याकरण-सम्मत परिभाषा को आमूलचूल बदल करके रख दिया है। तब वेदों को जो अपौरुषेय मानता है, उसे पूर्णरूप से प्रामाणिक स्वीकार करता है, वह आस्तिक होता है और जो वेदों पर आस्था नहीं रखता, उन्हें प्रामाणिक रूप से स्वीकार नहीं करता, वह नास्तिक कहलाता है। इस प्रकार की संकीर्ण परिभाषा चालू की गई।

वैदिक परम्परा में पलने वाले कई दर्शन वेद एवं ईश्वर के अस्तित्व को नहीं मानते हैं। सांख्यदर्शन ब्रह्म को नहीं मानता है और न अद्वैतवाद अर्थात् एकेश्वरवाद को ही मानता है। नैयायिक-वैशेषिक भी द्वैतवाद के समर्थक हैं, उन्हें भी वेदान्त का एकेश्वरवाद स्वीकार नहीं है, और शैव दर्शन अद्वैतवाद को तो मानता है, परन्तु वेद को प्रमाण नहीं मानता है। इतने पर भी उक्त दर्शनों को आस्तिक दर्शन माना गया है। इससे स्पष्ट परिलक्षित होता है कि उनका जैनदर्शन पर ही द्वेष था। इसलिए "वेद को प्रामाणिक न मानने वाला नास्तिक है" इस परिभाषा का प्रयोग जैन और बौद्ध दर्शन के लिए ही किया गया। यही कारण है कि वेद को प्रमाण रूप से नहीं मानने वाले, एकेश्वरवाद एवं याज्ञिक हिंसा को नहीं स्वीकार करने वाले जैनेतर (वैदिक) दर्शनों को नास्तिक नहीं कहा गया। यह तत्कालीन विचारकों के साम्प्रदायिक अभिनिवेश का ज्वलन्त प्रमाण है। इससे यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि उनका मानस संकीर्णता से आवृत था।

जैनदर्शन को वेद एवं वैदिक परम्परा से द्वेष नहीं है। वैदिक परम्परा के–**"अहिंसा परमो धर्मः"** एवं **"मां हिंस्यात् सर्वानि भूतानि"** आदि अहिंसा के समर्थक वाक्यों को जैन सम्मान के साथ स्वीकार करते हैं। केवल स्वीकार ही नहीं करते, बल्कि उनका परिपालन भी करते हैं। उनके मन में यह द्वेष नहीं है कि अमुक वाक्य वेद का है, इसलिए उसे स्वीकार नहीं किया जाए। आचार्य हरिभद्र सूरि ने स्पष्ट शब्दों में कहा है कि न तो मुझे महावीर से मोह है और न कपिल आदि वैदिक ऋषियों से मेरा द्वेष है। मैं तो युक्ति-संगत, सत्य एवं निर्दोष

वचनों को स्वीकार करता हूं। सत्य एवं अहिंसा से ओत-प्रोत वाक्य चाहे जैनागमों के हों या वेदों के हों या किसी अन्य परम्परा के भी क्यों न हों, मुझे स्वीकार हैं। इतनी बड़ी बात जैनों के सिवाय अन्य किसी भी दार्शनिक ने नहीं कही।

हम स्याद्वाद प्रकरण में स्पष्ट कर चुके हैं कि जैनदर्शन का ध्येय समन्वय का रहा है। उसने सदा अनेकान्तवाद का समर्थन किया है। उसे एकान्तवाद कतई स्वीकार नहीं है। वह वैदिक परम्परा के एक आत्मवाद, नित्यवाद को भी आंशिक रूप से सत्य मानता है और बौद्ध परम्परा के द्वारा मान्य क्षणिकवाद में भी आंशिक सत्यता को देखता है। उसकी दृष्टि में कोई भी दर्शन सर्वथा असत्य नहीं है, यदि वह एकान्तवाद का आग्रह न रखता हो। इससे स्पष्ट हो जाता है कि जैनदर्शन का व्यक्तिगत किसी भी परम्परा से द्वेष नहीं है। वह किसी व्यक्ति या विचारक का तिरस्कार नहीं करता है। हां, एकान्तता एवं हिंसामूलक प्रवृत्ति को स्वीकार नहीं करता, चाहे वह किसी भी परम्परा की क्यों न हो। यदि कोई जैन भी मोह के उदय से धर्म के नाम पर हिंसामूलक प्रवृत्ति को प्रश्रय देता है, तो जैनदर्शन की दृष्टि से वह भी असत्य है। जैनदर्शन व्यक्ति एवं सम्प्रदाय की दृष्टि से सत्यता-असत्यता को नहीं मानता, उसकी मान्यता सिद्धान्त के आधार एवं सत्य और अहिंसा की नींव पर स्थित है।

वेदों में जो अच्छाई है, उसे जैनदर्शन मानता है। परन्तु, जो असत्यता है उसे वह नहीं मानता। जैसे-जैनदर्शन 'वेदों को अपौरुषेय नहीं मानता, याज्ञिक हिंसा या वैदिक हिंसा, हिंसा नहीं होती के सिद्धान्त' को नहीं मानता। वह इस बात को भी सत्य नहीं मानता कि ईश्वर जगत्कर्त्ता है, भाग्य-विधाता है, कर्मफल-प्रदाता है। वह आत्मा के स्वतन्त्र अस्तित्व को स्वीकार करता है। आत्मा स्वयं ही कर्म करता है, वही कृत-कर्म का फल भोगता है और वही कर्म-बन्धन को तोड़कर मुक्त बनता है। स्वर्ग या नरक में जाने का अच्छा या बुरा पुरुषार्थ वही करता है। ईश्वर किसी के कार्य में दखल नहीं देता। वह न किसी को स्वर्ग भेजता है और न किसी को नरक के गड्ढे में ही गिराता है। यदि वस्तुतः देखा जाए तो वेदों को अपौरुषेय कहना, याज्ञिक हिंसा, ईश्वर-कर्तृत्व आदि बातें युक्ति एवं बुद्धि संगत भी नहीं हैं। इसी कारण जैनदर्शन वेदों को प्रामाणिक नहीं मानता।

यह स्पष्ट है कि मनुष्य जब साम्प्रदायिकता के रंग में रंग जाता है, तो धर्म फीका पड़ जाता है। या यों कहना चाहिए कि साम्प्रदायिकता की कालिमा में धर्म की उज्ज्वलता दब-सी जाती है। साम्प्रदायिक मान्यताएं ही धर्म का बाना पहनकर सामने आने लगती हैं और इसी

कारण मानव 'सत्य सो मेरा' के वास्तविक आदर्श को भुलाकर 'मेरा सो सत्य' के नारे को अपने जीवन का लक्ष्य बना लेता है। अपनी मान्यता को सत्य सिद्ध करने के लिए वह समस्त दर्शन के सिद्धान्तों एवं विचारों का खण्डन करता है और परिणामस्वरूप देश में कटुता, द्वेष एवं वैमनस्य की अभिवृद्धि होने लगती है। आज साम्प्रदायिक मतभेद इतना उग्र, कटु एवं विषाक्त हो गया है कि इसके कारण राष्ट्रीय ताकत छिन्न-भिन्न हो गई है। हिन्दू मुसलमानों को म्लेच्छ कहकर उनसे घृणा एवं नफरत करते हैं, तो मुसलमान हिन्दुओं को काफिर बताकर जिहाद का नारा बुलन्द करते हैं। वैदिक परम्परा में पले व्यक्ति जैनों को नास्तिक कहने में संकोच नहीं करते। और वीतरागता के उज्ज्वल, समुज्ज्वल, महोज्ज्वल ध्वज को लहराने का दावा करने वाले जैन अपने से इतर सम्प्रदाय वालों को मिथ्यात्वी, ढोंगी, पाखण्डी कहने से नहीं चूकते, आज वे भी राग-द्वेष के महापंक में फंसे हुए हैं। धर्म के नाम पर प्रज्वलित राग-द्वेष एवं साम्प्रदायिक वैमनस्य की आग ने मानव जीवन को स्वाहा कर दिया है। धर्म और सभ्यता की कितनी बड़ी विडम्बना है यह।

मनुस्मृति में लिखा है–"**वेदनिन्दको नास्तिकः।**" अर्थात् वेदों को नहीं मानने वाला नास्तिक है। इस बात को हम स्पष्ट कर चुके हैं कि इस कथन में जरा भी सत्यता नहीं है। ये परिभाषाएं सत्य पर आधारित नहीं हैं, बल्कि साम्प्रदायिक अभिनिवेश की परिसूचक हैं। दो सम्प्रदायों में भेद एवं संघर्ष पैदा करने वाली हैं। यदि इस परिभाषा को सत्य मान लिया जाए, तो फिर जैन भी आस्तिक-नास्तिक के लिए इस प्रकार की परिभाषा बना सकते हैं–"**नास्तिको जैनागम-निन्दकः।**" इसी तरह बौद्ध अपनी परम्परा एवं साम्प्रदायिक मान्यता के अनुसार परिभाषा रच लेंगे और अन्य सम्प्रदाय वाले अपनी-अपनी ढपली और अपना-अपना राग बजाने लगेंगे। परिणाम यह आएगा कि कोई भी दर्शन आस्तिक दर्शन नहीं रह जाएगा।

वैदिक दर्शनों में भी एकरूपता नहीं है। वेदान्ती वेद को अपौरुषेय मानते हैं, एक आत्मवाद एवं अद्वैतवाद को मानते हैं और सांख्यदर्शन वेद को पौरुषेय और अनेक आत्मा तथा द्वैतवाद को मानता है। सनातनी मूर्तिपूजा, ईश्वर के अवतरित होने, श्राद्ध एवं याज्ञिक हिंसा को वेदविहित मानते हैं, किन्तु आर्यसमाजी इसके विपरीत विश्वास रखते हैं, अर्थात् वे इन्हें वेदविहित नहीं मानते हैं और ये सभी वैदिक दर्शन हैं। ऐसी स्थिति में एक-दूसरे की दृष्टि से एक-दूसरा नास्तिक हो जाएगा। सांख्य की दृष्टि में वेदान्ती नास्तिक हैं, तो वेदान्त की दृष्टि में सांख्य। सनातन धर्म की दृष्टि में आर्यसमाजी नास्तिक हैं, तो आर्यसमाज की दृष्टि में

सनातनी नास्तिक हैं। इसी तरह अन्य सम्प्रदायों के सम्बन्ध में भी कल्पना की जा सकती है। अस्तु मनुस्मृति द्वारा की गई यह परिभाषा–"**वेदनिन्दको नास्तिकः**" सर्वथा असत्य एवं अयथार्थ है। दु:ख इस बात का है कि आज के बौद्धिकवादी युग में कई विद्वान इस परिभाषा का प्रयोग करते हुए गर्व का अनुभव करते हैं। परन्तु, यह दृष्टि किसी भी तरह से उचित एवं आदरास्पद नहीं कही जा सकती।

अन्त में निष्कर्ष यह निकला कि आस्तिक-नास्तिक की मूल परिभाषा व्याकरणसम्मत है। मनुस्मृति आदि की अन्य परिभाषाएं साम्प्रदायिक युग की देन हैं और इस परिवर्तन का या नई परिभाषाएं घड़ने का मूल कारण साम्प्रदायिक विद्वेष रहा है।

❑ ❑ ❑

षष्ठम अध्याय

ईश्वर-मीमांसा

प्रश्न—ईश्वर के सम्बन्ध में दार्शनिकों की क्या मान्यता है और जैन दर्शन इसके सम्बन्ध में क्या मान्यता रखता है?

उत्तर—भारतीय चिन्तनधारा दो प्रवाहों में बही है—कुछ विचारक ईश्वर के अस्तित्व को नहीं मानते और कुछ मानते हैं। पहली विचारधारा चार्वाक आदि नास्तिक विचारकों की है, जो आत्मा के स्वतन्त्र अस्तित्व एवं परलोक आदि की सत्ता से इन्कार करते हैं। दूसरी विचारधारा आस्तिक परम्परा की है। आस्तिक विचारक मुख्य रूप से तीन विभागों में विभक्त हैं—1. वैदिक दर्शन, 2. जैन दर्शन और 3. बौद्ध दर्शन।

वैदिक परम्परा में अनेक शाखा-प्रशाखाएं हैं और उनमें थोड़ा-बहुत विचारभेद भी है। परन्तु, ईश्वर के सम्बन्ध में प्राय: सभी वैदिक दार्शनिकों एवं विचारकों का यह अभिमत रहा है कि ईश्वर एक है, सच्चिदानन्द है, घट-घट का ज्ञाता है, सर्वशक्तिमान है, संसार का निर्माता है, जीवों को भले-बुरे कर्मों का फल प्रदाता है, जगत का कर्त्ता एवं हर्त्ता—विनाशक है। दुष्ट एवं पापियों का नाश करने तथा भक्तों एवं धर्मात्माओं का उद्धार करने के लिए वह समय-समय पर अवतरित होता है, भगवान् से पुन: इन्सान के रूप में जन्म लेता है और अपनी लीला दिखाकर फिर से बैकुण्ठ-धाम में जा विराजता है। वह सदा स्मरणीय है, नमस्करणीय है।

आजकल आर्य समाज के विचारक उक्त मान्यता से पूर्णत: सहमत नहीं हैं। वे भी ईश्वर को एक, सच्चिदानन्द एवं जगत का कर्त्ता-हर्त्ता तथा पुण्य-पाप का फल-प्रदाता मानते हैं। परन्तु, वे अवतार धारण करने की बात को स्वीकार नहीं करते हैं। उनकी मान्यता है कि किसी पापी या दुष्ट का विनाश करने हेतु ईश्वर संसार में नहीं आता है। वह सदा स्मरणीय है।

जैनागमों में ईश्वर शब्द का प्रयोग नहीं मिलता है। उसमें परमात्मा, सिद्ध, बुद्ध आदि शब्दों का प्रयोग मिलता है और सिद्ध एक दो नहीं, दस-बीस नहीं, अनन्त हैं और अनन्तदर्शन, अनन्तज्ञान, अनन्तसुख और अनन्तशक्ति सम्पन्न हैं, सच्चिदानंद हैं, कर्म-फल से सर्वथा अलिप्त हैं, राग-द्वेष से रहित हैं, किसी भी जीव के कार्य में दखल नहीं देते। वे न जगत के रचयिता हैं और न विनाशक ही हैं; न किसी प्राणी को सुख देते हैं और न दु:ख ही देते हैं। न किसी भक्त को स्वर्ग में भेजते हैं ओर न किसी दुष्ट को नरक में। प्रत्येक जीव कर्म के करने एवं कृत कर्म के फल को भोगने में स्वतन्त्र है। स्वर्ग और नरक का निर्माण करने में तथा कर्मबन्धन की जंजीर को सर्वथा तोड़कर मुक्त होने में प्रत्येक प्राणी पूर्णत: स्वतन्त्र है। दुनिया की एक भी आत्मा किसी अदृश्य शक्ति के अधीन नहीं है और न वह कठपुतली की तरह किसी एक सूत्रधार या नट के इशारे पर नाचती ही है। प्रत्येक आत्मा अपने अच्छे या बुरे पुरुषार्थ से अपना रास्ता तय करती है और शुभाशुभ गतियों में परिभ्रमण करती है तथा अपनी ही सम्यक् साधना से कर्म-बन्धन को तोड़कर निर्वाण को भी प्राप्त कर लेती है।

बौद्धदर्शन भी ईश्वर को जगत्-कर्त्ता एवं पुण्य-पाप का फल-प्रदाता नहीं मानता है। बौद्धों ने मोक्ष को माना है, परन्तु उनकी मुक्ति एवं मुक्त अवस्था में स्थित आत्मा के स्वरूप का कोई स्पष्ट उल्लेख नहीं मिलता। उन्होंने आत्मा की शून्य अवस्था को मोक्ष माना है।

इससे भली-भांति स्पष्ट हो जाता है कि विभिन्न आस्तिक दर्शनों की तरह जैन भी ईश्वर को मानते हैं। अन्तर इतना ही है कि जैनागमों में ईश्वर शब्द के स्थान में सिद्ध, बुद्ध, अजर, अमर, मुक्त, परमात्मा आदि शब्दों का प्रयोग हुआ है और उसका कारण जैन एवं वैदिक सिद्धान्त की मूल मान्यता का अन्तर ही है। इस पर हम आगे वाले प्रश्न के उत्तर में विस्तार से विचार करेंगे।

प्रश्न--वैदिक परम्परा में जैनदर्शन को अनीश्वरवादी दर्शन कहा है। जब जैन परमात्मा को मानते हैं, तो फिर ऐसा क्यों कहा गया है?

उत्तर--ईश्वर शब्द वैदिक परम्परा का है। ईश्वर का अर्थ स्वामी होता है और वैदिक परम्परा में यह शब्द इसी अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। हम ऊपर देख चुके हैं कि वैदिक परम्परा में ईश्वर एक माना गया है और उसे जगन्नियन्ता, जगत्-कर्ता और सृष्टि का संचालक माना है अर्थात् वह स्वामी है और सारा संसार, सृष्टि के छोटे-बड़े सभी प्राणी उसके सेवक हैं। वह अपनी इच्छानुसार कुंभकार के चाक की तरह सबको इधर-उधर घुमाता-फिराता रहता है। कुछ वैदिक विचारकों की दृढ़ मान्यता है कि ईश्वर सदा ईश्वर ही बना रहता है और जीव

सदा जीव ही बना रहेगा। जीव ईश्वर के निकट पहुंच सकता है, परन्तु ईश्वर नहीं बन सकता। स्वामी और सेवक का भेद सदा बना ही रहेगा।

जैनदर्शन इस विचारधारा को नहीं मानता है। इसी दृष्टि से जैनागमों में ईश्वर शब्द का प्रयोग न करके सिद्ध, बुद्ध, अजर, अमर, मुक्त, परमात्मा आदि शब्दों का प्रयोग किया है और इन शब्दों से जैनदर्शन की सैद्धान्तिक मान्यता स्पष्ट हो जाती है। 'सिद्ध' शब्द का अर्थ है–जिसने अपना लक्ष्य सिद्ध कर लिया है, अब उसके लिए कुछ भी करना शेष नहीं रहा है। अर्थात् आत्मा के पूर्ण एवं शुद्ध स्वरूप को जिसने प्रकट कर लिया वह सिद्ध कहलाता है। सिद्धों में ज्ञान की पूर्णता होती है, उसकी आत्मा पर जरा भी आवरण नहीं रहता, उनकी आत्मा अनन्त ज्ञान से युक्त होती है, इसलिए उन्हें बुद्ध भी कहते हैं। इस अवस्था में जरा और मृत्यु का प्रवेश नहीं होता। क्योंकि जरा और मृत्यु शरीर के साथ ही लगी हुई है और सिद्ध अवस्था में शरीर का सर्वथा अभाव है, इसलिए वे अजर-अमर हैं। कर्मों से सर्वथा मुक्त होने के कारण मुक्त कहलाते हैं और सिद्ध अवस्था में आत्मा का परम स्वरूप है–शुद्ध स्वरूप है अर्थात् यों भी कह सकते हैं कि परमात्मा वैदिक दर्शन की तरह कोई अलौकिक एवं आत्मा से अलग शक्ति नहीं, बल्कि उन्होंने आत्मा से ही परमात्मा के स्वरूप को प्राप्त किया है, अपनी आत्मा पर लगे हुए कर्म-मल को सर्वथा दूर करके आत्मा की परम ज्योति को अनावृत कर लिया है; इसी अपेक्षा से उनकी आत्मा को परमात्मा कहते हैं।

इससे स्पष्ट हो गया कि जैनदर्शन स्वामी और सेवक की गुलामी की भावना को नहीं स्वीकार करता। वह आत्मा को किसी दैवी या ईश्वरीय शक्ति के अधीन, परतन्त्र नहीं, बल्कि पूर्ण स्वतन्त्र मानता है। प्रत्येक आत्मा अपने जीवन की स्वतन्त्र निर्माता है। आत्मा और परमात्मा में स्वामी और सेवक का भेद जैनों को स्वीकार नहीं है। जैन इस बात को नहीं मानते कि आत्मा या जीव सदा ईश्वर का सेवक-गुलाम ही बना रहेगा। ईश्वर के निकट पहुंचकर भी वह ईश्वर नहीं बन सकता, बल्कि सेवक ही रहता है और ईश्वर की इच्छा होते ही फिर से संसार में भटकने के लिए दुनिया की ओर धकेल दिया जाता है। जैनों का दृढ़ विश्वास है कि प्रत्येक आत्मा परमात्मा-स्वरूप है। आत्मा और परमात्मा के आत्म-स्वरूप में कोई अन्तर नहीं है। अन्तर सिर्फ इतना ही है कि उन्होंने आत्मा पर लगे हुए कर्म आवरण को अनावृत कर दिया है और हम अभी उससे आवृत हैं। परन्तु यह भी सत्य है कि जितनी भी आत्माएं परमात्मा बनी हैं, वे स्वयं अपने पुरुषार्थ से निरावरण होकर ही बनी हैं और आज भी आत्मा सम्यक् पुरुषार्थ करके परमात्मा बन सकता है। इस तरह आत्मा स्वतन्त्र है, सिद्ध

अवस्था में स्थित अनन्त आत्माएं भी स्वतन्त्र हैं। वहां सब आत्माओं में अनन्तदर्शन, अनन्तज्ञान, अनन्तसुख एवं अनन्तशक्ति समान रूप से है। समस्त सिद्ध शुद्ध आत्म-ज्योति में रमण करते रहते हैं। वहां ऐसा नहीं है कि एक स्वामी और अन्य सब दास हों और वह स्वामी जब चाहे तब उन्हें धक्का देकर बांहर निकाल दे। सब आत्माएं वहां समान रूप हैं और सदा के लिए शुद्ध आत्म-स्वरूप में स्थित हैं।

भगवान् महावीर स्वामी-सेवक की जघन्य एवं सांसारिक मनोवृत्ति के समर्थक नहीं थे। इसलिए उन्होंने ईश्वरवाद को जरा भी प्रश्रय नहीं दिया। इस अपेक्षा से भले ही कोई जैनों को अनीश्वरवादी कह दे, इसमें हमें कोई आपत्ति नहीं है और वैदिक विचारकों ने जैनों को अनीश्वरवादी इसी अपेक्षा से कहा है। क्योंकि जैन ईश्वर को जगत्-कर्ता नहीं मानते, सर्वव्यापक नहीं मानते, कर्म का फल-प्रदाता नहीं मानते, इत्यादि। हम स्वयं इस बात को मानते हैं कि जैनदर्शन अनीश्वरवादी है। क्योंकि वह वैदिक परम्परा एवं शाब्दिक अर्थ के अनुसार आत्मा एवं संसार पर ईश्वर के स्वामित्व को नहीं स्वीकार करता और यह सत्य भी है। इसकी सच्चाई पर हम आगे विचार करेंगे। यहां तो हम इतना ही बताना चाहते हैं कि जैनदर्शन परमात्मा को अवश्य मानता है और वह भी एक नहीं अनन्त परमात्मा को मानता है और साथ में इस बात पर भी जैनों का दृढ़ विश्वास है कि आत्मा से ही परमात्मा बने हैं, बनते हैं, और भविष्य में भी बनेंगे। अत: हम कह सकते हैं कि जैनदर्शन ने ईश्वर शब्द का भले ही प्रयोग न किया हो, परन्तु उसके शुद्ध एवं निरावरण स्वरूप को जैनों ने ही स्वीकार किया है, अन्य दार्शनिक एवं विचारक वहां तक नहीं पहुंच पाए हैं।

प्रश्न–क्या ईश्वर को जगत्-कर्ता मानना चाहिए।

उत्तर–नहीं, कदापि नहीं। क्योंकि परमात्मा सर्व कर्मों से एवं कर्मजन्य उपाधियों से रहित है। उसमें राग-द्वेष, मोह-तृष्णा आदि दोषों का सर्वथा अभाव है। ऐसी स्थिति में उसे जगत का निर्माता माना जाए तो उसमें कई दोष मानने पड़ेंगे?

पहला प्रश्न यह होगा कि जब वह शरीर एवं कर्म जन्य उपाधि रहित है, तब वह जगत का निर्माण किससे और कैसे करता है? हम देखते हैं कि कुंभकार अपने हाथों के द्वारा विभिन्न आकार-प्रकार के बर्तन बनाता है। यदि ईश्वर भी कुंभकार की तरह विभिन्न आकृतियों एवं प्रकृतियों के जीवधारी एवं निर्जीव पदार्थों का निर्माण करता है, तो फिर मानना होगा कि वह भी कुंभकार की तरह सावयव है। क्योंकि बिना अवयव के अवयव-युक्त पदार्थों का निर्माण हो नहीं सकता। हम प्रत्यक्ष में देखते हैं कि बिना हाथ-पैर हिलाए केवल

इच्छा करने मात्र से ही कोई वस्तु तैयार नहीं हो जाती है। प्रत्येक वस्तु के निर्माण के लिए इच्छा-आकांक्षा के साथ तदनुरूप श्रम भी करना पड़ता है और श्रम के लिए शरीर का होना अनिवार्य है। इस तरह ईश्वर को भी सावयव मानना होगा। फिर उपनिषद् एवं अन्य ग्रन्थों की यह मान्यता असत्य ठहरेगी कि परमात्मा न श्वेत है, न पीत है, न रक्त है, न कृष्ण है, न नील है, न भारी है, न हल्का है, न मोटा है, न पतला है, उसका कोई आकार नहीं है।

ईश्वर को संसार का, जगत का रचयिता मानने से यह भी प्रश्न उपस्थित होगा कि ईश्वर ने संसार का निर्माण क्यों किया? यदि यह कहा जाए कि ईश्वर ने दया, करुणा से प्रेरित होकर संसार को बनाया तो यह भी युक्ति-संगत प्रतीत नहीं होता। क्योंकि दया-करुणा किसी दु:खी एवं संतप्त प्राणी पर की जाती है। परन्तु संसार का निर्माण करने के पूर्व तो दुनिया में कुछ था ही नहीं। न कोई सुखी प्राणी था और न दु:खी ही था। ऐसी स्थिति में किसी पर करुणा एवं अनुग्रह करने का प्रश्न ही पैदा नहीं होता, जिससे प्ररित होकर ईश्वर को संसार बनाने के कार्य में प्रवृत्त होना पड़ा।

कुछ विचारकों का कहना है कि ईश्वर अकेला था, उसका मन उदास हो गया। अत: अपने मन को लगाने के लिए उसने यह इच्छा की कि 'मैं अकेला हूं, बहुत हो जाऊं'[1] और यह अभिलाषा करते ही एक विराट् संसार खड़ा हो गया। कितनी विचित्र मान्यता है। एक ओर तो यह कहा है कि ईश्वर में इच्छा, अभिलाषा, कामना, वासना आदि विकार नहीं हैं, वह समस्त दोषों से रहित है और दूसरी तरफ यह कहना कि उसने सृष्टि के होने की कामना की और वह कामना तुरन्त साकार रूप में परिणत हो गयी। इस तरह वैदिक परम्परा द्वारा मान्य सिद्धान्त से भी यह मान्यता गलत ठहरती है और अनुभव एवं सत्य की दृष्टि से तो यह मान्यता गलत है।

सर्वप्रथम तो यह कहना ही नितान्त असत्य है कि ईश्वर ने अपने मन या दिल बहलाने के लिए संसार को बनाया है। क्योंकि यह हम पहले देख चुके हैं कि ईश्वर के कर्म या कर्मजन्य उपाधि- शरीर, मन एवं वासना आदि नहीं होते। ऐसी स्थिति में मन लगाने का सवाल ही पैदा नहीं होता।

यदि एक क्षण के लिए इस तर्क को मान भी लें, तो यह कहना होगा कि ईश्वर राग-द्वेष आदि दोषों से सर्वथा रहित नहीं, प्रत्युत राग-रंग में आसक्त प्राणी है। तभी तो उसने

1. एकोऽहम्, बहुस्याम्।

विषय-वासना की कालिमा से धूमिल एवं कषायों की आग से संतप्त विश्व का निर्माण करके अपनी आकांक्षा को पूरा किया। इससे स्पष्ट प्रतीत होता है कि ईश्वर एक ऐसा तमाशाबीन है कि जो अपने मन को बहलाने के लिए दो सांडों को परस्पर लड़ाता है और एक दूसरे को खून से लथपथ हुआ देखकर प्रसन्न होता है। क्या ऐसे व्यक्ति को ईश्वर कहा जा सकता है? कदापि नहीं।

प्रश्न—संसार में जितने भी पदार्थ दिखाई देते हैं, वे किसी न किसी व्यक्ति द्वारा निर्मित होते हैं। इस प्रकार यह संसार भी किसी की रचना है और यह रचना करने वाला कौन है?

उत्तर—यह हम पहले बता चुके हैं कि संसार में मूल द्रव्य दो हैं—1. जीव और 2. अजीव। अत: दुनिया में परिलक्षित होने वाले सभी जड़ या चेतन पदार्थ इन दो द्रव्यों पर ही आधारित हैं और वे अनादि काल से चले आ रहे हैं। जड़ अर्थात् पुद्गल का शुद्ध रूप परमाणु है और परमाणु का न कभी निर्माण हुआ है और न कभी नाश ही होता है। वह अनादि काल से अपने रूप में स्थित है और अनन्त-अनन्त काल तक बना रहेगा। उसकी न आदि है और न अन्त ही है। इतना होने पर भी उसकी पर्यायों में परिवर्तन होता है। जैसे तख्त को लीजिए। अनन्त-अनन्त परमाणुओं के संयोग से यह स्कन्ध बना है। प्रति समय इसमें परिवर्तन होता रहता है। कुछ पुराने परमाणु इसमें से अलग होते हैं और नए परमाणु मिलते रहते हैं। इसी तरह परमाणुओं के संघटन एवं विघटन से या संघटन-विघटन उभय रूप कार्य से स्कन्धों में परिवर्तन आता रहता है। हम देखते हैं कि ऑक्सीजन और हाइड्रोजन दोनों गैसों में स्थित परमाणु अपने रूप में स्थित हैं। परन्तु दोनों गैसों का मिश्रण करते ही, उभय गैस रूप स्कन्ध का नाश होकर जल रूप अभिनव स्कन्ध का निर्माण हो जाता है। तो यह परमाणु के संघटन-विघटन का परिणाम है, न कि किसी ईश्वर का काम है। वहां कोई ईश्वर गैसों को पानी के रूप में बदलने के लिए नहीं आता। इसी तरह हवा, आंधी एवं नदी आदि के प्रवाह से पहाड़ों की चट्टानों के पत्थर टूट-टूट कर पानी के साथ बह जाते हैं, इससे दुर्गम पहाड़ों में भी दर्रे बन जाते हैं और लोगों को आवागमन का मार्ग मिल जाता है। इस तरह स्कन्धों के संघटन-विघटन की प्रक्रिया से हम यह देखते हैं कि एक दिन जहां रेती के टिब्बे थे, वहां मैदान एवं नदी तथा समुद्र नजर आता है और जहां कभी सागर लहर-लहर कर लहरा रहा था, वहां रेत के पहाड़ खड़े हैं। इसी तरह कहीं पहाड़ों के स्थान में समतल मैदान बन गए हैं और कहीं समतल मैदान पर्वतमाला के रूप में बदल गए हैं। भले ही इस प्रक्रिया को लाखों, करोड़ों, अरबों वर्ष ही नहीं, इससे भी अधिक समय क्यों न लगा हो, परन्तु ये समस्त रेगिस्तान,

मैदान, पत्थर-पहाड़ आदि के रूप में परिलक्षित होने वाले पुद्गल स्कन्धों के संघटन-विघटन का ही प्रतिफल है। परमाणुओं के मिलन एवं बिछुड़न से ही इन सबकी पर्यायों में परिवर्तन आता है। या यों कहिए एक रूप का नाश होकर दूसरे रूप का निर्माण होता है। और उसका नाश एवं निर्माण परमाणुओं के मिलने या मिलाने एवं अलग करने या अलग कराने पर ही आधारित है। इस परिवर्तन में किसी ईश्वर की शक्ति का हाथ नहीं है। यह बात वैज्ञानिक प्रयोगशालाओं में भी प्रमाणित हो चुकी है। अत: हमें प्रत्यक्ष में परिलक्षित होने वाले सत्य को छोड़कर किसी असत्य कल्पना के चक्कर में नहीं पड़ना चाहिए।

हम यह देख चुके हैं कि परमाणु का अस्तित्व सदा विद्यमान रहा है, रहता है और रहेगा। इसी तरह आत्मा का भी कोई निर्माता नहीं है। वह भी पुद्गल की तरह द्रव्य की अपेक्षा से नित्य है और पर्याय की अपेक्षा से अनित्य है, परिवर्तनशील है। हम तत्त्वमीमांसा प्रकरण में बता आए हैं कि आत्मा का उपयोग–ज्ञान-दर्शन गुण है। यों भी कह सकते हैं कि ज्ञान-दर्शन आत्मा की पर्यायें हैं और संसारी आत्मा कर्म-बन्धन से युक्त होने के कारण शरीरधारी है और एक गति से दूसरी गति में जाता है और उसका ज्ञान-दर्शन एवं शरीर सदा बदलता रहता है और गति की अपेक्षा भी शरीर एवं ज्ञानादि पर्यायों में अन्तर आता रहता है। इस अपेक्षा से आत्मा को कथंचित् अनित्य भी कहा है। उसके एक रूप का नाश एवं दूसरे रूप का उत्पाद होता है। जैसे बाल्य रूप का नाश एवं युवावय का उत्पाद होता है तथा इसी तरह आयु कर्म के समाप्त होने पर मनुष्य शरीर का नाश एवं जिस योनि का आयुष्य बन्ध कर चुका है, उस योनि को प्राप्त करता है। इस तरह आत्मा में एक रूप का नाश और दूसरे रूप का उत्पाद पाया जाता है। इसी कारण जैनदर्शन आत्मा को कथंचित् अनित्य स्वीकार करता है। आत्मा कथंचित् अनित्य है, इस वाक्य में प्रयुक्त कथंचित् शब्द आत्मा की नित्यता से युक्त है। नर, तिर्यंच आदि किसी भी अवस्था को प्राप्त आत्मा सदा आत्मा ही रहता है, अपने मूल स्वरूप को नहीं छोड़ता, वह अनात्मा या जड़ नहीं बन जाता है।

ऊपर के विवेचन से हम यह प्रकट करना चाहते हैं कि संसार में जीव और अजीव ये दो द्रव्य अनादि हैं। सदा से चले आ रहे हैं। इनको किसी ने बनाया नहीं है। स्वयं वैदिक परम्परा ईश्वर, जीव, प्रकृति इनको अनादि स्वीकार करती है। अत: यह कहना कि संसार में जितने भी पदार्थ हैं वे सब किसी के द्वारा बनाए गए हैं, ठीक नहीं है। इसीलिए जैनदर्शन कहता है कि यह जगत अनादि है, भूतकाल में था, वर्तमान में है, और भविष्य में रहेगा। इसका कभी बीज-नाश नहीं होगा। अवस्थान्तरित होता हुआ भी यह सदा से विद्यमान है, और सदा रहेगा।

संसार अनादि है, यह किसी की रचना नहीं है, यह मान्यता है जैन दर्शन की। वस्तुस्थिति भी यही है। यदि यह मान लिया जाए, कि संसार को ईश्वर ने बनाया है तो प्रश्न उपस्थित होता है–ईश्वर को किसने बनाया? जिसने ईश्वर की रचना की है, उसकी रचना किसने की है? कहा जाता है कि ईश्वर तो अनादि है, उसे कौन बना सकता है! इस पर हम कह सकते हैं–संसार अनादि है, इसे कौन बना सकता है? कुछ क्षणों के लिए मान लिया जाए कि ईश्वर ने संसार को बनाया है, तो हम पूछते हैं कि ईश्वर ने संसार को किस तत्त्व से बनाया? कुंभकार जैसे माटी से घट बनाता है, वैसे संसार रूप घट को बनाने के लिए किस माटी का प्रयोग किया और वह माटी कहां से आयी? इसके अलावा, ईश्वर के बनाए प्राणियों में भिन्नता क्यों मिलती है? सभी एक जैसे होने चाहिएं थे। कोई लूला, कोई लंगड़ा, कोई अन्धा, कोई काना, कोई राजा, कोई रंक, कोई विद्वान और कोई मूर्ख, ऐसा क्यों है? समभावी ईश्वर की रचना में यह विविधता और विषमता क्यों है? कहा जाता है कि इस विविधता और विषमता का कारण ईश्वर नहीं है, जीवों के अपने शुभाशुभ कर्म हैं। ऐसा कहना तर्क-संगत प्रतीत नहीं होता। क्योंकि जगत्-निर्माण से पूर्व कर्म करने वाला था कौन? कर्ता के बिना तो कर्म की सृष्टि हो ही नहीं सकती? यदि कहा जाए कि बाद में कर्मगत विविधता हो गई तो हम कहते हैं कि ईश्वर ने ऐसे व्यक्तियों की रचना क्यों की, जो कुकर्म करें। पहले सोच-समझकर उनको बनाना चाहिए था। इस तरह के अन्य भी अनेकों प्रश्न हैं, जिनका कोई समाधान नहीं मिलता है। अत: यही समझना चाहिए कि ईश्वर ने संसार को नहीं बनाया है। जो पदार्थ बनाए जाते हैं उनका निर्माता प्रत्यक्ष रूप से देखा जाता है, सुना जाता है, और समझा जा सकता है, पर संसार का रचयिता न देखा गया है, न सुना गया है और न ही वह किसी हेतु से सिद्ध किया जा सकता है।

प्रश्न–कहा जाता है कि ईश्वर की इच्छा के बिना कुछ नहीं होता। संसार का प्रत्येक कार्य ईश्वर की प्रेरणा से होता है। क्या ऐसा कहना सत्य है?

उत्तर–बिल्कुल नहीं। संसार के किसी कार्य में ईश्वर का कोई हस्तक्षेप नहीं है। ईश्वर संसार के कार्यों में किसी भी प्रकार का कोई दखल नहीं देता। यदि संसार के सभी कार्य ईश्वर की प्रेरणा से होते मान लिए जाएं तो प्रश्न उपस्थित होता है कि कसाई जीवों का घात करते हैं, चोर चोरी करते हैं, डाकू डाके डालते हैं, गांठ-कतरे गांठें काटते हैं, व्यभिचारी पतिव्रता और सन्नारियों का शील-भंग करते हैं, क्या ईश्वर इन कार्यों की प्रेरणा करता है? यदि नहीं तो यही मानना होगा कि संसार के किसी कार्य में ईश्वर का कोई दखल नहीं है।

ईश्वर किसी को कोई प्रेरणा नहीं देता। जीव स्वयं ही अच्छे या बुरे कार्यों में प्रवृत्त होते हैं, ईश्वर का उनसे कोई सम्बन्ध नहीं है।

प्रश्न–क्या ईश्वर को जीव और जगत के भाग्य का विधाता मानना चाहिए?

उत्तर–कभी नहीं। यदि ईश्वर को भाग्य का रचयिता मान लिया जाए तो सर्वज्ञ, सर्वदर्शी उस ईश्वर की भाग्य-रचना में कोई दोष नहीं होना चाहिए और यदि दोष रह जाए तो तत्क्षण उसका उसे सुधार कर देना चाहिए। पर ऐसा होता नहीं है। साधारण कारीगर किसी यन्त्र का निर्माण करता है, और उसमें यदि वह कोई दोष देखता है तो वह उसका पुन: संशोधन करके उसके दोष को निकालने का प्रयत्न करता है। स्विटजरलैंड के एक घड़ी निर्माता के पास एक ग्राहक आया और उसने कहा कि आपके यहां से खरीदी हुई यह घड़ी सप्ताह में एक मिनट पीछे चलती है। घड़ी निर्माता ने घड़ी को लिया और तुरन्त एक हथौड़ा मारकर तोड़ दिया, ग्राहक को दूसरी नई घड़ी देकर रवाना किया और वह स्वयं उस घड़ी के दोष को दूर करने के लिए नई घड़ी बनाने में संलग्न हो गया। यह आज के वैज्ञानिक की कार्य पद्धति है, जो सर्वज्ञ नहीं है और जिसकी शक्ति भी सीमित है। जब ईश्वर सर्वज्ञ एवं सर्वशक्ति-सम्पन्न है, तो उसके आविष्कार में पहले तो दोष रहना ही नहीं चाहिए। यदि रह गया तो उसे सुधार लेना चाहिए। इतनी भूल तो वर्षा के समय गीली मिट्टी से घरों के बनाने वाले अबोध बालक भी नहीं करते। यदि उनका रेत का घरौंदा टेढ़ा-मेढ़ा या विकृत प्रतीत होता है, तो वे तुरन्त उसे बिखेर कर नव-निर्माण में लग जाते हैं। परन्तु, जगत का भाग्य अभी तक उसी प्रकार चल रहा है, उसमें कोई संशोधन नहीं हो पाया। इससे स्पष्ट है कि जगत एवं व्यक्तियों के भाग्य को ईश्वर द्वारा निर्मित मानना, उसको अज्ञानी एवं सदोष व्यक्त करना है।

दूसरे, यदि भाग्य का विधाता ईश्वर है, तो फिर किसी भी व्यक्ति का कोई दोष एवं अपराध नहीं माना जाएगा। क्योंकि वे जो कुछ बुरा-भला करते हैं, वह भाग्य के अनुसार करते हैं और उस भाग्य का विधाता ईश्वर है। अत: जैसा ईश्वर उनसे कराता है, वैसा ही वे कर देते हैं। इसलिए कोई व्यक्ति चोरी करता है, कोई ब्लैक-मार्केट करता है, कोई व्यभिचार करता है, कोई छल-कपट करके अपना स्वार्थ साधता है, इस तरह अनेक पाप एवं दोषयुक्त कार्य कराने वाला ईश्वर है। इससे जीवन में एक तरह से अव्यवस्था एवं उच्छृंखलता आ जाएगी। दुराचारी व्यक्ति नि:शंक भाव से दुष्कार्यों में प्रवृत्त होंगे और उस उद्दण्डता के लिए ईश्वर के नाम की भी दुहाई देंगे। इस तथ्य को एक उदाहरण से समझिए –

कल्पना करो, एक पापी है, उससे किसी ने पूछा–भाई ! तू यह पाप कर रहा है, तुझे

परम पिता परमात्मा का कोई डर नहीं है? तू नहीं जानता कि परमात्मा के दरबार में तेरी जब जांच-पड़ताल होगी और जांच-पड़ताल में जब तेरा पाप सामने आएगा तो परमात्मा तुझ पर रुष्ट होगा, और तुझे दण्डित करेगा। पता नहीं, तुझे वह नरक में भेज दे, या कुत्तों की योनि में डाल दे। अत: कुछ विचार कर और इस पाप कर्म का परित्याग कर।

यह सुनते ही पापी ने उत्तर दिया—भाई ! तू पागल है, तुझे कुछ पता नहीं है। मैं सब कुछ जानता हूं, इसीलिए निश्चिन्त होकर पाप कर रहा हूं। मुझे पता है कि मैं जो पाप कर रहा हूं, यह मेरी बुद्धि का परिणाम है। बुद्धि की प्राप्ति भाग्य से होती है। भाग्य अच्छा हो तो बुद्धि अच्छी मिल जाती है, और भाग्य खराब हो तो बुद्धि भी खराब मिल जाती है। भाग्य का निर्माता परम-पिता परमात्मा स्वयं है। परम-पिता परमात्मा सर्वज्ञ है, सर्वदर्शी है, घट-घट का ज्ञाता है। उसे पता है कि मैं इसके भाग्य का जो निर्माण कर रहा हूं, इससे इसे दुष्ट बुद्धि की प्राप्ति होगी। बुद्धि की दुष्टता से यह पाप करेगा, लोगों को दु:ख देगा। यह सब कुछ जानते हुए भी परम-पिता परमात्मा ने मेरा ऐसा भाग्य बनाया। अत: भाई साहब ! पाप करने में मुझे कोई दोष नहीं लगता। मैं जो कुछ कर रहा हूं, उसका उत्तरदायित्व मुझ पर नहीं है। उसकी सब जवाबदारी परमात्मा पर है। तूने सुना नहीं –

करे करावे आपो आप, मानुष के कुछ नाहीं हाथ।[1]

कितनी स्पष्टता के साथ कहा गया है कि जो कुछ कराता है, वह स्वयं परम पिता परमात्मा कराता है। मनुष्य के वश की कोई बात नहीं है। अत: भाई ! तू चिन्ता क्यों करता है? परमात्मा के दरबार में जब मुझसे पूछा जाएगा तो मैं झट जवाब दे दूंगा। मेरे पास घड़ा-घड़ाया जवाब तैयार पड़ा है। क्या कहूंगा, तू भी सुनले –

खुदा जब मुझसे पूछेगा कि यह तकसीर किसकी है?
तो कह दूंगा कि इस तकदीर में तहरीर किसकी है?

समझ गया है न? परमात्मा जब मुझसे पूछेगा कि यह तकसीर (भूल या पाप) किसने की है? तो उत्तर में मैं कह दूंगा—प्रभो ! मुझसे क्या पूछते हो? आप तो अन्तर्यामी हैं। आपसे क्या छिपा है? यह सब आपकी ही कृपा है, आप ही तो इस तकदीर (भाग्य) को बनाने वाले हो? फिर उसका उत्तरदायित्व किसी दूसरे पर कैसे आ सकता है? इसके तो आप ही जवाबदार हैं। संसार में जो भी पाप होते हैं, वे सब आपके आदेश से ही होते हैं, क्योंकि आपने ही तो

1. पत्ता भी हिलता है तो उसकी रजा से।

उस तकदीर को बनाया है। जब तकदीर बनाने वाले आप हैं तो दोष किसका? जो कुछ भी है, वह सब आपका ही है।

भाव यह है कि यदि ईश्वर को भाग्य का विधाता मान लिया जाएगा तो संसार में फैल रहे पाप का मूल परमात्मा को मानना पड़ेगा। विश्व की अराजकता और विषमता की सब जवाबदारी परमात्मा पर आ जाएगी। परमात्मा इस जवाबदारी से बच नहीं सकता। अत: यही मानना उचित और तर्क-संगत है कि परमात्मा भाग्य का विधाता नहीं है!

दूसरी बात, भाग्य का विधाता ईश्वर समभावी है, उसके यहां राग-द्वेष नहीं रहता है। फिर उसने भाग्य का निर्माण करते समय किसी का भाग्य अच्छा और किसी का भाग्य बुरा क्यों बनाया है? सब प्राणियों का भाग्य उसे एक जैसा ही बनाना चाहिए था। पर देखा ऐसा नहीं जाता। देखा गया है कि संसार में एक तो ऐसा भाग्यशाली है कि लक्ष्मी उसके चरण चूमती है, गगनचुम्बी अट्टालिकाओं में आनन्द लूटता है और एक ऐसा भाग्यहीन है कि भूखों मरता है, दिन-रात परिश्रम करने पर भी, दिन-रात एक कर देने पर भी खाली पेट ही रहता है। अपने परिवार का तो क्या, आराम के साथ अपना पेट भी नहीं भर पाता है। बेचारा भूखा सोता है, वीतरागी और समभावी ईश्वर के दरबार में यह अन्धेर क्यों? यदि कहा जाए कि यह सब मनुष्य के दुष्ट कर्मों का परिणाम है, तो फिर हम कहते हैं कि ईश्वर ने उसका ऐसा भाग्य ही क्यों बनाया, जिससे वह दुष्ट कर्म करे?

ईश्वर को भाग्य का विधाता मान लेने पर उक्त प्रकार की अनेकानेक आपत्तियां ईश्वर पर आती हैं, जो उसके ईश्वरत्व को सुरक्षित नहीं रहने देतीं। अत: यही मानना उचित और तर्कसंगत है कि ईश्वर भाग्य-विधाता नहीं है। भाग्य का निर्माण स्वयं मनुष्य करता है। अच्छा भाग्य बनाए या बुरा, यह सब मनुष्य के हाथ की बात है। परम-पिता परमात्मा उसमें कोई दखल नहीं देता। वस्तुस्थिति भी यही है। इसीलिए जैनदर्शन ईश्वर को भाग्य का विधाता नहीं मानता।

प्रश्न—ईश्वर को कर्म-फल का प्रदाता मानने में क्या आपत्ति है?

उत्तर—ईश्वर को कर्म-फल का प्रदाता मान लेने पर ईश्वर पर एक नहीं, अनेकों आपत्तियां आती हैं। अत: ईश्वर को कर्म-फलदाता नहीं मानना चाहिए।

जैनदर्शन का विश्वास है कि मनुष्य जो कर्म करता है, उन कर्मों का फल देने वाली तथा जीव को एक योनि से दूसरी योनि में ले जाने वाली ईश्वर नाम की कोई शक्ति नहीं है।

संसार के पदार्थों में जो परिवर्तन दृष्टिगोचर होते हैं, वे सबके सब प्राकृतिक नियमों के अनुसार स्वयं ही होते रहते हैं। उदाहरण के लिए जल को ले लीजिए। धूप की उष्णता पाकर जल भाप बनकर आकाश में उड़ जाता है, आकाश के शीत भाग में पहुंचकर भाप छोटे-छोटे जल बिन्दुओं के रूप में परिवर्तित होकर मेघ के रूप में दिखलाई देती है। फिर मेघों के भारी हो जाने पर वर्षा का होना, बिजली का चमकना, गड़गड़ाहट का घोर शब्द होना आदि जितनी भी बातें हैं, उनका संचालक कोई नहीं है। ये सब घटनाएं व परिवर्तन प्राकृतिक नियमों के अनुसार स्वत: ही होते रहते हैं। इसी प्रकार मनुष्य को उसके पूर्वकृत कर्म का फल देने वाला, एक योनि से दूसरी योनि में ले जाने वाला, माता के गर्भ में भ्रूण अवस्था से लेकर यौवन और वृद्धावस्था पर्यंत शरीर की वृद्धि व ह्रास करने वाला तथा जीवन की अन्य जितनी भी दशाएं हैं, उनको निश्चित करने वाली ईश्वर नाम की कोई शक्ति नहीं है। ये सब कार्य कर्मजन्य प्राकृतिक नियमों के अनुसार अपने आप ही होते रहते हैं।

ईश्वर को यदि कर्म-फल-प्रदाता मान लिया जाए तो ईश्वर जीवों को फल किस प्रकार देता है, यह विचारणीय है। वह स्वयं साक्षात् तो दे नहीं सकता। क्योंकि वैदिक दर्शन की मान्यतानुसार वह निराकार है और यदि वह साकारावस्था में प्रत्यक्ष रूप से कर्मों का फल दे तो इस बात को मानने से कौन इन्कार कर सकता है? परन्तु ऐसा देखा नहीं जाता। यदि वह राजा आदि के द्वारा जीवों को उनके कर्मों का दण्ड दिलवाता है, तो ईश्वर पर अनेकों आपत्तियां आती हैं। जानकारी के लिए केवल कुछ-एक का निम्नोक्त पंक्तियों में वर्णन किया जाएगा।

1. ईश्वर को यदि किसी धनी के धन को चुरा या लुटाकर उस धनी के पूर्वकृत कर्म का फल देना अभीष्ट है तो ईश्वर इस कार्य को स्वयं तो आकर करता नहीं, किन्तु किसी चोर या डाकू द्वारा ही ऐसा कराएगा। तो ऐसी दशा में वह जिस चोर या डाकू द्वारा ऐसा कर्म करवाएगा, वह चोर या डाकू ईश्वर की आज्ञा का पालक होने से निर्दोष होगा। तथापि दोषी ठहरा कर पुलिस जो उसे पकड़ती है और दण्ड देती है, वह ईश्वर के न्याय से बाहर की बात होगी। यदि उसे भी ईश्वर के न्याय में मानकर चोर को चोरी करने का दण्ड पुलिस द्वारा दिलवाना आवश्यक समझा जाए तो वह ईश्वर का अच्छा अन्धेर न्याय है कि एक ओर तो वह स्वयं धनी को दण्ड देने के लिए चोर को उसके घर भेजता है, और दूसरी ओर पुलिस द्वारा उस चोर को पकड़वाता है। क्या यह "चोर से चोरी करने की बात कहे और शाह से जागने की" इस कहावत के अनुसार ईश्वर में दोगलापन नहीं आ जाएगा?

ईश्वर ने प्राणदण्ड देने के लिए ही कसाई, चाण्डाल तथा सिंह आदि हिंसक जीव पैदा किए हैं, तदनुसार वे प्रतिदिन हजारों जीवों को मारकर उनके कर्मों का फल उन्हें देते हैं। ईश्वर को कर्मफल-प्रदाता मानने पर ये सभी जीव निर्दोष समझने चाहिएं। क्योंकि वे भी तो ईश्वर की प्रेरणा के अनुसार ही कार्य कर रहे हैं। यदि ईश्वर इन जीवों को निर्दोष माने तब उसके अन्य सभी जीव जो कि दूसरों को किसी न किसी प्रकार की हानि पहुंचाते हैं, निर्दोष ही समझने चाहिएं। यदि उन्हें भी दोषी माना जाएगा तो उनके साथ महान् अन्याय होगा। क्योंकि राजा की आज्ञा के अनुसार अपराधियों को उनके अपराध का दण्ड देने वाले जेलर, फांसी लगाने वाले व्यक्ति आदि सभी जीव जब न्याय की दृष्टि में निर्दोष माने जाते हैं तब उनके समान ईश्वर की प्रेरणानुसार अपराधियों को अपराध का दण्ड देने वाले प्राणी दोषी नहीं होने चाहिएं।

2. ईश्वर सर्वशक्तिसम्पन्न है, सर्वज्ञ और सर्वदर्शी है, अतः उसके द्वारा दी हुई सजा अनिवार्य और अमिट होनी चाहिए। पर ऐसा होता नहीं है। ईश्वर ने किसी व्यक्ति को उसके अशुभ कर्म का फल देकर उसके नेत्रों की नजर कमजोर कर दी, वह अब न तो कोई दूर की वस्तु साफ देख सकता है और न छोटे-छोटे अक्षरों वाली पुस्तक पढ़ सकता है। ईश्वर का दिया हुआ यह दण्ड अमिट होना चाहिए था। परन्तु उस व्यक्ति ने डाक्टर से ऐनक ले ली और आंखों पर उसे लगाकर ईश्वर की दी हुई सजा को निष्फल बना दिया। वह ऐनक लगाकर दूर की चीज साफ देख लेता है और बारीक अक्षर भी पढ़ लेता है। इसी भांति ईश्वर की भेजी हुई प्लेग, हैजा आदि बीमारियों को डॉक्टर लोग, सेवा-समितियां अपने अनथक परिश्रम से बहुत कम कर देते हैं। इसके अतिरिक्त, कर्मों का फल भुगतने के लिए भूकम्प भेजते समय ईश्वर को यह भी ख्याल नहीं रहने पाता कि जहां मेरी आराधना और उपासना होती है, ऐसे स्थानक, मन्दिर, मस्जिद, गिरजाघर, गुरुद्वारा आदि धर्म-स्थानों को नष्ट करके अपने उपासकों की सम्पत्ति को नष्ट न होने दूं।

3. संसार जानता है कि चोर, डाकू आदि आततायी लोगों की सहायता करना एक भयंकर दोष माना गया है। ऐसा करना लोक-विरुद्ध होने के साथ-साथ धर्म-विरुद्ध भी है। जो लोग चोर आदि दुष्ट लोगों की स्वार्थवश सहायता करते हैं, तो वे शासन-व्यवस्था के अनुसार दण्डित किए जाते हैं। ऐसी दशा में जो ईश्वर को कर्म-फल-प्रदाता मानते हैं और यह समझते हैं कि किसी को जो दुःख मिलता है वह उसके अपने कर्मों का फल है और वह फल भी ईश्वर का दिया हुआ है। फिर भी वे यदि किसी अन्धे की, लूले-लंगड़े की, अनाथ

और असहाय की सहायता करते हैं तो यह ईश्वर के साथ विद्रोह नहीं तो और क्या है। क्या वे ईश्वर के चोर की सहायता नहीं कर रहे? क्या ईश्वर ऐसे द्रोही व्यक्तियों पर प्रसन्न रह सकेगा, तथा दु:खी और असहाय व्यक्ति की सहायता करना, ईश्वर के साथ द्रोह करना है, ऐसा मान लेने पर दया, दान आदि सात्विक और परोपकारपूर्ण अनुष्ठानों का कुछ महत्त्व रह सकेगा? उत्तर स्पष्ट है—कभी भी नहीं।

4. ईश्वर जीवों के कृत-कर्मों के अनुसार उनके शरीर आदि का निर्माण करता है। जीवों के कर्मों के अनुसार ही वह जीवों को फल प्रदान करता है। अपनी इच्छा के अनुसार वह कुछ नहीं कर सकता है। ऐसी दशा में यह मानना पड़ेगा कि ईश्वर परतन्त्र है। परतन्त्रता की बेड़ियों में जकड़ा व्यक्ति कभी ईश्वर नहीं कहा जा सकता। जो सर्वथा स्वतन्त्र है, समर्थ है, उसी व्यक्ति के लिए ईश्वर की संज्ञा दी जा सकती है। परतन्त्र जीव को ईश्वर का पद प्राप्त नहीं हो सकता। जुलाहा यद्यपि कपड़े बनाता है, परन्तु वह परतन्त्र है, स्वार्थ, परिवार, समाज आदि के बन्धनों में वह बंधा हुआ है, इसलिए उसे ईश्वर नहीं कहा जाता है। कर्म-अधीन होने से ईश्वर की भी यही स्थिति है। यदि ईश्वर अपनी इच्छा से कर्मफल में हेराफेरी करने लग जाए तो उसकी प्रामाणिकता समाप्त हो जाती है।

5. किसी प्रान्त में किसी सुयोग्य न्यायशील शासक का शासन हो तो उसके प्रभाव से चोरों, डाकुओं तथा आततायी लोगों का चोरी आदि दुष्कर्म करने में साहस नहीं पड़ता और वे उद्दण्डता को छोड़कर प्राय: सत्पथ अपना लेते हैं, जिससे प्रान्त में शांति की स्थापना हो जाती है और वहां के लोग निर्भयता के साथ सानन्द जीवन व्यतीत करते हैं। परन्तु यह समझ में नहीं आता कि जब संसार का शासक ईश्वर है, और वह ऐसा शासक है, जो सर्वथा दयालु है, न्यायशील है, सर्वशक्तिमान है, सर्वज्ञ और सर्वदर्शी है, तथापि संसार में बुराई कम नहीं हो पाती। मांसाहारियों, व्यभिचारियों और चोरों आदि हिंसक लोगों का आधिक्य ही दृष्टिगोचर होता है। सर्वत्र छल, कपट और ईर्ष्या-द्वेष की आग जल रही है। ऐसी दशा में कैसे कहा व माना जाए कि ईश्वर संसार का शासक है?

6. जब कोई मनुष्य चोरी करता है तो उस पर राज्य की ओर से व्यवस्थित ढंग से अभियोग चलाया जाता है। यह प्रमाणित होने पर कि इस व्यक्ति ने चोरी की है, या अमुक अपराध किया है तो न्यायाधीश (जज) उसको जेल या जुर्माना आदि का उपयुक्त दण्ड देता है। वह अपराधी व्यक्ति तथा लोग यह जान जाते हैं कि चोरी आदि दुष्कर्म नहीं करने चाहिएं। यदि किए गए तो जेल आदि के रूप में उसका दण्ड भुगतना पड़ेगा। फलस्वरूप भविष्य में

किसी व्यक्ति का चोरी आदि लोकविरुद्ध तथा राज्यविरुद्ध कार्य करने में सहसा साहस नहीं होने पाता। जनता का भावी सुधार हो, यह उद्देश्य दण्ड देने में रहा हुआ है। परन्तु यदि किसी देश का शासक किसी अपराधी को पकड़ या पकड़वा कर जेल में डाल दे और उस पर कोई अभियोग (मुकदमा) न चलावे और न यही प्रकट करे कि इस व्यक्ति ने क्या अपराध किया है, तो ऐसी दशा में जनता उस व्यक्ति को निर्दोष और शासक को अन्यायी समझने लगेगी। अपराध तथा उसके फलस्वरूप दण्ड का बोध न होने से जनता कभी भी उस व्यवस्था से शिक्षित नहीं हो सकेगी। इसका कुफल यह होगा कि न कोई अपराध करने से डरेगा और न उस व्यक्ति का सुधार होगा।

ईश्वर संसार का शासक है। इसी प्रकार उसे भी व्यवस्थित ढंग से ही काम लेना चाहिए। किन्तु ऐसा होता नहीं है। जब कोई व्यक्ति मनुष्य योनि में जन्म लेता है, और जन्म से ही वह अन्धा और पंगु शरीर वाला होता है। तो उस व्यक्ति को, उसके परिवार को तथा उसके देशवासियों को यह ज्ञात नहीं होता कि यह अन्धत्व और पंगुत्व किस कर्म का फल है। किसी को भी यह मालूम नहीं होने पाता कि यह सदोष शरीर किस कर्म के कारण इस व्यक्ति को प्राप्त हुआ है। सबके सर्वथा अज्ञात रहने के कारण उक्त दुष्ट शरीर की प्राप्ति के मूलभूत दुष्कर्म का किसी को ज्ञान नहीं होने पाता। इससे दण्ड देने का यह उद्देश्य कि अपराधी भविष्य में अपराध न करे, और लोगों को इससे शिक्षा प्राप्त हो, सफल नहीं होने पाता। ईश्वर का कर्तव्य बनता है कि वह किसी भी व्यक्ति को दण्ड देने से पूर्व उसके अपराध को प्रमाणित करे, यह स्पष्ट करे कि इस व्यक्ति ने अमुक दुष्कर्म किया था, इस लिए इसको अमुक दण्ड दिया जाता है। ऐसा करने से ईश्वर की दण्ड-मर्यादा सफल हो सकती है। ऐसा करने से ही जनमानस उस दुष्कर्म से भयभीत होगा, और भविष्य में उससे सुरक्षित रह सकेगा। इसके अतिरिक्त, ऐसा करने से ही दण्डित व्यक्ति के मानस का सुधार होगा और वह भी भविष्य में पाप करने में संकोच करेगा। परन्तु ईश्वर ऐसा कुछ नहीं करता।

7. जो ईश्वर कर्म का फल देने का सामर्थ्य रखता है, उसमें अपराधी को दुष्कर्म करने से रोकने का बल भी रहता है। लौकिक व्यवहार भी ऐसा ही है। जो शासक डाकुओं के दल को उसके अपराध के दण्ड-स्वरूप जेल में बन्द कर सकता है, अथवा प्राणदण्ड दे सकता है, तो उस शासक में यह भी शक्ति होती है कि यदि उसको पता चल जाए कि डाकुओं का दल अमुक गांव में या अमुक नगर में अमुक समय डाका डालेगा और लोगों के जीवन-धन को लूटेगा तो उस शासक का कर्त्तव्य बनता है कि वह डाका डालने के समय से पूर्व ही

डाकुओं को डाका डालने से रोके या उन्हें गिरफ्तार करे। यदि शासक जान-बूझकर प्रजा के धन, माल का संरक्षण नहीं करता है तो वह अपने कर्त्तव्य की हत्या करता है।

कर्मफल-प्रदाता ईश्वर सर्वज्ञ है, सर्वदर्शी है, सर्वशक्तिसम्पन्न है, और साथ में परम दयालु भी है। वह जानता है कि अमुक व्यक्ति यह अपराध करेगा और इस समय करेगा। ऐसी दशा में उसका कर्त्तव्य है कि वह अपराधी की भावना को परिवर्तित कर दे, अपराध करने का उसने जो निश्चय किया है उसे बदल दे। या उसके मार्ग में ऐसी बाधाएं उपस्थित कर दे कि जिससे वह अपराध कर ही न सके। इसके विपरीत यदि ईश्वर अपराधी के भावों को जानता है, और अपराध रोकने की सामर्थ्य भी रखता है, परन्तु उसे रोकता नहीं है, अपराधी को अपराध करने देता है तो मानना पड़ेगा कि वह भी अपने कर्त्तव्य से भ्रष्ट होता है। ऐसे ईश्वर को कर्त्तव्यपालक, न्यायशील या दयालु नहीं कहा जा सकता है।

यदि कहा जाए कि ईश्वर ने जीवों को कर्म करने में स्वतन्त्रता दे रखी है। जीव यथेच्छ कर्म कर सकते हैं, ईश्वर उसमें बाधक नहीं बनता, तो इसका अर्थ यह हुआ कि ईश्वर जो कर्मफल देता है, उसका उद्देश्य प्राणियों का सुधार नहीं है, प्रत्युत अपना मनोविनोद या शासन की महत्त्वाकांक्षा पूर्ण करने के लिए, वह ऐसा करता है। यदि जन-मन का सुधार करना ईश्वर का उद्देश्य हो, फिर तो वह जीवों को दुष्कर्म करने से पूर्व ही रोक दे। लोगों के हित की चिन्ता न करने वाला, प्रत्युत अपने ही विनोद और शासन का ध्यान रखने वाला व्यक्ति क्या ईश्वर कहलाने योग्य है? उत्तर स्पष्ट है, कभी नहीं।

8. संसार में अनन्त जीव हैं और प्रत्येक जीव मन, वचन और काया से कुछ न कुछ करता ही रहता है। एक जीव की क्षण-क्षण की क्रियाओं का इतिहास लिखना और उनका जीव को फल देना, यदि असम्भव नहीं तो अत्यन्त कठिन अवश्य है। जब एक जीव के क्षण-क्षण का ब्यौरा रखना, एवं उसका फल देना इतना दुष्कर है तो संसार के अनन्त जीवों के क्षण-क्षण की क्रियाओं का ब्यौरा रखना एवं उनका फल देना ईश्वर के लिए कितना दुष्कर कार्य है यह स्वत: स्पष्ट हो जाता है। इसके अतिरिक्त, संसार के अनन्त जीवों के क्षण-क्षण में किए गए कर्मों के फल देने में लगे रहने से वह ईश्वर कैसे शान्त तथा अपने आनन्द-स्वरूप में कैसे मग्न रह सकता है? तथा यह सब झंझट ईश्वर करता किसलिए है? ईश्वर को क्या आवश्यकता पड़ी है कि वह संसार के अनन्त जीवों के कर्मों का हिसाब रखे और फिर उन्हें दण्ड दे?

9. देखा जाता है कि किसी कर्म का फल, कर्त्ता को तुरन्त मिल जाता है और किसी का कुछ समय के बाद मिलता है, किसी का कुछ वर्षों के बाद और किसी कर्म का फल, जन्मान्तर में मिलता है। इसका कारण क्या है? कर्मफल के भोग में यह विषमता क्यों देखी जाती है? क्या ईश्वर के यहां भी रिश्वतें चलती हैं जो किसी को आगे और किसी को पीछे कर्मों का फल भुगताता है?

ईश्वर को यदि कर्मफल का प्रदाता स्वीकार कर लिया जाए तो उक्त प्रकार की अन्य भी अनेकों आशंकाएं उपस्थित होती हैं, किन्तु उनका कोई सन्तोषजनक समाधान नहीं मिलता है। अत: यही मानना संगत और उपयुक्त है कि कर्मफल के भुगताने में ईश्वर का कोई हाथ नहीं है। प्रत्युत कर्म-परमाणु स्वयं ही प्राकृतिक नियमों के अनुसार कर्त्ता को फलानुभव करवा डालते हैं।

जैनदर्शन की इस मान्यता को, कि कर्मफल के भुगताने में ईश्वर का कोई हस्तक्षेप नहीं है, जैनेतर धर्मशास्त्र श्रीमद्भगवद्गीता में भी पूरा-पूरा समर्थन मिला है। वहां लिखा है –

न कर्तृत्वं न कर्माणि, लोकस्य सृजति प्रभु:।
न कर्मफल-संयोगं, स्वभावस्तु प्रवर्तते॥

–गीता अ. 5-14.

अर्थात् ईश्वर न तो संसार की रचना करता है, न जीवों के कर्म बनाता है और न कर्मों का फल ही देता है। किन्तु प्रकृति ही सब कुछ करती है। तात्पर्य यह है कि जगत् के निर्माण में, भाग्यविधान में तथा कर्मफल प्रदान में ईश्वर का कोई हाथ नहीं है। मनुष्य जैसा कर्म करता है, उसका वैसा फल पा लेता है।

नादत्ते कस्यचित् पापं, न चैव सुकृतं विभु:।
अज्ञानेनावृतं ज्ञानं, तेन मुह्यन्ति जन्तव:॥

–गीता अध्याय 5-15.

अर्थात् ईश्वर किसी का न तो पाप लेता है और न किसी का पुण्य ही लेता है। अज्ञान से आवृत्त होने के कारण यह जीव स्वयं ही मोह में फंस जाते हैं।

प्रश्न–ईश्वर यदि कर्मों का फल नहीं देता है तो फिर कर्मफल कौन देता है? जीव को एक योनि से दूसरी योनि में कौन ले जाता है?

उत्तर–प्राकृतिक नियमों के अनुसार जीवों को जो शक्ति कर्मफल प्रदान करती है, उसे कार्मण–शरीर कहते हैं। जैनदर्शन का विश्वास है कि दीपक जैसे बत्ती के द्वारा तेल को ग्रहण करके अपनी उष्णता से ज्वालारूप में परिणत कर देता है, बदल देता है, वैसे ही आत्मा काम, क्रोध, मोह, लोभ आदि विकारों से कर्मयोग्य पुद्‌गलों को ग्रहण करके उन्हें कर्मरूप में परिणत कर लेता है। उन्हीं कर्म–पुद्‌गलों के समूह का नाम कार्मण–शरीर है। यह कार्मण–शरीर या कार्मण शक्ति सारे शरीर में व्याप्त रहती है। शरीर में जहां–जहां आत्मा है वहां–वहां यह शक्ति निवास करती है। यह शरीर के किसी एक भाग में केन्द्रित नहीं रहती, प्रत्युत आत्मा की भांति सारे शरीर में व्याप्त है और आत्म–प्रदेशों के साथ स्वर्ण–मल की तरह मिली रहती है।

कार्मण शरीर को सूक्ष्म शरीर भी कहते हैं। यही सूक्ष्म शरीर आत्मा को एक योनि से दूसरी योनि में ले जाने वाला है। माता के गर्भ में कलल से भ्रूण, भ्रूण से शिशु, युवक व वृद्ध बनाने वाला भी यही है। शरीर सम्बन्धी सभी बातों को निर्धारित करने वाला, तथा आत्मा की शक्ति को आवृत करके उसके शुद्ध आनन्दस्वरूप को विकृत बनाने वाला भी यही है। इसी के प्रताप से आत्मा काम, क्रोध आदि विभावों में परिणत होता है।

सूक्ष्म शरीर के सूक्ष्म पुद्‌गल परमाणुओं में व्यक्ति को पूर्वकृत कर्मों का फल देने वाली शक्ति इस प्रकार अवस्थित होती है, जिस प्रकार विद्युत यन्त्र (Battery) में विद्युत शक्ति। जैसे चुम्बक की आकर्षण शक्ति द्वारा खिंचकर लोहा उसकी ओर चला जाता है, वैसे ही जीव इस कार्मण शक्ति द्वारा वर्तमान शरीर को छोड़कर दूसरी योनि की ओर आकर्षित होता हुआ वहां जाकर उत्पन्न होता है। इस तथ्य को निम्नोक्त उदाहरण से समझा जा सकता है –

कल्पना करो कि चुम्बक के सामने लोहे का एक टुकड़ा पड़ा है, और उस पर एक मक्खी बैठी है। जिस समय चुम्बक के आकर्षण से लोहा उसकी ओर आकर्षित होगा, तो लोहे के साथ-साथ उसके ऊपर बैठी मक्खी भी आकर्षित हो जाएगी। चुम्बक से आकर्षित हुआ लोहा जिधर को जाएगा उधर ही मक्खी भी खिसकती जाएगी। तो जैसे मक्खी को आकर्षित करने वाला तत्त्व परम्परा से वह चुम्बक पत्थर ही ठहरता है, वैसे ही कार्मण-शरीर से युक्त आत्मा को जिस स्थान पर उसे उत्पन्न होना है, उस स्थान में स्थित परमाणु ही उसे आकर्षित कर लेते हैं। उत्पत्ति स्थान के परमाणुओं का आत्मस्थ कर्म परमाणुओं के साथ ऐसा विचित्र और अवाच्य आकर्षण होता है कि जिसके प्रभाव से आत्मा स्वत: ही अपने उत्पत्ति

स्थान में पहुंच जाता है। कर्मवाद की दृष्टि में आत्मा को एक स्थान से दूसरे स्थान पर पहुंचाने वाली शक्ति केवल परमाणुओं और उत्पत्ति स्थान में अवस्थित परमाणुओं का पारस्परिक आकर्षण ही है। कर्मवाद की मान्यता के अनुसार आत्मा के परलोकगमन में कर्म परमाणु ही कारण हैं, ईश्वर या किसी अन्य दैविक शक्ति विशेष का उससे कोई सम्बन्ध नहीं है। परमाणुओं में एक विलक्षण आकर्षण रहता है। उसी आकर्षण के कारण परमाणुओं द्वारा अनेकों ऐसे कार्य सम्पन्न होते हैं, जिन्हें सुनकर एक साधारण व्यक्ति तो विस्मित हो उठता है। परमाणुओं में कितना विलक्षण आकर्षण है और यह आकर्षण किस तरह अद्‌भुत और असम्भावित कार्य करता है, इस सम्बन्ध में प्रस्तुत पुस्तक के तृतीय अध्याय में प्रकाश डाला गया है। पाठक उसे देखने का कष्ट करें।

रही कर्मों के फल देने की बात, उसके सम्बन्ध में जैनदर्शन का कहना है कि कर्म परमाणु अपना फल स्वयं देते हैं, उसके लिए किसी न्यायाधीश की आवश्यकता नहीं है। जैसे शराब पीने पर व्यक्ति को नशा हो जाता है और दूध पीने पर व्यक्ति का मस्तिष्क पुष्ट होता है। शराब या दूध पीने के अनन्तर उनका फल देने के लिए किसी दूसरे शक्तिमान नियामक की जैसे आवश्यकता नहीं होती, वैसे ही जीव की प्रत्येक कायिक, वाचिक और मानसिक प्रवृत्ति के साथ जो कर्माणु जीवात्मा की ओर आकृष्ट होते हैं, और राग-द्वेष का निमित्त पाकर उस जीव से[1] स्वर्ण-मल की भांति मिल जाते हैं, उन कर्माणुओं में भी शराब और दूध की तरह अच्छा और बुरा प्रभाव डालने की शक्ति निवास करती है, जो चैतन्य के सम्बन्ध से व्यक्त होकर जीव पर अपना प्रभाव डालती रहती है और उसके प्रभाव से मुग्ध हुआ जीव ऐसे-ऐसे काम करता है जो सुखदायक तथा दुःखदायक होते हैं। कर्म करते समय यदि जीव के भाव अच्छे हैं तो बंधने वाले कर्म-परमाणु अच्छे होते हैं और बाद में उनका फल भी अच्छा ही होता है। तथा यदि जीव के भाव बुरे होते हैं तो उस समय बुरे परमाणुओं का बन्ध पड़ता है और कालान्तर में उनका फल भी बुरा ही होता है। अतः जैनदर्शन कहता है कि कर्मफल की प्राप्ति में कर्म-परमाणु ही सर्वेसर्वा कारण हैं, ईश्वर का उसके साथ कोई सम्बन्ध नहीं है।

प्रश्न—ईश्वर जगत का निर्माता नहीं है, भाग्य का विधाता नहीं है, और कर्मफल-प्रदाता भी नहीं है, फिर उसका स्मरण करने की क्या आवश्यकता है? ईश्वर जब वीतराग है, वह

1. वस्तुतः कर्माणुओं का और आत्म-प्रदेशों का सम्बन्ध केतु द्वारा ग्रसित सूर्य, या राहु द्वारा आच्छादित चन्द्र के समान समझना चाहिए।

न प्रसन्न होता है और न ही रुष्ट होता है, फिर उसके गुण गाने का क्या प्रयोजन? यदि ईश्वर हमारा कुछ नफा-नुकसान नहीं करता तो उसके भजन से क्या लाभ?

उत्तर–जैसे दर्पण को देखकर मनुष्य अपने मुंह पर लगे हुए दाग को साफ कर लेता है वैसे ही परमात्मा को आदर्श मानकर हम अपनी आत्मा को धो सकते हैं। इसीलिए परमात्मा का भजन व चिन्तन हमारे लिए नितान्त आवश्यक है। परमात्मा के भजन का केवल इतना ही उद्देश्य होता है कि उसका चिन्तन करके हम उसके स्वरूप को अवगत कर सकें, और उसके विशुद्ध गुणों को अपने अन्दर प्रकट कर सकें। पथिक को जिस पथ पर चलना होता है, सर्वप्रथम उसे गन्तव्य पथ को जानने तथा समझने की आवश्यकता होती है, मार्ग को जाने बिना उसका उस पर चलना असम्भव है। मार्ग पर चलने से पूर्व मार्ग की जानकारी प्राप्त करनी ही पड़ती है, तभी यात्री अपने गन्तव्य पथ पर चलकर अपने लक्ष्य तक पहुंच सकता है। ऐसे ही परमात्मा के स्वरूप को प्राप्त करने के लिए, उसके स्वरूप को समझना होगा और समझने के अनन्तर उसे अपनाना होगा। जब तक परमात्मा के स्वरूप को अवगत नहीं किया जाएगा, तब तक उसे प्राप्त करने का प्रश्न ही उपस्थित नहीं होता। परमात्मा का स्मरण और उसका चिन्तन उसके स्वरूप को अवगत और परम्परा से उसे प्राप्त करने का साधन है। इसीलिए परमात्मा का स्मरण किया जाता है और यथाशक्ति करना भी चाहिए।

दु:खों के उत्पादक राग और द्वेष ये दो जीवन-विकार हैं। इन दोनों को दूर करने के लिए राग-द्वेष रहित परमात्मा का अवलम्बन लेना नितान्त आवश्यक है। स्फटिक के पास जिस रंग का फूल रखा जाएगा वैसा ही रंग स्फटिक अपने में ले आता है। ठीक इसी प्रकार राग-द्वेष के वातावरण में बैठकर जीव को राग-द्वेष के संस्कार मिलते हैं। इन संस्कारों से बचने के लिए सुन्दर, पवित्र और सात्त्विक सत्संग प्राप्त करने की विशेष आवश्यकता रहती है। ईश्वर का स्वरूप परम निर्मल और शान्तिमय है। राग-द्वेष का रंग या उसका तनिक सा भी प्रभाव उसके स्वरूप में नहीं है, अत: उसका अवलम्बन लेने से, उसका ध्यान व चिन्तन करने से आत्मा में वीतराग भाव का संचार होता है, आत्मा में ऐसी शक्ति उत्पन्न होती है कि राग-द्वेष की प्रवृत्तियां धीरे-धीरे शान्त होने लगती हैं और जीव स्वयं वीतराग बन जाता है। आग का सान्निध्य पाकर मनुष्य का जैसे शैत्य दूर हो जाता है, ठीक इसी प्रकार वीतराग प्रभु का स्मरण करने से आत्मा के राग-द्वेष आदि विकारों का शैत्य भी भागने लगता है और आत्मा निज-स्वरूप में आकर अनन्त आनन्द और ज्ञान की अनन्त विभूति से मालामाल हो जाता है। परमात्मा के गुणों के स्मरण व चिन्तन करने का यही सबसे बड़ा लाभ है।

दूसरी बात यह भी है कि परमात्मा का नाम इतना पवित्र और सात्त्विक है कि जब कोई व्यक्ति शुद्ध हृदय से उसका चिन्तन करता है, उसके गुणों में रमण करने लग जाता है, तब उसके मन में कोई विकार उत्पन्न नहीं होने पाता, मन सर्वथा शान्त और निर्विकार बन जाता है, मन एक अनुपम तथा अपूर्व-सा उल्लास अनुभव करता है। ऐसी दशा यदि लगातार बनी रहे तो मानव धीरे-धीरे अभ्यास बढ़ाता हुआ एक दिन इतना अभ्यस्त हो जाता है कि उसका मन फिर कभी भी सांसारिक विषयों की ओर नहीं जाता और अन्त में जीवनगत विकारों का सर्वथा खातमा करके परमात्मस्वरूप बन जाता है। अत: जीवन को परमात्म स्वरूप में लाने के लिए परमात्मा के गुणों के स्मरण या चिन्तन का अभ्यास करना अत्यावश्यक है और उस अभ्यास को सतत बनाए रखने के लिए परमात्म-स्मरण की दैनिक आवश्यकता होती है। तीसरी बात यह भी है कि मनुष्य जब तक प्रभु-स्मरण में लगा रहता है, परमात्मा के गुण गाता रहता है, कम से कम उतने समय के लिए तो वह पापाचार से बचा ही रहता है। 16 आने गंवाने की अपेक्षा यदि दो आने भी बचा लिए जाएं तो वह अच्छा ही है। इसी तरह मन यदि सारा दिन पवित्र नहीं रह पाता है, तो जितने क्षण सात्त्विक और पवित्र बना रहे तो उतना ही अच्छा है, जीवन के उतने ही क्षण सफल होते हैं। इसीलिए भक्तराज कबीर ने कहा है –

सांस सफल सो ही जानिए, जो प्रभु-सिमरण में जाय।
और सांस यूं ही गए, कर-कर बहुत उपाय॥

प्रभु-स्मरण करते समय एक बात का ध्यान रखना चाहिए कि प्रभु-स्मरण आत्मशुद्धि या आत्मकल्याण के लिए ही करना चाहिए। उसके पीछे पुत्र, कलत्र या अन्य सांसारिक पदार्थों की कामना नहीं रहनी चाहिए। परमात्मा वीतराग है, वहां राग और द्वेष का सर्वथा अभाव है, अत: नाम लेने से वह प्रसन्न होगा, प्रसन्न होकर हमारी मनोकामना पूर्ण करेगा, ऐसी आशा नहीं रखनी चाहिए। जैनदर्शन किसी आध्यात्मिक अनुष्ठान को ऐहिक स्वार्थ के लिए करने का निषेध करता है। दशवैकालिक सूत्र के नवम अध्ययन में लिखा है–'तपस्वी साधु इहलौकिक सुखों के लिए तप न करे, पारलौकिक स्वर्गादि सुखों के लिए तप न करे, आत्म-प्रशंसा के लिए तप न करे; किन्तु केवल आत्मशुद्धि तथा कर्मों की निर्जरा के लिए ही तप का अनुष्ठान करे।' प्रभु का स्मरण करना भी एक आध्यात्मिक अनुष्ठान है। अत: इस अनुष्ठान को भी स्वच्छ और परमार्थ भावना से करना चाहिए। इसके पीछे कोई स्वार्थ या ऐहिक महत्त्वाकांक्षा आदि दुर्भाव नहीं रखना चाहिए।

प्रश्न–क्या ईश्वर अवतार धारण करता है?

उत्तर–नहीं करता, क्योंकि अवतार (जन्म) उन्हीं जीवों का होता है, जो कर्म, इच्छा, मोह, माया, अविद्या से युक्त हों। ईश्वर में ये सब चीजें नहीं हैं, फिर वह अवतार कैसे ले सकता है?

वैदिक परम्परा में विश्वास पाया जाता है कि[1] जब-जब धर्म की हानि होती है, अधर्म की वृद्धि होती है, पाप का भूत जाग उठता है, और धर्म का देव सो जाता है, तो धर्म के देव को जगाने के लिए और अधर्म के असुर का नाश करने के लिए तथा साधु-जीवन का संरक्षण और पापियों का विनाश करने के लिए ईश्वर अवतार धारण करता है। परम पिता परमात्मा बैकुण्ठधाम से मृत्युधाम में आ जाता है। धर्म की संस्थापना करने के लिए भगवान् से इन्सान बनता है।

अवतारवाद की इस वैदिक मान्यता पर यदि गम्भीरता से विचार किया जाए तो इस मान्यता में कोई सार दृष्टिगोचर नहीं होता। कितने आश्चर्य की बात है कि जो परमात्मा सर्वज्ञ है, सर्वदर्शी है, सर्वशक्तिसम्पन्न है, जिसके स्मरण से मानस शान्ति के सरोवर में डुबकियां लेने लगता है, आनन्दानुभूति करता है, उस परमपिता परमात्मा को कभी कछुआ बना देना, कभी मछली और कभी सुअर बना देना कहां की शिष्टता है?

किसी अवतारवादी से पूछा जाए कि इस समय भारत में इतना अनर्थ हो रहा है, सर्वत्र पापाचार का दानव नग्न नृत्य कर रहा है, सत्य का जनाजा निकाला जा रहा है, धर्म, कर्म सब बदनाम हो रहे हैं, ऐसी स्थिति में भगवान् मौन क्यों बैठे हैं? कान में तेल डालकर क्यों सो रहे हैं, इस भीषण और भयावह युग में भी वह अवतार क्यों नहीं लेते? तब वह एक पेटेण्ट (Patent) घड़ाघड़ाया जवाब देता है कि अभी पाप का घड़ा भरा नहीं है। खूब रही, घड़ा भी बड़ा अनोखा है, जो कभी तो हाथी की थोड़ी-सी चिंघाड़ मात्र से भर जाता है और कभी भूमण्डल के करोड़ों प्राणियों की करुण पुकार से भी नहीं भरने पाता। कभी तो नाई के बदले राजा के पैर दबाने के लिए भगवान् भाग उठते हैं और अब दु:खों के मारे जन-गण कराह रहे हैं, अन्नाभाव और अर्थाभाव के कारण ऐड़ियां रगड़-रगड़कर लोग दम तोड़ रहे हैं तथापि

---

1. यदा-यदा हि धर्मस्य, ग्लानिर्भवति भारत।
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम्।।
परित्राणाय साधूनां, विनाशाय च दुष्कृताम्।
धर्म-संस्थापनार्थाय, संभवामि युगे-युगे।। –गीता अ. 4/7, 8.

दीन-दयालु करुणा के सागर सानन्द बैकुण्ठधाम में बैठे आराम की बांसुरी बजा रहे हैं, पता नहीं, उनके कानों पर जूं तक क्यों नहीं रेंगती? तथा कभी तो द्रौपदी के अंग को ढकने के लिए भगवान् साड़ियों की वर्षा कर देते हैं, और अब जब कि हजारों नहीं लाखों द्रौपदियों को नग्न किया गया और बड़ी निर्दयता के साथ उनका शील भंग किया और कराया गया तथापि भगवान् को दया नहीं आयी।

वास्तव में देखा जाए तो अवतारवाद सर्वथा थोथा और खोखला सिद्धान्त है, इसके पीछे कोई दार्शनिक बल नहीं है। सच तो यह है कि ईश्वर को अवतारवाद के साथ जोड़कर ईश्वर के ईश्वरत्व को अपमानित किया गया है।

आध्यात्मिक जगत में परमपिता परमात्मा तथा ईश्वर का सर्वोपरि स्थान है। यह स्थान कर्मों को क्षय करने के अनन्तर उपलब्ध होता है। तत्त्वार्थसूत्र के दशम अध्याय में आचार्य उमास्वाति कहते हैं कि "कृत्स्न कर्मक्षयो मोक्ष:"। अर्थात् सम्पूर्ण कर्मों के क्षय कर देने का नाम मोक्ष है। मोक्ष में जाने वाला आत्मा कर्मों से सर्वथा और सर्वदा मुक्त रहता है। मुक्त अवस्था की प्राप्ति ही तभी होती है जब कर्मों का आत्यन्तिक क्षय कर दिया जाए। जो आत्मा कर्मों का सर्वथा नाश करके उनसे नितान्त छुटकारा प्राप्त कर लेता है, वह पुन: कर्मों के बन्धन में कैसे आ सकता है? कर्म-बन्धन क्रोध, मान, माया आदि विकारों से होता है, जब विकार ही समाप्त हो गए तो फिर कर्म-बन्ध कैसे हो सकता है? बीज के सर्वथा जल जाने पर जैसे उसमें अंकुर की उत्पत्ति नहीं होती, वैसे ही कर्म-रूपी बीज के जल जाने पर संसाररूप (जन्म-मरणरूप) अंकुर पैदा नहीं हो सकता। ईश्वर को सर्वथा निष्कर्म मान लेने पर उसका अवतार कैसे सम्भव हो सकता है? जब वह निष्कर्म है तो वह नव मास अन्धेरी कोठरी में उलटा क्यों लटके?

ईश्वर सर्वज्ञ है, सर्वदर्शी है, सर्वशक्तिसम्पन्न है, तथा वीतरागी है, फिर वह भला नीचे क्यों आए? क्यों मत्स्य, वराह और मनुष्य आदि का रूप धारण करे? इसके अतिरिक्त भगवान् को अवतार लेने की जरूरत ही क्या है? क्या वह जहां बैठा है वहीं से अपनी अनन्त-शक्ति के प्रभाव से भूमि का भार हल्का नहीं कर सकता है? जब पापियों[1] को ही

---

1. जैन दर्शन पापियों के विनाश को अच्छा नहीं समझता है। जैन दर्शन कहता है कि पापी बुरा नहीं होता, बुरा पाप होता है। पापी का गला घोंटने से पाप नहीं मर सकता। क्योंकि अगले जीवन में भी पापी के पापमय संस्कार साथ जाते हैं। अत: यदि पापी का सुधार करना है तो पाप का गला घोंटने की आवश्यकता है। पाप की मृत्यु हो जाने से पापी, पापी नहीं रहेगा। वह वाल्मीकि की तरह संसार को एक ऋषि के रूप में दर्शन

दण्ड देना है, तो यह काम वह वहीं बैठा-बैठा भी कर सकता है। यदि वह ऐसा नहीं कर सकता तो वह सर्वशक्तिसम्पन्न है, यह कैसे माना जा सकता है। अवतारवाद मान लेने पर ऐसी अनेकों आपत्तियां उपस्थित हो जाती हैं, जिनका कोई संतोषजनक समाधान नहीं मिलता। इसलिए जैनदर्शन ईश्वर के अवतारवाद में कोई विश्वास नहीं रखता है।

जैनदर्शन का आदर्श ईश्वर का अवतार नहीं है, जैनदर्शन मनुष्य के उत्तार की बात कहता है। यहां ईश्वर का मानव के रूप में अवतरण (ऊपर से नीचे की ओर आना) नहीं माना जाता, बल्कि मानव का ईश्वर के रूप में उत्तरण (नीचे से ऊपर की ओर जाना) माना जाता है। जैन संस्कृति में मनुष्य से बढ़कर और कोई प्राणी नहीं है। उसकी दृष्टि में मनुष्य केवल हाड़-मांस का चलता-फिरता पिंजर नहीं है, प्रत्युत अनन्त शक्तियों का पुंज है, देवताओं का भी देवता है, और अनन्त सूर्यों का भी सूर्य है। मनुष्य में वह शक्ति है जो मुक्ति के पट खोलती है, मगर आज वह मोह-माया के अन्धकार से आच्छादित हो रही है। सत्य-अहिंसा के दिव्यालोक में जिस दिन यह मनुष्य अपने अज्ञानान्धकार को नष्ट कर निजस्वरूप को पाएगा तो उस दिन वह अनन्तानन्त जगमगाती हुई आध्यात्मिक ज्योतियों का पुंज बनकर शुद्ध, बुद्ध, परमात्मा बन जाएगा। जैन संस्कृति में मनुष्य की चरम शुद्ध दशा का नाम ही ईश्वर है। यही जैन संस्कृति का उत्तारवाद है, जो मानव को सत्य-अहिंसा की पवित्र साधना द्वारा सिद्ध-बुद्ध परमात्मा बनने की आदर्श प्रेरणा प्रदान करता है। इस प्रकार जैन संस्कृति का उत्तारवाद मानव जाति को ऊपर उठना सिखाता है, वैदिक संस्कृति की तरह यह अवतारवाद के माध्यम से मनुष्य को ईश्वर के हाथ की कठपुतली नहीं बनाता।

प्रश्न–ईश्वर एक है या अनेक?

उत्तर–जैनदर्शन इसका उत्तर स्याद्वाद की भाषा में यदि दे तो कहना होगा–ईश्वर एक भी है और अनेक भी। गुणों की दृष्टि से ईश्वर एक है, क्योंकि सभी ईश्वरों में ईश्वरत्व बराबर रहता है, सभी सच्चिदानन्दमय हैं, सभी में ज्ञान और आनन्द की अनन्तता विराजमान है। कोई किसी से ज्ञानादि गुणों में हीन नहीं है। और सभी ईश्वर व्यक्तियों पर ईश्वर यह एक शब्द लागू होता है। अत: ईश्वर एक है, किन्तु व्यक्तियों की अपेक्षा ईश्वर अनेक हैं, अनन्त हैं। जो

देगा। अत: पाप के विनाश के लिए पापी का नाश करना जैन दर्शन को इष्ट नहीं है। अंग्रेजी में भी कहा है–'Hate the sin, not the sinner' अर्थात् पाप से नफरत करो, पापी से नहीं। दूसरी बात, पापियों का नाश करने में भगवान् की क्या विशेषता है? उसकी विशेषता तो उनका सुधार करने में है।

भी जीव कर्मबन्धन से मुक्त हो गए, जैनदर्शन की दृष्टि से वे सब ईश्वर ही हैं। इसलिए ईश्वर एक न होकर अनेक हैं, अनन्त हैं।

जैनदर्शन का विश्वास है कि प्रत्येक भव्य आत्मा में परमात्मा बनने की योग्यता निवास करती है, मोक्षमार्ग पर चलने वाला प्रत्येक आत्मा धीरे-धीरे मोक्ष को प्राप्त कर लेता है।[1] ज्ञान, दर्शन और चारित्र ये तीनों मोक्ष के मार्ग हैं। इन मार्गों के राही के लिए मोक्ष दूर नहीं है। इन मार्गों का राही अमुक व्यक्ति बन सकता है, अमुक नहीं, ऐसा कोई प्रतिबन्ध नहीं है। जैनदर्शन ने प्रत्येक सम्यक्दृष्टि व्यक्ति के लिए मोक्ष के द्वार खोल रखे हैं। इसीलिए जैनदर्शन कहता है कि मुक्त जीव एक नहीं, अनेक हैं, असंख्य हैं, अनन्त हैं।

❑ ❑ ❑

1. जीव, अजीव आदि तत्त्वों का यथार्थ बोध प्राप्त करना ज्ञान है, उक्त तत्त्वों के प्रति सच्चा श्रद्धान रखना दर्शन, और अहिंसा व तप को जीवन का अंग बनाना, आत्मा को निजस्वरूप में लाने के लिए सत्प्रयत्न करना चारित्र कहलाता है।

जैन-धर्म और वैदिक-धर्म

प्रश्न–जैन-धर्म और वैदिक-धर्म में आचार-विचार सम्बन्धी क्या मतभेद है?

उत्तर–भारत में मुख्यतया दो संस्कृतियों की प्रधानता रही है–श्रमण संस्कृति और ब्राह्मण संस्कृति। श्रमण संस्कृति को समन और शमन संस्कृति भी कहा जाता है। श्रमण शब्द श्रम् धातु से बना है। इसका अर्थ है–परिश्रम करना। यह अर्थ इस बात को प्रकट करता है कि व्यक्ति अपना विकास अपने ही परिश्रम द्वारा कर सकता है। सुख-दु:ख, उत्थान-पतन, सभी के लिए वह स्वयं उत्तरदायी है। समण शब्द समता भाव का परिचायक है। समता भाव का अर्थ है–सभी को आत्मतुल्य समझना, सभी के प्रति समभाव रखना। दूसरों के साथ कैसा व्यवहार होना चाहिए, इसकी कसौटी अपनी ही आत्मा है। जो बात अपने को बुरी लगती है, वह दूसरों के लिए भी बुरी है। "**आत्मन: प्रतिकूलानि परेषां न समाचरेत्**" यह अमर स्वर समता की अन्तरात्मा का है। समाजविज्ञान का यही मूल तत्त्व है। किसी के प्रति राग या द्वेष न करना, शत्रु- मित्र को बराबर समझना, जन्म से जाति-पांति न मानना तथा स्पृश्य या अस्पृश्य आदि भेदों को स्वीकार न करना, समता का अपना स्वरूप है। शमन का अर्थ होता है–अपनी वृत्तियों को शान्त रखना। मन-मन्दिर में क्रोध, मान, माया आदि विकारों को उत्पन्न न होने देना, यदि उत्पन्न हो गये तो क्षमा, मृदुता तथा सरलता आदि द्वारा उनको शान्त कर देना शमन का लक्ष्य होता है। श्रमण, समन और शमन समण संस्कृति का निचोड़ है। समण प्राकृत भाषा का शब्द है, यही संस्कृति में श्रमण, समन और शमन के रूप में परिवर्तित हो जाता है। श्रमण संस्कृति समण संस्कृति का एकांगी रूपान्तर है। आज प्राय: श्रमण संस्कृति शब्द ही अधिक प्रसिद्ध हो रहा है।

ब्राह्मण संस्कृति का मूल ब्रह्म है। ब्रह्म शब्द यज्ञ, पूजा, स्तुति तथा ईश्वर इन अर्थों का परिचायक है। ब्राह्मण संस्कृति इन्हीं चार तत्त्वों के चारों ओर घूमती है। यज्ञ करना,

देवताओं की पूजा करना, इन्द्र आदि की स्तुति करना तथा ईश्वर को जगत का निर्माता, भाग्य का विधाता, कर्मफल-प्रदाता तथा संसार का सर्वेसर्वा मानकर उपासना, संध्या, वन्दन द्वारा उसकी प्रसन्नता को प्राप्त करना ही ब्राह्मण संस्कृति का मूल उद्देश्य है और यही उसकी साधना का सर्वतोमुखी ध्येय है।

श्रमण संस्कृति में जैनधर्म और बौद्धधर्म आता है, तथा ब्राह्मण संस्कृति से वैदिक धर्म का बोध होता है। वैदिक धर्म से सनातन धर्म और आर्यसमाज इन दोनों का ग्रहण किया जाता है। प्रस्तुत मे हमें जैन धर्म और वैदिक धर्म के सिद्धान्त और आचार के सम्बन्ध में विचार करना है। अतः इसी के सम्बन्ध में कुछ कहा जाएगा। यदि गम्भीरता से विचार किया जाए तो जैनधर्म और वैदिक धर्म की मान्यताओं में बहुत अन्तर रहता है, किन्तु यहां तो संक्षेप में ही उन पर प्रकाश डाला जाएगा।

ब्राह्मण संस्कृति का प्राण वैदिक धर्म व्यक्ति-पूजा में विश्वास रखता है, इसके यहां गुणों के कारण किसी की स्तुति नहीं की जाती। इसमें जिस समय अग्नि की पूजा की जाती है, तो उस समय अग्नि सर्वशक्तिमान है, और जिस समय विष्णु की पूजा की जाती है उस समय विष्णु सर्वश्रेष्ठ बन जाता है। महाभारत काल में जब प्राकृतिक देवताओं का स्थान ब्रह्मा, विष्णु, शिव आदि पौराणिक देव ले लेते हैं, तो सभी देवता शिव की स्तुति करते हैं तो कभी शिव ब्रह्मा या सरस्वती की अर्चना करते हैं। वैदिक धर्म के अनुसार व्यक्ति अपने में पूज्य है। ब्राह्मण इसीलिए पूज्य है, क्योंकि वह ब्राह्मण है, यदि वह सदाचार से रहित है, तब भी वह पूज्य है। इसी व्यक्ति-पूजा के कारण भगवल्लीला पर समालोचना करने का किमी को अधिकार नहीं है। भगवान् भक्तों के साथ चालाकी करते रहें, छल करते रहें, कपट करते रहें तो भी कोई चिन्ता की बात नहीं है। व्यक्ति-पूजा में ये सब दूषण उपेक्षणीय हैं। निम्नोक्त पौराणिक कथानक भी व्यक्ति-पूजा को प्रकट कर रहे हैं।

राजा बलि सौ यज्ञों के द्वारा इन्द्रासन प्राप्त करना चाहता है, किन्तु इन्द्रपद की रक्षा के लिए इन्द्र की प्रार्थना पर भगवान् उसके तपोमय अनुष्ठान में विघ्न उपस्थित करते हैं और उसे भंग कर देते हैं। कुम्भकर्ण तपस्या द्वारा इन्द्रासन प्राप्त करना चाहता है। भगवान् को प्रकट होकर "**वरं वृणीष्व**" यह कहना पड़ता है, किन्तु ऐसी माया रची जाती है कि उसके मुंह से इन्द्रासन के स्थान पर निद्रासन निकल जाता है। भगवान् रास रचाते हैं, गोपियों में विहार करते हैं, स्नान कर रही गोपियों के वस्त्र चुरा लेते हैं। एक और न्याय की दुहाई देकर अर्जुन से युद्ध कराते हैं, दूसरी ओर अपनी समस्त सैन्य शक्ति दुर्योधन को संभाल देते हैं। एक ओर

पाण्डवों की विजय न्याय की विजय कही जाती है, दूसरी ओर कौरवों का नाश होने पर कौरव माता गान्धारी से अपना और यदुवंश के नाश का शाप सहन करते हैं। ऐसे अनेकों उदाहरण हैं जो भगवल्लीला के परिचायक हैं। किन्तु इन पर ननु-नच करने का—ऐसा क्यों हुआ, यह कहने का, किसी को कोई अधिकार नहीं है। क्योंकि व्यक्तिवाद में तर्क या आशंका को कोई स्थान नहीं होता।

इसके विपरीत श्रमण संस्कृति का प्राण जैनधर्म गुणों को महत्त्व देता है, व्यक्ति को नहीं। जैन परम्परा में पंच परमेष्ठी को नमस्कार किया जाता है। किन्तु उनमें किसी व्यक्ति-विशेष का नाम नहीं है। उन सभी महापुरुषों को नमस्कार किया गया है, जिन्होंने अपना सारा जीवन स्व-पर-कल्याण के लिए लगा दिया है। अध्यात्म-धन का जो धनी है, तथा जिसने राग-द्वेष को सदा के लिए जीवन से निकाल दिया है, वह कोई भी क्यों न हो, जैनधर्म उसके चरणों में नत हो जाता है, उसे भगवान् मानकर उसकी आराधना तथा उपासना करता है। व्यक्तिवाद का जैनधर्म में कोई स्थान नहीं।

जैनधर्म में व्यक्ति-पूजा को कितना हेय और त्याज्य समझा गया है, यह एक उदाहरण से समझ लीजिए। इन्द्रभूति गौतम भगवान् महावीर के प्रधान शिष्य थे। ये 14 हजार साधुओं में मुख्य थे, इनके अनेक शिष्य-प्रशिष्य केवलज्ञान प्राप्त करके मुक्त हो गए किन्तु इन्हें केवलज्ञान प्राप्त नहीं हुआ। एक दिन इन्होंने भगवान् महावीर से इसका कारण पूछा। भगवान् ने कहा—गौतम ! तुझे मुझसे मोह हो गया है। वीतराग के पास रहकर तू अभी तक वीतरागता प्राप्त नहीं कर सका है। मोह से ग्रस्त हो रहा है। इसीलिए तू आज तक केवलज्ञान से वञ्चित रहा है। पर निराश होने वाली कोई बात नहीं है। मेरे निर्वाण के बाद तुम्हारा मोह-बन्धन टूट जाएगा और उसके पश्चात् तुझे केवलज्ञान की प्राप्ति हो जाएगी। परिणामस्वरूप भगवान् महावीर का निर्वाण हो जाने के अनन्तर ही श्री गौतम जी महाराज का मोह दूर हुआ और तभी उन्हें केवलज्ञान की प्राप्ति हुई।

इस घटना से यह स्पष्ट प्रमाणित हो जाता है कि जैनधर्म में व्यक्ति-पूजा को कोई स्थान नहीं है। यदि जैनधर्म व्यक्ति-पूजा में विश्वास रखता तो भगवान् महावीर के व्यक्तित्व से मोहित श्री गौतम को अवश्य केवलज्ञान की प्राप्ति हो जाती। पर ऐसा हुआ नहीं है। अतः वैदिक धर्म की भांति जैनधर्म व्यक्ति पूजा में कोई विश्वास नहीं रखता। वह तो संसार को गुण-पूजा का ही सन्देश देता है।

व्यक्ति-पूजा और गुण-पूजा दोनों में महान अन्तर है। व्यक्ति-पूजा में मनुष्य आराध्य

आदमी को खुश करके उसकी कृपा द्वारा सुख-साधन प्राप्त करना चाहता है। इसके विपरीत, गुण-पूजा द्वारा व्यक्ति आराध्य को अपने हृदय में उतार कर, उसके गुणों को उपलब्ध कर स्वयं तद्रूप बन जाना चाहता है। पहली परम्परा सामन्तशाही को जन्म देती है, जबकि दूसरी परमात्मस्वरूप के उत्थान को।

अहिंसा

वैदिक धर्म का विश्वास है कि "**वैदिकी हिंसा, हिंसा न भवति**" अर्थात् वेदों के नाम पर, वेदों के नेतृत्व में किए जाने वाले यज्ञ में जो हिंसा होती है, मनुष्य, पशु आदि की जो बलि दी जाती है, वह हिंसा नहीं है, अहिंसा है। भाव यह है कि वेद को माध्यम बनाकर जो हिंसा की जाती है वह अहिंसा की कोटि में ही समाविष्ट हो जाती है। राजा हरिश्चन्द्र को इस शर्त पर पुत्र की प्राप्ति होती है कि वह उसी पुत्र के द्वारा यज्ञ का अनुष्ठान करे, किन्तु पुत्र-मोह के कारण राजा हिचक जाता है, उसे कुछ रोग हो जाता है। अन्त में, बलि देने के लिए एक भूखे ब्राह्मण-पुत्र को खरीद लिया जाता है और उसकी बलि द्वारा यम देवता को प्रसन्न किया जाता है। इसके अतिरिक्त, वैदिक धर्म में अग्नि से प्रार्थना की जाती है कि हमारे शत्रुओं के घर जला। इन्द्र से अभ्यर्थना की जाती है कि अपने वज्र द्वारा शत्रुओं को मार डाल। ऐसे अनेकों उदाहरण उपस्थित किए जा सकते हैं, जिनसे यह प्रमाणित हो जाता है कि वैदिक परम्परा का आधार हिंसा है। इसके अलावा, वैदिक धर्म में यज्ञ को इतना अधिक महत्त्व दिया गया है कि मानो वह जीवन का एक अनिवार्य अंग ही हो। यज्ञ भी अनेकों प्रकार के हैं। बहुत से यज्ञ ऐसे हैं कि जिनके न करने से पाप लगता है, तो बहुत-से ऐसे हैं जिनसे मन की कामनाएं पूर्ण होती हैं। यदि नरक से बचना इष्ट है तो यज्ञ करना आवश्यक है। यदि धन, पुत्र, राज्य-विस्तार, शत्रु-नाश या अन्य किसी प्रकार का स्वार्थ पूर्ण करना है तो वह भी यज्ञ से ही सम्पन्न हो सकता है। किसी के प्राण लेने हों तो वह यज्ञ द्वारा लिए जा सकते हैं। इसमें विशेषता यह है कि यज्ञ में की गई हिंसा भी अहिंसा बन जाती है। जो जितने अधिक यज्ञ करता है, उसकी कीर्ति उतनी ही अधिक फैलती है। वहां पाप का प्रश्न ही खड़ा नहीं होता। इस प्रकार मनोकामना भी पूर्ण हो जाती है और धर्म भी हो जाता है।

इसके विपरीत जैनधर्म का महल अहिंसा की नींव पर खड़ा है। अहिंसा कहती है कि जिसको तुम कष्ट देना चाहते हो, वह तुम जैसा ही है, अत: किसी को कष्ट मत दो। जिसे तुम मारना चाहते हो वह तुम जैसा ही है, अत: किसी को मत मारो। जिसे तुम सताना चाहते

हो वह तुम जैसा ही है, अत: किसी को मत सताओ। जिसे तुम तंग करना चाहते हो वह तुम जैसा ही है, अत: किसी को तंग मत करो। अहिंसा जैनधर्म का प्राण है। गृहस्थ तथा मुनियों के लिए जितने भी व्रत-नियम बनाए गए हैं उनका मूलाधार अहिंसा है। असत्य, चोरी, अब्रह्मचर्य और परिग्रह आदि इसीलिए पाप माने जाते हैं क्योंकि ये हिंसा को प्रोत्साहन देते हैं।

आचारांग सूत्र में भगवान् महावीर कहते हैं कि जो अरिहन्त हो चुके हैं, जो विद्यमान हैं, जो भविष्य में होंगे वे सब यही कहते हैं, और कहेंगे कि किसी प्राणी (द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय और चतुरिन्द्रिय जीव), भूत (वनस्पतिकायिक जीव), जीव (पञ्चेन्द्रिय जीव) या सत्त्व (वनस्पतिकायिक जीवों को छोड़कर शेष सभी स्थावर जीव) को नहीं मारना चाहिए, न पकड़ना चाहिए और न ही उन्हें कष्ट पहुंचाना चाहिए। यह धर्म शुद्ध है, नित्य है, शाश्वत है। संसार को अच्छी तरह ज्ञानियों ने बताया है।

जैनधर्म कहता है कि अहिंसा धर्म है, और हिंसा पाप। हिंसा किसी के नाम पर की जाए, वेदों के नाम पर की जाए, ईश्वर या किसी अन्य देवी-देवता के नाम पर की जाए, वह हिंसा ही है। वह कभी अहिंसा का रूप नहीं ले सकती। आग अपने चूल्हे की हो या पड़ोसी के चूल्हे की, आग, आग है। वह सब को जलाती है। उसके सामने अपने और पराये का कोई पक्षपात नहीं रहता है। हिंसा भी एक प्रकार की आग है। वह भी जीवनगत दया को, अनुकम्पा और सहानुभूति के भावों को जलाकर राख बना देती है। हिंसा की आग जन्म-जन्मान्तर तक हिंसक को जलाती रहती है। ऐसी आग को अहिंसा का रूप कैसे दिया जा सकता है?

यह सत्य है कि आगे चलकर वैदिक परम्परा में भी सांख्याचार्य कपिल और भागवत सम्प्रदाय में वासुदेव श्रीकृष्ण आदि ऐसे युगपुरुष हो गए हैं, जिन्होंने हिंसक यज्ञों का विरोध करके अहिंसा की प्रतिष्ठा बढ़ाने का प्रयत्न किया। किन्तु ये युगपुरुष वैदिक परम्परा की यज्ञगत हिंसा को सर्वथा समाप्त करने में सफल नहीं हो सके। फिर भी आज वैदिक परम्परा में जो अहिंसा की भावना पायी जाती है, इसका कारण जैनधर्म का प्रभाव रहा है। एक बार "हिन्द तत्त्वज्ञाननो इतिहास" के लेखक श्री नर्मदाशंकर मेहता ने "जैनों और हिन्दुओं के बीच संस्कारों का पारस्परिक आदान-प्रदान" इस विषय पर बोलते हुए कहा था –

. . . चौबीस तीर्थंकरों में से पार्श्वनाथ (तेईसवें) और महावीर (चौबीसवें) वास्तव में ऐतिहासिक महापुरुष हैं। वे वासुदेव कृष्ण के पीछे हुए हैं। इन दोनों महापुरुषों में से

पार्श्वनाथ भगवान् बुद्ध के पहले हुए हैं और महावीर बुद्ध के समकालीन हैं। इन दोनों महापुरुषों ने स्पष्ट रूप से कहा कि हिंसा और शुद्ध धर्म, इन दोनों का मेल सम्भव नहीं है। तथा धर्म के बहाने से पशुवध करना पुण्य नहीं, किन्तु पाप है। इस निश्चय को उन्होंने अपने शुद्ध चारित्र के द्वारा और संघ के प्रभाव से प्रजा में फैलाया। उसका हिन्दुओं पर ऐसा गहरा प्रभाव पड़ा कि यज्ञ में हिंसा करना धर्म है, ऐसा कहने के लिए कोई हिन्दू तैयार नहीं है। आज विद्वान और धर्मचिन्तक शास्त्री गण उस हिंसा का प्रतिपादन मात्र कर सकते हैं, किन्तु यदि कोई ठेठ वैदिक धर्म के अनुसार श्रौतकर्म करने वाला सोमयाग[1] करने को तैयार हो तो हिन्दू उसको तिरस्कारपूर्वक निकाल दें और स्लाटर हाऊस (वधगृह) में पशुवध करने वाले कसाई की तरह उसकी दुर्गति करें।[2]

मेहता जी के इस भाषणांश से यह स्पष्ट हो जाता है कि जैनधर्म की अहिंसा का वैदिक परम्परा पर काफी प्रभाव पड़ा है और इसीलिए इस परम्परा के लोग हिंसा में अरुचि रखने लग गए हैं तथा अहिंसा को आदर एवं सम्मान की दृष्टि से देखते हैं। "**मा हिंस्यात् सर्वाणि भूतानि**" आदि जितने भी वाक्य वैदिक परम्परा में पाए जाते हैं, इनके मूल में अहिंसा-प्रधान जैनधर्म का प्रभाव ही काम कर रहा है।

स्वावलम्बन

वैदिक परम्परा परावलम्बन पर आश्रित है, वह परमुखापेक्षी है, उसमें दु:खों से मुक्ति प्राप्त करने के लिए तथा सुखों की उपलब्धि के लिए ईश्वर या देवी-देवताओं की शरण में जाना पड़ता है। इसके विपरीत जैनधर्म का आधार स्वावलम्बन है। इसमें व्यक्ति को अपना उद्धार करने के लिए परमुखापेक्षी नहीं बनना पड़ता, ईश्वर या किसी अन्य देवी-देवता के द्वार नहीं खटखटाने पड़ते। इसके विश्वासानुसार जीव स्वयं ही विकास करता है, अपने भाग्य का स्वयं निर्माता है, अपने भले-बुरे के लिए स्वयं उत्तरदायी है। जैनधर्म कहता है—

हे मानव ! तू स्वयं अपना मित्र है, अपने को छोड़कर अन्य मित्र कहां ढूंढ़ रहा है?[3] सत्य-अहिंसा के महापथ पर चलने से तथा राग-द्वेष की वृत्तियों का त्याग कर देने से आध्यात्मिकता की उच्चता को प्राप्त यह जीवन आत्मा को मित्र की तरह काम देता है और

1. एक त्रैवार्षिक यज्ञ जिसमें सोमपान होता है-बृहद् हिंदी कोष।
2. पण्डित कैलाश चन्द्र जी शास्त्री कृत, "जैनधर्म" पृष्ठ 347.
3. पुरिसा ! तुममेव तुमं मित्तं, किं बहिया मित्तमिच्छसि। –आचारांग सूत्र 1, 3, 3.

यही जीवन जब वासनाओं की अन्ध गलियों में चक्र लगाने लग जाता है, हिंसा और असत्य के कुपथ पर चल देता है तो आत्मा कों अमित्र अर्थात् शत्रु का नाम देता है। शत्रुता और मित्रता का उत्पादक आत्मा स्वयं है। बाहर का न कोई शत्रु है, और न कोई मित्र है।

वैदिक धर्म में मनुष्य देवी-देवताओं का दास है, गुलाम है, उनके क्रोध से वह कांप उठता है, और उनकी कृपा होने पर वह हर्ष-विभोर हो जाता है, किन्तु जैनधर्म का विश्वास है कि मनुष्य को यदि भय है तो अपने ही दुष्कर्मों से है। जीवन में खेल रहे काम, क्रोध, मोह, लोभ आदि विकार ही मनुष्य को दु:खी और पीड़ित करते हैं। यदि मनुष्य इन विकारों से पिंड छुड़ा लेता है, अपने को सर्वथा निर्विकार बना लेता है तो उसे ईश्वर या अन्य किसी देवी-देवता से भयभीत होने की कोई आवश्यकता नहीं है। जैनधर्म का विश्वास है कि आत्मा में अनन्त दर्शन है, अनन्त ज्ञान है, अनन्त सुख है और अनन्त बल है। दुर्बलता की भावना को छोड़कर यदि वह अपनी शक्तियों को प्रकट कर ले, आत्म-शक्तियों पर आ रहे कर्म रूपी बादलों को फाड़ डाले तो इस आत्मा से बढ़कर कोई शक्तिशाली नहीं है। आत्मा अनन्त शक्ति का पुंज है, शक्तियों का स्रोत है। अपने वास्तविक स्वभाव में लीन न होने के कारण तथा पापों में आसक्त रहने के कारण यह अपने आप को भूल चुका है। जिस दिन यह त्याग और तपस्या के द्वारा अपने को विशुद्ध और निर्विकार बना लेगा, उसी दिन अपने में ही इसे ईश्वरत्व, परमात्मत्व के दर्शन हो जायेंगे। यह आत्मा स्वयं परमात्मा बन जायेगा।

साम्यवाद

वैदिक धर्म जन्मकृत वैषम्य को लेकर चलता है, वह जन्म से ही मनुष्य को ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र का रूप देता है। उसने ब्राह्मण को सर्वोपरि स्थान दिया है, और शूद्र को सबसे हीन माना है। इसके यहां शूद्र को आध्यात्मिक उत्कर्ष का कोई अधिकार नहीं है। शूद्र धर्म-स्थान में नहीं जा सकता, उसे धर्मशास्त्र सुनने या पढ़ने का कोई हक नहीं है। किन्तु जैनधर्म का ऐसा विश्वास नहीं है। यहां मनुष्य ही नहीं, समस्त प्राणियों को समान अधिकार प्राप्त है। इसके यहां जन्म से न कोई ब्राह्मण है, न कोई शूद्र है। जिसके जैसे कर्म होते हैं, उसको उसी नाम से पुकारा जा सकता है और प्रत्येक वर्ण का व्यक्ति यथेच्छ धर्मशास्त्र पढ़ सकता है, धर्माराधन कर सकता है। हरिकेशी मुनि जन्म से चाण्डाल कुल में उत्पन्न होने पर भी साधु-धर्म की परिपालना से सभी के पूज्य बन गये। यहां तक कि देवता भी उनके सेवक बन गये। ब्राह्मणत्व को भी उनके चरणों में नतमस्तक होना पड़ा। "**सक्खं खु दीसइ**

तवोविसेसो, न दीसइ जाइविसेस कोई।"[1] इस स्वर ने आकाश को गुंजा दिया था।

जैनधर्म का कहना है कि विश्व के जितने भी मनुष्य हैं, वे सब मूलत: एक हैं। कोई भी जाति, कोई भी वर्ण मनुष्य-जाति की मौलिक एकता को भंग नहीं कर सकता। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शुद्र इन वर्णों की रचना तो समाज की विभिन्न प्रकार की आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए की गयी थी। एक वर्ग का काम था, कि वह अध्यापन का काम करे, जनता को रास्ता दिखलाने का प्रयत्न करे, और जब-जब समाज में गल्तियां होवें तो उन्हें ठीक ढंग से दुरुस्त करे। ऐसा वर्ग ब्राह्मण वर्ग के नाम से समाज के सामने आया। सबलों द्वारा निर्बल पीड़ित न किये जायें, दुर्बलों को रहने का उतना ही अधिकार है, जितना कि बलवानों को। अत: उनकी समुचित रक्षा की जाये, इस प्रयोजन से क्षत्रिय वर्ण की स्थापना हुई। कोई वस्तु कहीं बहुतायत से होती है, वहां वह उपयोग करने के बाद भी पड़ी सड़ती है, और जहां नहीं होती वहां के लोग उसके बिना असुविधा अनुभव करते हैं, और कष्ट भोगते हैं, इस परिस्थिति को बदलना और यथावश्यक वस्तुएं सर्वत्र सुलभ कर देना वैश्य वर्ण का कर्त्तव्य था। इस कर्त्तव्य का प्रामाणिकता के साथ पालन करते हुए अपने और अपने परिवार के निर्वाह के लिए वह उचित पारिश्रमिक लिया करता था, वैश्य वर्ण की स्थापना में यही मूल भावना थी।

चौथा शूद्र वर्ण था। इसका कार्य बड़ा ही महत्त्वपूर्ण था। यह समाज की सेवा किया करता था। उसकी सेवा की बदौलत समाज स्वस्थ रहता था और प्रजा का जीवन सुख-सुविधा के साथ व्यतीत होता था। शूद्र वर्ण की स्थापना में किसी प्रकार की हीनता की भावना नहीं थी।

जैनधर्म के विश्वासानुसार उक्त धन्धों के कारण मानव-जाति के चार विभाग किए गए थे। या यूं कहें कि मनुष्य-जाति की सुख-सुविधा के लिए धन्धों को चार भागों में बांट दिया था और योग्यता को आधार बनाकर उनके कर्त्ता व्यक्तियों के चार भाग कर दिए गए थे। अलग-अलग धन्धे करते हुए सबमें प्रेम था, कोई भेद-भाव नहीं था। मगर समय ने करवट ली। जब द्वेष और अहंकार की भावनाएं तीव्र हुईं तो धन्धों के आधार पर बने हुए विभिन्न वर्गों में ऊंच-नीच की भावना अंकुरित होने लगी। उसके जहरीले फल सर्वत्र फैले और उन्होंने मानव-जाति की महत्ता और पवित्रता को नष्ट कर दिया। मनुष्य समझने लगा कि अमुक धन्धा करने वाला व्यक्ति नीच है। धीरे-धीरे धन्धों की बात भी उड़ गयी और जन्म

1. साक्षात् खलु दृश्यते तपोविशेष:, न दृश्यते जातिविशेष कोऽपि। उत्त. 12/37.

से ही उच्चता तथा नीचता, पवित्रता तथा अपवित्रता समझी जाने लगी। परिणाम यह हुआ कि जन्मना जातिवाद को लेकर मनुष्य-मनुष्य के बीच भेद करने वाली फौलादी दीवारें खड़ी हो गयीं और अखण्ड मानव-जाति खण्ड-खण्ड कर दी गयी।

जन्मना जातिवाद की परम्परा का प्रतिनिधित्व करने वाला वैदिक धर्म है, और कर्मणा जातिवाद की परम्परा का प्रतिनिधित्व जैनधर्म करता है। जैनधर्म जन्मना जातिवाद का सर्वथा विरोधी है। जैनधर्म कहता है कि मनुष्य जब जन्म लेकर आता है तो वह क्या लेकर आता है? वह हड्डियों का और मांस का ढेर ही तो लेकर आता है। क्या किसी की हड्डियों पर ब्राह्मणत्व की, किसी के मांस पर क्षत्रियत्व की या किसी के चेहरे पर वैश्यत्व की मोहर लगी हुई होती है? या ब्राह्मण किसी और रूप में, और क्षत्रिय, वैश्य या शूद्र किसी और रूप में आता है? आखिर शरीर तो शरीर ही है। वह पुद्गलों का पिण्ड स्वरूप है। उसमें जाति-पांति का कोई नैसर्गिक भेद नहीं है। वह अपने आप में पवित्र या अपवित्र नहीं है। पवित्रता या अपवित्रता का आधार आचरणगत शुद्धता और अशुद्धता है। आचरण ज्यों-ज्यों पवित्र होता चला जाता है, त्यों-त्यों शुद्धि बढ़ती चली जाती है, और ज्यों-ज्यों वह अपवित्र होता चला जाता है, त्यों-त्यों अशुद्धि बढ़ती चली जाती है। किसी वर्ण विशेष में जन्म लेने मात्र से न कोई पवित्र हो सकता है और न कोई अपवित्र या अशुद्ध हो सकता है। शुद्धता या अशुद्धता का जन्म के साथ कोई सम्बन्ध नहीं है। यही जैनधर्म का साम्यवाद है।

वेदों की पौरुषेयता

वैदिक धर्म वेदों में प्रतिपाद्य विषय को ईश्वरीय ज्ञान कहता है, और उसे पौरुषेय–पुरुषकृत नहीं मानता है। उसका विश्वास है कि वेदों का एक-एक शब्द ईश्वर का अपना कहा हुआ है और वह ऋषियों के माध्यम से वेदों के रूप में हमारे सामने अवस्थित है। यही उसकी अपौरुषेयता है, किन्तु जैनधर्म वेदों को अपौरुषेय नहीं मानता है। उसका विश्वास है कि वेद पुरुषकृत हैं। इनकी रचना मनुष्य ने की है, इनका निर्माता ईश्वर नहीं है।

वेदों को यदि ईश्वर की रचना माना जाए, तो वह रचना तीन प्रकार से हो सकती है–एक तो ऐसे कि ईश्वर ने स्वयं पहले उनको लिख लिया हो, और फिर उसकी नकल करके अन्य ऋषियों ने उसकी कॉपी कर ली हो। दूसरे इस तरह कि ईश्वर बोलता गया हो और किसी पढ़े-लिखे मनुष्य ने उसे लिख लिया हो, जैसे प्रज्ञाचक्षु विद्वान स्वयं बोलता जाता है और लिखने वाला उसे लिखता चला जाता है। ऐसे ही ईश्वर ने वेदों को बोल दिया हो और

किसी दूसरे ने उन्हें लिख लिया हो। तथा तीसरा प्रकार यह भी है कि ईश्वर ने किसी के कान में वेदों को सुना दिया हो और उसने अन्य लोगों के हित के लिए स्वयं पुस्तक रूप में लिखकर तैयार कर दिया हो। इन तीनों मार्गों के सिवाय और कोई अन्य मार्ग दिखाई नहीं देता, जिसके सहारे ईश्वर ने वेदों का निर्माण किया हो।

उक्त तीनों प्रकारों में से पहले मार्ग से वेदों का बनना सर्वथा असम्भव है, क्योंकि जिस ईश्वर को वैदिक दर्शन सर्वव्यापक और निराकार मानता है, लिखने के वास्ते उसके पास हाथ कहां हैं? जब उसका कोई आकार ही नहीं है, शरीर ही नहीं है, तो उसमें हाथ, पांव आदि शारीरिक अवयवों की अवस्थिति कैसे सम्भव हो सकती है? और हाथों के बिना लेखनादि कार्य कैसे हो सकता है? वैदिक दर्शन स्वयं भी वेद-निर्माण में इस पद्धति को स्वीकार नहीं करता है। अत: वेद रचना में पहला प्रकार किसी भी तरह संगत नहीं ठहरता है। दूसरा प्रकार भी वेदों की रचना में प्रामाणिक प्रमाणित नहीं होता, क्योंकि ईश्वर जब निराकार है, और निराकार होने से उसके मुख, जिह्वा है ही नहीं, तब वह स्वयं बोलकर वेदों को लिखा भी कैसे सकता है? अत: दूसरा प्रकार भी वेदों के निर्माण में सत्य नहीं ठहरता है। रही तीसरे प्रकार की बात, उसकी भी परीक्षा कर लीजिए। प्रथम तो जब ईश्वर निराकार है, तब मुखादि के अभाव में उसमें उपदेश देने की क्रिया का होना असम्भव है, दूसरे यदि कुछ देर के लिए ऐसी क्रिया मान भी ली जाए तो वह क्रिया भी सर्वव्यापक ईश्वर में सर्वव्यापिनी ही होगी। फिर ऐसी अवस्था में ईश्वर का उपदेश सब जीवों के हृदयों में जाना चाहिए जिससे सभी जीव वेदो की रचना कर सकें। ऐसा न होकर केवल अग्नि, वायु, आदित्य और अंगिरा इन चार ऋषियों के हृदयों में ही और वह भी केवल क्रमश: चारों में ही एक-एक वेद का प्रकाश क्यों कर हुआ? क्योंकि सर्वव्यापक ईश्वर की क्रिया सर्वव्यापिनी होती है, वह एक-देशी नहीं हुआ करती।

वैदिक धर्म की मान्यता के अनुसार ईश्वर ने वेदों का ज्ञान चार ऋषियों को दिया, फिर उन ऋषियों ने वैसा उपदेश अन्य को दिया। उसने फिर वैसे उपदेश से दूसरों को पढ़ाया, इस प्रकार परम्परा चलते-चलते जब स्मरण शक्ति क्षीण होने लगी, तो उन्होंने उन उपदेशों को अक्षर रूप में लिख डाला, जो कि आज चारों वेदों के रूप में हमारे सामने अवस्थित हैं। यहां एक प्रश्न होता है कि उन ऋषियों ने ईश्वर के उपदेशानुसार ही ठीक ज्यों के त्यों वेद अक्षर रूप में लिख डाले थे, इसमें क्या प्रमाण है? वे ऋषि भी तो आखिर असर्वज्ञ और संसारी मनुष्य ही थे। ईश्वर की अपेक्षा अल्पज्ञानी थे। उनकी आत्मा में राग-द्वेष भी निवास करता

था, वे वीतराग नहीं थे। फिर उन्होंने अपने ज्ञान की कमी से या कदाचित् बुद्धिप्रखरता से या राग और द्वेष के कारण उस ईश्वर के उपदेश को अक्षर रूप में कम, अधिक या कुछ का कुछ लिख डाला हो, यह सब सम्भव है। ऐसी दशा में वेदों की प्रामाणिकता और अपौरुषेयता कैसे सुरक्षित रह सकती है?

ऐसी अनेकों युक्तियां और भी उपस्थित की जा सकती हैं, जिनसे वेदों की अपौरुषेयता किसी भी प्रकार प्रमाणित नहीं हो सकती, परन्तु विस्तारभय से यहीं इस विषय को समाप्त करते हुए अन्त में इतना निवेदन करेंगे कि जैनधर्म केवल वेदों को ही नहीं, प्रत्युत प्रत्येक शास्त्र को पौरुषेय मानता है। उसका विश्वास है कि शास्त्रों का निर्माण मनुष्य करता है, भगवान् या ईश्वर ने उनकी रचना नहीं की है। इसके अलावा, यह भी समझ लेना आवश्यक है कि जैनधर्म वेदों को जहां पुरुषकृत मानता है, वहां वह उनको सर्वेसर्वा प्रामाणिक भी स्वीकार नहीं करता। जैनधर्म उसी शास्त्र को प्रामाणिक और अध्यात्मशास्त्र स्वीकार करता है, जो अहिंसा, संयम और तप का विवेचन करता हो, और मानव जगत को इस त्रिवेणी में गोते लगाने की प्रेरणा प्रदान करता हो। जिस शास्त्र में ये बातें नहीं होतीं, बल्कि जो शास्त्र हिंसा का विधान करता है, जैनधर्म उस शास्त्र को अध्यात्मशास्त्र ही मानने को तैयार नहीं है। वेदों में हिंसामय यज्ञों का विधान है, ऐसे अनेकों मन्त्र वेदों में पाए जाते हैं जो स्पष्ट रूप से मांसाहार तथा पशुबलि की प्रेरणा देते हैं। यजुर्वेद अध्याय 19, मन्त्र 20, तथा यजुर्वेद अध्याय 13, मन्त्र 9, आदि ऐसे अनेकों स्थल हैं जो हिंसा का स्पष्ट रूप से पोषण करते हैं। इसीलिए जैनधर्म वेदों पर विश्वास नहीं रखता, और उन्हें प्रामाणिक रूप से स्वीकार नहीं करता।

वेदों में ऐसे-ऐसे अश्लील मन्त्र भी आते हैं, जिन्हें सुनकर लज्जा आती है। उदाहरणार्थ–यजुर्वेद अध्याय 6, मन्त्र 14 तथा यजुर्वेद अध्याय 23 के 19वें मन्त्र से लेकर 31वें मन्त्र तक अश्लीलता का वर्णन देखा जा सकता है। जो वेद धर्म के नाम पर की जाती पशु-हिंसा तथा ईश्वर-कर्तृत्व आदि की असंगत और तर्क-विरुद्ध बातों तथा अश्लील कथनों से भरे पड़े हैं जैनधर्म उनको प्रामाणिक कैसे मान सकता है।[1]

---

1. यदि कोई महानुभाव विशेष रूप से वेदगत उक्त अश्लील बातों को जानना चाहे, उसे पण्डित श्री अजित कुमार जैन शास्त्री द्वारा लिखित "सत्यार्थ दर्पण" के "वेदों को ईश्वरीय ग्रन्थ समझना भूल है" इस लेख को पढ़ना चाहिए। इस पुस्तक की प्राप्ति मंत्री, साहित्य विभाग, भारतवर्षीय दिगम्बर जैन संघ, चौरासी, मथुरा से हो सकती है।

वैसे जैनों को वेदों से कोई शत्रुता नहीं है। जैनों को तो वेदों में यज्ञ के नाम पर जो पशु-हिंसा का विधान किया गया है, वीतराग ईश्वर में जो जगत-कर्तृत्व आदि का असंगत विश्वास है, तथा अश्लील कथन हैं, उनका विरोध है। और यह विरोध किसी द्वेष को लेकर नहीं है, किन्तु वस्तु-स्थिति के आधार पर है। वेदों को अपौरुषेय मानना, हिंसा को धर्म कहना, जड़ को भगवान् समझना अर्थात् मूर्तिपूजा करना, ईश्वर को जगत का निर्माता, भाग्य का विधाता, कर्मफल-प्रदाता, अवतार लेकर आता, इस प्रकार स्वीकार करना आदि बातें किसी भी तरह युक्तियुक्त प्रमाणित नहीं होती हैं। इसीलिए जैनधर्म वेदों को अपना धर्म-ग्रन्थ मानने से इन्कार करता है।

ईश्वर का अकर्तृत्व

वैदिकधर्म जगत का नियामक और रचयिता ईश्वर को मानता है। उसका विश्वास है कि ईश्वर ही संसार का सर्वेसर्वा है, उसके संकेत के बिना वृक्ष का पत्र भी कम्पित नहीं हो सकता। संसार में जो कुछ होता है, मनुष्य पशु, पक्षी आदि प्राणियों की जो भी चेष्टाएं दृष्टिगोचर होती हैं, उन सब का मूल प्रेरक ईश्वर है। ईश्वर की इच्छा के बिना कुछ भी नहीं हो सकता। किन्तु जैनधर्म का ऐसा विश्वास नहीं है। जैनधर्म जगत को अनादि अनन्त मानता है। उसका कहना है कि इस जगत को ईश्वर या किसी अन्य देवी-देवता ने नहीं बनाया है। यह जगत पहले था, अब है, और भविष्य में यह रहेगा। त्रिकालवर्ती इस जगत का न किसी ने निर्माण किया है और न कोई इसका विनाश कर सकता है।

जैनधर्म का विश्वास है कि जो परमात्मा सांसारिक प्रपंचों से मुक्त हो चुका है, वह पुन: उनकी खट-पट में नहीं पड़ता है। यदि यह मान लिया जाए कि परम दयालु परमात्मा संसार का सर्वेसर्वा है तो वह जीवों को दु:खी क्यों रखता है? क्यों नहीं सब जीवों को एकान्त सुखी बना डालता? किसी पिता का पुत्र नदी में डूबता रहे और वह समर्थ होता हुआ भी यदि किनारे पर खड़ा देखता या ताकता रहे तो क्या उसे पिता कहना चाहिए? वह पिता है या पुत्रघातक? ऐसे व्यक्ति को जैसे पिता नहीं कहा जा सकता, ऐसे ही उसे परमात्मा नहीं कहा जा सकता जो संसार का सर्वेसर्वा होकर भी दु:खियों पर दया नहीं करता। फिर भी यदि उस ईश्वर को करुणा का सागर कहा जाए तो यह ईश्वर के ईश्वरत्व का उपहास नहीं तो और क्या है?

जैन-दृष्टि से ईश्वर जगत का निर्माता नहीं है, भाग्य-विधाता नहीं है, कर्मफल-प्रदाता

नहीं है तथा अवतार लेकर संसार में आता नहीं है। जैन दृष्टि से ईश्वर के सम्बन्ध में प्रस्तुत पुस्तक के "ईश्वर मीमांसा" नामक छठे अध्याय में विशेष ऊहापोह किया जा चुका है। जिज्ञासुओं को वह स्थल देख लेना चाहिए।

जगत की महाप्रलय नहीं होती

वैदिक धर्म का विश्वास है कि संसार में जब प्रलय होती है, तब पर्वत, नदी, सूर्य, चन्द्र, पृथ्वी, मनुष्य, पशु, पक्षी आदि सभी जीव तथा उनके शरीर आदि सभी पदार्थ नष्ट हो जाते हैं, एक भी पदार्थ शेष नहीं रहने पाता, समस्त जड़ पदार्थ परमाणु रूप हो जाते हैं। चर, अचर जगत का सर्वथा विनाश ही वैदिक धर्म में प्रलय कहा जाता है, और यह प्रलय चार अरब बत्तीस करोड़ वर्ष तक रहती है। किन्तु जैनधर्म इस प्रलय में विश्वास नहीं रखता। इसका कहना है कि मनुष्य, पशु आदि का बीज नाश न कभी हुआ है, और न कभी होगा।

वैदिक धर्म सम्मत प्रलय के सम्बन्ध में अनेकों प्रश्न उपस्थित होते हैं। इस प्रलय का कारण क्या है? इसे कौन लाता है? यदि इसका कारण ईश्वर को माना जाये तो यह सत्य सिद्ध नहीं होने पाता। क्योंकि निराकार ईश्वर साकार वस्तुओं को कैसे बिगाड़ सकता है? शुद्ध, निर्विकार ईश्वर को ऐसा करने की आवश्यकता भी क्या है? क्या जगत की अवस्थिति से उसका नुकसान होता है? या ऐसा कौन सा दबाव या बोझ उसके ऊपर पड़ा हुआ था, जिसके कारण उसे विवश होकर विश्व का सर्वनाश करना पड़ता है? कुछ समझ में नहीं आता। जब "विषवृक्षोऽपि सम्बर्द्ध्य स्वयं छेत्तुमसाम्प्रतम्"[1] ऐसा सिद्धान्त है तो ईश्वर संसार संहार के जैसा दुष्टकर्म कैसे कर सकता है? एक ओर ईश्वर को निर्विकार तथा पवित्र कहना और दूसरी ओर उस पर संसार के संहार का निर्मूल कलंक लगाना, यह कहां की शिष्टता है? और कितनी विचित्र ईश्वर की उपासना है?

कुछ समय के लिए यदि मान लिया जाये कि संसार के सभी पदार्थों का सर्वथा नाश हो जाता है, तो प्रश्न उपस्थित होता है कि पुन: जगत की उत्पत्ति कैसे होगी? प्रकृति का सिद्धान्त है कि प्रत्येक पदार्थ अपने उपादान कारणों से ही उत्पन्न होता है, अन्य प्रकार से नहीं। जब उपादान कारण ही नष्ट हो गया तो तज्जन्य कार्य की उत्पत्ति कैसे हो सकती है? आप प्रतिदिन देखते हैं कि आम के बीज से ही आम्र का वृक्ष उत्पन्न होता है। जिस बीज से नीम

1. यदि विष का वृक्ष भी लगा दिया जाए, उसका संवर्धन कर दिया जाए तो उसका संहार नहीं करना चाहिए। अर्थात्–संरक्षित तथा पालित जीवन का नाश नहीं करना चाहिए।

का वृक्ष पैदा होता है उससे आम का पेड़ पैदा नहीं हो सकता। इसी तरह सिंह जाति के जीव सिंह के वीर्य से ही उत्पन्न होते हैं, मनुष्य की पैदायश के लिए मनुष्य का ही वीर्य होना निहायत जरूरी है। इस प्रकार सभी गर्भज, अण्डज और वृक्ष आदि जीवों के शरीरों के उपादान कारण निश्चित हैं, अत: वे अपने उपादान कारण से तो उत्पन्न हो सकते हैं, परन्तु दूसरे पदार्थ से उनका शरीर नहीं बन सकता। ऐसी दशा में प्रलयकाल में मनुष्य, पशु आदि सबके समाप्त हो जाने पर मनुष्य, पशु, पक्षी आदि प्राणियों की उत्पत्ति नहीं हो सकेगी। जगत की सर्वथा प्रलय मान लेने पर ऐसी अनेकों आपत्तियां और आशंकाएं उपस्थित होती हैं, जिनका कोई सन्तोषजनक समाधान नहीं मिलता।

इसके अलावा, प्रलय का समय सृष्टिकाल के बराबर चार अरब 32 करोड़ वर्ष का बताया जाता है। यह किस हिसाब से और किस नियम के अनुसार बतलाया गया है, यह विचारणीय है। क्या ईश्वर ने सदा के लिए प्रलय और जगत का समय निश्चित कर रखा है? या किसी ने ईश्वर पर ऐसा प्रतिबन्ध लगा रखा है कि इसी तरह कार्य करते रहो? यदि ईश्वर पर किसी ने प्रतिबन्ध लगा रखा है तो प्रतिबन्धक ईश्वर से भी बड़ा होना चाहिए? आदि ऐसे अन्य अनेकों प्रश्न पैदा हो जाते हैं, जिनका कोई युक्तिसंगत उत्तर प्राप्त नहीं होता।

प्रलय होना, यद्यपि जैनधर्म में भी माना गया है किन्तु यहां सकारण और खण्डरूप प्रलय को स्वीकार किया गया है। जैनधर्म ने प्रलय करने का दोष ईश्वर को नहीं सौपा है, किन्तु वह कालस्वभाव से इसकी सत्ता को मानता है। जैनधर्म खण्डप्रलय के कारण अतिशय भयंकर महातूफान (आंधी) अतिजलवृष्टि और अग्निवृष्टि आदि बतलाता है। तथा इन कारणों से भी आकाश, पृथ्वी, सूर्य, चन्द्र आदि का प्रलय नहीं मानता है। इस प्रलय में मकान, वृक्ष तथा बहुत-से जीवों के शरीर का नाश होता है, किन्तु गर्भज, अण्डज आदि प्राणियों के युगल (दम्पत्ति) अवश्य जीवित रहते हैं। यह प्रलय भी सर्वत्र नहीं होती, किन्तु कुछ एक क्षेत्रों में। भाव यह है कि वैदिक धर्म महाप्रलय या सर्वप्रलय मानता है, और जैनधर्म खण्ड-प्रलय। सर्वप्रलय में आकाश को छोड़कर सब पदार्थों की प्रलय हो जाती है, जबकि खण्डप्रलय में पदार्थों का नाश तो होता है किन्तु सर्वनाश या बीजनाश नहीं होने पाता है। इसमें गर्भज और अण्डज जीवों के स्त्री-पुरुष जीवित रहते हैं।

जैनदर्शन ने काल के अवसर्पिणी और उत्सर्पिणी ये दो विभाग किये हैं। अवसर्पिणी काल में पुद्गलों के वर्ण, गन्ध, रस और स्पर्श हीन होते चले जाते हैं। शुभ भाव घटते हैं और अशुभ भाव बढ़ते हैं। इसके छ: विभाग हैं-1. सुषम-सुषमा, 2. सुषमा, 3. सुषम-दुषमा,

4. दुषम-सुषमा, 5. दुषमा, 6. दुषम-दुषमा। प्रत्येक विभाग को जैनदर्शन में 'आरा' शब्द से व्यक्त किया गया है। पहला आरा सब प्रकार के सुखों से परिपूर्ण होता है। दूसरे आरे में सुखोत्पादक सामग्री में कुछ हीनता आ जाती है। तीसरे आरे में सुख के साथ दु:ख भी होता है। चौथे में दु:ख विशेष और सुख कम होता है। पांचवां आरा दु:खप्रधान है, तथा छठा सर्वथा दु:खों से परिपूर्ण होता है। इसी भांति उत्सर्पिणी काल के भी छ: आरे होते हैं-1. दुषम-दुषमा, 2. दुषमा, 3. दुषम-सुषमा, 4. सुषम-दुषमा, 5. सुषमा, और 6. सुषम-सुषमा। अवसर्पिणी काल के जो छ: आरे हैं वे ही आरे इस काल में उलटे रूप से होते हैं। इनका स्वरूप भी ठीक वैसा ही है, किन्तु विपरीत क्रम से। जैसे अवसर्पिणी काल का छठा आरा दुषमा-दुषमा है, किन्तु उत्सर्पिणी काल का यह पहला आरा होगा। इसी भांति अगले आरों के सम्बन्ध में भी जान लेना चाहिए। अन्तर केवल इतना है कि अवसर्पिणी काल में वर्ण, रस, गन्ध आदि की पर्यायों में तथा मनुष्य आदि की अवगाहना, स्थिति, संहनन और संस्थान आदि में उत्तरोत्तर हीनता होती चली जाती है, जबकि उत्सर्पिणी में क्रमश: वृद्धि।

अवसर्पिणीकाल का जब छठा आरा आरम्भ होता है, तब जीवों के पापाधिक्य से शरीरों में भयंकर व्याधियां पैदा हो जाती हैं, मेघ आग और विष आदि की वर्षाएं करते हैं, सूर्य अधिक तपता है, चन्द्र अति शीतल बन जाता है। परिणामस्वरूप वनस्पतियां और त्रस प्राणी नष्ट होने आरम्भ हो जाते हैं, पहाड़ और नगर पृथ्वी से मिल जाते हैं, केवल एक वैताढ्य पर्वत स्थिर रहता है, गंगा और सिन्धु ये दो नदियां कायम रहती हैं, इनमें मच्छ, कच्छप आदि जीव रहते हैं। इस आरे के मनुष्य अधिक से अधिक एक हाथ के होते हैं और इनकी उत्कृष्ट आयु बीस वर्ष की होती है। ये वैताढ्य पर्वत की 72 बिलों में रहते हैं। ये मांसाहारी होते हैं। धर्म-कर्म का इनको कोई बोध नहीं होता। इसीलिए ये प्राय: नरक और तिर्यंच गति के गामी जीव होते हैं। उत्सर्पिणी काल के आरम्भ होने पर इनके विकास का उदय होता है। उससे पहले ये बहुत बुरी अवस्था में रहते हैं।

जैनधर्म छठे आरे की इस दशा को ही खण्ड-प्रलय के नाम से पुकारता है। इसमें मनुष्य, पशु आदि प्राणियों का बीजनाश स्वीकार नहीं करता जबकि वैदिक धर्म के महाप्रलय में सर्वनाश का ही रूपान्तर है। यही इन दोनों में पारस्परिक अन्तर है।

श्राद्ध की अयथार्थता

श्राद्ध वैदिक धर्म का अपना पारिभाषिक शब्द है। इसका अर्थ है-वर्ष के अनन्तर पितरों को प्रसन्न करने के लिए उनकी मरण-तिथि के दिन श्रद्धापूर्वक ब्राह्मणों को अन्न,

वस्त्र आदि का दान करना, ब्राह्मणों को खीर आदि पदार्थों का भोजन खिलाना, इस विचार से खिलाना कि इनके द्वारा यह भोजन हमारे पितरों के पास पहुंच जायेगा। इससे उनकी तृप्ति तथा प्रसन्नता होगी। वैदिक धर्म का विश्वास है कि पितरों की मरण-तिथि को श्राद्ध करने से, ब्राह्मणों को भोजन खिलाने से पितर (स्वर्गीय आत्माएं) प्रसन्न होती हैं, तृप्त हो जाती हैं। किन्तु जैनधर्म का ऐसा विश्वास नहीं है। यह कहता है कि जो पितर (मृत पूर्वज) लोकान्तर को प्राप्त हो चुके हैं, वे अपने शुभाशुभ कर्मों के अनुसार देव, नरक आदि गतियों में उत्पन्न हो चुके हैं, वहां के सुख-दु:ख भोग रहे हैं, उन्हें फिर पूर्वजन्म के पुत्रादि द्वारा दिये पिण्डों की इच्छा कैसे उत्पन्न हो सकती है? हम सब स्वयं भी तो कहीं न कहीं से आये हैं, हमारे भी पुत्र आदि होंगे ही, हम भी तो किन्हीं के पितर हैं ही, जब हम कभी उनसे अन्नादि की इच्छा नहीं करते हैं, तो हमारे पितर हमसे अन्नादि की इच्छा क्यों कर सकते हैं? यदि हमारे मन में पूर्वजन्म के पुत्रादि से धनादि प्राप्ति की इच्छा हो भी तो जैसे हमारी यह इच्छा पूर्ण नहीं हो पाती, वैसे ही हमारे पितरों की इच्छा कैसे पूर्ण हो सकती है?

श्राद्ध से मृतक व्यक्तियों की इच्छा पूर्ण होती है, या तृप्ति होती है, यह बात सर्वथा असंगत प्रतीत होती है। यदि गम्भीरता से इस पर विचार किया जाये तो इसमें कुछ भी तथ्य मालूम नहीं पड़ता। यदि श्राद्ध को मान लिया जाये तो तैलाभाव से बुझा हुआ दीपक ब्राह्मण आदि को तेल देने से प्रज्वलित हो जाना चाहिए। परन्तु ऐसा होता नहीं है।[1] बुझे हुए दीपक को जलाने के लिए ब्राह्मण को कितना भी तेल क्यों न दे दिया जाये पर उससे दुकान पर पड़ा दीपक कभी जल नहीं सकता। जब इसी संसार में ब्राह्मण को दिया गया दान अपने इष्ट स्थान पर नहीं पहुंच पाता तो भला वह परलोक में पितरों तक कैसे पहुंच सकता है?

कल्पना करो, एक व्यक्ति मरुभूमि में गया हुआ है। सब जानते हैं कि मरुभूमि में पानी की बड़ी कमी होती है। इसलिए घर वालों ने सोचा कि उसको पानी पहुंचाना चाहिए। पहुंचाया कैसे जाये? जब यह प्रश्न सामने आया तो झट एक ब्राह्मण को बुलाया गया। जो ब्राह्मण पितरों को परलोक में भोजन पहंचा सकता है, वह मरुभूमि में पानी क्यों नहीं पहुंचायेगा? ऐसा सोचकर यदि कोई ब्राह्मण देवता को निमन्त्रण दे और उसे पानी पिला दे तो क्या पानी मरुभूमि में स्थित मनुष्य को मिल जायेगा? उत्तर स्पष्ट है, कभी नहीं। ब्राह्मण द्वारा पीया गया पानी जब

1. मृतानामपि जन्तूनां, श्राद्ध चेत्तृप्तिकारणम्।
तन्निर्वाणदीपस्य, स्नेह: संवर्धयेच्छिखाम्।।

सौ या दो सौ मील पर भी नहीं पहुंच सकता, तब परलोक में उसके द्वारा खाया गया भोजन पितरों के पास कैसे जा सकता है?

जैनदर्शन का विश्वास है कि जब मनुष्य मरता है, तो उसके अनन्तर बहुत शीघ्र ही वह कहीं न कहीं जन्म धारण कर लेता है, उसे नवीन शरीर प्राप्त हो जाता है, और उस शरीर में रहकर वह अपने पूर्वकृत कर्मों के अनुसार सुख-दुःख का उपभोग करता है। पुत्र, पुत्री, बहिन, भाई आदि द्वारा किया गया कोई भी शुभ या अशुभ कार्य उसके सुख-दु:ख में जरा भी फेरफार नहीं कर सकता। इसलिए श्राद्ध की कल्पना के पीछे कोई सत्य नहीं है, केवल ब्राह्मणों का अपना स्वार्थ निवास करता है। आप वे ठूंस-ठूंस कर भोजन खा जाते हैं, स्वयं तृप्त होते हुए प्रत्यक्ष दिखाई देते हैं। तथापि कहा जाता है कि तृप्ति पितरों की होती है। यह सत्य है कि दान करना शुभ कार्य है, भूखे को भोजन देना, प्यासे को पानी पिलाना गृहस्थ का कर्त्तव्य बनता है। नवविध पुण्यों में अन्न पुण्य को सर्वप्रथम स्थान प्राप्त है, किन्तु ब्राह्मणों को खिलाने से पितरों की तृप्ति होती है, इसमें कोई सत्यता या यथार्थता नहीं है।

श्राद्ध की अयथार्थता को एक उदाहरण से समझ लीजिए! किसी जगह राजा के मुंह लगे दरबारियों के मन में मालपूए खाने का विचार उत्पन्न हुआ। उन्होंने परस्पर मन्त्रणा करके राजा से कहा—महाराज ! पूर्वजों का श्राद्ध होना चाहिए, और उसमें सबको माल-पूये खिलाने चाहिएं। राजा भोला था, वह बातों में आ गया, उसने मालपूये बनवाने की आज्ञा दे दी। राजा का एक ऐसा मन्त्री भी था, जो राजा का सदा हित चाहता था। उसने सोचा, इन्होंने माल उड़ाने की युक्ति बनाई है। पर राजा के साथ धोखा करना ठीक नहीं है। यह विचार कर उसने राजा से प्रार्थना की—अन्नदाता ! अपने अमुक महाराज को अफीम खाने का बड़ा शौक था। वे भोजन के बिना रह सकते थे, पर अफीम के बिना उनका काम नहीं चलता था। वे कम से कम एक तोला अफीम प्रतिदिन सेवन किया करते थे। उन्हें स्वर्ग में गये सौ वर्ष हो गये हैं। इतने वर्षों तक उनको अफीम नहीं मिल पाई। इसलिए आज कम से कम ढाई मन अफीम मालपूए खाने वालों को खिला दीजिए, ताकि मालपूओं के साथ-साथ उन महाराज को अफीम भी प्राप्त हो जाये। इस बात को सुनते ही पेटू दरबारी सोच में पड़ गये। यदि माल-पूये खायेंगे तो अफीम भी खानी पड़ेगी। अफीम खाते ही पितृलोक की यात्रा करनी पड़ेगी। यह सोचकर उन्होंने किसी तरह श्राद्ध का कार्यक्रम स्थगित कर दिया। फिर कभी उन्होंने श्राद्ध का नाम नहीं लिया।

इस कथानक से स्पष्ट हो जाता है कि श्राद्ध के मूल में कुछ यथार्थता नहीं है।

स्वार्थपूर्ति के लिए ही इस परम्परा को ब्राह्मणों ने जन्म दिया है। एक और उदाहरण से इसकी अयथार्थता को समझिए! एक आदमी घर में आम का वृक्ष लगाकर गंगा-स्नान करने गया। वहां वह गंगा का जल उछाल-उछाल कर बाहर डालने लगा। किसी ने उससे ऐसा करने का कारण पूछा तो वह बोला—भाई ! मैं अपने घर में आम का पौधा लगाकर यहां आया हूं। यहां चले आने के कारण बहुत दिनों से उसको पानी नहीं दिया। आज मौका पाकर मैं उसे पानी दे रहा हूं। वह आदमी बोला—मूर्ख ! यहां पानी उछालने से तेरे घर में पहुंच जायेगा? विश्वास रख, ऐसा नहीं हो सकता।

इस उदाहरण से भी स्पष्ट है कि दूसरी जगह डाला हुआ पानी यदि पौधे को लाभ नहीं पहुंचा सकता तो इस लोक में दूसरों को खिलाने से परलोकवासी व्यक्ति के पास वह कैसे जा सकता है? वस्तुत: मृतात्मा के निमित्त किया जाने वाला कोई भी विधि-विधान मृतात्मा को लाभ नहीं पहुंचा सकता।

हां, यह सत्य है कि यदि कोई व्यक्ति मरकर देवता बन जाये, अवधिज्ञान से अपने परिवार को जान ले, उससे मोह रखे और अपनी मान-प्रतिष्ठा के लिए परिवार वालों को दान-पुण्य के लिए संकेत करे, तो संकेतानुसार दान-पुण्य करने से वह देव अपनी व्यक्तिगत कामना पूर्ण होने के कारण अवश्य सन्तुष्ट हो सकता है किन्तु प्रत्येक मृतात्मा को निमित्त बनाकर दान-पुण्य करने से उसकी तृप्ति होती है, ऐसा सोचना ठीक नहीं है। क्योंकि जो आत्मा मनुष्य-लोक को छोड़कर नरकगति में, तिर्यंचगति या मनुष्यगति में चला गया है; उसको पूर्व-जन्म का कोई ज्ञान भी नहीं है, उसे पूर्वजन्म के परिवार से मान-प्रतिष्ठा प्राप्त करने का भी कोई विचार नहीं है। अत: उसके निमित्त किया गया दान उसके हर्ष का कारण बन सकेगा, ऐसा नहीं हो सकता। देवता भी अवधिज्ञानी होने से अपनी मान-प्रतिष्ठा देखकर प्रसन्न होता है, उसके निमित्त गरीब, गौ, ब्राह्मण, कुत्ता, काक आदि प्राणियों को जो दान दिया है, वह देवता को पहुंचता है ऐसी बात नहीं है। देव को निमित्त बनाकर किसी को जो चाहे दान दे दें किन्तु उसमें से देव के पास कुछ नहीं पहुंचता। देवता तो केवल अपनी मान-प्रतिष्ठा होने के कारण ही संतुष्ट हो जाते हैं।

अपुत्रस्य गतिर्नास्ति

वैदिक धर्म का विश्वास है कि जो व्यक्ति पुत्रहीन ही मर जाता है, उसकी गति[1] नहीं

1. कोषकारों के मत में मृत्यु के अनन्तर जीवात्मा की भली-बुरी दशा का नाम गति है, किन्तु प्रस्तुत में गति शब्द सद्गति, शुभस्थान में उत्पत्ति का बोधक है।

होती, वह शुभगति को प्राप्त नहीं करता। उसकी आत्मा संसार में भटकती रहती है। इसलिए प्रत्येक मनुष्य को पिता बनकर ही स्वर्ग सिधारना चाहिए। अन्यथा गतिहीन जीव संसार में चक्र काटता रहेगा, उसे कहीं शांति की प्राप्ति नहीं होगी। किन्तु जैनधर्म का ऐसा विश्वास नहीं है। जैनधर्म कहता है कि गति का सम्बन्ध व्यक्ति के अपने कर्मों के साथ है। शुभ कर्म से शुभ गति, और अशुभ कर्मों से अशुभ गति की प्राप्ति होती है। पुत्र पिता को दुर्गति से बचाकर सुगति में नहीं पहुंचा सकता और पिता भी पुत्र को सुगति में नहीं ले जा सकता है। यदि दूसरों के कर्मों का मनुष्य को फल मिलने लगे तो अपना किया हुआ कर्म निष्फल हो जायेगा। परलोक की बात को जाने दीजिये। इसी लोक में पुत्र पिता के अशुभ कर्मों को न समाप्त कर सकता है, और न स्वयं उनका उपभोग कर सकता है। पिता यदि आंखों से अन्धा है, कर्मों का सताया हुआ है तो ऐसे पिता को पुत्र आंखें नहीं दे सकता, उसके कर्म-जनित रोग को शांत नहीं कर सकता। जब इस लोक में पुत्र पिता को उसके कर्मजन्य दु:ख से बचा नहीं सकता, तो वह परलोक में उसे कैसे बचा सकता है? उसे शुभ गति में कैसे पहुंचा सकता है?

दूसरी बात, पुत्र की प्राप्ति संभोग से होती है, स्त्री-पुरुष का पारस्परिक संगम होने से पुत्र प्राप्त हो सकता है। जहां संगम है, मैथुन है, वहां ब्रह्मचर्य का भंग होना अनिवार्य है। ब्रह्मचर्य को परम धर्म माना गया है। शास्त्रकारों ने "**तवेसु वा उत्तमं बंभचेरं**" यह कहकर समस्त तपों में ब्रह्मचर्य को श्रेष्ठ तप माना है। तप धर्म का ही रूपांतर है। ऐसी दशा में ब्रह्मचर्य का भंग करना धर्म का भंग करना है। धर्म को भंग करने से कभी पुण्य नहीं हो सकता। धर्म के घात से तो पाप ही हुआ करता है। अत: जैनधर्म का कहना है कि वैदिक धर्म जो "**अपुत्रस्य गतिर्नास्ति**" यह कहकर पुत्र उत्पन्न करने की प्रेरणा देता है, तो वह संसार को पापमय उपदेश देता है। ऐसे पापोपदेशक वाक्य जिस शास्त्र में होते हैं उसे तो शास्त्र ही नहीं कहा जा सकता। जीवन को शासित करने वाला, कुपथ से हटाकर सुपथ में चलाने वाला शास्त्र ही वास्तव में शास्त्र कहलाने की योग्यता रख सकता है, अन्य नहीं।

यदि "**अपुत्रस्य गतिर्नास्ति**" इस सिद्धान्त को मान लिया जाए तो जो ऋषि-महर्षि और अनेक तीर्थंकर कुमार अवस्था में ही दीक्षित हो जाते हैं, साधु बन जाते हैं उनकी क्या दशा होगी? उनकी तो कभी गति हो ही नहीं सकती, और उक्त सिद्धान्त के अनुसार न उनकी गति कभी सम्भव ही है। ऐसा मान लेना कहां तक ठीक है कि आजीवन ब्रह्मचर्य की पालना करने वाले महापुरुषों को तो सद्‌गति प्राप्त न हो और विषय-भोग भोग कर पुत्र को उत्पन्न

करने वाले सुगति प्राप्त करें? कोई भी बुद्धिशाली व्यक्ति इस बात को कभी मानेगा नहीं, अन्य की बात दूसरी है।

मनुष्य सर्वज्ञ हो सकता है

वैदिक धर्म में सनातनधर्मी और आर्यसमाजी ये दो वर्ग पाए जाते हैं। आर्यसमाज के प्रवर्तक स्वामी दयानन्द जी सरस्वती थे। आर्यसमाज का विश्वास है कि जीव सर्वज्ञ नहीं हो सकता, सर्वज्ञ तो केवल एक परमेश्वर है। किन्तु जैनधर्म कहता है कि प्रत्येक भव्य आत्मा ज्ञानाच्छादक कर्मों का नाश करने पर तथा आत्मज्ञान के सर्वथा अनावृत हो जाने पर सर्वज्ञ पद को उपलब्ध कर सकता है। सर्वज्ञता केवल परमेश्वर का ही गुण नहीं है। यह गुण समस्त जीवों में पाया जाता है, परन्तु वह कर्मों के कारण आच्छादित हो रहा है। जब कर्मों का आवरण दूर हो जाता है, तब वह प्रकट हो जाता है।

जैनधर्म इस संसार में दो पदार्थ मानता है—जड़ और चेतन। जड़ पदार्थ वे हैं जिनमें ज्ञान, दर्शन, सुख आदि गुण नहीं पाए जाते हैं और चेतन पदार्थ वे हैं जिनमें ज्ञानादि गुण अवस्थित हैं। खान से निकले सोने में जैसे मल अनादि काल से मिला रहता है वैसे ही ज्ञानवान आत्मा अनादि काल से कर्मप्रवाह में प्रवाहित होता चला आ रहा है। इस कारण इसकी समस्त शक्तियां आच्छादित हो रही हैं, और ज्ञान आदि गुण प्रकट नहीं हो रहे हैं, किन्तु जिस समय अहिंसा, संयम और तप द्वारा कर्म आत्मा से सर्वथा छूट जाते हैं, उस समय आत्मा में ज्ञानादि गुण पूर्ण रूप से प्रकट हो जाते हैं। अज्ञानजनक कर्म के आत्यन्तिक क्षय हो जाने पर यह आत्मा सर्वज्ञ और सर्वदर्शी दशा को प्राप्त कर लेता है। सर्वज्ञ बनने के लिए किसी व्यक्ति विशेष की कोई बात नहीं है। जो भी जीव कर्म-बन्धनों को तोड़ देता है, वही सर्वज्ञ पद उपलब्ध कर लेता है। वस्तुतः सिद्ध और संसारी जीव में केवल कर्मों का ही अन्तर है। दोनों के मध्य में कर्म खड़ा है, जो दोनों को सदा से अलग रख रहा है। जब इस कर्म को नष्ट कर दिया जाता है तो परमात्मा और आत्मा में कोई अन्तर नहीं रहता। इसीलिए कहा है –

आत्मा परमात्मा में कर्म का ही भेद है।
काट दो यदि कर्म को फिर भेद है ना खेद है।।

पाठशाला में पढ़ने वाला प्रत्येक छात्र प्रोफेसर बन सकता है। पाठशाला की पढ़ाई किसी व्यक्ति विशेष के लिए निश्चित नहीं होती। जो भी श्रम करता है, योग्य अध्यापक के संकेतानुसार चलता है, वही धीरे-धीरे उन्नति करता हुआ अन्त में शिक्षक या प्रोफेसर के पद

को ग्रहण कर लेता है। किसी विशेष जाति, प्रान्त या वर्ग का व्यक्ति ही शिक्षक की इस उच्चता को पा सकता है, जैसे यह कोई सिद्धान्त नहीं है, ऐसे ही यह भी कोई सिद्धान्त नहीं है कि केवल परमेश्वर आत्मा ही सर्वज्ञ हो सकती है, अन्य नहीं। जैनधर्म कहता है कि प्रत्येक भव्य आत्मा सर्वज्ञता प्राप्त कर सकता है।

मुक्ति से जीव वापिस नहीं आता

आर्यसमाज की मान्यता है कि जीव मुक्ति में सदा नहीं रहता है, कुछ समय वहां का आनन्द भोगकर फिर संसार में लौट आता है। इस मान्यता की पुष्टि में उक्त समाज का कहना है कि कोई मनुष्य मीठा खाता ही चला जाये तो उसको वैसा सुख नहीं होता, जैसा कि सब प्रकार के रसों को भोगने वालों को होता है और उसका विचार है कि मुक्ति जेल है, कौन ऐसा व्यक्ति है जो जीवन भर जेल में बन्द रहना स्वीकार करे? इसके अलावा, उसका यह भी कथन है कि यदि मुक्त जीव मुक्ति से वापस न लौटे तो मुक्ति-स्थान में भीड़-भड़क्का हो जायेगा और यह संसार जीवों से किसी समय बिल्कुल खाली हो जायेगा। किन्तु जैनधर्म का ऐसा विश्वास नहीं है। जैनधर्म का सिद्धान्त है कि मुक्त जीव मुक्ति से वापिस नहीं आता। यह मुक्ति को "अपुनरावृत्ति" कहता है। अपुनरावृत्ति का अर्थ है–जहां से वापिस न लौटना पड़े। इसलिए जैनधर्म कहता है कि मुक्त जीव मुक्ति में ही सदा विराजमान रहते हैं।

जीव के साथ कर्मों का सम्बन्ध अनादिकालीन है। अनादिकाल से जीव कर्मों से घिरा हुआ है। कर्मों के कारण ही यह जीव चौरासी लाख योनियों में जन्म-मरण कर रहा है। ये कर्म तपस्या के द्वारा जब नष्ट कर दिये जाते हैं, और संयम के द्वारा जब नवीन कर्मबन्ध को रोक दिया जाता है तब यह आत्मा स्वर्ण के समान परम विशुद्ध और निर्विकार होकर अविनाशी और अनन्त सुख को प्राप्त कर लेता है। जिस प्रकार चावल का छिलका उतर जाने पर उसमें उगने की शक्ति नहीं रहती, ऐसे ही कर्म-विमुक्त आत्मा भी जन्म-मरण की परम्परा से छूट जाता है। जन्म-मरण कर्मजन्य हैं। कर्म को राग-द्वेष जन्म देता है। राग-द्वेष के अभाव में कभी कर्मबन्ध नहीं हो सकता। कर्मबन्धन के नष्ट हो जाने पर जन्म-मरण नहीं होने पाता। इस कारण कर्मफल के सर्वथा समाप्त हो जाने पर निष्कर्म अवस्था को प्राप्त हुआ जीव फिर कभी कर्म-बन्धन में नहीं आता, वह जन्म-मरण से छूट जाता है, सदा के लिए मुक्ति में जा विराजता है।

मुक्त दशा में जीव शरीर-रहित होता है, अतः वह न तो स्वयं दूसरे को रुकावट

डालता है और न किसी दूसरे से रुकता है। तूम्बा जैसे पानी के ऊपर ही तैरता रहता है, वैसे ही मुक्त जीव स्वभाव से ही ऊपर लोकाग्र भाग में पहुंच जाता है। उस स्थान का नाम सिद्धशिला है। सिद्धशिला में गया जीव सदा के लिए वहीं रहता है, वहां से कभी वापिस नहीं आता। वापिस आये भी कैसे? वापिस आयेगा तो उसे जन्म लेना पड़ेगा, जन्म लेगा तो नौ मास अन्धेर कोठरी में उसे उल्टा लटकना पड़ेगा, उल्टा लटकने में शास्त्र कहता है कि मारणान्तिक वेदना होती है। वेदना बिना कर्म के हो नहीं सकती। मुक्त जीव कर्म से सर्वथा रिक्त होता है। ऐसी दशा में (निष्कर्मता की दशा में) मुक्त जीव की उत्पत्ति कैसे मानी जा सकती है?

यह कहना कि "लगातार मिठाई खाने से मनुष्य को वैसा सुख नहीं मिलता जैसा कि सर्व प्रकार के रसों का उपभोग करने से मिलता है, अत: जीव जब मुक्ति-सुख से तृप्त हो जाता है, तो वह संसार के वैषयिक सुख भोगने के लिए मुक्ति को छोड़कर संसार में आ जाता है" सर्वथा भ्रान्त और औचित्य-रहित है। भौतिक सुख और आत्मिक सुख दोनों सुखों में महान अन्तर रहता है। इनको एक समान नहीं कहा जा सकता। भौतिक सुख में भौतिक साधन अपेक्षित होते हैं, जबकि आत्मिक सुख में किसी भौतिक साधन की आवश्यकता ही नहीं होती। भौतिक सुख अस्थायी हैं, और आत्मिक सुख स्थायी हैं। भौतिक सुख दु:ख-मिश्रित होता है, और आत्मिक सुख में दु:ख का चिन्ह भी नहीं होता। भौतिक सुख इन्द्रियजन्य है, और आत्मिक सुख में इन्द्रियों की कोई अपेक्षा नहीं होती। इतनी भिन्नता होने पर दोनों को एक समान कैसे कहा जा सकता है? आत्मिक सुख के सामने भौतिक सुख का महत्त्व भी क्या है? कहां सूर्य का प्रकाश और कहां खद्योत का? दोनों में जैसे समानता नहीं है, वैसे ही भौतिक सुख और आत्मिक सुख इन दोनों में भी कोई समानता नहीं है। अत: मुक्त जीव को जो आत्मसुख होता है, वह मिष्ठानजन्य सुख से उपमित नहीं किया जा सकता। मिठाई खाने से जी उकता सकता है, किन्तु आत्मसुख आत्मा का स्वभाव होने से आत्मा की व्याकुलता का कारण नहीं बन सकता।

मनुष्य प्रतिदिन रोटी खाता है, कभी उसका मन व्याकुल नहीं होता, कभी उसे वह छोड़ने को तैयार नहीं होता। अत: लगातार सेवन करने से सभी वस्तुओं से जी उकता जाता है, यह कोई सिद्धान्त नहीं है। मनुष्य सदा वस्त्र पहनता है, किन्तु कभी उसे नग्न हो जाने का विचार नहीं आता, किसी मनुष्य ने कभी किसी प्रकार की चोट नहीं खाई तो उसे कभी यह ख्याल नहीं आता कि मुझे चोट खानी चाहिए। इसके अलावा, एक ब्रह्मचारी जीवन है, उसे ब्रह्मचर्य की परिपालना में बड़ा आनन्द आता है, पर आर्यसमाज के सिद्धान्त के अनुसार

ब्रह्मचारी मनुष्य को ब्रह्मचर्य का आनन्द तभी आ सकता है जबकि वह कभी-कभी वेश्या का भी संगम करता रहे। तथा परमेश्वर जो सदा आनन्दमग्न रहता है, उसे भी उकता जाना चाहिए, उसे भी मुक्ति से वापिस आ जाना चाहिए, उसे मनुष्य के रूप में आकर मानवीय सुखों का उपभोग करना चाहिए। पर ऐसा होता नहीं है। न यह आर्यसमाज को मान्य ही है। जब परमेश्वर अपने आनन्द में सदा मग्न रह सकता है, तो अन्य मुक्त जीव मुक्ति में सदा आनन्दमग्न क्यों नहीं रह सकते? सारांश यह है कि मुक्त जीव लगातार आत्मसुख भोगने से तृप्त होकर मुक्ति से वापिस आ जाता है, ऐसा नहीं समझना चाहिए। बल्कि यही समझना चाहिए कि मुक्त जीव सदा मुक्ति में ही रहता है, और वहीं अपने आत्मगुण में सदा निमग्न रहता है।

मुक्ति में मुक्त आत्माओं के भीड़-भड़क्के की आशंका करना भी एक जबर्दस्त भ्रान्ति है। मुक्त जीवों में जब शरीर ही नहीं होता, तब उन्हें एक स्थान में क्या बाधा हो सकती है? वैदिक धर्म परमेश्वर को सर्व-व्यापक मानता है। क्या सारे संसार में ठसाठस जड़ परमाणुओं के भरे रहने पर भी परमेश्वर उस जगह ठहरता है। जब परमेश्वर को कोई बाधा नहीं पहुंचती है तो मुक्त जीवों को क्या बाधा पहुंच सकती है?

एक उदाहरण और लीजिए! एक राष्ट्रनेता है, वह भाषण दे रहा है, लाखों की संख्या में जनता वहां उपस्थित है। सभी की आंखें नेता की ओर लगी हुई हैं। सभी के नेत्रों की ज्योति नेता के शरीर पर पड़ रही है। पर क्या वहां नेत्र ज्योतियों का भीड़-भड़क्का होता है, उससे नेता को बाधा पड़ती है? कभी नहीं। नेत्र-ज्योति परमाणु-पुञ्ज है, पौद्‌गलिक है, तथापि उसका भीड़-भड़क्का नहीं होता और वह किसी के लिए बाधक नहीं बनती, फिर मुक्तात्माएं तो अमूर्तिक हैं, अरूपी हैं, इनके भीड़-भड़क्के की तो कल्पना ही कैसे की जा सकती है?

मुक्ति में लगातार जीवों के जाने से संसार खाली हो जायेगा, ऐसा समझना भी ठीक नहीं है, क्योंकि जीव अनन्त हैं, इनका कभी अन्त नहीं आ सकता। जीवों की अनन्तता के सम्बन्ध में इस पुस्तक के आत्म-मीमांसा नामक अध्याय में ऊहापोह किया जा चुका है। पाठक उसे देखने का कष्ट करें।

कर्म-वाद

कर्म-वाद जैनधर्म की महत्वपूर्ण देन है। इसने कर्म-वाद का जितना सूक्ष्म और गम्भीर विवेचन अध्यात्म जगत के सन्मुख उपस्थित किया है, उतना किसी अन्य दर्शन ने नहीं किया।

वैदिक धर्म में कर्म-वाद का वर्णन तो है, किन्तु ऐसा नहीं, जैसा कि जैनधर्म में है। वैदिक धर्म केवल अदृष्ट सत्ता या क्रिया को कर्म समझता है, किन्तु जैनधर्म उसे पौद्गलिक मानता है। इसका विश्वास है कि व्यक्ति के आचार-विचार में कर्मयोग्य पुद्गल आत्मा की ओर आकर्षित होते हैं और वे आत्मा से सम्बन्धित होकर कर्म का रूप ले लेते हैं। कर्म की मूल प्रकृतियों तथा उत्तर प्रकृतियों के विस्तृत वर्णन के अलावा जैनधर्म ने प्रत्येक कर्म के बन्ध कारणों का भी विशदता के साथ विवेचन किया है। जैनसाहित्य का आधे से ज्यादा भाग कर्म-वाद के विवेचन ने रोक रखा है। कर्म-वाद को जैनधर्म का यदि प्राण कह दें तो यह उचित ही होगा।

कर्मवाद का अर्थ है--जीव जैसा कर्म करता है, उस का वैसा फल भोगता है। कर्मफल का उपभोग करने के लिए ईश्वर या किसी अन्य देवी-देवता को माध्यम बनाने की आवश्यकता नहीं है। यदि एक व्यक्ति आंखें बन्द करके या देखते हुए कूप की ओर बढ़ता चला जाये, तो वह उसमें गिरेगा ही। कुएं में गिरने और उससे लगने वाली चोट की जवाबदारी उसी पर है। कुएं में डालने वाली ईश्वर या कोई अन्य शक्ति है, ऐसा मानने की कोई आवश्यकता नहीं है। कर्मवाद को लेकर इस पुस्तक में अन्यत्र विवेचन किया गया है। पाठक उसे देखने का कष्ट करें।

हृदय का परिवर्तन

जैनधर्म बाह्य क्रियाकाण्ड की अपेक्षा हृदय-परिवर्तन पर बल देता है, बाह्य रूप का यहां विशेष महत्त्व नहीं है। मनुष्य किसी भी वेष में हो, किसी भी जाति का हो किन्तु यदि उसका हृदय शुद्ध है, आत्मा निर्मल है, तो वह मोक्ष का अधिकारी बन सकता है। जैनधर्म चरित्र-निर्माण की ओर विशेष ध्यान देता है। इसके विपरीत वैदिक धर्म में बाह्य क्रियाकाण्ड को महत्त्व प्राप्त है। तीर्थस्थान, तीर्थयात्रा आदि अनुष्ठानों को वैदिक सर्वेसर्वा मानता है, जबकि जैनधर्म (स्थानकवासी परम्परा) में इनको कोई स्थान नहीं है।

मृतक की गति

वैदिकधर्म की मान्यता है कि यदि कोई खाट पर मर जाये, या छत पर किसी का प्राणान्त हो जाये तो उसकी गति नहीं होती। गति के लिए भूमि पर शैय्या करनी होती है, यदि मरने वाला शैय्या पर पड़ा है तो उसे नीचे उतारना पड़ता है, और अन्त में उसकी अस्थियां हरिद्वार में ले जानी होती हैं। किन्तु जैनधर्म इन बातों में कोई विश्वास नहीं रखता। यह कहता

है कि व्यक्ति खाट पर मर जाये या नीचे, तथा छत पर किसी का प्राणान्त हो जाये या भूमि पर, इससे कोई फर्क नहीं पड़ता। गति के साथ इसका कोई सम्बन्ध नहीं है। गति का सम्बन्ध हृदय की शुद्धि से है। हृदय और आचरण अच्छा हो, फिर कहीं भी मृत्यु आ गये, गति हो जायेगी। यदि हृदय और आचरण दूषित हैं तो भूमि पर प्राण छोड़ने पर भी गति नहीं हो सकती, जीवन का भविष्य उज्ज्वल नहीं बन सकता।

दूसरी बात, मरणासन्न व्यक्ति को छूने से गति बिगड़ती है, सुधरती नहीं। यह तो निर्विवाद बात है कि मृत्यु-शैय्या पर पड़ा व्यक्ति महान वेदना और कष्ट का सामना कर रहा होता है, उस समय उसे मारणान्तिक दु:ख होता। ऐसी दशा में यदि उसे स्पर्श भी किया जावे तो वह भी उसके लिए दु:खप्रद होता है। उससे उसे वेदना होती है। उसे क्रोध आता है। असमर्थता के कारण भले ही वह बोल नहीं पाता, तथापि भीतर से वह झुंझला उठता है। ऐसी दशा में यदि उसके सारे शरीर को ही उठाकर इधर-उधर रखा जाये तो उसे कितनी महान वेदना होती होगी, कितना महान क्रोध आता होगा, यह स्वत: स्पष्ट हो जाता है। सिद्धान्त है कि मृत्यु की घड़ी का क्रोध परलोक को बिगाड़ देता है। फलत: अन्त मति सो गति, इस सत्य के आधार पर उसकी गति बिगड़ जाती है, सुधरती नहीं। अत: मरणासन्न व्यक्ति को उठाना, या इधर-उधर उसे रखना, ये सब प्रवृत्तियां नहीं करनी चाहिएं, क्योंकि इससे गति बिगड़ती है।

मृतक की अस्थियां किसी भी जल-प्रवाह में प्रवाहित की जा सकती हैं। वे केवल हरिद्वार में ही भेजी जाएं, ऐसी मान्यता जैनधर्म की नहीं है। जैनधर्म इन लौकिक प्रवृत्तियों को धर्म का रूप प्रदान नहीं करता। उसकी दृष्टि में ये सब सांसारिक कृत्य हैं।

इसके अलावा वैदिक धर्म का विश्वास है कि देवता मोक्ष प्राप्त कर सकते हैं, किन्तु जैनधर्म कहता है कि मोक्ष केवल मानव योनि से ही प्राप्त किया जा सकता है। यदि देवता को मोक्ष पाने की इच्छा हो तो उसे मनुष्य बनना पड़ेगा, और कर्मों के नाश के लिए तप करना होगा। तप के द्वारा आत्मा को सर्वथा निष्कर्म बनाकर ही देव मुक्त हो सकता, अन्यथा नहीं।

वैदिक धर्म कहता है कि ईश्वर की भक्ति करने से, उसकी कृपा से सुख मिलता है, किन्तु जैनधर्म कहता है कि सुख-दु:ख अपने अच्छे और बुरे कर्मों के कारण मिलता है, और स्वयं ही मिलता है, उसे ईश्वर नहीं देता।

वैदिक धर्म मानता है कि मुक्त हुआ जीव बैकुण्ठ में अनन्तकाल तक सुख भोगता

है, तथा ब्रह्म में लीन हो जाता है, किन्तु जैनधर्म कहता है कि मुक्त जीव लोक के अग्र भाग में रहते हैं, अनन्तज्ञान, अनन्तदर्शन रूप अपने स्वरूप में रमण करते हैं, उनकी अपनी स्वतन्त्र सत्ता रहती है, वे ब्रह्म नाम की किसी शक्ति में जाकर लय नहीं हो जाते, समाप्त नहीं हो जाते। जैनधर्म बैकुण्ठ नाम का ऐसा कोई स्थान नहीं मानता है, जिसमें भगवान् का दरबार लगा हुआ हो, वहां जीवों के पुण्य-पाप का हिसाब होता हो, कोई ऐसा रोजनामचा पड़ा हो, जिसमें जीवों के दैनिक कार्यों का खुलासा हो, जीवों के भाग्य का निर्णय किया जाता हो। जैनधर्म कहता है कि ईश्वर का जीव की किसी भी प्रवृत्ति के साथ कोई सम्बन्ध नहीं है।

जैनधर्म धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, गुणस्थान आदि ऐसे अनेकों तत्त्व मानता है जो वैदिक धर्म में नहीं पाये जाते हैं। तथा जैन न्याय में भी स्याद्वाद, नय, निक्षेप आदि बहुत-से ऐसे तत्त्व हैं, जो जैनेतर न्याय में नहीं हैं।

यह सब भेद होते हुए भी दोनों धर्मों के अनुयायियों में सांस्कृतिक दृष्टि से एकरूपता दिखाई देती है और कुछ जातियां ऐसी हैं, जिनमें दोनों धर्मों के अनुयायी पाये जाते हैं, और उनमें रोटी-बेटी का व्यवहार भी चालू है।

❑ ❑ ❑

जैन-धर्म और बौद्ध-धर्म

प्रश्न–जैनधर्म और बौद्धधर्म दोनों समकालीन धर्म हैं या उभय धर्मों में काल की अपेक्षा कुछ भेद है? यदि भेद है, तो दोनों में प्राचीन कौन है?

उत्तर–इस बात को हम 'जैनधर्म का अनादित्व' अध्याय में विस्तार से बता चुके हैं कि जैनधर्म बौद्धधर्म से बहुत प्राचीन है। इतिहास एवं दर्शन शास्त्र के अन्वेषक डॉ. जेकोबी भी इस सम्बन्ध में स्पष्ट शब्दों में लिखते हैं, "निर्ग्रन्थों का उल्लेख बौद्धों ने अनेक बार किया है, यहां तक कि पिटकों के प्राचीनतम भाग में जैनों का उल्लेख मिलता है। परन्तु बौद्धों के विषय में स्पष्ट उल्लेख अभी तक तो प्राचीनतम जैन सूत्रों में कहीं भी मेरे देखने में नहीं आया है, जबकि उनमें जमाली, गोशालक और अन्य पाखंडी धर्माचार्यों के विषय में लम्बे-लम्बे कथानक मिलते हैं। चूंकि बाद के समय में दोनों धर्मों का पारस्परिक सम्बन्ध जैसा हो गया था, उससे यह स्थिति एकदम विपरीत है। **क्योंकि दोनों धर्मों के समकालिक प्रारम्भ की हम लोगों की कल्पना के भी यह प्रतिकूल है। इसलिए हम इस निष्कर्ष पर पहुंचने को बाध्य होते हैं कि निर्ग्रन्थ धर्म बुद्ध के समय में नया पैदा नहीं हुआ था।** पिटकों का भी मत यही मालूम होता है। क्योंकि उनमें कहीं भी विरोध सूचना नहीं मिलता है।[1]

इससे स्पष्ट हो जाता है कि जैनधर्म बौद्धधर्म से बहुत प्राचीन है। इस सम्बन्ध में हम पीछे विस्तार से बता चुके हैं। वेदों, भागवत एवं अन्य वैदिक ग्रन्थों में जैनधर्म के अस्तित्व का वर्णन मिलता है और इन्हीं के आधार पर पाश्चात्य एवं भारतीय ऐतिहासिक विद्वानों ने इस बात को स्पष्ट शब्दों में स्वीकार किया है कि जैनधर्म वैदिक परम्परा के मान्य ग्रन्थों से भी पहले व्यवस्थित रूप से प्रचलित था और इस काल के आदि तीर्थंकर ऋषभदेव को भी स्वीकार कर लिया गया है। डॉ. जेकोबी का स्पष्ट अभिमत है–"विष्णु पुराण और भागवत

1. इण्डि. एण्टी. (डॉ. जेकोबी) पुस्तक 9, पृष्ठ 161.

के इन कथानकों में कुछ ऐतिहासिकता है, जो ऋषभदेव को जैनों का पहला तीर्थंकर सिद्ध करती हैं।"[1]

इसके अतिरिक्त जैनेतर दार्शनिकों ने भी जैन दर्शन और बौद्ध दर्शन को अलग-अलग स्वीकार किया है। व्यास रचित वेदान्त सूत्र के द्वितीय अध्याय के 18वें से 32वें सूत्र तक बौद्धदर्शन का खण्डन किया और उसके आगे **"नैकास्मिन्नसंभवात्"**, **'चात्याऽकात्स्न्यं"**, **"न च पर्यायादप्यविरोधो विकारादिभ्य:"** तथा **"अन्त्यावस्थितेश्चोभयनित्यत्वादविशेष:"** इन चार सूत्रों में जैनधर्म का प्रतिवाद किया है। सर्वदर्शनसंग्रह में माधवाचार्य ने 16 दर्शनों में जैनदर्शन और बौद्धदर्शन को भिन्न-भिन्न लिखा है। वैभाषिक, सौत्रान्तिक, योगाचार और माध्यमिक बौद्धों के इन चार भेदों मे जैनों का कहीं नामोल्लेख नहीं है। बौद्ध ग्रन्थों में भी निर्ग्रंथ धर्म-जो जैनधर्म का ही परिसूचक शब्द है, का उल्लेख किया गया है।

राजमहल को त्यागने के बाद तथागत बुद्ध ने कुछ वर्ष तक जिस साधना, तपश्चर्या एवं आचरण का पालन किया, उससे यह स्पष्ट हो जाता है कि बुद्ध पहले निर्ग्रंथ (जैन) परम्परा में दीक्षित हुए थे। सारीपुत्र को अपने पूर्व जीवन की घटना सुनाते हुए उन्होंने कहा कि मैंने केशलुंचन किया था और इस क्रिया को चालू रखा था।[2] यह क्रिया जैन मुनियों के अतिरिक्त अन्य किसी सम्प्रदाय में नहीं है। इस से यह बात बिल्कुल स्पष्ट हो जाती है कि जैनधर्म बौद्धधर्म का समकालीन नहीं, बल्कि उससे बहुत पहले से चला आ रहा था। अस्तु, इतने स्पष्ट प्रमाणों के उपलब्ध होते हुए भी यह कहना या मानना अक्षम्य भूल है कि जैनधर्म बौद्धधर्म की शाखा है या बौद्धधर्म का समकालीन है।

प्रश्न-जैनदर्शन और बौद्धदर्शन में दार्शनिक अन्तर क्या है?

उत्तर-भारत अध्यात्म चिन्तन प्रधान देश है। भारतीय विचारक आत्मा-परमात्मा, लोक-परलोक आदि के वास्तविक स्वरूप को जानने के लिए सदा प्रयत्नशील रहे हैं। अत: भारतीय चिन्तक दार्शनिक के रूप में सामने आए और परिणामस्वरूप विभिन्न दर्शनों का निर्माण हुआ। जिनमें प्रत्येक दार्शनिक एवं विचारक ने अपने चिन्तन को जनता के सामने रखा और अपनी बौद्धिक एवं तार्किक शक्ति से आत्मा-परमात्मा एवं अन्य तत्त्वों की व्याख्या की। ये व्याख्याएं ही दर्शनशास्त्र के रूप में आज हमारे सामने हैं।

---

1. इण्डि. एण्टी. (जेकोबी) पुस्तक 9, पृष्ठ 163.
2. केस्स मस्सुलोचको विहोमि, केसयस्सु लोचनानुयोगं अनुयुत्तो। -मज्झिमनिकाय, महासीनादसुत्त, 12.

भारतीय दर्शन में बौद्धदर्शन का भी अपना स्थान है। परन्तु इसके पीछे तथागत बुद्ध का चिन्तन कम है। बुद्ध ने भी आत्मा-परमात्मा के सम्बन्ध में कुछ सोचा है। परन्तु उनके चिन्तन में दार्शनिक गहराई एवं सूक्ष्म दृष्टि नहीं है और न उन्होंने दार्शनिक की दृष्टि से सोचा ही है। उन्होंने जो कुछ सोचा-विचारा है, वह युग के प्रवाह से विवश होकर ही सोचा है। जहां तक हो सका, उन्होंने इन प्रश्नों को अव्याकृत कहकर टालने का प्रयत्न किया है। जब प्रश्न टाले नहीं जा सके तब कुछ उत्तर देना पड़ा। उसके लिए तथागत बुद्ध ने उपनिषद् एवं वैदिक परम्परा द्वारा स्वीकृत एकान्त नित्यवाद को दोषयुक्त बताकर क्षणिकवाद की स्थापना की और कई जगह विभज्यवाद के सहारे लोक-परलोक के प्रश्नों से छुटकारा पाने का प्रयत्न किया।

एक बार मालुंक्यपुत्त ने बुद्ध से लोक के शाश्वत-अशाश्वत, सान्त एवं अनन्त तथा जीव एवं शरीर की भिन्नता एवं अभिन्नता आदि के विषय में प्रश्न पूछे। परन्तु तथागत ने आचार मार्ग में वैराग्य, उपशम, अभिज्ञा (लोकोत्तर ज्ञान), संबोधि (परमज्ञान) तथा निर्वाण (आत्यन्तिकी दु:ख निवृत्ति) उत्पन्न करने में साधक न होने के कारण उन्हें अव्याकृत (व्याकरण—कथन के अयोग्य, अनिर्वचनीय) कहा। इसी तरह पोट्ठपाद द्वारा पूछे गये प्रश्नों को भी अव्याकृत कहकर टाल दिया गया।[1]

इससे स्पष्ट होता है कि बुद्ध दार्शनिक एवं आध्यात्मिक चर्चाओं से सदा विमुख रहे हैं। उन्होंने अपने भिक्षुओं को सदा अध्यात्मवाद एवं दर्शन शास्त्र से दूर रहकर कर्त्तव्य मार्ग पर चलने का उपदेश दिया। उनका यही कहना था कि **"चरत्थ भिक्खवो सव्वजनहिताय सव्वजनसुखाय"** अर्थात् हे भिक्षुओ ! सब लोगों के हित का एवं सुख पहुंचाने का प्रयत्न करो। परन्तु बुद्ध का यह उपदेश उनके जीवन काल तक ही रहा। उनकी मृत्यु के बाद बौद्ध विद्वानों ने उनकी इच्छा के विपरीत उनके उपदेशों में आये हुए कुछ सूत्रों को लेकर बौद्धदर्शन को व्यवस्थित रूप दिया। जिस बात के लिए बुद्ध ने इन्कार किया था, उनके शिष्यों ने उसी का निरूपण किया। इस तरह बौद्धदर्शन का आज जो व्यवस्थित रूप परिलक्षित हो रहा है, वह बुद्ध के बहुत बाद का है।

तथागत बुद्ध एक दार्शनिक एवं आध्यात्मिक चिन्तक नहीं थे। वे एक सन्त थे, करुणाशील एवं दयालु पुरुष थे। आज की भाषा में हम उन्हें जन-नेता कह सकते हैं। वे धर्म के नाम पर यज्ञ में मारे जाने वाले मूक पशुओं की चीत्कार, शूद्रों पर होने वाले अत्याचार,

1. चूलमालुंक्य सुत्तंत, 63, मज्झिमनिकाय, पृष्ठ 251-53, दीघनिकाय पोट्ठपादसुत्त, 1/9.

नारी के तिरस्कार एवं निम्न श्रेणी के व्यक्तियों पर चलने वाले शोषण चक्र को देखकर दु:खित थे। असहायों के प्रति उनके दिल में करुणा थी और उसी के अनुरूप वे मानव को भौतिक दु:ख से मुक्त करने में प्रयत्नशील रहे।

भगवान् महावीर ने भी याज्ञिक हिंसा का, छूत-अछूत के भेद का एवं शोषण का विरोध किया तथा नारी एवं शूद्र को अपने संघ में बराबर का स्थान दिया और उन्हें भी मोक्ष प्राप्त करने का अधिकारी माना। परन्तु इतना होने पर भी महावीर की करुणा, दया एवं अनुकम्पा की भावना केवल भौतिक देह एवं वर्तमान जीवन तक ही सीमित नहीं रही। क्योंकि उनके सामने इस जीवन के आगे का रास्ता भी स्पष्ट था। वे लोक-परलोक के सम्बन्ध में बुद्ध की तरह अस्पष्ट नहीं थे। उन्होंने आत्मा-परमात्मा, लोक की सान्तता, अनन्तता, शाश्वतता, अशाश्वतता आदि प्रश्नों का यथार्थ उत्तर दिया। उनके मन में किसी भी तत्त्व के लिए सन्देह नहीं था। उनके लिए दुनिया का कोई भी तत्त्व धुंधला नहीं था। अत: उन्होंने प्रत्येक प्रश्न का वास्तविक समाधान किया। उन्होंने किसी भी प्रश्न को अव्याकृत कहकर टालने का प्रयत्न नहीं किया।

भगवान् महावीर का जीवन त्याग के प्रथम दिन से ही चिन्तन, मनन एवं साधना प्रधान रहा है। साढ़े बारह वर्ष तक का समय उन्होंने तप, ध्यान एवं आध्यात्मिक चिन्तन में लगाया था और इतने लम्बे काल की कठोर साधना एवं उत्कट तप के बाद पूर्ण ज्ञान को प्राप्त किया। जिसके कारण लोक-परलोक के सभी तत्त्व उनके सामने प्रत्यक्ष थे। इसलिए उनके उपदेश में करुणा, दया, अनुकम्पा आदि के साथ आध्यात्मिक एवं दार्शनिक चिन्तन की गहराई के भी स्पष्ट दर्शन होते हैं। उन्होंने केवल इस जन्म के भौतिक दु:खों से ही छूटने की बात नहीं कही, प्रत्युत आध्यात्मिक दु:खों–राग–द्वेष, काम-क्रोध, मोह आदि से निवृत्त होने की बात भी कही। क्योंकि, जब तक राग-द्वेष का क्षय नहीं होगा तब तक दु:खों का आत्यन्तिक नाश नहीं हो सकेगा। इसका कारण यह है कि दु:ख कर्मजन्य हैं और कर्म का मूल बीज राग-द्वेष है। अत: दु:ख से सर्वथा मुक्त-उन्मुक्त होने के लिए राग-द्वेष का त्याग करना अनिवार्य है।

अत: हम कह सकते हैं कि बुद्ध एवं महावीर की दृष्टि में इतना अन्तर है–बुद्ध जनता को भौतिक दु:खों से छुटकारा दिलाने एवं शूद्र तथा नारी को सामाजिक अधिकार दिलाने के लिए प्रयत्नशील थे और महावीर भौतिक एवं आध्यात्मिक दु:ख मात्र के नाश का मार्ग बता रहे थे। तथागत बुद्ध केवल दु:खों के ऊपरी पत्र-पुष्पों को काटने में व्यस्त रहे, उन्होंने दु:ख की मूल जड़ को उखाड़ने का प्रयत्न नहीं किया, किन्तु महावीर ने दु:ख-दैन्य के पत्र-पुष्पों

को समाप्त करने के साथ उसकी जड़ को भी उखाड़ फैंकने का उपदेश दिया। उन्होंने केवल भौतिक दु:खों के नाश की बात ही नहीं कही, बल्कि दु:खों के मूल कारण को नष्ट करने का उपाय बताया।[1] उनका प्रयत्न मनुष्य को आत्मा से परमात्मा बनने की राह दिखाने का था। वे बुद्ध की तरह भौतिकवादी नहीं, बल्कि अध्यात्मवादी थे। उन्हें तथागत बुद्ध की तरह किसी भी तत्त्व में सन्देह नहीं था।

यह हम ऊपर देख चुके हैं कि बौद्धदर्शन का व्यवस्थित रूप बुद्ध के बाद का है। फिर भी हम उसके आधार पर यहां बौद्ध एवं जैनदर्शन की मान्यता पर थोड़ा विचार करेंगे और देखेंगे कि उनमें कितना साम्य एवं वैषम्य है।

बौद्धदर्शन

बौद्धदर्शन को अनात्मवादी दर्शन कहते हैं। इसका यह अर्थ नहीं है कि वह आत्मा की सत्ता को नहीं मानता है। वह आत्मा को स्वीकार करता है, परन्तु आत्मस्वरूप की मान्यता में कुछ भेद है। वैदिक दर्शन आत्मा को कूटस्थ नित्य मानते हैं। बौद्धों को एकान्त नित्यवाद स्वीकार नहीं है। वे आत्मा के नित्यत्व को सर्वथा अस्वीकार करते हैं।[2] उनका कहना है कि यदि आत्मा नित्य है, तो फिर वह अनन्त काल तक एक रूप रहेगा, उसमें कोई परिवर्तन नहीं होगा। अत: उसमें बन्ध-मोक्ष की व्यवस्था नहीं घट सकेगी। क्योंकि बन्ध विचारों की, भावों की परिणति के अनुसार होता है और उसका क्रिया के साथ सम्बन्ध है। क्रिया सदा एक रूप नहीं रहती और न भावों, परिणामों एवं विचारों की धारा ही एक रूप रहती है। अत: आत्मा में बन्ध मानते हैं, तो फिर वह परिणमनशील हो जाएगा और वह राग-द्वेष, मोह आदि विभिन्न विकारों से युक्त हो जाएगा। अत: फिर हम यह नहीं कह सकेंगे कि यह वही आत्मा है।

आत्मा को नित्य मानने में दूसरी कठिनाई यह उपस्थित होगी कि वह बन्धन-युक्त है तो सदा बन्धन-युक्त ही रहेगी। वह बन्धन से कभी भी मुक्त नहीं हो सकेगी और उसका पुनर्जन्म भी नहीं हो सकेगा। क्योंकि उसमें आत्मा की एक स्थिति नहीं रहती, उसमें परिवर्तन आता है। और उसे एकान्त नित्य मानने से उसमें कृत-कारित्व नहीं घट सकेगा, अत: आत्मा नित्य नहीं है।

---

1. आचारांग सूत्र, श्रुत 1, अध्य. 3, उद्दे. 2, गाथा 4
2. तत्त्वसंग्रह, पृष्ठ 79-130 (आत्म परीक्षा प्रकरण)।

अब आत्मा के अस्तित्व को मानने में यह कठिनाई है कि संसार में प्रिय वस्तु को लेकर सारे दु:ख उत्पन्न होते हैं। जिस समय मनुष्य को आत्मा सर्व-प्रिय होती है, उस समय मनुष्य अपनी आत्मा की तुष्टि के लिए सुख-साधन सामग्रियां जुटाने के लिए अहंकार का अत्यधिक पोषण करने लगता है, परिणामस्वरूप मनुष्य के मन में उत्तरोत्तर दु:ख की अभिवृद्धि होती है। अत: आत्मा नाम का कोई स्वतन्त्र पदार्थ नहीं है।[1]

बौद्ध विचारकों ने आत्मा को कोई स्वतन्त्र एवं नित्य द्रव्य न मानकर रूप, वेदना, विज्ञान, संज्ञा और संस्कार इन पांचों स्कन्धों के समूह से प्रतिक्षण नए रूप में उत्पन्न होने वाली शक्ति मात्र माना है और उसको पुद्गल—आत्मा या विज्ञान कहा है।[2] यह विज्ञान नदी प्रवाह की तरह (नदीसोतो वि य) प्रतिक्षण बदलता रहता है।[3] जैसे दीपक की ज्योति प्रतिक्षण परिवर्तित होती रहने पर भी सदृश परिवर्तन के कारण एक अखण्ड आकार-सी प्रतीत होती है। उसी तरह बाल, युवा और वृद्ध अवस्था में विज्ञान में प्रतिक्षण परिवर्तन होते रहने पर भी समान परिवर्तन के कारण विज्ञान (आत्मा) का एक अखण्ड रूप से ज्ञान होता है। परन्तु,

---

1. दु:खहेतुरहंकार आत्ममोहात्तु वर्धते,
   ततोऽपि न निवर्त्यश्चेत् वरं नैगत्म्यभावना। - बोधिचर्यावतार, 9, 78.
   साहंकारे मनसि न शमं याति जन्म-प्रबंधो,
   नाहंकारश्चलति हृदयात्मदृष्टौ च सत्याम्।
   अन्य शास्ता जगति भवतो नास्ति नैरात्म्यवादी,
   नान्यस्तस्मादुपशमविधेस्त्वन्मतादस्ति मार्ग:।। —तत्त्वसंग्रह पंजिका, पृष्ठ 905.
2. नात्मास्ति स्कंधमात्रं तु कर्मक्लेशाभिसंस्कृतम्।
   अन्तराभवसन्तत्या कुक्षिमेति प्रदीपवत्।।
   आत्मेति नित्यो ध्रुव: स्वरूपतोऽविपरिणामधर्मा कश्चित् पदार्थो नास्ति। कर्मभि: अविद्यादिक्लेशैश्च सस्कारमापन्नं पंचस्कन्धमात्रमेव, अंतराभवसन्तानक्रमेण गर्भं प्रविशति। क्षणे-क्षणे उत्पद्यमानं विनश्यमानमपि तत् स्कन्धपंचकं स्वसंतानद्वारा प्रदीप-कलिकावत् एकत्वं बोधयति। -अभिधर्म कोश 3, 18, टीका।
3. अमेरिका के मनोवैज्ञानिक प्रो. विलियम जेम्स William James ने भी विज्ञान (Consciousness) को विचार प्रवाह मानते हुए नित्य आत्मा क स्थान पर चित्तसन्तति (Stream of thoughts) को माना है -
   The unity, the identity, the individuality and the immateriality that appear in the psychic life are thus accounted for as phenomenal and temporal facts exclusively and with no need of reference to any more simple or substantial agent than the present thought or section of stream But the Thought is perishing and not an immortal or incorruptible thing Its successors may continuously succeed to it, resemble it and appropriate it, but they are not the original Thoughts, whereas the soul substance is supposed to be a fixed unchanging thing —The Principles of Psychology, pp. 344-45.

वस्तुत: वह एक रूप है नहीं, विज्ञान प्रतिक्षण बदलता रहता है। पूर्व क्षण स्थित विज्ञान उत्तर क्षण रूप विज्ञान को उत्पन्न करके नष्ट हो जाता है। इस तरह विज्ञान-प्रवाह (चित्त सन्तति) के मानने से हमारा काम चल जाता है, अत: आत्मा के स्वतन्त्र अस्तित्व को मानने की क्या आवश्यकता है?

बौद्ध आत्मा के स्वतन्त्र अस्तित्व को नहीं मानते। फिर भी पुनर्जन्म आदि को मानते हैं। उनका कहना है कि दूसरे भव में नाम और रूप उत्पन्न होता है। परन्तु, वह नाम और रूप वह नहीं है, जो मृत्यु के समय था। मृत्यु के समय स्थित विज्ञान संस्कारों की दृढ़ता से गर्भ में प्रविष्ट होकर फिर से दूसरे नाम और रूप से सम्बद्ध हो जाता है। अत: एक विज्ञान का मरण और दूसरे विज्ञान का जन्म होता है। जिस प्रकार ध्वनि और प्रतिध्वनि में, मोहर और उसकी छाप में, पदार्थ और पदार्थ के प्रतिबिम्ब में कार्य-कारण सम्बन्ध है, उसी तरह एक विज्ञान और दूसरे विज्ञान में तथा इस भव के मरण के समय के विज्ञान तथा आगामी भव के जन्म समय के विज्ञान में कार्य-कारण सम्बन्ध है। विज्ञान कोई नित्य वस्तु नहीं है। इस विज्ञान परम्परा से दूसरे भव में उत्पन्न होने वाले मनुष्य को न पहला ही मनुष्य कह सकते हैं और न उसे पहले मनुष्य से भिन्न ही कहा जा सकता है।[1]

जिस प्रकार कपास के बीज को लाल रंग से रंग देने से उस बीज का फल भी लाल रंग का उत्पन्न होता है, उसी तरह तीव्र संस्कारों की छाप के कारण अविच्छिन्न सन्तान से यह मनुष्य दूसरे भव में भी अपने किए हुए कर्मों के फल को भोगता है। इसलिए जिस प्रकार डाकुओं से हत्या किए जाते हुए मनुष्य के टेलीफोन द्वारा पुलिस के थाने में खबर देने से मनुष्य के अन्तिम वाक्यों से मनुष्य के मरने के बाद भी मनुष्य की क्रियाएं जारी रहती हैं।[2] उसी तरह संस्कार की दृढ़ता के बल से मरने के अन्तिम चित्त-क्षण से जन्म लेने के पूर्व क्षण के साथ सम्बन्ध होता है। वास्तव में आत्मा का पुनर्जन्म नहीं होता है, परन्तु जिस समय कर्म-संस्कार अविद्या से सम्बद्ध होता है, उस समय कर्म को ही पुनर्जन्म कहा जाता है।[3] इसलिए बौद्धदर्शन में कर्म को छोड़कर चेतना अलग वस्तु नहीं मानी जाती।[4]

1. मिलिन्दपण्ह अ 2. पृष्ठ 40-50, तत्त्वसंग्रह, कर्मफल सम्बन्ध तथा लोकायत परीक्षा प्रकरण।
2. Buddhist Psychology, p 25.
3. Buddhism in Transition (Warren), pp. 234-241.
4. चेतनाहं भिक्खवेकम्मंति वदामि। —अंगुत्तर निकाय, 3, 45.
कम्म विपाका वत्तन्ति विपाको कम्मसंभवो, कम्मा पुनब्भवा होंति एवं लोको पवत्तति।
कम्मस्स कारको नत्थि विपाकस्स च वेदको, सुधम्मा पवत्तन्ति एवेतं सम्मदस्सनं।—विसुद्धिमग्ग, अ 19.

बौद्ध साहित्य में आत्मा के सम्बन्ध में चार तरह की विचारधाराएं मिलती हैं– 1. रूप, वेदना, संज्ञा, संस्कार और विज्ञान, इन पांच स्कन्धों के अतिरिक्त आत्मा कोई स्वतन्त्र पदार्थ नहीं है। 2. पांच स्कन्धों के अतिरिक्त आत्मा एक स्वतन्त्र पदार्थ है। 3. आत्मा का अस्तित्व तो है, परन्तु इसे 'न अस्ति' कह सकते हैं और 'न नास्ति' ही। 4. आत्मा है या नहीं है, यह कहना असम्भव है।

प्रथम मान्यता का उल्लेख्र मिलिन्दपण्ह में मिलिन्द और नागसेन के प्रश्नोत्तर के रूप में मिलता है। इसमें नागसेन स्पष्ट कर देता है, पुद्‌गल–आत्मा की स्वतन्त्र उपलब्धि नहीं होती है।[1] वह पांच स्कन्धों का समूह रूप ही है। जैसे क्या रथ के पहिए, धुरे तथा रथ में लगे हुए डण्डे आदि रथ हैं? नहीं। और क्या इन सबसे पृथक् रथ का अस्तित्व है? नहीं। पहिए, धुरे डण्डे आदि के संयुक्त रूप को व्यवहार में रथ कहते हैं उसी तरह रूप–वेदना आदि के संगठित रूप को आत्मा कहते हैं।[2]

बौद्धों की दूसरी मान्यता है कि आत्मा 5 स्कन्धों से भिन्न पदार्थ है। यह मान्यता नैयायिक आदि दार्शनिकों जैसी है। यहां पर पुद्‌गल–आत्मा को 5 स्कन्धों का बोझ ढोने वाली कहा गया है।[3]

तीसरी मान्यता को मानने वाले पुद्‌गलवादी वात्सीपुत्रीय बौद्ध हैं। ये आत्मा के अस्तित्व को मानते हैं, परन्तु उसे 5 स्कन्धों से भिन्न नहीं कह सकते हैं, न अभिन्न और न नित्य है और न अनित्य ही। फिर भी यह पुद्‌गल–आत्मा अपने अच्छे–बुरे कर्मों का कर्ता और भोक्ता है, इसलिए इसके अस्तित्व का निषेध नहीं कर सकते।

चौथी मान्यता के अनुसार आत्मा अव्याकृत है। अनुराध के प्रश्न का उत्तर देते हुए तथागत बुद्ध ने कहा कि तुम जब इस लोक में जीव दिखाने में समर्थ नहीं हो, तो फिर परलोक की तो बात दूर रही। इसलिए मैं आत्मा के अस्तित्व–नास्तित्व के चक्कर में न पड़कर 'दु:ख और दु:ख–निरोध' इन दो तत्त्वों का उपदेश करता हूं। जैसे तीर से आहत व्यक्ति को–यह तीर

---

1. पुग्गलोनुपलब्भति। –मिलिन्दपण्ह
2. मिलिन्दपण्ह, अ 2, विसुद्धिमग्ग, अ 16, कत्थावत्थु 1, 2. अभिधर्म कोश 3, 18 टीका, दीघनिकाय–पायासिसुत्त, संयुत्तनिकाय, 5, 10, 6.
3. भारं भो भिक्षवो देशयिष्यामि भारादानं भारनिक्षेप भारहारं च। तत्र भार: पंचोपादानस्कन्धा: भारादानं तृप्ति, भारनिक्षेपो मोक्ष:, भाराहार: पुद्‌गला:। –तत्त्वसंग्रह पंजिका, आत्मवाद परीक्षा, 349, धम्मपद का अत्तवग्गो।

किसने बनाया, किसने मारा, कब मारा, किस दिशा से मारा, आदि प्रश्न करने व्यर्थ हैं। उसे इन व्यर्थ के प्रश्नों में न उलझकर तीर के घाव की रक्षा की बात सोचनी चाहिए। इसी तरह आत्मा क्या है? परलोक क्या है? तथागत पैदा होते हैं या नहीं? ये सब प्रश्न व्यर्थ हैं, अव्याकृत हैं।[1]

बहुत-से स्थानों पर आत्मा के सम्बन्ध में प्रश्न करने पर बुद्ध मौन रहे हैं।[2] इस तरह मौन रहने का कारण पूछने पर उन्होंने कहा–यदि मैं कहता हूं कि आत्मा है तो शाश्वतवादी हो जाता हूं और आत्मा नहीं है ऐसा कहता हूं तो उच्छेदवादी हो जाता हूं। अत: दोनों का निराकरण करने के लिए मौन रहता हूं।[3]

इस तरह हम देखते हैं कि बुद्ध ने आत्मा के सम्बन्ध में कोई स्पष्ट उल्लेख नहीं किया है। नागार्जुन ने कहा है–''बुद्ध ने यह भी कहा है कि आत्मा है और यह भी कहा है कि आत्मा नहीं है। अत: बुद्ध ने आत्मा या अनात्मा किसी का भी उपदेश नहीं दिया।[4]

जैनदर्शन

जैनदर्शन जैनागमों में यत्र-तत्र-सर्वत्र दार्शनिक एवं आध्यात्मिक चिन्तन-मनन की सामग्री व्यवस्थित रूप में उपलब्ध होती है। जैनदर्शन स्याद्वाद की नींव पर स्थित है। भगवान् महावीर ने बुद्ध की तरह किसी भी प्रश्न को टालने का प्रयत्न नहीं किया। उन्होंने आत्मा, परमात्मा, लोक-परलोक आदि के सम्बन्ध में पूछे गए प्रश्नों का स्पष्ट उत्तर दिया है।

इस बात को हम पहले ही स्पष्ट कर चुके हैं कि जैनधर्म को एकान्तवाद मान्य नहीं है। वह न तो वैदिक परम्परा-मान्य कूटस्थ (एकान्त) नित्यत्व को ही ठीक मानता है और न एकान्त क्षणिकत्व को ही सत्य मानता है। क्योंकि प्रत्येक पदार्थ अनेक धर्म या गुण युक्त है। एक अपेक्षा से उसका एक पहलू है, तो दूसरी अपेक्षा से दूसरा पहलू भी है। जैसे सिक्के

---

1. संयुत्तनिकाय, अनुराधसुत्त, अभिधर्मकोश, 5, 22, टिप्पण।
2. किं नु भो गौतम अत्थत्ताति, एव वुत्ते भगवा तुण्ही अहोसि।
   किं पन भो गौतम नत्थत्ताति, दुतियं पि खो भगवा तुण्ही अहोसि।। –संयुत्तनिकाय, 4, 100.
3. अस्तीति शाश्वतग्राहो नास्तित्युच्छेददर्शनं।
   तस्मादस्तित्वनास्तित्वे नाश्रीयेत विचक्षण:।। –माध्यमिक कारिका, 18, 10.
4. आत्मेत्यपि प्रज्ञपितमनात्मेत्यपि देशत:।
   दुद्धैर्नात्मा न चानात्मा कश्चिदित्यपि देशितं।। –माध्यमिक कारिका, 19, 6.

की दोनों बाजू सत्य हैं–एक तरफ अपने राष्ट्र की सरकार द्वारा मान्य छाप है, तो दूसरी ओर उसके बनने की तारीख एवं सिक्के का मूल्य अंकित होता है। ये दोनों पहलू सिक्के के हैं। किसी एक को महत्त्व नहीं दिया जा सकता है और एक के अस्तित्व में उस सिक्के का मूल्य भी नहीं रह जाएगा। इसी तरह प्रत्येक पदार्थ अनेक धर्म वाला है। अत: हम एकान्त दृष्टि से उसके यथार्थ स्वरूप को नहीं जान सकेंगे।

आत्मा को कूटस्थ नित्य मानने वाले मत का खण्डन करते हुए बौद्ध विचारकों ने यह तर्क दिया है कि यदि आत्मा को कूटस्थ नित्य मानेंगे तो उसमें कृत-कारित्व नहीं घट सकेगा। क्योंकि जो व्यक्ति कूटस्थ नित्य होता है, उसमें किसी भी तरह का परिवर्तन नहीं आता। वह दीवार की तरह अपरिवर्तित स्थिति में बना रहता है। अत: वह कुछ कार्य नहीं कर सकेगा। यदि कहो कि प्रकृति कार्य करती है, तो प्रश्न होगा कि प्रकृति द्वारा किए गए कार्य का आत्मा को फल कैसे मिलेगा? यह सम्भव नहीं कि कार्य कोई करे और फल दूसरा भोगे। यदि यह मान भी लें कि प्रकृति ही उसका फल भोग लेती है, तब भी समस्या की उलझन बनी रहेगी। फिर तो आत्मा का स्वर्ग-नरक आदि गतियों में गमन भी नहीं हो सकेगा और न उसका बन्ध होगा और न मुक्ति ही। वह जिस गति एवं स्थिति में स्थित है, उसी में बनी रहेगी। इस लोक में भी एक स्थान से दूसरे स्थान में आ-जा नहीं सकेगी। परन्तु ऐसा होता है, वह गमनागमन करती है। इसलिए एकान्त नित्यवाद यथार्थता से दूर है। उसे मानने पर आत्मा का कृत-कारित्व नहीं रह जाता है।

जो दोष एकान्त नित्यवाद में आते हैं, वे ही दोष आत्मा को एकान्त क्षणिक मानने में भी आते हैं। क्षणिकवाद की दृष्टि से प्रतिक्षण नयी आत्मा का जन्म होता है। पहले क्षण जो आत्मा थी उसका नाश हो जाता है और दूसरे क्षण अभिनव आत्मा की उत्पत्ति होती है। इससे स्पष्ट है कि द्वितीय क्षण उत्पन्न होने वाली आत्मा प्रथम क्षण में स्थित आत्मा से भिन्न है। यदि भिन्न नहीं है, वही है, तो फिर आत्मा नित्य हो जाएगी। और उसे भिन्न मानते हैं तो यह प्रश्न उठता है कि जो कर्म प्रथम क्षण स्थित आत्मा ने किया है, उसका फल कौन भोगेगा? यदि कहें कि दूसरे क्षण स्थित आत्मा भोग लेगी, तो यह कहना उचित नहीं है। क्योंकि कर्म कोई करे और उसका फल दूसरे को मिले, यह तो व्यवहार से भी विरुद्ध है। यदि बाप चोरी करेगा तो उसका दण्ड उसकी सन्तान को नहीं, उसे ही मिलेगा। यदि कहें कि उसका फल ही नहीं मिलता तो फिर क्रिया निष्फल हो जाएगी और ऐसा होता नहीं।

इसी तरह बन्ध मोक्ष का भी प्रश्न उपस्थित होगा। क्योंकि जब आत्मा में नित्यता है ही नहीं तो फिर कर्म का बन्ध किसे होगा और उसे तोड़ेगा भी कौन? क्योंकि कर्म करने वाला आत्मा तो नष्ट हो गया है। अत: उसका—कर्म का बन्ध किसी को नहीं होगा। परन्तु ऐसा होता नहीं। जो व्यक्ति बुरे या अच्छे जैसे कर्म करता है, उसे वैसा फल भी मिलता है। इससे स्पष्ट है कि वह शुभाशुभ कर्म का बन्ध करता है और उसे तोड़ता भी है। क्योंकि जिसका बन्ध होता है, उसका नाश भी किया जा सकता है और यह बन्ध-मोक्ष की स्थिति एकान्त क्षणिकवाद में नहीं घट सकती है।

अत: आत्मा को एकान्त नित्य मानना भी दोषयुक्त है और एकान्त अनित्य मानना भी। इसलिए जैनदर्शन उसे न एकान्त नित्य मानता है और न एकान्त अनित्य ही, वह उसे नित्यानित्य मानता है। आत्म द्रव्य की अपेक्षा से नित्य है। क्योंकि शरीर की बदलती हुई स्थितियों एवं गतियों में भी उसका अस्तित्व बना रहता है। उसके अस्तित्व में, आत्म-प्रदेशों में थोड़ा भी अन्तर नहीं पड़ता। परन्तु ज्ञान-दर्शन आदि जो आत्मा के गुण हैं और सदा आत्मा के साथ रहते हैं, उनमें प्रतिक्षण परिवर्तन होता है। इसके अतिरिक्त संसारी आत्मा के शरीर एवं गति में भी परिवर्तन होता रहता है। इस पर्याय परिवर्तन की अपेक्षा से उसमें परिवर्तन भी आता है। इस तरह आत्मा न एकांत नित्य है और न एकान्त अनित्य ही। वह परिणामी नित्य है—*द्रव्य की अपेक्षा से सदा स्थित रहता है और पर्याय की अपेक्षा से सदा बदलता रहता है।*

बौद्धों का यह तर्क भी कोई महत्त्व नहीं रखता कि आत्मा सबसे अधिक प्रिय होने के कारण मनुष्य उसकी तृप्ति के लिए अहंकार का अत्यधिक पोषण करता है या हिंसा आदि पापों में प्रवृत्त होता है। यह दोष अनात्मवाद में ही उपस्थित होता है। क्योंकि आत्मवादी इस बात को भली-भांति जानता है कि अहंकार एवं हिंसा आदि दोष संसार परिभ्रमण के कारण हैं। इसलिए वह उनसे बचकर रहता है।

संसार में दो दृष्टियां पाई जाती हैं—1. बाह्याभिमुखी और 2. आत्माभिमुखी। जिन प्राणियों को सम्यक्ज्ञान नहीं होता, उनकी दृष्टि बहिर्मुखी होती है। वे पंचभूत से बने स्थूल शरीर को ही आत्मा मानने लगते हैं। इसलिए उसे सुरक्षित, स्वस्थ एवं चिरकाल तक बनाए रखने के लिए अनेक तरह के पापों का आसेवन करते हैं और रात-दिन विषय-कषाय में संलग्न रहते हैं। इस तरह वे दु:ख की अभिवृद्धि करते हैं। परन्तु जिन्हें सम्यक्ज्ञान है, उनकी दृष्टि आत्माभिमुखी होती है। वे प्रत्येक कार्य करते समय अपने हित की तरह दूसरे के हित एवं सुख का ध्यान रखते हैं। क्योंकि वे प्रत्येक आत्मा को अपनी आत्मा के समान देखते हैं

और यह जानते हैं कि मुझे दु:ख अप्रिय है, उसी तरह दुनिया के समस्त जीवों को दु:ख अप्रिय लगता है, सुख प्रिय है और सभी प्राणी जीना चाहते हैं। इसलिए वह अपने स्वार्थ की पूर्ति के लिए दूसरे प्राणियों का यों ही विनाश नहीं करेगा। वह प्रत्येक कार्य विवेकपूर्वक करेगा। हिंसा आदि दोषों से बचने का प्रयत्न करेगा। इस तरह वह पाप कर्मबन्ध एवं दु:खों से सहज ही बच जाता है।

इससे स्पष्ट हो जाता है कि आत्मा के अस्तित्व को मानने से दु:खों की परम्परा नहीं बढ़ती, बल्कि आत्मा को स्वीकार नहीं करने से ही दु:खों की परम्परा में अभिवृद्धि होती है। आत्मा के यथार्थ स्वरूप का परिज्ञाता तो दु:ख प्रवाह को ही समाप्त कर देता है। वह जो कुछ करता है, वह शरीर की तुष्टि के लिए नहीं करता, प्रत्युत आत्मविकास के लिए करता है और आत्मा को शरीर से पृथक् मानकर करता है। इसलिए वह केवल शरीर-पोषण के लिए किये जाने वाले सभी दोषों से निवृत्त होकर साधना के–संयम के पथ पर बढ़ता है और वह अपनी सारी शक्ति आत्मा को कर्म एवं कर्मजन्य शरीर आदि साधनों से सर्वथा मुक्त करने में लगा देता है। अत: वह एक दिन शारीरिक एवं मानसिक सभी दु:खों से मुक्त होकर अनन्त आत्मसुख को प्राप्त कर लेता है।

इस तरह जैनदर्शन आत्मा के अस्तित्व को स्वीकार करता है। और उसका विश्वास है कि आत्मा के यथार्थ स्वरूप को जानने वाले व्यक्ति को आत्मा ही सर्वप्रिय लगती है। इसलिए वह शरीर-पोषण से अपना ध्यान हटाकर आत्मविकास में लगा देता है और आत्मविकास समस्त दोषों से निवृत्त होने पर ही होता है। इस तरह वह सारे दोषों एवं तज्जन्य दु:खों से सहज ही बच जाता है।

जैनदर्शन में आत्मा को स्वतन्त्र पदार्थ माना है। वह इन्द्रिय, मन आदि से अलग स्वतन्त्र द्रव्य है और रूप, वेदना आदि से रहित है। क्योंकि रूप आदि पर्याएं भौतिक पदार्थों में होती हैं। जैनदर्शन में माने गये छह द्रव्यों–1. धर्म, 2. अधर्म, 3. आकाश, 4. काल, 5. जीव और 6. पुद्गल में केवल पुद्गल द्रव्य रूप आदि से युक्त है, शेष जड़ एवं चेतन द्रव्यों में रूप आदि नहीं पाये जाते हैं। संसारी जीव में जो रूप एवं कर्मजन्य वेदना आदि परिलक्षित होती है, इसका कारण यह है कि वह कर्म से संयुक्त है और कर्म पुद्गल हैं, अत: जीव में रूप, वेदना, संज्ञा आदि की होने वाली अनुभूति कर्म पुद्गल के कारण होती है। अत: ये सब आत्मा नहीं, प्रत्युत आत्मा के साथ सम्बद्ध पुद्गल हैं, पर्यायें हैं और इसी कारण उनमें प्रतिक्षण परिवर्तन होता रहता है। इनके पुरातन स्वरूप का नाश एवं अभिनव स्वरूप की उत्पत्ति होती रहती है इसी

कारण आत्मा को भी पर्याय की अपेक्षा से अनित्य माना है। अस्तु, इन साकार पुद्गलों के कारण आत्मा को रूपवान नहीं कहा जा सकता। वह इनसे अलग अरूपी है और पर्यायों के विनाश के कारण उसके द्रव्य स्वरूप में कोई अन्तर नहीं आता, इसलिए वह एकान्त अनित्य नहीं, नित्यानित्य है। आत्मा द्रव्य की अपेक्षा से नित्य और पर्याय की अपेक्षा से अनित्य है। बौद्धदर्शन में जो आत्मा को रूप आदि से युक्त एवं एकान्त क्षणिक माना है, वह कर्मयुक्त आत्मा के अन्दर होने वाली पौद्गलिक हरकतों एवं उसकी परिवर्तित होने वाली पर्यायों को देखकर ही उसे रूप आदि से युक्त एवं क्षणिक कहा है। आत्मा के शुद्ध स्वरूप पर अर्थात् आत्म द्रव्य पर जिसमें त्रिकाल में कभी भी अन्तर नहीं आता और जो पौद्गलिक गुणों से सर्वथा रहित है, रूप-रस आदि से युक्त नहीं है, बौद्धदर्शन की दृष्टि नहीं गयी। जैन विचारकों ने उसके यथार्थ स्वरूप का प्रत्यक्षीकरण करके रखा है और वह अनुभव से सत्य सिद्ध होता है।

जैनदर्शन ने किसी भी वस्तु को न एकान्त नित्य कहा है और न एकान्त रूप से अनित्य माना है। क्योंकि वस्तु अनन्त गुणों से युक्त है, अत: उसके लिए एकान्त भाषा का प्रयोग ही नहीं किया जा सकता। परन्तु, इससे यह मानना गलत है कि जैनदर्शन संशयशील है। उसे वस्तु के नित्यानित्य, एक-अनेक आदि स्वरूपों में पूरा विश्वास है और वह निश्चयात्मक रूप से कहता है कि वस्तु नित्य भी है और अनित्य भी है। उसे वस्तु के उभय रूपों में निश्चय है। परन्तु तथागत बुद्ध जब आत्मा आदि को अव्याकृत कहते हैं, तो इसका अर्थ यह है—उन्हें आत्मा के स्वरूप के सम्बन्ध में कोई निश्चय नहीं है। इसलिए वे अन्य दार्शनिकों की कटु आलोचनाओं से बचने के लिये उन्हें अव्याकृत कहकर अपना पीछा छुड़ाते हैं। परन्तु, जैन विचारकों ने आत्मा, परमात्मा, मोक्ष आदि के यथार्थ स्वरूप को बताया है।[1]

इस तरह जैनदर्शन एवं बौद्धदर्शन में मौलिक अन्तर यह है कि बौद्धदर्शन आत्मा को रूप, वेदना आदि पांच स्कन्धों से अतिरिक्त नहीं मानता और जैनदर्शन उसे इनसे अलग स्वतन्त्र द्रव्य मानता है। बौद्ध-दर्शन आत्मा को क्षणिक मानता है और जैनदर्शन एकान्त रूप से क्षणिक नहीं मानता। बौद्धदर्शन मुक्त अवस्था में आत्मा को अभाव-शून्य अवस्था मानता है और जैनदर्शन मुक्त अवस्था में भी आत्मा के अस्तित्व को स्वीकार करता है और उसे अनन्तज्ञान, अनन्तदर्शन, अव्याबाध सुख एवं अनन्तशक्ति से सम्पन्न मानता है।

प्रश्न—जैनधर्म और बौद्धधर्म दोनों में कोई समानता है या नहीं?

1. इस सम्बन्ध में हम 'आत्म विचारणा', 'कर्म विचारणा' आदि प्रकरणों में विस्तार से लिख चुके हैं।

उत्तर—जैनधर्म और बौद्धधर्म में अनेकों समानताएं पायी जाती हैं। दोनों वेदों को प्रमाण नहीं मानते। हिंसामय यज्ञों के दोनों विरोधी हैं। जगत का नियन्ता ईश्वर है, यह दोनों का विश्वास नहीं है। दोनों पुरुष में ही, उसका आध्यात्मिक विकास होने पर देवत्व की कल्पना करते हैं। दोनों अहिंसा के अनुयायी हैं। दोनों के संघ में साधु और साध्वी को महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त है। इन बातों के अलावा जैनधर्म के चौबीसवें तीर्थंकर भगवान् महावीर और महात्मा बुद्ध दोनों समकालीन थे। दोनों राजकुमार थे, विवाहित थे। सोने के सिंहासनों को लात मार दोनों ने प्रव्रज्या ग्रहण की थी, साधनाकाल में दोनों के जीवन में अनेकों बाधाएं उपस्थित हुईं। ब्राह्मण संस्कृति से दोनों की टक्कर थी, दोनों ही श्रमण संस्कृति के स्तम्भ थे। **'वैदिकी हिंसा, हिंसा न भवति'** की असंगत और हिंसक धारणा का दोनों ने डटकर विरोध किया था। इसी प्रकार अन्य भी अनेकों बातें हैं, जिनके कारण जैनधर्म और बौद्धधर्म में समानता पायी जाती है।

प्रश्न—जैनधर्म और बौद्धधर्म में कोई भिन्नता है? यदि है तो वह क्या है?

उत्तर—दोनों धर्मों में अनेकों जगह मतभेद मिलता है। दोनों के धार्मिक ग्रन्थ अलग-अलग हैं, इतिहास अलग है, कथाएं अलग हैं, इतना ही नहीं, धार्मिक सिद्धान्त भी दोनों के नितान्त भिन्न हैं। जैनधर्म नित्य और अभौतिक जीवतत्त्व का अस्तित्व मानता है, तथा उसका विश्वास है कि जब तक यह जीव कर्मों से बंधा हुआ है, तब तक संसार में भ्रमण करता रहता है। जब अहिंसा, संयम और तप की त्रिवेणी में डुबकियां लगाकर अनादिकालीन अपने कर्म-मल को सदा के लिए धो डालता है, निष्कर्म हो जाता है, तब मुक्त होने पर सिद्धशिला में जा विराजता है, और अनन्तकाल तक आत्मिक गुणों में मग्न रहता हुआ शाश्वत आत्मिक सुखों को भोगता है। किन्तु बौद्धधर्म जीव तत्त्व को नहीं मानता है। उसके मत में जिसे जीव कहा जाता है, वह कोई नित्य पदार्थ नहीं है प्रत्युत क्षणिक धर्मों की एक सन्तान है। जैसे तेल और बत्ती के जल चुकने पर दीपक का विनाश हो जाता है, वैसे ही उस सन्तान का भी नाश हो जाता है। बौद्धधर्म का यह सिद्धान्त जैनधर्म से सर्वथा विपरीत है।

इसी प्रकार जैन साधुओं और बौद्ध साधुओं की मर्यादाओं में बहुत अन्तर पाया जाता है। जैन साधु का जीवन तपश्चरण की दृष्टि से बड़ा ही कठोर जीवन होता है। जैन साधु कड़ी से कड़ी सर्दी पड़ने पर भी आग नहीं सेकते, प्यास के मारे कण्ठ सूख जाने पर भी सचित्त जल का सेवन नहीं करते। चाहे कितनी भूख लगी हो पर फल आदि कच्ची सब्जी नहीं खाते। आग और हरी सब्जी का स्पर्श नहीं करते। बुढ़ापा या बीमारी होने पर भी कोई सवारी नहीं

करते। सदा सर्वत्र नंगे पांव और नंगे सिर पाद-भ्रमण करते हैं। कौड़ी-पैसा आदि कुछ भी धन अपने पास नहीं रखते। सुई तक भी रात्रि को अपने पास नहीं रहने देते। ऐसे अनेकों नियम हैं, जो बौद्ध साधुओं में नहीं पाये जाते।

बौद्ध साधुओं को सचित्त जल के सेवन से कोई संकोच नहीं, वे सहर्ष सचित्त वनस्पति को अपने उपयोग में लाते हैं। रेल, तांगा, मोटर, हवाई-जहाज आदि जितनी भी सवारियां हैं, वे सभी का प्रयोग करते हैं। रुपया, पैसा, सोना, चांदी आदि सभी प्रकार का धन अपने काम में लाते हैं। बौद्ध साधुओं को यदि उनका कोई शिष्य घर जीमने का निमन्त्रण देता है, तो वे उसके निमन्त्रण को स्वीकार करके उसके घर चले जाते हैं; किन्तु जैन साधु ऐसा नहीं करते। जैन साधु किसी का निमन्त्रण नहीं मानते, किसी के घर जाकर नहीं जीमते। वे तो घरों से भिक्षा मांगकर लाते हैं, और अपने स्थान में आकर ही भोजन को ग्रहण करते हैं। इस प्रकार बौद्ध साधु और जैन साधु के जीवन में आचार-विषयक अनेकों मतभेद हैं।

बौद्ध साधु मांस भी खाते हैं। इनका विश्वास है कि जो मांस बौद्ध साधुओं के निमित्त तैयार नहीं किया गया है, उस मांस को खाने में कोई दोष नहीं है। इसीलिए जापान में बौद्ध मांस-विक्रेताओं की दुकानों पर "Not kindle for you" अर्थात् "यह मांस आपके लिए तैयार नहीं किया गया है" इन शब्दों से अंकित बोर्ड लगे रहते हैं। इनके लगाने का यही उद्देश्य होता है कि बौद्ध साधु निर्दोष समझकर यहां से मांस ले सकें। किन्तु जैन साधु मांसाहार के सर्वथा त्यागी होते हैं, मांस तो क्या वे सचित्त वनस्पति को भी नहीं छूते हैं। कच्ची सब्जी के स्पर्शमात्र से ही वे हिंसा की कल्पना करते हैं। ऐसे अहिंसक जीवन में मांसाहार का तो प्रश्न ही पैदा नहीं होता। जैन साधु तो मांसाहार से सर्वथा दूर रहते ही हैं, किन्तु जैन गृहस्थ भी इसे कभी अपने उपयोग में नहीं लाते हैं। जैन धर्म मांसाहार को अभक्ष्य और हिंसापूर्ण आहार बतलाता है। जैन धर्म में मांसाहार का बड़ी दृढ़ता से विरोध किया गया है। करुणा के सागर भगवान् ने इसे कुव्यसनों में माना है और नरक का कारण बतलाया है। जैन वाङ्मय के प्रसिद्ध सूत्र श्री स्थानांगसूत्र के चतुर्थ स्थान में लिखा है कि प्राणी महारंभ करने से, महापरिग्रह रखने से, पञ्चेन्द्रिय जीवों का वध करने से, और मांस का भक्षण करने से नरक में जाता है। बौद्ध धर्म और जैन धर्म में कितनी भिन्नता है यह?

जैन धर्म निवृत्ति-प्रधान धर्म है। इसमें सभी प्रकार के पापों की विरक्ति पर विशेष लक्ष्य दिया गया है। मुनियों के लिए जीव-हिंसा, असत्य, चोरी, अब्रह्मचर्य, परिग्रह आदि का सर्वथा त्याग बतलाया गया है। उन्हें मन, वचन और काया से न स्वयं हिंसा करनी चाहिए और

न दूसरों से करानी चाहिए, और न हिंसा करने वाले का अनुमोदन करना चाहिए। कृत, कारित और अनुमोदन करने की यह भावना सभी व्रतों के लिए है। मुनिव्रत धारण करते समय व्यक्ति को प्रतिज्ञा करनी पड़ती है कि **"सव्वं सावज्जं जोगं पच्चक्खामि"** अर्थात् मैं सभी सावद्य प्रवृत्तियों का त्याग करता हूं, किन्तु बौद्ध धर्म ने निवृत्तिधर्म को इतना महत्त्व नहीं दिया।

जैन धर्म ने आत्मा, परमात्मा, पुण्य, पाप, बन्ध, निर्जरा आदि जिस किसी भी तत्त्व को पकड़ा है, उसके स्वरूप को पूर्णरूप से जनता के सामने रखा है। भगवती सूत्र में वर्णित गंग अनगार के भांगे अपनी विशेषता आप ही रखते हैं, उन्हें समझना कोई खाला जी का घर नहीं। जितना सूक्ष्म, गंभीर और तात्त्विक विवेचन जैन धर्म ने अध्यात्म जगत को दिया है, इतना बौद्ध धर्म ने तो क्या किसी भी जैनेतर धर्म ने नहीं दिया।

जैन धर्म का अधिक झुकाव पदार्थों के स्वरूप के अन्वेषण और अनुसन्धान की ओर रहा है, आत्मा के अनादिकालीन कर्ममल की विशुद्धि के लिए अहिंसा, संयम और तप की आराधना की ओर रहा है, जैन धर्म का दृष्टिकोण अलौकिक रहा है, आत्म-सुधार का रहा है, लौकिक आचार-विचार के उत्थान की ओर भी उसने ध्यान तो दिया है, परन्तु उतना नहीं, जितना कि लोकोत्तर आचार-विचार की ओर दिया है। इसके विपरीत बौद्ध धर्म का झुकाव लौकिक आचार-विचार की ओर ही अधिक रहा है, उसने लोकोत्तर (आत्मिक) आचार-विचारगत उत्कर्ष की ओर विशेष लक्ष्य नहीं दिया। यही इन दोनों में आचार-विचारगत भिन्नता है।

इस प्रकार जैन धर्म और बौद्ध धर्म में सैद्धान्तिक और धार्मिक दृष्टि से पर्याप्त मतभेद पाया जाता है। तथापि इस सत्य से इन्कार नहीं किया जा सकता कि दोनों धर्म एक ही क्षेत्र में फले-फूले हैं, और अन्य धर्मों की अपेक्षा एक-दूसरे के अधिक निकट हैं।

भगवान् महावीर और महात्मा बुद्ध के जीवन में जो समानता तथा असमानता है, उस निम्नोक्त तालिका से समझा जा सकता है –

	महावीर	**बुद्ध**
पिता	सिद्धार्थ	शुद्धोधन
माता	त्रिशला	महामाया
गोत्र	कश्यप	कश्यप
जन्मभूमि	क्षत्रियकुण्डग्राम	कपिलवस्तु

जाति	ज्ञात	शाक्य
जन्म	ई० पू० 599	ई० पू० 600
स्त्री	यशोधा	यशोधरा
सन्तान	प्रियदर्शना [पुत्री]	राहुल [पुत्र]
दीक्षा	30 वर्ष की आयु में	29 वर्ष की आयु में
तप	12 वर्ष	6 वर्ष
ज्ञान-प्राप्ति स्थान	ऋजुवालिका तट	(बौद्ध) गया
निर्वाण	ईस्वी सन् से 527 वर्ष पूर्व	ईस्वी सन् से 520 वर्ष पूर्व
निर्वाण स्थान	मध्यम अपापा (पावापुरी)	कुशी नगर
आयुष्य	72 वर्ष	80 वर्ष
महाव्रत	पांच महाव्रत	पांच शील
सिद्धान्त	अनेकान्तवाद	क्षणिकवाद

❑ ❑ ❑

नवम अध्याय

जैनदर्शन और चार्वाकदर्शन

प्रश्न—भारतीय दर्शनों में चार्वाक नास्तिक दर्शन माना गया है। वैदिक दार्शनिकों ने चार्वाक की तरह जैनदर्शन को भी नास्तिक दर्शन कहा है। अतः यह स्पष्ट करें कि चार्वाक एवं जैनदर्शन में क्या अन्तर है?

उत्तर—आस्तिक-नास्तिकवाद प्रकरण में हम विस्तार से बता चुके हैं कि जैनदर्शन नास्तिक दर्शन नहीं, आस्तिक दर्शन है। इसे नास्तिक दर्शन कहना केवल साम्प्रदायिक व्यामोह मात्र है। यदि वेद को प्रमाण न मानने मात्र से ही कोई दर्शन नास्तिक हो जाता हो, तब सांख्यदर्शन को भी नास्तिक दर्शन मानना होगा। क्योंकि जैनों की तरह वह भी वेद को ईश्वरकृत एवं प्रमाण रूप नहीं मानता। और शंकराचार्य वेद को प्रमाण रूप मानता है, फिर भी वैदिक पुराणों में उसे नास्तिक कहा है।[1] इससे स्पष्ट होता है कि नास्तिक-आस्तिक का सम्बन्ध वेद को प्रमाण मानने या नहीं मानने से नहीं है। यह परिभाषा सम्प्रदायवाद के विषाक्त युग में बनाई गई है। वस्तुतः जो विचारक आत्मा के स्वतन्त्र अस्तित्व एवं परलोक के अस्तित्व को नहीं मानते, वे नास्तिक और जो इनमें विश्वास रखते हैं वे आस्तिक कहलाते हैं। इस दृष्टि से जैनदर्शन नास्तिक नहीं, बल्कि आस्तिक दर्शन है। इस बात को हम आस्तिक-नास्तिक

1. मायावादी वेदान्ती (शंकराचार्य) अपि नास्तिक एव पर्यवसाने संपद्यते इति ज्ञेयम्। अत्र प्रमाणानि सांख्य-प्रवचन-भाष्योदाहृतानि पद्मपुराणवचनानि यथा –
मायावादमसच्छास्त्रं प्रच्छन्नं बौद्धमेव च।
मयैव कथितं देविकलौ ब्राह्मणरूपिणा।।
अपार्थं श्रुतिवाक्यानां दर्शयल्लोक-गर्हितम्।
कर्म-स्वरूपत्याज्यत्वमत्र च प्रतिपाद्यते।।
सर्व कर्म परिभ्रंशान्नेष्कर्म्यं तत्र चोच्यते।
परमात्मजीवयोरैक्यं मयात्र प्रतिपाद्यते।। —सांख्यप्रवचन भाष्य, 1-1 भूमिका; न्यायकोष पृ. 3721.

विवेचन में स्पष्ट कर चुके हैं। अब हम चार्वाक एवं जैन दर्शन में समानता है या नहीं इस पर विचार करेंगे। इस तुलनात्मक विवेचन को प्रारम्भ करने से पहले चार्वाकदर्शन को समझ लेना आवश्यक है। इसलिए पहले हम चार्वाकदर्शन की मान्यता पर विचार करते हैं –

चार्वाक-दर्शन

चार्वाकदर्शन पुण्य-पाप आदि तत्त्वों को नहीं मानता। वह इस बात को भी स्वीकार नहीं करता कि व्यक्ति के द्वारा की जाने वाली किसी भी क्रिया का इस लोक के अतिरिक्त परलोक में भी फल मिलता है। वह समस्त तत्त्वों का चर्वण कर जाता है, इसलिए उसे चार्वाक कहा जाता है।[1] इसकी भाषा लोकरुचि को लिए हुए होती है, इस तरह भाषा की सुन्दरता के कारण भी उसे चार्वाक कहते हैं।[2] इसका आचरण सामान्य लोगों की तरह होता है, इसमें संयम एवं तप का अभाव होता है। साधारण लोगों की तरह भोगों में आसक्त रहने के कारण इसे लोकायत या लोकायतिक भी कहते है।[3] चार्वाकदर्शन वाले पुण्य-पाप को नहीं मानते और उनके फलस्वरूप मिलने वाले नरक-स्वर्ग को भी नहीं मानते, इसलिए इन्हें नास्तिक भी कहते हैं।[4]

चार्वाक भौतिकवादी दर्शन है। वह मानता है कि सृष्टि में पृथ्वी, जल, तेज, वायु और आकाश ये पांच मूल तत्त्व हैं। इन्हीं से जगत का निर्माण होता है। पांचों तत्त्वों के सम्मिलन से आत्मा की उत्पत्ति होती है और उनके विनाश के साथ आत्मा का भी विनाश हो जाता है।[5] अत: चार्वाकदर्शन की मान्यता है कि संसार में आत्मा नाम की कोई स्वतन्त्र शक्ति नहीं है। उसका अस्तित्व तभी तक रहता है, जब तक पंचभूतों का अथवा शरीर का अस्तित्व रहता है। शरीर के नाश के साथ आत्मा का भी विनाश हो जाता है। इसलिए दुनिया में जो कुछ है, वह यह मनुष्यलोक ही है। इसके अतिरिक्त नरक-स्वर्ग आदि परोक्ष लोक नहीं हैं। अत:

---

1. चर्वन्ति, भक्षयन्ति तत्त्वतो न मन्यन्ते पुण्यपापादिकं परोक्षं वस्तुजातमिति चार्वाका:। –गुणरत्नसूरि।
2. चारु: लोकसम्मत: वाक: वाक्यं यस्य स: चार्वाक:। –वाचस्पत्यकोश।
3. लोका: निर्विचारा: सामान्यलोकस्तद्वदाचरन्ति स्मेति लोकायता लोकायतिका। –गुणरत्न सूरि ।
4. नास्ति पुण्यं पापमिति मतिरस्य नास्तिक:। –आचार्य हेमचंद्र
5. संति पंचमहब्भूया, इहमेगेसिमाहिया।
पुढवि, आउ, तेउ वा वाउ आगास पंचमा।।
ऐस पंच महब्भूया, तेब्भो एगोत्ति आहिया।
अह तेसिं विणासेणं, विणासो होइ देहिणो।। –सूत्रकृतांग, 1, 1, 1, 7-8.

आत्मा मरकर नरक-स्वर्ग में नहीं जाती और न पाप-पुण्य से आबद्ध होती है। इसलिए मनुष्य को धर्म-कर्म करने की आवश्यकता नहीं है। उसे आनन्दपूर्वक अपना जीवन बिताना चाहिए। यह जीवन बड़ी कठिनता से मिला है, अत: खाने-पीने एवं ऐश-आराम में सदा व्यस्त रहना चाहिए। भोग-विलास में निमग्न रहना चाहिए। इस मत के एक विचारक ने कहा भी है -

"यावज्जीवेत् सुखं जीवेत्, ऋणं कृत्वा घृतं पिबेत्।
भस्मीभूतस्य देहस्य: पुनरागमन: कुत:[1]॥"

इससे स्पष्ट होता है कि चार्वाकदर्शन पूर्णत: भौतिकवादी है। वह प्रत्यक्ष में दिखाई देने वाले शरीर एवं भोगों के अतिरिक्त किसी भी वस्तु को वास्तविक नहीं मानता है। इसे प्रत्यक्ष के अतिरिक्त कोई भी प्रमाण मान्य नहीं है।

जैन-दर्शन

जैनदर्शन पांच भूतों के संघात से बने हुए शरीर को ही आत्मा नहीं मानता। आत्म विचारणा प्रकरण में हम इस बात को स्पष्ट कर चुके हैं कि आत्मा शरीर, इन्द्रिय एवं मन के अतिरिक्त स्वतन्त्र द्रव्य है और शरीर आदि का विनाश होने पर भी उसका नाश नहीं होता है। वह सदा-सर्वदा अपने स्वरूप में स्थित रहता है। कभी भी, किसी भी अवस्था में आत्मा के असंख्यात प्रदेशों में थोड़ा भी अन्तर नहीं आता। उनकी संख्या न कभी बढ़ती है और न घटती है। अनन्तकाल तक पुद्गलों के साथ सम्बन्ध रहने पर भी आत्मप्रदेशों की संख्या एवं आत्मा के स्वभाव में कोई अन्तर नहीं आता। इसलिए आत्मा को आत्म-द्रव्य की अपेक्षा से नित्य माना गया है। यह सत्य है कि उसके गुणों में परिवर्तन अवश्य होता है, उसकी पर्यायें प्रतिक्षण बदलती रहती हैं। जैसे ज्ञान एवं दर्शन आत्मा के गुण हैं। आत्मा में अनन्तज्ञान एवं अनन्तदर्शन स्थित हैं। प्रत्येक आत्मा ज्ञान एवं दर्शन की सत्ता लिए हुए है। यह बात अलग है कि संसारी आत्माएं ज्ञानावरण एवं दर्शनावरण कर्म के आवरण से आवृत्त होने के कारण उनका ज्ञान एवं दर्शन पूर्णत: प्रकट नहीं हो पाता है। जितना-जितना कर्मों का क्षयोपशम होता है, उतना ही ज्ञान-दर्शन का प्रत्यक्षीकरण होता है। ज्ञान और दर्शन के द्वारा आत्मा पदार्थों को जानता-देखता है। पदार्थ पर्याय युक्त हैं और पर्यायें सदा बदलती रहती हैं, इसलिए प्रत्येक

1. जब तक जीओ, सुख पूर्वक जीओ, कर्जा लेकर घृत का पान करो; क्योंकि देह के जल जाने पर फिर जन्म होता ही नहीं है।

पदार्थ पर्यायों की अपेक्षा से अनित्य है और ज्ञान एवं दर्शन से पदार्थों की पर्यायों का भी बोध होता है। अतः पर्यायों के परिवर्तन के साथ उसका ज्ञान भी परिवर्तित होता रहता है। जैसे भगवान् महावीर के समय नालन्दा आदि शहर थे और आज भी वे स्थान स्थित हैं। परन्तु उस युग के नालन्दा एवं आज के नालन्दा की स्थिति में बहुत अन्तर आ गया है। इतने लम्बे काल की बात छोड़िये, आजादी के पहले के भारतीय एवं पाकिस्तानी सीमा में स्थित शहरों की स्थिति एवं आज की स्थिति में कितना अन्तर आ गया है, इस बात को प्रत्येक व्यक्ति भली-भांति जानता है। तो इस परिवर्तन के साथ हमारे ज्ञान एवं दर्शन की अनुभूति में भी परिवर्तन हो गया। ज्ञान और दर्शन आत्मा के गुण हैं और गुण सदा गुणी में रहते हैं। अतः ज्ञान-दर्शन आत्मा से सम्बद्ध हैं और कभी भी आत्मा से अलग नहीं होते। उनके अस्तित्व के अभाव में आत्मा का अस्तित्व ही नहीं रह पाता है। तो उनके परिवर्तन का अर्थ होता है आत्मा की पर्यायों का परिवर्तन। इस अपेक्षा से आत्मा अनित्य भी मानी गयी है। वह द्रव्य की अपेक्षा नित्य है और पर्याय की अपेक्षा अनित्य है।

संसारी आत्मा कर्मों से आबद्ध होने के कारण शरीर से भी युक्त है। जब तक वह सम्पूर्ण कर्मों का नाश नहीं कर देता, तब तक वह शरीर से छुटकारा नहीं पा सकता है। मृत्यु के समय स्थूल-औदारिक शरीर यहीं छूट जाता है और अपने आगामी जन्म के स्थान तक पहुंचने के लिए उसे 2, 3 या फिर 4 समय लगते हैं। उतने काल तक वह स्थूल शरीर से रहित रहता है, फिर भी अशरीरी नहीं होता। क्योंकि, कार्मण शरीर सदा उसके साथ रहता है। उस समय भी वह शरीर आत्मा से सम्बद्ध रहता है और उसी कार्मण शरीर के माध्यम से वह अपने बांधे हुए आयुष्य के अनुरूप स्थान में पहुंच जाता है और वहां पहुंचकर सबसे पहले आहार ग्रहण करता है और उसके बाद औदारिक या वैक्रिय-स्थूल शरीर बनाता है। यह शरीर प्रति समय परिवर्तित होता है और आत्मा के बांधे हुए कर्मों में भी प्रतिक्षण परिवर्तन आता रहता है। आत्मा शरीर से सम्बद्ध होने के कारण शरीर आदि पर्यायों के परिवर्तन की अपेक्षा से भी अनित्य कहलाता है। इस तरह हमने देखा कि आत्मा अपेक्षा-विशेष से नित्य भी है और अनित्य भी। परन्तु, एकान्त रूप से नाशवान नहीं है। शरीर के विनाश के साथ ही उसका अस्तित्व समाप्त नहीं हो जाता। एकान्त क्षणिकवाद को मानने वाले बौद्धों ने भी शरीर के नाश के साथ-साथ आत्मा का विनाश नहीं माना है। अतः शरीर के साथ आत्मा का विनाश मानना भारतीय संस्कृति के किसी भी आस्तिक विचारक को स्वीकार नहीं है। इससे स्पष्ट हो जाता है कि चार्वाकदर्शन एवं जैनदर्शन में सबसे बड़ा अन्तर यह है कि

जैनदर्शन आत्मा की स्वतन्त्र सत्ता एवं उसके परिणामी नित्यत्व को स्वीकार करता है और चार्वाकदर्शन आत्मा को शरीर से अलग स्वतन्त्र तत्त्व एवं शरीर के बाद भी उसके स्थित रहने को नहीं मानता।

चार्वाकदर्शन पदार्थों के स्वरूप को जानने-देखने के लिए प्रत्यक्ष ज्ञान को ही प्रमाण मानता है, अनुमान, आगम आदि परोक्ष ज्ञान को प्रमाण नहीं मानता। परन्तु, जैनदर्शन प्रत्यक्ष और परोक्ष दोनों ज्ञानों को प्रमाण मानता है। वह अनुमान, उपमान, आगम आदि प्रमाणों को भी स्वीकार करता है। क्योंकि केवल चक्षु प्रत्येक पदार्थ के यथार्थ स्वरूप को जानने में समर्थ नहीं है। वह स्थूल होने के कारण भौतिक पदार्थों के स्थूल रूप को मर्यादित रूप से जान-देख सकते हैं। कई भौतिक पदार्थ इतने सूक्ष्म होते हैं कि उन्हें आंखों से देख सकना कठिन ही नहीं, असम्भव है। जैसे—परमाणु को आंखों से नहीं देखा जा सकता; आंखों से ही नहीं, सूक्ष्मदर्शी यन्त्र (Microscope) के सहयोग से भी परमाणु के दर्शन नहीं हो सकते। फिर भी हम यह नहीं कह सकते कि आंखों से दिखाई नहीं देने के कारण परमाणु नहीं है। क्योंकि उसका कार्य रूप से अनुभव होता है। परमाणुओं के मिलने एवं बिछुड़ने पर ही भौतिक वस्तुओं का निर्माण एवं विध्वंस होता है। समस्त भौतिक पदार्थों का मूल आधार परमाणु है। दुनिया के तमाम भौतिक पदार्थ, जिनका इन्द्रियों द्वारा ग्रहण किया जा सकता है, अनन्त-अनन्त परमाणुओं के स्कन्ध रूप हैं। क्योंकि अनन्त परमाणुओं का स्कन्ध ही चक्षुग्राह्य हो सकता है। इससे स्पष्ट है कि परमाणु के स्कन्ध रूप कार्य को देखकर उसके कारण परमाणु के अस्तित्व का सहज ही अनुमान लगा सकते हैं। चार्वाक भी परमाणु को तो मानता ही है, अत: आंखों से दृष्टिगोचर होने वाले प्रत्यक्ष के अतिरिक्त अनुमान को सर्वथा प्रमाण नहीं मानने की घोषणा करना उन्मत्त प्रलाप मात्र है।

चार्वाक आगम प्रमाण को भी नहीं मानते, वे उसे सर्वथा अप्रामाणिक मानते हैं। परन्तु, अनेक परोक्ष बातों को सिद्ध करने के लिए वे उसका सहारा भी लेते हैं। जैसे—अमुक युग में अमुक व्यक्ति हुआ था या हमारे दादा-परदादा आदि ऐसे वीर या दानी या सच्चरित्रवान आदि थे, जब हम कहते हैं तो हम इन्हें न तो प्रत्यक्ष में देखते हैं और न देख ही सकते हैं, फिर भी इतिहास एवं अपने पिता, दादा आदि के वचनों पर विश्वास रखकर उन घटनाओं को सत्य मानते हैं। यदि किसी के दादा ने किसी को एक हजार रुपया उधार दिया है, हमने तो उसे उधार देते वक्त देखा नहीं, परन्तु बही में लिखा है, तो क्या उस लिखावट के आधार पर हम उस हिसाब को सही नहीं मानेंगे? क्यों नहीं। उसे अवश्य ही सही मानेंगे और उसके आधार

पर रुपये वसूल करेंगे। यही बात आगम के सम्बन्ध में है। आगम आप्त पुरुषों की वाणी है और आप्त पुरुष वे हैं, जो राग-द्वेष के विजेता हैं। अत: उनकी वाणी में असत्यता एवं परस्पर विरोध नहीं होता। इसलिए वे अपने दिव्य ज्ञान में जो देखते हैं वही आगम के रूप में हमारे सामने सुरक्षित है। जैसे--बाप-दादा द्वारा प्रत्यक्ष में देखी गयी बात उनकी लिखावट के आधार पर सत्य मानी जाती है, चार्वाक भी इसे सत्य मानता है, इसी तरह सर्वज्ञ पुरुषों के दिव्य ज्ञान से प्रत्यक्ष किये हुए स्वरूप को असत्य मानना केवल बुद्धि का अजीर्ण है। अत: आगम प्रमाण को नहीं मानना चार्वाक का हठ ही है। इसे नहीं मानने के पीछे कोई ठोस तर्क एवं प्रमाण नहीं है।

इस तरह हम देखते हैं कि जब परमाणु जो वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्श आदि से युक्त है वह भी आंखों से दिखाई नहीं देता तो आत्मा जो वर्ण आदि से रहित है वह आंखों से कैसे देखा जा सकता है। फिर भी हमें उसका अनुभव अवश्य होता है। जैसे परमाणु दिखाई नहीं देता, फिर भी उसके कार्य को देखकर उसके अस्तित्व का अनुमान करते हैं, इसी तरह आत्मा के चेतना रूप कार्य को देखकर हम यह अनुभव करते हैं कि शरीर से अतिरिक्त आत्मा का स्वतन्त्र अस्तित्व है। क्योंकि, जब आत्मा शरीर को त्यागकर चला जाता है, जिसे लोक भाषा में मृत्यु कहते हैं, उसके बाद भी शरीर का अस्तित्व बना रहता है, परन्तु उसमें चेतना का अभाव होने से वह किसी तरह की हरकत नहीं कर सकता। इससे स्पष्ट होता है कि आत्मा का शरीर से पृथक् अस्तित्व है। यदि आत्मा और शरीर एक ही होते तो आत्मा के निकलते ही शरीर का नाश हो जाता या शरीर का नाश होने पर चेतना (आत्मा) का लोप होता है। यदि ऐसा होता तब तो यह माना जा सकता था कि आत्मा और शरीर एक ही हैं। परन्तु, ऐसा होता नहीं है। आत्मा के निकल जाने के बाद भी शरीर निष्क्रिय पड़ा रहता है। उसमें पांचों भौतिक तत्त्व विद्यमान रहते हैं फिर भी चेतना के अभाव में उसका कोई मूल्य नहीं रह जाता है। इससे आत्मा का अस्तित्व स्पष्टत: प्रतीत होता है। वह आंखों से दिखाई नहीं देने पर भी हमारी अनुभूति से छिपा नहीं रहता है, हम उसे प्रतिक्षण अनुभव एवं दिव्य ज्ञान के चक्षुओं से देख सकते हैं।

आत्मा की तरह आगम को भी हमने नहीं देखा। परन्तु इतने मात्र से वह अप्रामाणिक नहीं हो जाते। जब हम बाप-दादाओं द्वारा कही एवं लिखी हुई बातों को उनकी लिखावट एवं वाणी मानकर सच मानते हैं, तो आगम को असत्य मानने का प्रश्न ही समाप्त हो जाता है।

आगम भी क्या है? आप्त पुरुषों द्वारा कथित विचार ही तो आगम हैं और आप्त पुरुष वह है, जिसने राग-द्वेष का क्षय कर दिया है। वीतराग होने के कारण उसकी वाणी में किसी भी तरह का विरोध, असत्य एवं अपूर्णता नहीं रह जाती है। इसलिए सर्वज्ञ पुरुष द्वारा कहे गये आगम सत्य एवं प्रामाणिक हैं। उनमें संशय करने का बिल्कुल अवकाश ही नहीं रहता है।

इस तरह हम देख चुके हैं कि जैनदर्शन एवं चार्वाकदर्शन में पर्याप्त भेद है। फिर भी, जैनदर्शन अनेकान्तवादी है। इसीलिए वह चार्वाकदर्शन में भी आंशिक सत्य को देखता है। क्योंकि जैनदर्शन भी अपेक्षा-विशेष से भौतिकवाद को भी स्वीकार करता है। वह चार्वाक की तरह एकान्त रूप से भौतिकवाद का समर्थन नहीं करता और न एकान्त रूप से उसे झुठलाता ही है। जैनदर्शन सापेक्षवाद को स्वीकार करता है, इसलिए वह अध्यात्मवादी होते हुए भी एक नय से, एक अपेक्षा से भौतिक पदार्थों को भी साधना में सहायक मानता है। वह लाल कपड़े को देखने मात्र से बिगड़ने वाले बैल की तरह भौतिकता के नाम मात्र से चिढ़ता नहीं है। वह प्रत्येक वस्तु में रहे हुए सत्य को निष्पक्ष भाव से देखता एवं स्वीकार करता है। यही कारण है कि भौतिकता एवं आध्यात्मिकता का समन्वय करते हुए दार्शनिक विचारक श्री आनन्दघनजी ने नेमिनाथ भगवान् की प्रार्थना करते हुए लोकायत (चार्वाक भौतिक) दर्शन को भगवान् के पेट की उपमा दी है, अर्थात् आध्यात्मिकता के साथ अंश रूप से भौतिकता को भी स्वीकार किया है।[1]

प्रस्तुत पद में लोकायत या चार्वाकदर्शन को पेट के तुल्य माना है। शरीर में विचार शक्ति के स्रोत मस्तिष्क आदि अंगों में पेट का महत्वपूर्ण स्थान है, खुराक से प्राप्त शक्ति को पेट से लेकर सब अंग अपना-अपना काम करते हैं। इसी तरह आध्यात्मिक जीवन में भौतिक साधनों का भी अपना स्थान है। शरीर, मकान, वस्त्र, खाद्य-पदार्थ एवं संयम साधना के अन्य भौतिक साधनों (उपकरण आदि) के सहयोग के बिना साधक अपने साध्य को सिद्ध नहीं कर सकता। अत: जैनदर्शन भौतिक पदार्थों की सर्वथा उपेक्षा नहीं करता। परन्तु वे पुष्पमाला में पुष्पों के नीचे दबे हुए धागे की तरह आध्यात्मिकता की ज्योति से दबे रहते हैं। यह सत्य है कि पुष्पमाला को बनाने के लिए धागा आवश्यक है। धागे में अनुस्यूत सभी

1. लोकायतिक कूख जिनवर नी, अंश विचार जो कीजे।
तत्त्व विचार सुधारस धारा, गुरुगम विण केम पीजे।।
षड्दर्शन जिन अंग भणीजे न्यास षडंग जो साधे रे।
नमि जिणंद का चरण उपासक षड् दर्शन जो आराधे रे। —आनन्दघन चौबीसी

पुष्प शोभायमान होते हैं। परन्तु, यह शोभा तभी तक स्थित रहती है, जब तक धागा फूलों से ढका रहे। यदि फूलों को छिन्न-भिन्न करके धागा ऊपर उभर आये तो वह पुष्पमाला भद्दी-सी परिलक्षित होगी, कोई भी व्यक्ति उसे लेना स्वीकार नहीं करेगा। यही स्थिति आध्यात्मिक एवं भौतिकवाद की है। यदि आध्यात्मिक पुष्पों की पराग के नीचे भौतिकता का धागा दबा रहे तो इसमें जैनदर्शन को कोई आपत्ति नहीं। साधना काल में साधक भौतिकता से सर्वथा निवृत्त नहीं हो सकता। इसलिए उसके अस्तित्व से सर्वथा इन्कार नहीं किया जा सकता। परन्तु यदि आध्यात्मिकता के पुष्पों को नष्ट-भ्रष्ट करके भौतिकता अपना आधिपत्य जमाना चाहती हो, जीवन में सर्वत्र भौतिकता का साम्राज्य स्थापित करने की अभिलाषा हो तो जैनदर्शन को यह स्वीकार नहीं है। वह आध्यात्मिक ज्योति से रहित भौतिकता को किसी भी हालत में पसन्द नहीं करता। वह आध्यात्मिकता से युक्त भौतिकता का या यों कहिए त्याग-निष्ठ भोग का समर्थन करता है। और चार्वाक आध्यात्मिक रहित भौतिकता का या त्याग रहित केवल भोग का समर्थन करता है। अत: चार्वाक एवं जैनदर्शन में यही सबसे बड़ा अन्तर है।

चार्वाक की मान्यता के सम्बन्ध में एक श्लोक प्रसिद्ध है, उसके प्रथम पद में कहा है--"**यावज्जीवेत् सुखं जीवेत्**" अर्थात् जब तक जीवित रहें, सुख-पूर्वक जीवित रहें। इससे जैनदर्शन का कोई विशेष विरोध नहीं है। जैनदर्शन भी यही कहता है कि मानव सुख-शान्ति से रहे। वह रोते-तड़पते हुए जीवन के क्षण न बिताए। आर्त्त और रौद्र ध्यान में ही सदा निमग्न न रहे। वह रात-दिन चिन्ता के झूले में झूलता न रहे। साधक को चाहिए कि वह सुख-दु:ख में हमेशा मुस्कराता रहे। दु:खों की तपती दुपहरी में भी उसका मन-सरोज कुम्हलाए नहीं। वह हर स्थिति में संकल्प-विकल्पों से ऊपर उठकर शांत मन से आत्म-साधना में संलग्न रहे। हां तो, जहां तक पहले चरण का सम्बन्ध है, जैनदर्शन का कोई विरोध नहीं है। वह भी मनुष्य को सुख-शान्ति एवं आनन्द पूर्वक जीने की प्रेरणा देता है। परन्तु शेष तीन पदों के साथ जैनदर्शन सहमत नहीं है।

उनमें कहा गया है कि "**ऋणं कृत्वा घृतं पिबेत्। भस्मी-भूतस्य देहस्य, पुनरागमनं कुत:।**" उक्त दूसरे पद की भाषा किसी सभ्य एवं ईमानदार व्यक्ति की भाषा प्रतीत नहीं होती। क्योंकि सुख-पूर्वक जीने का यह अर्थ नहीं है कि चाहे जैसे अनैतिक साधनों से भौतिक पदार्थों को इकट्ठा करके सुख-भोग किया जाये। यह हम पहले ही बता चुके हैं कि त्याग-निष्ठा से रहित केवल भोग की भावना पतन के गर्त में गिराने वाली है। यह मानव को

मानवता से बहुत दूर, दानवता की ओर ले जाने वाली है। अस्तु अनैतिकता के पोषण का स्वर इन्सान का नहीं शैतान का ही हो सकता है। इसलिए अनैतिक तरीकों से भोगों में आसक्त रहने की प्रेरणा देना संसार को नरक बनाना है और जैनदर्शन संसार को जीवित नरक बनाने के पक्ष में नहीं है। वह तो मानव को भोग के कीचड़ से ऊपर उठाकर त्याग के शिखर पर पहुंचाने का प्रयत्न करता है। और वह चार्वाक की इस बात से भी सहमत नहीं है कि शरीर के नष्ट होने के साथ आत्मा का नाश हो जाता है, उसका पुनर्जन्म नहीं होता। हम इस बात को स्पष्ट कर चुके हैं कि जैनदर्शन आत्मा को परिणामी नित्य मानता है। और संसार में स्थित आत्मा एक योनि में प्राप्त स्थूल शरीर के नाश होने पर वह दूसरी योनि में जन्म ग्रहण करता है। यह नितांत सत्य है कि मोक्ष में जाने के बाद आत्मा पुन: संसार में नहीं आता या जन्म ग्रहण नहीं करता। परन्तु, वहां भी आत्मा का अस्तित्व सदा बना रहता है, उसके स्वरूप का लोप नहीं होता।

इतने विस्तृत विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि चार्वाक और जैनदर्शन में आकाश-पाताल का अन्तर है। चार्वाक पुण्य-पाप, नरक-स्वर्ग आदि के अस्तित्व को नहीं मानने वाला एकान्त भौतिकवादी दर्शन है और जैन पुण्य-पाप, नरक-स्वर्ग आदि के अस्तित्व में विश्वास रखने वाला अध्यात्मवादी दर्शन है। चार्वाक नास्तिक दर्शन है और जैनदर्शन आस्तिकवाद से परिपूर्ण है।

❑ ❑ ❑

जैन ज्ञान प्रकाश

द्वितीय खण्ड

[धार्मिक एवं सैद्धान्तिक चर्चाएं]

सप्त कुव्यसन परित्याग

"किं जीवनम्? दोषविवर्जितं यत्!"

जीवन क्या है?

दोष रहित जीवन ही श्रेष्ठ जीवन है।

प्रश्न–जैनशास्त्रों ने आत्म-गुणघातक कौन-कौन से भयंकर दोष बतलाए हैं?

उत्तर–एक बार एक आचार्य से पूछा गया कि "किं जीवनम्?" जीवन क्या है? आचार्य ने सरल और स्पष्ट भाषा में कहा 'दोष विवर्जितं यत्!" अर्थात् दोषों का परित्याग करके जीना ही जीवन है। दोष जीवन के लिए कलंक हैं, काले धब्बे हैं। दोषयुक्त जीवन स्व और पर सब के लिए खतरनाक है। इसलिए दोषों की कालिख को धोकर जीवन-चादर को उज्ज्वल, समुज्ज्वल बनाना चाहिए। ऐसे दोष तो अनेक हैं, उनकी गणना करके निश्चित संख्या बताना कठिन है। फिर भी पूर्वाचार्यों ने सात दोष भयंकर कहे हैं। उनसे बचकर चला जाए तो मनुष्य अनेक दोषों से अपने आप को बचा सकता है, अपने जीवन को साधना के पथ पर आगे बढ़ा सकता है। यों भी कह सकते हैं कि सात दोषों का परित्याग करने पर ही जीवन में आध्यात्मिक ज्योति जग सकती है, मनुष्य के अन्तर्मन में धर्म की भावना उद्बुद्ध हो सकती है। अत: साधना के पथ पर गतिशील व्यक्ति को सात दोषों का परित्याग करना जरूरी है। इन दोषों को जैन परिभाषा में सात कुव्यसन कहते हैं। वे इस प्रकार हैं–(1) जुआ, (2) मांस, (3) मदिरा, (4) वेश्यागमन, (5) शिकार, (6) चोरी, और (7) परस्त्रीगमन। इन कुव्यसनों से होने वाले नुकसान को बतलाते हुए गौतम ऋषि ने गौतम कुलक में कहा है –

"जूए पसत्तस्स धणस्स नासो, मंसं-पसत्तस्स दयापणासो।
वेसा-पसत्तस्स कुलस्स नासो, मज्जे पसत्तस्स सरीरणासो॥
हिंसा-पसत्तस्स सुधम्म-नासो, चोरी-पसत्तस्स सरीरणासो।
तहा परित्थीसु पसत्तयस्स, सव्वस्स नासो अहमा गई य॥"

अर्थात्–जूए में आसक्त व्यक्ति के धन का नाश होता है। मांसाहारी मनुष्य के हृदय में दया-करुणा नहीं रहती। वेश्या में अनुरक्त रहने वाले व्यक्ति के कुल का नाश होता है, इज्जत का नाश होता है। शराबी व्यक्ति का अपयश फैलता है। हिंसा कर्म में प्रवृत्त मनुष्य के हृदय में दया का झरना नहीं बहता। चोरी करने वाला, विषय-वासना का सेवन करने वाला मानव अपना सर्वस्व गंवा बैठता है। सातों कुव्यसन इन्सान को हैवान बनाने वाले हैं, नीच गति की ओर ले जाने वाले हैं। अत: मनुष्य को सातों कुव्यसनों से बचकर रहना चाहिए। नीचे की पंक्तियों में इन दोषों पर जरा विस्तार से विचार करेंगे।

1. जूआ

जूआ एक भयंकर दूषण है। इससे आत्म-गुणों में ह्रास होता है। यह आध्यात्मिक, नैतिक, व्यावहारिक एवं आर्थिक सभी दृष्टियों से जीवन का पतन करने वाला है। जीवन की बाह्य और आभ्यन्तर शांति का विनाशक है। मानव को दु:ख के अथाह सागर में धकेलने वाला है। इतिहास इस बात का साक्षी है। धर्म-ग्रन्थों एवं इतिहास के पन्नों पर ऐसे अनेकों उदाहरण अंकित हैं, जो इस सत्य का पूरा-पूरा समर्थन करते हैं। धर्मराज युधिष्ठिर जैसे सत्यवादी, अर्जुन जैसे धनुर्धारी, भीम जैसे गदाधारी, नकुल-सहदेव जैसे वीर योद्धाओं को जंगलों में परिभ्रमण कराने वाला कौन था? यही जूआ तो था। यदि धर्मराज में जूए का दुर्गुण नहीं होता तो दुनिया में कोई शक्ति नहीं थी कि जो भरी सभा में द्रौपदी की लज्जा का अपहरण कराने का तथा पाण्डवों को राजसिंहासन से उतार कर वन में भेजने का दु:साहस कर सकती। इस शैतान जूए ने ही नल जैसे शक्तिशाली राजा की भी दुर्दशा की थी और उसकी पत्नी महासती दमयन्ती को जंगलों की खाक छाननी पड़ी थी। इस तरह जूआ जीवन का सर्वतोमुखी विनाश करने वाला है। यह दुर्गुणों का स्रोत है, दु:ख, संकट और मुसीबतों का जनक है।

ताश (Playingcard), शतरंज आदि खेलों पर पैसा लगाकर खेलना जूआ कहलाता है। इस तरह के और भी खेल जिनमें शर्त लगाकर खेला जाता है तथा सट्टा आदि व्यापार भी जूए के अन्तर्गत ही गिने जाते हैं। इसे जूआ कहने का कारण यह है कि यह मनुष्य को सद्‌गुणों एवं सुख-संपत्ति से जूआ (जुदा-अलग) करके दु:खी एवं दुर्गुणी बना देता है। इस दुर्व्यसन का सेवी व्यक्ति शासन एवं समाज का अपराधी गिना जाता है। पुलिस उस पर सदा कड़ी निगाह रखती है। उसे कोई मान-सम्मान की निगाह से नहीं देखता। वह जहां जाता है वहां अपयश एवं निरादर पाता है। दुनिया में उसका कोई विश्वास नहीं करता। वह हमेशा

चिन्ताओं से घिरा रहता है, रात-दिन संकल्प-विकल्प एवं आर्त्त-रौद्र ध्यान में फंसा रहता है। उसके मन में एक क्षण के लिए भी शांति की अनुभूति नहीं होती।

वस्तुत: जुआरी का जीवन पतनोन्मुखी जीवन है। आर्थिक दृष्टि से भी वह कभी ऊपर नहीं उठता। जूए के द्वारा प्राप्त किया गया धन कभी लाभप्रद एवं शान्तिदायक नहीं होता। फिर भी कुछ लोग जूआ खेलने में गौरवानुभूति करते हैं। जुआरिओं का कहना है कि दीपावली के दिन जूआ अवश्य खेलना चाहिए। इससे किस्मत की परीक्षा होती है। कुछ लोग यह भी कहते नहीं संकुचाते कि जो व्यक्ति दीपावली को जूआ नहीं खेलता, वह मरकर गधा होता है। परन्तु यह बिल्कुल असत्य है। किस्मत की परीक्षा ईमानदारी से होती है। प्रामाणिकता एवं सत्यनिष्ठा से प्राप्त किया हुआ पैसा पल्लवित, पुष्पित एवं फलित होता है तथा सदा धर्म के काम में व्यय होता है। रही गधे बनने, न बनने की बात, वह जूए पर नहीं, कर्म पर आधारित है। जो व्यक्ति माया-छल, कपट एवं ठगी करता है, झूठ बोलता है, और झूठ तोलता है, वह पशु योनि (गधे आदि) को प्राप्त होता है। यह सब बातें जूआ खेलने वाले व्यक्तियों में पाई जा सकती हैं। छल, कपट, दगा, विश्वासघात आदि दुर्गुण उनमें विशेष रूप से पाए जाते हैं और गधे आदि जानवरों की योनि उन्हीं को मिलती है जो दुर्व्यसनों में फंसे रहते हैं। अस्तु, यह मानना नितांत असत्य है कि जूआ नहीं खेलने से मनुष्य गधा बनता है। भले आदमियों को ऐसे पाप कार्यों से बचे रहना चाहिए जिनमें प्रामाणिकता, ईमानदारी एवं सत्यनिष्ठा का त्याग करके छल-कपट से दूसरों के धन पर हाथ फेरा जाता है।[1]

2. मांसाहार

आहार की आवश्यकता

आहार-भोजन जीवन-निर्वाह एवं शरीर-संरक्षण के लिए आवश्यक पदार्थ है। जीवन की अन्य आवश्यकताओं में आहार सबसे पहली आवश्यकता है। जब संसारी आत्मा एक योनि के आयुष्य को भोग कर दूसरी योनि में जन्म लेता है, तो सबसे पहले आहार लेता है और उसके बाद औदारिक शरीर, अंगोपांग, इन्द्रिय आदि के पुद्‌गलों को ग्रहण करता है। इस तरह शरीर को स्वस्थ एवं व्यवस्थित रखने के लिए आहार आवश्यक साधन है। क्योंकि

1. इस सम्बन्ध में जानकारी प्राप्त करने के जिज्ञासु पाठक मेरी 'दीपमालिका और भगवान् महावीर' नामक पुस्तक देखें।

धर्म-साधना के लिए शरीर का होना जरूरी है। नर-देह के द्वारा ही मनुष्य धर्म के, मोक्ष के पथ पर आगे बढ़ सकता है और शरीर को टिकाए रखने के लिए आहार-भोजन पहली आवश्यकता है।

आहार और मन का सम्बन्ध

भारतीय संस्कृति के सभी विचारक एवं महापुरुष इस बात में एकमत हैं कि मनुष्य के जीवन पर आहार का असर होता है। जैनागमों में इस बात पर जोर दिया गया है कि मन को, विचारों को शुद्ध एवं सात्त्विक रखने के लिए आहार, आहार प्राप्त करने के साधन–व्यापार एवं उद्योग-धन्धे सात्त्विक तथा अल्प आरंभ वाले होने चाहिएं। महारम्भ से प्राप्त पदार्थ मन को अशान्त बनाए बिना नहीं रहते। यह लोक कहावत बिल्कुल सत्य है कि ''जैसा खावे अन्न, वैसा होवे मन।'' आजकल प्राय: यह प्रश्न पूछा जाता है कि माला फेरने में, एवं संवर-सामायिक करने में तथा अन्य धार्मिक साधना करने में मन नहीं लगता, इसका क्या कारण है? इसका एक कारण हमारे भोजन की तथा भोजन प्राप्त करने के साधनों की सात्त्विकता की कमी है। आप देखते हैं कि एक व्यक्ति किसी का कत्ल करके आता है, तो उसका मन कभी शान्त नहीं रहता। यहां तक कि वह शांत एकान्त जंगल में चला जाए, किसी धर्मस्थान में चला जाए, तब भी उसके चित्त को चैन नहीं पड़ता। कारण कि खून से रंगे हाथ तथा जीवन पर पड़े रक्त के छींटे उसे शांत चित्त से चिन्तन नहीं करने देते। इसी तरह दूसरों का शोषण करके प्राप्त किया पैसा तथा दूसरे जीवों के खून, चर्बी एवं मांस से परिपुष्ट बनाया गया शरीर भी शांति की बांसुरी नहीं बजाने देता। वह पाप एवं खून उसके मन को सदा-सर्वदा कुरेदता रहता है।

इससे स्पष्ट है कि आहार का हमारे मन, विचारों एवं जीवन के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध रहा हुआ है। आहार हमारे जीवन को शांत, सरस एवं मधुर भी बना सकता है और कटु भी बना सकता है। इसीलिए आहार-भोजन के अन्दर विवेक रखना बहुत जरूरी है। विकास की दिशा में गतिशील मानव के लिए भक्ष्याभक्ष्य का ज्ञान होना आवश्यक है। अभक्ष्य एवं तामसिक पदार्थों से बचना मानव का, इन्सान का पहला कर्त्तव्य है। जब मानव सात्त्विक आहार का परित्याग कर देता है तो वह मानवता एवं इन्सानियत से कुछ दूर हो जाता है या यों कहना चाहिए कि वह प्रकाश से अंधेरे की ओर गति करने लगता है। मानवता के पथ पर बढ़ने वाले मानव को अभक्ष्य आहार से सदा बचना चाहिए। यह विकास की सबसे पहली सीढ़ी है।

प्रश्न—मांसाहार क्यों नहीं करना चाहिए? इसके सेवन से क्या हानि है?

उत्तर—मांस का सेवन करना एक भयंकर पाप है, मांसाहार करने से मनुष्य का कोमल हृदय कठोर और निर्दय बन जाता है। इसलिए मांसाहार का निषेध किया गया है। आप ही विचार करें, कि मांस किसी खेत में तो पैदा नहीं होता, वृक्षों पर नहीं लगता, आकाश से नहीं बरसता, वह तो चलते-फिरते प्राणियों को मारकर, उनके जीवन को लूट कर उनके शरीर से प्राप्त होता है। जब आदमी के पांव में कांटा लग जाए, तो वह उसका दर्द भी सहन नहीं कर सकता, रात भर छटपटाता रहता है, तब भला मूक प्राणियों की गरदन पर छुरी चला देना, उनकी मुश्कें बांध कर समाप्त कर देना किस प्रकार न्याय-संगत हो सकता है? जरा शांति से सोचिए, उस समय उनको कितनी भीषण वेदना होती होगी? कविता की भाषा में इसी तथ्य को कितनी सुन्दरता से कथन किया गया है –

एक कांटे ने तेरी रग-रग को मुर्दा कर दिया।
क्या छुरी का दर्द मजलूमों को तड़पाता नहीं?

अपने क्षणिक जिह्वा के स्वाद के लिए, दूसरे जीवों को मार कर लाश बना देना कितना निन्द्य तथा नीच आचरण है? जब आदमी किसी को जीवन नहीं दे सकता, तो उसे क्या अधिकार है कि वह दूसरों का जीवन लूट ले?

मृतक को छूकर लोग अपने आप को अपवित्र समझते हैं और पवित्र होने के लिए स्नान आदि क्रियाएं करते हैं किन्तु इससे अधिक आश्चर्य की बात और क्या हो सकती है कि वे जीभ की लोलुपता के वशीभूत होकर मृतक के कलेवर को अपने पेट में डाल लेते हैं? कितनी क्रूरता है यह?

एक आचार्य ने मांस शब्द की व्युत्पत्ति बड़े हृदयस्पर्शी ढंग से की है। वह कहता है कि मांस शब्द में दो पद हैं—मां और स। 'मां' का अर्थ होता है—मुझ को। स 'वह' इस अर्थ का बोधक है। दोनों पदों को मिलाकर यह फलितार्थ होता है कि जिसको मैं खाता हूं, वह भी कभी मुझे खाएगा। मांस शब्द की यह व्युत्पत्ति स्पष्टतया प्रमाणित कर रही है कि मांसाहार हेय है, त्याज्य है, दु:खों का उत्पादक है, तथा जन्म-मरण की परम्परा का वर्धक है। धर्मशास्त्रों ने मांसाहार का बड़ा जबर्दस्त विरोध किया है, साथ में उसके त्याग को बड़ा सुखद, प्रशस्त और सुगतिप्रद माना है। इस सम्बन्ध में शास्त्रीय प्रमाण तो बहुत उपस्थित किए जा सकते हैं, किन्तु विस्तारभय से अधिक न लिखकर कुछ एक शास्त्रीय प्रमाणों का वर्णन नीचे की पंक्तियों में किया जाएगा।

धर्मशास्त्र और मांसाहार

जैनशास्त्र श्री स्थानांग सूत्र के चतुर्थ स्थान में नरकायु के चार कारण बतलाए हैं–1. महा-आरम्भ–हिंसा, 2. महा-परिग्रह–लोभ लालच, 3. पञ्चेन्द्रिय प्राणी का वध, और 4. मांसाहार। इन कारणों में मांसाहार को स्पष्ट रूप से नरक का कारण माना है और इसी सूत्र के आयु बन्धकारण-प्रकरण में जीवदया को मनुष्यायु के बन्ध का कारण स्वीकार किया है।

आचारांग सूत्र के अध्याय द्वितीय तथा उद्देशक तृतीय में लिखा है कि संसार के सभी जीवों को अपनी आयु प्रिय है।[1] सभी सुख चाहते हैं। सभी दुःख से घबराते हैं। सब को वध अप्रिय लगता है और जीवन प्रिय लगता है। सब दीर्घायु चाहते हैं क्योंकि सबको अपना-अपना जीवन प्यारा है।

जैनशास्त्र तो इस प्रकार के मांसाहार-विरोधी वचनों से भरपूर हैं। जैनधर्म की तो नींव ही अहिंसा पर है। किसी जीव की हत्या करना दूर रहा, वह तो किसी का अनिष्ट चिन्तन करना भी पाप समझता है। जैनेतर धर्मशास्त्र भी इसी का समर्थन करते हैं। उनके कुछ प्रमाण निम्नोक्त हैं –

न किर्देवा मिनीमसी न किरा योपयामसि। (ऋग्वेद 1-138-7)

अर्थात्–हम न किसी जीव को मारें और न धोखा दें।

न स्त्रेधन्तं रयिर्नशत्। (ऋग्वेद-7-32-21)

अर्थात्–हिंसक को धन नहीं मिलता।

सर्वे वेदा न तत्कुर्युः, सर्वे यज्ञाश्च भारत !
सर्वे तीर्थाभिषेकाश्च, यत्कुर्यात् प्राणिनां दया॥

(महाभारत शांतिपर्व)

अर्थात्–प्राणियों की दया जो फल देती है, वह चारों वेद और समस्त यज्ञ भी नहीं दे सकते, और तीर्थों के स्नान तथा वन्दन भी वह फल नहीं दे सकते।

यावन्ति पशुरोमाणि; पशुगात्रेषु भारत!
तावद् वर्षसहस्त्राणि, पच्यन्ते पशुघातकाः॥

---

1. सव्वे पाणा पियाउया, सुहसाया, दुक्खपडिकूला।
अप्पियवहा, पियजीवियं जीविउंकामा, सव्वेसिं जीवियं पियं॥

अर्थात्–हे अर्जुन! पशु के शरीर में जितने रोम होते हैं, उतने हजार वर्ष पशु का घात करने वाले नरकों में जाकर दु:ख पाते हैं।

प्राणिघातात्तु यो धर्म–मीहते मूढ–मानसः।
स वांछति सुधावृष्टिं, कृष्णाहिमुखकोटरात्॥

अर्थात्–प्राणियों का घात करके जो मूर्ख धर्म उपार्जन करने की इच्छा करता है, वह काले सांप के मुख से अमृत की वर्षा की इच्छा करता है।

एकत: कांचनो मेरु:, बहुरत्ना वसुन्धरा।
एकतो भयभीतस्य, प्राणिन: प्राणरक्षणम्॥

अर्थात्–एक ओर सुवर्णमय मेरु पर्वत, और बहुत–से रत्नों से परिपूर्ण पृथ्वी का दान तथा दूसरी ओर भय-ग्रस्त प्राणी के प्राणों की रक्षा करना, दोनों का फल समान है।

अगस्त्य संहिता में शिव दुर्गा से कहते हैं –

'अहं हि हिंसको, अत: हिंसा मे प्रिय: इत्युक्त्वा आवाभ्यां पिशितं रक्तं सुरां च वर्णाश्रमोचितं धर्मविचार्यापयन्ति ते भूत–पिशाचाश्च भवन्ति ब्रह्म–राक्षसा:।'

अर्थात्–मैं हिंसक हूं, मुझे हिंसा प्यारी है, ऐसा कहकर जो व्यक्ति वर्णाश्रम के उचित धर्म को न विचार कर हम दोनों को मांस, रक्त और मदिरा अर्पण करते हैं, वे व्यक्ति भूत, पिशाच एवं ब्रह्म-राक्षस होते हैं अर्थात् मरकर इन नीच योनियों में जन्म लेते हैं।

वैदिक धर्म के ग्रन्थों के इन उद्धरणों से स्पष्ट हो जाता है कि वैदिक धर्म के ग्रन्थकार अहिंसा और मांसाहार-त्याग पर कितना अधिक बल देते हैं। अब भारत के तीसरे प्रधान धर्म बौद्धधर्म की ओर दृष्टिपात कीजिए! बौद्धधर्म के एक ग्रन्थ में लिखा है –

इत एकनवते कल्प शक्त्या मे पुरुषो हत:।
तेन कर्मविपाकेन, पादे विद्धोऽस्मि भिक्षव:!॥

अर्थात्–इस भव से एकानवें भव पहले मैंने बलपूर्वक एक पुरुष की हत्या की थी। उससे उत्पन्न हुए पापकर्म के फलस्वरूप मेरे पैर में यह कांटा लगा है।

इस कथन से स्पष्ट है कि जीव-हत्या का पाप जन्म-जन्मांतरों तक अपना अशुभ फल देता है।

आर्यसमाज के प्रसिद्धग्रन्थ सत्यार्थप्रकाश के दसवें समुल्लास में लिखा है कि जो

लोग मांसभक्षण और मद्यपान करते हैं उनके शरीर और वीर्य आदि धातु भी दुर्गन्ध आदि से दूषित हो जाते हैं। भेड़, बकरी, घोड़े, गाय आदि उपकारी पशुओं को मारने वाले को सब मनुष्यों की हत्या करने वाला जानिएगा।

कबीर जी ने जीव-हत्या और मांस-भक्षण का अत्यन्त निषेध किया है। उन्होंने लिखा है –

तिल भर मछली खाय के, करोड़ गौ करे दान।
काशी करवत ले मरे, तो भी नरक निदान॥

मुसलमान मारे करद से, हिन्दू मारे तलवार।
कहे कबीर दोनों मिली; जाए यम के द्वार॥

महात्मा तिरुवल्लुवर ने लिखा है कि "जानवरों को मारने एवं खाने से परहेज करना, सैकड़ों यज्ञों में आहुति देने से बढ़कर है।"[1]

सिक्ख शास्त्र में भी मांसभक्षण के विरुद्ध कई प्रमाण उपलब्ध होते हैं। गुरु ग्रन्थसाहिब में लिखा है –

जे रत्त लागे कापड़ा, जामा होय पलीत।
ते रत्त पीवे मानुषा, तिन क्यों निर्मल चीत॥

अर्थात्–हमारे वस्त्र को यदि रक्त का स्पर्श हो जाए तो हम उसे अपवित्र मानते हैं, किन्तु जो मनुष्य रक्त का सेवन करते हैं, उनका चित्त निर्मल कैसे रह सकता है? इसके अलावा, ग्रन्थसाहिब में और भी प्रमाण मिलते हैं जैसे कि –

भंग माछली, सुरापान, जो जो प्राणी खाय।
धर्म नियम जितने किए, सभी रसातल जाय॥

इन झटका उन विसमिल कीनी, दया दुहूं ते भागी।
कहत कबीर सुनो भाई साधो ! आग दुहूं घर लागी॥

सुच्चम करके चौका पाया, जीव मार के चढ़ाया मांस।
जिस रसोई चढ़ाया मांस, दयाधर्म का होया नाश॥

मुस्लिम धर्म की पुस्तकों में भी जीवदया की सराहना प्राप्त होती है। शेखसादी कहते

1. श्रमण वर्ष 9, अंक 2

हैं कि एक बार शेख शिवली एक बनिए की दुकान से आटा मोल लेकर घर गए। उन्होंने देखा कि आटे के अन्दर एक कीड़ी बड़ी व्याकुलता से चारों ओर दौड़ रही है। उन्होंने रात को सोना हराम समझा। उसी समय उस बनिए की दुकान पर जाकर उन्होंने उस कीड़ी को छोड़ दिया और कहा, कि मेरे कारण इस बेचारी चिउंटी का घर नहीं छूटना चाहिए।

हजरत मुहम्मद का कथन है कि जहां पशु मरते हों, वहां नमाज नहीं पढ़नी चाहिए। मुसलमानों को आज्ञा है कि जिस दिन से हज्ज करने का विचार बने उस दिन से लेकर मक्का में पहुंचने तक किसी जीव की हत्या न करो ! यहां तक कि जूं को भी दूर हटा दो, मारो मत।

मांसाहार का बहुत कड़े शब्दों में विरोध करते हुए हजरत अली ने कहा–"अपने पेट को पशुओं की कब्र मत बनाओ।"[1]

ईसाई धर्म की मान्य पुस्तक इंजील में भी हिंसा के विरोध में बहुत सुन्दर कहा है। वहां लिखा है–Thou shalt not kill. अर्थात् तू किसी जीव का घात मत कर। इन उद्धरणों से यह स्पष्ट हो जाता है कि संसार में कोई ऐसा धर्म या मत नहीं है, जिसके पवित्र धर्म ग्रन्थों में दया धर्म की शिक्षा न दी गई हो, और जीवहिंसा का निषेध न किया गया हो। एक फारसी के कवि तो यहां तक कहते हैं –

हजार गंजे कनाअत, हजार गंजे करम।
हजार इताअत शबहा, हजार बेदारी।।
हजार सिजदा व हर सिजदा रा हजार नमाज।
कबूल नेस्त; गर तायरे बयाजारी।।

अर्थात्–चाहे मनुष्य धैर्य में उच्च श्रेणी का हो, हजार खजाने प्रतिदिन दान करता हो, हजारों रातें केवल भक्ति में व्यतीत करता हो, हजारों सिजदे (नमस्कार) करे, और एक-एक सिजदे के साथ हजार-हजार नमाज पढ़े, तो ये सब पुण्य क्रियाएं व्यर्थ ही होंगी, यदि वह पुरुष किसी पक्षी को कष्ट देने वाला होगा।

पशु-बलि का निषेध करते हुए ईसाई मत के एक संत हिब्रू ने लिखा है –

"Neither by the blood of goats or calves but by his own blood he entered into the holy place having obtained eternal redemption. For it is

1. श्रमण वर्ष 9, अंक 2

not possible that the blood of bulls and goats should take away sins." अर्थात्–बकरों या बछड़ों के खून से नहीं किन्तु अपने ही परिश्रम से वह पवित्र स्थान में गया है और नित्य मुक्ति को पा लिया है। क्योंकि यह सम्भव नहीं कि बैलों और बकरों का खून पापों को धो सकेगा।

पारसी मत में भी पशुघात के लिए इन्कार किया है। उसके धर्म ग्रन्थ में लिखा है –

He will not be acceptable to God, who shall thus kill any animal. Angle Asfundermad says, "O holy man, such are the commands of God that the face of the earth be kept clean from blood, filth and carrion."[1] अर्थात् 'इस तरह जो पशु को मारेगा, उसे परमात्मा स्वीकार नहीं करेगा। पैगम्बर एसफन्दरमद ने कहा–"हे पवित्र मानव ! परमात्मा की यह आज्ञा है कि पृथ्वी का मुख रुधिर, मल–मांस से बचाकर रखा जाये।"

इस्लाम में भी पशु–बलि की मनाही की है। उसका अंग्रेजी अनुवाद देखिए –

"By no means can this flesh reach unto God, neither their blood but piety on your part reaches there." अर्थात्–किसी भी तरह बलि किए हुए पशुओं का मांस परमात्मा को नहीं पहुंचता है और न उनका खून। परन्तु तुम जब दया, करुणा एवं धर्म का पालन करोगे वही वहां पहुंचेगा।[2]

मानव–प्रकृति और मांसाहार

मांसाहार धर्मशास्त्रों द्वारा निषिद्ध है, साथ ही यह मानव–प्रकृति के भी सर्वथा विरुद्ध है। मनुष्य प्रकृति (स्वभाव) से शाकाहारी प्राणी है, मांसाहारी नहीं। मांसाहारी और शाकाहारी प्राणियों का प्रकृतिगत अन्तर नीचे की पंक्तियों में देखिए –

मनुष्य के पंजे, पेट की नाड़ियां और आंतें उन पशुओं के समान बनी हुई हैं जो मांसाहार नहीं करते हैं। उदाहरण के लिए जैसे गौ, घोड़ा, बन्दर आदि पशु मांसाहारी नहीं हैं। इसके विपरीत, शेर, चीता आदि पशु मांसाहारी हैं। जो शारीरिक अवयव गौ आदि पशुओं के होते हैं, शेर आदि पशुओं के वैसे अवयव नहीं होते। मनुष्य के शरीर की रचना भी मांसाहारी

---

1 Jartusht Namap, P 415.

2. श्रमण वर्ष 7, अंक 2, पृ. 28, श्री राजकुमार के 'अहिंसा' शीर्षक लेख से।

पशुओं की शरीर रचना से सर्वथा भिन्न पाई जाती है। अतः मांसाहार मनुष्य का प्राकृतिक भोजन नहीं है।

मांसाहारी पशुओं की आंखें वर्तुलाकार गोल होती हैं, जबकि मनुष्य की आंखों की ऐसी स्थिति नहीं होती।

मांसाहारी पशु कच्चा मांस खाकर उसे पचा सकता है जबकि मनुष्य की ऐसी दशा नहीं होती।

मांसाहारी पशुओं के दांत लम्बे और गाजर के आकार के समान तीक्ष्ण पैने होते हैं, और एक दूसरे से दूर-दूर, अर्थात् पृथक्-पृथक् होते हैं, जब कि शाकाहारी पशुओं के दांत छोटे-छोटे, चौड़े-चौड़े और परस्पर मिले हुए होते हैं। मनुष्य के दांतों की स्थिति शाकाहारी पशुओं के समान होती है।

मांसाहारी पशुओं के नवजात बच्चों की आंखें बिल्कुल बन्द होती हैं, जबकि मनुष्य के बच्चे की स्थिति ऐसी नहीं होती।

मांसाहारी पशु जिह्वा से चाट-चाट कर पानी पीते हैं, जबकि मनुष्य गाय, बकरी आदि पशुओं के समान घूंट भर-भर कर पीता है।

मांसाहारी पशुओं के शरीर में पसीना नहीं आता, जबकि मनुष्य के शरीर से पसीना छूटता है तथा मांसाहारी पशु-पक्षियों का चमड़ा कठोर होता है और उस पर घने बाल होते हैं, जबकि मनुष्य के शरीर की ऐसी स्थिति नहीं होती।

मांसाहारी पशुओं के मुख में थूक नहीं रहता है, जबकि अन्नाहारी, फलाहारी तथा शाकाहारी मनुष्य और गौ आदि पशुओं के मुख से थूक निकलता है।

मांसाहारी पशु गर्मी से हांपने पर जिह्वा बाहर निकाल लेता है, जबकि मनुष्य की ऐसी दशा नहीं होती। मांसाहारी जीवों को गरमी बहुत लगती है, और सांस शीघ्रता से आने लगता है, किन्तु अन्नाहारी तथा शाकाहारी जीवों को न इतनी गर्मी लगती है, और न सांस तीव्रता से चलता है।

मांसाहारी पशुओं का जीवन-निर्वाह फलों से नहीं हो सकता, जबकि मनुष्य मांस के बिना ही अपने जीवन को चला सकता है।

मनुष्य को यदि मनोरंजन के लिए कहीं जाना हो तो वह बागों, फुलवाड़ियों और वनस्पति से लहलहाते हुए स्थानों को टटोलता है, और वहीं भ्रमण करता है, किन्तु मांसाहारी जीव वहीं आमोद मानते हैं, जहां मृतक शरीरों की दुर्गन्ध से वायुमण्डल परिपूर्ण हो रहा है, ऐसे स्थान में यदि मनुष्य को रखा जाए तो वह स्वस्थ नहीं रह सकता, शीघ्र ही स्वास्थ्य से हाथ धो बैठता है, किन्तु मांसाहारी जीव ऐसे दुर्गन्धपूर्ण स्थान में जितना समय चाहे ठहर सकते हैं, उनके स्वास्थ्य को किसी प्रकार की भी कोई हानि नहीं होने पाती।

इन बातों से स्पष्ट हो जाता है कि मांसाहारी जीव और अन्नाहारी तथा शाकाहारी प्राणियों की शारीरिक रचना में महान अन्तर रहता है। यदि मांसाहार मनुष्य का प्राकृतिक (स्वाभाविक) भोजन होता तो मनुष्य की भी शारीरिक बनावट मांसाहारी जीवों के समान ही होती। मानव की शारीरिक विभिन्न बनावट ही इस बात का प्रबल प्रमाण है कि मांसाहार करना मानव की प्रकृति के सर्वथा विपरीत है।

आज के विज्ञान ने भी यह प्रमाणित कर दिया है कि बन्दर तथा लंगूर एकदम शाकाहारी प्राणी हैं। जीवन भर ये फल-फूल खाकर ही जीवन का निर्वाह करते हैं। मनुष्य की आन्तरिक तथा बाह्य बनावट भी हू-ब-हू बन्दर तथा लंगूर से मिलती-जुलती है। अत: मनुष्य मांसाहारी प्राणी नहीं है, प्रत्युत अन्नाहारी तथा फलाहारी है। मांसाहार की आदत उसने बाह्य विकृति से प्राप्त की है, किन्तु वह उसकी प्रकृति के अनुकूल नहीं पड़ती।

आर्थिक दृष्टि से मांसाहार

धार्मिक दृष्टि से मांसाहार त्याज्य है, मानव-प्रकृति की दृष्टि से मांस हेय है। इस सम्बन्ध में पूर्व में कहा जा चुका है। आर्थिक दृष्टि से भी यदि विचार किया जाए तो भी मांसाहार देश के लिए घातक ठहरता है। गाय, भैंस, बकरी आदि देश के लिए बड़े ही उपयोगी पशु हैं। मांसाहारियों द्वारा इनका संहार कर देना, देश हित के लिए बड़ा ही भयंकर सिद्ध होता है। उदाहरण के लिए गाय को ही ले लीजिए! गाय से हमें दूध, दही, घी, गोबर आदि उत्तम पदार्थों की प्राप्ति होती है। एक गाय की पूरी पीढ़ी से चार लाख, बहत्तर हजार, छः सौ मनुष्यों को सुख पहुंचता है। जीव-विज्ञान विशारदों ने गहरी छानबीन के पश्चात् हिसाब लगाया है कि गोवंश में से प्रत्येक गाय के दूध का मध्य मान ग्यारह सेर का आता है। उसके दूध देने का समय औसत बारह महीने रहता है। इस प्रकार प्रत्येक गाय के जन्म भर के दूध से 24,960 मनुष्यों की एक बार तृप्ति होती है।

मध्य मान के नियमानुसार प्रत्येक गाय से छह बछिया और छह बछड़े मिल जाते हैं। इनमें से यदि एक-एक मर भी जाए तो पांच बछियों के जीवन भर के दूध से 1,24,800 मनुष्य एक बार में तृप्त हो सकते हैं। अब रहे पांच बैल। अपने जीवनकाल में, मध्य मान के अनुसार, कम से कम 5000 मन अनाज पैदा कर सकते हैं। यदि प्रत्येक आदमी एक बार में तीन पाव अनाज खावे तो उससे साधारण ढाई लाख आदमियों की एक बार में उदरपूर्ति हो सकती है। बछियाओं के दूध और बैलों के अन्न को मिला देने से 3,74,800 आदमियों की भूख एक बार में बुझ सकती है। दोनों संख्याओं को मिलाकर एक गाय की पीढ़ी में 4,75,690 मनुष्य एक बार में पालित हो जाते हैं। इस सम्बन्ध में एक बात और समझ लेनी चाहिए। वह यह कि गौ की बछड़ियों से पुन: अनेकों बछड़ियां तथा बछड़ों की प्राप्ति होती है, जो हजारों मनुष्यों को लाभ पहुंचाते हैं। इतना ही नहीं बैलों से गाड़ियां चलती हैं, सवारी का काम उनसे लेते हैं, भार उठाने के काम में भी वे आते हैं। यही कारण है कि भारतीय लोगों ने गाय को 'माता' कह कर पुकारा है।

इसी प्रकार एक बकरी के जन्म भर के दूध से भी 25,920 आदमियों का परिपालन एक बार हो सकता है। हाथी, घोड़े, ऊंट, भेड़ आदि प्राणियों से भी इसी प्रकार के अनेकों उपकार मनुष्य के लिए होते रहते हैं। अत: इन उपकारी पशुओं को जो लोग खुद मारने तथा दूसरों से मरवाने का काम करते हैं, उनको सारे मानव-समाज की हत्या करने वाला ही समझना चाहिए।

मांस, वनस्पति और अन्न की अपेक्षा मंहगा भी पड़ता है। यही कारण है कि यूरोप के देशों में आवश्यकता होने पर मांस का राशन हो जाता है, किन्तु वनस्पति का राशन नहीं होता।

स्वास्थ्य की दृष्टि से मांसाहार

स्वास्थ्य की दृष्टि से भी मांसाहार का सेवन नहीं करना चाहिए। मांसाहार से प्राय: कैंसर, क्षय, पायरिया, गठिया, सिरदर्द, मृगी, उन्माद, अनिद्रा, लकवा, पथरी आदि भयंकर रोगों का आक्रमण होता है। शारीरिक बल और मानसिक बल पर भी बुरा प्रभाव पड़ता है। यूरोप के ब्रूसेल्स विश्वविद्यालय आदि में जो परीक्षाएं हुई हैं उनमें भी शाकाहारी ही श्रेष्ठ प्रमाणित हुए हैं।

मांसाहार और शाकाहार के परिणाम को जानने के लिए एक बार दश हजार

विद्यार्थियों का परीक्षण किया गया था। इनमें से पांच हजार को केवल शाकाहार, फल-फूल-अन्नादि पर और शेष पांच हजार को मांसाहार पर रखा गया था। छह महीने के बाद जांच करने पर मालूम हुआ कि मांसाहारियों की अपेक्षा शाकाहारी सब बातों में तेज रहे। शाकाहारियों में दया, क्षमा, प्रेम आदि गुण प्रकट हुए और मांसाहारियों में क्रोध, क्रूरता, भीरुता आदि। मांसाहारियों से शाकाहारियों में बल, सहनशक्ति आदि गुण भी विशेष रूप से पाए गए।

प्रोफेसर सर चार्ल्स बेल ने अपने अनुभवों के आधार पर लिखा है कि मनुष्यों में दांतों के रोग मांसाहार के कारण बढ़ गए हैं।

वैद्यक जगत के प्रसिद्ध ग्रन्थ चरकसंहिता के पांचवें अध्याय में लिखा है कि मांस मनुष्य के पेट में शीघ्र नहीं पचता, अत: वह मनुष्य का भोजन नहीं है।

डॉक्टर एल्फ्रेड साहिब ने लन्दन के डॉक्टरों की सभा में अपना निबंध पढ़ते हुए कहा था कि मांस 80 से 90 प्रतिशत रोगों के कीड़ों से भरा रहता है।

डॉक्टर फोर्ड एम.डी. कहते हैं कि मटर, चना आदि अन्नों में 23 से 30 प्रतिशत तक नाइट्रोजन होता है। 55 से 58 प्रतिशत तक नशास्ता और तीन प्रतिशत के लगभग नमक वाले पदार्थ होते हैं, किन्तु मांस में नाइट्रोजन केवल 8 से 9 प्रतिशत होता है, नशास्ता तो न होने के समान ही है। इस आधार पर उनका कहना है कि मांस का आहार मनुष्य के लिए लाभकारी नहीं हो सकता।

फ्रांस के कैंसर विशेषज्ञ डॉक्टर लिबसन का कहना है कि जानवर जो भी पदार्थ खाते हैं, उसका पाचन होने के बाद उक्त तत्त्व का कुछ अंश जानवर के शरीर में विष के रूप में रह जाता है। यह अंश धीरे-धीरे शरीर से पसीना या अन्य किसी रूप में बाहर जाता रहता है। यदि हम किसी जानवर को मार देते हैं, तो उस की शरीर-संचालन क्रिया बंद हो जाती है। इससे उसके शरीर में से विष बाहर नहीं जाने पाता और वह मांस और पेशियों में चला जाता है और यही कारण है कि मांसाहारी देखने में बलवान होने पर भी भीतर से कमजोर रहता है।[1]

जिन देशों में मांसाहार का अधिक प्रचार है, वहां स्वभावत: रोग भी अधिक होते हैं। जहां रोगों की अधिकता होती है, वहां वैद्यों और डॉक्टरों की संख्या भी अधिक पाई जाती है। इस सत्य की जानकारी निम्नलिखित तालिका से भली भांति हो सकेगी –

1. श्रमण वर्ष 9, अंक 2, पृ. 33

देश का नाम	प्रति मनुष्य मांस का खर्च	दस लाख मनुष्य संख्या के पीछे डॉक्टरों की संख्या
जर्मनी	64 पौंड	355
फ्रांस	77 पौंड	380
ब्रिटेन	118 पौंड	578
आस्ट्रेलिया	276 पौंड	780

इस नक्शे से स्पष्ट हो जाता है कि आस्ट्रेलिया मांस-भक्षण में सब से आगे है। वहां के निवासियों में मांस-भक्षण का सबसे अधिक प्रचार है। यही कारण है कि वहां पर अन्य देशों की अपेक्षा डॉक्टरों की संख्या भी अत्यधिक है।

भारतवर्ष में हम देखते हैं कि ज्यों-ज्यों मांसाहार का प्रचार बढ़ रहा है, त्यों-त्यों रोगों की संख्या भी बढ़ती जा रही है और इसी कारण डॉक्टरों की संख्या भी वृद्धि पर है। आज से सौ-पचास वर्ष पहले कहीं-कहीं डॉक्टर या वैद्य दिखाई देता था। किन्तु आजकल तो नगर का कोई मुहल्ला या गली ऐसी नहीं, जहां डॉक्टर की दुकान न हो। कई-कई नगरों में तो डॉक्टरों के ही विशेष बाजार या मुहल्ले बन गए हैं। इस रोग-वृद्धि का सबसे बड़ा कारण मांसाहार का प्रचार ही है।

यदि किसी जेल में आपको जाना पड़े, तो आप वहां के अपराधियों के भोजन का पता लगाइए। आप को पता चलेगा कि उनमें अधिक संख्या मांसाहारियों की ही है। इसका एक कारण तो यह है कि मांसाहारी को मदिरापान, व्यभिचार तथा अन्य कुकर्मों की आदत पड़ जाती है और इस आदत के कारण वह चोरी, हत्या आदि घोर से घोर कृत्य करता हुआ भी शंकित नहीं होता। दूसरा कारण यह है कि मांसाहारी की बुद्धि कुण्ठित हो जाती है, मस्तिष्क विचारशील ही नहीं रहने पाता और दिल कठोर बन जाता है। जहां ये त्रिदोष मिलकर आक्रमण करते हैं वहां मनुष्य किसी भी अधम से अधम कृत्य को निस्संकोच होकर कर बैठता है। जहां बुद्धि-विवेक का दिवाला निकल गया वहां मनुष्य की खैर नहीं।

इस प्रकार मांसाहार धार्मिक दृष्टि से, मानव-शरीर की रचना की दृष्टि से, आर्थिक दृष्टि से तथा स्वास्थ्य की दृष्टि से भी त्याज्य और हेय है। समझदार मनुष्य को इस हिंसापूर्ण और अधर्मपूर्ण मांस-भक्षण से सदा बचना चाहिए, तथा इसका परित्याग कर देना चाहिए।

शाकाहार और मांसाहार

प्रश्न—पेट भरने के लिए आहार तो करना ही होता है और शाकाहार में भी हिंसा होती ही है। एक रोटी बनाने में हजारों गेहूं के दानों के जीवों की हिंसा करनी पड़ती है और मांस पकाने में एक बकरा कई व्यक्तियों के लिए पर्याप्त होता है। अत: हिंसा की दृष्टि से मांसाहार की अपेक्षा शाकाहार में अधिक प्राणियों की हिंसा होती है; फिर मांसाहार का क्यों निषेध किया गया?

उत्तर—यह नितान्त सत्य है कि गृहस्थ को आहार प्राप्त करने में आरम्भ—हिंसा होती है। गृहस्थ का जीवन पूर्णत: हिंसा से मुक्त नहीं होता है। गृहस्थ के दायित्व को निभाने के लिए थोड़ी बहुत हिंसा हो ही जाती है। परन्तु हिंसा-हिंसा में भी अन्तर है। आगार धर्म प्रकरण में यह स्पष्ट कर दिया है कि श्रावक-गृहस्थ एकेन्द्रिय जीवों की हिंसा का पूरा त्याग नहीं कर सकता। वह निरपराधी त्रस जीवों को जानबूझकर, निरपेक्ष बुद्धि से मारने का त्याग करता है और एकेन्द्रिय जीवों की हिंसा की मर्यादा करता है। कारण यह है कि वनस्पति-पानी आदि के जीवों की चेतना अव्यक्त है और पशु-पक्षी की चेतना व्यक्त है। जब पशु-पक्षी पर छुरी, तलवार या गोली से प्रहार करते हैं तो वह उस समय उस संकट से बचने के लिए हर संभव प्रयत्न करता है और वधिक उसे मारने के लिए अपनी पूरी शक्ति लगा देता है। जब कभी वह छट-पटा कर बचने की कोशिश करता है तो वधिक का आवेश तीव्र, तीव्रतर और तीव्रतम होता जाता है, उसकी आंखों से आग बरसने लगती है। इस तरह पशु-पक्षी का वध करते समय क्रोध, आवेश एवं कूरता स्पष्ट दिखाई देती है, परन्तु अन्न एवं सब्जी का इस्तेमाल करते समय मन में क्रूर भावना नहीं होती। यही कारण है कि पशु-पक्षी की हिंसा सब्जी की हिंसा की अपेक्षा बड़ी है और प्रगाढ़ पाप-बन्ध का कारण है।

वस्तुत: देखा जाए तो बन्ध की प्रगाढ़ता एवं हल्केपन का कारण क्रिया के साथ हो रही कषायों की तीव्र एवं मन्द परिणति है। यदि परिणामों में शुद्धता है, क्रोध, मान, माया और लोभ की भावना न्यून है, तो बन्ध भी साधारण-सा होगा और कषायों की तीव्रता है तो बन्ध भी उतना ही गहरा होगा। कषाय एक तरह से रंग हैं, अत: रंग जितना गहरा होगा तो वस्त्र उतना ही अधिक गहरा रंगा जाएगा और रंग हल्का होगा तो वस्त्र पर भी उस रंग की झलक-सी ही आएगी। इसी तरह कषायों में जितनी अधिक तीव्रता होगी, आत्मा के गुणों को आवृत करने वाले कर्म उतने ही अधिक गहरे होंगे, और जितनी अधिक मन्दता होगी उतना ही अधिक कर्म का आवरण हल्का होगा।

यह हम प्रत्यक्ष में देखते हैं कि शाक-सब्जी का इस्तेमाल करते समय भावों में, विचारों में क्रूरता नहीं रहती। परन्तु पशु-पक्षी का वध करते समय क्रूरता स्पष्ट दिखाई देती है। जितने बड़े प्राणी को मारने का प्रयत्न करते हैं, उतनी ही अधिक क्रूरता बढ़ती है और जहां क्रूरता का आधिक्य होता है, वहां पाप कर्म का बन्ध भी प्रगाढ़ होता है। अत: पशु-पक्षी की हिंसा महारंभ एवं प्रगाढ़ पाप बन्ध का कारण है। यह हम पीछे बता चुके हैं कि नरकायुष्य बन्ध के चार कारणों में मांसाहार को भी एक कारण बताया गया है। क्योंकि मांसाहार महारंभ से प्राप्त होता है, अत: विवेकशील मनुष्य के लिए यह सर्वथा त्याज्य है।

शाकाहार एवं मांसाहार में एक बहुत बड़ा अन्तर यह है कि एक आबी है और दूसरा पेशाबी। आब पानी को कहते हैं, अत: पानी के बरसने एवं सींचने पर जिस शाक-सब्जी-अन्न आदि की उत्पत्ति होती है, उसे आबी कहते हैं और पशु-पक्षी आदि जिन जीवों का जन्म मैथुन-क्रिया से होता है उन्हें पेशाबी कहते हैं। अर्थात् स्त्री-पुरुष के संयोग से पैदा होने वाले प्राणियों को पेशाबी कहते हैं। इस तरह दोनों की उत्पत्ति के अनुरूप भावों में अन्तर आ जाता है। पृथ्वी में बीज बो देते हैं और वह बीज अनुकूल हवा, पानी, प्रकाश एवं खाद के मिलने पर अंकुरित, पल्लवित, पुष्पित एवं फलित होकर लहर-लहर कर लहराने लगता है। खेत एवं उद्यान फलते-फूलते हैं तो उनके आस-पास की प्रकृति में उनकी सौम्यता प्रतिबिम्बत हो उठती है, चारों तरफ का वातावरण हरा-भरा हो जाता है। वर्षा के समय जिधर देखो उधर ही हरा-भरा मैदान दिखाई देता है। उसे देखकर मन में हिंसा एवं प्रतिहिंसा की ज्वाला नहीं जगती बल्कि मन में शान्ति का झरना बहता है, विचारों में सौम्यता आती है, नेत्र शीतलता की अनुभूति करते हैं। परन्तु किसी पशु-पक्षी को सामने देखकर शिकारी एवं मांसाहारी की आंखें एकदम बदल जाती हैं। उसके मन में क्रूरता अठखेलियां करने लगती है। उसके प्राणों का अपहरण करने की भावना साकार रूप लेने लगती है। जब वधिक उस मूक एवं असहाय प्राणी पर प्रहार करता है, तब तो उसकी क्रूरता मानवता की सीमा को लांघ जाती है और इधर मरने वाले प्राणी के मन में भी प्रतिहिंसा के भाव उद्‌बुद्ध होने लगते हैं। वह भी प्रतिशोध लेने का प्रयत्न करता है। यह बात अलग है कि कमजोर होने से वह वधिक का कुछ भी बिगाड़ नहीं पाता। परन्तु उस समय उसके आवेश युक्त नेत्रों से यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि उसकी भावना वधिक को भी समाप्त करने की रहती है। इस हिंसा-प्रतिहिंसा एवं क्रूर भावना के परमाणु उसके सारे शरीर में फैल जाते हैं। इसलिए मांसाहार को तामसिक भोजन कहा है। वह वध्य एवं वधिक दोनों के मन में हिंसा एवं क्रूरता की भावना को जगाने वाला होता है,

इसलिए मांसाहार मनुष्य के लिए सर्वथा त्याज्य है। वह मनुष्य के मन में काम-क्रोध एवं वासना की आग को बढ़ाने वाला है, उसकी मानवीय प्रकृति को विषम बनाने वाला है। इसी कारण श्रमण भगवान् महावीर एवं अन्य विचारशील विचारकों ने मांसाहार का सर्वथा निषेध किया है।

शाकाहार और मांसाहार में एक अन्तर और है। वह यह कि जैनदर्शन में संसारी जीव में दस प्राण[1] माने गए हैं। एकेन्द्रिय जीवों में चार प्राण पाए जाते हैं और पशु-पक्षी में दस ही प्राण पाए जाते हैं। इस तरह इन्द्रिय एवं प्राणों की दृष्टि से भी पञ्चेन्द्रिय की हिंसा महाहिंसा है। जैसे एक व्यक्ति राजा को मारता है और दूसरा किसी साधारण व्यक्ति को तलवार के घाट उतारता है। कानून की दृष्टि से अपराधी तो दोनों ही हैं, फिर भी दोनों के दंड में अन्तर रहता है। राजा की हत्या साधारण व्यक्ति की अपेक्षा अधिक गुरुतर समझी जाती है। कारण स्पष्ट है कि राजा देश का प्रधान है, देश की सर्वोपरि शक्ति है, अत: उसे समाप्त करने के लिए उतनी ही अधिक विनाशक शक्ति या छल-कपट एवं क्रूरता का संग्रह करना पड़ता है। परन्तु साधारण व्यक्ति के प्राण लेने में उतनी तैयारी नहीं करनी पड़ती। इसी क्रूरता एवं विनाशक शक्ति का अन्तर ही उनके दण्ड के अन्तर का कारण है। साथ में यह भी दृष्टि रही हुई है कि राजा का नाश देश का बहुत बड़ा नुकसान है। इसी तरह पशु-पक्षी एवं इन्सान भी प्रकृति के शक्ति संपन्न प्राणी हैं। शाक-सब्जी की अपेक्षा इनके पास इन्द्रिय एवं प्राणों की शक्ति अधिक है। अत: उसे लूटने के लिए अधिक क्रूरता का आना स्वाभाविक है और जहां क्रूरता अधिक होती है, वहां पाप बन्ध अधिक होता ही है, यह हम पहले बता ही चुके हैं। अत: इस दृष्टि से भी पशु-पक्षी की हिंसा बड़ी हिंसा है, उससे बचना मानव का सर्वप्रथम धर्म है।

हिंसा और अहिंसा की अधिकता एवं न्यूनता का हिसाब जीवों की संख्या पर ही निर्धारित नहीं, परन्तु भावों पर निर्धारित है। यह हम देख चुके हैं कि जहां परिणामों में कषायों की अधिक तीव्रता होती है, वहां पापकर्म का बन्ध भी प्रगाढ़ होता है। इस दृष्टि को सामने रखकर जैनागमों में **'क्रियाए बन्ध'** नहीं परन्तु **'परिणामे बन्ध'** कहा है। अर्थात् कर्म का बन्ध जो होता है, वह केवल क्रिया से नहीं, बल्कि राग-द्वेष एवं कषाय युक्त परिणामों से

1. जिसके संयोग से जीव जीवित समझा जाता है और वियोग होते ही मृत्यु को प्राप्त हो जाता है, उसे प्राण कहते हैं। उनकी संख्या दस है। जैसे कि-(1) श्रोत्र इन्द्रिय बल-प्राण, (2) चक्षु इन्द्रिय बल-प्राण, (3) घ्राण इन्द्रिय बल- प्राण, (4) रस इन्द्रिय बल-प्राण, (5) स्पर्श इन्द्रिय बल-प्राण, (6) मन बल-प्राण, (7) वचन बल-प्राण, (8) काया बल-प्राण, (9) आयुष्य बल-प्राण और (10) श्वासोच्छ्वास बल-प्राण।

होता है। अतः पाप कर्म के बन्ध में जीवों की संख्या की अपेक्षा कषायों की तीव्रता का अधिक मूल्य है। जैसे एक तरफ करोड़ दमड़ियां हैं और दूसरी तरफ एक हीरा है। संख्या की दृष्टि से दमड़ियां अधिक हैं परन्तु कीमत की दृष्टि से वे सब हीरे के सामने नगण्य हैं, कोई मूल्य नहीं रखतीं। इसी तरह अन्न के हजारों दाने हैं, परन्तु उनका उपभोग करते समय मन में कषायों की तीव्रता नहीं रहती और पशु-पक्षी की हिंसा के समय परिणामों में अधिक कलुषता एवं क्रूरता दिखाई देती है, अतः अन्न की अपेक्षा पशु-पक्षी की हिंसा में महापाप है और यही कारण है कि मांसाहार महारम्भ एवं महाहिंसा का जन्य होने से महापाप कर्म के बन्ध का कारण एवं नरक का द्वार कहा है। परन्तु शाकाहार में ऐसी बात नहीं। अतः मांसाहार किसी भी अवस्था में विवेकशील इन्सान के लिए ग्रहण करने योग्य नहीं है। यह हर हालत में मानव की मानवता एवं सद्बुद्धि का नाशक है और सद्गति का अवरोधक है। इसलिए मनुष्य को सदा मांसाहार से दूर रहना चाहिए।

प्रश्न—आत्मा अजर है, अमर है, यह तो कभी मरती नहीं है। फिर किसी के मरने या मारने का क्या प्रश्न हो सकता है? आत्मा को अमर मान लेने पर किसी को मारने से पाप और बचाने से पुण्य होता है, यह कहने की क्या आवश्यकता है?

उत्तर—यह सत्य है कि आत्मा अमर है, वह कभी मरती नहीं है, और न ही उसे मारा जा सकता है। परन्तु शरीर में कायम रहने के लिए और अपनी आवश्यकताओं को पूर्ण करने के लिए आत्मा को जो शक्तियां प्राप्त हो रही हैं, उन शक्तियों को आत्मा से पृथक् कर देना, उनको लूट लेना ही आत्मा की मृत्यु है, आत्मा को मार देना है। आत्मा की शक्तियों को आत्मा से जो पृथक् करता है, वह पाप का उपार्जन करता है। अतः आत्म-शक्तियों का कभी घात नहीं करना चाहिए। जैन-दर्शन में आत्मा की शक्तियों को प्राण के नाम से व्यवहृत किया जाता है। सभी संसारी आत्माएं प्राणों के अधीन हैं। प्राणों की सहायता से ही आत्मा सुख-दुःख का अनुभव करती है। आत्मा चेतन है, और प्राण जड़ हैं। आत्मा अविनाशी है और प्राण नाशवान हैं। तथापि जिस प्रकार धनी के धन का अपहरण कर लेने पर धनी को दुःख होता है, ऐसे ही प्राणों का नाश होने पर आत्मा को कष्ट होता है, आत्मा दुःखानुभव करती है। किसी को कष्ट देना या दुःख देना पाप है, यह एक जघन्य प्रवृत्ति है।

जैनदर्शन ने प्राण 10 माने हैं—श्रोत्र, नेत्र, नासिका, रसना, स्पर्शन, मन, वाणी, शरीर श्वासोच्छ्वास और आयु। कान की वह शक्ति जिसके द्वारा मनुष्य शब्द सुनता है, उसको श्रोत्र कहते हैं। पांच इन्द्रियों में श्रोत्र अंतिम इन्द्रिय मानी जाती है। श्रोत्रेन्द्रिय का जीवन में बड़ा

महत्त्वपूर्ण स्थान है। श्रोत्र द्वारा मनुष्य धर्मशास्त्र सुनता है। हिताहित की बातें सुनता है। विद्यार्थी अध्यापक की बातें सुनकर ही धीरे-धीरे विद्वान बनता है। विद्वान बनकर वह संसार को ज्ञान देता है, उसकी अज्ञानता और मूढ़ता का परिहार करता है। अपने उज्ज्वल और प्रामाणिक प्रवचन सुना-सुनाकर मानव-जगत की बुराई को दूर करता है। इन सब बातों का मूल श्रोत्रेन्द्रिय है। यदि मनुष्य के पास श्रोत्र न हों तो वह इन सब बातों के बोध से वञ्चित ही रह जाता है। श्रोत्रेन्द्रिय की शक्ति ऐसी अनमोल शक्ति है कि जिसे करोड़ों रुपयों के व्यय करने पर भी उपलब्ध नहीं किया जा सकता। ऐसी अनमोल शक्ति को समाप्त कर देना बहुत भयंकर पाप है।

नेत्रों की ज्योति, दूसरी प्राणशक्ति है। नयनों के द्वारा ही मानव गुरु-दर्शन करता है, शास्त्रों को पढ़ता है, खाने, पीने, पहनने, ओढ़ने आदि सब वस्तुओं को देखता है। जिसके पास नयन नहीं होते उसका संसार सूना होता है। इसलिए लोग कहा करते हैं कि 'दांत गए तो खान गया, आंख गई तो जहान गया।' प्रति दिन सड़कों पर अन्धों को यह कहते सुना जाता है 'कि आंख वालो! आंखें बड़ी न्यामत हैं।' अत: शारीरिक अवयवों में नेत्रशक्ति का भी अपना विशिष्ट स्थान है। ऐसी विशिष्ट और सर्वथा उपयोगी नेत्रशक्ति का हनन कर देना महान पाप माना गया है।

तीसरी प्राणशक्ति नासिका है। नासिका के द्वारा सुगन्ध और दुर्गन्ध का बोध होता है। कई बार दुर्गन्धपूर्ण पदार्थ आंखों से दिखाई नहीं देता, कहीं इधर-उधर प्रच्छन्न रहता है किन्तु उस परोक्ष दुर्गन्धमय पदार्थ का बोध नासिका द्वारा ही प्राप्त किया जाता है, और वह बोध ही अध्यात्मशास्त्र के "अपवित्र और अस्वच्छ स्थान पर शास्त्र-स्वाध्याय नहीं करना" इस आदेश के परिपालन में सहायक प्रमाणित होता है। जिनकी नासिका शक्ति नष्ट हो जाती है, उनके आस-पास चाहे कितनी भी गन्दगी पड़ी हो पर बिना देखे उसका उनको बोध नहीं होने पाता। अत: शरीर में घ्राणशक्ति का भी अपना एक विशेष स्थान है। इसका नाश कर देना एक बहुत बड़ी अक्षम्य भूल है।

चतुर्थ प्राणशक्ति का नाम रसना है। रसना के द्वारा भगवान् का भजन, स्तवन किया जाता है, गुरुदेवों का गुणग्राम किया जाता है, भोजन-पानी आदि खाद्य और पेय पदार्थों के कटुक, कषाय और अम्ल आदि रसों का बोध भी रसना द्वारा ही प्राप्त किया जाता है। जीवन में रसना का कितना मूल्य होता है यह वही व्यक्ति जानता है, जो बोलना चाहता है, पर रसनेन्द्रिय की सदोषता के कारण बोल नहीं पाता, अपने विचारों को प्रकट करना चाहता हुआ

भी प्रकट नहीं कर पाता। ऐसी महान शक्ति को जीवन से पृथक् कर देना एक भीषण पाप है।

स्पर्शनेन्द्रिय[1] पांचवां प्राण है। पांच इन्द्रियों में यह सर्वप्रथम इन्द्रिय है। स्पर्शनेन्द्रिय के द्वारा उष्ण, शीत, स्निग्ध, रूक्ष, कोमल आदि स्पर्शों का बोध होता है। यदि यह दुर्बल हो जाती है या अधरंग हो जाता है तो उष्ण-शीतादि स्पर्शों का व्यक्ति को ज्ञान नहीं होने पाता। स्पर्शन-सम्बन्धी सुख और दुःख की अनुभूति में स्पर्शनेन्द्रिय का बड़ा महत्त्वपूर्ण स्थान है। स्पर्शनेन्द्रिय जन्य सुख-दुःख इसी के माध्यम से आत्मा को हो पाता है। ऐसे अनमोल धन का हरण करना बड़ा भारी पाप है।

छठी प्राणशक्ति का नाम मन है। जिसके द्वारा मनन किया जाए, चिन्तन किया जा सके, उसे मन कहते हैं। जड़, चेतन, पुण्य, पाप, धर्म, अधर्म, बन्ध, मोक्ष, आत्मा, महात्मा और परमात्मा आदि का मनन और चिन्तन आत्मा मन के माध्यम से ही किया करता है। मन प्रत्येक प्राणी के पास नहीं होता। एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय और चतुरिन्द्रिय जीवों के पास मन नहीं होता है। वनस्पतिकायिक, जलकायिक, पृथ्वीकायिक आदि स्थावर प्राणी एकेन्द्रिय; जोंक, अलसिया आदि जीव द्वीन्द्रिय; चिउंटी, लीख आदि त्रीन्द्रिय; मक्खी, मच्छर आदि जीव चतुरिन्द्रिय कहे जाते हैं। एकेन्द्रिय जीव केवल स्पर्शनेन्द्रिय वाला होता है। द्वीन्द्रिय जीव स्पर्शन और रसना इन दो इन्द्रियों का धनी होता है। त्रीन्द्रिय जीव स्पर्शन, रसना और नाक ये तीन इन्द्रियां रखता है। चतुरिन्द्रिय जीव के पास स्पर्शन, रसना, नाक और आंख ये चार इन्द्रियां होती हैं। जिन जीवों के पास स्पर्शन से श्रोत्र तक पांच इन्द्रियां होती हैं, वे पञ्चेन्द्रिय कहलाते हैं। पञ्चेन्द्रिय जीवों के पास ही मन होता है। मन के द्वारा ही इनमें सोचने, समझने और विचारने की शक्ति होती है। मन इन्द्रियों का राजा माना गया है। इसकी महिमा शास्त्रों में बहुत गाई गई है। आत्मा के बन्ध और मोक्ष का उत्तरदायित्व मन पर ही है। ऐसे अनमोल धन मन को नष्ट कर देना बहुत बड़ा अत्याचार है।

सातवीं प्राणशक्ति वचन है। इसके द्वारा बोला जाता है। आत्मा के संकल्प-विकल्पों को इसी के द्वारा भाषा का मूर्तरूप मिलता है। इसके बिना जीवन गूंगा होता है और स्पष्टता के साथ अपना आशय व्यक्त नहीं किया जा सकता। इसीलिए प्राणी के जीवन में इस शक्ति

1. श्रोत्र, चक्षु, नासिका, रसना और स्पर्शन इन पांचों प्राणशक्तियों को शास्त्रीयभाषा में पांच ज्ञानेन्द्रियां भी कहा जाता है।

का बड़ा महत्त्वपूर्ण स्थान है। इस शक्ति को आत्मा से अलग कर देना पापों में एक बड़ा पाप है।

काय-बल आठवीं प्राणशक्ति है। इस शक्ति का भी अपना अद्‌भुत स्थान है। इसी के माध्यम से उठना-बैठना, आना-जाना, खाना-पीना आदि सभी क्रियाएं सम्पन्न होती हैं। इसके अभाव में आत्मा कोई भी शारीरिक उन्नति नहीं कर सकता। शरीर द्वारा जो जप, तप आदि धार्मिक अनुष्ठान किए जाते हैं, इसके नष्ट हो जाने पर उन सबका अभाव हो जाता है। ऐसी परम उपयोगी और प्रधान शक्ति को नष्ट कर देना एक भयंकर पाप माना जाता है।

नवीं प्राणशक्ति का नाम श्वासोच्छ्‌वास है। जीवन की सभी प्रवृत्तियों का उत्तरदायित्व इसी शक्ति पर है। इसीलिए संसार में "जब तक सांस, तब तक आस" यह किंवदन्ती प्रचलित हो रही है। यदि श्वासोच्छ्‌वास की शक्ति समाप्त हो जाए तो जीवन की आशा भी समाप्त हो जाती है। यह शक्ति किसी से उधार नहीं ली जा सकती। मूल्य देकर यह खरीदी भी नहीं जा सकती। जो सांस हाथ से निकल गए हैं, संसार की कोई शक्ति उनको वापिस नहीं ला सकती। बन्दूक से निकली गोली संभव है कि वापिस हो जाए, और धनुष से छूटा तीर भी वापिस हो जाए किन्तु यह सर्वथा असंभव है कि गए हुए सांस वापिस आ जाएं। ऐसी अनमोल शक्ति को लूट लेना भीषण पाप है।

आयु दसवीं प्राणशक्ति है। यह शक्ति सर्वोपरि शक्ति है। इसमें पूर्व की सभी प्राणशक्तियों का समावेश हो जाता है। जैसे वृक्ष का मूल काट देने पर उसकी शाखाएं, प्रतिशाखाएं, पत्ते, फल, फूल आदि सब नष्ट हो जाते हैं, ऐसे ही आयु-वृक्ष के टूटते ही उसके श्रोत्र, चक्षु आदि सब शेष भाग अपने आप समाप्त हो जाते हैं। जैसे बादशाह के मर जाने पर समस्त प्रजा अनाथ हो जाती है, वैसे ही इस शक्ति के समाप्त हो जाने पर पांचों ज्ञानेन्द्रियां और समस्त अंग-उपांग बेकार हो जाते हैं, एक माटी के ढेले के रूप में परिवर्तित हो जाते हैं। घड़ी तभी तक चलती है, जब तक उसमें चाबी है, यदि चाबी समाप्त हो जाए तो उसके सब पुर्जे भले ही निर्विकार और निर्दोष क्यों न हों, किन्तु सब बेकार, निष्क्रिय हो जाते हैं। इसी प्रकार जीवन रूपी घड़ी में आयु भी चाबी के समान है। इसके समाप्त होते ही जीवन की घड़ी भी निश्चेष्ट और निष्क्रिय हो जाती है, सदा के लिए खड़ी हो जाती है, उसमें किञ्चित् भी स्पन्दन नहीं होने पाता। आयु की शक्ति एक विलक्षण और सर्व-प्रिय शक्ति है। इसका वियोग कोई नहीं चाहता, भले ही कोई राजा हो या रंक, सुखी हो या दुःखी, कोई भी क्यों न हो, किसी भी दशा में इसका वियोग कोई पसन्द नहीं करता है। संसार के छोटे-बड़े

सभी जीव इस शक्ति से प्यार करते हैं और सर्वस्व देकर भी उसकी सुरक्षा चाहते हैं। ऐसी अनमोल और अलभ्य आयु-शक्ति को समाप्त कर देना घोरातिघोर पाप है।

आत्मा इन दस प्राणों से शरीर में जीवित रहती है, अपनी सभी क्रियाएं सम्पन्न करती है। ये दस प्राण आत्मा की विभूति हैं, सर्वस्व हैं, इन्हें लूट लेना, समाप्त कर देना ही आत्मा का मरण कहा जाता है। इसके अलावा, जैनर्शन आत्मा को एकान्त रूप से अजर, अमर भी स्वीकार नहीं करता। उसका कहना है कि आत्मतत्व की दृष्टि से भले ही आत्मा अजर, अमर है, किन्तु प्राणों की दृष्टि से वह विनाशशील है। प्राणों के नष्ट होते ही आत्मा भी नष्ट हो जाती है, शरीर से पृथक् हो जाती है। अतः आत्मा को कथंचित् अमर मान लेने पर भी पुण्य-पाप की मान्यता सत्य ही रहती है, उसमें कोई अन्तर नहीं आता। आत्मा की प्राणशक्ति को नुकसान पहुंचाने पर पाप होता है, तथा उसकी सुरक्षा करने पर पुण्य का लाभ होता है।

प्रश्न—यदि बकरा आदि पशुओं को काम में न लाया जावे, तो इनका उपयोग क्या होगा? परमात्मा ने इनकी रचना मनुष्य के खाने के लिए ही तो की है। फिर इनका मांस खाने में क्या दोष है?

उत्तर—यह स्वार्थी दिमाग की सूझ-बूझ है कि वह अपना स्वार्थ साधने के लिए अंट-संट बोला करता है। देवी आदि के उपासकों ने बकरे, भैंसे आदि के लिए स्वर्ग की कल्पना करके अपनी जबान का स्वाद पूरा करने का रास्ता निकाल लिया। तो अन्य मांसाहारियों ने यह दलील देनी शुरू कर दी कि खुदा या परमात्मा ने पशु-पक्षी खाने के लिए ही बनाये हैं। यह इन्सान के पतन की पराकाष्ठा है। पतन एवं गिरावट की भी सीमा होती है, सीमा में रहे हुए दोष सुगमता से दूर हटाये जा सकते हैं। परन्तु स्वार्थ का चश्मा मनुष्य की दृष्टि को, विचारों को इतना धुंधला बना देता है कि उसमें सत्य को समझने की भावना ही नहीं रह जाती। वह जब भी सोचता है, तब दूसरे के सुखों, हितों एवं जीवन को लूट-खसोट कर अपने जीवन को अधिक आमोद-प्रमोदमय एवं हृष्ट-पुष्ट बनाने की ही सोचता है। मांसाहारियों द्वारा दिया जाने वाला प्रस्तुत तर्क इसी स्वार्थ भावना का प्रतीक है।

सबसे पहली बात तो यह है कि ईश्वर किसी भी वस्तु का निर्माता नहीं है।[1] जगत में जितने भी जीव दिखाई देते हैं, ये स्वयं ही अपने-अपने शुभाशुभ कर्म के अनुसार एक योनि से दूसरी योनि में गति करते हैं। स्वयं ही अपने जीवन के स्रष्टा हैं। अपने जीवन को विकास

1. इस विषय पर छठे अध्याय में विस्तारपूर्वक प्रकाश डाला जा चुका है।

एवं पतन, जिस ओर भी चाहे ले जाने के लिए प्रत्येक आत्मा स्वतन्त्र है। कोई ईश्वर या दैवी शक्ति न किसी को पशु बनाती है और न किसी को मनुष्य। या यों कहिए वह न किसी को भक्षक बनाती है और न भक्ष्य ही। संसार में गतिशील प्रत्येक आत्मा अपने कर्म के अनुरूप ही गति को प्राप्त करता है।

दूसरी बात यह है कि पशु इन्सान की खुराक नहीं है। यह हम स्पष्ट देख चुके हैं कि मनुष्य के नाखून, दांतों एवं ओष्ठों की तथा आंतों की बनावट ऐसी है कि वह मांसाहार के उपयुक्त नहीं कही जा सकती। प्रकृति की बनावट के विपरीत भी मनुष्य मांसाहार की ओर इतना तेजी से बढ़ रहा है कि मांसाहारी पशुओं एवं जंगली जानवरों को भी मात कर रहा है। यदि यह मान लिया जाए कि पशु-पक्षी मनुष्य के खाने के लिए बनाये हैं, तो शेर आदि हिंसक पशु भी यह प्रश्न उठा सकते हैं कि मनुष्य उनके खाने के लिए बनाया गया है। क्या मांसाहारी मनुष्यों को यह तर्क स्वीकार है? यदि स्वीकार है तो फिर अपने ऊपर झपटने वाले शेर से बचने का या उसे बन्दूक से मार गिराने का प्रयत्न नहीं करना चाहिए और यह बात स्वीकार नहीं है तो फिर यह तर्क देना भी नितांत असत्य है कि पशु-पक्षी का निर्माण मनुष्य के खाने के लिए किया गया है। प्रत्येक प्राणी संसार का शृंगार है, प्रकृति की शोभा है। जब हम किसी भी प्राणी को बना नहीं सकते, तो हमें संसार की शोभा को नष्ट करने का, बिगाड़ने का क्या अधिकार है? हमारी इन्सानियत एवं बुद्धिमानी इसी बात में है कि हम कमजोर एवं निराश्रय प्राणियों को आश्रय देने, सुख-शांति पहुंचाने तथा उनकी सुरक्षा करने का प्रयत्न करें।

प्रश्न--कहा जाता है कि मांसाहारी पशु जैसे क्रूर स्वभाव वाले, क्रोधी एवं जड़-बुद्धि होते हैं, उसी तरह सामिष-भोजी मनुष्य भी क्रूर एवं क्रोधी स्वभाव वाला तथा स्थूल बुद्धि वाला होता है। साथ में यह भी कहा जाता है कि वह कभी उन्नति नहीं करता, बल्कि सदा पतन के गर्त में गिरता है। किन्तु वस्तुस्थिति इससे विपरीत है। पाश्चात्य देशों के अधिकांश व्यक्ति मांसाहारी हैं। फिर भी बुद्धि, बल एवं सम्पत्ति में ये सभी पूर्वीय देशों से आगे हैं। अंग्रेजों की कूटनीति तो प्रसिद्ध ही है। रूस एवं अमेरिका शक्ति एवं सम्पत्ति में भी सबसे आगे हैं। रूस का राकेट चन्द्रलोक पहुंचने का दावा कर रहा है। वैज्ञानिक क्षेत्र में की गई उन्नति इस बात का ज्वलन्त प्रमाण है। हां तो बौद्धिक एवं वैज्ञानिक क्षेत्र में जितनी उन्नति पाश्चात्य देशों के मांसाहारियों ने की है, उतनी तो क्या, भारतीय शाकाहारियों ने उसके शतांश भी उन्नति नहीं की। अत: यह कथन कैसे सत्य हो सकता है कि मांसाहारियों का सर्वतोमुखी पतन ही होता है, उनमें बुद्धि की स्थूलता ही रहती है?

उत्तर–इतना तो सूर्य के उजाले की तरह स्पष्ट है कि मांसाहार स्वयं ही एक दोष है। क्योंकि अपने स्वार्थ के लिए, जिह्वा के क्षणिक स्वाद के लिए किसी भी निरपराध त्रस प्राणी को मारना जघन्य दुष्कृत्य है, सबसे बड़ा पाप है। अब रहा प्रश्न स्वभाव एवं उन्नति का? इसका उत्तर यह है कि स्वभाव में क्रूरता, बुद्धि की स्थूलता एवं पतन के कई कारण हैं, ये दोष केवल मांसाहार जन्य ही नहीं है। मोहनीय एवं ज्ञानावरणीय कर्म के उदय से भी व्यक्ति अनेक दोषों के प्रवाह में बह जाता है। अत: जब यह कहा जाता है कि मांसाहारी का स्वभाव क्रूर होता है, उसकी बुद्धि में स्थूलता होती है तथा उसका जीवन विकास की पगडंडी पर गतिशील नहीं होता, तो इसका तात्पर्य इतना ही है कि उक्त दोषों के अन्य कारणों के साथ मांसाहार भी एक कारण है, अर्थात् इससे जीवन में अनेक दोष आ घुसते हैं।

स्वभाव के लिए भी ऐसी बात नहीं है कि कोई व्यक्ति 24 घण्टे क्रूर ही दिखाई दे। मनुष्य तो क्या, हिंसक जन्तु भी चौबीस घण्टे क्रूर नहीं दिखाई देते। शेर भी अपने बच्चों को प्यार करता है, अपने बच्चों एवं शेरनी के साथ खेलता-कूदता है। परन्तु, अपने से इतर पशु को देखते ही उसकी आंखों में आग बरसने लगती है, क्रूरता अठखेलियां करने लगती है। यही स्थिति मांसाहारी मनुष्य की है। यह हम पहले बता चुके हैं कि मोह कर्म के उदय से अन्य व्यक्तियों में भी आवेश आता है। परन्तु वे फिर भी किसी बात को कुछ हद तक बर्दाश्त भी कर लेते हैं। परन्तु मांसाहारी में सहिष्णुता की कमी होती है। जरा-सा निमित्त मिलते ही उसकी सुषुप्त क्रूरता जाग उठती है और वह शान्त-सा प्रतीत होने वाला मनुष्य खूंखार एवं भूखे भेड़िये की तरह सामने वाले प्राणी पर टूट पड़ता है, बरसने लगता है। यह हम प्रत्यक्ष में देखते हैं कि जरा-जरा-सी बात पर उसे आवेश आ जाता है। और उस समय वह अपने को भूल जाता है, उसकी आत्म-चेतना सो जाती है, उसकी सोचने-समझने की शक्ति एवं बुद्धि कुण्ठित हो जाती है। एक पाश्चात्य विचारक ने ठीक ही कहा है –

"An angry man opens his mouth and shuts his eyes."

क्रोध के समय मनुष्य की आंखें बन्द हो जाती हैं और मुंह खुल जाता है। या यों कह सकते हैं कि उसके ज्ञान चक्षु, सूझ-बूझ की आंखें बन्द हो जाती हैं और दोषों का द्वार खुल जाता है। यह हम सदा अपनी आंखों से देखते हैं कि क्रोध एवं क्रूरता के समय व्यक्ति में सोचने की शक्ति नहीं रहती, वह उस समय सही एवं गलत बात की पहचान नहीं कर सकता, वह तो पागल कुत्ते की तरह काटने दौड़ता है और मांसाहारी व्यक्ति में आवेश की मात्रा अधिक होती है। जरा-सी बात को भी वह सह नहीं सकता और पाश्चात्य देश के व्यक्ति भी

इस दोष से मुक्त नहीं हैं। अंग्रेजों के क्रोध से भारतीय परिचित ही हैं। वे जरा-सी बात को भी सह नहीं सकते। जरा-से अपमान का बदला थप्पड़, बेंत या गोली से लेते हैं। छोटी-छोटी बातों एवं थोड़े-से स्वार्थों के लिए युद्ध की आग प्रज्वलित कर देते हैं।

दूसरा प्रश्न रहा बुद्धि की स्थूलता या ज्ञान की कमी का, वह भी स्पष्ट है। हम यह नहीं मानते कि मांसाहारी में ज्ञान नहीं होता। ज्ञान आत्मा का स्वभाव है और वह प्रत्येक आत्मा में रहता ही है। परन्तु जब हम यह कहते हैं कि मांसाहारी व्यक्ति में बुद्धि या ज्ञान का विकास नहीं होता, तो हमारा तात्पर्य अक्षरी ज्ञान से नहीं, विवेक से है। क्योंकि भारतीय संस्कृति में उसी ज्ञान को महत्त्व दिया है, जो विवेक से युक्त है। विद्या या ज्ञान की परिभाषा करते हुए एक महान विचारक एवं चिन्तक ने कहा है—"**सा विद्या या विमुक्तये**" अर्थात् वही विद्या या अक्षरी ज्ञान वास्तविक विद्या है, जो व्यक्ति को जन्म-मरण के दु:ख से मुक्त कराती है, छुटकारा दिलाती है। वस्तुत: ज्ञान वही सार्थक है, जो विवेक-युक्त है और सर्वजगत के हित में गतिशील है और मांसाहारी व्यक्ति में इस विवेक की कमी होती है।

यह सत्य है कि पाश्चात्य व्यक्तियों ने भौतिक ज्ञान-विज्ञान के क्षेत्र में विकास किया है और अंग्रेज भी कूटनीति में निपुण हैं। परन्तु यह बात सारे अंग्रेजों एवं पाश्चात्य देश के सभी निवासियों में नहीं पाई जाती। अंग्रेजों में भी बहुत से निरक्षर भट्टाचार्य मिलेंगे, जिन्हें A, B, C, D भी लिखना-पढ़ना नहीं आता। पर हमारा तात्पर्य तो अक्षरी एवं भौतिक ज्ञान की न्यूनता एवं अधिकता नहीं, बल्कि विवेक की न्यूनता-अधिकता का है और विवेक की कमी पाश्चात्य देश के बड़े-बड़े वैज्ञानिकों, इंजीनियरों, राजनेताओं एवं व्यापारियों में स्पष्ट परिलक्षित होती है। उनकी दृष्टि अपने तक ही सीमित है। वे सबसे पहले अपना स्वार्थ देखते हैं और अपने स्वार्थ को पूरा करने के लिए अपने ज्ञान का प्रयोग करते हैं। अत: उनकी दृष्टि में जग का हित नहीं, अपना हित ही समाया रहता है और अपने हित एवं स्वार्थ को साधने के लिए मार्ग में आने वाले सभी प्राणियों को—चाहे पशु-पक्षी हो, कीड़ा-मकोड़ा हो—रौंदते, कुचलते चलते हैं, चारों तरफ हाहाकार मचा देते हैं। बम्ब, रिवॉल्वर, राइफल्स से लेकर रॉकेट, अणु-उद्जन-हाइड्रोजन एवं नाइट्रोजन बम्ब जैसे विनाशक एवं भयावने शस्त्रों के निर्माता मांसाहारी दिमाग ही हैं। हां, तो मैं बता रहा था कि उनका दिमाग चलता है—दुनिया के प्राणियों का संरक्षण करने की ओर नहीं, बल्कि विश्व का विनाश करने की ओर। इसी का परिणाम है कि उन्होंने आज विश्व को विनाश के कगार पर ला खड़ा किया है। आणविक शस्त्रों की घुड़दौड़ ने सारे विश्व में तहलका मचा दिया है। विश्व का प्रत्येक व्यक्ति भयभीत

है, संत्रस्त है। इसका कारण यही है कि उनमें विवेक की कमी रही है और विवेक के अभाव में विज्ञान आज मानव के लिए वरदान नहीं, अभिशाप बन रहा है।

पाश्चात्य देशों में ज्ञान-शिक्षा का विकास अवश्य हुआ है, परन्तु उसके साथ मुक्ति की दृष्टि न होने से उसका भी विशेष मूल्य नहीं रह जाता है। जीवन-मुक्ति की बात जरा दूर रहने दें पर ज्ञान को पारिवारिक एवं राष्ट्रीय दु:खों तथा संक्लेशों से मुक्त करने वाला तो होना चाहिए। परन्तु वर्तमान शिक्षा इस दिशा में भी असफल रही है। आज पाश्चात्य एवं पूर्वीय देशों में जितने शिक्षित व्यक्ति संक्लेशों से घिरे हैं, उतने अशिक्षित कष्टों से पीड़ित नहीं मिलेंगे। कारण स्पष्ट है कि उनके पास अक्षरज्ञान तो है, परन्तु कष्टों से मुक्त होने की कला नहीं है, या सीधी-सी भाषा में यों कहिए कि उनका दिमाग तो चलता है, पर हाथों-पैरों में गति नहीं है। वे सिर्फ कुर्सी पर बैठना जानते हैं और कुर्सी सबको सुलभ नहीं होती और यदि सबको कुर्सी दे भी दी जाए तो भी समस्या हल नहीं होती। क्योंकि उन कुर्सीनुमा बाबुओं के पेट एवं जेबें भरने के लिए अन्न एवं पैसा कहां से आएगा? जबकि सभी बाबू बने बैठे हैं।

आज की शिक्षा में सबसे बड़ा दोष है तो यही है कि वह क्लर्क, मास्टर एवं इंजीनियर तैयार कर देती है, पर उत्पादक एवं जगत का परिपोषक तैयार नहीं करती। यही कारण है कि चारों ओर शोषण एवं स्वार्थ के दौर चल रहे हैं। तो मैं बता रहा था कि विद्या तो है, पर कष्टों, संक्लेशों एवं मुसीबतों से उबारने के स्थान में उनमें धकेलने वाली है। इस शिक्षा या ज्ञान पद्धति के जनक रहे हैं--पाश्चात्य देशों के व्यक्ति या यों कहिए मांसाहारी। इससे स्पष्ट हो गया कि *मांसाहारियों का ज्ञान स्वार्थ से भरा है। उनकी शिक्षा प्रणाली जगत का शोषण करके* अपना पोषण करने की रही है और उसी के परिणामस्वरूप सारा विश्व आज दु:ख की आग में जल रहा है, संकटों एवं मुसीबतों की चक्की में पिस रहा है।

अब रही बात उन्नति एवं तरक्की की ! यह ठीक है कि भौतिक क्षेत्र में पाश्चात्य देशों ने कुछ विकास किया है, परन्तु जीवन केवल भौतिक पदार्थों पर ही तो आधारित नहीं है। यद्यपि शरीर को खाने-पीने, पहनने-ओढ़ने एवं रहने आदि के लिए भौतिक पदार्थों की आवश्यकता रहती है। परन्तु यही तो सब कुछ नहीं है। इसके अतिरिक्त और भी कुछ है, जो इस शरीर का संचालक है। पाश्चात्य देश उस (और कुछ) को ही भूले हुए हैं। वे शरीर-पोषण के लिए तो रात-दिन दौड़ते हैं, नई-नई योजनाएं तैयार करते हैं, परन्तु इस 'और कुछ' अर्थात् आत्मा के लिए कभी एक मिनट भी नहीं सोचते। यही कारण है कि उनका

भौतिक विकास आत्म-विकास शून्य होने से आज विश्व के लिए खतरे का कारण बन गया है।

भौतिक उन्नति एवं ऐश्वर्य-संपन्नता भी बाहर से अधिक दिखाई देती है। परन्तु आन्तरिक स्थिति उतनी उन्नत नहीं है, जितनी बाहर प्रोपेगण्डे में दिखाई जाती है। पहाड़ सदा दूर से ही सुहावने लगते हैं, यह कहावत उन पर बिल्कुल चरितार्थ होती है। लोग कहते हैं कि अमरीका में सभी धनवान हैं, परन्तु यथार्थ में ऐसी बात नहीं है। वहां गरीब भी हैं। धनवान दिखाई देने वालों में भी सभी की आन्तरिक स्थिति अच्छी नहीं है। यह ठीक है कि वहां के लोगों का बाहरी रहन-सहन का स्टैण्डर्ड जरा ऊंचा है, वे भोग-विलास में अधिक डूबे हुए हैं। इसलिए बाहरी दिखावा ऐश्वर्य की संपन्नता को लिए हुए है। आन्तरिक स्थिति यह है कि विवाह होते ही दम्पत्ति को घर से पृथक् कर दिया जाता है। रहने के लिए एक मकान मिल जाता है। मासिक या वार्षिक किश्तों के आधार पर उन्हें मोटर, रेडियो सैट आदि अन्य सुख-साधन एवं ऐशो-आराम के साधन उधार मिल जाते हैं, होटल में खाना खाते हैं। कुछ महीने या वर्ष तो आराम से गुजर जाते हैं, पर थोड़े दिनों के बाद जब कर्ज का भूत सिर पर आकर खड़ा होता है, तो उनके होश-हवास गुम हो जाते हैं, सारे मौज-मजे एवं ऐशो-आराम को भूल जाते हैं और फिर रात-दिन काम में लगना पड़ता है। पति-पत्नी दोनों नौकरी की तलाश करते हैं और नौकरी भी एक जगह नहीं कई जगह करते हैं। बाहर से संपन्न दीखते हैं, पर अन्दर-अन्दर ही चिन्ता एवं दु:ख का संवेदन करते हैं और इस तरह सारा जीवन केवल क्षणिक आमोद-प्रमोद के पीछे बर्बाद कर देते हैं। यह स्थिति एक-दो परिवारों की नहीं; अनेकों परिवार कर्ज के बोझ से कराह रहे हैं। तो मैं बता रहा था कि भौतिक उन्नति ही वास्तविक उन्नति नहीं है। आध्यात्मिक उन्नति के अभाव में केवल भौतिक उन्नति जीवन के लिए बहुत ही खतरनाक है।

इससे यह स्पष्ट हो गया कि पाश्चात्य देशों का विकास विनाश एवं खतरे से युक्त है। वह स्वयं के तथा प्राणी जगत के लिए भयावह है। परन्तु भारतीयों का विकास-जितना भी उन्होंने किया है, दुनिया के लिए उतना खतरनाक नहीं रहा है। यह कहना एवं समझना भारी भूल है कि भारतीयों के पास वैज्ञानिक उन्नति करने का दिमाग, सूझ-बूझ एवं तरीका नहीं है। विज्ञान के क्षेत्र में भारतीय दिमाग पाश्चात्य देशों से पीछे नहीं है। यह बात अलग है कि आध्यात्मिक संस्कृति के संस्कारों में पले-बढ़े होने के कारण विनाशक शस्त्रास्त्र बनाने में उनका दिमाग गतिशील कम रहा। परन्तु वैज्ञानिक अन्वेषण में भारतीय भी सदा लगे रहे

हैं। वनस्पति भी सजीव है, इसकी शोध करने वाले एवं वैज्ञानिक प्रयोगों के द्वारा उसमें सजीवता सिद्ध करने वाले जगदीश चन्द्र बोस भारतीय ही थे। उनसे पहले और उनके बाद भी अनेक विज्ञान वेत्ता हुए हैं। वर्तमान में भारतीय वैज्ञानिक डॉ. भाभा पाश्चात्य विज्ञान के क्षेत्र में भी प्रसिद्ध रहे हैं जो आजकल आणविक शक्ति का निर्माण एवं उसे शान्ति के कार्य में कैसे उपयोग किया जाए, इस खोज में संलग्न हैं और इस दिशा में उन्होंने महत्त्वपूर्ण काम किया है।

इससे स्पष्ट है कि भारतीयों ने भी विकास किया है। यह बात अलग है कि दोनों के विकास का ढंग एवं क्षेत्र भिन्न रहा है और दृष्टि संस्कार एवं खान-पान की भिन्नता के अनुसार कार्य-क्षेत्र में भी भिन्नता का आना स्वाभाविक था। पाश्चात्य दिमाग भौतिक प्रगति में लगे और उन्होंने बड़े-बड़े यन्त्रों को खड़ा कर दिया, जो भूत-पिशाच की तरह भयावने प्रतीत हो रहे हैं, केवल प्रतीत ही नहीं हो रहे हैं बल्कि वास्तव में भयावने सिद्ध भी हो रहे हैं। परन्तु भारतीय विचारकों ने आध्यात्मिक क्षेत्र में सोचा-विचारा एवं विकास भी किया। परिणामस्वरूप उन्होंने भयानक यन्त्र तो खड़े नहीं किए, परन्तु विनाश से बचने की ताकत उसे दी, जिसके सामने बमों की शक्ति भी दब जाती है। वह शक्ति थी—सत्य और अहिंसा की, जीओ और जीने दो "Live and Let Live" की। इस क्षेमकारी एवं कल्याणकारी भावना के विकास ने भारत को ही नहीं, बल्कि विश्व को विनाश से बचाया है। यही कारण है कि भगवान् महावीर, बुद्ध एवं गांधी जैसे व्यक्ति भारेत में पैदा होते रहे हैं और मानव को सदा यह पाठ सिखाते रहे हैं कि युद्ध एवं शस्त्रों से शान्ति प्राप्त नहीं हो सकती। दूसरे का खून बहाकर कोई व्यक्ति या राष्ट्र सुख की नींद नहीं सो सकता। दूसरों को सुख देकर ही इन्सान सुखी रह सकता है। हथियारों से नहीं, बल्कि प्रेम-स्नेह, त्याग एवं सेवा भाव से मनुष्य विश्व में शान्ति की सरिता बहा सकता है। आज के वैज्ञानिक एवं राजनेता—जो युगों से, शताब्दियों से युद्धों एवं शस्त्रों की शक्ति पर विश्वास करते हैं, कहने लगे हैं कि विश्व-शान्ति के लिए सेना एवं हथियार उपयोगी नहीं हैं, उनको समाप्त करके ही हम सुख-शान्ति से जी सकते हैं। परन्तु उनकी वाणी अभी तक सिर्फ कहने तक ही सीमित है। कथनी के अनुरूप चिन्तन एवं आचरण बना हो, ऐसा अभी तक दिखाई नहीं देता और इसका कारण यह है कि वह तामसिक भोजन या मांसाहार उन्हें शस्त्रों की भयानकता को जानते-देखते हुए भी उन शस्त्रों को समाप्त करने की ओर कदम नहीं उठाने देता। क्योंकि तामसिक भोजन से विचारों में उत्तेजना जागती है और वह तुरन्त युद्ध का भयावना रूप धारण करने लगती है। इसी उत्तेजक

मनोवृत्ति के कारण सभी राजनेता शस्त्रों की भयानकता को जानते हुए भी उनका परित्याग नहीं कर पाते। यह मांसाहार का ही प्रभाव है कि उनका विचार संहार की ओर ही अधिक गतिशील है।

भारत ने आध्यात्मिक क्षेत्र में प्रगति की है। इसी के फलस्वरूप भारत ने सत्याग्रह का आविष्कार किया अर्थात् बिना खून बहाए अहिंसा एवं प्रेम से आजादी प्राप्त की, शत्रु के साथ भी मित्रता के सम्बन्ध को निभाया और अब भी निभाए जा रहा है। इस तरह शान्ति की इस महाशक्ति का स्रोत भारत में ही बहा है, अन्यत्र नहीं। आज भी विश्व-शान्ति की स्थापना के लिए भारत अपना सहयोग दे रहा है। जहां पाश्चात्य वैज्ञानिक एवं राजनेता विश्व को मिटाने के लिए भयानक से भयानक आणविक शस्त्र तैयार करने में लगे हैं, वहां भारत विश्व को इस आग से, महा दावानल से बचाने के लिए प्रयत्नशील है। सभी राष्ट्र भारत की इस महाशक्ति की ओर उत्सुकता से देख रहे हैं और इसी शक्ति के कारण वैज्ञानिक-विकास में पिछड़े हुए भारत का भी विश्व के सम्पन्न राष्ट्रों के बीच महत्त्वपूर्ण स्थान है। क्या यह भारत के लिए कम गौरव की बात है? बस, यही भारत का विकास है, जिसे हम वास्तविक विकास कह सकते हैं। दुर्भाग्य से, आजकल इस विकास में कमी आ रही है। हमारा चिन्तन भी स्वार्थ साधने में लग रहा है। यह भारत के लिए चिन्ता की बात है। काश ! भारतीय अपने व्यक्तित्व एवं पारिवारिक स्वार्थों से ऊपर उठकर अपने पूर्वजों के मार्ग पर गतिशील हों तो भारत की उन्नति में चार चांद लगते देर नहीं लगेगी।

इतने लम्बे विवेचन के बाद यह स्पष्ट हो गया कि मांसाहार स्वभाव में उत्तेजना एवं क्रूरता जागृत करता है, विवेक को समाप्त करता है तथा पतन या विनाश की ओर ले जाता है। वस्तुत: आज तक मांसाहार के आधार पर किसी ने विकास नहीं किया। यदि कोई भौतिक क्षेत्र में फूला-फला भी है, तो वह स्वयं के एवं जगत के जीवों के लिए दु:ख रूप एवं कष्टकर ही सिद्ध हुआ है। अत: यह कहना गलत है कि मांसाहार के आधार पर पाश्चात्य देशों ने उन्नति की है। वस्तुत: उनका भौतिक एवं दिखावटी विकास विनाश एवं पतन रूप में ही हुआ है, अत: उसे विकास का नाम देकर मांसाहार को परिपुष्ट करना बुद्धि की जड़ता का द्योतक है।

प्रश्न--मांसाहार से शक्ति एवं साहस बढ़ता है। शाकाहारी दुर्बल और कायर होते हैं। उनमें अत्याचार और अन्याय का प्रतिकार करने का सामर्थ्य नहीं रहता। इससे अत्याचारियों

का हौसला बढ़ जाता है। अतः उनका दमन करने के लिए मांस सेवन करना चाहिए। संसार के सभी सैनिक-शक्ति से सम्पन्न देश सामिष-भोजी हैं। फिर इसका निषेध क्यों?

उत्तर—मांस खाने से बल बढ़ता है, यह कहना गलत है। यह तो सूर्य के उजाले की तरह साफ है कि शक्ति-संवर्धक मांसाहार नहीं, शाकाहार है। शरीर-विशेषज्ञों ने भी इस बात को स्वीकार कर लिया है। भारतीय संस्कृति के विचारकों ने शाक शब्द का प्रयोग उसके शक्ति संवर्धक गुण को देखकर ही किया है। शाक शब्द की परिभाषा करते हुए लिखा है—"शकनात् शाक:" या "शाक: शक्तिप्रदो ज्ञेय:" अर्थात्—शाक जीवनी शक्ति, साहस एवं स्फूर्ति का संचार करता है।

यह कहना भी युक्तिसंगत नहीं है कि सैनिक-शक्ति संपन्न देश ताकतवर ही होते हैं। वास्तव में देखा जाए तो उनके पास जो ताकत दिखाई देती है, वह उनकी शारीरिक एवं आत्मिक शक्ति नहीं, बल्कि हथियारों की शक्ति है। यह हम पहले बता चुके हैं कि मांसाहारी में सहास एवं सहिष्णुता का अभाव होता है। हम स्वयं देखते हैं कि मांसाहारी कितना डरपोक एवं बुजदिल होता है। वह बिना हथियार के एक कदम नहीं रख पाता। बड़े-बड़े ताकतवर देशों के राजनेताओं की सुरक्षा के लिए उनके आस-पास पुलिस एवं मिलिट्री का जाल बिछा रहता है, फिर भी उन्हें भय बना रहता है। वे हर समय भयभीत रहते हैं।

असहयोग आन्दोलन के समय की बात है। जयप्रकाश नारायण, क्रान्तिकारी पार्टी में थे। सरकार को उनसे बहुत खतरा था। उन पर बहुत कड़ी निगाह रखी जाती थी। जयप्रकाश बाबू एक दिन रेल में यात्रा कर रहे थे। एक अंग्रेज ऑफिसर ने उनके सूटकेस का निरीक्षण करना चाहा। जयप्रकाश जी ने कहा—इसमें ऐसी कोई वस्तु नहीं है जिस पर सरकार की पाबन्दी लगी है। पर ऑफिसर को विश्वास नहीं आया। उसने सूटकेस खोला, मजबूत कागज में मजबूती के साथ लपेटी हुई वस्तु को देखकर वह कांपने लगा। उसका साहस नहीं हो पा रहा था कि उसे खोल कर देखे। उसे भय हो रहा था कि कहीं इसमें बम्ब तो नहीं छिपाया है, जो हाथ का स्पर्श पाते ही फट जाए या न मालूम किस समय फट पड़े। उसने डरते हुए पूछा—इसमें क्या है? जयप्रकाश जी ने मुस्कराते हुए कहा—यह आप ही के लिए है। अब तो उसका भय और बढ़ गया। पर उसे सूटकेस में स्थित एक-एक वस्तु की जांच करनी थी। अत: एक सिपाही को बुलाया और उसे बण्डल खोलने को कहा। सिपाही ने बिना किसी हिचक के बण्डल खोलकर अफसर के हाथ में रखा तो साहब का चेहरा फक हो गया, उसका सिर शर्म से झुक गया। जयप्रकाश एवं अन्य देखने वाले खिल-खिलाकर हंस पड़े। उसमें से

निकला क्या? देशी जूतों का जोड़ा। इतना साहस शौर्य है मांसाहारियों में, कि जूते का बंडल भी उनके लिए पिशाच बन गया।

सत्य यह है कि मांसाहार शक्ति को बढ़ाता नहीं, क्षय करता है। वह तो क्रूरता को बढ़ाता है और क्रूरता एवं नृशंसता को शक्ति का नाम देना, शक्ति का उपहास करना है। क्रूरता ताकत नहीं बल्कि सबसे बड़ी कमजोरी है। अत: मांसाहार को शक्ति संवर्धक मानना सर्वथा गलत है। आप अंग्रेजों की शक्ति एवं ताकत देख चुके हैं। वे रिवॉल्वर के बिना बाहर घूम-फिर नहीं सकते। शस्त्रों से सुसज्जित होते हुए भी उन्हें खतरा बना रहता है। यह है उनकी शक्ति एवं शौर्य का परिचय। दूसरी ओर है महात्मा गांधी का जीवन, जो तोप और बन्दूकों के बीच भी खाली हाथ साहस के साथ घूमते-फिरते रहे। नोआखाली की यात्रा किसी मांसाहारी अंग्रेज के लिए स्वप्न में भी संभव नहीं हो सकती। तो महात्मा गांधी में यह आत्मिक शक्ति, साहस एवं शौर्य था कि वे बिना शस्त्र के एक सैनिक-शक्ति से युक्त राष्ट्र के साथ लड़ते रहे और अन्त में बिना शस्त्र के ही उसे परास्त कर दिया। उन्हें यह शक्ति, ताकत, मांसाहार से नहीं, शाकाहार से ही मिली थी। बापू सदा शाकाहारी रहे। अपने अध्ययन काल में इंग्लैंड में रहते हुए भी आपने सामिष भोजन को छुआ तक नहीं। यहां तक कि भयंकर रोग से ग्रस्त अवस्था में भी आपने मांस एवं अंडे का शोरबा तथा शराब पीने से स्पष्ट इन्कार कर दिया। वे मांस खाने की अपेक्षा मर जाना श्रेष्ठ समझते थे। सो बापू में जो इतनी शक्ति, साहस एवं शौर्य था वह सात्त्विक आहार एवं सात्त्विक रहन-सहन का ही प्रतिफल था।

इसके अतिरिक्त विश्व के माने हुए दो पहलवानों के शक्ति सामर्थ्य का अवलोकन करने पर हम अच्छी तरह समझ सकेंगे कि वनस्पत्याहार कितना ताकतवर है। एक ओर किंग-कांग का शरीर है—जिसका आहार एक दानव से कम नहीं है। जिसने अपने पेट को कब्रिस्तान बना रखा है। वह नाश्ते में 3 सेर दूध और 36 अंडे लेता है। भोजन के समय 6 मुर्गे, आध सेर मक्खन, डेढ़ सेर शाक-रोटी और एक सेर फलों का रस। रात के भोजन में 3 बत्तक, डेढ़ सेर शाक-रोटी और सोते समय दो सेर दूध पीता है। उसका चेहरा भी दानव-सा भयावना प्रतीत होता है। दूसरी ओर भारतीय पहलवान दारासिंह है—जो जन्म से शाकाहारी रहा है और अब भी शाकाहारी है। दूध, बादाम और फल उसका भोजन है। किंगकांग की तरह उसका शरीर मोटा नहीं है, परन्तु सुगठित, सुडौल, फुर्तीला और ताकतवर है। आपने समाचार पत्रों के पृष्ठों पर पढ़ा होगा कि दारासिंह उस दैत्याकार किंगकांग को कई बार कुश्ती में हरा चुका है। जबकि किंगकांग शरीर में अपने से दुबले दिखने वाले भारतीय पहलवान को एक

बार भी नहीं पछाड़ सका। यह मांसाहार पर शाकाहार की विजय है। इससे स्पष्ट हो जाता है कि जो शक्ति, जो ताकत शाकाहार में है वह मांसाहार में नहीं है। मांसाहार से आवेश, क्रोध एवं वासना में अभिवृद्धि होती है और शाकाहार से क्षमा, शान्ति एवं सात्त्विकता का विकास होता है।

प्रश्न—आज देश में जनसंख्या बढ़ रही है और अन्न का उत्पादन पर्याप्त मात्रा में नहीं हो रहा है। अत: अन्न की कमी को पूरा करने के लिए मांस खाया जाए तो उसमें क्या दोष है?

उत्तर—यह तर्क बिल्कुल गलत है कि अनाज की कमी मांस से पूरी हो जाती है। यदि ऐसा होता तो बंगाल-बिहार आदि प्रांतों के लोग जो अधिक संख्या में मांसाहारी हैं, अकाल के समय भूख से क्यों मरते हैं और अन्न की मांग क्यों करते हैं? इससे स्पष्ट है कि मांस अन्न की कमी को पूरा नहीं करता। क्योंकि मनुष्य जंगली जानवरों की तरह केवल मांस खाकर पेट नहीं भर सकता। यदि वास्तव में देखा जाए तो वह मांस-मच्छली पेट भरने के लिए ही नहीं, बल्कि जिह्वा के स्वाद के लिए खाता है। इसलिए मांस से अन्न की कमी पूरी नहीं होती, बल्कि बढ़ती है। जैसे—केवल रूखी-सूखी रोटी खाई जाए तो मनुष्य थोड़े से भोजन से काम चला सकता है। परन्तु जब वह घी एवं मक्खन लगाकर शाक-सब्जी, मिर्च-मसाले एवं चटनी आदि के साथ खाता है, तो शाक-सब्जी आदि के कारण रोटी में कमी नहीं होती, बल्कि अधिक खाता है। इसी तरह मांस आदि के साथ भी अन्न की खपत बढ़ती है। अत: अन्न की कमी मांस खाने से पूरी हो जाएगी, यह आशा रखना बिल्कुल गलत है। जितना मांसाहार बढ़ेगा, उतना ही अन्न का अकाल पड़ेगा। क्योंकि मांस के साथ अन्न की खपत तो बढ़ जाएगी और उत्पादन कम हो जाएगा। कारण स्पष्ट है कि कृषि से भी अधिक जगह मांसाहार के उत्पादन के लिए घेर ली जाती है। कृषि-वैज्ञानिकों का कहना है कि मांसाहार प्राप्त करने के लिए प्रति व्यक्ति को ढाई एकड़ जमीन चाहिए। परन्तु शाकाहार के लिए प्रति व्यक्ति डेढ़ एकड़ जमीन पर्याप्त है। इस मांस-मत्स्य उद्योग को बढ़ावा दिया गया तो वह अधिक जगह घेर लेगा और परिणामस्वरूप अन्न का उत्पादन घट जाएगा। अत: कृषि-योग्य भूमि को राक्षसी भोजन प्राप्त करने के लिए लगाना अनुचित एवं व्यय-साध्य ही नहीं, राष्ट्रद्रोह है, देश में अकाल की भयानक स्थिति को पैदा करना है। अस्तु, मांसाहार से अन्न की कमी पूरी होनी असंभव है। उसे पूरा करने के लिए अन्य तरीके हैं। उसके लिए श्रम एवं कृषि-योग्य भूमि अपेक्षित है। अत: यह तर्क कोई मूल्य नहीं रखता कि अन्न की कमी को पूरा करने के लिए

मांसाहार करने में दोष नहीं है। उससे दोष, दु:ख एवं संकटों में अभिवृद्धि ही होती है।

प्रश्न—प्रकृति का नियम है कि सबल निर्बल को खा जाता है। मक्खी को मेंढक खा जाता है, मेंढक को सर्प और सर्प को नेवला समाप्त कर देता है। तथा बड़ी मछली छोटी मछली को निगल जाती है। "**मत्स्य गलागल न्याय**" तो प्रसिद्ध ही है। ऐसी स्थिति में यदि मनुष्य किसी पशु-पक्षी को उदरस्थ कर जाता है, तो इसमें प्रकृति के विपरीत कार्य करने जैसी बात तो नहीं है। फिर मांसाहार का निषेध क्यों किया जाता है?

उत्तर—यह नियम प्रकृति का नहीं, पशु जगत का है और वह भी उन्हीं पशु-पक्षियों का है, जो मांसाहारी हैं, हिंस्र जन्तु हैं, सर्व-साधारण पशु-पक्षियों का भी ऐसा स्वभाव नहीं है। परन्तु, मनुष्य सारे प्राणी जगत से ऊपर है। अत: उसकी हिंस्र-पशुओं के साथ तुलना करना तथा अपने स्वार्थ को पूरा करने के लिए "मत्स्य-न्याय" का उदाहरण देना अपनी अज्ञानता को प्रकट करना है। हिंस्र पशुओं में एक-दूसरे को या बड़े द्वारा छोटे को निगलने का दोष पाया जाता है, यह उनकी अज्ञानता का परिचायक है। उनमें बुद्धि, विवेक एवं सोचने-समझने की शक्ति का पूरा विकास नहीं हो पाया है। परन्तु, मनुष्य को सोचने-विचारने के लिए दिमाग मिला है और उसकी बुद्धि भी काफी विकसित है। फिर भी यदि वह विवेकपूर्वक गति नहीं करता है, अपनी शक्ति निर्बल एवं कमजोर प्राणियों के संरक्षण में नहीं लगाता है, तो वह हिंस्र पशु से ऊपर नहीं उठ पाया है, ऐसा कहना चाहिए। भारतीय संस्कृति के गायक ने भी कहा है –

आहार–निद्रा–भय–मैथुनं च, सामान्यमेतत् पशुभिर्नराणाम्।
धर्मो हि तेषामधिको विशेष:, धर्मेण हीना पशुभि: समाना:।।

अर्थात्—आहार, निद्रा, भय एवं मैथुन-सेवन की दृष्टि से मनुष्य और पशु में विशेष अन्तर नहीं है। ये चारों बातें साधारणत: दोनों में पाई जाती हैं। परन्तु दोनों में अन्तर करने वाला धर्म है, विवेक है। इसी विशेषता के कारण मनुष्य पशु से श्रेष्ठ माना जाता है। अत: जो व्यक्ति धर्म एवं विवेक से रहित है, वह मनुष्य होते हुए भी पशु के समान है।

इससे यह स्पष्ट हो गया कि मनुष्य की मनुष्यता निर्बल एवं असहाय को निगलने में नहीं, बल्कि उसकी सुरक्षा करने में है। अपने पेट को मुर्दा जानवरों की कब्र बनाना इन्सान का काम नहीं है, वह तो गृद्ध और कौवों का काम है। इन्सान जीवित पशुओं पर छुरी, तलवार एवं गोली चलाते हुए विचार नहीं करता। यह उसकी अज्ञानता एवं अमानुषिक वृत्ति ही है।

इस तरह के कार्य को उचित नहीं कहा जा सकता और न प्रकृति के नियम का पालन ही कहा जा सकता है। ''मत्स्य-न्याय'' हिंस्र जन्तुओं में चलता है, पर उन्हें कोई आदर एवं सम्मान के साथ नहीं देखता। मानव-जगत में जहां कहीं बड़ा छोटे को दबाता हुआ देखा जाता है, वहां तुरन्त 'मत्स्य न्याय' का कड़े शब्दों में विरोध होता है, उसे समाप्त करने के लिए आन्दोलन चलाया जाता है। इससे स्पष्ट है कि मानव 'मत्स्य-न्याय' से ऊपर उठ चुका है। वह अपने लिए 'मत्स्य-न्याय' नहीं चाहता। वह नहीं चाहता कि कोई बड़ा व्यक्ति मुझे निगल जाए। जब वह अपने लिए 'मत्स्य-न्याय' नहीं चाहता, तब उसे दूसरे प्राणी को निगलने के लिए उसका सहारा लेना सर्वथा अनुचित है। मनुष्य को कोई अधिकार नहीं है कि वह अपने से कमजोर 'पशु-पक्षियों को निगल जाए। मनुष्य के लिए यही उचित है कि वह 'मत्स्य-न्याय' या हिंस्र पशु-जगत से ऊपर उठकर प्राणी-जगत की रक्षा करने का प्रयत्न करे। अपनी शक्ति निर्बल प्राणियों को समाप्त करने में नहीं, बल्कि उनके संरक्षण में लगाए।

अण्डा मांसाहार है

प्रश्न—अण्डे में तो जीव नहीं होता, अत: उसका सेवन करने में कोई पाप या दोष नहीं हो सकता?

उत्तर—हम सदा देखते हैं कि पक्षी अण्डे में से निकलते हैं और वे पक्षी सजीव होते हैं। जब अण्डे में से निकलने वाले पक्षी सजीव हैं, तब अण्डा निर्जीव कैसे हो सकता है। निर्जीव अण्डे से सजीव पक्षी की उत्पत्ति असंभव है। वही बीज अंकुरित, पल्लवित एवं फलित हो सकता है, जो सजीव है। भूना हुआ या अन्य शस्त्र से निर्जीव बना दिया गया बीज कभी भी अंकुरित नहीं होता। उसी तरह उसी अण्डे में से पक्षी का जन्म होता है, जो सजीव है। जो अण्डा किसी कारण से खराब हो गया है या हिला-हिलाकर निर्जीव कर दिया गया है, वह शीघ्र ही सड़ जाएगा और उसमें से पक्षी पैदा नहीं होगा। अत: अण्डा निर्जीव नहीं, सजीव है, प्राणवान है।

शब्दकोष एवं धर्मशास्त्रों में पक्षी को द्विजन्मा कहा है। इसका तात्पर्य यह है कि पहले वह अण्डे के रूप में जन्म लेता है और फिर पक्षी के रूप में। इस तरह उसके होने वाले दो जन्मों से यह स्पष्ट हो जाता है कि वह सजीव है। दूसरी बात अण्डे की उत्पत्ति मादा पक्षी के गर्भ से होती है। जैसे गर्भ से उत्पन्न हुए अन्य पशु एवं मानव सजीव है, वैसे अंडा भी सजीव है। क्योंकि वह नर एवं मादा के संभोग का प्रतिफल है।

सजीव प्राणियों को अपने शरीर को स्वस्थ एवं व्यवस्थित रखने के लिए भोजन की आवश्यकता होती है। बिना खाए-पीए वे अधिक दिन जीवित नहीं रह सकते और नवजात शिशु तो भोजन के अभाव में बहुत समय तक जीवित नहीं रह सकता। उसे तो जन्मते ही तुरन्त भोजन की आवश्यकता होती है। यही स्थिति अण्डे की है, उसे भी आहार न मिले तो वह अधिक समय तक जीवित नहीं रह सकता। इसी कारण पक्षी अण्डे के ऊपर बैठते हैं और मादा पक्षी के शरीर की गर्मी से अंडे को पोषण मिलता है और उसके शरीर का निर्माण होता है। यदि मादा पक्षी की गर्मी का पोषण अण्डे को न मिले तो वह थोड़े-से समय में सूख जाएगा, निर्जीव हो जाएगा। इससे स्पष्ट प्रमाणित होता है कि अण्डे में सजीवता है। वैज्ञानिकों ने भी सूक्ष्म दर्शक यन्त्रों से निरीक्षण करके उसकी सजीवता को स्वीकार कर लिया है। इतने पर भी कुछ लोग उसे निर्जीव बताते हैं और व्हाइट पोटेटो (White Potatoes) अर्थात् सफेद आलू कहकर उसे खाने में कोई दोष नहीं मानते। यह उनके अज्ञान एवं स्वार्थी मनोवृत्ति का ही परिणाम है। अपनी जबान का स्वाद लेने के लिए मनुष्य जघन्य से जघन्य कार्य करते हुए भी नहीं हिचकिचाता। यह उसका नैतिक पतन है।

प्रश्न—यदि अण्डा सजीव है तो उसे तोड़ने पर दु:खानुभूति होनी चाहिए, जैसे कि अन्य पशु-पक्षियों को मारते समय दु:खानुभूति होती है, परन्तु अण्डे को तोड़ते समय उसमें दु:खानुभूति नहीं होती, इससे उसे सजीव कैसे माना जाए?

उत्तर—अण्डे में भी दु:खानुभूति होती है। यह बात अलग है कि वह उसे अभिव्यक्त नहीं कर सकता। जैसे—गूंगे-बहरे एवं हाथ-पैर आदि अंगोपांगों से रहित व्यक्ति पर शस्त्र का प्रहार किया जाए तो उसे दु:ख होगा या नहीं? अवश्य होगा। इसी तरह अण्डे में स्थित जीव को भी तोड़ते समय दु:खानुभूति होती है, परन्तु वह उसे अभिव्यक्त नहीं कर सकता है। क्योंकि अंगोपांग रहित मांस के पिंडवत् व्यक्ति की तरह उसके पास भी अपने दु:ख को प्रकट करने के साधनों का अभाव है। इसी कारण वह दु:ख-सुख को व्यक्त नहीं कर पाता। परन्तु इसका अर्थ यह नहीं कि उसको उसका संवेदन ही नहीं होता। संवेदन तो होता ही है।

प्रश्न—अण्डे को तोड़ते समय उसमें से कोई शरीर-धारी जीव नहीं निकलता, केवल स्निग्ध, तरल पदार्थ ही निकलता है। यदि वह सजीव है तो उसे तोड़ने पर उसमें सजीव प्राणी की स्पष्ट प्रतीति क्यों नहीं होती?

उत्तर—आत्मा या जीव का चाक्षुष प्रत्यक्ष नहीं होता। वह जिस शरीर में रहता है, उसमें होने वाली हरकतों के द्वारा ही हम उसकी सजीवता को जान-देख सकते हैं। यही कारण है

कि अण्डे को तोड़ते समय उसमें जीव दिखाई नहीं देता। क्योंकि वह चाक्षुष प्रत्यक्ष वाला नहीं है और उस अण्डे में अभी तक ऐसा शरीर नहीं बना है, जिसके द्वारा उस प्राणी के जीव का स्पष्ट परिचय मिल सके। अण्डे के रूप में उत्पन्न होने के कई दिनों बाद उसमें स्थित तरल पदार्थ को जीव अपना शरीर बनाता है। मनुष्य की भी यही स्थिति है, माता के गर्भ में आते ही उसका शरीर नहीं बन जाता है। कई दिनों तक वह तरल ही रहता है, उसके बाद अपने शरीर का ढांचा बनाता है। यदि कभी एक-डेढ़ महीने का गर्भ ही गिर जाए तो स्त्री के गर्भाशय से भी लालिमा युक्त तरल पदार्थ का ही प्रस्त्रवण होता है, किसी आकार-प्रकार वाले जीव का प्रस्त्रवण नहीं होता। इसी तरह अण्डे में स्थित तरल पदार्थ को शरीर रूप में परिवर्तित होने में समय लगता है और उससे पहले ही तोड़ने पर उसमें किसी शरीर आकार के स्थान में तरल पदार्थ ही मिलेगा। पर इससे उसे निर्जीव नहीं कहा जा सकता। क्योंकि उसी तरल पदार्थ से पक्षी के शरीर का निर्माण होता है।

प्रश्न—कुछ अण्डे ऐसे होते हैं जिनमें से पक्षी के बच्चे नहीं निकलते। अत: वे तो निर्जीव ही होते हैं, उनके खाने में कोई पाप या दोष नहीं है क्या?

उत्तर—यह तर्क सही नहीं कहा जा सकता। क्योंकि जिस शरीर में से—चाहे वह शरीर अण्डे का हो, पशु का हो, पक्षी का हो या मनुष्य का हो--जीव निकल जाता है, तो फिर वह निर्जीव शरीर अधिक समय तक उसी रूप में नहीं रह पाता। थोड़ी देर के बाद वह सड़ जाता है, बिगड़ जाता है, उसमें अनेक कीटाणु पैदा हो जाते हैं, उसमें से दुर्गंध आने लगती है। परन्तु अण्डे की यह स्थिति नहीं होती। वह उसी रूप में मौजूद रहता है। फिर हम यह कैसे कह सकते हैं कि उसमें जीव नहीं है? हो सकता है कि मादा पक्षी द्वारा दिए गए सभी अण्डों में से पक्षी न निकलें, कुछ अण्डे पक्षी के निकलने के समय से पहले मर जाएं और फिर उसमें कुछ न रहे या किसी कारण उसमें (अण्डे में) रहा हुआ रस—जिससे पक्षी का शरीर बनता है, समय से पहले ही सूख जाए। परन्तु इससे यह सिद्ध नहीं होता कि जिस समय लोग अण्डा खाते हैं, उस समय भी वह निर्जीव है। यदि वह निर्जीव होता तो फिर उसमें रस नहीं रहेगा। उसमें रहा हुआ रस उसकी सजीवता को सिद्ध करता है। इस दृष्टि से अण्डा खाना भी हिंसा है, पाप है। यदि थोड़ी देर के लिए हिंसा की दृष्टि को छोड़ भी दें तब भी अण्डा एवं मांस मानव के लिए अभक्ष्य हैं। चाहे कैसा भी अण्डा या पशु-पक्षी क्यों न हो वह नर-मादा के द्वारा सेवित मैथुन से ही पैदा होता है। आजकल कुछ वैज्ञानिक नलियों में अण्डे एवं पशु पक्षी पैदा करने का प्रयत्न करने लगे हैं, प्रयोगशालाओं में इसका परीक्षण हो रहा है। वहां भले ही

नर-मादा की प्रत्यक्ष मैथुन-क्रिया दिखाई न दे, परन्तु उनका जन्म उन्हीं चीजों से होता है। मैथुन क्रिया से वीर्य और रज का संयोग होता है और उससे मादा के गर्भ में सन्तान की उत्पत्ति होती है। वैज्ञानिक भी नर और मादा के वीर्य और रज कणों को एक नली में मिलाते हैं और जितनी गर्मी एवं अन्य साधन-सामग्री गर्भ में मिलती है, वही सारी सामग्री उसे वैज्ञानिक साधनों द्वारा पहुंचाई जाती है। जिससे उस प्रकार के प्राणी की उत्पत्ति होती है। इससे स्पष्ट है कि अण्डा चाहे गर्भ से पैदा हुआ हो या वैज्ञानिक साधनों से उत्पन्न किया गया हो, अब्रह्मचर्य ही का प्रतिफल है। अत: मनुष्य के लिए वह अभक्ष्य है। आध्यात्मिक दृष्टि से अण्डा एवं मांस मनुष्य का आहार कदापि नहीं हो सकता।

प्रसन्नता की बात है कि पूर्व में उदित हुआ अहिंसा का प्रकाशपुञ्ज कई शताब्दियों के बाद पश्चिम के क्षितिज पर फैल रहा है। भौतिकवाद की चकाचौंध में चुंधियाए मानव अहिंसा के प्रकाश में अपने जीवन को मोड़ दे रहे हैं। मांसाहार कम करने के लिए पाश्चात्य देशों ने मिलकर "All World Vegetarian Congress" 'विश्व शाकाहारी कांग्रेस' की स्थापना की है। उक्त कांग्रेस पाश्चात्य देशों की जनता के मन में अहिंसा, दया एवं करुणा के भाव जगाकर आमिष आहार को रोकने का प्रयास कर रही है। उसके सद्प्रयत्न से हजारों व्यक्तियों ने मांसाहार का परित्याग किया है। पाश्चात्य देशों में दिनों-दिन शाकाहार का क्षेत्र विस्तृत हो रहा है। 15वें शाकाहार सम्मेलन नई दिल्ली एवं वाराणसी में आए हुए बर्मा के प्रतिनिधि ने गौरव का अनुभव करते हुए यह कहा कि बुद्ध जयन्ती पर बर्मा सरकार ने सारे देश में 6 दिनों तक मांसाहार पर प्रतिबन्ध लगा दिया था। इस प्रतिबन्ध में मुसलमान भी शामिल थे। इस तरह युग-युगान्तर से आमिष-भोजी रहे देश आज अहिंसा के महत्त्व को समझ रहे हैं। वे यह समझ रहे हैं कि आमिष आहार ही अशान्ति एवं युद्धों का जनक है। यह मानव के लिए वरदान नहीं, अभिशाप है। शक्ति-वर्धक नहीं, शरीर-दूषक है। वह मनुष्य की आध्यात्मिक ताकत तथा दया, क्षमा, सहिष्णुता आदि मानवोचित गुणों का शोषक है, पोषक है तो केवल दानवी भावना का।

ऐलोपेथिक-टॉनिक-शक्तिवर्धक औषध सामिष भोजन है

आजकल ऐलोपेथिक चिकित्सा प्रणाली अधिक चल रही है। अपने आपको निरामिष-भोजी मानने वाले व्यक्ति इंजेक्शन एवं अन्य टॉनिकों का उपभोग करते हैं–जिनमें मांस, चर्बी, अण्डे का शोरबा एवं मछली का तेल (Cod Liver Oil) मिला रहता है। बुखार

एवं अन्य बीमारी से उत्पन्न हुई कमजोरी को दूर करने के लिए डॉक्टर प्राय: कॉड लिवर आयल देते हैं, या Vitamin-A (विटामिन ए) की गोलियां देते हैं–जिनमें Cod Liver Oil मिला रहता है। इसके सिवाय आजकल लीवर ऐक्सट्रेक्ट (Liver Extract) के इंजैक्शनों का भी अत्यधिक प्रयोग होने लगा है। ये इंजैक्शन बैल तथा घोड़ों के Liver (जिगर) से बनाए जाते हैं। ऐसी दवाइयों का उपयोग मांसाहार नहीं तो और क्या है? आजकल श्रावक एवं साधु भी ऐसे इंजैक्शन और टॉनिकों का उपयोग करने लगे हैं। अहिंसा के परिपालकों के लिए यह बहुत ही चिन्तनीय प्रश्न है।

वस्तुत: देखा जाए तो दवा रोग को दूर करने का साधन है। ऐसी अनेक जड़ी-बूटियां एवं वनस्पति तथा खनिज पदार्थों से बनी औषधियां हैं, जो रोग-निवारण में बहुत उपयोगी हैं। और यह भी कोई निश्चय नहीं है कि भ्रष्ट दवाओं का सेवन करने से मनुष्य कभी मरेगा नहीं या पूर्णतया रोगमुक्त हो जाएगा। अस्तु, मनुष्य को अपने धर्म पर विश्वास रखकर भ्रष्ट चीजों से सदा दूर रहना चाहिए। जब गांधी जी दक्षिण अफ्रीका में थे तब कस्तूरबा सख्त बीमार हो गई थी। डॉक्टर ने कस्तूरबा को मांस का शोरबा देने के लिए कहा, और साथ में यह भी कह दिया कि यदि मांस का शोरबा नहीं दिया गया तो जीवन खतरे में है। गांधी जी ने स्पष्ट शब्दों में कहा कि जो होना होगा वह होगा परन्तु मैं उसे शोरबा नहीं दूंगा। बापू ने जब बा को पूछा तो उन्होंने सीधी-सादी भाषा में कहा–शोरबा पीकर इस मानव देह को मैं अपवित्र नहीं करना चाहती। उनकी दृढ़ श्रद्धा थी। सात्त्विक उपचार चलता रहा और वे स्वस्थ हो गईं। इसी तरह बापू स्वयं बीमार पड़े तथा उनका पुत्र देवदास बीमार पड़ा तब भी उन्होंने ऐसे अभक्ष्य पदार्थ स्वयं लेने एवं अपने पुत्र को देने से स्पष्ट इन्कार कर दिया। अस्तु, अहिंसा एवं दया-प्रेमी मानव के मन में दृढ़ विश्वास होना चाहिए। बीमारी के समय तो क्या, मृत्यु-शय्या पर पड़े हुए भी ऐसे पदार्थों के आसेवन का विचार तक नहीं करना चाहिए।

इस तरह हम देख चुके हैं कि धार्मिक, आध्यात्मिक, स्वास्थ्य-शक्ति एवं आर्थिक आदि सभी दृष्टियों से मांसाहार नुकसानप्रद है। यह नीति का वाक्य है कि मांसाहारी मनुष्य के जीवन में दया का निवास नहीं रहता–"**मांसाशिनि कुतो दया?**" जिसके मन में पशु-पक्षियों के प्रति दया और करुणा का भाव नहीं होता, उसके हृदय में इन्सान के प्रति दया, करुणा एवं सम्मान की भावना नहीं जग सकती। आज जो मनुष्य में क्रूर भावना अधिक बढ़ रही है, उसका कारण तामसिक आहार ही है। आजकल भोजन के सम्बन्ध में मनुष्य इतने

नीचे स्तर पर पहुंच गया है कि उसे भक्ष्याभक्ष्य का जरा भी विवेक नहीं रहा है। 14-7-1959 के दैनिक हिन्दुस्तान में "यह मांसाहारी दिल्ली" शीर्षक से एक समाचार प्रकाशित हुआ है। उसमें लिखा है कि "राजधानी (दिल्ली) में मांस खाने की प्रवृत्ति किस सीमा तक पहुंच चुकी है उसका आपको इस बात से पता चलेगा कि दिल्ली में प्रतिदिन 1 लाख 40 हजार अण्डे तथा 700 मुर्गियों की खपत है। इसमें बकरे तथा अन्य पशु-पक्षियों के गोश्त की खपत शामिल नहीं है। बताया जाता है कि राजधानी की मांग इससे भी अधिक है और इस मांग को पूरा करने के लिए कुछ ठोस कदम उठाये जा रहे हैं। इस योजना पर 4 लाख 75 हजार रुपये खर्च होने का अनुमान है।"

इन आंकड़ों से हम अनुमान लगा सकते हैं कि मनुष्य का जीवन कितना भयावह बनता जा रहा है। अहिंसा के बल पर आजादी प्राप्त करने वाले भारत में मांसाहार की अभिवृद्धि होते हुए देख कर हार्दिक दुःख होता है। जिस महात्मा गांधी ने आजादी के लिए अपने जीवन की कुर्बानी की; अहिंसा, दया, करुणा, और प्रेम-स्नेह के हथियार से जो निरन्तर लड़ता रहा, उसी के अनुयायी आज मांसाहार को प्रोत्साहन दे रहे हैं। भारत-सरकार एक ओर अहिंसा और शान्ति का राग अलाप रही है और दूसरी ओर आधुनिक ढंग के नए-नए कत्लखाने खोलने तथा मुर्गी, अण्डों एवं मत्स्य के उत्पादन को बढ़ाने के लिए मुक्त हस्त से सहयोग दे रही है। यही कारण है कि सरकार की शान्ति-योजनाएं सफल नहीं हो पातीं। गला फाड़-फाड़ कर शान्ति-शान्ति चिल्लाते रहने पर भी आज राष्ट्रीय एवं अन्तर्राष्ट्रीय क्षितिज में अशान्ति के बादल मंडरा रहे हैं। अशान्ति की आग प्रतिक्षण बढ़ती ही जा रही है। इसका मूल कारण यह है कि हमारा खान-पान और रहन-सहन सात्त्विक एवं शान्तिदायक नहीं है।

याद रखिए कि जिस रसोई-घर में कत्लखाना चल रहा है, खून के फव्वारे उछल रहे हैं, उस घर में, उस परिवार में शान्ति कैसे बनी रह सकती है? जीवन को शान्त-प्रशान्त बनाए रखने के लिए घर का वातावरण शान्त एवं सात्त्विक होना चाहिए। भोजनशाला में ऐसी कोई वस्तु नहीं आनी चाहिए जिसके लिए हमारे जैसे प्राणधारी पशु-पक्षियों को अपने अमूल्य जीवन से हाथ धोना पड़ा हो। याद रखिए कि भोजनशाला को कत्लखाना एवं अपने पेट को मृत पशु-पक्षियों की कब्र बनाकर मनुष्य कभी भी शान्ति नहीं पा सकता। अस्तु, इन्सान को चाहिए कि वह छोटे-बड़े सभी प्राणियों की रक्षा एवं दया करे। स्वयं सुखपूर्वक जीए और साथ में संसार के अन्य प्राणियों को भी जीने दे, शान्ति एवं स्वतन्त्रता से विचरने दे। इसी में मनुष्य की महानता है, विशेषता है।

मनुष्य को जगत का बादशाह या सिरताज कहा गया है। इसका यह अर्थ नहीं है कि वह संसार के अन्य सभी प्राणियों को निगल जाए। याद रखिए, मनुष्य की महानता पशु-पक्षियों को खाने में नहीं है। यह काम तो पानी में रहने वाली मछली एवं अन्य जंगली जानवर तथा कीड़े-मकोड़े भी करते हैं। ''मत्स्य गलागल न्याय'' की कहावत हमारे यहां प्रसिद्ध ही है। जैसे बड़ी मछली छोटी मछली को खा जाती है, वैसे ही बड़ा एवं सबसे श्रेष्ठ माना जाने वाला मानव भी पशु-पक्षियों को अपने पेट के खड्डे में डालता रहे तो वह मत्स्य एवं अन्य जंगली जानवरों से श्रेष्ठ है, यह कहना भारी भूल होगी। एक-दूसरे को खाने का काम तो जंगली जानवर भी करते हैं, परन्तु एक-दूसरे की रक्षा करने का, प्रत्येक प्राणी के जीवन को सुखी बनाने का, आगे बढ़ाने का, गिरते हुए जीवन को सहारा देने का काम पशु नहीं, मानव ही कर सकता है। इसी कारण वह प्राणी-जगत् में सबसे श्रेष्ठ है, महान् है। मानव के इसी गुण के कारण ही भारतीय संस्कृति के सभी विचारकों ने मानव की श्रेष्ठता एवं महानता के गुण गाए हैं।

कहना चाहिए कि आज मनुष्य अपनी ज्येष्ठता एवं श्रेष्ठता के गुण को भूल गया है। वह दूसरों को हजम करके, खा करके बड़ा बनना चाहता है। वह दूसरों की शक्ति एवं ताकत छीनकर शक्ति-सम्पन्न बनने का इच्छुक है। वह दूसरे प्राणियों को बर्बाद करके आगे बढ़ने की आकांक्षा रखता है। वह दूसरों को निर्धन एवं निष्प्राण बनाकर अपने खजाने भरने का प्रयत्न करता है और यही कारण है कि वह पशुता से ऊपर नहीं उठ पाता। आज मानव विज्ञान के क्षेत्र में बहुत आगे बढ़ गया है। परन्तु जीवन-व्यवहार के क्षेत्र में वह पशु-जगत से ऊपर उठा हो, ऐसा दिखाई नहीं देता। वह चील और गिद्धों की तरह आकाश में उड़ना तो सीख गया, पर इन्सान की तरह जमीन पर चलना भूल गया। क्योंकि उसकी दृष्टि चील और गिद्ध से विशाल नहीं बनी। जैसे चील अनन्त आकाश में उड़ानें भरते समय भी पृथ्वी पर रेंगने वाले छोटे-मोटे जन्तुओं को खाने की ओर दृष्टि लगाए रहती है। इसी तरह इन्सान भी आकाश में तो उड़ने लगा, परन्तु दूसरे प्राणियों को समाप्त करने की तथा दूसरे जीवधारियों के मांस और खून से अपने शरीर को मोटा-ताजा बनाने की संकुचित दृष्टि नहीं बदली। आकाश में उड़ना सीखकर भी वह चील और गिद्ध की तरह पशु-पक्षियों के मांस पर टूट पड़ता है। अस्तु, आकाश में उड़ने में कोई विशेषता नहीं है। विशेषता है-अपने हृदय एवं अपनी दृष्टि को विराट् एवं व्यापक बनाने की। अपने हित एवं सुख के लिए दूसरे प्राणियों के हित और सुख को भी सुरक्षित रखने की। इस दृष्टि में ही इन्सानियत छुपी हुई है। आज इन्सान को इसे ही

पाना है और इसे इन्सान की तरह जमीन पर चल कर ही पाया जा सकता है। अत: आज आवश्यकता इस बात की है कि मनुष्य एक इन्सान की तरह चलना सीखे। मानव की तरह जीना एवं रहना सीखे। शाकाहार पर संतोष करके प्रत्येक प्राणी का सम्मान करना सीखे।

3. शराब

मदिरा भी एक बड़ा दुर्व्यसन है। अहिंसा-निष्ठ एवं दया-प्रेमी मानव के लिए यह भी सर्वथा त्याज्य है। क्योंकि इसके बनाने में महाहिंसा होती है और इसका सेवन करके मानव अपनी बुद्धि, ज्ञान एवं मानवता को खो बैठता है। जौ, ताड़ का रस, अंगूर का रस तथा गुड़ आदि कई पदार्थों से शराब बनाई जाती है। परन्तु इसे तैयार करने के लिए इन सभी पदार्थों को पहले सड़ाया जाता है, विकृत किया जाता है। उन्हें सड़ाए बिना उनमें मादकता नहीं आती, इसलिए उक्त पदार्थों में मादकता लाने के लिए उन्हें सड़ाना जरूरी है। जब किसी पदार्थ को सड़ाया जाता है, विकृत बनाया जाता है या वह पदार्थ स्वयं विकृत हो जाता है तो उसमें त्रस जीवों की उत्पत्ति हो जाती है। वैज्ञानिक भी इस बात को मानते हैं कि खाद्य पदार्थ जब बिगड़ जाते हैं तो उनमें कीटाणु पैदा हो जाते हैं और जब उस विकृत पदार्थ को पका कर मदिरा या शराब तैयार की जाती है, तो उसमें उत्पन्न हुए अनेकों त्रस प्राणियों के प्राणों का नाश हो जाता है। इस तरह शराब के बनने में अनेक त्रस प्राणियों की हिंसा होती है। अत: अहिंसा, दया, करुणा एवं मानवता की पहली सीढ़ी पर कदम रखने वाले मानव को मदिरा-सेवन से सर्वथा बचना चाहिए।

शराब शब्द उर्दू भाषा का है। यह शब्द शर + आब इन शब्दों के संयोग से बना है। शरारत, शैतानी या धूर्तता को शर कहते हैं और आब पानी को कहते हैं। इस तरह शराब का अर्थ हुआ- वह पानी जो इन्सान को शैतान बना दे। वस्तुत: शराब ऐसा ही पदार्थ है। इसका सेवन करने से मनुष्य के जीवन पर मादकता छा जाती है। उसके ज्ञान-तन्तु नशे से आवृत्त हो जाते हैं। उनमें सोचने-समझने की शक्ति नहीं रह जाती है। अपने हित-अहित का विवेक नहीं रह जाता है। वह मदिरा के नशे में बेभान हो जाता है, और तो क्या उस समय उसे अपने शरीर का भी ख्याल नहीं रहता। वह मां-बहिन और पत्नी के भेद को भी भूल जाता है। उसकी वाणी का विवेक समाप्त हो जाता है। इस तरह मदिरा मनुष्य को मनुष्य नहीं रहने देती। वह उसकी बुद्धि को, सोचने-समझने की शक्ति को, विवेक को समाप्त कर देती है, उसके बल को क्षीण करती है। उसे धर्म-कर्म से दूर हटाती है।

मदिरा में आसक्त व्यक्ति अपने आत्मगुणों को भूल जाता है। उसका खान-पान एवं रहन-सहन बदल जाता है। उसके मन-मस्तिष्क में रात-दिन शैतानी छाई रहती है और शैतानियत की भावना को पूरा करने के लिए वह अनेक पापों की ओर प्रवृत्त होता है। दुनिया का कोई ऐसा पाप नहीं, जिसमें वह प्रवृत्त होने से चूकता हो। एक दुर्व्यसन के कारण अनेकों दुर्व्यसन उसे आ घेरते हैं। क्योंकि मदिरा मादक वस्तु है। उसका सेवन करने पर शरीर में मादकता छा जाती है और साथ में खुश्की भी बढ़ जाती है। खुश्की को दूर करने के लिए उसे तर पदार्थ खाने होते हैं। प्रत्येक मादक-नशीली वस्तु का सेवन करने के बाद सरस आहार करने की रुचि जागृत होती है। शराब के समान ही अफीम, भांग, गांजा, सुल्फा आदि तमाम नशीले पदार्थ गर्म एवं खुश्क होते हैं और ज्ञान-तन्तुओं को क्षीण करने वाले होते हैं। इसलिए मनुष्य को नशे मात्र से बचकर रहना चाहिए। उनकी खुश्की को दूर करने के लिये नशे-बाज व्यक्ति पौष्टिक पदार्थ खाते हैं। कई लोग मांस-अण्डा एवं दूध-मलाई-मक्खन आदि पदार्थों का इस्तेमाल करते हैं। इससे मन में विकार जगता है, कामेच्छा बढ़ती है और उसे पूरा करने के लिये मनुष्य इधर-उधर ठोकरें खाता फिरता है, वेश्यालयों की खाक छानता फिरता है। इस तरह मदिरा आदि मादक पदार्थों का सेवन करने से उसका खर्च बढ़ जाता है। मदिरा का खर्च, उस पर खाये जाने वाले पौष्टिक पदार्थों का भी खर्च और फिर विषय-वासना की आग को बुझाने के लिए वेश्यालय के बिल का भुगतान। इस तरह दिन प्रतिदिन उसकी जेब खाली होती रहती है। घर में बीबी-बच्चे दाने-दाने के लिए बिलखते रहते हैं और इधर उसका जेब खर्च पूरा नहीं होता है। तब उसे जुआ खेलने की सूझती है। उसमें भी सफलता नहीं मिलने पर चोरी, ठगी एवं डाके डालने का प्रयत्न करने लगता है। इस तरह शराबी एवं नशेबाज को दुनिया के सारे पाप और सारे दुर्गुण आ घेरते हैं। परिणामस्वरूप वह धन से, शक्ति से, सौन्दर्य से, बुद्धि से, ज्ञान से एवं धर्म से हीन हो जाता है और रात-दिन आर्त्त, रौद्र ध्यान एवं विषय-वासना तथा अन्य पाप भावना में संलग्न रहने के कारण अन्त समय में मर कर नरक-यात्रा को चल पड़ता है।

शास्त्रों में नरक जाने के चार कारण बताये हैं, उनमें एक कारण मांस-मदिरा सेवन करने का भी है। क्योंकि शराबी की बुद्धि नष्ट हो जाती है। वह रात-दिन दुर्ध्यान में चिन्तित रहता है। उसके मन में सदा दुर्भावना का कुचक्र चलता रहता है। वह हमेशा पाप कार्य में संलग्न रहता है। अत: नरक के अतिरिक्त वह जा ही कहां सकता है? वहां अनन्त वेदना का संवेदन करता है। नरक में वेदना देने वाले परमाधामी देव जबर्दस्ती से उबलता हुआ रस उसके

मुंह में डालते हैं। उसके इन्कार करने पर या उससे बचने के लिए मुंह को इधर-उधर करने पर वे कस कर पकड़ लेते हैं और मुंह चौड़ा करके उसमें उड़ेल देते हैं और साथ में कहते हैं कि जब शराब पीते समय संकोच नहीं किया तो इसका आस्वादन करते समय क्यों डरते हो। इस तरह नरक में वे महान वेदना की अनुभूति करते हैं।

इस तरह आध्यात्मिक एवं व्यावहारिक दोनों दृष्टियों से शराब बुरी चीज है। वह मनुष्य के ऐहिक एवं पारलौकिक दोनों जीवनों को बिगाड़ती है। परलोक में नरकादि दुर्गतियों में सड़ना पड़ता है। और इस लोक में कोई भी भला आदमी उसकी इज्जत नहीं करता। शराब, भांग, गांजा, सुल्फा आदि का नशा करने वाले व्यक्तियों की आदतें बिगड़ जाने एवं व्यभिचार, चोरी आदि की बुरी आदत पड़ जाने के कारण लोगों में उनका विश्वास नहीं रहता। कोई भी व्यक्ति उनकी बात का विश्वास नहीं करता और न कोई व्यक्ति उन्हें कर्ज देने को ही तैयार होता है। पुलिस भी उन पर कड़ी निगाह रखती है। चोरी आदि की घटना घटती है तो शराब के अड्डे पर छान-बीन की जाती है। कचहरी में भी शराबी की बात का विश्वास नहीं किया जाता। सरकार के प्रत्येक अधिकारी एवं कर्मचारी के लिए यह नियम है कि वह अपनी ड्यूटी के समय पर शराब का सेवन न करे। क्योंकि उससे उसकी बौद्धिक शक्ति कुण्ठित हो जाती है, वह अपने कर्त्तव्य का अच्छी तरह पालन नहीं कर सकता।

इस तरह हर दृष्टि से शराब बुरी चीज है। इससे राष्ट्रीय कोष में भले ही आमदनी होती है, परन्तु राष्ट्रीय उत्पादन में कमी ही होती है। क्योंकि इसके नशे में बेभान हुआ मानव कोई भी काम नहीं कर सकता। इससे देश का उत्पादन कम होता है और इसके पीछे खर्च अधिक बढ़ जाने के कारण गरीबी अधिक बढ़ जाती है। इसलिए आर्थिक दृष्टि से देखा जाए तो शराब निर्धनता-गरीबी को बढ़ावा देने वाली है। देश में बढ़ती हुई गरीबी के और कारणों में एक कारण यह (शराब) भी है।

मदिरा के 16 दोष

महापुरुषों ने शराब से होने वाले कुछ दुर्गुणों का बड़े सुन्दर एवं मार्मिक शब्दों में उल्लेख किया है। आचार्य श्री हरिभद्र सूरि लिखते हैं–

वैरूप्यं व्याधिपिण्डः, स्वजन–परिभवः कार्यकालातिपातो,
विद्वेषो ज्ञाननाशः स्मृतिमति–हरणं विप्रयोगश्च सद्भ्यः।

पारुष्यं नीचसेवा कुलबलविलयो धर्मकामार्थहानिः,
कष्टं वै षोडशैते निरुपचयकरा मद्यपानस्य दोषः॥[1]

अर्थात्–मदिरा के सेवन से 16 दोषों की उत्पत्ति होती है। जैसे कि –

1. शरीर कुरूप और बेडौल हो जाता है।

2. शरीर में अनेक रोग उत्पन्न हो जाते हैं।

3. परिवार के लोग घृणा की दृष्टि से देखते हैं।

4. काम करने का सुन्दर समय यों ही बीत जाता है।

5. द्वेष उत्पन्न हो जाता है।

6. ज्ञान का नाश हो जाता है।

7. स्मृति का नाश होता है।

8. बुद्धि को ताले लग जाते हैं।

9. सज्जनों से पृथक् हो जाता है।

10. वाणी में कठोरता आ जाती है।

11. नीच व्यक्तियों की सेवा करनी होती है।

12. कुल की निन्दा होती है।

13. शक्ति का ह्रास होता है।

14. धर्म का विनाश होता है।

15. कार्य-शक्ति का नाश होता है।

16. धन का नुकसान होता है।

हितोपदेश में लिखा है कि मदिरा का सेवन करने से चित्त में भ्रांति उत्पन्न होती है,

---

1. हारिभद्रीयाष्टक, श्लोक 19

चित्त के भ्रान्त होने पर मनुष्य पापाचरण की ओर प्रवृत्त होता है और पापाचरण से अज्ञानी जीव दुर्गति को प्राप्त करता है। इसलिए मनुष्य को कभी मदिरा का सेवन नहीं करना चाहिए।[1]

सिक्खों के धर्मशास्त्र में भी मदिरा का निषेध किया है। ग्रन्थों की भाषा में कहें तो–"जिसके पीने से बुद्धि नष्ट हो जाती है और हृदय-स्थल में खलबली मच जाती है। इसके अतिरिक्त अपने-पराये का ज्ञान नहीं रहता और परमात्मा की ओर से उसे धक्के मिलते हैं। जिसका आस्वादन करने से प्रभु का स्मरण नहीं होता और परलोक में दण्ड मिलता है। ऐसे झूठे निस्सार नशों का कभी भी सेवन नहीं करना चाहिए।"

जित पीवे मति दूर होय बरल पवै नित आय।
अपना पराया न पछाणइ खसम हु धक्के खाय।।
जित पीते खसम विसरे दरगाह मिले सजाय।
झूठ मद मूल न पीचइ जेका पार वसाय।।

सन्त कबीर ने कड़े शब्दों में मदिरा का विरोध किया है। उन्होंने स्पष्ट शब्दों में लिखा है कि मदिरा मनुष्य को पशु बनाती है, उससे धन का नाश होता है। कबीर के शब्दों में ही सुनिए –

औगुण कहौं शराब का, ज्ञानवन्त सुनि लेय।
मानस से पशुआ करे, द्रव्य गांठि का देय।।
अमल आहारी आतमा, कबहुं न पावे पार।
कहे कबीर पुकार के, त्यागो ताहि विचार।।

ईसाइयों के धर्म ग्रन्थ में लिखा है –

"Drink not wine, nor strong drink and eat not any unclean thing"[2]

अर्थात्–मदिरा मत पीओ और न किसी मादक वस्तु का सेवन करो तथा न किसी अपवित्र वस्तु का भक्षण करो।

---

1. चित्ते भ्रान्तिर्जायते मद्यपानात्, भ्रान्ते चित्ते पापचर्यामुपैति।
पापं कृत्वा दुर्गतिं यान्ति मूढाः, तस्मान्मद्यं नैव पेयं नैव पेयं।। –हितोपदेश
2. Judges 13-4.

अंग्रेजी में एक कहावत है कि 'मदिरा के अन्दर जाते ही बुद्धि बाहर हो जाती है। अर्थात् मदिरा-सेवन से बुद्धि नष्ट हो जाती है – "Wine in and wit out".

मदिरा के सेवन से सब तरह से हानि होती है। इससे उन्माद एवं पागलपन के सिवाय और कुछ लाभ नहीं होता। थोड़ी देर के लिए भले ही उसे यह अनुभूति होती है कि वह सब कष्टों से मुक्त हो गया, परन्तु ऐसा होता नहीं। वास्तव में यह एक तरह से मन का भ्रम है। नशे में बेभान हो जाने से वह बेहोश-सा हो जाता है और बेहोशी की हालत में उसे सुख-दु:ख का बोध नहीं होता। इससे दु:खों का, कष्टों का अन्त हो जाता है, ऐसा कहना एवं मानना भारी भूल है। जब मदिरा का नशा समाप्त होता है तो दु:ख एवं कष्ट और बढ़ जाते हैं। अत: मदिरा दु:ख-नाशक नहीं, बल्कि दु:खों, कष्टों एवं चिन्ताओं की जननी है। इससे नित्य नई चिन्ताएं उत्पन्न होती रहती हैं। इसलिए महापुरुषों ने इन्सान को मादक पदार्थों से दूर रहने का उपदेश दिया। मानवता की पगडंडी पर गतिशील मनुष्य को शराब, भांग, गांजा, सुल्फा, अफीम, तम्बाकू, बीड़ी, सिगरेट आदि मादक वस्तुओं का सेवन नहीं करना चाहिए।

आजकल औषध के रूप में शराब का इस्तेमाल बहुत बढ़ गया है। जम्मू-कश्मीर, शिमला, शिलांग जैसे ठंडे प्रदेशों में सर्दी के मौसम में ठंड से बचने के लिए बहुत व्यक्ति शराब, ब्रांडी का सेवन करते हैं। कुछ लोग पाचन-शक्ति को बढ़ाने के लिए द्राक्षासव आदि आसवों का सेवन करते हैं। द्राक्षासव भी एक तरह से शराब ही है। क्योंकि द्राक्षासव अंगूरों के रस को सड़ा कर ही बनाया जाता है, इसे अंगूरी भी कहते हैं। इससे नशा भी होता है। अन्य आसव भी जिसके वे बने होते हैं उन पदार्थों के रस को सड़ाकर ही बनाए जाते हैं। अत: उनमें त्रस जीवों की हिंसा होती है। इसलिए आसव भी धार्मिक दृष्टि से त्याज्य हैं। अहिंसा के पथिक श्रावक एवं साधु को हर हालत में–भले ही बीमारी की स्थिति भी क्यों न हो ऐसे पदार्थों के सेवन से दूर रहना चाहिए, उन्हें शराब एवं द्राक्षासव आदि का सेवन भी नहीं करना चाहिए।

4. वेश्यागमन

यह हम देख चुके हैं कि आहार के बिगड़ने पर व्यवहार, आचरण भी बिगड़ जाता है। विषय-वासना की आग भी अधिक प्रज्वलित हो उठती है। जैसे नियंत्रण में रही हुई आग जीवन के लिए उपयोगी होती है, और नियन्त्रण से बाहर होने पर वही आग जीवन के सभी उपयोगी साधनों को जलाकर भस्म कर देती है, हरे-भरे जीवन की फुलवाड़ी को बर्बाद कर

देती है। यही स्थिति काम-वासना की है। इसलिए इस पर नियंत्रण होना जरूरी है। विषय-वासना पर काबू पाना बड़ा कठिन है। महान् ताकतवर आत्मा ही विषय-विकारों पर विजय पा सकता है।

भारतीय संस्कृति के सभी विचारकों ने इस बात पर जोर दिया है कि यदि मनुष्य पूर्णत: वासना का त्याग करने में असमर्थ है, तो कम से कम वह वासना पर नियंत्रण तो अवश्य ही रखे। अर्थात् अपने जीवन को मर्यादा से बाहर नहीं जाने दे। एक बार एक पाश्चात्य विचारक से एक व्यक्ति ने पूछा–मैं अभी भोगों पर विजय पाने में असमर्थ हूं। अत: मुझे कितनी बार विषय सेवन करना चाहिए?

विचारक–यदि तुम अभी भोगों पर काबू पाने की शक्ति नहीं रखते हो, तो जीवन में एक बार वासना के प्रवाह में गोता लगाकर बाहर निकल आओ।

व्यक्ति–यदि एक बार से तृप्ति न हो तो क्या करूं?

विचारक–वर्ष में एक बार अपनी भावना को तृप्त कर लो।

व्यक्ति–यदि इतने पर भी सन्तोष न हो तो क्या करूं?

विचारक–तब फिर महीने में एक बार से अधिक अपने मन को, विचारों को, शरीर को उस ओर मत जाने दो।

व्यक्ति–इस पर भी मन नहीं माने, भोगेच्छा बनी रहे तो फिर क्या करूं?

इस बढ़ती हुई वासना को देखकर विचारक ने स्पष्ट शब्दों में कहा–वत्स ! फिर तो घर में कफन रख लो। न मालूम किस समय वासना की आग तुम्हें जलाकर समाप्त कर दे।

पाश्चात्य विचारकों ने ही नहीं, भारतीय संस्कृति के विचारकों ने भी यही बात कही है। वैदिक साहित्य में सन्तान इच्छा के सिवाय स्त्री-पुरुष को सहवास करने का, भोग भोगने का निषेध किया गया है। जैनागमों में भी पति को स्वपत्नी में और पत्नी को स्वपति में आसक्त रहने की नहीं, बल्कि सन्तोष वृत्ति रखने की बात कही है।

परन्तु, इन्सान मर्यादा के बांध को तोड़कर बहने लगा। वह वासना में इतना गहरा डूब गया कि एक पत्नी से तृप्ति नहीं हुई तो दूसरा, तीसरा, चौथा विवाह किया और वहां भी उसकी वासना अतृप्त ही रही तो अपनी दृष्टि को इधर-उधर दौड़ाने लगा। पति-पत्नी की

मर्यादा की अक्षांश-रेखा को लांघ गया। शाक-भाजी की तरह नारी-शरीर का मोल होने लगा। कुछ पैसे देकर पुरुष अपनी वासना की भूख को मिटाने का दुष्प्रयत्न करता रहा।

नारी जब विवश थी। उसके पास अपने पेट को भरने की कोई कला नहीं थी। अत: उसे अपना पेट भरने के लिए पुरुष की राक्षसी भावना का, वासना का शिकार होना पड़ा, अपना तन बेचना पड़ा। आज भी हम देखते हैं कि 70 प्रतिशत के करीब स्त्रियों ने आर्थिक विवशता के कारण वेश्या-वृत्ति को अपना रखा है। कुछ व्यक्तियों ने अपने स्वार्थ के लिए, पैसा कमाने के लिए नारी कल्याण केन्द्र, महिला अनाथालय आदि नामों से वेश्यालय खोल रखे हैं। यह भारत जैसे धर्म-प्रधान देश के लिए घोर कलंक की बात है।

महापुरुषों ने वेश्यागमन को महापाप कहा है। क्योंकि इससे नारी और पुरुष दोनों का जीवन बिगड़ता है। जीवन तभी तक उपयोगी रहता है, जब तक वह मर्यादा में बंधा रहता है। बांध की मर्यादा में स्थित पानी जीवन के लिए लाभदायक है। परन्तु जब पानी की धारा बांध तोड़कर बह निकलती है तो चारों ओर हाहाकार मचा देती है, प्रलय का दृश्य उपस्थित कर देती है। इसी तरह वासना का प्रवाह भी जब मर्यादा से बाहर बह निकलता है तो वह स्व-पर दोनों के लिए नुकसान का कारण बन जाता है। मनुष्य मानसिक, शारीरिक एवं आर्थिक संकटों से घिर जाता है।

एक युग था, स्त्री पुरुष की तरह आर्थिक दृष्टि से स्वतन्त्र नहीं थी। उसके पास अर्थ कमाने की कला नहीं थी। केवल रूप-सौन्दर्य ही था, जिससे पुरुष को लुभा कर वह उससे पैसा प्राप्त कर सकती थी। इसके लिए उसे अपने आपको बेचना पड़ता था। इसमें वह भले-बुरे का विचार नहीं करती, वह तो सिर्फ पैसा देखती थी। भर्तृहरि ने *श्रृंगार शतक* में लिखा है –

जात्यन्धाय च दुर्मुखाय च, जराजीर्णाखिलांगाय च;
ग्रामीणाय च दुष्कुलाय च, गलत्कुष्ठाभिभूताय च।
यच्छन्तीषु मनोहरं निजवपु–र्लक्ष्मीलवश्रद्धया,
पण्यस्त्रीषु विवेककल्प-लतिका-शस्त्रीषु रज्येत कः?[1]

अर्थात्–कुरूप, वृद्ध, गंवार-मूर्ख, नीच और कुष्ठ रोगी को भी जरा-से धन की

1. श्रृंगारशतक (भर्तृहरि) श्लोक 89.

आशा से जो अपना सुन्दर शरीर सौंप देती है और जो विवेक रूपी कल्पलता के लिए छुरी के समान है, उस वेश्या से कौन विवेकशील व्यक्ति रमण करना चाहेगा? अर्थात् कोई नहीं।

इस तरह वेश्या का प्यार व्यक्ति से नहीं पैसे से होता है। पैसा देकर कोई भी व्यक्ति उसके शरीर के साथ खिलवाड़ कर सकता है। अस्तु, अनेकानेक व्यक्तियों के साथ और मर्यादा से अधिक भोग भोगने के कारण उसके शरीर में अनेकों रोग घर कर जाते हैं। चीन आदि देशों में जहां कि अब वेश्यावृत्ति का उन्मूलन हो चुका है–जब वेश्याओं के शरीर की जांच कराई गई तो 75 प्रतिशत वेश्याएं यौन-सम्बन्धी भयंकर रोगों से पीड़ित मिलीं और 20 प्रतिशत साधारण रोगों से पीड़ित थीं। ये रोग स्पर्श से फैलने वाले होते हैं। अत: जो व्यक्ति उसके साथ संभोग करता है, उसे वे रोग लग जाते हैं। इस तरह वेश्यागमन मनुष्य को रोगी भी बना देता है। इसमें पैसे की हानि होती है, शक्ति का ह्रास होता है और स्वास्थ्य का नाश होता है, लोगों में निन्दा होती है। वेश्यालय के द्वार खटखटाने वाला व्यक्ति सब तरह से घाटे में रहता है, वह सर्वस्व लुटाकर ही लौटता है। भारतीय संस्कृति के एक विचारक ने कहा है–वेश्या देखने मात्र से मनुष्य के चित्त का अपहरण करती है, स्पर्श करने से मनुष्य की शक्ति का शोषण करती है और उसके साथ संभोग करने से समस्त तेज को हर लेती है।[1] वह सब तरह शोषक है, पोषण करती है तो केवल दुर्गुणों का। सद्गुणों को समाप्त करने के लिए एक तरह से आग है। महात्मा भर्तृहरि ने कहा है –

वेश्यासौ मदनज्वाला, रूपेन्धनसमेधिता।
कामिभिर्यत्र हूयन्ते; यौवनानि धनानि च॥[2]

अर्थात्–वेश्या सुन्दरता रूपी ईंधन से प्रज्वलित प्रचण्ड कामाग्नि है और कामी पुरुष उस आग में अपने धन और यौवन की आहुति देते हैं।

निष्कर्ष यह निकला कि धार्मिक, सामाजिक, व्यावहारिक, आर्थिक एवं शारीरिक किसी भी दृष्टि से वेश्यागमन उपयुक्त नहीं है। इससे स्व और पर दोनों के जीवन का पतन होता है और साथ में समाज एवं राष्ट्र का भी नुकसान होता है। क्योंकि इससे जीवन में विषय-वासना बढ़ती है और फलस्वरूप मन में अनैतिकता की भावना जगती है और वह

---

1. दर्शनात् हरते चित्तं, स्पर्शनात् हरते बलम्।
   मैथुनात् हरते वीर्य, वेश्या प्रत्यक्ष राक्षसी॥
2. शृंगारशतक, श्लोक 90.

दुराचार की ओर प्रवृत्त होता है। जिससे मनुष्य की शारीरिक शक्ति क्षीण होती है, आर्थिक ताकत घटती है और प्रामाणिकता का सर्वथा लोप हो जाता है। जिसके कारण जीवन को अनेक दोष एवं दुर्गुण आ घेरते हैं। यही कारण है कि वेश्यालयों पर पुलिस की भी कड़ी निगाह रहती है। क्योंकि वहां पहुंचने वाले व्यक्ति चोर, डाकू एवं लुटेरे भी हो सकते हैं और इस सन्देह का शिकार निर्दोष व्यक्ति भी बन जाता है। अस्तु, वेश्यालय राष्ट्र की ताकत को, उन्नति को कमजोर बनाने वाला है। मानव की ईमानदारी को समाप्त करने वाला है। विकास के पथ पर कदम रखने वाले साधक को इससे सदा बचकर रहना चाहिए। इसी में व्यक्ति का, समाज का, परिवार का, राष्ट्र का एवं विश्व का हित रहा हुआ है।

5. शिकार

किसी भी पशु-पक्षी को अपने आमोद-प्रमोद, दिल बहलाव, क्रीड़ा एवं आहार के लिए तीर, बन्दूक या तलवार से मारना शिकार कहलाता है। कुछ लोग इसे मन बहलाव का, शक्ति बढ़ाने का या साहस एवं शौर्य दिखाने का साधन मानते हैं। परन्तु यह सब धोखा देने की बातें हैं। वस्तुत: शिकार खेलना नृशंसता का कार्य है। मन-बहलाव ऐसा होना चाहिए जिससे प्राणियों को कष्ट नहीं पहुंचे। मनुष्य के क्षणिक आमोद-प्रमोद से दूसरे प्राणी का अमूल्य जीवन बर्बाद होता हो तो वह मनोविनोद उसके लिए भयावह है। शक्ति एवं शौर्य का प्रदर्शन उसके सामने करना चाहिए, जो बराबर की ताकत रखता है। जो शक्ति में कमजोर है और शस्त्र-रहित है, उस पर शस्त्र चलाने में कोई बहादुरी नहीं, बल्कि यह तो सबसे बड़ी कायरता है। यह इन्सानियत की वृत्ति नहीं प्रत्युत राक्षसी वृत्ति है, शैतानियत की भावना है। इसके लिए मनुष्य को अपने आप में देखना-विचारना चाहिए कि यदि कोई ताकतवर व्यक्ति उसके साथ ऐसा ही बर्ताव करे तो उसकी क्या स्थिति होगी? जब मनुष्य के पैर में एक नन्हा-सा कांटा चुभ जाता है तो वह वेदना से कराह उठता है। तो क्या जिस जानवर या पक्षी के हृदय को, शरीर को गोलियों एवं बाणों से छेदा जाता है, तलवार से काटा जाता है, क्या उसे पीड़ा नहीं होती। एक विचारक ने लिखा है –

दर्द कांटे का अगर तुझसे सहा जाता नहीं;
बेजबानों बेकसों पर क्यों तरस लाता नहीं?
एक कांटे ने तेरी रग-रग को मुर्दा कर दिया;
क्या छुरी का दर्द मजलूमों को तड़पाता नहीं॥

पक्षी सूर्योदय के साथ अपने घौंसले को छोड़कर अनन्त आकाश में उड़ानें भरने लगते हैं। अपना एवं अपने आश्रित नन्हें पक्षियों-बच्चों का पेट भरने के लिए वे अन्न के दानों की खोज में मीलों घूमते-फिरते हैं और अपना पेट भर कर तथा अपने बच्चों के लिए चोंच में चुगा लेकर शाम को अपने घौंसले की ओर वापिस लौटते हैं। प्यार-स्नेह के अनेक संकल्प लिए तेज गति से उड़ानें भरते हुए रास्ता तय करते हैं। और इधर बच्चे भी अपने माता-पिता से मधुर-मिलन एवं भूख बुझाने के लिए उत्सुकता से राह देखते हैं। इसी बीच निर्दय शिकारी उस निर्दोष गगन विहारी पक्षी को गोली का निशाना बनाकर मार गिराता है। उधर पक्षी के प्राण पखेरू उड़ जाते हैं और इधर उसके बच्चे उसकी इन्तजार में तड़पते-तड़पते प्राण दे देते हैं। इस तरह मनुष्य एक प्राणी को मारकर कई जीवों के सुनहरे जीवन को उजाड़ देता है।

शिकारी के हृदय में दया, करुणा एवं क्षमा नहीं रहती और न उसके जीवन में साहस एवं वीरता ही आ पाती है। हां, इस वृत्ति से जीवन में क्रूरता एवं निर्दयता अवश्य आती है, वीरता नहीं। वीरता और क्रूरता एक नहीं, अलग-अलग हैं। वीरता आत्मा की आन्तरिक शक्ति है और क्रूरता आत्मा का दोष है, विकार है। वीरता दूसरे को समाप्त करना नहीं चाहती। वह किसी को मिटाती नहीं, बल्कि बनाती है। वह नाश करती है—अन्यायों का, अत्याचारों का, दुर्वृत्तियों का। वीर व्यक्ति सदा प्रत्येक प्राणी के जीवन का आदर-सम्मान करता है। वह किसी को समाप्त करने की नहीं सोचता। उसके हृदय में दया, करुणा का झरना बहता रहता है। परन्तु क्रूर व्यक्ति में दया का अभाव रहता है। वह अपने से कमजोर व्यक्ति—प्राणी को समाप्त करने के लिए सदा तैयार रहता है। उसकी तलवार कमजोरों की गरदनों पर चलती है। ताकतवर के सामने वह भी घुटने टेक देता है, क्षमा की, दया की भीख मांगने लगता है। अतः शिकार वीरता नहीं, कायरता है, हद दर्जे का नैतिक पतन है।

निरपराधी प्राणियों को मार कर शिकारी अपने जीवन को पाप से बोझिल बनाता है और परिणामस्वरूप वह मर कर नरक में उत्पन्न होता है। वहां परमाधामी देव उसे पापों का दण्ड देते हैं। जिस तरह बाण एवं गोलियों से वह पशु-पक्षियों का वध करता था, उसी तरह वे देव उस व्यक्ति के शरीर को तीक्ष्ण बाणों एवं गोलियों से छेदन-भेदन करते हैं और उसी के मांस को काट-काट कर उसे खिलाते हैं। इस तरह उसे अनेक तरह की वेदना सहनी पड़ती है। नरक में उसे एक क्षण के लिए भी आराम नहीं मिलता। अतः मनुष्य को चाहिए कि किसी

भी व्यक्ति के प्राणों का नाश न करे। शिकार के जघन्य पाप से सदा दूर रहे। इसमें उसका भी हित है और जगत के प्राणियों का भी हित है।

6. चोरी

चोरी करना एक बड़ा दुर्व्यसन है। दूसरे के अधिकार में रही हुई वस्तु को नाजायज तरीके से अपने अधिकार में लेना चोरी है। किसी व्यक्ति द्वारा रखी गई वस्तु को उसके वापिस मांगने पर इन्कार कर देना या उसमें से थोड़ा-सा हिस्सा लौटाना भी चोरी है। किसी भोले-भाले ग्रामीण व्यक्ति या बच्चे की नासमझी का लाभ उठाकर उसे ठग लेना तथा उसे धोखा देकर उसके धन-माल को छीन लेना या उससे अधिक पैसे ले लेना भी चोरी है। चुंगी या टैक्स बचाने के लिए माल छिपाकर लाना या अफसरों को झूठे बिल दिखाकर चुंगी बचा लेना भी चोरी है। इन्कम टैक्स बचाने के लिए दो खाते रखना, झूठा जमा-खर्च करना भी चोरी है। असली माल दिखाकर नकली माल देना तथा अच्छी वस्तु में खराब वस्तु मिलाकर देना भी चोरी है। वर्तमान युग में यह वृत्ति अधिक दिखाई दे रही है। घी-तेल तो क्या, कोई भी खाद्य पदार्थ शुद्ध नहीं मिलता। आटा, नमक, मिर्च, मसाला जो कुछ लो उसमें मिलावट ही मिलेगी। गृहमंत्री गोविन्द वल्लभ पन्त ने एक भाषण में बड़े दर्द भरे शब्दों में कहा था कि मुझे इस बात में संदेह है कि बाजार में खुला बिकने वाला डालडा घी (Vegetable Ghee) भी शुद्ध मिलता है। अर्थात् नकली घी में भी मिलावट, कितना गहन पतन है। आज हम अंग्रेजों की निन्दा करते हैं। उन्हें मिथ्यात्वी एवं अनार्य बताते हैं। पर अपने आप को गर्व से आर्य कहने वालों को देखना चाहिए कि हम कितने पानी में हैं। व्यापारिक दृष्टि से आज अंग्रेज भारतीयों से अधिक प्रामाणिक हैं। वे जो माल दिखाते हैं, वही पैक करते हैं। परन्तु भारतीयों में प्रामाणिकता की बहुत कमी है। इसी से व्यापारिक जीवन में उनका विश्वास करना खतरे से खाली नहीं समझा जाता।

चोरी चार तरह की बताई है—1. द्रव्य, 2. क्षेत्र, 3. काल, और 4. भाव। द्रव्य की चोरी दो प्रकार की है—1. सजीव, और 2. निर्जीव। पशु-पक्षी, अनाज, सब्जी आदि की चोरी करना सजीव द्रव्य की चोरी है और सोना, चांदी, आभूषण, जवाहरात, रुपये, पैसे आदि की चोरी करना निर्जीव द्रव्य की चोरी है। किसी व्यक्ति के घर, खेत, जमीन एवं सीमा आदि पर कब्जा करना क्षेत्र की चोरी है। वेतन, किराया, ब्याज आदि के देन-लेन में समय की कमी करना

काल की चोरी है। किसी कवि, लेखक एवं वक्ता के भावों को लेकर उस पर अपना नाम देना तथा अपनी आत्म-शक्ति को भोगों में लगाना, वीतराग की आज्ञा का उल्लंघन करना भाव की चोरी है। इस तरह सभी तरह की चोरियां आत्मा का पतन करने वाली हैं। इसलिए मनुष्य को सदा उससे बचकर रहना चाहिए। नीतिकारों ने भी इस बात पर जोर दिया है कि चोरी करके दूसरे के धन पर गुलछर्रे उड़ाने की अपेक्षा भीख मांग कर खाना अच्छा है।

''वरं भिक्षायित्वं न च परधनास्वादनसुखम्।''

चौर्य कर्म में प्रवृत्त व्यक्ति का कोई विश्वास नहीं करता। उसका मन भी सदा अशान्त बना रहता है। वह रात-दिन आर्त्त-रौद्र ध्यान में डूबा रहता है और जिसके माल का अपहरण करता है उसके चित्त को भी दु:ख होता है। कभी-कभी तो दु:ख इतना अधिक बढ़ जाता है कि हार्ट फेल हो जाता है। इसलिए धन को ग्यारहवां प्राण कहा है। अस्तु, धन का अपहरण भी प्राणों का अपहरण है, दूसरे के दिल को दुखाना है। इसी कारण चोरी को भी दुर्व्यसन एवं पाप कहा है। यह मनुष्य को दुर्गति में ले जाती है। इसलिए मनुष्य को चोरी का परित्याग कर देना चाहिए।

7. परस्त्रीगमन

हम यह पहले बता चुके हैं कि विषयभोग मानव को पतन के महागर्त में गिरा देते हैं। इसलिए कामेच्छा या वासना पर नियंत्रण रखना जरूरी है। विवाह-परम्परा का उद्भव इसी भावना को सामने रखकर हुआ कि मनुष्य अपनी उच्छृंखल वासना को, भोगेच्छा को एक जगह केन्द्रित रख सके। पुरुष और स्त्री की वैषयिक इच्छा यत्र तत्र सर्वत्र दौड़ती न रहे, पति अपनी पत्नी में और पत्नी अपने पति में संतुष्ट रह सके, इसलिए विवाह पद्धति को स्वीकार किया है। इससे जीवन व्यवस्थित बना रहता है। मनुष्य का मन शान्त रहता है। उसकी इच्छाएं कामनाएं अनन्त आकाश में चक्र नहीं काटती। इसलिए महापुरुषों ने पुरुष और स्त्री को मर्यादा में स्थित रहने पर जोर दिया; अर्थात् पुरुष स्व पत्नी के अतिरिक्त संसार की सभी स्त्रियों को चाहे वह विवाहित हों, अविवाहित हों या विधवा हों—मां, बहन और पुत्री के तुल्य समझे और स्त्री अपने पति के अतिरिक्त सभी पुरुषों को पिता, भाई एवं पुत्रवत् समझे। पति-पत्नी एक दूसरे के साथ सन्तोष का अनुभव करें, न कि वासना के कीड़े बने रहें। भारतीय संस्कृति के विचारकों ने भोग-विलास पर नहीं, त्याग पर जोर दिया है। उन्होंने वासना को घटाने की बात

कही है। भोग को एक प्रकार का रोग माना है। अत: मनुष्य को उससे बचकर रहना चाहिए।

यही कारण है कि पुरुष को पर-स्त्री के साथ संभोग करने का तथा स्त्री को पर-पुरुष के साथ संभोग करने का निषेध किया गया है। प्रश्न हो सकता है कि वेश्यागमन का निषेध तो किया जा चुका है, फिर परस्त्रीगमन का अलग से निषेध क्यों किया गया? बात ठीक है, वेश्यागमन में परस्त्रीगमन का भी समावेश हो सकता है। क्योंकि वेश्या भी स्व-विवाहित स्त्री से पर अलग ही है। परन्तु सभी व्यक्ति इस बात को आसानी से नहीं समझ सकते। क्योंकि वेश्या के सिवाय जितनी भी स्त्रियां होती हैं, उन पर किसी न किसी व्यक्ति का अधिकार होता है, सम्बन्ध होता है। परन्तु वेश्या का किसी के साथ स्नेह सम्बन्ध नहीं होता और न वह किसी के अधिकार में होती है। इसलिए कुमार्गगामी व्यक्ति यह रास्ता निकाल लेते हैं कि वेश्या परस्त्री नहीं है, क्योंकि उस पर किसी का अधिकार नहीं है। जो पैसा दे, वह उसी की बन जाती है। इस कुतर्क को समाप्त करने के लिए महापुरुषों ने वेश्यागमन और परस्त्रीगमन दोनों को अलग-अलग रखा है।

भोग-वासना को शल्य माना गया है। यह एक ऐसा जहर है जिसे जितना अधिक सेवन किया जाता है, उतना ही अधिक फैलता है। मनुष्य समझता है कि अधिक भोग भोगने से तृप्ति हो जाएगी, परन्तु होता यह है कि वासना की आग और अधिक प्रज्वलित हो उठती है। क्योंकि वासना मोह कर्म से उदित होती है और मोह कर्म मनुष्य को हमेशा अशान्त एवं अतृप्त बनाए रहता है। भोगों में आसक्त व्यक्ति को कभी शान्ति नहीं मिलती।

परस्त्रीगमन आध्यात्मिक एवं सामाजिक दोनों दृष्टियों से दोषमय है। इससे जीवन में अनैतिकता बढ़ती है, रात-दिन अशान्ति बनी रहती है, आत्म-चिन्तन में मन नहीं लगता। सामाजिक दृष्टि से देखें तो दुराचारी व्यक्ति का समाज में विश्वास नहीं रहता, जिसकी बहन-बेटी एवं पत्नी के साथ दुष्कृत्य किया जाता है, मालूम पड़ने पर वह उसका शत्रु बन जाता है। सन्तान में वर्णसंकरता बढ़ती है। यही कारण है कि दुनिया उसे (परस्त्री लम्पट को) धिक्कार देती है। रावण के पुतले का आज भी जो अपमान एवं तिरस्कार किया जाता है, उसका एक मात्र यही कारण है कि उसने राम की पत्नी सीता पर कुदृष्टि डाली थी। रावण ने सीता को अपनी ओर आकर्षित करने के लिए बहुत-से प्रलोभन दिए, उसे डराया-धमकाया भी। केवल विषय-विकार की आसक्ति के कारण उसे सोने की लंका एवं अपने प्राणों से हाथ

धोना पड़ा। उस समय भी उसे अपमान एवं तिरस्कार के कड़वे घूंट पीने पड़े और आज भी प्रतिवर्ष दशहरे के दिन उसकी बेइज्जती एवं बदनामी होती है। वस्तुत: यह रावण का तिरस्कार नहीं, उसकी दुराचार भावना का, दुष्ट वृत्ति का तिरस्कार है। अस्तु, प्रत्येक समझदार व्यक्ति का कर्त्तव्य है कि वह अपनी वासना पर नियन्त्रण रखे। यदि वह पूरी तरह उस पर विजय नहीं पा सकता है, तब भी कम से कम उसे मर्यादा से बाहर न बहने दे। अपनी कामुक दृष्टि को इधर-उधर न दौड़ने दे। अर्थात् स्वदारसन्तोषव्रत में अपने आपको स्थित रखने का प्रयत्न करे। इसी में व्यक्ति, परिवार, समाज एवं राष्ट्र का हित निहित है।

वासना पर नियंत्रण रखने से जीवन में सदाचार का पुष्प विकसित हो उठता है। उसकी मधुर एवं सुवासित पराग सारे संसार में महकने लगती है। वह जिस ओर से निकलता है उधर के वातावरण को शान्त एवं सौरभमय बना देता है। राह में बिछी हुई शूलें भी फूल के रूप में परिवर्तित हो जाती हैं। वीर अर्जुन और सेठ सुदर्शन का प्रकाशमान जीवन हमारे सामने है। उर्वशी और अभया ने उन्हें अपने पथ से विचलित करने का भरसक प्रयत्न किया। पर वे महापुरुष उन्हें माता के रूप में ही देखते रहे और मां कहकर ही पुकारते रहे। इसी का मधुर परिणाम है कि सुदर्शन को दी गई शूली सिंहासन के रूप में बदल गई। इसी तरह सीता की पवित्र भावना से अग्नि का जल बन गया तथा महासती सुभद्रा ने कच्चे धागे से छलनी बांधकर कुएं से पानी खींच निकाला। यह सारा शील का, सदाचार का ही प्रभाव था। तो जीवन का महत्त्व बनाव-शृंगार में नहीं, शील एवं सदाचार में है। सदाचार के तेज के सामने सारे शृंगार फीके प्रतीत होते हैं। एक कवि ने ठीक ही कहा है –

पतिव्रता फाटा लता, नहीं गले में पोत।
भरी सभा में ऐसी दीपे, हीरां केरी जोत॥
पतिव्रता फाटा लता, धन जांका दीदार।
कालू कहे किस काम का, वेश्या का शृंगार॥

जिस पुरुष एवं स्त्री के चेहरे पर सदाचार का, शील का तेज चमक रहा है, उसे शृंगार की, केश संवारने की तथा क्रीम, पाउडर एवं तेल लगाने की कोई आवश्यकता नहीं है। ये सारी आवश्यकताएं उसी को होती हैं, जिसके पास सदाचार का तेज नहीं है। जिसके जीवन का सत्त्व समाप्त हो चुका है, जिसके ब्रह्मचर्य की शक्ति बह चुकी है, जिसके जीवन का

पानी बह गया है। अस्तु, जीवन का सच्चा शृंगार सदाचार है। सदाचारी व्यक्ति का सर्वत्र आदर होता है। वह बिना रोक-टोक के सर्वत्र आ-जा सकता है। इसलिए प्रत्येक व्यक्ति को—चाहे स्त्री हो या पुरुष—अपना तन-मन सदाचार से सजाना चाहिए। अपनी वासना को केन्द्रित रखना चाहिए। अपनी कामेच्छा को मर्यादा के बाहर नहीं बहने देना चाहिए।

उपसंहार

प्रस्तुत सातों व्यसन इस लोक और परलोक में दु:खप्रद होने से अनाचरणीय कहे गये हैं। साधना के पथ पर गतिशील साधक को इन दुर्व्यसनों से सदा बचकर रहना चाहिए। इनसे बचकर रहने वाला व्यक्ति ही साधना के पथ पर आगे बढ़ सकता है, अहिंसा, सत्य आदि व्रतों को देशत: या सर्वत: स्वीकार कर सकता है। अस्तु, सप्त व्यसन का परित्याग जीवन विकास की पहली सीढ़ी है, साधना की प्रथम भूमिका है, त्याग-तप रूपी महल की नींव है। नींव जितनी गहरी एवं मजबूत होगी, भवन भी उतना ही सुन्दर, सुखद एवं मजबूत बनेगा।

❑ ❑ ❑

आगार धर्म

प्रश्न—साधना का क्या अर्थ है? क्या गृहस्थ भी गृहस्थ-जीवन में रहते हुए साधना कर सकता है?

उत्तर—साधना का अर्थ है—साध्य तक पहुंचने के लिए की जाने वाली क्रियाविशेष। जीवन का मूल लक्ष्य है—सिद्धत्व को, निर्वाण को प्राप्त करना। यह साधना दो प्रकार की है—1. सर्वत: और 2. देशत:। समस्त दोषों एवं आरंभ-समारंभ का परित्याग करके संयम-मार्ग पर गति करना, सर्वत: साधना है और एक अंश से दोषों एवं आरंभ-समारंभ का परित्याग करना, देशत: साधना है। गृहस्थ जीवन में साधना का दूसरा रूप ही स्वीकार किया जा सकता है। क्योंकि श्रावक-गृहस्थ पर पारिवारिक, सामाजिक एवं राष्ट्रीय दायित्व का बोझ होने के कारण वह हिंसादि दोषों का सर्वथा त्याग नहीं कर सकता। फिर भी वह सदा दोषों से बचने का प्रयत्न करता है और उसकी आन्तरिक भावना सदा दोष-परित्याग की रहती है। इसलिए उसकी साधना भी जीवन विकास की दृष्टि से महत्वपूर्ण मानी गई है। उसे भी मोक्ष मार्ग का पथिक कहा है। भले ही, अभी उसकी चाल धीमी है, इस कारण वह तेजी से मार्ग तय नहीं कर पा रहा है। परन्तु इसमें जरा भी सन्देह नहीं कि उसका मार्ग सही है। क्योंकि उसके जीवन में विवेक की आंख खुली हैं और त्याग की ओर लक्ष्य है। इसलिए गृहस्थ जीवन में साधक आत्म-विकास के पथ पर बढ़ सकता है।

श्रावक के बारह व्रत

पांच अणुव्रत, तीन गुणव्रत और चार शिक्षाव्रत, इन 12 व्रतों की आराधना करने वाला श्रावक गृह-जीवन में रहकर भी साधक की भूमिका पर विहार करता है। बारह व्रतों के रूप में जैन श्रावक की साधना का विशद विश्लेषण प्राप्त होता है जिसका क्रमिक विवरण निम्न रूपेण है।

पांच अणुव्रत

पांच अणुव्रत ये हैं–(1) अहिंसा, (2) सत्य, (3) अस्तेय, (4) स्वदार-संतोष, और (5) परिग्रह परिमाण।

साधु की अपेक्षा से छोटे अथवा आंशिक रूप में ग्रहण किए जाने के कारण उक्त व्रत अणुव्रत कहे जाते हैं। साधु के संदर्भ में अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह–ये पांच व्रत महाव्रत कहलाते हैं।

पांच अणुव्रतों का विस्तृत-विश्लेषण इस प्रकार है–

अहिंसा अणुव्रत

आगमों में हिंसा के चार प्रकार बताए हैं–1. संकल्पी हिंसा, 2. आरंभी हिंसा, 3. उद्योगी हिंसा, और 4. विरोधी हिंसा। जान-बूझकर बिना किसी अपेक्षा से संकल्प पूर्वक प्राणियों के प्राणों का नाश करना संकल्पी हिंसा है। चौके-चूल्हे आदि के आवश्यक कार्यों में होने वाली हिंसा को आरंभी हिंसा कहते हैं। खेती-व्यापार एवं अन्य उद्योगों में होने वाली हिंसा को उद्योगी हिंसा कहते हैं। अपने देश, परिवार या व्यक्तिगत जीवन पर किए गए आक्रमण से देश, परिवार एवं अपनी रक्षा करने हेतु या अन्याय एवं अत्याचार तथा अनीति का प्रतिकार करने के लिए लड़े गए युद्ध में जो हिंसा होती है, उसे विरोधी हिंसा कहते हैं। साधु चारों प्रकार की हिंसा का त्यागी होता है। क्योंकि वह पारिवारिक एवं राष्ट्रीय समस्याओं से मुक्त होता है। इसलिए उसे खाना, मकान, वस्त्रादि बनाने या बनवाने की चिंता नहीं रहती और न उन साधनों को प्राप्त करने के लिए वाणिज्य या उद्योग-धन्धा करने की ही आवश्यकता पड़ती है। उसका कोई शत्रु भी नहीं होता है। क्योंकि उसका किसी भी पदार्थ पर–यहां तक कि अपने उपकरण एवं शरीर पर भी अपनत्व या ममत्व भाव नहीं होता। इसलिए अपने प्राणों का नाश करने वाले व्यक्ति को भी वह अपना शत्रु नहीं मानता। उसके लिए कुल्हाड़ी से काटने वाला और चन्दन से पूजा-अर्चना करने वाला दोनों बराबर हैं। वह मारने वाले पर न द्वेष भाव रखता है और न पूजा करने वाले पर अनुराग। वह दोनों पर समभाव रखता है और दोनों के कल्याण की कामना करता है। कवि ने कितना सुन्दर कहा है –

कुल्हाड़ी से कोई काटे कोई आ फूल बरसाए,
खुशी से दें दुआ यकसां, अजब सारे चलन ही हैं।
जगत के तारने वाले जगत में सन्त जन ही हैं।।

अत: साधु किसी भी स्थिति-परिस्थिति में किसी भी प्राणी की हिंसा नहीं करता और न किसी से हिंसा करवाता है तथा न हिंसा के कार्य का समर्थन ही करता है। परन्तु गृहस्थ–श्रावक के लिए इतना त्याग कर सकना कठिन ही नहीं, असंभव है। अपने एवं अपने परिवार के रहने, खाने, पहनने आदि आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए उसे मजबूरन आरम्भ-हिंसा करना होता है और उन साधनों को जुटाने के लिए उद्योग-धन्धा भी करना होता है। अपने परिवार एवं देश पर आक्रमण करने वाले से उनकी सुरक्षा के लिए उसे अपने शत्रु से युद्ध–संघर्ष भी करना होता है। इस तरह वह चाहते हुए भी आरम्भी, उद्योगी और विरोधी हिंसा से पूर्णत: नहीं बच सकता। परन्तु वह संकल्पी हिंसा से सदा बचा रहता है। वह जान-बूझकर निरर्थक किसी भी प्राणी को नहीं सताता। इस तरह श्रावक अहिंसा अणुव्रत में किसी भी निरपराधी त्रस जीव को जान-बूझकर कर निरपेक्ष भाव से मारने और सताने का त्याग करता है। वह मन, वचन और शरीर से किसी भी त्रस जीव को संकल्प-पूर्वक न मारता है, न सताता है और न दूसरे व्यक्ति को ऐसा करने के लिए कहता है और न संकेत से ऐसा कार्य करने की प्रेरणा देता है।

इस व्रत की सुरक्षा के लिए श्रावक पांच बातों से सदा बचा रहता है–1. बन्ध, 2. वध, 3. छविच्छेद, 4. अतिभार, और 5. भक्त-पानविच्छेद। उक्त कार्यों को जैन परिभाषा में अतिचार कहते हैं और ये अतिचार श्रावक के लिए जानने योग्य हैं परन्तु आचरण करने योग्य नहीं हैं। इनकी अर्थ-विचारणा इस प्रकार है–

1. बन्ध (बांधना)–किसी भी प्राणी को ऐसे बन्धन से नहीं बांधना, जिससे उसे वेदना, संक्लेश एवं कष्ट पैदा हो या जिससे उसका प्राणान्त ही हो जाए। इसका अर्थ यह है कि श्रावक प्रत्येक कार्य विवेक, यतना एवं दया की भावना से करता है। पशु को या पागल अवस्था में कभी मनुष्य को भी बांधना पड़े तो उसमें उसकी हित-बुद्धि रहती है। वह उसे ऐसे बन्धन से नहीं बांधता जिससे उसे किसी भी प्रकार की पीड़ा या कष्ट हो तथा उठने-बैठने या शयन आदि कार्य सुविधापूर्वक न कर सके। इसके अतिरिक्त, श्रावक यदि राजा या अधिकारी व्यक्ति है तो वह ऐसे कानून के शिकंजे से प्रजा-जनों को नहीं बांधता जिससे उनका जीवन कष्टमय बन जाए। कानून या कलम के बन्धन से भी किसी प्राणी को बांध कर उसके सत्त्व को चूसना भी हिंसा है और श्रावक इस क्रूर कर्म से भी बचकर चलता है।

2. वध (मारना)–किसी प्राणी को मारना-पीटना या त्रास देना। श्रावक अनिष्ट-बुद्धि

से किसी भी प्राणी को त्रास भी नहीं देता है।

3. छविच्छेद—नाक-कान आदि अंगोपांगों का विच्छेद करना भी हिंसा है और किसी व्यक्ति की आजीविका या तनख्वाह मजदूरी को काट लेना भी इसी दोष में शामिल है। अत: श्रावक किसी के अंगोपांगों का छेदन नहीं करता तथा किसी के उचित वेतन में भी काट-छांट नहीं करता।

4. अतिभार—किसी भी प्राणी की शारीरिक शक्ति से उस पर अधिक बोझ डालना भी हिंसा है। कानून की दृष्टि से भी बैलगाड़ी, तांगे, घोड़े, ऊंट आदि जानवरों पर अधिक बोझ लादना अपराध है। कानून का उल्लंघन करने वाले व्यक्ति के लिए दण्ड की भी व्यवस्था है। फिर भी स्वार्थी व्यक्ति पैसा बचाने के लोभ में धर्म एवं कानून को तोड़कर मूक, असहाय एवं पराधीन बने प्राणियों पर अधिक भार लादने का क्रूर कर्म करते हुए नहीं हिचकिचाते। परन्तु श्रावक ऐसा कार्य नहीं करता। वह पैसे की अपेक्षा दूसरे प्राणी की सुविधा को देखता है। वह न किसी भी पशु या मजदूर पर अधिक बोझ लादता है और न अपने घर, दुकान या कारखाने में काम करने वाले मजदूर से उसकी शक्ति एवं समय से अधिक काम लेता है।

5. भक्त-पान-विच्छेद—किसी भी प्राणी को समय पर भोजन (अन्न-जल) नहीं देना भी हिंसा है। श्रावक सदा इस बात का ध्यान रखता है।

इस तरह श्रावक उक्त पांचों दोषों का परित्याग करके अहिंसा अणुव्रत का परिपालन करता है।

प्रश्न—व्यापार-वाणिज्य करने वाला व्यक्ति तो श्रावक बन सकता है, परन्तु राजा, सेनापति या सैनिक जैनत्व या श्रावकत्व को कैसे स्वीकार कर सकता? क्योंकि उसे युद्ध आदि कार्यों में भाग लेना होता है और उक्त कार्य में प्राणियों का—मनुष्यों का वध होना भी निश्चित है। अत: राजा, सैनिक या सेनापति अहिंसा व्रत का पालन कैसे कर सकता है?

उत्तर—हम अभी देख चुके हैं कि श्रावक संकल्प-पूर्वक हिंसा करने का त्याग करता है। उसमें भी निरपराधी प्राणी को वह संकल्प-पूर्वक नहीं मारता। हम ऊपर बता चुके हैं कि देश या परिवार पर कोई दुष्ट व्यक्ति आक्रमण कर देता है, उस समय उससे देश या परिवार आदि की सुरक्षा के लिए उसे संघर्ष करना पड़ता है और उस संघर्ष में वह सामने आने वाले दुश्मनों पर संकल्प-पूर्वक ही वार करता है, फिर भी वह अपने पथ से च्युत नहीं होता है,

क्योंकि उसका त्याग निरपराधी व्यक्ति को संकल्प-पूर्वक मारने का है, इसके साथ एक विशेषण और दिया गया है कि श्रावक निरपराधी प्राणी को निरपेक्ष बुद्धि से संकल्प-पूर्वक नहीं मारता। इस विकल्प के रखने का उद्देश्य यह है कि एक चोर, डाकू, गुण्डा या बदमाश व्यक्ति देश के किसी व्यक्ति को लूटता है, मारता है या उसका नुकसान करता है, तो ऐसी स्थिति में राजा क्या करे? वह अत्याचारी व्यक्ति अपराधी अवश्य है, परन्तु वह राजा का कोई अपराध नहीं करता, फिर भी राजा उसे दण्ड देता है, यहां तक कि आवश्यकता पड़ने पर फांसी के तख्ते पर भी लटका देता है। परन्तु, उसके पीछे उसकी भावना उसका अहित करने की नहीं होती है। राष्ट्र में किसी तरह की अव्यवस्था न फैले, जनता के जान-माल की सुरक्षा बनी रहे, इस अपेक्षा को सामने रखकर तथा अपराधों को रोकने एवं अपराधी के जीवन को सुधारने की दृष्टि से वह दण्ड देता है तो अहिंसा व्रत से नहीं गिरता। परन्तु निरपेक्ष भाव से—बिना किसी अपेक्षा के केवल दिल बहलाव के लिए वह किसी प्राणी का वध नहीं करता।

इससे यह स्पष्ट हो गया कि अहिंसा व्रत का पालन प्रत्येक व्यक्ति कर सकता है, चाहे वह किसी भी जाति, देश या पंथ का क्यों न हो, तथा किसी भी पद पर क्यों न हो। अहिंसा व्रत की एक ही शर्त है और वह यह है कि अपनी मौज, शौक या स्वार्थ साधने के लिए किसी प्राणी का वध नहीं करना चाहिए। अहिंसा अणुव्रत को धारण करने वाला जैन श्रावक, चाहे वह राजा है, सेनापति है या साधारण गृहस्थ है, किसी प्राणी का वध नहीं करता, दूसरों के अधिकारों का हरण नहीं करता, किसी भी राष्ट्र पर आक्रमण नहीं करता। परन्तु इसका यह अर्थ नहीं है कि उसके राष्ट्र पर कोई आक्रमण करे तो उस समय भी वह चुपचाप खड़ा तमाशा ही देखता रहे। हां, इतना अवश्य है कि वह शांति एवं सद्भावना के साथ समस्या को सुलझाने का प्रयत्न करता है। यथासंभव वह युद्ध को टालने का प्रयत्न करता है, समझौते के मार्ग को अपनाता है, इतने पर भी शत्रु नहीं मानता है तो वह उसका डटकर मुकाबला करता है।

जैनों की अहिंसा को कायरता का नाम देना भारी भूल है। जैनमार्ग शान्ति एवं वीरता का मार्ग है। भारत की तटस्थता की नीति जैन अहिंसा से बराबर मेल खाती है। क्योंकि युद्ध राष्ट्र के विकास को रोकने वाला है। देश एवं विश्व की शांति को भंग करने वाला है। अन्तर्राष्ट्रीय व्यवस्था को अस्त-व्यस्त करने वाला है। अहिंसा के समर्थकों की बात छोड़िए, युद्ध के खिलाड़ी पाश्चात्य नेता भी इस बात को मानने लगे हैं कि युद्ध से समस्याएं नहीं सुलझ सकतीं। रूस के मान्य प्रधान मन्त्री ख्रुश्चोव के ये शब्द बड़े महत्त्वपूर्ण हैं कि विश्व में शान्ति स्थापित करने के लिए यह जरूरी है कि नभ, जल और स्थल सभी तरह की सेनाओं को

समाप्त कर दिया जाए तथा अणुशस्त्रों एवं अन्य विस्फोटक हथियारों को समुद्र में फैंक दिया जाये। अमरीका के राष्ट्रपति आइजनहॉवर ने भी इस बात को शाब्दिक रूप से मान लिया है कि विध्वंसक शस्त्रों का नाश करके ही शान्ति को कायम रखा जा सकता है। अस्तु, आज के वैज्ञानिक युग में अहिंसा को कायरता की नीति कहना उचित नहीं है। भारत के प्रधानमन्त्री पंडित जवाहर लाल नेहरू इस बात के पूरे समर्थक थे कि युद्ध मानवता का विनाशक है। विश्व के किसी भी भाग में लड़े जाने वाले युद्ध को वे रोकने का भरसक प्रयत्न करते थे।

भारत सरकार की अपनी यह नीति है कि वह राष्ट्रीय एवं अन्तर्राष्ट्रीय सभी समस्याओं को बातों से सुलझाना चाहती है। वह किसी भी देश पर आक्रमण करने के विरुद्ध है। इतना होने पर भी वह अपनी सुरक्षा का सदा ध्यान रखती है। अपने देश पर किये गये आक्रमण को वह चुपचाप बर्दाश्त नहीं कर सकती। यही बात जैन अहिंसा कहती है। वह मानव को युद्ध से बचने की बात कहती है। दूसरे पर आक्रमण करने से रोकती है। विश्व की शान्ति को कायम रखने को प्रेरित करती है। परन्तु साथ में अपने देश एवं परिवार की सुरक्षा की बात भी कहती है। किसी अत्याचारी शासक द्वारा देश पर आक्रमण करने की स्थिति में देश को अत्याचारी के उत्पीड़न से न बचाकर घर में छुप बैठना अहिंसा नहीं, कायरता है। उसे अहिंसा का नाम देना भारी भूल है। यह सत्य है, अहिंसक किसी पर हमला नहीं करता परन्तु यह भी सत्य है कि देश या परिवार पर आक्रमण होने की स्थिति में वह घर में छुपकर भी नहीं बैठता।

इतिहास बताता है कि जैन श्रावकों ने सदा न्याय की रक्षा की है। शरणागत की सुरक्षा एवं राष्ट्रीय नैतिक व्यवस्था को व्यवस्थित रखने के लिए भारतीय गणतन्त्र के प्रमुख राजा चेटक ने मगधराज कौणिक का डटकर मुकाबला किया था। महाराज चेटक ने बातचीत से समस्या को सुलझाने का प्रयत्न किया। उन्होंने कौणिक को समझाया कि वह बहिलकुमार के अधिकार में स्थित हाथी और हार को जो उसे अपने पिता श्रेणिक से प्राप्त हुए हैं, छीनने का प्रयत्न न करे। परन्तु, कौणिक का स्वार्थी मन इस बात को मानने के लिए तैयार नहीं हुआ। उसने एक ही उत्तर दिया कि श्रेष्ठ चीजों पर सदा शक्तिशाली का अधिकार होता है। अत: आप बहिलकुमार को हार और हाथी के साथ लौटा दें या युद्ध के लिए तैयार हो जाएं। ऐसी स्थिति में जब समझौते का कोई उपाय शेष नहीं रहा तब चेटक ने कौणिक का सामना किया और इस संघर्ष में दोनों पक्ष के एक करोड़ अस्सी लाख व्यक्ति मारे गए। इस युद्ध के समय चेटक ने अपने देश के नागरिकों का भी आह्वान किया था। राजा चेटक स्वयं जैन था और

उसके द्वारा आमंत्रित वर्णनागनतुआ भी जैन श्रावक था। वर्णनागनतुआ ने जीवन पर्यन्त के लिए बेले-बेले की तपस्या का व्रत अर्थात् दो-दो दिन के अन्तर से भोजन स्वीकार करने की प्रतिज्ञा ले रखी थी। जिस दिन उसे युद्ध में शामिल होने का निमन्त्रण मिला, उस दिन उसके दो दिन की तपश्चर्या का पारणा था। फिर भी उसने खाने-पीने की परवाह नहीं की, देश की सुरक्षा के लिए बिना खाए-पीए तेले की तपस्या करके वह युद्ध क्षेत्र की ओर चल पड़ा।

इन सब उदाहरणों से यह स्पष्ट हो जाता है कि अहिंसा अपनी ओर से किसी पर आक्रमण करने की इजाजत नहीं देती। परन्तु, वह देश, परिवार एवं स्वयं पर मुसीबत या संकट आ पड़ने पर उसे कायर एवं बुजदिल बनकर घर में बैठने की बात भी नहीं सिखाती। क्योंकि जहां डर या भय है वहां अहिंसा नहीं रहती। अहिंसक सदा निर्भय रहता है, यहां तक कि मृत्यु के समय भी वह कांपता नहीं, थर्राता नहीं। महात्मा गांधी ने भी एक जगह लिखा है कि एक हिंसक अहिंसक बन सकता है, परन्तु एक कायर अहिंसक नहीं बन सकता। उन्होंने इस बात को स्पष्ट शब्दों में स्वीकार किया है "यदि मेरे से कोई कायरता और हिंसा इन दो में से एक को चुनने का परामर्श ले तो मैं उसे हिंसा के मार्ग को चुनने की बात कहूंगा।"

I do believe that, where there is only a choice between cowardice and violence, I would advise violence.[1]

यहां हिंसा शब्द का अर्थ शस्त्रों द्वारा किये गये हमले का उत्तर शस्त्रों से देना अर्थात् अपने परिवार, समाज एवं राष्ट्र के संरक्षणार्थ हथियारों से शत्रु का मुकाबला करना है। इससे स्पष्ट है कि अहिंसा कायरता की नहीं, वीरता की प्रतीक है। वीर ही नहीं, महावीर ही इसे स्वीकार कर सकते हैं। अस्तु, एक राजा, राजनेता, सैनिक या सेनापति भी अहिंसा धर्म का पालन कर सकता है और अहिंसा का परिपालन करते हुए वह हिंसा की अपेक्षा अहिंसा से देश की अच्छी तरह सुरक्षा कर सकता है तथा अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में भी शांति एवं सुव्यवस्था बनाए रख सकता है।

प्रश्न—गृहस्थ द्वारा स्वीकृत अहिंसा व्रत में निरपराधी प्राणी को संकल्पपूर्वक मारने की इजाजत नहीं है। परन्तु, सिंह, सर्प, बिच्छू आदि जंगली-विषैले जीव-जन्तु तो मानव के शत्रु हैं। ऐसी स्थिति में उनका वध करना चाहिए या नहीं? इस सम्बन्ध में जैनधर्म क्या कहता है?

---

1 "Men and Ideals" पुस्तक में गांधी जी के "The Doctrine of the sword लेख से।"

उत्तर–शत्रु और मित्र की पहचान कर सकना कठिन है। हम जिसे शत्रु मानते हैं, समय आने पर वह मित्र से भी अधिक सहायक सिद्ध हो जाता है और जिसे मित्र समझते हैं वह धोखा दे देता है। अस्तु, कल्पना के आधार पर किसी को शत्रु या मित्र मानना सही दृष्टि नहीं है। सर्प एवं बिच्छू आदि विषैले जन्तु एवं कीड़े मानव के शत्रु ही हैं, इसमें सत्यता का अभाव है। क्योंकि यह आप स्वयं देखते हैं कि सांप, बिच्छू आदि यों ही राह चलते व्यक्ति को नहीं काटते। वे मनुष्य को उसी परिस्थिति में काटते हैं जबकि मनुष्य के पैर या किसी अंग से उनका शरीर दब जाता है, उस समय उन्हें ऐसा लगता है कि हमारे ऊपर आघात किया जा रहा है, अतः उस आघात से बचने के लिए वे अपने डंक या दांतों का प्रयोग करते हैं। अतः यह समझना नितान्त असत्य है कि सांप, बिच्छू आदि मानव के शत्रु हैं। क्योंकि शत्रु का काम सीधा आक्रमण करने का है, परन्तु सांप, बिच्छू आदि जन्तुओं ने आज तक किसी पर सीधा आक्रमण किया हो, ऐसा देखा-सुना नहीं गया। यदि मनुष्य देखकर, संभल कर छोटे-मोटे सभी जन्तुओं को बचाता हुआ चले तो सांप, बिच्छू आदि के विषाक्त डंक से वह सहज बच जाता है। इसी तरह सिंह आदि हिंसक जन्तु भी उसी हालत में मनुष्य पर आक्रमण करते हैं जबकि वे भूखे हों, अन्यथा वे आक्रमण नहीं करते। इसलिए सिंह, सांप, बिच्छू आदि को बिना किसी कारण के मारने या कष्ट एवं पीड़ा पहुंचाने का प्रश्न ही नहीं उठता।

यदि थोड़ी देर के लिए हम उन्हें शत्रु मान भी लें तब भी उन्हें मारने की बात उचित नहीं ठहरती। क्योंकि यदि शत्रु को मारने का सिद्धांत हम न्याय-संगत मान लेते हैं, तो जैसे मनुष्य को सिंह आदि हिंसक पशुओं को मारने का अधिकार है, उसी तरह सिंह आदि द्वारा मनुष्यों का घात करना भी उचित मानना होगा। क्योंकि उनकी निगाह में मानव उनका कट्टर शत्रु है। इसके सिवाय, मनुष्य को बहुत-से मनुष्य भी शत्रु मिल जाएंगे। इस तरह शत्रु को समाप्त करने का सिद्धांत मान लिया जाए तो संसार में कोई भी प्राणी जिंदा नहीं रह सकेगा। सारे संसार में मारकाट मच जाएगी, शांति की व्यवस्था भंग हो जायेगी और मनुष्य मनुष्य न रहकर जंगली भेड़िये से भी खूंखार बन जाएगा। अस्तु, सिंह, सांप, बिच्छू आदि को बिना कारण मारने की बात अहिंसक सोच ही नहीं सकता। वह सब प्राणियों को बचाता हुआ चलता है। कभी भूल से किसी बिच्छू आदि पर पैर आ गया और उसने काट खाया या काटने की संभावना दिखाई दी तो वह उसे धीरे-से किसी साधन से पकड़ कर एकांत स्थान में छोड़ देगा, न कि उसका बदला उसके प्राणों को लेकर लेगा। यदि सिंह उस पर आक्रमण कर दे तो उस हालत में वह अपना बचाव करने के लिए स्वतन्त्र है। ऐसी स्थिति में यदि सामने वाले प्राणी

की प्राण-हानि भी हो जाती है, तब भी वह अपने व्रत से नहीं गिरता। इस तरह यह स्पष्ट हो गया कि सिंह, सर्प, बिच्छू आदि को मारना या सताना न्याय-संगत नहीं है। उनकी सुरक्षा करना भी मनुष्य का कर्त्तव्य है।

प्रश्न—गाय, भैंस आदि का दूध निकाल लेना अथवा ऊँट, बैल, घोड़े आदि पशुओं पर सवारी करना या उनसे काम लेना क्या हिंसा नहीं है?

उत्तर—जीवन पारस्परिक सहयोग पर आश्रित है। प्रत्येक प्राणी दूसरे प्राणियों के सहयोग, सेवा और उपकार पर ही जीवित रहता है। जीव का कार्य की दृष्टि से यही लक्षण है कि वह एक-दूसरे का सहयोगी-साथी बनकर रहे। आचार्य उमास्वाति ने तत्त्वार्थ सूत्र में कहा है "परस्परोपग्रहो जीवानाम्। अस्तु, सिद्धांत की बात है कि एक-दूसरे प्राणी का सहयोग लिए बिना किसी भी प्राणी का जीवन चल नहीं सकता। वैदिक परम्परा में इस बात को इन शब्दों में कहा गया है—"जीवो जीवस्य जीवनम्" अर्थात् जीव ही जीव का जीवन है। यह शाब्दिक अन्तर दोनों परम्पराओं की अहिंसा-सम्बन्धी मान्यता पर आधारित है। "परस्परोपग्रहो जीवानाम्।" में जीवों का सहयोग लेते हुए भी उनके साथ जो मैत्री भावना निभाने की बात मिलती है वह "जीवो जीवस्य जीवनम्" वाक्य में नहीं मिलती। व्यक्ति यह समझ लेता है कि जीव ही जीव का जीवन है। यदि अपने काम के लिए किसी के प्राण ले भी लिये तो कोई हानि नहीं, क्योंकि इसके बिना जीवन चलता नहीं। परन्तु जैन प्रत्येक प्राणी का सहयोग लेते समय उसके सुख-आराम का ख्याल रहता है। वह यह सोचता है कि दोनों के सहयोग पर ही दोनों का जीवन आधारित है। अत: सहयोग इतना ही लिया जाये कि मेरा भी काम चल जाये और उक्त प्राणी को भी किसी तरह की हानि न पहुंचे। अत: दूध निकालते समय वह इस बात का ख्याल रखता है कि दूध निकालने के बाद स्तनों में इतना दूध बचा रहे कि जिससे बछड़ा अपना पेट भर सके। इसके अतिरिक्त, उसके खाने की एवं रहने के स्थान की सफाई की एवं वहां हवा—गर्मी आदि की ठीक व्यवस्था करता है। इसी तरह वह ऊंट, घोड़ा, बैल आदि पशुओं पर उनकी शक्ति से अधिक बोझ नहीं लादता और दिन में कुछ घण्टे उन्हें आराम भी देता है। अस्तु, इस तरह पशुओं की सेवा-शुश्रूषा करके, उनके आराम का ख्याल रखते हुए उनसे यथाशक्ति काम लेना हिंसा नहीं है। क्योंकि हर स्थिति में वह पहले उनके सुख, आराम एवं स्वार्थ का ध्यान रखेगा, बाद में अपने स्वार्थ का। अत: जिस व्यक्ति के

जीवन में अपना स्वार्थ गौण है वहां अहिंसा है और जहां अपना स्वार्थ प्रधान और दूसरे का गौण है वहां हिंसा है। काम लेना मात्र हिंसा नहीं, परन्तु अपने स्वार्थ को पूरा करने के लिए उसकी शक्ति से अधिक काम लेना तथा उसके सुख, हित एवं आराम का ख्याल न रखकर, अपने ही मतलब को पूरा करना हिंसा है।

प्रश्न—किसी प्राणी को बचाने का प्रयत्न करते हुए भी यदि उस प्राणी के प्राण निकल जाएं या अपनी ओर से सावधानी बर्तते हुए भी किसी कारण से अचानक उसकी मृत्यु हो जाए, तो क्या उसका पाप रक्षक को लगेगा?

उत्तर—वस्तुत: धर्म और पाप किसी प्राणी के मरने और जी उठने पर आधारित नहीं है। परन्तु, वह विवेक और अविवेक पर आधारित है। अत: जैनधर्म साधक को प्रत्येक कार्य विवेक-पूर्वक करने की बात कहता है। विवेक एवं यतना पूर्वक कार्य करते हुए यदि किसी प्राणी के प्राणों का नाश हो भी जाये तो उसे पाप कर्म का बन्ध नहीं होता और अविवेक एवं अयतना से कार्य करते हुए किसी प्राणी का वध न भी हो तब भी उसे पाप कर्म का बन्ध होता है। इसका कारण यह है कि विवेक-पूर्वक कार्य करने वाले व्यक्ति के मन में दया और करुणा का भाव भरा रहेगा, वह प्रत्येक प्राणी की सुरक्षा करने का ध्यान रखेगा, और अविवेकी व्यक्ति में यह भाव नहीं रहता। अत: दोनों के बन्ध में इतने बड़े भारी अन्तर का यही कारण है। जैसे एक डॉक्टर शुद्ध एवं निस्वार्थ भाव से एक रोगी का ऑपरेशन कर रहा है। पूरी सावधानी रखते हुए भी रोगी स्वस्थ नहीं होता, मर जाता है। तब भी उसके मरने का पाप डॉक्टर को नहीं लगता। क्योंकि उसका भाव उसे मारने का नहीं, बल्कि बचाने का था। और एक रोगी डॉक्टर के पास आता है। वहीं रहकर इलाज कराना चाहता है। रोगी के पास काफी धन है और उस पूरे धन पर कब्जा करने के भाव से डॉक्टर उसे समाप्त करने के लिए दवा के नाम से जहर दे देता है और सौभाग्य से वह जहर उसके लिए अमृत का काम करता है और डॉक्टर की इस दवा से रोग-मुक्त होने की प्रसन्नता में वह उस समय अपने पास का सारा धन उसे दे देता है। इस तरह उसकी जिन्दगी बच जाने पर भी डॉक्टर को पाप कर्म का बन्ध होता है और कानूनी दृष्टि से भी वह हत्या करने का अपराधी है। अत: हिंसा-अहिंसा या पाप-पुण्य किसी प्राणी के मरने और जीने पर आधारित नहीं है। देखना यह है कि उस समय उसकी भावना का प्रवाह किस ओर प्रवहमान है। क्योंकि पाप और पुण्य का बन्ध भावना के अनुसार ही होता है।

रात्रि-भोजन

प्रश्न–रात्रि-भोजन को दोषप्रद क्यों माना गया है?

मनुष्य के लिए रात्रि-भोजन सभी दृष्टि से अहितकर है। उससे अपने एवं दूसरे प्राणियों को जरा भी फायदा नहीं पहुंचता। क्योंकि रात्रि में हम किसी पदार्थ का ठीक तरह अवलोकन नहीं कर सकते। अत: उस भोजन के साथ जो कुछ भी मिला होता है, वह भी उदरस्थ कर जाते हैं। परिणाम-स्वरूप अनेक प्राणियों के प्राणों का नाश करने के कारण बनते हैं तथा स्वयं भी अनेक भयंकर व्याधियों के शिकार हो जाते हैं तथा कभी प्राणों से भी हाथ धो बैठते हैं।

दिन और रात में यह अन्तर है कि दिन के तेज प्रकाश में बहुत-से जीव-जन्तु मकानों, खण्डहरों, कुओं एवं नालियों के अन्धेरे स्थानों में छिपे रहते हैं। सूर्य के प्रखर प्रकाश में बाहर निकलना उनके लिए कठिन है। कुछ कीड़े बाहर आते भी हैं तो उन्हें हम सूर्य के उजाले में भली-भांति देख सकते हैं और उन्हें बचा भी सकते हैं। परन्तु रात्रि में पहले तो उड़ने वाले जीव-जन्तु अधिक संख्या में घूमते हैं। रात ठंडी होने से उन्हें ताप का भय नहीं रहता। इसलिए अपनी खुराक की शोध में वे इधर-उधर घूमते-भटकते हैं और उड़ते-उड़ते भोजन में भी आ गिरते हैं और स्वयं ही अविवेकी एवं असंयमी मनुष्यों के भोजन बन जाते हैं। इस प्रकार रात्रि-भोजन से अनेक जीवों की हिंसा होती है और पाप कर्म का बन्ध होता है। इसी कारण रात्रि-भोजन को अन्धा भोजन कहा है और अहिंसा के उपासक के लिए वह किसी भी स्थिति-परिस्थिति में ग्राह्य नहीं है।

प्रश्न–दीपक, लैम्प या बिजली का प्रकाश कर लेने पर हम जीवों को ठीक तरह से देख सकते हैं। अत: उक्त प्रकाश में रात को भोजन किया जाए तो क्या हानि है?

उत्तर–यह तर्क भी कोई मूल्य नहीं रखता। क्योंकि दीपक, लैम्प एवं बिजली आदि का प्रकाश इतना तेज नहीं होता जितना कि सूर्य का प्रकाश होता है। फिर वह सूर्य के प्रकाश की तरह सार्वत्रिक, अखण्ड, उज्ज्वल और आरोग्यप्रद नहीं होता। कृत्रिम रोशनी कितनी भी पॉवर की क्यों न हो फिर भी वह सूर्य की रोशनी का जरा भी मुकाबला नहीं कर सकती। अनेक ऐसे जीव होते हैं, जो उस कृत्रिम प्रकाश में दिखाई नहीं देते। अत: दिन दिन है और रात रात ही है। कृत्रिम प्रकाश से हम रात को कभी भी दिन के रूप में नहीं बदल सकते।

सूर्य के प्रकाश में उजाले के साथ कुछ ऐसे तत्त्व भी हैं, जिनका हमारे स्वास्थ्य पर अच्छा असर पड़ता है। सूर्य का ताप हमारे भोजन आदि को बीमारी के अनेक कीटाणुओं से बचाता है। क्योंकि उस ताप में बहुत-से कीड़े तो बाहर निकल नहीं पाते और कुछ बाहर आने वाले कीड़े जीवित नहीं रह पाते। यह बात आज के वैज्ञानिकों ने भी प्रमाणित कर दी है कि स्वास्थ्य की दृष्टि से सूर्य का प्रकाश सर्वोत्तम है। रात्रि के समय उड़ने वाले कीट-पतंगे अधिक होते हैं और जब कृत्रिम प्रकाश–दीपक, लैम्प या बिजली का कर लिया जाता है, तब तो उनकी संख्या में अत्यधिक वृद्धि हो जाती है। जैसे शक्कर पर चींटियों एवं मक्खियों का जमघट लग जाता है, वैसे ही कृत्रिम प्रकाश पर कीट पतंगों का जमाव होने लगता है और इधर-उधर उड़ते हुए बेचारे खाद्य पदार्थों में गिर कर मनुष्य के पेट में पहुंच जाते हैं। कभी-कभी इससे भी बड़ी दुर्घटनाएं घटित हो जाती हैं। जहां कीट-पतंगों का आधिक्य होता है, वहां छिपकली भी आ पहुंचती है। एक समय एक हलवाई रबड़ी बना रहा था। कड़ाहे के ऊपर छत पर कीट-पतंगों का शिकार करती हुई छिपकली इधर-उधर दौड़ लगा रही थी। दुर्भाग्य से छोटे-मोटे जन्तुओं का शिकार करते-करते वह स्वयं हलवाई के कड़ाहे का शिकार बन गई। फिर वह रबड़ी जिस किसी व्यक्ति ने खाई उसकी हालत चिन्ताजनक हो गई, उसे डॉक्टर की शरण में जाना पड़ा। फिर निरीक्षण करने पर मालूम पड़ा कि रबड़ी में छिपकली गिर पड़ी थी। इस तरह रात्रि-भोजन अहिंसा की दृष्टि एवं स्वास्थ्य की दृष्टि से भी उचित नहीं है।

प्रश्न–दक्षिण ध्रुव आदि अत्यधिक ठण्डे स्थानों में जहां जीव, जन्तु नहीं होते, वहां विद्युत का ठण्डा प्रकाश करके भोजन किया जाए तो उसमें अहिंसा की दृष्टि से कोई आपत्ति नहीं होनी चाहिए।

उत्तर–यह तर्क केवल तर्क मात्र है। अत्यधिक ठण्डे प्रदेशों में भले ही उष्ण प्रदेशों में उत्पन्न होने वाले कीटाणु न होते हों परन्तु इससे यह कहना या समझना भारी भूल होगी कि उक्त प्रदेशों में या उक्त वातावरण में जीव-जन्तु उत्पन्न ही नहीं होते। दुनिया का कोई भी भाग जीव-जन्तुओं से खाली नहीं है। उष्ण प्रदेशों में उसकी जलवायु के किस्म के जन्तु होते हैं, तो शीत प्रदेशों में वहां की हवा को सहने वाले जन्तु होते हैं, परन्तु जन्तु विहीन कोई भी प्रदेश हो, ऐसा देखने-सुनने में नहीं आया। रही बात प्रकाश की, उसके विषय में हम पहले ही बता चुके हैं कि कृत्रिम प्रकाश सूर्य के प्रकाश का मुकाबला नहीं कर सकता। विद्युत का

प्रकाश–भले ही वह ठण्डा हो या तापयुक्त उससे जीवों के आवागमन में कोई अन्तर नहीं पड़ता। तापयुक्त प्रकाश की अपेक्षा ठण्डे प्रकाश का आंखों की रोशनी पर बुरा असर कम होता है। परन्तु उससे जीवों की गति रुकती हो ऐसी बात नहीं है। अत: उक्त प्रदेश में भी रात्रि-भोजन करना हिंसा एवं पापजनक कार्य ही है।

जैनधर्म के अतिरिक्त जैनेतर धर्मों में भी रात्रि-भोजन को दोष-युक्त माना है। कूर्म पुराण आदि पुराणों एवं अन्य धर्म ग्रन्थों में रात्रि-भोजन का निषेध किया गया है। आज के युगपुरुष राष्ट्रपिता महात्मा गांधी भी रात्रि-भोजन को अच्छा नहीं समझते थे। करीबन 40 वर्ष की अवस्था से लेकर जीवन-पर्यन्त वे रात्रि-भोजन के त्याग को दृढ़तापूर्वक पालन करते रहे। पाश्चात्य देशों में गए उस समय भी उन्होंने रात को भोजन नहीं किया। अत: भारतीय-संस्कृति के सभी विचारकों ने रात्रि-भोजन को त्याज्य एवं हेय माना है।

आयुर्वेद के सिद्धांतानुसार भी रात्रि को भोजन करना हानिप्रद है। क्योंकि स्वास्थ्य की दृष्टि से भोजन करने के तीन घण्टे पश्चात् शयन करना चाहिए। रात्रि को भोजन करने वाला व्यक्ति इस नियम का पालन नहीं कर पाता। क्योंकि लोग रात को खाना खाते ही तुरन्त लेट जाते हैं। इससे शरीर में अच्छी तरह हरकत नहीं हो पाती और ठीक तरह हरकत नहीं होने से भोजन का पाचन ठीक नहीं होता और न उस का वैसा रस ही बन पाता है। यही कारण है कि आज अधिकांश लोगों को अपच और बदहजमी का रोग हो जाता है। अस्तु, धर्म और स्वास्थ्य आदि सभी दृष्टियों से रात्रि को भोजन करना अहितकर है।

यह आप प्रतिदिन देखते हैं कि पक्षी भी रात्रि को खाते-पीते नहीं है। इतना बड़ा दिन होते हुए भी रात को खाना इन्सान का काम नहीं है। रात को खाने वाले को हमारे यहां निशाचर कहते हैं। अर्थात् रात्रि में खाने वाले मनुष्य नहीं, राक्षस होते हैं। राक्षस का अर्थ है–दया-विहीन हृदय वाले व्यक्ति। रात को वही व्यक्ति खा सकता है, जिसके हृदय में गरीब, असहाय एवं दीन प्राणियों–कीट-पतंगों के जीवन के प्रति दया, करुणा एवं सहृदयता की भावना नहीं है।

कुछ वर्ष पहले जैनों में रात्रि-भोजन की परम्परा बहुत कम थी। यहां तक कि विवाह-शादी में भी बारात वालों को रात में भोजन नहीं करवाते थे। परन्तु आजकल मर्यादा का यह बांध टूट-सा गया है। जैन समाज में इस नियम में बहुत शिथिलता आ गई है। आज कल पढ़े-लिखे नवयुवक तो रात को भोजन करने में जरा भी नहीं हिचकते। आज प्राय: जैन लोग अपनी संस्कृति एवं सभ्यता को भुला बैठे हैं, भोजन के सम्बन्ध में वे अपने मार्ग से गिर

चुके हैं। अस्तु, उन्हें फिर से जागृत होकर अपने नियमों का मजबूती से परिपालन करना चाहिए।

बिना छना हुआ पानी पीने का निषेध

पानी के बिना गृहस्थ का काम नहीं चल सकता। इसलिए उसके लिए यह आदेश दिया गया कि वह इसके लिए मर्यादा कर ले कि मैं आज अमुक मात्रा से अधिक पानी काम में नहीं लाऊंगा और जितना भी पानी वह अपने पीने-धोने आदि के काम में ले, उसे वस्त्र से छाने बिना काम में नहीं लेवे। क्योंकि पानी में अनेक त्रस जीव रहते हैं। अत: बिना छाने पानी पीने से या वस्त्र-पात्र आदि धोने से उसमें स्थित त्रस जीवों के प्राणों का नाश हो जाता है। जरा-से अविवेक, अयतना एवं प्रमाद-आलस्य के कारण अनेक प्राणियों को अपनी जिन्दगी से हाथ धोना पड़ता है। इस अविवेक के कारण मनुष्य को कई बार भयानक कष्ट उठाने पड़ते हैं। कभी-कभी पानी के साथ विषैले एवं रोग के कीड़े उसके पेट में पहुंच जाते हैं जिससे भयंकर व्याधि एवं वेदना को भोगना पड़ता है। कुछ वर्ष पहले एक समाचार पत्र में मुरादाबाद की एक घटना प्रकाशित हुई थी–एक लड़के ने रात को अपनी चारपाई के नीचे पानी का लोटा भर कर रखा था। अचानक एक बिच्छू उसमें घुस गया। लड़का रात को उठा और बिना छाने पानी पी गया और पानी के साथ वह बिच्छू उसके मुंह में चला गया और उसके कण्ठ में रुक गया तथा डंक मारने लगा। लड़का तिलमिला उठा, उसके कण्ठ से बिच्छू को निकालने के बहुत प्रयत्न किए गए, परन्तु सब बेकार गए। अन्त में, वह लड़का तड़प-तड़प कर मर गया। इस तरह पानी पीने से धर्म, अहिंसा, स्वास्थ्य आदि सभी दृष्टियों से नुकसान ही नुकसान है। अत: भूलकर भी बिना छना पानी उपयोग में नहीं लाना चाहिए।

यह हम पहले ही बता चुके हैं कि गृहस्थ-जीवन में पूर्णत: आरम्भ-समारम्भ का त्याग कर सकना असंभव है। अत: उसे ऐसे कार्यों से अवश्य बचना चाहिए, जिनमें त्रस जीवों की हिंसा होती है। ऐसी वस्तुओं का उपयोग भी उसे नहीं करना चाहिए जो महारम्भ–महान हिंसा से तैयार की गई हैं। यह सत्य है कि उसके लिए उपभोक्ता स्वयं हिंसा नहीं करता, परन्तु यह भी सत्य है कि वह हिंसा उपभोक्ता के लिए ही की जाती है। यदि उक्त वस्तुओं के खरीददार एवं उपभोक्ता ही न हों तो कोई भी व्यापारी उक्त वस्तुओं को तैयार नहीं करेगा। अस्तु, उपभोक्ता महारम्भ से निर्मित वस्तु का उपयोग करके उस हिंसा से बच नहीं सकता। यही कारण है कि श्रावक न स्वयं जान-बूझकर निरपराधी त्रस जीवों की हिंसा करता है और

न महारम्भ से निर्मित वस्तु का उपयोग करता है।

उदाहरण के तौर पर चमड़े की कुछ चीजों में, मिल के बढ़िया वस्त्रों एवं रेशम के वस्त्रों में अनेकों पशु एवं कीड़ों की हिंसा होती है। अच्छे और मजबूत माने जाने वाले अनेक किस्म के बूट, हैंडबेग, घड़ी के पट्टे आदि जीवित पशुओं को मारकर उनके चर्म से बनाए जाते हैं। उन्हें मारने से पहले लाठियों से बुरी तरह पीटा जाता है, जिससे उनका चमड़ा फूल जाता है। इस तरह जूतों एवं अन्य हैंडबेग आदि को कोमल एवं चमकदार बनाने के लिए निर्दयता के साथ गाय, भैंस आदि पशुओं का वध किया जाता है। अधिक मुलायम चमड़ा प्राप्त करने के लिए पशु के नवजात बच्चों का तथा गर्भ में स्थित बच्चों का वध किया जाता है। इसी तरह फाईन क्वालिटी (Fine Quality) के वस्त्रों पर चमक लाने के लिए जीवित पशुओं की चर्बी का उपयोग किया जाता है। रेशम का निर्माण तो कीड़े ही करते हैं। जब वे रेशम बना चुकते हैं तो गर्म-गर्म वाष्प के द्वारा उन्हें मार देते हैं और बाद में उबलते हुए पानी में डालकर रेशम का तार निकालते हैं। इसी तरह जरा-से शौक के लिए बेचारे हजारों-लाखों ही नहीं, अनगिनत जीवों को अपनी अमूल्य जिन्दगी से हाथ धोना पड़ता है। अत: इतनी घोर हिंसा से बने पदार्थों का उपयोग करना श्रावक के लिए किसी भी स्थिति में उचित नहीं है। श्रावक का जीवन दिखावे एवं ऐशो-आराम का नहीं, बल्कि सादा होना चाहिए। वह किसी भी वस्तु का उपयोग फैशन के लिए नहीं, प्रत्युत जीवन-निर्वाह के लिए करता है। अत: उसके जीवन में महाहिंसा एवं महारम्भ जन्य कार्य को जरा भी स्थान नहीं मिलता।

अहिंसा की साधना स्व-पर के हित के लिए जितनी महत्त्वपूर्ण है उतनी कठिन भी है। महात्मा गांधी के शब्दों में कहें तो "अहिंसा का मार्ग जितना सीधा है, उतना ही वह संकड़ा भी है।" यह मार्ग तलवार की धार पर गति करने जैसा है। या यों कहिए कि रस्सी पर कदम रखकर चलने जैसा है। अहिंसा की रस्सी नट के खेल दिखाने की रस्सी से बहुत बारीक है। यह सूत के धागे की नहीं, विचारों की, भावना की, परिणामों की डोर है। जरा-सी असावधानी एवं गफलत से मनुष्य एकदम नीचे जा गिरता है। अहिंसा का मार्ग फिसलन भरा है, अत: सदा जागरूक एवं सावधान बनकर चलने की आवश्यकता है। विवेक एवं यतना के साथ सदा जागरूक होकर साधना करने वाला व्यक्ति ही अहिंसा देवी के दर्शन पा सकता है।

सत्य अणुव्रत

सत्य का अर्थ है-यथार्थ भाषण करना। केवल यथार्थ बोलना ही नहीं, अपितु यथार्थ

सोचना-समझना और यथार्थ काम करना भी सत्य है। वस्तु के यथार्थ—वास्तविक स्वरूप को सोचना, विचारना, जानना और प्रकट करने का नाम ही सत्य है। योगों की यथार्थ प्रवृत्ति में या यों कहिए कि मन, वचन और शरीर योग से वस्तु के यथार्थ चिन्तन एवं प्रकटीकरण में सत्य है। यथार्थता के अतिरिक्त सत्य कुछ नहीं है। यही कारण है कि भगवान् महावीर ने सत्य को भगवान् कहा है—"**सच्चं खु भगवं**" अर्थात् सत्य ही भगवान् है। और "**सच्चे लोगम्मि सारभूयं**" सत्य ही लोक में सारभूत है।

गृहस्थ श्रावक जैसे पूर्णतः हिंसा का त्याग नहीं कर सकता, उसी तरह वह सर्वथा असत्य का भी त्याग नहीं कर सकता। वह सूक्ष्म झूठ जिसे हम केवल शास्त्रीय भाषा में झूठ कहते हैं और जो साधु के लिए भी त्याज्य है—का त्याग नहीं कर सकता। वह स्थूल झूठ का त्याग करता है। ऐसे झूठ का जिसे लोग झूठ कहते हैं और जिसके कारण अपनी एवं दूसरे प्राणी की आत्मा को आघात लगता है, दूसरे प्राणियों का नुकसान होता है, ऐसा झूठ श्रावक के लिए सदा त्याज्य है। स्थूल झूठ को पांच विभागों में बांटा गया है—**1. कन्या-सम्बन्धी, 2. भूमि सम्बन्धी, 3. गो सम्बन्धी, 4. न्यास सम्बन्धी** और **5. साक्षि-सम्बधी।**

1. कन्या सम्बन्धी झूठ नहीं बोलना। मानव जगत में कन्या का अधिक महत्त्व माना गया है। क्योंकि वह जननी है, मानव की संरक्षिका है। इसलिए यहां कन्या शब्द प्रधानता के कारण रखा गया है। इसका अर्थ यह नहीं है कि श्रावक कन्या के लिए तो झूठ नहीं बोले, परन्तु लड़के के लिए यदि झूठ बोले तो कोई दोष नहीं। कन्या शब्द से सन्तान अर्थ समझना चाहिए, उसमें लड़के और लड़की, पुरुष और स्त्री दोनों का समावेश हो जाता है। अस्तु, मनुष्य-मात्र के लिए झूठ नहीं बोलना चाहिए, चाहे वह लड़की हो या लड़का, पुरुष हो या स्त्री।

उक्त सम्बन्ध में झूठ न बोलने का तात्पर्य है कि विवाह-शादी के समय लड़के या लड़की की अधिक अवस्था हो तो उसे कम बता देना या कम हो तो ज्यादा बता देना, उसके गुणों को अधिक बढ़ा-चढ़ाकर बताना या उनमें जो गुण न हों उनका भी उल्लेख कर देना झूठ है। क्योंकि जब भेद खुल जाता है तो इससे सामने वाले व्यक्ति के मन को आघात लगता है, उसका उक्त व्यक्ति के ऊपर से विश्वास उठ जाता है। इसी तरह नौकरी पाने के लिए या स्कूल एवं परीक्षाओं आदि में दाखिला करने के लिए अपनी सन्तान की उम्र एवं योग्यता को कम या ज्यादा बताना भी झूठ है। श्रावक ऐसी भाषा का कभी उपयोग नहीं करता जिससे रहस्य उद्घाटन होने पर दूसरे को धक्का लगे या जिससे दूसरा व्यक्ति छला जाए।

2. भूमि सम्बन्धी झूठ नहीं बोलना। भूमि शब्द में घर, दुकान, खेत आदि जमीन के साथ-साथ पृथ्वी से निकलने वाले खनिज पदार्थ एवं पृथ्वी पर उत्पन्न होने वाले धान, कपास, गेहूं आदि सभी पदार्थों का समावेश हो जाता है। इनके लिए झूठ बोलने का अर्थ है—अपने मकानादि की सीमा को अधिक बताना, कम कीमत के माल को अधिक मूल्य का बताना, कम उपजाऊ भूमि को अधिक उपजाऊ बताना या अधिक उपजाऊ भूमि को कम उपजाऊ बताना। यह भी एक तरह से धोखा है, इससे दूसरे व्यक्ति के मन को चोट पहुंचती है और उस पर से विश्वास भी उठ जाता है। अत: कृषि-वाणिज्य आदि किसी भी काम-धन्धे में श्रावक अयथार्थ—असत्य वचन का उपयोग न करे।

3. गाय के सम्बन्ध में झूठ नहीं बोलना। भारत कृषि प्रधान देश रहा है। पुरातन युग में बड़-बड़े पूंजीपति भी स्वयं खेती करते थे। कृषि के लिए पशु का सहयोग लेना आवश्यक है। हल चलाने में तथा खेत में उत्पन्न हुए माल को ढोकर घर लाने में बैलों की आवश्यकता पड़ती थी। दूध-दही-घी आदि तथा बैल प्राप्त करने के लिए गाय का परिपालन करना जरूरी था। यही कारण है कि भारत में गाय का महत्त्वपूर्ण स्थान रहा है। उपासकदशांग सूत्र में श्रावकों ने जो पशुओं की मर्यादा रखी थी, उसमें गायों का उल्लेख है, अन्य पशुओं का नहीं। इससे स्पष्ट होता है कि उस युग में गाय की प्रमुखता थी और इसी प्रमुखता के कारण प्रस्तुत प्रकरण में गाय शब्द का उल्लेख किया गया है। इससे उसका अर्थ केवल गाय न समझ कर गाय, भैंस, बकरी, घोड़ा, ऊंट आदि पालित पशु समझना चाहिए।

उसके लिए झूठ नहीं बोलने का तात्पर्य यह है—कम दूध देने वाले पशु को अधिक दूध देने वाला या अधिक दूध देने वाले को कम दूध देने वाला बताना। अच्छे एवं शान्त स्वभाव वाले पशु को बुरा और मारने वाला तथा बुरे और मारने वाले पशु को अच्छा और शान्त प्रकृति वाला बताना। तेज गति से दौड़ने वाले घोड़े आदि को मन्द गति वाला तथा मन्द गति वाले को तेज गति वाला बताना। अल्प मूल्यवान को अधिक मूल्यवान और अधिक मूल्यवान को अल्प मूल्य वाला बताना। इत्यादि सभी विकल्प गौ सम्बन्धी असत्य के अन्तर्गत आ जाते हैं। श्रावक इस तरह की भाषा का उपयोग नहीं करता।

4. न्यास-सम्बन्धी झूठ का तात्पर्य यह है—किसी व्यक्ति को विश्वस्त समझ कर अपना जेवर या अन्य कीमती सामान कुछ समय के लिए उसके पास रखना न्यास कहलाता है। उक्त सामग्री को वापस मांगने पर इन्कार कर देना या दूसरे की धरोहर को दबाने के लिए

भाषा का छल करना झूठ है। इस तरह के व्यवहार से सामने वाले व्यक्ति के मन को कभी इतना गहरा आघात लगता है कि हार्ट फेल तक की घटनाएं घट जाती हैं। अत: श्रावक को ऐसी भाषा का प्रयोग नहीं करना चाहिए, जिससे दूसरे के धन-सम्पत्ति का थोड़ा-सा हिस्सा भी अपनी ओर रहता हो।

5. साक्षि-सम्बन्धी–झूठी गवाही देना भी श्रावक के लिए निषेध है। श्रावक का कर्त्तव्य है कि वह प्रत्येक मामले को घर में ही सुलझाने का प्रयत्न करे। यदि कोई व्यक्ति उसकी बात नहीं मान रहा है और न्यायालय में जाता है या अपना मामला किसी पंच के हाथ सौंपता है और उस में श्रावक को गवाही देनी है तो वह बिना झिझक के यथार्थ बात कहे। अपने स्वार्थ को साधने या पैसा कमाने की दृष्टि से झूठ का आश्रय न लेवे।

इस तरह श्रावक दो करण तीन योग से स्थूल झूठ का त्याग करता है। अपने मन, वचन और शरीर से न स्वयं झूठ बोलता है और न दूसरे को झूठ बोलने की प्रेरणा करता है। वह सदा सत्य भाषा का व्यवहार करता है। उसमें भी माधुर्य एवं दूसरे के हित का ख्याल रखता है। वह ऐसा कटु सत्य भी नहीं बोलता जिससे किसी के घर में परस्पर कलह-कदाग्रह या मारपीट हो जाए। वस्तुत: सत्य वही है, जो हितकारी, कल्याणकारी, मधुर और प्रिय हो। नीतिकारों ने भी कहा है–

सत्यं ब्रूयात्, प्रियं ब्रूयात्,
मा ब्रूयात्, सत्यमप्रियम्।

सत्यव्रत का परिपालन करने वाले व्यक्ति को पांच दोषों से सदा बचकर रहना चाहिए। उक्त दोष ये हैं–1. दूसरों पर झूठा आरोप लगाना, 2. किसी के गुप्त रहस्य को प्रकट करना, 3. पत्नी या पति आदि विश्वस्त साथी के साथ विश्वासघात करना, 4. किसी भी व्यक्ति को बुरी या झूठी सलाह देना, और 5. झूठा दस्तावेज या जाली खत तैयार करना।

आत्मा का स्वभाव सत्यमय है। यही कारण है कि असत्य का व्यवहार करते समय भी सत्य उसके सामने साकार हो उठता है। परन्तु मोहजन्य विकारों के वशीभूत होकर मनुष्य सत्य को झुठला कर असत्य की ओर प्रवृत्त होता है। यों असत्य भाषण के अनेक कारण हो सकते हैं, फिर भी मोटे तौर पर उसके 14 कारण बताये गये हैं। वे निम्न हैं–

1. **क्रोध**–क्रोध में मनुष्य पागल हो जाता है। आवेश के समय उसे उचित-अनुचित,

सत्य-असत्य का जरा भी विवेक नहीं रहता। इसलिए आवेश एवं क्रोध में बोली जाने वाली भाषा प्राय: असत्य होती है।

2. **मान**–अहंकार के वश होकर भी मनुष्य झूठ बोलता है। जब मानव के मस्तिष्क पर अपनी महानता या अहंभाव का भूत सवार होता है, उस समय वह सत्य-झूठ को नहीं देखता किन्तु अपनी विशेषता को प्रकट करने में व्यस्त रहता है। अत: अभिमान के स्वर में बोली जाने वाली भाषा प्राय: असत्य होती है।

3. **कपट**–दूसरे व्यक्ति को छलने के लिए झूठ का सहारा लिया जाता है।

4. **लोभ**–लालची व्यक्ति अपना स्वार्थ साधने के लिए असत्य बोलता है।

5. **राग**–मोह के कारण भी मनुष्य झूठ बोलता है।

6. **द्वेष**–मनुष्य द्वेष के कारण भी विरोधी व्यक्ति पर असत्य दोषारोपण कर देता है।

7. **हास्य**–हंसी-मजाक में झूठ बोला जाता है।

8. **भय**–डर के कारण झूठ बोला जाता है।

9. **लज्जा**–लज्जावश अपने दुष्कर्म को छिपाने के लिए झूठ बोला जाता है।

10. **क्रीड़ा**–क्रीड़ा के लिए भी असत्य बोला जाता है।

11. **हर्ष**–हर्ष के आवेश में भी मनुष्य अपनी वाणी पर संयम नहीं रख पाता है। उसका प्रवाह असत्य की ओर मोड़ खा लेता है।

12. **शोक**–वियोग के समय भी मनुष्य अपना मानसिक सन्तुलन खो देता है। इससे उसकी वाणी में विवेक नहीं रह पाता।

13. **दाक्षिण्य**–दूसरों के सामने अपनी निपुणता या चतुरता का प्रदर्शन करने के लिए भी मनुष्य झूठ बोलता है।

14. **बहुभाषण**–आवश्यकता से अधिक बोलने वाला मनुष्य भी असत्य बोलता है।

जब मनुष्य मनोविकारों के प्रवाह में बह जाता है तब वह अपने स्वभाव को भूल जाता है। उस समय वह यह नहीं सोच पाता कि वह क्या कर रहा है और क्या बोल रहा है? अत: सत्य आदि व्रतों की साधना करने वाले साधक को उपरोक्त एवं इस तरह के सभी मनोविकारों

से बचकर रहना चाहिए। यदि प्रसंगवश कभी विकार जाग उठे तो उस समय मौन रहना चाहिए जिससे वह सत्य की साधना में संलग्न रह सके।

अस्तेय अणुव्रत

इस व्रत को स्थूल अदत्तादान-विरमण व्रत भी कहते हैं। स्तेय का अर्थ चोरी करना होता है और अदत्तादान का अर्थ दूसरे के अधिकार में रहे हुए पदार्थ को उसकी आज्ञा के बिना ग्रहण करना होता है। अत: सचित्त--गाय, भैंस आदि सजीव प्राणियों को तथा अचित्त--स्वर्ण, चांदी आदि निर्जीव पदार्थों को--वे जिसके अधिकार में हैं, उसे बिना पूछे उन पर अधिकार करना चोरी है। यह कर्म स्व और पर दोनों के लिए अहितकर है। क्योंकि जिसकी वस्तु उसकी अनुपस्थिति में उस से बिना पूछे उठा ली जाती है या उसकी आंखों में धूल झौंककर, उसे धोखा देकर उसकी उपस्थिति में ही वस्तु को गायब कर दिया जाता है या शक्ति एवं बल प्रयोग द्वारा उससे छीन ली जाती है, तो उक्त व्यक्ति को इससे अत्यधिक दु:ख होता है और उसे वापस पाने के लिए वह निरन्तर चिन्तित रहता हैं, छीनने या चुराने वाले व्यक्ति का अहित चाहता है एवं रात-दिन आर्त्त-रौद्र ध्यान में डूबा रहता है। जो व्यक्ति चोरी करता है वह भी इस क्रूर कर्म को करने के लिए रात-दिन अनेक प्रकार के संकल्प-विकल्पों में संलग्न रहता है। चोरी करने के बाद उसे छुपाने के अनेक प्रयत्न करता है और सदा चिन्ता एवं आर्त्त-रौद्र ध्यान में लगा रहता है। इस तरह दूसरे के धन-वैभव पर हाथ मारना न्याय एवं धर्म सभी दृष्टियों से बुरा माना गया है। इस तरीके से धन प्राप्त करने वाला व्यक्ति कभी भी शान्ति की सांस नहीं ले सकता, आराम का जीवन नहीं बिता सकता। अत: चोरी करना हर हालत में दोष है, अपराध है, महापाप है। अस्तु, श्रावक जीवन-पर्यन्त के लिए दो करण तीन योग से अर्थात् मन, वचन और शरीर से चोरी करने और दूसरे व्यक्ति से चोरी करवाने या चोर को चोरी के लिए प्रेरित करने का त्याग करता है।

अहिंसा की तरह चौर्य कर्म भी दो तरह का है--1. सूक्ष्म, और 2. स्थूल। कल्पना करो, आप बाजार में एक किराने की दुकान पर गये और दुकानदार से बिना पूछे गुड़ की डली उठा कर मुंह में रख ली। इसी तरह मार्ग में चलते हुए तृण या कंकर आदि उठा लिया। जैनधर्म उक्त प्रवृत्ति को भी चोरी मानता है। परन्तु यह सूक्ष्म चोरी है। इसे दुनिया चोरी नहीं मानती और न इससे दूसरे का विशेष नुकसान ही होता है। साधु के लिए ऐसे कार्य से भी बचने का

आदेश है। परन्तु गृहस्थ के लिए स्थूल-मोटी चोरी से बचने की बात कही है, जिससे उसे एवं सामने वाले व्यक्ति को संकल्प-विकल्प एवं आर्त्त तथा रौद्र ध्यान में डूबना न पड़े, जिससे लोग उसे चोर कहकर उसका तिरस्कार न करें तथा शासन उसे दण्डित न करे। इस तरह सेंध लगा कर, ताला तोड़कर, जेब काट कर, डाका डाल कर दूसरे के पदार्थ को अपने अधिकार में लेना स्थूल चोरी है और यह कर्म श्रावक के लिए त्याज्य है।

मनुष्य को अपनी आवश्यकताएं सदा अपने पुरुषार्थ से प्राप्त हुए साधनों से पूरी करनी चाहिएं। यदि कभी दूसरे से किसी पदार्थ को प्राप्त करने की आवश्यकता महसूस हो तो उसे मांग कर लेना चाहिए। दूसरे का सहयोग लेना तथा दूसरे को सहयोग देना बुरा नहीं है। परन्तु छिपकर या बल प्रयोग से दूसरे के पदार्थों पर अधिकार जमाना बुरा है। यह कर्म व्यावहारिक एवं आध्यात्मिक दोनों दृष्टि से निषिद्ध है। विचारकों ने धन को ग्यारहवां प्राण कहा है। जैसे मानव को दूसरे दस प्राणों के जाने पर जितना दु:ख एवं वेदना होती है, उतना ही दु:ख एवं वेदना धन के जाने पर होती है। कई बार धन अपहरण के समय मनुष्य को इतना भारी आघात लगता है कि उसके प्राण-पखेरू तक उड़ जाते हैं। अत: किसी के धन को चुराने या छीनने का अर्थ है—उसके प्राणों का अपहरण करना। अस्तु, सुख-शांतिपूर्वक स्वयं जीने एवं दूसरे को जीवित रहने देने वाले को इस क्रूर एवं नीचतम कर्म से सदा दूर रहना चाहिए।

अस्तेय व्रत की साधना करने वाले व्यक्ति को पांच बातों से सदा बचकर रहना चाहिए। निम्न पांचों दोष जानने योग्य हैं, परन्तु आचरण करने योग्य नहीं हैं। वे दोष इस प्रकार हैं –

1. चोर को चोरी के लिए प्रेरित करना या दूसरे व्यक्ति से प्रेरणा दिलवाना दोष है। जैसे चोरी करना अपराध है, उसी तरह चोर को चोरी करने के लिए मदद एवं प्रोत्साहन देना भी अपराध है। जैसे यदि उसके पास खाद्य सामग्री की कमी है, उस समय उसे खाद्य पदार्थ दे देना। इसी तरह उसके पास ताला तोड़ने, सेंध लगाने आदि के औजार नहीं हैं तो उनकी व्यवस्था कर देना तथा उसका माल कोई खरीदने वाला नहीं है तो स्वयं उसका माल खरीद लेना तथा उसे छिपने के लिए स्थान दे देना एवं इसी तरह और भी आवश्यक साधनों की व्यवस्था कर देना, यह कर्म मनुष्य को नैतिक एवं प्रामाणिक जीवन से नीचे गिराने वाला है। चोर को चोरी करने के लिए सहयोग देना चोरी करने जितना ही गुरुतर अपराध है। अत:

श्रावक को अपने अस्तेय व्रत को शुद्ध एंव निर्दोष रखने के लिए, उक्त पाप या दोष से सर्वथा बचे रहना चाहिए।

2. चोरी करके लाये गये माल को खरीदना भी दोष है। कुछ व्यक्ति समझते हैं कि हम तो व्यापार करते हैं, इसमें दोष की क्या बात है? परन्तु जैनधर्म की दृष्टि से अन्याय से लाये गये पदार्थों को लेना उस अन्याय को बढ़ावा देना है। यही कारण है कि कानून की दृष्टि से भी उक्त कार्य को अपराध माना गया है। इसमें इतना अवश्य है कि यदि खरीदने वाले को यह मालूम नहीं है कि यह माल चोरी का है, वह साधारण माल समझकर बाजार भाव से खरीदता है, उसके पूरे पैसे देता है तो वह अपराधी एवं दोषी नहीं है। परन्तु मालूम पड़ने पर भी लोभ में आकर माल खरीदना अपराध है। श्रावक इस पाप कार्य से सदा-सर्वदा दूर रहता है।

3. तोल-माप के साधन कम या अधिक रखना। कुछ दुकानदार देने एवं लेने के बांट और मीटर आदि अलग-अलग रखते हैं। यदि किसी ग्राहक को माल देना है तो कम तोल के बांट का उपयोग करते हैं और स्वयं को लेना है, तो उस समय अधिक वजन के बांट का उपयोग करते हैं। कुछ व्यक्ति अपने उक्त दोष को छिपाकर रखने के लिए साधनों के अनुसार अपने पुत्रों या अन्य वस्तुओं के नाम रख लेते हैं। जैसे किसी को कम तोलना है तो अपने संकेतानुसार घट्टूमल को बुला लिया जाता है। यदि कोई ग्राहक चालाक है तो पूर्णमल को याद कर लिया जाता है और किसी से अधिक लेना है तो बधारुमल को बुला लिया जाता है। इन संकेतों से ग्राहक वस्तुस्थिति को समझ नहीं पाता है और वह दुकानदार अपना स्वार्थ साध लेता है। इस तरह से किसी व्यक्ति को नाप-तोल में कम देना या किसी से अधिक लेना भी दोष है। कानून की दृष्टि से भी मापक साधनों को कम-ज्यादा रखना अपराध माना गया है।

4. वस्तु में मिलावट करना भी दोष है। कानून की दृष्टि से भी इसे अपराध माना गया है। वर्तमान युग में यह प्रवृत्ति काफी बढ़ गई है। घी, दूध, तेल आदि कोई भी पदार्थ मनुष्य को शुद्ध नहीं मिलता। कुछ दिन हुए भारत सरकार के गृह मन्त्री गोविन्दवल्लभ पन्त ने कहा था कि शुद्ध घी की बात तो छोड़िए, परन्तु हमें यह भी विश्वास नहीं होता कि बाजार से मिलने वाला डालडा घी भी शुद्ध है। यह आज के व्यापारियों की प्रामाणिकता पर करारी चोट है। व्यापारी इसे पैसा कमाने की कला समझता है, परन्तु यह कला नहीं, ग्राहक के एवं राष्ट्र के

साथ विश्वासघात है, धोखा है। अस्तु, मिलावट करने वाला केवल चोरी करने का अपराधी ही नहीं, प्रत्युत विश्वासघाती एवं देश-द्रोही भी है। उसके इस जघन्य कार्य से देश की जनता के स्वास्थ्य एवं मानसिक चिन्तन पर बुरा असर होता है। इसलिए श्रावक को इस महादोष से सदा दूर रहना चाहिए।

5. राष्ट्र-विरोधी कार्य करना भी दोष है। अतिवृष्टि, अनावृष्टि या राजनैतिक गड़बड़ एवं संकट के समय वस्तुओं का मूल्य बढ़ा देना तथा प्रान्तीय व्यवस्था को या राष्ट्रीय व्यवस्था को व्यवस्थित बनाये रखने के लिए एक प्रांत का माल दूसरे प्रांत में लाने-ले जाने या अपने देश का माल दूसरे देश में लाने-ले जाने पर प्रतिबन्ध लगाया हुआ है, उस हालत में छुपकर या सीमा अधिकारियों को रिश्वत देकर इधर-उधर माल लाना तथा ले जाना भारी अपराध है। इसी तरह बिना टिकट सफर करना, चुंगी से बचने के लिए इधर-उधर से छिपकर निकल जाना, इन्कम टैक्स बचाने के लिए अलग खाते रखना इत्यादि ऐसे सभी कार्य अस्तेयव्रत के विरुद्ध हैं। ये सब चोरी के पाप को बढ़ाने वाले हैं। अत: श्रावक को इन सब दोषों से बचकर रहना चाहिये।

अचौर्य व्रत का भलीभांति परिपालन करने के लिए ऊपर कुछ बातें बताई गई हैं। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि श्रावक को ऐसा कोई कार्य नहीं करना चाहिए जिससे चोरी के काम को जरा भी प्रोत्साहन मिले। जैनधर्म की दृष्टि से वे सभी कार्य स्तेय-चोरी में गिने जाते हैं, जिनके द्वारा दूसरे के धन, शक्ति एवं अधिकारों का अपहरण किया जाता है। वैदिक ग्रन्थों में भी कहा है--जो व्यक्ति अपना पेट भरने के लिए दूसरों के भोजन का अपहरण करता है अर्थात् गरीबों को भूखे रखकर, उनका शोषण करके अपने ऐशो-आराम के साधन जुटाता है। वह समाज एवं राष्ट्र का चोर है और दण्ड पाने के योग्य है-

यावद् भ्रियते जठरं, तावत् सत्त्वं हि देहिनाम्।
अधिकं योऽभिमन्येत स स्तेनो दण्डमर्हति॥[1]

इस दृष्टि से सोचते हैं तो जो राजा या राजनेता अपनी प्रजा के न्याय-प्राप्त राजनैतिक, सामाजिक एवं नागरिक अधिकारों का अपहरण करता है। अपने निजी स्वार्थों को पूरा करने

1. भागवत।

के लिए जनता पर आवश्यकता से अधिक टैक्स लगाकर या दूसरे अनैतिक तरीकों से उसका शोषण करता है, जनता की सुख-सुविधा का ख्याल नहीं रखता है तथा उसकी आवश्यकताओं को पूरा नहीं करता है तो वह राजा या राजनेता शासक नहीं, शासक के रूप में चोर है, लुटेरा है।

अपने आप को धर्म का ठेकेदार मानने वाले संकीर्ण हृदय वाले सवर्ण लोग अपने जातीय एवं धन के गर्व में हरिजन एवं अन्य साधारण तथा निर्धन लोगों के धार्मिक, सामाजिक एवं मानवीय अधिकारों का अपहरण करते हैं, वे भी धर्म-नेता नहीं, समाज एवं शासन के चोर हैं।

जमींदार, मिल एवं फैक्ट्रियों के मालिक अपना स्वार्थ साधने के लिए, या यों कहिए अपनी पूंजी बढ़ाने के लिए, किसानों, मजदूरों एवं श्रमिकों का शोषण करते हैं, उनसे समय एवं शक्ति से अधिक काम लेते हैं, उनसे बेगार लेते हैं–तनख्वाह या मजदूरी दिये बिना काम लेते हैं, उनकी मेहनत के पैसों को काटने का प्रयत्न करते हैं और उनके हितों का ख्याल नहीं रखते हैं, वे भी समाज के दुश्मन हैं, चोर हैं।

वे लालची साहूकार जो मर्यादा से अधिक सूद लेते हैं, कम रुपये देकर अधिक रुपयों का खत लिखवाते हैं तथा गिरवी रखे हुए माल को हजम कर जाने का प्रयत्न करते हैं, वे भी चोर हैं।

वे सरकारी अधिकारी एवं कर्मचारी जो रिश्वत लिये बिना कोई काम नहीं करते तथा वे मकान एवं दुकान मालिक जो मकान एवं दुकान के उचित किराये से अधिक लेते हैं और साथ में पगड़ी–अतिरिक्त धन लेते हैं, वे भी चोरी करते हैं।

वे वकील-बैरिस्टर एवं वैद्य-डाक्टर भी चोर हैं, जो सेवा एवं सद्भावना की दृष्टि से कार्य न करके केवल पैसा लूटने के लिए वकालत या डॉक्टरी का धन्धा करते हैं। अर्थात् पैसे के लोभ में आकर झूठे मुकदमे को सच्चा बनाने का प्रयत्न करते हैं तथा एक बीमार व्यक्ति से अधिक पैसा कमाने की दृष्टि से उसका ठीक इलाज न करके बीमारी को अधिक लम्बा बनाने का प्रयत्न करते हैं, जिससे कि रोगी से दवा एवं फीस के बहाने अधिक पैसा ऐंठा जा सके। कुछ डॉक्टर औषध-विक्रेताओं से कमीशन तय कर लेते हैं कि मेरे रोगी के द्वारा खरीदी गई दवा का इतना कमीशन होगा, इस तरह सेवा के काम को धन कमाने का धन्धा

बनाने वाले स्वार्थी एवं लालची वकील-बैरिस्टर एवं डॉक्टर भी चोरों की श्रेणी में गिने गये हैं।

वे लेखक एवं कवि जो दूसरे लेखकों एवं कवियों के विचारों को अपने नाम से छपवाते हैं, उनके लेखों एवं कविताओं में थोड़ा-बहुत शब्दों का या शीर्षकों का हेर-फेर करके उसे अपने नाम से प्रकाशित करने का दु:साहस करते हैं, वे भी चोर हैं।

इस तरह किसी भी व्यक्ति के धन-धान्य आदि पदार्थ, विचार, समय, शक्ति एवं श्रम का अपहरण करना, उन पर अपना अधिकार जमाना चोरी है। श्रावक को इस पाप-कर्म से सदा दूर रहना चाहिए और जीवन में सदा सावधान होकर चलना चाहिए।

ब्रह्मचर्य अणुव्रत

विषय-वासना जीवन को पतनोन्मुख बनाती है। इससे शारीरिक शक्ति, वैचारिक सहिष्णुता एवं मानसिक सन्तुलन बिगड़ता है। वासना से आत्म तेज दब जाता है, मन्द पड़ जाता है। अत: साधक को इन्द्रिय-जन्य विषय-भोगों से सदा विरत रहना चाहिए। जैन-धर्म के विचारकों ने मैथुन क्रिया को सदोष माना है। प्रथम तो यह मोहजन्य है और मोह एवं आसक्ति को बढ़ाने वाली है। विषय-भोगों की ओर जितनी अधिक प्रवृत्ति होगी, वासना की आग भी उतनी ही तेज होगी। काम-भोग से या मैथुन क्रिया से वासना को शान्त करने की प्रक्रिया ठीक वैसी ही होगी जैसे कि पैट्रोल छिड़क कर प्रज्वलित आग को बुझाने का प्रयास किया जाये। कृष्ण ने भी अर्जुन से यही बात कही कि हे अर्जुन ! इन्द्रिय एवं विषयों के संयोग से उत्पन्न होने वाले ये सब भोग विषयी पुरुषों को भ्रम से सुख-रूप प्रतीत होते हैं, परन्तु वास्तव में ये दु:ख के ही कारण हैं और आदि-अन्त वाले हैं, अनित्य हैं। इसलिए बुद्धिमान पुरुष इनमें रमण नहीं करता।[1] अत: हम यह कह सकते हैं कि संभोग प्रवृत्ति वासना को और तीव्र बनाती है, एतदर्थ वह सदोष एवं त्याज्य है।

दूसरी बात यह है कि स्त्री-पुरुष संसर्ग से या अप्राकृतिक ढंग से मैथुन क्रिया करने से लाखों सन्नी पञ्चेन्द्रिय जीवों की हिंसा होती हैं। मैथुन प्रवृत्ति को प्राकृतिक कहकर उसे निर्दोष मानना या कहना भारी भूल है। वैज्ञानिक भी इस बात से सहमत हैं, कि मैथुन प्रवृत्ति

1. गीता, अध्याय, 5 श्लोक, 22.

से लाखों सजीव जीवाणुओं की उत्पत्ति होती है। भगवती सूत्र में इसका विस्तार से विवेचन किया गया है।[1] मानव के क्षणिक आमोद-प्रमोद में लाखों-करोड़ों पञ्चेन्द्रिय प्राणियों की जीवन-लीला समाप्त हो जाती है, सम्मूर्च्छिम जीवों की हिंसा की तो बात अलग है। यही कारण है कि अहिंसा-प्रधान जैनधर्म ने मैथुन प्रवृत्ति को सदोष माना है।

विषय-वासना से सर्वथा विरक्त हो जाने का नाम ब्रह्मचर्य है। मन, वचन और शरीर से विषय-वासना की ओर न प्रवृत्त होना, न दूसरे को प्रेरित करना तथा न ही वैषयिक सुखों का चिन्तन करना या उन्हें अच्छा समझना। इस तरह मन, वचन और शरीर से वैषयिक प्रवृत्ति, प्रेरणा एवं चिन्तन का परित्याग करना साधारण काम नहीं है। सशक्त आत्मा ही इसे पूर्णत: स्वीकार कर सकता है और वही इसका ठीक तरह से परिपालन कर सकता है। प्रत्येक व्यक्ति इस मार्ग पर आसानी से नहीं चल सकता। इसलिए साधु एवं श्रावक के लिए अन्य व्रतों की तरह इस व्रत के दो विभाग कर दिए गए हैं। साधु के लिए पूर्णत: ब्रह्मचर्य पालन करने का विधान है, परन्तु गृहस्थ के लिए जीवन को संयमित, नियमित एवं मर्यादित बनाने की बात कही गई है। श्रावक के लिए भी यह जरूरी है कि वह विषय-वासना का पूर्णत: त्याग नहीं कर सकता है तो उसे केन्द्रित कर ले। या यों कहिए श्रावक स्व-पत्नी के अतिरिक्त और श्राविका स्व-पति के अतिरिक्त अपनी वासना को न फैलने दे।

इसका यह अर्थ नहीं है कि पति-पत्नी का संसर्ग निर्दोष है और वे इस प्रवृत्ति के लिए खुले हैं। मैथुन क्रिया हर हालत में सदोष है। हां, उक्त प्रवृत्ति से बंधने वाले कर्म में अन्तर हो सकता है। क्योंकि बन्ध क्रिया पर नहीं, भावना या परिणामों की धारणा पर आधारित है। यदि विषय-भोगों में अधिक आसक्ति है तो बन्ध प्रगाढ़ होगा और आसक्ति कम है तो बन्ध हल्का होगा। श्रावक इस बात को जानता है, इसलिए वह वैषयिक प्रवृत्ति में भी विवेक को सामने रख कर चलता है। श्रावक अपनी पत्नी के साथ और श्राविका स्व-पति के साथ स्वच्छन्दता से क्रीड़ा नहीं करते, परन्तु पति-पत्नी दोनों एक दूसरे में संतोष वृत्ति को स्वीकार करते हैं। वासना का वेग अत्यधिक होने पर वे वैषयिक क्रिया में प्रवृत्त होते हैं, परन्तु उस समय भी वे अपने आप को भूल नहीं जाते और न उक्त क्रिया को आनन्द रूप समझ कर उसमें आसक्त ही होते हैं। वे उसका सेवन सिर्फ दवा के रूप में करते हैं। औषध का उपयोग बीमारी के समय किया जाता है, न कि स्वस्थ अवस्था में। बीमारी के समय भी मर्यादित रूप

1. भगवती सूत्र, शतक 2, उद्देशक 2, सूत्र 106.

में ही औषध ली जाती है, पेट भरने के लिए नहीं। इसी तरह वैषयिक प्रवृत्ति भी संयमित, मर्यादित एवं संतोषवृत्ति के साथ की जाए तो वह शारीरिक, वैचारिक एवं मानसिक स्वस्थता की दृष्टि एवं आध्यात्मिक दृष्टि से विशेष हानि का कारण नहीं बनती।

प्रस्तुत व्रत का नाम स्वदार-संतोष व्रत / स्वपति-संतोष व्रत है। इसका तात्पर्य यह है कि श्रावक-श्राविका विषय-भोगों को अच्छा नहीं समझते, वे उन्हें त्याज्य समझते हैं। परन्तु वासना पर पूर्णत: विजय पा सकने में असमर्थ होने के कारण दाम्पत्य जीवन में संतोषवृत्ति का अनुभव करते हैं। अपनी फैली हुई अनन्त वासनाओं को इधर-उधर से हटाकर दाम्पत्य जीवन में केन्द्रित कर लेते हैं। श्रावक-श्राविका स्वपत्नी एवं स्वपति को छोड़कर जगत के अन्य सब स्त्री-पुरुषों को माता-बहिन एवं भाई के तुल्य समझते हैं।

आज मनुष्य-जीवन में संयम का महत्त्व बहुत कम रह गया है। बहुत-से मनुष्य प्राकृतिक एवं अप्राकृतिक ढंग स रात-दिन व्यभिचार के कामों में निमज्जित रहते हैं। पाश्चात्य देशों में विषय-भोगों का सेवन करना जीवन का महान उद्देश्य माना जाता है और यही कारण है कि वहां बड़े-बड़े क्लबों में स्त्री-पुरुष के कई जोड़े विषय-वासना का खुला प्रदर्शन करते हैं। पाश्चात्य सभ्यता की यह हवा भारत में भी चल पड़ी है। बड़े-बड़े क्लबों एवं होटलों में जोड़ों का नाच बिना किसी संकोच एवं रोक-टोक के साथ होता है। वहां किसी तरह का प्रतिबन्ध नहीं है, कोई भी स्त्री किसी भी पुरुष के साथ नाच सकती है। यह वासना का नंगा प्रदर्शन भारतीय संस्कृति एवं सभ्यता के बिल्कुल विपरीत है। ऐसी प्रवृत्ति स्वास्थ्य एवं आध्यात्मिक दृष्टि से जीवन के लिए घातक है, पतन के महागर्त में गिराने वाली है। इस पर प्रतिबन्ध लगाना समाज एवं राष्ट्र का सबसे पहला काम है। केवल धार्मिक दृष्टि से नहीं, सामाजिक, राष्ट्रीय, व्यावहारिक एवं स्वास्थ्य की दृष्टि से भी विषय-वासना को उत्तेजित करने वाली सभी प्रवृत्तियां नुकसानप्रद हैं।

स्त्री वासना पूर्ति का साधन-मात्र ही नहीं है। वह केवल नारी नहीं, माता भी है, बहिन भी है, पुत्री भी है। अत: उसे वासना की साकार मूर्ति मानकर अपने आमोद-प्रमोद का साधन मानना एवं बनाना भारी भूल है। नारी वासना की गुड़िया नहीं, एक शक्ति है, ताकत है, तथा शान्ति एवं सहिष्णुता की देवी है। उसे अतृप्त वासना की दृष्टि से देखना राष्ट्र के जीवन को पतन के महागर्त में गिराना है। यह केवल नारी का अपमान नहीं, बल्कि माता एवं बहिन का घोर अपमान करना है। अस्तु, भारतीय संस्कृति एवं सभ्यता किसी भी हालत में अनियंत्रित

वासना, भोगेच्छा एवं वैषयिक भावना को बढ़ावा देने वाले साधनों-प्रसाधनों को स्वीकार नहीं कर सकती। वैदिक धर्म के ग्रन्थों में भी केवल सन्तान-प्राप्ति की इच्छा से दम्पति को विषय-वासना की ओर प्रवृत्त होने की बात कही है, न कि रात-दिन चौबीस घण्टे वासना के अनन्त सागर में डूबे रहने की। एक पति या एक पत्नी-व्रत का यह अर्थ लगाना गलत है कि उसके साथ व्यक्ति रात-दिन वैषयिक सुख में डूबा रहे। स्वपत्नी भी केवल भोग के लिए नहीं है। उसका साथ, सहयोग एवं सम्पर्क वासना को नियंत्रित करने के लिए, जीवन में संयम को बढ़ावा देने के लिए है, संतोषवृत्ति धारण करने के लिए है। स्वपत्नी के साथ भी विषय-वासना में डूबे रहना व्रत की दृष्टि से एवं भारतीय संस्कृति की दृष्टि से पतन का कारण है। प्रस्तुत व्रत को सुरक्षित रखने के लिए श्रावक को 5 बातों से सदा बचे रहना चाहिए –

(1) किसी स्त्री या पुरुष को रखैल[1] के रूप में रखकर उसके साथ काम-भोग का सेवन करना।

(2) पुरुष को परस्त्री, अविवाहित नारी एवं वेश्या के साथ तथा श्राविका को पर-पुरुष एवं अविवाहित व्यक्ति के साथ विषयेच्छा को पूरा करना।

(3) अप्राकृतिक साधनों से विषय-भोगों का सेवन करना तथा उसे बढ़ावा देने वाले साधनों का इस्तेमाल करना।[2]

(4) दूसरों के विवाह-सम्बन्ध जोड़ना।[3] अथवा अपना पर–दूसरा विवाह करवाना।

(5) काम-भोग की तीव्र आसक्ति रखना। वासना को अधिक बढ़ाने के लिए कामोत्तेजक औषधों एवं प्रकाम रसों तथा प्रकाम भोजन का सेवन करना तथा अमर्यादित रूप से विषय-भोग भोगना।

---

1. जिसके साथ विधि-पूर्वक विवाह नहीं किया है, परन्तु अपनी वासना की पूर्ति के लिए रख छोड़ा है।
2. जोड़े के रूप में नाचकर वासना का प्रदर्शन करना, अश्लील साहित्य पढ़ना, काम-वासना को उत्तेजित करने वाली फिल्मों को देखना, वैसे फिल्मी गाने गाना तथा एडवरटाइजमेंट के रूप में नारी के रूप तथा सौन्दर्य का भद्दा चित्रण करना, जिससे अपनी एवं दूसरों की काम-पिपासा जाग उठे।
3. उक्त चौथे अतिचार का नाम 'पर-विवाह-करणे' है। आचार्यों ने इसका अर्थ 'दूसरे का विवाह-सम्बन्ध करवाना' किया है। कई टीकाकारों ने भी यही अर्थ किया है। 'परविवाहकरणे–परेषां स्वापत्य-व्यतिरिक्तानां जनानां विवाहकरणं कन्या-फल-लिप्सया, स्नेह-सम्बन्धाऽऽदिना वा परिणयनं परविवाहकरणम् 'अर्थात् अपनी सन्तान को छोड़कर स्नेह-सम्बन्ध या कन्या-प्राप्ति की इच्छा से दूसरों का विवाह करवाना।' 'परकीयापत्यानां स्नेहादिना परिणायने 'अर्थात् दूसरे की सन्तानों का स्नेहादि के लिए परिणायन–विवाह

इस तरह श्रावक एवं श्राविका को उन सब साधनों का परित्याग कर देना चाहिए, जिनसे जीवन में विषय-वासना बढ़ती है, विकारों में अभिवृद्धि होती है।

परिग्रह-परिमाण अणुव्रत

परिग्रह दो प्रकार का होता है–1. द्रव्य परिग्रह, और 2. भाव परिग्रह। धन-धान्य, स्वर्ण-चांदी, घर-मकान-दुकान आदि द्रव्य परिग्रह है और उक्त पदार्थों में आसक्ति, ममता एवं मेरेपन का भाव रखना भाव परिग्रह है। भाव परिग्रह के अभाव में द्रव्य परिग्रह विकास पथ में इतना बाधक नहीं है। द्रव्य परिग्रह चाहे अत्यल्प ही क्यों न हो, परन्तु यदि भाव परिग्रह–आसक्ति रही हुई है, पदार्थों की तृष्णा मन में अवशेष है तो वह दरिद्री होने पर भी परिग्रही है। और द्रव्य परिग्रह अत्यधिक है, यहां तक कि चक्रवर्ती का वैभव उसके चरणों में लोट रहा है, फिर भी उसके मन में उसके प्रति ममता-मूर्च्छा नहीं है, तृष्णा-आकांक्षा नहीं है, तो वह व्यक्ति द्रव्य परिग्रह का ढेर लगा होने पर भी अल्प-परिग्रही कहा गया है। इससे स्पष्ट है कि परिग्रह आसक्ति, तृष्णा एवं ममता में है, पदार्थों में नहीं। इसीलिए कहा गया है–**मुच्छा परिग्गहो वुत्तो।**

परिग्रह- आसक्ति या तृष्णा को सबसे बड़ा पाप कहा है। क्रोध प्रेम और स्नेह का नाश करता है, मान विनय-भक्ति का नाशक है और माया मित्रता का नाश करती है, परन्तु लोभ

करवाने को 'परविवाहकरणे' कहते हैं।' स्वदार-संतोषिणो हि न युक्तं परेषां विवाहाऽऽदिकरणेन मैथुननियोगोऽनर्थको, विशिष्ट- विरति-युक्तत्वादित्येवमनाकलयत: परार्थकरणोद्यततयाऽतिचारोऽयमिति, अर्थात् स्वदार-संतोषव्रत वाले व्यक्ति का दूसरे के विवाहादि असंयम-प्रोत्साहक कार्य करने से अतिचार लगता है। क्योंकि वह विशिष्ट व्रतधारी है, एतदर्थ उसके लिए ऐसा कार्य करना दोष का कारण है। (राजेन्द्र कोष भाग 5, पृष्ठ 548)
शाब्दिक दृष्टि से भले ही यह अर्थ सही है, परन्तु व्रत स्वीकार करने की दृष्टि से यह अर्थ ठीक नहीं बैठता। क्योंकि चौथा व्रत एक करण और एक योग से स्वीकार किया जाता है। अर्थात् त्याग करने वाला व्यक्ति शरीर से विषय-भोग सेवन करने का प्रत्याख्यान करता है। उसने मन और वचन से अभी विषय-भोग का त्याग नहीं किया है और मन, वचन एवं शरीर से वैषयिक सम्बन्ध करवाने एवं करने वाले का समर्थन करने का भी उसने त्याग नहीं किया है। अत: जब श्रावक के दूसरे व्यक्ति का विवाह-सम्बन्ध कराने रूप काम-भोग का त्याग ही नहीं है, तब उसे उसका अतिचार क्यों लगेगा, जिससे दूसरे का विवाह करवाने की प्रवृत्ति पर प्रतिबन्ध लगाया जाए या ऐसा करने पर उसे व्रत में दोष लगाने वाला माना जाए। अस्तु, 'परविवाहकरणे' का यह अर्थ करना उचित नहीं जंचता। आचार्य हरिभद्र सूरि ने 'धर्म-बिन्दु' ग्रन्थ में इसका अर्थ यह किया है कि श्रावक या श्राविका ने व्रत स्वीकार करते समय पत्नी या पति की जो मर्यादा रखी है, कालान्तर में उसका वियोग हो जाने पर भी वह उसके अतिरिक्त दूसरी स्त्री या दूसरे पुरुष के साथ विवाह-सम्बन्ध न करे। यह अतिचार दूसरे का विवाह करवाने के अर्थ में नहीं, अपना दूसरा विवाह न करने के अर्थ में है। और यह अर्थ व्रत

तृष्णा या आसक्ति सब गुणों का नाशक है, सारे दोषों की जड़ है।[1] आज व्यक्ति-व्यक्ति में, घर में, समाज में, राष्ट्र में एवं अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में होने वाले संघर्ष, कलह-कदाग्रह का मूल कारण परिग्रह ही है। पूंजीपति और श्रमजीवियों का, साम्राज्यवादी ताकतों और कम्युनिज्म का, या यों कहिए अमेरिका और रूस का जो संघर्ष चल रहा है, दो ताकतों में जो तनाव बढ़ रहा है, इसके पीछे दोनों की अतृप्त तृष्णा-आकांक्षा ही तो है। साम्राज्यवादी शक्तियां कम्युनिज्म से आगे बढ़ने के लिए अथवा यों कहिए सारे विश्व में साम्राज्यवादी व्यवस्था कायम करने के लिए दौड़ लगा रही हैं, तो कम्युनिस्ट सारे विश्व में अपना आधिपत्य जमाने का, सारे विश्व में कम्युनिस्ट विचारधारा प्रसारित करने का स्वप्न ले रहे हैं। इस ख्याली स्वप्न को पूरा करने के लिए दोनों ताकतें रात-दिन एक दूसरे का नाश करने के उपाय सोचने एवं भयंकर से. भयंकर शस्त्रों का निर्माण करने में व्यस्त हैं। उनका मन मस्तिष्क रात-दिन अनिष्ट चिन्तन से भरा रहता है। वे थोड़ी देर के लिए भी शांत मन से दूसरे के हित की बात नहीं सोच सकते।

तृष्णा के जाल में आबद्ध मानव सदा दूसरे का अहित ही सोचता है। कभी हित की बात सोचता भी है तो अपने मतलब को पूरा करने के लिए या अपना स्वार्थ साधने के लिए, परन्तु मतलब के बिना वह दूसरे का हित करना तो दूर रहा उसके हित की बात सोच भी नहीं सकता। इस तरह परिग्रह मनुष्य को शांति से सांस नहीं लेने देता। जहां तृष्णा राक्षसी का निवास

स्वीकार करने की दृष्टि से उचित जंचता है। आचार्य श्री जवाहरलाल जी महाराज ने भी यही अर्थ किया है। (ब्रह्मचर्यव्रत पृ. 112)। अस्तु, जैसे श्राविका को पति-वियोग हो जाने पर दूसरा विवाह नहीं करने का सामाजिक एवं धार्मिक नियम है, उसी तरह श्रावक के लिए भी यह धार्मिक नियम है कि वह अपनी पत्नी का वियोग हो जाने पर दूसरा विवाह न करे।

'परविवाहकरणे' चौथे व्रत का अतिचार है और अतिचार मात्र जानने योग्य होता है, आचरण करने योग्य नहीं होता और न उसमें आगार-मर्यादा ही रखी जा सकती है। अतः पुत्र-पुत्री आदि सम्बन्धियों के अतिरिक्त अन्य का विवाह न कराने की बात उचित प्रतीत नहीं होती। दूसरे का विवाह करवाना अतिचार है, तो फिर श्रावक न अपनी संतान का विवाह कर सकता है और न दूसरे की संतान का ही। अतिचार अतिचार है, अतः उसमें अपने-पराए का भेद नहीं किया जा सकता। अस्तु, दूसरे का विवाह-सम्बन्ध कराने से व्रत का भंग नहीं होता है। हां कुछ अन्य धर्मी लोग कन्यादान आदि कार्य को धर्म का कारण मानते हैं, अतः उक्त दोष से बचने के लिए दूसरे के विवाह-सम्बन्ध जोड़ने में शामिल होना उचित नहीं है। परन्तु यह अतिचार नहीं है। अतिचार की दृष्टि से श्रावक-श्राविका ने जिस पत्नी या पति की मर्यादा रखी है, उसका वियोग हो जाने पर भी उसे पुनर्विवाह नहीं करना चाहिए। (सम्पादक)

1. कोहो पीइं पणासेइ, माणो विणय-नासणो।
माया मित्ताणि नासेइ, लोहो सव्व-विणासणो।। –दशवैकालिक सूत्र 8, 38.

होता है वहां रात-दिन अशान्ति-चक्र चलता रहता है। यहां तक कि भाई भाई का खून करने को तैयार रहता है। संक्षेप में कहूं तो, परिग्रह समस्त अनर्थों की जड़ है। तृष्णा के वशीभूत मानव सब पाप और अपराध करता है। अस्तु, इन सारे दुष्कर्मों से बवकर शांत जीवन बिताने के लिए जैन धर्म ने अपरिग्रह की ओर बढ़ने की बात कही।

यह नितान्त सत्य है कि गृहस्थ पूर्णत: परिग्रह का त्याग नहीं कर सकता। इसका कारण यह नहीं कि वह अपने एवं अपने परिवार का जीवन निर्वाह करने के लिए धन-धान्य आदि पदार्थों का संग्रह करता है। उपकरण एवं पदार्थ तो साधु भी स्वीकार करता है, फिर भी वह परिग्रही नहीं कहा गया है। इसका कारण यह है कि साधु-जीवन में वस्त्र-पात्र एवं स्वीकार किए जाने वाले खाद्य पदार्थों में आसक्ति नहीं होती, अपनत्व नहीं होता। वह केवल संयम-निर्वाह की भावना से उपकरण एवं खाद्य पदार्थों को स्वीकार करता है। यदि कोई उसके उपकरण छीनकर ले जाए तो वह उसके साथ जोर-जबरदस्ती नहीं करेगा, उसके लिए हो-हल्ला नहीं मचाएगा और न विलाप ही करेगा, परन्तु उपकरण-रहित स्थिति में वह शांत भाव से अपनी साधना में संलग्न रहेगा। यहां तक कि उसके पास लज्जा को ढकने के लिए तथा शीत के निवारणार्थ वस्त्र भी नहीं हैं तब भी वह चिन्ता एवं दु:ख नहीं करके यही सोचेगा कि अचेल--वस्त्र रहित अवस्था भी साधना का मार्ग है। मुझे इस तप को साधने-आराधने का सहज ही अवसर मिल गया। परन्तु गृहस्थ-जीवन में ऐसी भावना का मिलना कठिन है। उसे केवल अपना ही जीवन नहीं चलाना है, बल्कि पूरे परिवार के दायित्व को निभाना है और साथ में सामाजिक एवं राष्ट्रीय कर्त्तव्य का भी परिपालन करना है। अत: वह पदार्थों पर से ममत्व का पूर्णत: त्याग नहीं कर पाता। उसका अपने देश, समाज एवं परिवार में अपनत्व रहता है। अपनी पारिवारिक समस्याओं का हल करने के लिए आवश्यक पदार्थों पर भी उसे अपनत्व रखना होता है और अपने दायित्व को निभाने के लिए उसे अपने परिवार एवं पारिवारिक धन-माल की सुरक्षा का भी ध्यान रखना होता है। सामाजिक एवं राष्ट्रीय कर्त्तव्य का भी पालन करना पड़ता है। इस कारण वह पूर्णत: अपरिग्रही नहीं हो सकता। अस्तु, उसका परिग्रह केवल बाह्य पदार्थों के कारण नहीं, किन्तु उनमें रही हुई आसक्ति के कारण है। यदि साधु भी तृष्णा एवं आसक्ति के कारण किसी भी पदार्थ का संग्रह करता है, तो वह भी परिग्रही ही है।

परिग्रह आसक्ति एवं तृष्णा में है और आसक्ति एवं तृष्णा का कहीं अन्त नहीं है। शारीरिक शक्ति के क्षीण होने पर या वृद्ध अवस्था आने पर इन्द्रियां शिथिल हो जाती हैं,

देखने-सुनने की शक्ति घट जाती है, परन्तु तृष्णा की आग उस समय भी प्रज्वलित रहती है। अन्तिम सांस के समय भी तृष्णा की आग जगमगाती रहती है। आचार्य शंकर ने कहा है—'शरीर जर्जरित हो गया, सारे अंगोपांग शिथिल पड़ गए, बाल पककर सफेद हो गए, मुंह के सभी दांत गिर गए, उक्त वृद्ध को अब केवल लकड़ी का ही सहारा रह गया। फिर भी वह तृष्णा का त्याग नहीं करता है। उसकी आशा-आकांक्षा मरते समय तक भी अपरिमित रहती है।[1]

इस तरह हम देखते हैं कि चाहे जितना द्रव्य मिल जाए फिर भी तृष्णा या आकांक्षा पूरी नहीं होती। यहां तक कि दुनिया भर का वैभव भी उसके लिए थोड़ा ही रहता है। भगवान् महावीर के शब्दों में कहें तो 'स्वर्ण और चांदी के हजारों पर्वत खड़े कर लेने पर भी तृष्णा का अन्त नहीं होता, वह आकाश के समान अनन्त है।[2]

हम छत पर खड़े होकर देखते हैं कि अमुक स्थान पर आकाश और धरती मिल रहे हैं, पर वहां पहुंचकर देखो तो वह सीमा और आगे मिलती हुई दिखेगी। ऐसे हम लाखों-करोड़ों वर्षों तक ही नहीं, कई कालचक्र भी बिता दें तब भी आकाश का अन्त नहीं आता। इसी तरह चाहे कितना भी धन हो जाए फिर भी तृष्णा की आग शान्त नहीं होती। जैसे प्रज्वलित अग्नि में डाला हुआ पैट्रोल या ईंधन उसे बुझाता नहीं, बढ़ाता है, इसी तरह धन-वैभव के मिलने पर तृष्णा की आग बुझती नहीं, प्रत्युत बढ़ती है। और इसी कारण मानव को शान्ति नहीं मिलती। वह सदा संकल्प-विकल्पों में डूबा रहता है, अशान्ति की आग में जलता रहता है।

गृहस्थ-जीवन में मनुष्य ममता का पूर्णत: त्याग नहीं कर पाता, फिर भी वह उसे सीमित कर सकता है। पूरे वेग से दौड़ने वाली नदी के पानी को बांध की दीवारों से रोक लिया जाता है, तो वह बाढ़ का पानी मानव-जीवन के लिए अभिशाप एवं दु:ख का कारण न होकर, उसके लिए वरदान रूप में सिद्ध होता है। इसी तरह ममता, तृष्णा एवं आकांक्षा को जब त्याग की सीमा में बांध लिया जाता है, तो फिर उससे स्वयं एवं दूसरे मनुष्यों के जीवन को खतरा एवं भय नहीं रहता। इस बांध को जैन परिभाषा में 'परिग्रह-परिमाण व्रत' कहते हैं।

---

1. अंगं गलितं पलितं मुण्डं, दशन-विहीनं जातं तुण्डम्।
वृद्धो याति गृहीत्वा दण्डं, तदपि न मुंचत्याशापिण्डम्।। —आचार्य शंकर, भजगोविन्द स्तोत्र, श्लोक 14.
2. सुवण्ण-रुप्पस्स उ पव्वया भवे, सिया हु केलाससमा असंखया।
नरस्स लुद्धस्स न तेहिं किंचि, इच्छा हु आगाससमा अणन्तिया।। —उत्तराध्ययन सूत्र 9, 48.

'परिग्रह परिमाण व्रत' का आराधक व्यक्ति अपनी अनन्त एवं असीम ममता, आसक्ति एवं तृष्णा को एक सीमा में बांध लेता है। अपने द्रव्य की मर्यादा करके वह अपनी आसक्ति एवं ममता को घटा देता है। इससे उसके मन में भी शान्ति रहती है और समाज एवं राष्ट्र के जीवन में भी शान्ति का संचार होता है। क्योंकि तृष्णा की सीमा न होने से मनुष्य के मन में धन-वैभव को बढ़ाने की अभिलाषा होती है और उसे उचित एवं अनुचित साधनों का उपयोग करना होता है। एक ओर धन का ढेर लगाने के लिए दूसरी ओर धन का खड्डा करना ही होता है। यदि एक ओर मिट्टी और पत्थरों का पहाड़ खड़ा करना है तो उसके लिए दूसरी ओर कुआं बनाना ही होगा। यही स्थिति परिग्रह के क्षेत्र में है। अनेकों व्यक्तियों के समय, श्रम एवं धन का शोषण करके एक व्यक्ति अमीर या पूंजीपति बनता है। यही स्थिति राष्ट्रों की है। अपने राष्ट्र में पूंजी बढ़ाने के लिए अधिक उत्पादन करना होता है और फिर उक्त सामग्री को बेचने के लिए बाजार खोजने पड़ते हैं। यदि उचित मूल्य देने वाले बाजार न मिले तो युद्ध के द्वारा कमजोर राष्ट्रों को अपने अधीन बनाकर बाजार तैयार किए जाते हैं और वहां अपनी ताकत से अपना माल खपा कर पैसा इकट्ठा किया जाता है। यही स्थिति व्यक्तिगत जीवन में है। एक पूंजीपति अपने माल को अधिक दामों में बेचने के लिए अपनी पूंजी की ताकत से बाजार की स्थिति को बिगाड़ देता है, जब वह खरीदने एवं बेचने लगता है तो बाजार के भावों में इतना उतार-चढ़ाव एवं परिवर्तन ले आता है कि उस प्रवाह में छोटे-छोटे सैकड़ों-हजारों व्यापारी बह जाते हैं, उनकी पूंजी उनकी तिजोरी से निकलकर पूंजीपति की तिजोरी में जा भरती है। इसी तरह वह गरीबों के काम के घण्टे, श्रम और मजदूरी को काटकर अपना उत्पादन बढ़ाता है। इस तरह पूंजी के विस्तार करने में जहां उसका स्वयं का मन अशान्त एवं संकल्प-विकल्पों में डूबा रहता है, इधर-उधर से धन बटोरने के तरीकों एवं चालों को ढूंढ़ता रहता है, वहां राष्ट्र के सामान्य स्थिति वाले मनुष्यों को भी उसके कारण दुःखी एवं संतप्त होना पड़ता है। पूंजी का विस्तार स्वयं और पर के जीवन के लिए अशांति एवं दुःख का कारण है। आज के सारे संघर्ष पूंजी विस्तार की राक्षसी भावना के कारण हैं।

राष्ट्रीय एवं अन्तर्राष्ट्रीय संघर्षों को दूर करने तथा तनाव को कम करने का एक ही उपाय है कि मनुष्य अपनी अनियंत्रित तृष्णा पर रोक लगाए। वह अपनी आकांक्षा को एक मर्यादा में बांध लेवे। इससे स्व और पर के जीवन में शान्ति का सागर ठाठें मारता दिखाई देगा। परिग्रह की मर्यादा करने के लिए आवश्यक पदार्थों को इस तरह बांटा जा सकता है –

(1) मकान-दुकान और खेत आदि की जमीन।

(2) स्वर्ण-चांदी-जवाहरात आदि के आभूषण।

(3) नौकर-चाकर, गाय-भैंस आदि पशु।

(4) मुद्रा, धन तथा गेहूं आदि धान्य एवं सवारी और कृषि का माल ढोने के लिए यान-सवारी।

(5) प्रतिदिन उपयोग में आने वाले वस्त्र-पात्र, पलंग, बिस्तर आदि आवश्यक पदार्थ तथा घर का सामान।

परिग्रह परिमाण व्रत एक करण तीन योग से स्वीकार किया जाता है, अर्थात् मन, वचन और शरीर से परिग्रह-संग्रह करने का त्याग किया जाता है। और इस व्रत का निर्दोष रूप से परिपालन करने के लिए श्रावक को पांच बातों से सदा बचकर रहना चाहिए।

(1) मकान, दुकान और खेत की मर्यादा को, सीमा को किसी भी बहाने से बढ़ाना।

(2) स्वर्ण-चांदी-जवाहारात आदि को, तथा आभूषणों को भी मर्यादा से अधिक बढ़ाना।

(3) द्विपद और चतुष्पद प्राणियों की जो मर्यादा की है, उससे अधिक बढ़ाना।

(4) मुद्रा, जवाहरात आदि धन-वैभव की मर्यादा का उल्लंघन करना।

(5) दैनिक व्यवहार में आने वाले वस्त्र-पात्र आदि एवं घर के अन्य सामान को मर्यादा से अधिक रखना।

उक्त पांचों व्रत अणुव्रत कहलाते हैं। यह हम पहले ही स्पष्ट कर चुके हैं कि त्याग अपने आप में अणु नहीं महान् है। भले ही ऊपर से छोटा-सा दिखने वाला भी त्याग क्यों न हो, वह जीवन को एक नया मोड़ देने वाला होने से महान ही है। यहां जो उसे अणु कहा गया है, वह अपेक्षा से कहा गया है। अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह ये पांचों व्रत साधु भी स्वीकार करता है और गृहस्थ भी। साधु पूर्णरूपेण स्वीकार करता है और गृहस्थ एक देश से, अर्थात् मर्यादित रूप में इनका पालन करता है। इसी भेद को स्पष्ट करने के लिए साधु के व्रतों को महाव्रत और श्रावक के व्रतों को अणुव्रत का नाम दिया गया है। इन्हें मूलगुण भी कहते हैं। क्योंकि जीवन के सारे सद्गुण इन्हीं के आधार पर स्थित रहते हैं। अतः साधु एवं श्रावक दोनों के लिए ये मूलगुण हैं, इनके अतिरिक्त किए जाने वाले शेष सभी त्याग-प्रत्याख्यान उत्तर-गुण कहलाते हैं।

तीन गुणव्रत

प्रस्तुत व्रत अणुव्रतों को परिपुष्ट करने वाले हैं। इनको स्वीकार करने से मूलगुणों में गुणात्मक अभिवृद्धि होती है, इस कारण इन्हें गुणव्रत कहा गया है। अर्थात् ये मूलगुणों का परिपोषण करने वाले हैं। ये गुणव्रत तीन हैं– 1. दिक्-परिमाण व्रत, 2. उपभोग-परिभोग-परिमाण व्रत, और 3. अनर्थदण्ड-विरमण व्रत।

दिक्-परिमाण व्रत

दिक् दिशा को कहते हैं। वह छह प्रकार की होती है–पूर्व, पश्चिम, उत्तर, दक्षिण, उर्ध्व और अधो दिशा। इन सभी दिशा-विदिशाओं में आने-जाने एवं सामान मंगाने-भेजने की जो मर्यादा की जाती है उसे दिक्-परिमाण व्रत कहते हैं।

प्रत्येक मनुष्य के जीवन का ध्येय आगे बढ़ने का होता है। हर इंसान अभ्युदय की भावना से गति करता है। परन्तु अपने जीवन में अभ्युदय लाने के लिए मन और विचारों को नया मोड़ देना जरूरी है। जीवन का विकास मन की शान्ति एवं एकाग्रता पर आधारित है और चित्त में शान्ति एवं समाधि की अनुभूति तभी होती है, जबकि इच्छाओं एवं कामनाओं का विस्तार नहीं होने दिया जाता। या यों कहिए, अपनी आकांक्षाओं को सीमित कर लेना तथा आवश्यकताओं को घटाते जाना ही सुख-शान्ति को पाना है। व्रत-नियम बढ़ती हुई आकांक्षाओं को ब्रेक लगाने का काम करता है। दिक्-परिमाण व्रत आवश्यकताओं को और अधिक संकोच करने की बात कहता है। यह व्रत जीवन को कम बोझिल बनाता है।

यह हम देख चुके हैं कि गुण-व्रत अणुव्रतों को परिपुष्ट करने वाले हैं। इस दृष्टि से दिक्-परिमाण व्रत भी मूलगुण में कुछ विशेषता बढ़ाता है। इस तरह गुणव्रतों का मूल्य एवं महत्त्व अणुव्रतों पर आधारित है। इसी कारण अणुव्रतों के बाद ही उनका विधान किया गया है।

यह हम विस्तार से बता चुके हैं कि श्रावक जब व्रतों को स्वीकार करता है, तो वह पहले साधारणत: स्थूल हिंसा, स्थूल चोरी, अमर्यादित मैथुन (स्व-स्त्री के साथ मर्यादा एवं उसके अतिरिक्त प्राकृतिक एवं अप्राकृतिक सभी तरह के मैथुन) का त्याग करता है, परिग्रह की मर्यादा करता है। उसका यह त्याग साधारण रूप से चलता है। अर्थात् उसने जो आगार (छूट) रखा है, उसकी कोई सीमा नहीं है, पूरे लोक का आश्रव द्वार उसके लिए खुला है।

दिक्-परिमाण व्रत उक्त आश्रव द्वार को कुछ हद तक बन्द करता है। क्योंकि अभी तक उसने जो छूट रखी है उसका सेवन वह सारे संसार में नहीं करता और न कर सकना ही संभव है। मनुष्य का जीवन इतना छोटा है कि वह लोक में सर्वत्र आ-जा नहीं सकता, थोड़े-से क्षेत्र में ही उसकी गति-प्रगति हो सकती है। अत: इस व्रत में श्रावक अपने आवागमन के क्षेत्र की मर्यादा बांध लेता है। अपने जीवन-निर्वाह के लिए जितने क्षेत्र में विचरण करने की आवश्यकता होती है, छहों दिशाओं में वह उतना क्षेत्र खुला रख लेता है, शेष क्षेत्र में गति करने का त्याग कर देता है। इससे यह होता है कि जो उसने अभी तक सूक्ष्म हिंसा, सूक्ष्म झूठ, सूक्ष्म चोरी, स्वदार संतोषवृत्ति और मर्यादित परिग्रह का त्याग नहीं किया था, अब वह अपनी उक्त प्रवृत्ति को मर्यादित क्षेत्र से बाहर नहीं कर सकता। जितने क्षेत्र की मर्यादा रखी है, उसके बाहर के क्षेत्र में वह मन, वचन और शरीर से हिंसा आदि पांचों दोषों का सेवन करने का सर्वथा त्याग कर देता है।

गमनागमन का क्षेत्र मर्यादित नहीं होता है तो उससे पापाचार में अभिवृद्धि होती है। देखा गया है कि राजा-महाराजा या राष्ट्र-नेता जब दूसरे को अपने अधीन बनाने के लिए, विजय पाने के लिए निकलते हैं तो उनकी राक्षसी स्वार्थ वृत्ति में लाखों-करोड़ों गरीब और निर्दोष लोगों का जीवन समाप्त हो जाता है। लाखों-करोड़ों लोगों का जीवन मुसीबत में पड़ जाता है। खाद्य पदार्थ एवं अन्य जीवनोपयोगी साधन-सामग्री की कमी हो जाने से पदार्थ महंगे हो जाते हैं, जिससे साधारण लोगों को न पूरा भोजन मिल पाता है और न तन ढकने के लिए पूरा वस्त्र। इसी तरह व्यापारी भी जिस दिशा में निकलते हैं, वहां के सीधे-सादे, भोले-भाले व्यक्तियों का शोषण करके अपना घर भरने का प्रयत्न करते हैं। इस तरह राजा या राजनेता तथा व्यापारी जिधर निकलते हैं, एक तरह से तबाही कर देते हैं। इसलिए श्रावक के लिए यह जरूरी है कि वह अपने कार्य-क्षेत्र की मर्यादा करके जीवन बिताए। जिससे वह मर्यादा के बाहर के क्षेत्र के आश्रव से सहज ही बच सके। इस व्रत को निर्दोष रखने के लिए, श्रावक को पांच बातों से सदा दूर रहना चाहिए –

1. ऊर्ध्व दिशा का जितना परिमाण किया है, उसका उल्लंघन करना।

2. नीची दिशा के लिए जितने क्षेत्र की मर्यादा की है, उससे आगे बढ़ना।

3. तिर्यक् दिशा में गमनागमन का जो क्षेत्र निश्चित किया है, उस अक्षांश रेखा को लांघना।

4. एक दिशा की सीमा को कम करके उस कम की गई संख्या को दूसरी दिशा की सीमा में मिलाकर उस सीमा को विस्तृत करना।

5. क्षेत्र सीमा की समाप्ति का संशय या भ्रान्ति होने पर उसका निर्णय किए बिना आगे कदम बढ़ाना।

उपभोग-परिभोग-परिमाण व्रत

इस व्रत का नाम उपभोग-परिभोग परिमाण व्रत है। एक बार काम आने वाले पदार्थों को उपभोग सामग्री कहते हैं और जो पदार्थ पुन:-पुन: या कई बार भोगोपभोग के काम में लाए जा सकें, उन्हें परिभोग कहते हैं। उक्त उपभोग-परिभोग में आने वाले समस्त पदार्थों की मर्यादा करना कि मैं इतने पदार्थों से अधिक पदार्थों का उपयोग नहीं करूंगा, उपभोग-परिभोग-परिमाण व्रत कहलाता है।

संसार में अनन्त पदार्थ हैं। मनुष्य का जीवन इतना छोटा है कि उनका उपभोग करने की बात तो दूर, वह सभी पदार्थों का नाम तक नहीं जान सकता है। जिन थोड़े से पदार्थों के नाम वह जानता है, वे भी पूरे-पूरे पदार्थ उसके उपभोग-परिभोग में नहीं आते। फिर भी आश्रव का द्वार खुला रहता है, क्रिया लगती रहती है। अत: श्रावक के लिए यह जरूरी है कि जीवन के लिए अत्यावश्यक पदार्थों को रखकर, शेष सभी पदार्थों के उपभोग-परिभोग का त्याग कर देना चाहिए। पदार्थ अनन्त हैं, उन सबका नामोल्लेख कर सकना कठिन ही नहीं, असंभव है। अत: उन सब का 26 बोलों में संग्रह किया गया है –

1. **उल्लणिया-विहि-परिमाण**–प्रात: शौचादि से निवृत्त होकर मुंह-हाथ धोए जाते हैं, अत: उन्हें पोंछने के लिए रखे जाने वाले वस्त्र को उल्लणिया-विहि कहते हैं। आज की भाषा में हम रूमाल, टावल (Towel) आदि कहते हैं।

2. **दन्तवण-विहि**–दांत साफ करने के लिए, दातौन या मंजन की मर्यादा करना।

3. **फल-विहि**–मस्तिष्क को स्वच्छ और शीतल रखने के लिए आंवले, त्रिफले आदि फलों के चूर्ण की मर्यादा करना। पूर्व के युग में ऐसे फलों का मस्तक धोने के लिए उपयोग किया जाता था, जिससे बाल भी साफ हो जाएं और दिमाग में ताजगी का अनुभव हो। आज उस विधि का प्राय: लोप हो चुका है, उनका स्थान साबुन, सोडा, शैम्पू एवं पाउडरों ने ले लिया है।

4. **अभ्यंगण-विहि**–त्वचा सम्बन्धी विकारों एवं त्वचा की रूक्षता को दूर करने के लिए तेल आदि की मालिश करना।

5. **उबटन-विहि**–शरीर के मैल को दूर करने के लिए उबटन करना।

6. **मज्जण-विहि**–स्नान के लिए पानी की मर्यादा करना।

7. **वत्थ-विहि**–पहनने के लिए वस्त्रों की मर्यादा करना।

8. **विलेपण-विहि**–चन्दन आदि सुवासित द्रव्यों का विलेपन करने की मर्यादा करना।

9. **पुप्फ-विहि**–पुष्प-माला आदि की मर्यादा करना।

10. **आभरण-विहि**–आभूषणों की मर्यादा करना।

11. **धूप-विहि**–मकान को सुवासित करने के लिए अगरबत्ती एवं धूप आदि की मर्यादा करना।

12. **पेज्ज-विहि**–पेय पदार्थों की मर्यादा करना।

13. **भक्खन-विहि**–नाश्ते के लिए काम में आने वाले पदार्थों की मर्यादा करना।

14. **ओदन-विहि**–चावल, खिचड़ी आदि की मर्यादा करना।

15. **सूप-विहि**–दाल आदि की मर्यादा करना।

16. **विगय-विहि**–घी, दूध, दही, तेल, गुड़-शक्कर आदि की मर्यादा करना।

17. **साग-विहि**–सब्जी की मर्यादा करना।

18. **माहुर-विहि**–मधुर फलों की मर्यादा करना।

19. **जिमण-विहि**–दोपहर एवं शाम के भोजन में खाए जाने वाले पदार्थों की मर्यादा करना।

20. **पाणि-विहि**–पानी की मर्यादा करना।

21. **मुखवास-विहि**–भोजन के बाद मुंह साफ करने के लिए पान-सुपारी, लवंग आदि खाने की मर्यादा करना।

22. **उवाहण-विहि**–जूतों की मर्यादा करना।

23. **वाहण-विहि**–यान-सवारी की मर्यादा करना।

24. **सयण-विहि**–पलंग, कुर्सी, बिछौना आदि की मर्यादा करना।

25. **सचित्त-विहि**–सचित्त पदार्थों को खाने की मर्यादा करना।

26. **दव्व-विहि**–सचित्त-अचित्त जो पदार्थ खाने के लिए रखे हैं उनमें से कितने एक पदार्थों का स्वाद लेना। जितने पदार्थ खाए जाते हैं वे सब अलग-अलग द्रव्य गिने जाते हैं। जैसे तीन-चार सब्जियों को अलग-अलग स्वाद लेकर खाना, ये 3-4 द्रव्य गिने जाते हैं और उन सबको मिलाकर एक स्वाद बनाकर खाना एक द्रव्य कहलाता है। इस तरह द्रव्य की मर्यादा करना। इन सभी बोलों की मर्यादा करने का नाम उपभोग-परिभोग-परिमाण-व्रत है।[1]

दिक्-परिमाण व्रत की तरह यह व्रत भी जीवन के विस्तार को संकोचने में सहायक रूप है। छहों दिशाओं में जितनी मर्यादा रखी है, उसमें भोगोपभोग के लिए कोई सीमा नहीं है। इससे भोगोपभोग की अभिलाषा-आकांक्षा निरन्तर बनी रहती है और संग्रह की भावना भी मन्द नहीं पड़ती। परिणामत: जीवन संयमित नहीं हो पाता, क्योंकि भोगोपभोग के साधनों के संग्रह को बढ़ाने के लिए अनेक तरह के अनैतिक कार्य करने होते हैं तथा रात-दिन साधनों को संग्रह करने एवं संग्रहीत पदार्थों को सुरक्षित रखने की चिन्ता बनी रहती है, मन सदा संकल्प-विकल्पों में लगा रहता है। अस्तु, जीवन को शांत, संयमित एवं हल्का बनाने के लिए उपभोग-परिभोग-परिमाण व्रत अत्यधिक उपयोगी है। अपनी रखी हुई दिशा-विदिशाओं में भी वह भोगोपभोग के साधनों को सीमित कर लेता है। इससे मन में तृष्णा कम हो जाती है और अपनी आवश्यकताओं को कम कर देने से जीवन भी अधिक बोझिल नहीं रहता और न उसे अनैतिक तरीकों को बरतना पड़ता है। इस तरह यह व्रत भी अणुव्रतों में गुण की अभिवृद्धि करने वाला है।

उपभोग-परिभोग-परिमाण व्रत दो प्रकार का कहा गया है–1. भोजन, और 2. कर्म (व्यापार)[2]। भोजन के अतिरिक्त और भी पदार्थ हैं, जो उपभोग-परिभोग के काम में आते हैं। फिर भी यहां जो भोजन का उल्लेख किया गया है, वह केवल मुख्यता की दृष्टि से समझना चाहिए। भोजन जीवन के लिए सबसे पहली आवश्यकता है, इसलिए इसे मुख्य रूप से गिनाया गया है, अन्य साधनों को इसके अन्तर्गत समझ लेना चाहिए। उक्त व्रत को धारण

1. उपासकदशांग सूत्र
2. उपभोग-परिभोग-परिमाण-वए दुविहे पण्णत्ते, तंजहा- भोयणाओ य, कम्मओ य।

करने वाले साधक सचित्त पदार्थों का सर्वथा त्याग भी कर सकते हैं। यदि किसी ने सचित्त पदार्थों का सर्वथा त्याग कर दिया है तो इस व्रत का निर्दोषता से परिपालन करने के लिए पांच बातों से सदा बचकर रहना चाहिए –

1. **सचित्ताहार**–सजीव पदार्थों का–कच्ची सब्जी आदि का उपभोग नहीं करना चाहिए।

2. **सचित्त-प्रतिबद्धाहार**–ऐसे अचित्त पदार्थ को भी खाने के काम में नहीं लेना चाहिए जो सचित्त पदार्थ से आवेष्टित है। जैसे आम की गुठली सहित आम चूसना या बीज सहित ही अन्य फलों को खाते रहना।

3. **अपक्व-औषधि भक्षण**–अपरिपक्व पदार्थ को खाना।

4. **दुष्पक्व-औषधि भक्षण**–जो पदार्थ बहुत अधिक पक गया है या बुरी तरह पकाया गया है, उस पदार्थ को नहीं खाना चाहिए।

5. **तुच्छ औषधि भक्षण**–ऐसे पदार्थों का उपभोग नहीं करना, जिनमें खाद्य भाग कम हो और फैंकने योग्य भाग अधिक हो।

उपभोग-परिभोग-परिमाण व्रत का दूसरा विभाग कर्म विभाग है। कर्म का अर्थ है–आजीविका–व्यापार। उपभोग-परिभोग के साधनों को संग्रहीत करने के लिए व्यापार एवं उद्योग-धन्धा करना जरूरी है। क्योंकि खाने-पीने, पहनने-ओढ़ने आदि का सामान एवं भोगोपभोग के सारे साधन प्राप्त करने के लिए पैसे की आवश्यकता होती है और पैसा व्यापार, कृषि एवं अन्य औद्योगिक कामों से प्राप्त किया जाता है। अस्तु श्रावक को उपभोग-परिभोग के साधनों को प्राप्त करने के लिए 15 प्रकार के महापाप एवं महारंभ के उद्योग-धन्धों एवं व्यापारों से बचकर रहना चाहिए। इन्हें आगम में 15 कर्मादान कहा गया है। ये जानने एवं सर्वथा त्यागने योग्य हैं। इनका नाम निर्देशपूर्वक अर्थ विचार इस प्रकार है –

15 कर्मादान

1. **इंगाल-कम्मे**–कोयले का व्यापार करना। बड़े-बड़े वृक्षों को काट कर उनके कोयले बनाए जाते हैं या खान में से खोदकर निकाले जाते हैं। उक्त कार्य में महाहिंसा होती है। पैसे के लिए हरे-भरे वृक्षों को काटकर प्रकृति के सौंदर्य को नष्ट-भ्रष्ट कर दिया जाता है। इसका मनुष्य के स्वास्थ्य एवं वायुमण्डल पर भी बुरा असर पड़ता है। मनुष्य को शुद्ध हवा

कम मिलने लगती है और हरे-भरे वृक्षों की कमी होने से आस-पास के प्रदेश में वर्षा में भी कमी हो जाती है और खदान (खान) में काम करते छोटे-मोटे जीवों की तो क्या मनुष्यों तक की मृत्यु हो जाती है, अत: श्रावक को ऐसा महारंभ का व्यापार-धन्धा नहीं करना चाहिए।

2. **वण-कम्मे**—जंगलों का ठेका लेकर उनमें से लकड़ी, बांस आदि काट कर बेचना वन कर्म कहलाता है। इससे प्रकृति की शोभा का नाश होता है, लाखों बड़े-बड़े वृक्षों को काटने से उनकी एवं उनके आश्रय में रहने वाले अनेकों जीवों की जिन्दगी समाप्त हो जाती है। अत: श्रावक को ऐसा व्यापार नहीं करना चाहिए।

3. **साडी-कम्मे**—गाड़ी, तांगे आदि बनाकर या बनवाकर उनका व्यापार करना या बैल, घोड़े एवं ऊंट आदि के साथ वाहन को बेचना भी साडी कर्म कहलाता है। इन सबको बनाने के लिए बहुत-सी लकड़ी की आवश्यकता पड़ती है और उसके लिए बहुत-से वृक्ष काटने होते हैं। बैल आदि पशुओं का व्यापार करने में भी महा हिंसा होती है। क्योंकि पशुओं को बेचते समय मनुष्य का ध्यान अधिक पैसा कमाने की तरफ रहता है, पशु की सुरक्षा की तरफ नहीं रहता। इससे पशु का जीवन संकट में पड़ जाता है। अत: श्रावक को ऐसा व्यापार नहीं करना चाहिए।

4. **भाड़ी-कम्मे**—यह कार्य साडी कम्मे से सम्बन्धित है। साडी कम्मे में गाड़ी आदि बेचने के लिए रखी जाती है और इसमें भाड़ा कमाने के लिए गाड़ी, तांगा, रिक्शा आदि रखे जाते हैं। यह कार्य इसलिए पापमय माना गया है कि इसमें पशु एवं मनुष्य की दया नहीं रहती। क्योंकि गाड़ी, तांगा या रिक्शा का मालिक उक्त साधनों से अधिक पैसा प्राप्त करने की दृष्टि से उस पशु एवं मनुष्य की शक्ति से अधिक सवारी चढ़ा लेता है या अधिक बोझ लाद देता है तथा अधिक समय तक उससे काम लेता है। इससे पशु एवं मनुष्य को दु:ख, वेदना एवं संकट का सामना करना पड़ता है। अत: श्रावक को ऐसा व्यवसाय नहीं करना चाहिए।

5. **फोड़ी-कम्मे**—जमीन को फोड़-खोद कर उसमें से निकले हुए खनिज पदार्थों का व्यापार करना फोड़ी कर्म कहलाता है। बड़ी-बड़ी खानों का ठेका लेकर उन्हें खुदवाना और उनमें से निकले हुए खनिज पदार्थों को बेचना तथा ठेकेदार को आर्डर देकर खनिज पदार्थों को व्यापार के लिए मंगवाना महापाप का कार्य है। क्योंकि खानों को खोदने में अनेकों छोटे-मोटे प्राणियों की हिंसा होती है। कई बार खान-दुर्घटना में मनुष्यों के प्राणों का नाश भी हो जाता है। इसलिए श्रावक को ऐसा महारंभ का कार्य नहीं करना चाहिए।

कुछ लोग कृषि कर्म को भी फोड़ी कर्म में गिनते हैं, परन्तु यह मान्यता ठीक नहीं है। क्योंकि आगम में फोड़ी कर्म को महारंभ और महापाप का कार्य माना गया है। परन्तु खेती को अल्पारम्भ का कार्य माना गया है। आगम में कृषि कर्म को आर्य कर्म कहा गया है। इसलिए श्रावक के लिए कृषि कर्म निषिद्ध नहीं है। आनन्द आदि श्रावक स्वयं खेती करते थे। उपासकदशांग सूत्र में वर्णन आता है कि आनन्द श्रावक के 500 हल जमीन थी और खेती का माल ढोने के लिए उसने 500 गाड़ियों की मर्यादा रखी थी। इससे स्पष्ट हो जाता है कि कृषि कर्मादान नहीं है। यदि कृषि कर्मादान में होती तो आनन्द श्रावक कभी भी खेती नहीं करता और यदि करता भी तो उसके व्रत विशुद्ध नहीं रहते। क्योंकि कर्मादान श्रावक के लिए सर्वथा त्याज्य है। उनका सेवन करना तो दूर रहा, वह मन से चिन्तन भी नहीं कर सकता, न दूसरे को उक्त कार्य करने की प्रेरणा दे सकता है और न उक्त कार्य करने वाले की प्रशंसा ही कर सकता है। वह तीन करण और तीन योग से कर्मादान का त्यागी होता है। आनन्द श्रावक था और वह निरतिचार व्रतों का परिपालन करता था। इस बात को भगवान् महावीर ने स्वयं कहा है। अत: यह स्पष्ट है कि उसने कभी भी कर्मादान का सेवन नहीं किया। परन्तु वह एवं अन्य श्रावक खेती तो करते ही थे। अत: उनके जीवन से एवं आगमों में खेती को आर्य कर्म बतलाने से, यह स्पष्ट हो जाता कि खेती का काम महापाप, महारंभ एवं कर्मादान में नहीं है। इसे फोड़ी कर्म मानना सिद्धांत से विपरीत है।

6. **दन्त-वणिज्जे**–हाथी-दांत आदि का व्यापार करना दन्त वाणिज्य कर्म कहलाता है। उक्त कर्म में उपलक्षण से शंख, सीप, हड्डी आदि के वाणिज्य का भी समावेश हो जाता है। हाथी का दांत लाने वालों को हाथी दांत लाने का आर्डर देना या उनसे खरीदकर बेचना महापाप का कारण है। क्योंकि वे लोग पैसा कमाने के लिए हाथियों को मारकर उनका दांत लाएंगे। इसी तरह शंख, हड्डी, सीप आदि के लिए भी वे लोग अनेक जीवों के प्राण नष्ट करते हैं। अत: श्रावक को ऐसा व्यापार नहीं करना चाहिए।

7. **लक्खवणिज्जे**–लाख निकालने में अनेक त्रस प्राणियों की हिंसा होती है। इसलिए श्रावक को लाख का व्यापार नहीं करना चाहिए।

8. **रसवणिज्जे**–शराब आदि का व्यापार नहीं करना। कुछ लोग गुड़, तेल, दूध-दही के व्यापार को भी रस वणिज्जे कर्म में गिनते हैं। परन्तु यह मान्यता ठीक नहीं है। टीकाकार ने शराबादि के व्यापार को रसवाणिज्य में गिनाया है–"**रसवाणिज्य सुरादिविक्रयः।**"

इसलिए श्रावक को शराब आदि का व्यापार नहीं करना चाहिए।

9. **विषवणिज्जे**--अफीम, संखिया आदि विष का व्यापार करना। क्योंकि इन विषाक्त वस्तुओं के सेवन से मृत्यु तक हो जाती है या व्यक्ति उन्मत्त हो जाता है। इस तरह विष जीवन के लिए नुकसानप्रद वस्तु है। इसलिए श्रावक को विष का व्यापार नहीं करना चाहिए।

10. **केसवणिज्जे**--केशों के व्यापार का अर्थ है--केशवाली दासियों का व्यापार करना या स्त्रियों के सुन्दर बालों को बेचना। परन्तु ऊन या ऊनी वस्त्र का व्यापार उक्त कर्म में नहीं गिना जाता। क्योंकि ऊन आदि के व्यापार में महाहिंसा नहीं होती। किन्तु दासियों का व्यापार करने में महाहिंसा एवं महारंभ होता है। उनका जीवन परतन्त्र हो जाने से उन्हें बहुत कष्ट उठाना पड़ता है। शक्ति से अधिक श्रम करना होता है, फिर न तो पूरा खाना मिलता है और न पहनने को सुन्दर एवं स्वच्छ वस्त्र ही उपलब्ध हो पाते हैं। काम करते हुए मालिक की फटकार एवं डण्डों की मार सहनी होती है। इसके अतिरिक्त, यदि वह दासी सुन्दर हुई तो उसके शरीर के साथ खिलवाड़ भी किया जाता है, उसे अपनी वासना का शिकार बनाया जाता है। इस तरह दुराचार बढ़ता है। अस्तु, श्रावक को ऐसा व्यापार नहीं करना चाहिए।

वर्तमान युग में दास-दासियों का व्यापार तो कानून से बन्द है। इसलिए कोई व्यक्ति नहीं करता। परन्तु वेश्यालय चलाने तथा वेश्या वृत्ति की दलाली का कार्य आज भी चालू है। ऐसा कार्य भी श्रावक के लिए सर्वथा त्याज्य है।

भारतवर्ष में कुछ वर्ष पहले कन्या को बेचने का रिवाज खूब जोरों से चल रहा था। पूंजीपतियों को जब तीसरा या चौथा विवाह करना होता था, तब गरीब की कन्या ढूंढ़ते थे और कन्या के मां-बाप या संरक्षक को रुपए देकर उससे विवाह कर लेते थे या यों कहिए कि वे कन्या को खरीद लेते थे। आजकल कन्या को बेचने का रिवाज तो पहले से कम हो गया है, परन्तु लड़कों को बेचने का रिवाज खूब जोरों से चल पड़ा है। बड़े-बड़े पूंजीपति अपने लड़के के विवाह के लिए लाखों रुपए के दहेज की मांग करते हुए नहीं हिचकिचाते। वे एक तरह से अपने लड़के को नीलाम की बोली पर चढ़ा देते हैं, जो व्यक्ति दहेज में अधिक रुपया देता है उसी की कन्या के साथ वे विवाह कर लेते हैं। कई लड़कियों को इसके लिए अपना धर्म-नियम भी छोड़ना पड़ता है। कई लड़कियों ने अपने प्राण तक भी दे दिए। इस प्रथा से कई परिवार कर्ज के बोझ से इतने दब जाते हैं कि उनका जीवन निर्वाह भी कठिन हो जाता

है। अत: श्रावक को ऐसी राक्षसी वृत्ति का सर्वथा त्याग कर देना चाहिए।

11. **जंत-पिलणिया-कम्मे**—पूर्व युग में तेल की घाणी और गन्ने का रस निकालने का कोल्हू ये दो यन्त्र ही थे। इन यन्त्रों को चलाने में बैल या ऊंट आदि पशुओं को महा कष्ट होता है। इसलिए यन्त्र से तेल एवं गन्ने का रस आदि निकालकर उनका व्यापार करने का निषेध किया गया। परन्तु आज यन्त्र का विस्तार इतना हो गया है कि वर्तमान युग को यन्त्र युग कहा जाता है। वस्त्र बनाने का, सूत कातने का, चीनी-खांड बनाने का, आटा पीसने का, घरों, सड़कों, कारखानों आदि में प्रकाश करने का, आदि सभी काम यन्त्रों से लिए जाते हैं। भोजन पकाने एवं वस्त्र धोने का काम भी यन्त्र करने लगे हैं। हिसाब रखने एवं जोड़ने-घटाने का काम भी यन्त्र कर देते हैं। इस तरह यन्त्र के बढ़ जाने से मानव एक तरह से बेकार-सा हो गया है।

आज दुनिया में दिखाई देने वाले संघर्षों का मूल कारण यन्त्र ही है। जब से यन्त्र युग का प्रारम्भ हुआ है तब से मानव जीवन में बेकारी बढ़ती गई है। क्योंकि यन्त्र के जरिए सौ व्यक्तियों का काम एक व्यक्ति कर लेता है, इससे 99 आदमी बेकार हो जाते हैं, उनका जीवन निर्वाह होना कठिन हो जाता है। दूसरे, उत्पादन इतना अधिक बढ़ जाता है कि उसको बेचने के लिए बाजार खोजने पड़ते हैं। दूसरे देश सहज ही माल खरीदने को तैयार नहीं होते। अत: अपने से कमजोर राष्ट्रों को शक्ति से दबाया जाता है या परतन्त्र बनाकर वहां अपना माल बेचा जाता है। इसके लिए उन्हें संहारक शस्त्रों का भण्डार भी तैयार करना पड़ता है और एक-दूसरे राष्ट्र से आगे बढ़ने के लिए संहारक अस्त्रों की शक्ति को बढ़ाने का प्रयास किया जाता है। तोप-बन्दूक-बम्ब से लेकर एटम और उद्जन बम्ब तक के निर्माण का इतिहास इसका ज्वलन्त प्रमाण है। इस तरह यन्त्रवाद महाहिंसा का साधन है। अस्तु, श्रावक को यन्त्र से उत्पादन बढ़ाकर व्यापार नहीं करना चाहिए।

12. **निलंछन-कम्मे**—बैल, भैंसा आदि पशुओं को नपुंसक करके उनका व्यापार करना। इससे पशुओं को असह्य कष्ट भी होता है और उनकी नस्ल भी खराब होती है, अत: श्रावक को ऐसा व्यापार नहीं करना चाहिए।

13. **दवग्गि-दावणिया-कम्मे**—जंगल को जलाकर जमीन को साफ करके उससे आजीविका चलाना। बहुत-से लोग जंगलों में भूमि को साफ करने के लिए अधिक श्रम न करना पड़े, इसलिए आग लगा कर उसके ऊपर के समस्त घास-फूस को जला डालते हैं।

इस कार्य में अनेक जीवों की हिंसा होती है। अतः श्रावक के लिए उक्त कार्य सर्वथा त्याज्य है।

14. **सरदह-तलाब-सोसणिया-कम्मे**–तालाब, नदी आदि की जमीन को कृषि योग्य बनाने के लिए कई तालाब, नदी आदि के पानी को सुखा देते हैं। श्रावक को ऐसा कार्य नहीं करना चाहिए। क्योंकि इस तरह पानी सुखाने से पानी में रहे हुए अनेकों जीवों की हिंसा होती है। अतः यह कर्म भी श्रावक के लिए सर्वथा त्याज्य है।

15. **असइजण-पोसणिया-कम्मे**–व्यभिचारिणी स्त्रियों का पोषण करके उनके द्वारा आजीविका चलाना। यह कार्य समाज एवं देश में दुराचार बढाने वाला तथा लोगों द्वारा निन्दनीय होने से श्रावक के लिए सर्वथा त्याज्य है।

इस तरह उपभोग-परिभोग परिमाण व्रत से सम्बन्धित 5 अतिचार और व्यापार-धन्धे सम्बन्धी 15 अतिचार बताए गए हैं। जीवन को सीधा-सादा एवं कम बोझिल बनाने के लिए उपभोग-परिभोग-परिमाण व्रत बहुत उपयोगी है और उक्त व्रत का निरतिचार पालन करने के लिए ऊपर बताई गई 20 बातों से श्रावक को सदा बचकर रहना चाहिए।

अनर्थ-दण्ड-विरमण व्रत

अर्थ–प्रयोजन या आवश्यकता को कहते हैं। अपने जीवन-निर्वाह एवं परिवार का परिपालन करने के लिए किए जाने वाले आवश्यक कार्य में होने वाली हिंसा को अर्थ-दण्ड कहते हैं और आवश्यकता के न होने पर भी की जाने वाली हिंसा को अनर्थ-दण्ड कहते हैं। जैसे-एक व्यक्ति अपने खेत का सिंचन करने के लिए हजार लीटर पानी का उपयोग करता है और दूसरा व्यक्ति पीने के लिए एक लोटा पानी भरता है उस में से आधा लोटा पानी पीता है और शेष पानी यों ही फैंक देता है। एक ओर हजार लीटर पानी की हिंसा है और दूसरी ओर सिर्फ आधा लोटा पानी का अपव्यय हुआ है। जीवों की संख्या की दृष्टि से हजार लीटर पानी आधा लोटा पानी से अनेकों गुना अधिक अपराध का कारण है। परन्तु सिद्धान्त की दृष्टि से देखते हैं तो विवेकपूर्वक हजार लीटर पानी का उपयोग करने वाला व्यक्ति अल्पारंभी है और आधा लोटा पानी फैंकने वाला महारंभी है। क्योंकि खेत को हजार लीटर पानी देने वाला व्यक्ति पानी के मूल्य को जानता-समझता है। उसके पास और ऐसी कोई वस्तु नहीं है जिसे पानी की जगह देकर काम चला सके। अतः उसे आवश्यकतानुसार पानी देना पड़ता है। परन्तु वह इस बात का सदा ख्याल रखता है कि आवश्यकता से अधिक किसी चीज का दुरुपयोग

न हो। परन्तु आधा लोटा पानी फैंकने वाले की दृष्टि में उसका कोई मूल्य नहीं रहता। वह निष्प्रयोजन फैंकता है, अतः अनावश्यक की जाने वाली क्रिया अनर्थदण्ड है और वह महापाप बन्ध का कारण है।

इस तरह यह व्रत दिक् परिमाण व्रत में रखी हुई दिशाओं और सातवें व्रत में रखी हुई उपभोग-परिभोग की सामग्री में भी अपनी आवश्यकताओं को घटाने की प्रेरणा देता है। जीवन में आवश्यकताएं जितनी अधिक होती हैं, उनकी पूर्ति के लिए उतना ही अधिक धन-संग्रह करना होता है। और संग्रहवृत्ति की अधिकता के अनुसार तृष्णा भी अधिक होती है। इस तरह उसकी पूर्ति एवं प्राप्त किये गये पदार्थों के संरक्षण एवं उसमें अभिवृद्धि करने के लिए मन में अनेक तरह के संकल्प-विकल्प बने रहते हैं। चित्त सदा अशान्त बना रहता है। इसलिए श्रावक को अपनी आवश्यकताएं कम करते रहना चाहिए। निष्प्रयोजन किसी भी वस्तु को इस्तेमाल में नहीं लाना चाहिए और न किसी वस्तु को बर्बाद करना चाहिए—चाहे वह वस्तु अल्प मूल्य की हो या बहुमूल्य की।

अनर्थ दण्ड चार प्रकार का होता है—1. अपध्यान, 2. प्रमादाचरित, 3. हिंसाप्रदान, और 4. पापकर्मोपदेश।

1. **अपध्यान**— ध्यान का अर्थ होता है—चिन्तन अर्थात् किसी प्रकार के विचार में मन को एकाग्र करना। बुरे विचारों में अपने चिन्तन को लगाना अपध्यान है। आर्त्त और रौद्र ध्यान के भेद से यह दो प्रकार का माना गया है। इससे मनुष्य स्वयं संक्लेश को प्राप्त होता है और दूसरे जीवों को भी संक्लेश एवं कष्ट पहुंचाता है। अतः श्रावक को आर्त्त और रौद्र ध्यान नहीं करना चाहिए।[1]

2. **प्रमादाचरित**— प्रमाद का आचरण करना। मद, विषय, कषाय, निद्रा और विकथा ये पांच प्रमाद कहे गये हैं। गृहस्थ जीवन में इनका सर्वथा त्याग कर सकना कठिन है। अतः इनके सकारण और निष्कारण दो भेद किये गये हैं। आवश्यकता पड़ने पर विवेकपूर्वक सेवन करना अर्थ दण्ड है और निष्प्रयोजन एवं अविवेकपूर्वक सेवन करना अनर्थदण्ड है।

---

1. इष्ट वस्तु के वियोग और अनिष्ट पदार्थ के संयोग होने पर मन में जो दुःख पूर्ण विचारणा चलती है, उसमें डूबे रहना आर्त्तध्यान है और हिंसादि क्रूर भावों की जिसमें प्रधानता है, ऐसे चिन्तन में संलग्न रहना रौद्र ध्यान है।

3. **हिंसाप्रदान**–हिंसा के साधन तलवार, रिवॉलवर, बन्दूक, बम्ब, रॉकेट आदि संहारक शस्त्रास्त्रों का आविष्कार करना तथा उन्हें तैयार करके दूसरे को देना या किसी हिंसक एवं क्रूर मनुष्य तथा चोर-डाकू के हाथ में तलवार आदि शस्त्र देना और तेल, घी, दूध आदि के बर्तन को खुला रख देना, इससे निष्कारण ही हिंसा हो जाती है तथा हिंसा को बढ़ावा मिलता है। अत: श्रावक को प्रत्येक कार्य सोच-समझकर विवेकपूर्वक करना चाहिए। न तो हिंसक व्यक्ति के हाथ में हथियार देना चाहिए और न द्रव पदार्थों को खुला ही रखना चाहिए। क्योंकि इससे अनेक निर्दोष प्राणियों की हिंसा होने की संभावना है।

4. **पाप-कर्मोपदेश**–पापकर्म का उपदेश देना। जिस उपदेश या प्रेरणा से लोग हिंसा, झूठ, चोरी, मैथुन एवं परिग्रह-संग्रह आदि पाप-कार्यों की ओर कदम बढ़ावें ऐसा उपदेश पाप-कर्मोपदेश कहलाता है। जैसे देवी-देवताओं के सामने पशु बलि चढ़ाने के कार्य में धर्म बताकर लोगों को हिंसा की प्रेरणा देना या धन कमाने के लोभ से कुलटा एवं अबोध स्त्रियों को व्यभिचार की ओर प्रवृत्त करना या इसी तरह लोगों को अन्य पाप-कार्यों की ओर प्रवृत्त करना अथवा पाप-कार्यों की ओर प्रवृत्त होने की प्रेरणा देना पाप कर्मोपदेश है। इससे अनेक जीवों की हिंसा होती है। समाज एवं राष्ट्र में व्यभिचार एवं भ्रष्टाचार बढ़ता है। इसलिए श्रावक को ऐसा उपदेश नहीं देना चाहिए। किसी भी प्राणी को हिंसा आदि पापजन्य कार्यों के लिए प्रेरित नहीं करना चाहिए।

इस व्रत का इतना ही उद्देश्य है कि श्रावक ने अणुव्रत स्वीकार करते समय जितना आगार रखा है तथा छठे और सातवें व्रत में दिशाओं एवं उपभोग-परिभोग के साधनों की जो मर्यादा रखी है, उनका भी अनावश्यक उपयोग नहीं करना चाहिए। इस तरह यह व्रत अणुव्रत में गुण की अभिवृद्धि करता है। तीनों गुणव्रत क्रमश: जीवन को संयमित बनाने में सहायक हैं। उक्त व्रत का निरतिचार पालन करने के लिए निम्नोक्त पांच बातों से सदा बचे रहना चाहिए–

1. कन्दर्प, 2. कौत्कुच्य, 3. मौखर्य, 4. संयुक्ताधिकरण, और 5. उपभोग-परिभोग रति। जीवन में काम-वासना बढ़ाने वाली बातें करना या विषय-वासनावर्धक साहित्य एवं पत्र लिखना-पढ़ना कन्दर्प दोष है। इस से जीवन में विषय-भोगों की तृष्णा बढ़ती है, जिससे जीवन संयमित एवं नियमित नहीं रह पाता। कौत्कुच्य–शरीर एवं अंगोपांग को विकृत बनाकर लोगों को हंसाना तथा शरीर से कुचेष्टाएं करना। मौखर्य–निष्प्रयोजन अधिक बोलना एवं

व्यर्थ ही हंसी–ठट्ठा करना। संयुक्ताधिकरण–कूटने-पीसने, कचरा साफ करने, सब्जी काटने आदि के साधनों का आवश्यकता से अधिक संग्रह करके रखना। उपभोग-परिभोग-रति–उपभोग-परिभोग की सामग्री को आवश्यकता से अधिक संग्रह करके रखना तथा मर्यादित सामग्री में भी अधिक आसक्ति रखना। ये पांचों दोष त्याग मार्ग से गिराने वाले हैं, अतः श्रावक को पूर्ण सावधानी से व्रतों का परिपालन करना चाहिए। ये अतिचार-दोष श्रावक के लिए जानने योग्य हैं, आचरण करने योग्य नहीं या दूसरे शब्दों में यों कहिए कि श्रावक इन दोषों से सर्वथा बचकर रहता है।

चार शिक्षाव्रत

श्रावक का जीवन भी साधु की तरह ही त्यागमय है। साधु और श्रावक के जीवन में इतना ही अन्तर है कि साधु हिंसा आदि दोषों का सर्वथा त्याग करता है और श्रावक उक्त दोषों का अंश रूप से त्याग करता है। उसमें त्याग की परिपूर्णता नहीं होती। इसलिए उसकी त्याग भावना में अभिवृद्धि लाने के लिए सहयोग की आवश्यकता है। इसी कारण आगमकारों ने अणुव्रतों को परिपुष्ट करने के लिए तीन गुणव्रत रखे हैं। गुणव्रतों के परिपालन से जीवन में आवश्यकताएं सीमित हो जाती हैं, श्रावक पुद्गलानन्दी न रह कर आत्मानन्द की ओर प्रवृत्त होता है। इसका यह अर्थ नहीं है कि वह पुद्गलों-पदार्थों का उपभोग ही नहीं करता। वह उपभोग करता है परन्तु उसकी दृष्टि ऐशो-आराम एवं मौज-शौक करने की नहीं, प्रत्युत जीवन-निर्वाह करने की होती है। वह अपनी आवश्यक प्रवृत्ति में भी निवृत्ति की ओर बढ़ने के लिए प्रयत्नशील रहता है। श्रावक की इस निवृत्ति-प्रधान-चेष्टा में अभिवृद्धि लाने के लिए किसी शिक्षक या प्रेरक साधन-सामग्री की आवश्यकता होती है। इसके लिए जैनाचार्यों ने चार शिक्षाव्रतों का उल्लेख किया है। ये शिक्षाव्रत पूर्वगृहीत व्रतों के परिपालन में दृढ़ता लाने में सहायक होते हैं। ये शिक्षाव्रत चार हैं–1. सामायिक व्रत, 2. देशावकाशिक व्रत, 3. पौषधोपवास व्रत, और 4. अतिथि-संविभाग व्रत। इनका विवरण इस प्रकार है–

सामायिक व्रत

सामायिक शब्द सम+आय के संयोग से बना है। सम अर्थात् समभाव और आय का अर्थ है–लाभ। अस्तु, जिस धार्मिक अनुष्ठान से समभाव की प्राप्ति होती है, राग-द्वेष, वैर-विरोध कम होता है, विषय-वासना एवं काम-क्रोध की अग्नि शान्त होती है, सावद्य-पापयुक्त प्रवृत्तियों का त्याग किया जाता है, उसे सामायिक कहते हैं।

जैनागमों में सामायिक का विस्तृत विवेचन किया गया है। सामायिक जीवन-पर्यन्त के लिए भी स्वीकार की जाती है और कुछ समय के लिए भी। कम से कम 48 मिनट के लिए स्वीकार की जाती है। साधु जीवन-पर्यंत के लिए सावद्य प्रवृत्ति का त्याग कर देता है, परन्तु गृहस्थ के लिए इतना त्याग कर सकना कठिन है। उसका लक्ष्य पूर्ण त्याग को स्वीकार करने का होता है, परन्तु पारिवारिक, सामाजिक एवं राष्ट्रीय दायित्व से आबद्ध होने के कारण वह चाहते हुए भी पूर्ण साधना को साध नहीं सकता। इसलिए उसे प्रतिदिन 48 मिनट तक सामायिक की साधना अवश्य करनी चाहिए। सामायिक की साधना जीवन को शुद्ध, सात्त्विक एवं पवित्र बनाती है। वस्तुतः सामायिक व्रत श्रावक के लिए दो घड़ी (48 मिनट) का आध्यात्मिक स्नान है, जो जीवन पर लगे हुए पाप मल को दूर करता है। और अहिंसा, सत्य आदि सद्‌गुणों की साधना को स्फूर्तिशील बनाता है। सामायिक की व्याख्या करते हुए एक आचार्य ने लिखा है-

समता सर्वभूतेषु, संयम-शुभ-भावना।
आर्तरौद्र-परित्यागस्तद्धि सामायिकव्रतम्॥

सब जीवों पर समता-समभाव रखना, पांच इन्द्रियों तथा तीन योगों को संयम में लगाना, हृदय में शुभ भावना, शुभ संकल्प रखना, आर्त्त-रौद्र दुर्ध्यानों को त्याग करके धर्मध्यान का चिन्तन-मनन करना सामायिक व्रत कहा गया है। सामायिक व्रत की साधना करने वाले व्यक्ति को प्रत्येक प्राणी के साथ मैत्री भाव रखना चाहिए। सामायिक को जीवन में साकार रूप देने वाले व्यक्ति को प्राणी मात्र के साथ प्रेम-स्नेह का बर्ताव करना चाहिए, सबके साथ मैत्री भाव रखना चाहिए। अपने से अधिक गुण युक्त व्यक्ति को देखकर प्रसन्न होना चाहिए। अपने साथी को आध्यात्मिक एवं व्यावहारिक जीवन में प्रगति करते देख कर प्रसन्न होना चाहिए, न कि जलना चाहिए। दुःखी एवं संतप्त जीवों के प्रति हृदय में दया एवं करुणा होनी चाहिए और विपरीत प्रवृत्तियां करने वालों के प्रति भी घृणा एवं द्वेष-बुद्धि नहीं, किन्तु तटस्थ भावना होनी चाहिए। आचार्य अमितगति सूरि के शब्दों में यह है सामायिक का विराट रूप-

सत्त्वेषु मैत्रीं, गुणिषु प्रमोदं, क्लिष्टेषु जीवेषु कृपापरत्वम्।
माध्यस्थ्यभावं विपरीतवृत्तौ, सदा ममात्मा विदधातु देव॥

सामायिक की साधना का काल गृहस्थ के लिए 48 मिनट का बताया गया है। इसका

यह तात्पर्य नहीं है कि 48 मिनट के बाद वह विषम भाव में प्रवृत्ति करे। गृहस्थ की सामायिक साधना काल की दृष्टि से 48 मिनट के लिए है, न कि भावों की दृष्टि से। क्योंकि सामायिक की साधना शिक्षाव्रत है और शिक्षा के लिए समय सदा मर्यादित रहता है, परन्तु उसका उपयोग पूरे जीवन के लिए है। आप देखते हैं कि विद्यार्थी स्कूल या कॉलेज में कुछ घण्टों के लिए अध्ययन करने जाते हैं। परन्तु उनका वह अध्ययन कुछ घण्टों के लिए ही नहीं होता और न स्कूल के लिए ही होता है, परन्तु पूरे जीवन के लिए होता है। यदि कोई विद्यार्थी इन्जीनियरिंग की परीक्षा पास करके आता है और कारखाने में प्रवेश करते ही कहता है कि मेरा ज्ञान-विज्ञान तो स्कूल या कॉलेज तक ही सुरक्षित था, अब तो मैं सब कुछ भूल गया, तो सुनने वाला कहेगा-अरे मूर्ख ! फिर अध्ययन के लिए इतना समय बर्बाद करने की क्या जरूरत थी? क्योंकि उसकी आवश्यकता तो जीवन के क्षेत्र में ही है, न कि स्कूल की चार दीवारी में। वह तो अध्ययन का साधना क्षेत्र है, उसका उपयोग व्यावहारिक एवं व्यापारिक तथा पारिवारिक या सामाजिक क्षेत्र में है।

इसी तरह सामायिक के लिए 48 मिनटों का समय सिर्फ समभाव की साधना के लिए है। श्रावक उस समय में उक्त साधना से यह शिक्षा ग्रहण करता है कि मुझे अपनी प्रवृत्ति को कैसे रखना चाहिए कि जिससे मैं विषम भाव से बच सकूं! सबके साथ मैत्री भाव रख सकूं! 48 मिनटों के समय में वह पूरे दिन का कार्यक्रम बनाता है। अपनी वृत्ति को शुद्ध एवं सात्त्विक रखने की योजना तैयार करता है तथा पिछले दिन की प्रवृत्ति का अवलोकन करता है कि मैंने दिन भर में कोई भूल तो नहीं की है, कहीं मैं अपने पथ से भूला-भटका तो नहीं हूं। इस तरह 48 मिनटों का समय शिक्षा लेने के लिए है। इस समय साधक समस्त सावद्य कर्मों से निवृत्त होकर, अपने मन, वचन और शरीर को समस्त सांसारिक प्रवृत्ति से हटाकर साधना में संलग्न होता है। परन्तु उसका उपयोग केवल उस समय एवं उस स्थान के लिए ही नहीं, बल्कि प्रवृत्ति क्षेत्र के लिए है, या यों कहिए उस समभाव का महत्व उस समय के लिए है, जब वह दुकान पर व्यापार में प्रवृत्त होता है, खेत में जाकर खेती करता है, दफ्तर में कर्मचारियों के तथा जनता के साथ व्यवहार करता है, घर में अपने परिवार के साथ जीवन व्यतीत करता है। क्योंकि उक्त प्रवृत्ति-क्षेत्र में कई तरह की विषम प्रवृत्तियां सामने आती हैं, काम-क्रोध, लोभ-मोह आदि के अंधड़ आकर मानव को झकझोरते हैं, ऐसे विकट समय में अपने पथ पर अडिग एवं दृढ़ होकर गति करना ही सामायिक की साधना का सही अर्थ है। सामायिक-भवन में जहां कषायों के उद्दीप्त होने का साधन नहीं है वहां समभाव में संलग्न रहने का उतना मूल्य नहीं है, जितना

कि कषायों का वातावरण उपस्थित होने पर भी उसके प्रवाह में नहीं बहने में है। अस्तु, 48 मिनटों की साधना जीवन को पूरे दिन समभाव में स्थित रखने के लिए है।

श्रावक के बारह व्रतों में सामायिक का स्थान 9वां है। 5 अणुव्रत एवं 3 गुणव्रत के बाद इसकी साधना का आदेश दिया गया है। इसका तात्पर्य यह है कि 5 अणुव्रत एवं 3 गुणव्रत स्वीकार करके जीवन को संयमित, नियमित एवं मर्यादित बना लिया है तथा आवश्यकताओं को कम कर दिया है। इस बात को हम पहले ही स्पष्ट कर चुके हैं कि विषमता, संघर्ष एवं कलह-कदाग्रह की जड़ तृष्णा है। आवश्यकताएं जितनी अधिक होंगी, जीवन में उतनी ही अधिक अशांति होगी। अत: समभाव की साधना के लिए तथा प्राणी जगत के साथ मैत्री सम्बन्ध जोड़ने के लिए जीवन की आवश्यकताएं सीमित होना जरूरी है। अस्तु, सामायिक व्रत गृहस्थ जीवन में रहते हुए, पारिवारिक, सामाजिक, राष्ट्रीय एवं औद्योगिक समस्याओं को हल करते समय अपनी वासनाओं एवं कषायों पर नियन्त्रण रखने का मार्ग बताता है। इसलिए इसे शिक्षा-व्रत कहा गया है।

सामायिक की साधना द्रव्य और भाव से दो प्रकार की बताई गई है। सामायिक करने के स्थान का रजोहरण या प्रमार्जनिका से प्रमार्जन करके खादी का आसन बिछा कर, बनियान, कमीज, कोट आदि उतार कर, चादर ओढ़कर तथा मुखवस्त्रिका मुख पर लगाकर 48 मिनट तक माला फेरना या धार्मिक क्रिया करना द्रव्य-सामायिक है। उस समय हरी सब्जी, कच्चे पानी आदि का स्पर्श तथा स्त्री को पुरुष का तथा पुरुष को स्त्री का स्पर्श नहीं करना, इधर-उधर की फालतू बातें नहीं करना आदि बाह्य रूप भी द्रव्य-सामायिक है। भाव-सामायिक में भाव शब्द मानसिक विचारों का परिचायक है। द्रव्य-सामायिक में वचन और शरीर को सावद्य प्रवृत्ति से हटाकर धार्मिक साधना में लगाया जाता है और भाव-सामायिक में मन के योग को सावद्य प्रवृत्ति से हटाकर समभाव की साधना में लगाने का विधान है। राग-द्वेष, काम-क्रोध के प्रवाह में प्रवहमान मन को, विचारों को समभाव की ओर मोड़ने का नाम भाव-सामायिक है। वचन और शरीर के योग से मन का योग अधिक सूक्ष्म है। शरीर एवं वचन योग पर नियंत्रण करना सहज है, परन्तु मन की गति को, वेग को रोकना कठिन है और जब तक मानसिक चिन्तन की धारा में परिवर्तन नहीं आता, तब तक सामायिक की साधना लाभदायक नहीं होती या यों कहिए उससे आत्मा का अभ्युदय नहीं होता। प्रत्येक क्रिया तभी फलवती होती है, जब द्रव्य-साधना के साथ भाव-साधना की गति ठीक रहती है। भावशून्य क्रिया से विशेष लाभ नहीं होता। इसलिए भाव-सामायिक का स्थान सर्वोपरि है।

प्रश्न–भाव-सामायिक ही वास्तविक और शुद्ध सामायिक है। उसके अभाव में द्रव्य-सामायिक का कोई महत्त्व नहीं है। आज के युग में भावों को शुद्ध रखना कठिन है, ऐसी स्थिति में शुद्ध सामायिक की साधना कैसे की जा सकती है?

उत्तर–जीवन-विकास के लिए वैचारिक एवं मानसिक शुद्धि होना अत्यावश्यक है, परन्तु भावना की विशुद्धि भी द्रव्य पर आश्रित है। केवल भावना शुद्ध रखने का नारा लगाया जाए और साथ में द्रव्य-क्रिया न की जाए तो भावों की शुद्धि का मूल्य एडवरटाइजमेंट के रूप में ही रह जाएगा, और द्रव्य-क्रियाएं तो की जाती हैं परन्तु मन में समभाव की धारा नहीं बह रही है, काम-क्रोध एवं अहंकार आदि मनोविकारों पर कण्ट्रोल करने की ओर लक्ष्य नहीं है, तो वह क्रिया-काण्ड केवल बोझ रूप में ही रह जाएगा। अस्तु, द्रव्य और भाव का समन्वय ही जीवन-विकास का मूल आधार है।

यह सत्य है कि मानसिक एवं वैचारिक चिन्तन को शुद्ध रखना तथा अपने मन को आत्म-चिन्तन में, आत्म-निरीक्षण में लगाए रखना कठिन अवश्य है, परन्तु सर्वथा असंभव नहीं है। यदि मन पूरी तरह चिन्तन में नहीं लगता है, तो द्रव्य-क्रिया भी नहीं की जाए, यह समझना, मानना एवं करना उचित नहीं कहा जा सकता। यह ठीक है कि द्रव्य-क्रिया के साथ भाव शुद्धि भी बनी रहे तथा मन को समभाव की साधना में लगाया जाए। यदि किसी समय मन नियंत्रण से बाहर होकर इधर-उधर भागता है, तब भी द्रव्य-क्रिया सर्वथा अनुपयोगी नहीं है। क्योंकि जो व्यक्ति द्रव्य-क्रिया करता है, द्रव्य-साधना को साधता रहता है, वह व्यक्ति जल्दी या देर से भाव-साधना को भी साध सकता है, उसके चिन्तन एवं विचारों में अभिनव ज्योति जाग सकती है। वह अपने वैचारिक एवं मानसिक चिन्तन-मनन को नया मोड़ दे सकता है। परन्तु भाव शुद्धि न रहने की बात कहकर जो व्यक्ति द्रव्य-क्रिया को ही छोड़ देता है, उसके मन में भाव-शुद्धि का जागना कठिन है। क्योंकि उसके साथ उसका व्यावहारिक सम्पर्क नहीं रहने से आत्मिक सम्पर्क जुड़ सकना अत्यधिक कठिन है। इसलिए सामायिक की साधना के लिए द्रव्य और भाव दोनों का होना जरूरी है।

सामायिक की साधना को शुद्ध रखने के लिए चार प्रकार की शुद्धि बताई गई है– 1. द्रव्य शुद्धि, 2. क्षेत्र शुद्धि, 3. काल शुद्धि, और 4. भाव शुद्धि। सामायिक में रखे जाने वाले उपकरण–रजोहरण, प्रमार्जनिका, आसन, चादर, मुखवस्त्रिका, माला आदि की शुद्धि का अर्थ है कि ये उपकरण सादे, सात्त्विक एवं अल्प मूल्य वाले होने चाहिएं। जहां तक हो सके

आसन ऊन या खादी का बना हो तथा चादर, धोती एवं मुखवस्त्रिका शुद्ध खादी की हो। क्षेत्र शुद्धि का अर्थ है–सामायिक करने का स्थान शान्त और एकांत जगह में होना चाहिए। शहर के हो-हल्ले में चिन्तन-मनन में मन नहीं लग सकता। अतः सामायिक भवन एकांत में होना चाहिए तथा सादा एवं सात्त्विक ढंग से बना हुआ होना चाहिए। सामायिक के लिए विकारोत्पादक चित्रकारी एवं विलासी सामग्री से युक्त स्थान नहीं होना चाहिए। काल शुद्धि से यह तात्पर्य है कि सामायिक ऐसे समय में की जाए जिस समय न तो हो-हल्ला होता हो और न व्यक्ति पर किसी तरह का उत्तरदायित्व हो । इसलिए सामायिक की साधना के लिए प्रातःकाल का समय बहुत ही सुन्दर बताया गया है। एक महान विचारक ने कहा है –

श्रावक जी उठे प्रभात चार घड़ी ले पिछली रात।
मन में सुमरे श्री नवकार, जिससे उतरे भवजल पार॥

साधना की दृष्टि से यह समय बड़ा ही महत्त्वपूर्ण है। इस समय मस्तिष्क भी शान्त एवं स्वस्थ रहता है। बाल-बच्चे एवं परिवार के अन्य सदस्य निद्रा देवी की गोद में सोए होने से वातावरण भी शांत एवं प्रशांत रहता है। दूसरे समय में बाल-बच्चों का शोरोगुल बना रहता है, परिवार के सदस्यों की हलचल बनी रहती है, रोगी आदि की मांगें भी साधक के चिन्तन में विघ्न पैदा करती रहती हैं। अतः ऐसे समय में सामायिक की साधना ठीक तरह से नहीं हो सकती। इसलिए सामायिक प्रातः या सायंकाल ही करनी चाहिए। शाम के समय भी सभी कार्यों से मुक्त हो जाने के कारण उसकी साधना फिर भी ठीक चल सकती है। परन्तु प्रातः जितनी शांति शाम के समय नहीं रहती। इस कारण चिन्तन-मनन के लिए प्रातःकाल का समय ही सर्वोत्तम माना गया है।

भाव शुद्धि का अर्थ है–मन में राग-द्वेष एवं कषायों का स्पर्श न होने पाए। जैसे हरी सब्जी, कच्चे पानी आदि के तथा पुरुष एवं स्त्री आदि के स्पर्श से बचा जाता है तथा इनका स्पर्श हो जाने पर प्रायश्चित्त स्वीकार करके शुद्धि की जाती है, उसी तरह मन में इतनी सावधानी एवं जागरूकता रखी जाए कि कषायों एवं राग-द्वेष का स्पर्श न हो, वाणी एवं शरीर से तो क्या मन में भी कषायों की विचारणा न होने पाए। यदि कभी मोहवश या आवेशवश योगों की प्रवृत्ति राग-द्वेष या कषाय आदि मनोविकारों में हो रही हो तो अपने योगों को उससे तुरन्त हटाकर उसका प्रायश्चित्त करके अन्तःकरण की शुद्धि की जाए। इस तरह सामायिक शुद्ध रखने के लिए द्रव्य और भाव शुद्धि रखना आवश्यक है। क्योंकि भावों को शुद्ध बनाने

के लिए द्रव्य, क्षेत्र और काल की शुद्धि रखना जरूरी है। बाह्य वातावरण के शुद्ध एवं सात्त्विक बने बिना आन्तरिक वातावरण में परिवर्तन आ नहीं सकता और अन्तर्मन में हो रही विकारों की उछल-कूद बन्द हुए बिना द्रव्य साधना को बल नहीं मिल सकता। अतः द्रव्य सामायिक भी सर्वथा उपेक्षणीय नहीं है। जीवन विकास के लिए उसकी भी उपयोगिता है। फलतः द्रव्य और भाव सामायिक शुद्ध बनाने के लिए बाह्य और आभ्यन्तर दोषों से बचने एवं द्रव्य, क्षेत्र आदि की शुद्धि रखने की ओर विशेष ध्यान देने की आवश्यकता है।

प्रश्न--सामायिक साधना साधु एवं श्रावक दोनों करते हैं। फिर दोनों की साधना या सामायिक में क्या अन्तर है?

उत्तर--साधु हिंसा आदि दोषों का पूर्णतः त्याग करता है और वह भी एक-दो दिन, एक-दो माह या एक दो वर्ष के लिए नहीं, बल्कि जीवन पर्यन्त के लिए हिंसादि दोषों का सेवन न करने की प्रतिज्ञा करता है। परन्तु गृहस्थ उक्त दोषों का सर्वथा त्याग नहीं कर सकता, वह एक अंश से ही त्याग करता है। अतः उसका आचरण पूर्णतः निर्दोष नहीं होता। सामायिक साधना का अर्थ है--दोषों से, पापों से, सावद्य वृत्ति से अलग हटकर समभाव की साधना करना। साधु पूर्ण त्यागी होने के कारण उसकी सामायिक भी पूर्ण होती है और वह सदा के लिए होती है। श्रावक का जीवन पारिवारिक, सामाजिक एवं राष्ट्रीय दायित्व से आबद्ध होने के कारण उसे कुछ दोषों का सेवन करना पड़ता है। अतः उसकी सामायिक साधना पूरे दिन या पूरे जीवन तक नहीं चल सकती। वह एक मुहूर्त्त तक समस्त दोषों से अपने मन, वचन और शरीर के योग को हटाकर जीवन में चल रही विषमताओं को दूर करके समभाव में प्रगति करने को साधना का अभ्यास करता है। अस्तु, साधु एवं श्रावक की सामायिक साधना में इतना ही अन्तर है कि साधु की सामायिक जीवन पर्यन्त के लिए होती है और श्रावक की सामायिक 48 मिनट के लिए। साधु अपनी सामायिक में हिंसा आदि दोषों का मन, वचन और शरीर से सेवन करने, कराने और अनुमोदन करने का त्याग कर देता है, परन्तु श्रावक उक्त दोषों का मन, वचन और शरीर से सेवन करने और करवाने का ही त्याग करता है।

प्रश्न--सामायिक करते समय किस आसन से बैठना चाहिए?

उत्तर--साधना में आसन का बड़ा महत्त्वपूर्ण स्थान है। दृढ़ आसन का मन पर बहुत अच्छा प्रभाव पड़ता है। बैठने की चुस्ती एवं सुस्ती का मन पर असर पड़े बिना नहीं रहता। शिथिल आसन मन एवं विचारों को शिथिल बना देता है, जीवन में आलस्य एवं प्रमाद को

बढ़ाता है। इसलिए सामायिक में सदा दृढ़ आसन से बैठना चाहिए। इसकी विशेष जानकारी के लिए प्राचीन योगशास्त्र आदि ग्रन्थों का अध्ययन अपेक्षित है। हमारे यहां सामायिक आदि धार्मिक क्रिया करते समय बैठने के लिए कुछ आसनों का उल्लेख मिलता है। जैसे–1. सिद्धासन 2. पद्मासन, और 3. पर्यंकासन।

1. **सिद्धासन**–बाएं पैर की एड़ी से जननेन्द्रिय और गुदा के बीच के स्थान को दबा कर, दाहिने पैर की एड़ी से जननेन्द्रिय के ऊपर के भाग को दबाना, ठुड्डी को हृदय में जमाना और शरीर को सीधा रखकर दोनों भौहों के बीच में दृष्टि को केन्द्रित करना सिद्धासन कहलाता है।

2. **पद्मासन**–बायीं जांघ पर दाहिने पैर को और दाहिनी जांघ पर बायें पैर को रखना और फिर दोनों हाथों को दोनों जंघाओं पर चित्त रखना अथवा दोनों हाथों को नाभि के पास ध्यान मुद्रा में रखना।

3. **पर्यंकासन**–दाहिना पैर बायीं जांघ के नीचे और बायां पैर दाहिनी जांघ के नीचे दबाकर बैठना पर्यंकासन है। इसका दूसरा नाम सुखासन भी है। सर्व-साधारण इसे आलथी-पालथी भी कहते हैं।

प्रश्न–सामायिक करते समय मुख किस दिशा में रखना चाहिए?

उत्तर–प्रत्येक धार्मिक क्रिया करते समय मुख पूर्व या उत्तर दिशा में रखना श्रेष्ठ माना गया है। यदि गुरुदेव उपस्थित हों तो उस समय उनके सन्मुख बैठकर सामायिक आदि साधना करनी चाहिए। उनके सामने दिशा का सवाल नहीं उठता। परन्तु गुरु की अनुपस्थिति में पूर्व या उत्तर में मुख करके सामायिक की साधना करनी चाहिए। भारतीय-संस्कृति के सभी विचारकों ने पूर्व और उत्तर दिशा को महत्त्व दिया है।

प्रश्न–श्रावक के लिए सामायिक काल दो घड़ी (48 मिनट) का ही क्यों रखा है? जबकि सामायिक के प्रतिज्ञा-पाठ में तो केवल 'जाव नियम' इतना ही मिलता है। अर्थात् जब तक नियम है या जितनी देर साधक ने बैठने की इच्छा की है। यहां काल के सम्बन्ध में कोई निश्चित समय नहीं दिया है। फिर यह दो घड़ी का बन्धन क्यों?

उत्तर–यह सत्य है कि सामायिक के प्रतिज्ञा पाठ में काल मर्यादा निश्चित नहीं की है, तथापि सर्वसाधारण जनता को नियमबद्ध करने तथा सबकी साधना में एकरूपता लाने के लिए पूर्वाचार्यों ने दो घड़ी की मर्यादा निश्चित की है। इस पर प्रश्न यह हो सकता है कि वह

मर्यादा दो घड़ी की ही क्यों बांधी गई, इससे कम या ज्यादा समय क्यों नहीं रखा गया? इसका उत्तर यह है कि व्यक्ति का चिन्तन-मनन या संकल्प अधिक से अधिक दो घड़ी तक एक विषय पर स्थिर रह सकता है, उसके बाद विचारधारा एवं चिन्तन में अवश्य ही अन्तर आ जाता है।[1] अस्तु, जैनदर्शन की यह मान्यता शुभ संकल्पों को लेकर स्वीकार की गई है कि सामायिक की साधना दो घड़ी तक समान रूप से चल सकती है। इस कारण आचार्यों ने दो घड़ी का समय निश्चित किया है।

सामायिक व्रत का परिपालन करने वाले व्यक्ति को निम्नोक्त 5 बातों से सदा बचकर रहना चाहिए –

1. मन को विषम बनाना, समता से दूर ले जाना, बुरे विचारों एवं संकल्प-विकल्पों में लगाना।

2. भाषा बोलने में विवेक नहीं रखना। कटु एवं असभ्य वचन बोलना, गालियां देना।

3. शारीरिक कुचेष्टाएं करना।

4. सामायिक लेने के समय को भूल जाना या इस बात को ही विस्मृति के गहन अंधकार में ढकेल देना कि मैंने सामायिक स्वीकार की है।

5. अव्यवस्थित रीति से सामायिक करना, अथवा कभी करना, कभी नहीं करना और करने के बाद उसका प्रचार करना। आतुरता के साथ सामायिक समाप्त होने के समय को देखते रहना। पूरी सामायिक घड़ी देखने में ही बिताना।

देशावकाशिक व्रत

जो छठे और सातवें व्रत में दिशा-विदिशाओं में आवागमन के क्षेत्र की तथा उपभोग-परिभोग के साधनों की मर्यादा की है, उसमें से प्रतिदिन आवश्यकताओं का संकोच करते रहने का नाम देशावकाशिक व्रत है। जैसे किसी व्यक्ति ने पूर्व दिशा में एक हजार मील तक जाने की मर्यादा रखी है। परन्तु वह प्रतिदिन इतना रास्ता तय नहीं करता। इसलिए वह प्रतिदिन अपनी आवश्यकता के अनुसार दो, चार या दस-बीस मील की मर्यादा रखकर शेष का उस दिन के लिए त्याग कर दे। इसी तरह उपभोग-परिभोग के साधनों में भी प्रतिदिन संकोच करे। आजकल श्रावक के लिए प्रतिदिन 14 नियम चिन्तन करने और स्वीकार करने

---

1. अन्तोमुहुत्तकालं चित्तस्सेगग्गया हवइ झाणं। –आवश्यक सूत्र, मलयगिरि, 4, 4.

की जो परम्परा है वह इसी व्रत का रूपांतर है। पृथ्वी, पानी आदि सचित्त पदार्थों, स्वाद के लिए तैयार किए गए अनेक तरह के द्रव्य, दूध-दही-घी आदि विगय आदि 14 प्रकार के नियम हैं, इनमें पदार्थों की एवं स्वादों की मर्यादा की जाती है। आवश्यकताओं को हमेशा घटाने का ध्यान रखा जाता है। इसी तरह यह व्रत प्रतिदिन जरूरतों को कम करने की, पदार्थों में रही हुई ममता एवं तृष्णा को संकोचने की शिक्षा देता है।

उपरोक्त परिभाषा के अतिरिक्त 5 अणुव्रतों में काल की मर्यादा को नियत करके आश्रव का त्याग करना भी देशावकाशिक व्रत कहलाता है। कोई व्यक्ति पौषध व्रत नहीं रख सकता है, वह एक दिन-रात के लिए 5 आश्रव का त्याग करके, आहार-पानी करते हुए 24 घण्टे साधना में संलग्न रहता है तथा कोई व्यक्ति तीन आहार का त्याग कर देता है, केवल पानी पीकर सावद्य योग में प्रवृत्त होने का त्याग कर देता है, तो उसे भी देशावकाशिक व्रत कहते हैं। प्रथम क्रिया को जैन परिभाषा में दया कहते हैं, लोक भाषा में इसे खाता-पीता पौषध व्रत भी कहते हैं। दया में हिंसा, असत्य आदि सभी दोषों का एक करण एक योग से (शरीर से दोष सेवन करने का) 1 करण 3 योग से (शरीर से दोष सेवन करने, करवाने एवं अनुमोदन करने का) तथा दो करण तीन योग से (वचन और शरीर से दोषों का सेवन करने, करवाने एवं अनुमोदन करने का) एक दिन-रात के लिए त्याग किया जाता है। आजकल प्रायः एक करण एक योग से दया स्वीकार करने की परम्परा है। दया स्वीकार करने वाले व्यक्ति को 24 घण्टे घर एवं दुकान आदि से अलग धर्मस्थान में रहना होता है। शयन एवं खाने-पीने तथा शौचादि आवश्यक कार्य के लिए आने-जाने के सिवाय सारा समय धर्म-क्रिया एवं स्वाध्याय तथा चिन्तन-मनन में लगाना चाहिए। दया के लिए एक समय खाना चाहिए। यदि किसी से भूखा नहीं रहा जाता हो तो वह दो समय भी खा सकता है। परन्तु भोजन सादा, सात्त्विक, हल्का एवं अल्प होना चाहिए जिससे स्वाध्याय एवं चिन्तन-मनन करने में किसी तरह की बाधा न पड़े। इसके सिवाय अल्प समय के लिए आश्रव का त्याग करके उस समय को चिन्तन में लगाना भी इसी व्रत में गिना जाता है, जिसे संवर कहते हैं। सामायिक के लिए 48 मिनट का समय निश्चित है, परन्तु संवर इससे कम या अधिक समय के लिए भी किया जा सकता है।

इस व्रत को निर्दोष पालन करने के लिए श्रावक को सदा 5 बातों से बचकर रहना चाहिए –

1. नियमित सीमा के बाहर की वस्तु मंगवाना।

2. नियमित सीमा के बाहर वस्तु भिजवाना।

3. मर्यादित जगह के बाहर शब्द के द्वारा कार्य करने को प्रेरित करना।

4. मर्यादित स्थान से बाहर रूप दिखाकर अपने विचार प्रकट करना।

5. मर्यादित स्थान के बाहर कंकर, काष्ठ आदि फैंक कर किसी को बुलाना।

पौषधोपवास व्रत

धर्म का पोषण करने वाली क्रिया को पौषध कहते हैं। उक्त क्रिया में साधक 24 घण्टे के लिए 5 आश्रवों का त्याग करता है, सभी सावद्य कार्यों से निवृत्त होता है और साथ में उपवास (एक दिन का व्रत) करके 24 घण्टे धर्मस्थान में रहता है। वह चार प्रकार का होता है–1. आहार पौषध, 2. शरीर पौषध, 3 ब्रह्मचर्य पौषध, और 4. अव्यापार पौषध। इन चारों के भी देश और सर्व ऐसे दो-दो भेद हैं।

1. **आहार पौषध**–एकासन, आयंबिल करके 24 घण्टे धर्म-साधना में बिताना देश-आहार-पौषध है तथा एक दिन-रात के लिए आहार-पानी का सर्वथा त्याग कर देना सर्व-आहार पौषध है।

2. **शरीर पौषध**–शरीर विभूषा के साधनों में कुछ का त्याग करना देश शरीर पौषध है और सभी तरह के विभूषा संबंधी साधनों का सर्वथा त्याग करना सर्व शरीर पौषध है।

3. **ब्रह्मचर्य पौषध**–सिर्फ दिन या रात के लिए मैथुन का त्याग करना देश-ब्रह्मचर्य पौषध है और एक दिन-रात के लिए मैथुन क्रिया का त्याग करना सर्व-ब्रह्मचर्य पौषध है।

4. **अव्यापार पौषध**–आजीविका के लिए किए जाने वाले कार्यों में से कुछ का त्याग करना देश-अव्यापार पौषध है और सभी कार्यों का त्याग करना सर्व-अव्यापार पौषध है।

उक्त चारों प्रकार के पौषध को देश या सर्व से ग्रहण करने को पौषधोपवास व्रत कहते हैं। जो पौषधोपवास व्रत देश से ग्रहण किया जाता है, वह सामायिक के सहित भी किया जाता है और आयंबिल, एकासन आदि के रूप में बिना सामायिक स्वीकार किए भी ग्रहण किया जाता है। परन्तु जो सर्व से स्वीकार किया जाता है, वह पूरे दिन-रात के लिए सामायिक के साथ अर्थात् सावद्य कार्यों से निवृत्त होकर ही स्वीकार किया जाता है। उक्त व्रत को स्वीकार

करने वाला व्यक्ति कोट कमीज उतार कर चादर ग्रहण करके मुंह पर मुख-वस्त्रिका बांधकर 24 घण्टे धर्मस्थान में रहता है, आवश्यक कार्य के लिए बाहर जाना होता है तो नंगे पैर व नंगे सिर जाता है, रात को प्रमार्जनिका या रजोहरण से जमीन साफ किए बिना चल-फिर नहीं सकता, न पलंग या चारपाई पर सो सकता है। यों कहना चाहिए कि वह पूरे दिन के लिए साधु की तरह त्याग वृत्ति में रहता है। उक्त व्रत स्वीकार करने वाले व्यक्ति को सदा पांच कार्यों से दूर रहना चाहिए –

1. पौषध के समय काम में लिए जाने वाले पाट, आसन, घास (तृण) आदि का विधिपूर्वक प्रतिलेखन (निरीक्षण) न करना।

2. उपरोक्त वस्तुओं का विधिपूर्वक परिमार्जन नहीं करना।

3-4. शरीर चिन्ता से निवृत्त होने के लिए मल-मूत्र त्याग करने के स्थान का भली भांति प्रतिलेखन और परिमार्जन नहीं करना।[1]

5. पौषध में आहार-पानी, शरीर-सेवा, मैथुन, सावद्य प्रवृत्ति एवं व्यापार आदि की कामना करना।

उक्त व्रत से आत्मगुणों को पोषण मिलता है। जीवन में आध्यात्मिक विकास करने की शिक्षा मिलती है। इस व्रत को अष्टमी, चतुर्दशी और पूर्णिमा ऐसे पक्ष में तीन बार और महीने में 6 बार स्वीकार करना चाहिए। जो श्रावक पौषध नहीं कर सकता है, उसे 6 दिन दया करनी चाहिए।

अतिथि-संविभाग व्रत

जिसके आने की कोई तिथि-तारीख या दिन निश्चित न हो तथा जो बिना सूचना दिए अचानक द्वार पर आ खड़ा हो, उसे अतिथि कहते हैं। ऐसे व्यक्ति का आदर-सत्कार करने के लिए भोजन आदि पदार्थों में संविभाग करना अथवा उसे आवश्यकतानुसार आहार, वस्त्र-पात्र आदि देना अतिथि-संविभाग व्रत कहलाता है। या यों कहिए अध्यात्म साधना के पथ पर गतिशील संयमी साधु-सन्तों को उनके नियम के अनुकूल आहार, वस्त्र, पात्र, मकान

---

1 प्रतिलेखन और परिमार्जन में इतना अन्तर है कि प्रतिलेखन दृष्टि से किया जाता है और परिमार्जन रजोहरण या प्रमार्जनिका से किया जाता है।

आदि देना तथा दान का प्रत्यक्ष संयोग न मिलने पर भी दान देने की भावना बनाए रखना भी अतिथि-संविभाग व्रत कहलाता है।

पांच अणुव्रत स्वीकार करते समय श्रावक हिंसा, असत्य और दोषों का मोटे-स्थूल रूप में त्याग कर देता है। तीन गुणव्रत ग्रहण करके वह अपनी मर्यादित आवश्यकताओं को और सीमित कर लेता है। तीन शिक्षा व्रत स्वीकार करके आध्यात्मिक जीवन में आगे बढ़ता है। विषमता के उजाड़ मार्ग से हटकर समता के सरल एवं सीधे मार्ग पर गति करने का प्रयत्न करता है। सावद्य प्रवृत्ति से दूर हट कर त्याग एवं तप की ओर कदम बढ़ाता है। चौथे शिक्षाव्रत में श्रावक अपने मर्यादित परिग्रह में से प्रतिदिन यथाशक्ति कुछ धन शुभ कार्य में खर्च करके अपनी ममता और आसक्ति को कम करता है और आसक्ति जितनी कम होती है, पाप एवं आरम्भ भी उतना ही घटता जाता है। अत: यह बारहवां व्रत आसक्ति को कम करके अपने धन को शुभ कार्य में व्यय करने की शिक्षा देता है।

आचार्यों ने दान को अत्यधिक महत्त्व दिया है। संसार रूप गम्भीर एवं गहन अंधकारमय कूप से बाहर निकलने का दान से बढ़कर और कोई साधन नहीं है। "**नेत्तारो भवकूपतोऽपि सुदृढ़ दानावलम्बात् पर:।**" दान की इतनी प्रतिष्ठा होने तथा शास्त्रों में जगह-जगह इसका उल्लेख मिलने पर भी कुछ लोग साधु से इतर को दान देने में पाप मानते हैं। यह उनका अज्ञान है, ऐसा समझना चाहिए। यदि दान देने में पाप होता तो केशी श्रमण से बोध पाकर धर्म एवं अध्यात्म-साधना की ओर बढ़ने वाला प्रदेशी राजा अपने राज्य की आय का चौथा भाग दीन-दु:खी प्राणियों की सहायता के लिए क्यों निकालता? परन्तु उसने केशी श्रमण के सामने यह प्रतिज्ञा की थी कि मैं अपने राज्य की आय का चौथा हिस्सा असहायों को सहयोग देने में लगाऊंगा। इससे स्पष्ट हो जाता है कि दान देना पाप नहीं, धर्म एवं पुण्य है। इस व्रत को निर्दोष परिपालन करने के लिए श्रावक को पांच बातों से सदा बचकर रहना चाहिए।

1. अचित्त पदार्थ के ऊपर सचित्त पदार्थ रखना।

2. सचित्त वस्तु पर अचित्त वस्तु को रखना।

3. भोजन के समय का अतिक्रमण करके आहारादि देने की भावना भाना या आहार के लिए आमंत्रित करना।

4. दान देना पड़े इस भावना से अपनी वस्तु दूसरे को दे देना।

5. मात्सर्य भाव से दान देना।

उपसंहार

श्रावक के ऊपर दोहरा उत्तरदायित्व है—एक स्वीकृत साधना का और दूसरा पारिवारिक जीवन चलाने का। अत: उसे साधु से भी अधिक सावधानी बरतनी होती है। उसे सदा जागरूक होकर चलना होता है और कभी-कभी उसे सहिष्णु एवं तपस्वी बनना होता है। इसी त्याग-वैराग्य की महान भावना को सामने रखकर कहा गया है—कोई-कोई गृहस्थ साधु से भी उत्कृष्ट साधना करने वाला है।[1] यह सत्य है कि उसकी साधना देशत: है और भावना सर्वत: की ओर होने से श्रावक जीवन भी महत्त्वपूर्ण माना गया है।

श्रावक के मूलव्रत पांच ही हैं, जिन्हें अणुव्रत कहते हैं। शेष तीन गुणव्रत और चार शिक्षाव्रत उत्तरव्रत हैं अर्थात् मूलव्रतों के परिपोषक हैं। अत: उनका मूल्य मूलव्रतों के ऊपर आधारित है। क्योंकि बिना मूल के कोई भी वृक्ष स्थित नहीं रह सकता और न पुष्पित एवं फलित हो सकता है। अस्तु, साधना के पथ पर गतिशील व्यक्ति को मूलव्रतों का अधिक जागरूकता से परिपालन करना चाहिए और उनमें अभिवृद्धि करने के लिए तथा अपनी आवश्यकताओं और काम-वासनाओं को कम करने के लिए तथा सदा के लिए नहीं तो कम से कम कुछ समय के लिए सावद्य प्रवृत्ति से हटने के लिए गुणव्रत एवं शिक्षाव्रतों को जीवन में उतारना चाहिए और तप साधना में भी संलग्न रहना चाहिए।

❑ ❑ ❑

---

1. ''सन्ति एगेहिं भिक्खूहिं, गारत्था संजमुत्तरा'' —उत्तराध्ययन सूत्र 5, 20.

अनगार-धर्म

प्रश्न—मुक्ति की साधना का मार्ग क्या है?

उत्तर—कर्म से सर्वथा छुटकारा पाना ही मुक्ति है। इस बात को प्रायः सभी आस्तिक माने जाने वाले दर्शनों ने स्वीकार किया है। परन्तु साधना के मार्ग में सभी विचारक एकमत नहीं हैं। कुछ विचारकों का कहना है कि आत्मा के स्वरूप को पहचान लो, तुम्हारी मुक्ति हो जाएगी, उसे प्राप्त करने के लिए क्रिया-कांड व्यर्थ है। इस मत में ज्ञान ही मुक्ति का साधन है। कुछ विचारक क्रिया-कांड पर जोर देते हैं। उनका कहना है कि तुम वेद-विहित कर्म करते जाओ, मुक्ति हो जाएगी। मुक्ति के लिए उसके या आत्मा के स्वरूप का परिज्ञान प्राप्त करने की कोई आवश्यकता नहीं। रोग से मुक्त होने के लिए यह आवश्यक है कि औषध का सेवन किया जाए, परन्तु यह जरूरी नहीं है कि उसके स्वरूप को भी जाना जाए।

परन्तु जैन विचारकों ने कहा कि न एकांत ज्ञान मुक्ति का मार्ग है और न एकांत क्रिया-कांड ही। ''ज्ञान-क्रियाभ्यां मोक्ष'' ज्ञान और क्रिया के समन्वय से मुक्ति प्राप्त होती है। आचार्य उपास्वाति ने भी यही बात कही कि सम्यग्दर्शन, ज्ञान और चारित्र मुक्ति का मार्ग है।[1] सम्यग्दर्शन और ज्ञान तो हो, परन्तु चारित्र का अभाव हो तो साध्य की सिद्धि नहीं होती। इसी तरह मात्र चारित्र से भी मुक्ति की प्राप्ति नहीं होती। चारित्र के अभाव में दर्शन और ज्ञान सम्यक् रह सकते हैं, पर उनसे आत्मा सिद्धत्व को नहीं पा सकती, सम्यग्दर्शन और ज्ञान के अभाव में चारित्र सम्यक् नहीं रह सकता, वह मिथ्याचारित्र हो जाता है और आत्मा को संसार में परिभ्रमण कराता रहता है। अस्तु, मात्र जानने या क्रिया करने से मुक्ति नहीं मिलती। जैसे एक व्यक्ति को आयुर्वेद का परिपूर्ण ज्ञान है। समस्त रोगों की दवाएं उसे जबानी याद हैं। वह

1. सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः। –तत्त्वार्थ सूत्र 1, 1.

व्यक्ति बीमारी के समय उस रोग को दूर करने वाली औषधों का स्वाध्याय एवं चिन्तन-मनन करता रहता है, परन्तु उस औषध को ग्रहण नहीं करता और दूसरा व्यक्ति एक के बाद दूसरी, तीसरी औषध खाता जा रहा है, परन्तु उसे यह पता ही नहीं है कि किस रोग पर कौन-सी औषध लेनी चाहिए। ऐसे दोनों व्यक्ति रोग से मुक्त नहीं हो सकते। यह नितान्त सत्य है कि ज्ञान से मार्ग दिखाई देता है परन्तु तय नहीं होता और क्रिया से मार्ग तय होता है, परन्तु दिखाई नहीं पड़ता। इसीलिए महान् तत्त्ववेत्ताओं ने दोनों के समन्वय की बात कही है, दोनों मिलकर ही मार्ग को तय कर सकते हैं। ज्ञान आंख है तो क्रिया पैर है और रास्ते को तय करने के लिए दोनों के समन्वित सहयोग की आवश्यकता है। यदि आंखें खुली हैं, पर पैरों में गति नहीं है तो मार्ग तय नहीं हो सकता। इसी तरह पैरों में तेज गति है, परन्तु आंखें बन्द हैं या नहीं हैं तो भी वह गन्तव्य स्थान पर सही-सलामत नहीं पहुंच सकता। अस्तु, जैनों ने न अकेले ज्ञान पर जोर दिया और न अकेली क्रिया पर। उन्होंने सम्यग् ज्ञान और सम्यग् आचरण–क्रिया के समन्वित रूप को मुक्ति का मार्ग माना है।

यह तो पहले हम बता चुके हैं कि सम्यग्ज्ञान के अभाव में स्थित चारित्र का कोई मूल्य नहीं है। अत: जहां चारित्र का उल्लेख करें वहां सम्यग् ज्ञान को भी साथ समझें या सम्यग् ज्ञान पूर्वक चारित्र समझें। जैनागमों में चारित्र के, साधना के या धर्म के दो भेद किए हैं–अनगार धर्म और आगार धर्म।[1] आगार शब्द का अर्थ है–घर, परिवार आदि से युक्त। इस धर्म के सम्बन्ध में पीछे वर्णन किया जा चुका है। अन+आगार अथवा जिसका घर-परिवार आदि से सम्बन्ध नहीं है, उसे अनगार कहते हैं और उसका धर्म अनगार धर्म कहलाता है। साधु, मुनि, यति, श्रमण, निर्ग्रन्थ, भिक्षु आदि नाम भी उसके पर्यायवाची हैं। वह पूर्ण त्यागी होता है। उसकी साधना पांच व्रतों से युक्त होती है–1. अहिंसा, 2. सत्य, 3. अस्तेय, 4. ब्रह्मचर्य, और 5. अपरिग्रह। जैनागमों में इन्हें 5 महाव्रत कहा है। पातञ्जल योग दर्शन में 5 यम का तथा बौद्धशास्त्रों में पंचशील का उल्लेख मिलता है। अहिंसा अदि महाव्रतों का अर्थ सम्बन्धी चिन्तन इस प्रकार है –

अहिंसा

हिंसा का अर्थ है–किसी प्राणी को पीड़ा पहुंचाना या उसके प्राणों का नाश करना।

1. "धम्मे दुविहे पण्णत्ते तं जहा– अणगारधम्मे चेव आगारधम्मे।" –स्थानांग सूत्र, 2.

अत: अहिंसा का अर्थ हुआ—मानसिक, वाचिक और कायिक—शारीरिक प्रवृत्ति से किसी भी प्राणी को कष्ट नहीं पहुंचाना या किसी भी प्राणी के प्राणों का नाश नहीं करना। यह हुआ अहिंसा का एक निषेधात्मक (Negative) पहलू। परन्तु अहिंसा केवल निवृत्तिपरक ही नहीं है, उसका दूसरा विधेयात्मक (Positive) पहलू भी है। वह है, किसी भी कष्ट एवं दु:ख-दर्द में छटपटा रहे प्राणी को शान्ति पहुंचाने का तथा उसे दु:ख के गर्त में से निकालने का प्रयत्न करना और मरते हुए प्राणी की रक्षा करना। इस तरह अहिंसा का अर्थ हुआ—किसी प्राणी को मन, वचन और शरीर से कष्ट नहीं देना, किसी के प्राणों का घात नहीं करना तथा दु:ख में फंसे हुए प्राणी को उसमें से निकालना और अपने प्राण देकर भी मरते हुए प्राणी की रक्षा करना।

कुछ व्यक्ति अहिंसा के दूसरे पहलू को हिंसा की कोटि में मानते हैं जिसे आजकल की सांप्रदायिक भाषा में वे सांसारिक उपकार, लौकिक धर्म या लौकिक दया कहते हैं। परन्तु वस्तुत: देखा जाए तो यह दृष्टि गलत है। रक्षा करने और मारने की भावना तथा क्रिया को समान कोटि में रखना एक सांप्रदायिक हठ ही कहा जा सकता है। अन्यथा दोनों क्रियाओं मे रात-दिन का अन्तर स्पष्ट परिलक्षित हो रहा है, उससे इन्कार करना सत्य को झुठलाना है। हम सब प्रतिदिन देखते हैं कि किसी भी प्राणी को कष्ट पहुंचाते या मारते समय मनुष्य के मन में क्रूर भावना रहती है और रक्षा करते समय मन में दया, करुणा, स्नेह की मधुर एवं सुकोमल भावना रहती है। अत: दोनों भावनाओं को हिंसामय या पापबन्ध का कारण मानना अज्ञानता का ही परिचायक है। भगवान् महावीर ने दया एवं रक्षा की भावना को अहिंसा ही कहा है। प्रश्नव्याकरण में अहिंसा के गिनाए गए 60 नामों में दया, करुणा आदि नाम भी हैं और इसी शास्त्र में यह भी कहा है कि तीर्थंकर जगत के जीवों की रक्षा रूप दया के लिए प्रवचन देते हैं।[1] अत: इससे स्पष्ट हो जाता है कि विधेयात्मक या प्रवृत्त्यात्मक (Positive) पहलू भी हिंसा नहीं, अहिंसा ही है।

अहिंसा के मन, वचन और शरीर ये तीन भेद किये गये हैं और प्रत्येक भेद के करना, करवाना और करते हुए को अच्छा जानना इस प्रकार तीन-तीन भेद बताये गये हैं। इस तरह अहिंसा के नौ भेद होते हैं, जिसे नव कोटि भी कहते हैं। साधु के लिए नव कोटि से अहिंसा का पालन करने का विधान है। साधु पूर्ण त्यागी होता है। अत: वह किसी भी सूक्ष्म एवं स्थूल

---

1. "सव्व जगजीव-रक्खण-दयट्ठयाए भगवया पावयणं सुकहियं।" —प्रश्नव्याकरण सूत्र

प्राणी की मन, वचन और शरीर से न हिंसा करे, न दूसरे व्यक्ति से हिंसा करवाये और न हिंसाजन्य कार्य का समर्थन करे या न उसे अच्छा ही समझे।

हिंसा के 108 भेद भी होते हैं। वे इस प्रकार हैं–सारम्भ, समारम्भ और आरम्भ। हिंसा के लिए विचार-चिन्तन करना सारम्भ है, साधन जुटाना समारम्भ है और उस चिन्तन को मूर्त रूप देना अर्थात् हिंसा के कार्य में प्रवृत्त होना आरम्भ है। इन में से प्रत्येक के क्रोध, मान, माया और लोभ ये चार-चार भेद होते हैं। इस तरह ये $3 \times 4 = 12$ भेद हुए और ऊपर जो 9 भेद कहे गये हैं, उन प्रत्येक के बारह-बारह भेद कर देने से हिंसा के $9 \times 12 = 108$ भेद होते हैं। सब तरह की हिंसा का त्याग करना ही अहिंसा है। अत: अहिंसा के भी 108 भेद होते हैं।

श्रमण-निर्ग्रन्थ (साधु) अहिंसा व्रत का पूर्णतया पालन करता है। वह सूक्ष्म या स्थूल-पृथ्वी, पानी, अग्नि, वायु, वनस्पति, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और पंचेन्द्रिय किसी भी प्रकार के प्राणी की हिंसा नहीं करता, न करवाता और न हिंसा करने वाले को अच्छा समझता है। अपने योगों की प्रवृत्ति से किसी भी प्राणी की हिंसा न हो इसके लिए वह सदा सावधान रहता है। प्रत्येक क्रिया विवेक एवं यतनापूर्वक करता है। हिंसा के पाप से बचने के लिए वह सदा-सर्वदा नंगे पैर पदयात्रा करता है, न सर्द ऋतु में आग तापता है और न गर्मी में पंखे का उपयोग करता है। इसी तरह न वह कुएं, तालाब, नदी आदि का सचित्त पानी ग्रहण करता है और न अपक्व-कच्ची सब्जी को स्पर्श करता है तथा न खुले मुंह बोलता है। सदा मुख-वस्त्रिका का मुख पर प्रयोग करता है।

केश-लोच

प्रश्न–जैन साधु केश-लोच क्यों करता है? अहिंसा का महारथी जैन साधु अपनी हिंसा से क्यों नहीं डरता?

उत्तर–सोना खरा है या खोटा, यह परीक्षा होने पर ही जाना जा सकता है। बाहर के रंग रूप से सुवर्ण का कोई महत्व नहीं होता। वर्ण तो पीतल का भी सुवर्ण जैसा ही होता है। परन्तु पीतल कभी सोना नहीं कहा जा सकता। पीतल में परीक्षाओं को सहन करने की क्षमता नहीं है। पीतल को आग में डाल दिया जाये तो वह काला पड़ जाता है। अपना स्वरूप भी खो बैठता है। सोने की ऐसी दशा नहीं होती। सोने को ज्यों-ज्यों आग में डाला जाए त्यों-त्यों वह

अधिक तेजस्वी बनता चला जाता है। आग में पड़कर सोना कभी मैला या काला नहीं पड़ता। तभी तो कहा जाता है–

"आग में पड़कर भी सोने की चमक जाती नहीं।"

साधु जीवन में कहां तक सत्यता है, कौन साधु किस रूप में साधना की ज्योति में ज्योतित हो रहा है, यह भी बिना परीक्षा के नहीं जाना जा सकता। साधु-जीवन की परिपक्व साधुता उसकी परीक्षा के अनन्तर ही निर्धारित की जा सकती है। जो साधु अनुकूल परीषहों के आने पर समभाव से रहता है, संकट की उपस्थिति में जरा भी डांवाडोल नहीं होता, विषम से विषम परिस्थितियों में समभाव की डोरी टूटने नहीं देता, वही सच्चा साधु या खरा साधु कहा जा सकता है। निःसन्देह ऐसा साधु ही साधुत्व की उच्च भूमिका प्राप्त करने में सफल हो सकता है। किन्तु जो साधु जरा-सी प्रतिकूलता में बौखला उठता है, सामान्य कष्ट के आ जाने पर आकुल-व्याकुल हो जाता है, शान्ति खो बैठता है तो उसे साधु पद के महान् सिंहासन पर कैसे बिठलाया जा सकता है? वह साधु नहीं स्वादु (स्वाद-प्रिय) होता है। वह साधु ही क्या जो कष्ट से भयभीत होता हो ! वस्तुतः साधु की साधना का निर्णय उसकी परीक्षा के अनन्तर ही किया जा सकता है।

केशलोंच[1] जैन साधु की एक परीक्षा है। केशलोच के द्वारा साधु की सहिष्णुता और सहनशीलता का पता चल जाता है। साधु कष्ट सहने में कितनी क्षमता रखता है और समय आने पर कष्टों को झेल सकेगा या नहीं, आदि सभी बातें केश लोच के द्वारा मालूम पड़ जाती हैं। साधु-जीवन के प्रति साधु कितना दृढ़ है तथा कितना स्थिर है, इस बात का भी लोच के द्वारा आसानी से बोध हो जाता है।

साधु-जीवन में मान और अपमान दोनों की वर्षा होती है। अच्छी और बुरी दोनों घड़ियां उसके जीवन में आती हैं। जब सम्मान का अवसर आता है तो वह सर्वत्र सम्मान को

---

1. श्री कल्पसूत्र की 24वीं समाचारी में लिखा है–**वासावासं पज्जोसवियाणं नो कप्पइ निग्गन्थाणं निग्गन्थीण वा परं पज्जोसवणाओ गोलोमप्पमाण मित्तेऽवि केसे तं रयणिं उवायणावित्तए...**। अर्थात् साधुओं को साध्वियों को सम्वत्सरी से पहले-पहले केशलोच करवा लेना चाहिए। गोरोम से अधिक लम्बे केश नहीं रखने चाहिएं।
श्री निशीथ सूत्र के प्रथम उद्देश्य में लिखा है कि जो साधु, साध्वी सम्वत्सरी को गोरोम से अधिक लम्बे केश रखता है, उसको गुरु-चातुर्मासिक प्रायश्चित्त आता है, उसे लगातार चार उपवास रखने पड़ते हैं। **जे भिक्खू पज्जोसवणाए गोलोमाइपि बालाइं उव्वायणावेइ उव्वायणावंतं वा साइज्जइ 45** ।

प्राप्त करता है। आहार भी उसे सम्मान के साथ मिलता है और वस्त्रादि की प्राप्ति भी उसे सम्मान से ही होती है। जहां भी वह जाता है, वहीं अभिवन्दनों और अभिनन्दनों के पुलिन्दे उसके चरणों में अर्पित किये जाते हैं। अमीर-गरीब, राजा-रंक सभी के मस्तक उसकी चरण-रज प्राप्त करते हैं। स्थान-स्थान पर उसे आतिथ्य मिलता है। उसके जय-नादों से कई बार तो आकाश भी गूंज उठता है। इस प्रकार सर्वत्र साधु को सम्मान ही सम्मान प्राप्त होता है। किन्तु जब जीवन में अपमान की घड़ियां आती हैं तो कई बार उसे अपमान का सामना भी करना पड़ता है। लोग उसे घृणा से देखते हैं, उस पर दुत्कार और तिरस्कार की वर्षा करते हैं। भोजन तो किसने देना है, प्रेम-पूर्वक उससे कोई बात भी नहीं करता। प्यास के मारे कण्ठ सूख रहा है तथापि पानी की दो घूंटें उपलब्ध नहीं होतीं, भोजन को देखे तीन-तीन दिन गुजर जाते हैं। वृक्षों के नीचे रातें व्यतीत करनी होती हैं। रोगों से शरीर आक्रान्त हो जाता है। इस प्रकार असातावेदनीय कर्म के अनेकों प्रकोप उसे जीवन में दृष्टिगोचर होते हैं।

जैन दर्शन कहता है कि साधु-जीवन में मान की प्राप्ति हो या अपमान की, दोनों अवस्थाओं में साधु को शान्त और दान्त रहना चाहिए। हर्ष-शोक के प्याले उसे बिना झिझक पीने चाहिएं। समता भगवती की आराधना ही उसके जीवन की साधना होनी चाहिए। परन्तु प्रश्न उपस्थित होता है कि इस बात का पता कैसे चले कि साधु मानापमान में शान्त रहता है या नहीं और समता के महापथ पर दृढ़ता से बढ़ रहा है या नहीं? इसी बात की जांच करने के लिए जैनाचार्यों ने वर्ष में एक परीक्षा नियत की है और वह परीक्षा है—केशलोच। केशलोच से साधु की मानसिक स्थिति का पूरा-पूरा बोध प्राप्त हो जाता है। सम्मान पाकर क्या वह सुख-प्रिय बन गया है? दु:ख में आकुल-व्याकुल तो नहीं हो जाता? आदि सभी प्रश्न केशलोच के समय समाहित हो जाते हैं।

केशलोच ही ऐसी परीक्षा है जो जैन साधु के अन्तरंग जीवन का प्रत्यक्ष दर्शन करा देती है। वास्तव में कष्ट में ही जीवन की सहनशीलता का परिचय मिलता है। इन पंक्तियों के लेखक ने एक बार बंगाल के राजनैतिक क्रान्तिकारी दल का एक इतिहास पढ़ा था। उसके एक अध्याय में क्रान्तिकारी दल का सदस्य बनने के लिए कुछ नियमों का निर्देश किया गया था। उन नियमों में एक नियम यह भी था कि उस दल का सदस्य बनने वाले व्यक्ति को प्रज्वलित दीपक-शिखा पर अंगुली रखनी पड़ती थी। अग्निदाह से उंगली के जलने पर भी जो व्यक्ति उफ तक नहीं करता था, उसे उस दल का सदस्य बनाया जाता था। अनुमान लगाइये, क्रान्तिकारी दल का सदस्य बनने के लिए अपने को कितना सहनशील प्रमाणित

करना पड़ता था। उस कठोर परीक्षा के पीछे यही भावना थी कि दल का सदस्य सरकार द्वारा बन्दी बनाये जाने पर आग में भी जला दिया जाए तब भी वह डांवाडोल न होने पावे और अपने दल के रहस्य प्रकट न करने पावे।

केशचोल भी इसी प्रकार की एक परीक्षा है। केशचोल कराने वाले साधक भी एक क्रातिंकारी दल के सदस्य के रूप में हमारे सामने आते हैं। यह सत्य है कि इस दल की क्रांति आध्यात्मिक क्रांति है। इसमें किसी के विनाश का कोई लक्ष्य नहीं होता है। इस क्रांति में आत्मा को विकारों के साथ संघर्ष करना पड़ता है। विकारों के राज्य पर काबू पाने के लिए ही इस क्रांति का आश्रयण किया जाता है। परन्तु इस आध्यात्मिक क्रांतिकारी दल का सदस्य बनने के लिए भी मनुष्य को परीक्षा देनी पड़ती है ताकि विकारों द्वारा बन्दी बना लिए जाने पर यह डांवाडोल न हो जाए। विकारों के प्रहारों से आकुल होकर कहीं यह संयमभ्रष्ट न हो जाए। एतदर्थ उसकी केशलोच द्वारा परीक्षा ली जाती है। जो इस परीक्षा में उत्तीर्ण हो जाता है, उस पर विकारों के कितने ही प्रहार हों और उस पर कितना भी संकट आ जाए, फिर भी वह धर्म से च्युत नहीं होता प्रत्युत धर्म को जीवन के साथ संभाल कर रखता है।

केशलोच जैसी भीषण परीक्षा प्रत्येक व्यक्ति नहीं दे सकता। यह परीक्षा तो वही दे सकता है, जिसका मानस तप-त्याग की पवित्र भावना से सदा भावित रहता है, जिसने मोक्ष को ही अपना परम-साध्य बना लिया है, वही व्यक्ति इस अहिंसक परीक्षा में अपने को प्रस्तुत करता है। फिर यह परीक्षा ऐसी विलक्षण है कि प्रतिवर्ष देनी पड़ती है। बंगाल के क्रांतिकारी दल के सदस्य को तो एक बार ही परीक्षा देनी पड़ती थी, किन्तु केशलोच की परीक्षा साधु को प्रतिवर्ष देनी होती है।[1]

लोच को हिंसा समझना ठीक नहीं है। क्योंकि हिंसा में दूसरों को दु:ख दिया जाता है। परन्तु लोच में दूसरों को दु:ख नहीं दिया जाता, प्रत्युत स्वयं दु:ख सहन किया जाता है। ऐसी स्थिति में लोच को हिंसा कैसे कहा जा सकता है? दूसरी बात, लोच कराने वाला साधक उसे दु:ख समझ कर नहीं कराता है। वह तो उसे आध्यात्मिक परीक्षा की घड़ी समझता है।

---

1. आजकल वर्ष में दो बार सिर की लोच कराने की परम्परा पाई जाती है। यह सत्य है किन्तु यह तो साधक की साधना की पराकाष्ठा है। साधक अधिक से अधिक साधना का लाभ प्राप्त करना चाहता है। वैसे शास्त्रीय दृष्टि से वर्ष में एक बार लोच कराना आवश्यक है।

जैसे विद्यार्थी परीक्षा में बड़े उत्साह से बैठता है वैसे ही साधु इस परीक्षा में सोत्साह भाग लेता है और उसमें उत्तीर्ण होने के लिए अपने को पूर्णतया सहिष्णु बनाए रखता है। यदि अपने को सहिष्णु बनाना और कष्टों को सहर्ष सहन करना भी हिंसा कृत्य मान लिया जाए तब तो असिधारा व्रत ब्रह्मचर्य का परिपालन भी हिंसा-कृत्य स्वीकार करना पड़ेगा। ब्रह्मचर्य के अतिरिक्त अहिंसा, सत्य आदि अन्य सभी साधनाओं में मन को मारना पड़ता है, अनेकविध संकटों का सामना करना पड़ता है। तब ये सभी साधनाएं हिंसा में परिगणित करनी पड़ेंगी। पर वस्तुस्थिति ऐसी नहीं है। वस्तुत: आत्म-शुद्धि तथा आत्म-कल्याण के महापथ पर बढ़ते हुए साधक को जिन कष्टों का सामना करना पड़ता है, उनको साधना का रूप देता है। अत: लोच करना हिंसा नहीं है; प्रत्युत जीवन-निर्मात्री अहिंसा का ही एक रूपान्तर है।

प्रज्ञापना सूत्र के 22वें क्रिया पद में आचार्य मलयगिरि ने इस सम्बन्ध में बहुत सुन्दर ऊहापोह किया है। वहां लिखा है –

पारितापनिकी क्रिया के तीन भेद होते हैं–**स्वपारितापनिकी, परपारितापनिकी** और **उभयपारितापनिकी।** स्वयं को पीड़ित करना स्वपारितापनिकी, दूसरों को पीड़ित करना परपारितापनिकी और दोनों को पीड़ित करना उभयपारितापनिकी क्रिया कहलाती है।

यहां प्रश्न उपस्थित होता है कि यदि दु:ख देने से क्रिया लगती है, तो स्वयं लोच करने पर स्वपारितापनिकी, दूसरे की लोच करने से परपारितापनिकी, और परस्पर एक-दूसरे की लोच करने पर उभयपारितापनिकी क्रिया लगनी चाहिए। क्योंकि इससे दु:खोत्पत्ति होती है। इसका समाधान निम्नोक्त है –

दुष्ट बुद्धि से दिया गया दु:ख पारितापनिकी क्रिया का कारण बना करता है। किन्तु जिस दु:ख के पीछे सद्भावना हो और जिसका परिणाम हितकर हो, उससे कर्मबन्ध नहीं होता। जैसे डॉक्टर शल्य-चिकित्सा करता है, चिकित्सा में रोगी को वेदना भी होती है, किन्तु डॉक्टर की भावना शुद्ध होने से और उसका फल हितप्रद होने से डॉक्टर पाप का भागी नहीं बनता। ऐसे ही लोच का परिणाम हितावह और आत्मशुद्धि तथा साहिष्णुता आदि आत्मगुणों का संवर्धक होने से लोच पारितापनिकी क्रिया का कारण नहीं बन सकती।

केश लोच जैसी कठिनतम साधना को देखकर सामान्य व्यक्ति कई बार आकुल-व्याकुल हो जाते हैं किन्तु यदि गम्भीरता से विचार किया जाए तो यह मानना पड़ेगा कि लोच जैन साधु का भूषण है। इस भूषण से विभूषित होने के कारण ही आज जैन साधु का जैन और अजैन

सभी विचारक सम्मान करते हैं। संसार के सभी साधु आचारगत-शिथिलता के कारण आज अपना सम्मान समाप्त करते जा रहे हैं। केवल एक जैन साधु ही ऐसा साधु है जो केश लोच और अखण्ड ब्रह्मचर्य जैसी विलक्षण साधनाओं के कारण आज भी गौरवास्पद बना हुआ है और उसे सर्वत्र आदर से देखा जाता है। जैन दर्शन से भले ही कोई विरोध रखता हो पर जैन साधु की साधना के आगे सबको नतमस्तक होना पड़ता है। जैन साधु की कठोर साधुवृत्ति का आज भी लोग मान करते हैं और उसके आदर्श तप, त्याग का लोहा मानते हैं। अत: केश लोच जैसी अध्यात्म साधना से भयभीत नहीं होना चाहिए। अध्यात्म जगत में इसका एक विशिष्ट स्थान है, इसे हिंसा समझने की भूल नहीं करनी चाहिए।

सत्य

सत्य का अर्थ है–वस्तु के यथार्थ रूप को प्रकट करना अथवा ऐसी वाणी या भाषा का प्रयोग नहीं करना जिससे यथार्थता पर पर्दा पड़ता हो। परन्तु सत्य भाषा के साथ मधुरता भी होनी चाहिए। जिस सत्य के साथ कटुता रहती है या यों कहिए जो सत्य दूसरे के मन को दु:खाने–पीड़ा पहुंचाने के लिए, उसको नीचा दिखाने के लिए, उसका अपमान-तिरस्कार करने के लिए या उसका सर्वनाश करने की दृष्टि से बोला जाता है, वह सत्य नहीं, बल्कि असत्य है। सत्य वचन यथार्थ और कल्याणकारी, हितकारी एवं मधुर होना चाहिए।

सत्य के भी नौ भेद बताए गए हैं–मन, वचन और काया से असत्य बोले नहीं, दूसरे को असत्य बोलने को कहे या प्रेरित करे नहीं और असत्य बोलने वाले को अच्छा भी नहीं समझे। इस तरह साधु सर्वथा असत्य का त्याग करता है। इसलिए वह कभी भी दूसरे व्यक्ति को कष्ट हो ऐसी सावद्य–पापकारी भाषा का तथा निश्चयकारी–जब तक किसी भी वस्तु या प्राणी के सम्बन्ध में पूरा निश्चय न हो–भाषा का उपयोग नहीं करता। यदि कभी उसके सामने अयथार्थ बात कहने का प्रसंग उपस्थित हो जाए तो उस समय मौन रहता है।

सत्य–यथार्थ भाषा हो, परन्तु साथ में सर्व क्षेमकारी भी होनी चाहिए। क्योंकि साधु का जीवन जगहित के लिए होता है। अत: उस की भाषा भी कल्याणकारी होनी चाहिए। इसी भावना को ध्यान में रखकर सत्य को भगवान् और लोक में सारभूत कहा है।[1] सत्य से बढ़कर दुनिया में कोई पदार्थ नहीं है।

1. "सच्चं खु भगवं," "सच्चं लोगम्मि सारभूयं"। –प्रश्नव्याकरण सूत्र, संवरद्वार।

अस्तेय

स्तेय का अर्थ है चोरी करना। चोरी करना भी पाप है। इस कार्य से स्व और पर दोनों की आत्मा में अशांति एवं जलन बनी रहती है। अत: साधु चोरी का सर्वथा परित्याग करते हैं। वे मन से, वचन से और शरीर से न चोरी करते हैं, न दूसरे व्यक्ति के द्वारा चोरी करवाते हैं और न चोरी करने वाले व्यक्ति को अच्छा ही समझते हैं। यहां तक कि यदि उन्हें एक तिनका या कंकर भी आवश्यकतावश लेना होता है तो वह भी मांग कर लेते हैं, बिना आज्ञा के छोटी या बड़ी कोई वस्तु नहीं उठाते। यदि कहीं कोई व्यक्ति न मिले तो शक्रेन्द्र महाराज की आज्ञा लेकर तृण आदि ग्रहण करते हैं। विहार के समय रास्ते में विश्रांति करने से पूर्व या शौच जाते समय बैठने के लिए स्थान की आज्ञा भी[1] शक्रेन्द्र से लेने की परम्परा है। इस तरह साधु यत्र-तत्र-सर्वत्र आज्ञा लेकर ही प्रत्येक वस्तु को स्वीकार करते हैं।

ब्रह्मचर्य

ब्रह्म + चर्य इन दो शब्दों के संयोग से ब्रह्मचर्य शब्द बना है। अत: ब्रह्मचर्य शब्द का अर्थ हुआ ब्रह्म में रमण करना। ब्रह्म शब्द के आनन्दवर्धक, वेद, धर्म-शास्त्र, तप, मैथुन-त्याग आदि अनेकों अर्थ होते हैं। परन्तु ब्रह्मचर्य का अर्थ मैथुन-त्याग किया जाता रहा है। मैथुन-वासना आत्मा को ब्रह्म-ईश्वरीय भावना से दूर और दूरतर कर देती है, इसलिए काम-वासना को दोषी माना गया है और साधु के लिए यह विधान है कि वह सर्वथा मैथुन का परित्याग करे। यह व्रत भी 9 कोटि से स्वीकार किया जाता है अर्थात् साधु मन, वचन और शरीर से न मैथुन सेवन करते हैं, न करवाते हैं और न करने वाले को अच्छा समझते हैं।

आजकल ब्रह्मचर्य का अर्थ सिर्फ स्त्री-पुरुष संसर्ग-त्याग किया जाता है और इसी में ब्रह्मचर्य की पूर्णता मान ली जाती है। परन्तु ऐसा नहीं है, ब्रह्मचर्य का अर्थ है—सम्पूर्ण वासना से मुक्त होना। भगवान् अजितनाथ से लेकर पार्श्वनाथ पर्यन्त चार महाव्रत ही थे, ब्रह्मचर्य महाव्रत का अपरिग्रह महाव्रत में ही समावेश कर लिया जाता था। ममता, मूर्च्छा, आसक्ति का नाम परिग्रह है और इसका नाम अब्रह्मचर्य भी है। भोग सेवन करना भी अब्रह्मचर्य है और उन भोगों की आसक्ति रखना भी अब्रह्मचर्य है। परन्तु अब्रह्मचर्य को अलग

---

1. शक्रेन्द्र महाराज ने सभी साधु-साध्वियों को जंगल में या अन्यत्र कभी कोई व्यक्ति न मिले तो उस समय तृण-काष्ठ आदि पदार्थ लेने की आज्ञा दी। देखो—भगवती शतक 16 उद्देशक 2.

न करने से पीछे से साधुओं में दोष प्रवृत्ति की ओर झुकाव होने लगा। मर्यादा से अधिक रखे गये एक सामान्य से उपकरण के दोष को और मैथुन सेवन के दोष को समान रूपता दी जाने लगी। यह देखकर भगवान् महावीर ने अब्रह्मचर्य को परिग्रह से अलग करके उस दोष से भी सर्वथा बचने की बात कही। इससे यह लाभ हुआ कि स्त्री-पुरुष संसर्ग का त्याग किया जाने लगा, परन्तु आगे चलकर इसमें यह दोष भी आ गया कि ब्रह्मचर्य का विस्तृत अर्थ भुला कर उसे केवल स्त्री-पुरुष संसर्ग के परित्याग तक ही सीमित रखा गया।

आगम के स्वाध्याय से यह स्पष्ट हो जाता है कि स्त्री-पुरुष का संसर्ग ही नहीं, पदार्थों के भोगोपभोग की वासना, तृष्णा भी अब्रह्मचर्य है। दशवैकालिक सूत्र में स्पष्ट शब्दों में कहा है कि ''वस्त्र, गन्ध-सुगन्धित पदार्थ, अलंकार-शृंगार सामग्री, स्त्री, शय्या आदि का जो स्वतन्त्रता से भोग नहीं कर सकता है, फिर भी अन्तर् में उसकी लालसा, कामना, वासना रखता है तो वह त्यागी नहीं है।[1] इसी तरह उत्तराध्ययन के 32वें अध्ययन में ब्रह्मचारी को प्रकाम-विकारोत्पादक सरस आहार करने का निषेध किया गया है। श्रमण सूत्र के ''निगाम-सिज्जाए'' पाठ में उसे नर्म-सुकोमल शय्या के परित्याग की बात कही है। इसके सिवाय ब्रह्मचर्य की नौ बाड़ें भी इस सत्य को पूर्णतया प्रमाणित कर रही हैं। वे नौ बाड़ें इस प्रकार हैं –

1. साधु उस मकान में रात को न रहे जिस मकान में स्त्री, नपुंसक और पशु रहते हों, 2. साधु स्त्री की तथा साध्वी पुरुष की विकारोत्पादक कथा न करे, 3. जिस स्थान पर स्त्री बैठी हो उस स्थान पर साधु और जिस स्थान पर पुरुष बैठा हो उस स्थान पर साध्वी उसके उठने के बाद 48 मिनट तक न बैठे, 4. साधु स्त्री के और साध्वी पुरुष के अंगोपांगों को विकारी दृष्टि से न देखे, 5. दीवार या पर्दे की ओट में स्त्री-पुरुष की विषय-वासना युक्त बातें न सुने, 6. पूर्व में भोगे हुए भोगों का चिन्तन-मनन न करे, 7. प्रतिदिन सरस आहार न करे, 8. मर्यादा या भूख से अधिक भोजन न करे, और 9. शरीर को विभूषित- शृंगारित न करे।

इससे यह स्पष्ट हो गया कि केवल स्त्री-पुरुष संसर्ग ही अब्रह्मचर्य नहीं प्रत्युत भोगोपभोग जन्य सामग्री की वासना या आकांक्षा रखना भी अब्रह्मचर्य है। मैथुन या अब्रह्मचर्य का सम्बन्ध मोह कर्म से है, मोह कर्म के उदय से ही आत्मा भोगों में आसक्त होती है और

---

1. दशवैकालिक 2, 2.

तृष्णा, अभिलाषा, आकांक्षा ये मोह के ही दूसरे नाम हैं, अत: समस्त वासनाओं पर विजय पाना ही साधुत्व या पूर्ण ब्रह्मचर्य की साधना है। इस व्रत में वासना या तृष्णा को जरा भी छूट देने का अवकाश नहीं है। जैसे तम्बू रस्सों से कसा हुआ होने के कारण ही उसमें स्थित सामग्री एवं मनुष्यों को वर्षा से सुरक्षित रख सकता है, यदि उसकी एक रस्सी भी शिथिल पड़ जाए तो उसमें वर्षा का जल टपकने लगेगा। इसी तरह वासना या तृष्णा को भोगोपभोग के साधनों में किसी भी तरफ जरा-सी छूट दी गई तो उसका परिणाम यह होगा कि धीरे-धीरे सारा जीवन कामवासना के पानी से भर जाएगा। अत: साधु-साध्वी के लिए स्त्री-पुरुष संसर्ग त्याग की बात ही नहीं, बल्कि विकारोत्पादक सभी तरह के भोगोपभोग का मन, वचन और शरीर से सेवन करने, करवाने और करते हुए को अच्छा समझने का निषेध किया गया है।

अपरिग्रह

''परिगृह्णातीति परिग्रहः'' इस परिभाषा से परिग्रह का अर्थ होता है–जो कुछ ग्रहण किया जाय। दुनिया में स्थित पुद्‌गलों को दो तरह से ग्रहण किया जाता है–1. द्रव्य से और 2. भाव से। धन-धान्य आदि स्थूल पदार्थों को हम द्रव्य रूप से ग्रहण करते हैं, इसलिए इसे द्रव्य परिग्रह कहते हैं और राग-द्वेष एवं कषायादि भाव परिणति से हम कर्म पुद्‌गलों को ग्रहण करते हैं, अत: उसे (कषायादि भावों एवं कर्मों को) भाव-परिग्रह कहते हैं। द्रव्य-परिग्रह के 9 भेद किए गए हैं–1. क्षेत्र, 2. वास्तु, 3. हिरण्य, 4. सुवर्ण, 5. धन, 6. धान्य, 7. द्विपद, 8. चतुष्पद, और 9. कुप्य पदार्थ। इनका अर्थ इस प्रकार है –

1. क्षेत्र–कृषि के उपयोग में आने वाली भूमि को क्षेत्र कहते हैं। वह सेतु और केतु के भेद से दो प्रकार का कहा गया है। नहर, कुआं आदि कृत्रिम साधनों से सींची जाने वाली भूमि को सेतु और मात्र वर्षा के जल पर आधारित कृषि योग्य भूमि को केतु कहते हैं।

2. वास्तु–मकान को वास्तु कहते हैं। वास्तु संस्कृत का शब्द है, प्राकृत में वत्थु रूप बनता है। मकान तीन तरह के होते हैं–1. खात, 2. उच्छ्त और 3. खातोच्छ्त। भूमिगृह–तलघर या जमीन के अन्दर बनाए जाने वाले मकानों को खात, जमीन के ऊपर बनाए जाने वाले मकानों को उच्छ्त और नीचे तलघर बनाकर उसके ऊपर मकान बनाने को खातोच्छ्त कहते हैं।

3. हिरण्य–आभूषणों के आकार में रही हुई तथा ढेले के रूप में स्थित चांदी को हिरण्य कहते हैं।

4. सुवर्ण–सोने के आभूषण तथा पासे के रूप में रहा हुआ सोना सुवर्ण कहलाता है। हीरा, पन्ना, मोती आदि जवाहरात भी इसी में अन्तर्भूत हो जाते हैं।

5. धन–गुड़, शक्करादि पदार्थ।

6. धान्य–चावल, गेहूं, बाजरा आदि अनाज।

7. द्विपद–दास-दासी आदि।

8. चतुष्पद–गाय-भैंस, हाथी, घोड़ा आदि पशु।

9. कुप्य–धातु के बने हुए बर्तन एवं कुर्सी, मेज आदि गृहस्थ के उपयोग में आने वाली वस्तुएं।

राग-द्वेष या कषाय का भाव परिग्रह कहा है। इन्हीं की परिणति से कर्म का आगमन एवं बन्ध होता है। अत: शुभ और अशुभ परिणामों से बंधने वाले शुभ और अशुभ कर्म की अपेक्षा से भाव-परिग्रह दो प्रकार का है। यों कर्म के 8 भेद तथा उसके उत्तर भेदों की दृष्टि से वह अनेक प्रकार का है।

इस तरह द्रव्य एवं भाव दोनों तरह के परिग्रह का पूर्णत: परित्याग करने वाले को साधु कहा है। दशवैकालिक सूत्र में स्पष्ट शब्दों में कहा है–जो गुड़, घी आदि पदार्थों का रात को थोड़ा भी संग्रह करके रखता है, वह साधु नहीं स्वादु है। यदि कभी संघर्ष हो गया तो साधु को चाहिए कि तुरन्त उसे उपशांत करके क्षमा-याचना कर ले, बिना क्षमा-याचना किये या दोष का परिहार किये बिना उसे आहार नहीं करना चाहिए। वह आलोचना या क्षमा याचना किए बिना ही आहार-पानी करता है तो उसे दोषी माना है[1] और एक पक्ष के बाद भी वह उस शल्य को निकाल कर हृदय को साफ नहीं करता है तो उसे छठे गुणस्थान का अधिकारी नहीं माना है। इस तरह द्रव्य से पदार्थों का और भाव से कषायों का संग्रह करके रखने वाला व्यक्ति साधु नहीं हो सकता। उसका सर्वथा त्यागी ही साधु कहलाता है।

प्रश्न–जैनधर्म निवृत्तिपरक है। वह मनुष्य को प्रत्येक कार्य से निवृत्त होना सिखाता है, ऐसी स्थिति में साधु जीवन-निर्वाह कैसे कर सकेगा?

उत्तर–जैनधर्म न एकांत निवृत्तिवादी है और न एकांत प्रवृत्तिवादी। वह निवृत्ति-प्रवृत्तिवादी है। राग-द्वेष आदि दोषों से निवृत्त होना तथा सद्गुणों में प्रवृत्ति करना यह जैन आगमों का

1. बृहत् कल्पसूत्र।

आदेश रहा है। इसके लिए जैनागमों में समिति और गुप्ति दो शब्द मिलते हैं। गुप्ति का अर्थ है योगों–मन, वचन और शरीर को सावद्य प्रवृत्ति से रोकना और समिति का अर्थ है उन्हें संयम-साधना में प्रवृत्त करना-लगाना। साधु का जीवन समिति-गुप्ति युक्त होता है। समिति अहिंसा महाव्रत को सुरक्षित रखने की साधना है। उसके पांच प्रकार हैं–1. ईर्या, 2. भाषा, 3, एषणा, 4. आदानभंडमत्तनिक्षेपणा और 5. उच्चार-पासवण-खेल-जल-मैल-परिठावणिया समिति।

ईर्या समिति

ईर्या शब्द का अर्थ होता है गमनागमन की क्रिया करना। योगों की एक स्थान से दूसरे स्थान जाने की प्रवृत्ति को ईर्या कहते हैं। अत: विवेकपूर्वक गमन करने की क्रिया को ईर्या समिति कहते हैं। वह आलंबन, काल और मार्ग के भेद से तीन प्रकार की होती है। आलंबन का अर्थ है- आधार। ईर्या–गमन क्रिया पृथ्वी के आधार पर होती है और पृथ्वी पर अनेक जीव-जन्तुओं का निवास एवं हलन-चलन होता रहता है। अत: साधु को चलते समय अपने योगों को उसी क्रिया की ओर लगा देना चाहिए अर्थात् उसकी दृष्टि अपने चलने के मार्ग के अतिरिक्त इधर-उधर नहीं होनी चाहिए। वह एकाग्र भाव से पथ का अवलोकन करते हुए चले, जिससे रास्ते में आने वाले छोटे-मोटे प्राणियों को बचा सके। इसलिए साधु अपने मन, वचन और शरीर के योग को सब तरफ से हटाकर, केवल गमन की क्रिया में या मार्ग का सम्यक् प्रकार से अवलोकन करने में लगाए। अत: चलते समय साधु को न मन से किसी भी विषय का- भले ही वह धार्मिक ही क्यों न हों चिन्तन-मनन करना चाहिए, न किसी भी तरह की बातें करना चाहिए–यहां तक कि धार्मिक उपदेश तथा स्वाध्याय भी चलते समय नहीं करना चाहिए और अपनी दृष्टि को सीधी एवं चलने के मार्ग पर स्थिर रखना चाहिए। इधर-उधर, दाएं-बाएं दृष्टि को घुमाते-फिराते नहीं चलना चाहिए।

काल का तात्पर्य है–समय। वह दो प्रकार का होता है–दिन और रात। साधु दिन में भली भांति अवलोकन करके गमन करे। यों रात में साधु पेशाब आदि कार्य के अतिरिक्त मकान से बाहर गमनागमन क्रिया नहीं करते। उक्त कार्य के लिए या निकट में ही व्याख्यान-उपदेश देने के लिए तथा जिस मकान में ठहरे हैं उस मकान में भी एक जगह से दूसरी जगह आना-जाना हो तो चलने के मार्ग का भली-भांति परिमार्जन करके चले, जिससे रास्ते में आने वाले किसी भी जीव की घात न हो।

मार्ग भी दो प्रकार का है—द्रव्य और भाव। द्रव्य-मार्ग भी दो तरह का है—सुपथ—राजमार्ग और कुपथ—उजाड़ रास्ता। साधु उजाड़ मार्ग को त्याग कर राजमार्ग पर चले। क्योंकि उजाड़ मार्ग पर गति करने से स्व और पर जीवों की विराधना होने की संभावना रहती है। इस तरह भाव-मार्ग भी दो प्रकार का है—सुमार्ग और कुमार्ग। साधु दुष्ट एवं अज्ञानी व्यक्तियों द्वारा आचरित कुमार्ग का परित्याग करके महापुरुषों एवं सर्वज्ञों द्वारा आचरित सुमार्ग पर गति करे।

भाषा समिति

जैसे चलने की क्रिया का जीवन के साथ गहरा सम्बन्ध है, उसी तरह भाषा भी जीवन व्यवहार के लिए आवश्यक है। अत: भाषा का प्रयोग करते समय भी विवेक एवं यतना न रखी जाए तो अनेक जीवों की हिंसा हो जाती है और उससे पाप कर्म का बन्ध होता है। अत: भाषा को संयमित करने के लिए भाषासमिति का उल्लेख किया गया है। भाषासमिति चार प्रकार की है- 1. द्रव्य, 2. क्षेत्र, 3. काल, और 4. भाव।

शब्दों के समूह को भाषा कहते हैं। शब्द पुद्गल-द्रव्य है। अत: द्रव्य का अर्थ हुआ कि भाषावर्गणा के ऐसे पुद्गलों का उपयोग करना चाहिए जिससे किसी भी व्यक्ति या प्राणी के मन को, वचन को या शरीर को आघात नहीं पहुंचे। अत: साधु को विचार एवं विवेकपूर्वक भाषा बोलनी चाहिए। उसे 1. कर्कश-कठोर 2. छेद-भेद उत्पन्न करने वाली, 3. हास्य, 4. निश्चय, 5. पर-प्राणी को पीड़ा-कष्ट पहुंचाने वाली, 6. सावद्य—पाप युक्त, 7. मिश्र—जिस भाषा में कुछ अंश सत्य हो और कुछ असत्य अथवा जिसमें सत्यासत्य का मिश्रण हो, और 8. असत्य, ऐसी आठ प्रकार की भाषा का सर्वथा त्याग करना चाहिए। क्षेत्र अर्थात् रास्ते में चलते समय नहीं बोलना चाहिए। काल—रात में एक प्रहर व्यतीत होने के बाद नहीं बोलना चाहिए। यदि कभी विशेष परिस्थिति में बोलना भी पड़े तो इतने धीमे स्वर से बोलना चाहिए कि इतर प्राणी की निद्रा में विघ्न न पड़े। भाव—विवेक एवं यतनापूर्वक बोले जिससे दूसरे जीवों की हिंसा न हो। मन में कलुषता या छल-कपट रखकर न बोले तथा खुले मुंह भी न बोले। क्योंकि खुले मुंह बोली जाने वाली भाषा को आगम में सावद्य भाषा कहा है।

एषणा समिति

धर्म की साधना के लिए शरीर महत्त्वपूर्ण साधन है और शरीर को आहार से पोषण मिलता है। अत: आहार जीवन के लिए आवश्यक है और आहार के बनने में हिंसा अवश्य

होती है। भोजन की सामग्री प्राप्त करने के लिए तथा उसे बनाकर तैयार करने के लिए हिंसा तो करनी ही पड़ती है, तो फिर साधु भोजन की व्यवस्था कैसे करे? यह बात इस एषणा समिति में बताई है।

साधु स्वयं भोजन नहीं बनाता। वह गृहस्थ के घर में बने हुए भोजन में से मांग कर ले आता है। परन्तु वह दूसरे भिक्षुओं या भिखमंगों की तरह मांग कर नहीं लाता। वह भिक्षा लाते समय इस बात का पूरा ख्याल रखता है कि मेरे निमित्त से किसी भी प्राणी की हिंसा न हो। इसलिए वह आहार ग्रहण करने के पहले यह भली-भाँति देख लेता है कि इस आहार के बनने-बनाने में मुझे निमित्त तो नहीं बनाया गया है। इस अवलोकन विधि को आगम की भाषा में एषणा कहते हैं।

साधु उन्हीं आहार-पानी, वस्त्र, पात्र एवं मकान आदि वस्तुओं को स्वीकार करता है, जो उसके लिए नहीं बनाई गई हैं या खरीदी नहीं गयी हैं। क्योंकि इन सब कार्यों में हिंसा होती है और साधु को मन, वचन और शरीर से हिंसा करने, करवाने और करने वाले को अच्छा समझने का त्याग है। अत: वह ऐसी कोई वस्तु स्वीकार नहीं कर सकता, जो उसके लिए तैयार की गई है। वस्तु की खरीदने में पैसे का व्यय होता है और पैसा कमाने में हिंसा भी होती है, अत: साधु उस वस्तु को भी स्वीकार नहीं करता, जो उसके लिए खरीद कर लाई गई है। साधु उसी आहार-पानी, वस्त्र, पात्र एवं मकान आदि को ग्रहण करता है, जो गृहस्थ ने अपने उपयोग के लिए बनाया है, उसमें साधु का जरा भी भाव नहीं है। गृहस्थ द्वारा स्वयं के लिए बनाए गए आहार-पानी में से साधु थोड़ा-सा ग्रहण करता है, जिससे उसको देने के बाद फिर से न बनाना पड़े और परिवार के किसी सदस्य को भूखा भी न रहना पड़े। इसलिए वह एक घर से आहार नहीं लेता, प्रत्युत कई घरों से थोड़ा-थोड़ा भोजन लेता है। जैसे मधुकर-भ्रमर एक फूल से रस नहीं लेकर कई फूलों की पराग का रसास्वादन करता है और उन फूलों पर भी इस तरह बैठता है जिससे कि उन्हें पीड़ा न पहुंचे। उसी तरह साधु भी कई घरों से अपनी वृत्ति के अनुसार निर्दोष आहार स्वीकार करते हैं। गाय घास को ऊपर-ऊपर से चर्वण करती है, गधे की तरह जड़ से नहीं उखाड़ती है। इससे गाय का पेट भी भर जाता है और घास का पौधा भी नष्ट नहीं होता। इसी तरह साधु भी थोड़ा-थोड़ा आहार ग्रहण करते हैं। इसी कारण उनकी आहार ग्रहण करने की क्रिया को गोचरी या मधुकरी कहते हैं। वैदिक परम्परा में भी मधुकरी का वर्णन मिलता है। परन्तु आज के संन्यासियों में यह वृत्ति कम देखने में आती है। जैन परम्परा में आज भी यह वृत्ति कायम है। जैन साधु किसी भी स्थिति में अपने निमित्त बने

हुए आहार-पानी को स्वीकार नहीं करते। न उनके लिए उनके स्थान पर लाए हुए आहार-पानी, वस्त्र-पात्र आदि ही स्वीकार करते हैं।

भीख आज के युग की बहुत बड़ी समस्या है। दुनिया का प्रत्येक राष्ट्र इस समस्या को सुलझाने में व्यस्त है। भारत में यह समस्या बहुत उग्र रूप धारण किए हुए है। राष्ट्रीय आंकड़ों के अनुसार 40 लाख के करीब भिखमंगे हैं, जो राष्ट्र के लिए बोझ रूप हैं। सरकार इस वृत्ति को समाप्त करने के लिए कई योजनाएं बना चुकी है, फिर भी अभी तक इस वृत्ति में कमी आई हो ऐसा दिखाई नहीं देता। कुछ वर्ष हुए बम्बई सरकार में यह बिल रखा गया था कि भीख मांगने पर प्रतिबन्ध लगाया जाए। इसमें भिखमंगों के साथ सभी मजहब के साधु-संन्यासियों को भी शामिल किया गया था। कुछ दिन हुए भारत साधु सेवक समाज ने भी एक प्रस्ताव पास करके सरकार से भिक्षा वृत्ति को समाप्त करने की मांग की थी। आज राष्ट्र में भिखमंगों के लिए रोष है और जनता भी इसे तिरस्कार की दृष्टि से देखती है और इसी कारण अनेक व्यक्ति यह पूछ बैठते हैं कि इतने आदर्शजीवी जैन साधु भिक्षा क्यों मांगते हैं?

हम पीछे देख चुके हैं कि जैन साधु का जीवन जगत के छोटे-बड़े सब जीवों के हित को लिए हुए है। वह किसी प्राणी को आघात नहीं पहुंचाता और रोटी आदि बनाने में छः काय के जीवों की हिंसा अनिवार्यतः होती है और यह साधु के लिए उपयुक्त नहीं है। अतः वह स्वयं भोजन बनाने के कार्य में नहीं लगता। परन्तु उसे भी अपने पेट को तो भरना ही पड़ता है। पेट भरे बिना वह साधना के पथ को भली-भांति तय नहीं कर सकता। इसलिए उसे अपनी आवश्यकतानुसार भिक्षा करके भोजन लाने का शास्त्रकारों ने आदेश दिया है—जिसे जैन भाषा में गोचरी कहते हैं।

भिक्षा एवं भीख दोनों मांग कर ली जाती हैं। घर-घर घूमकर प्राप्त की जाती हैं। फिर भी दोनों एक नहीं, भिन्न हैं; दोनों में रात-दिन का अन्तर रहा हुआ है। भीख दीनता की परिचायक है। उसमें मांगने वाले का व्यक्तित्व बिल्कुल गिर जाता है। वह घर-घर खुशामद की भाषा में मांगता है, हजारों आशीर्वादों की बौछारें करता हुआ दीन एवं करुण स्वर में रोटी की याचना करता है। परन्तु भिक्षु ऐसी भाषा का प्रयोग नहीं करता। जैन साधु के लिए दशवैकालिक, आचारांग आदि आगमों में यह स्पष्ट आदेश दिया गया है कि वह रंक-भिखारी की तरह दीन स्वर में याचना न करे, न अपने कुल, वंश एवं परिवार का परिचय देकर आहार

प्राप्त करे और भोजन लेने के लिए गृहस्थ की प्रशंसा भी न करे तथा न आशीर्वादों की ही वर्षा करे। वह सहज भाव से गृहस्थ के घर में प्रवेश करे और शास्त्र में बताई गई विधि के अनुरूप जैसा भी निर्दोष आहार उपलब्ध हो उसमें से थोड़ा-सा आहार ग्रहण करे–जिससे गृहस्थ को न तो पुन: आरम्भ करना पड़े या न कमी का अनुभव करना पड़े।

इससे यह स्पष्ट हो गया कि भिक्षा एवं भीख में बहुत बड़ा अन्तर है। भिखमंगा करुण एवं वेदना भरे स्वर में गृहस्थ की दया एवं करुण भावना को जगाकर उससे कुछ पाने का प्रयत्न करता है। परन्तु साधु ऐसा नहीं करता और न उसे देखकर श्रद्धालु व्यक्ति के मन में करुणा एवं हीनता की भावना उद्‌बुद्ध होती है। उसकी संतोष एवं त्यागनिष्ठ वृत्ति को देखकर सद्‌गृहस्थ के मन में श्रद्धा-भक्ति की भावना जगती है और वह उनके पात्र में कुछ देकर असीम आनन्द की अनुभूति करता है। अत: जैन साधु भिखमंगों की श्रेणी में नहीं आते। उनकी साधना दुनिया के सभी मजहबों के साधु-संन्यासी एवं फकीरों से विलक्षण है और सभी लोग इस बात को मानते हैं कि वर्तमान के गए-गुजरे जमाने में भी जैन साधु जितना त्याग-तप, किसी पहुंचे हुए योगी में भी कम ही दिखाई देता है। उसकी साधना अपने ही हित के लिए नहीं, बल्कि जगत के कल्याण के लिए भी है। उसका भेष पेट की समस्या का हल करने के लिए नहीं बल्कि अध्यात्म साधना के शिखर पर चढ़ने के लिए है और यही कारण है कि उसकी भिक्षा वृत्ति सबसे निराली है। मांग कर लाने पर भी वह किसी के लिए बोझ रूप नहीं है। क्योंकि उसके मन में किसी तरह की इच्छा–आकांक्षा एवं चाह नहीं है।

भिक्षा और भीख के अन्तर को स्पष्ट करते हुए जैनाचार्यों ने भिक्षा के तीन प्रकार बताए हैं–(1) सर्व-सम्पत्करी (2) पौरुषघ्नी, (3) वृत्ति-भिक्षा। सर्वसम्पत्करी भिक्षा त्याग-निष्ठ साधु-सन्तों की है। साधु वह है, जो सदा-सर्वदा स्व-साधना के साथ पर-हित में संलग्न रहता है, संसार के कल्याण की सुखद एवं मंगल-कामना करता है। विश्व को कल्याण का सही रास्ता बताता है। इसलिए उसकी साधना अपने लिए ही नहीं, प्राणी जगत के लिए भी सुखकर होती है। साधु सब जीवों की रक्षा करता है। अत: उसे छ: काय का रक्षक भी कहते हैं।

उसकी भिक्षा वृत्ति भी साधना का एक अंग है, उसे भी एक प्रकार का तप बताया है। इससे साधक अपने अहंभाव पर विजय पाता है और जन-जीवन का निकट से अध्ययन करता है। जब वह भिक्षा के लिए बिना भेद-भाव के घर-घर में पहुंचता है, तो उसे उस गांव, मुहल्ले या शहर के लोगों के रहन-सहन, आचार-विचार का पता लग जाता है। घरों की

स्थिति का भी ज्ञान हो जाता है। वह जान लेता है कि कौन-सा घर आचार-निष्ठ है, किस घर में दुर्व्यसनों का सेवन होता है, कौन घर आन्तरिक संघर्ष की आग में जल रहा है, परिवार में कौन व्यक्ति अपने कर्त्तव्य से विमुख हो रहा है, किस घर में नैतिकता, प्रामाणिकता की कमी है, इत्यादि जीवन के विकास और पतन की सभी बातों की सही जानकारी एवं उनके वास्तविक कारणों का पता घर-घर का परिचय होने पर ही लगता है और साधक को वह परिचय भिक्षा द्वारा ही मिल सकता है। क्योंकि बिना किसी कारण के तो वह घर-घर नहीं फिरता। आगम में उसके लिए स्पष्ट आदेश है कि वह बिना कार्य किसी के घर में प्रवेश न करे। इसलिए भिक्षाचरी साधना के साथ मनुष्य के व्यक्तिगत एवं पारिवारिक जीवन का परिचय पाने का भी एक साधन है। इससे साधु सारी स्थिति का अध्ययन करके यथाशक्ति मानव-जीवन में से उन बुराइयों को निकालने का प्रयत्न करता है। वह सदुपदेश की सरस-शीतल धारा बहाकर उसके शुष्क जीवन को हरा-भरा बनाने का प्रयास करता है। वह व्यक्ति, परिवार, समाज एवं राष्ट्र के जीवन को नया मोड़ देता है। उसने हजारों-लाखों परिवारों को दुर्व्यसनों से मुक्त किया है, सादगी एवं शिष्टता से रहना सिखाया है, त्याग और तप के महत्त्व को बताया है।

इस प्रकार साधु की भिक्षा वृत्ति सिर्फ अपना पेट भरने के लिए नहीं, प्रत्युत व्यक्ति, परिवार, समाज, देश एवं विश्व के हित एवं कल्याण को लिए हुए है। इसलिए इस वृत्ति को सर्वसम्पत्करी-भिक्षा कहा है। ऐसी भिक्षा साधु एवं गृहस्थ दोनों के जीवन का विकास करती है। शास्त्रकारों ने भी कहा है कि ऐसे महान् साधक का तथा बिना किसी कामना एवं स्वार्थ के देने वाले सद्गृहस्थ का मिलना दुर्लभ है। प्रबल पुण्य से ही ऐसे साधक एवं सद्गृहस्थ का संयोग मिलता है और वह दोनों के जीवन विकास का कारण है। देने और लेने वाला दोनों सुगति को प्राप्त होते हैं।[1] इस तरह साधु की भिक्षा सब के कल्याण की भावना को लिए हुए है।

2. पौरुषघ्नी भिक्षा—एक सशक्त व्यक्ति साधुता के अभाव में केवल बिना मेहनत एवं परिश्रम किये ही आराम से खाने एवं मौज-मजे करने के लिए साधु का भेष पहन कर भिक्षा मांगता है, तो वह पौरुषघ्नी भिक्षा है। वह उसके पुरुषार्थ को समाप्त करने वाली है,

---

1. दुल्लहाओ मुहादाई, मुहाजीवी वि दुल्लहा।
मुहादाई-मुहाजीवी, दो वि गच्छन्ति सुग्गइं।। —दशवैकालिक सूत्र, अ० 5, उ० 1, गाथा-100.

जीवन में आलस्य एवं विकारों को बढ़ाने वाली है। क्योंकि उसके जीवन में साधना का अभाव है, त्याग-तप का प्रकाश-दीप बुझा पड़ा है। अत: दिन भर कोई काम न होने से मन में विकार-भावना एवं बुरे विचार चक्कर काटने लगेंगे और और वह उनके प्रवाह में बहकर दुष्प्रवृत्तियों की ओर मुड़ जायेगा। हजारों-लाखों पंडे-पुजारियों का जीवन हमारे सामने है—जो रात-दिन दुर्व्यसनों में फंसे रहते हैं और जिनके कारण मन्दिर एवं तीर्थों का पवित्र वातावरण भी विकृत बन गया है। साधना के केन्द्र आज दुराचार और दुर्व्यसनों के अड्डे बन रहे हैं। हम प्राय: समाचार पत्रों में पढ़ते रहते हैं कि अमुक संन्यासी चोरी या ठगी करते हुए पकड़ा गया, लड़के या लड़की को उड़ाकर, भगाकर ले गया। कुछ असामाजिक तत्त्व संन्यासियों के भेष में गिरोह बनाकर भी ऐसे जघन्य कृत्य करते फिरते हैं। तो यह पौरुषघ्नी भिक्षावृत्ति का ही दुष्परिणाम है। यह वृत्ति भिक्षुक के जीवन को भी पतन के गर्त में गिराती है और व्यक्ति, परिवार, समाज एवं राष्ट्र के लिए भी अहितकर एवं घातक है। इस तरह के निरंकुश जीवन से राष्ट्र का भी नुकसान होता है।

3. वृत्ति भिक्षा—कुछ ऐसे अपंग व्यक्ति हैं—जैसे लूले-लंगड़े, अन्धे, बीमार आदि जो स्वयं कोई काम धन्धा कर नहीं सकते और उनका पोषण करने वाला भी कोई नहीं है, ऐसी स्थिति में उन्हें भीख मांगनी पड़ती है, तो यह वृत्ति भिक्षा है अर्थात् भीख ही उनकी आजीविका है। उनके जीवन की व्यवस्था करना राष्ट्र का काम है। जब तक सरकार उनके लिए कोई उचित व्यवस्था न कर दे, तब तक यह वृत्ति क्षम्य है। पर यह वृत्ति राष्ट्र के लिए शोभास्पद नहीं है। इतने बड़े राज्य में कुछ हजार व्यक्तियों की व्यवस्था का न हो सकना, जिससे उन्हें भीख मांगने के लिए विवश होना पड़े, शर्म की बात अवश्य है। परन्तु उनके लिए क्षम्य इसलिए है कि वे बिचारे और कोई धन्धा नहीं कर सकते और पेट भरने के लिए रोटी अवश्य चाहिए। अत: उन्हें भीख मांगनी पड़ती है।

इससे यह स्पष्ट हो गया कि जैन-साधु की भिक्षा सर्वसम्पतकरी भिक्षा है। उससे व्यक्ति, परिवार, समाज एवं राष्ट्र को किसी तरह का नुक्सान नहीं, बल्कि लाभ ही है। इससे व्यक्ति, परिवार, समाज एवं राष्ट्र का जीवन सुधरता है, जन-जीवन में सदाचार एवं त्याग-तप की ज्योति जगती है, देश में भ्रातृ-प्रेम की गंगा प्रवाहमान होती है।

यह समझना भी भारी भूल है कि साधु काम नहीं करता, वह मुफ्त में ही खाता-पीता है। भले ही वह ऊपर से मेहनत करता हुआ दिखाई नहीं देता, पर यदि गहराई से सोचा-विचारा

जाए तो वह रात-दिन श्रम करता हुआ दिखाई देगा। इसी कारण उसे 'श्रमण' शब्द से संबोधित किया गया है। आज हमने मेहनत को कुछ भागों में बांट दिया है और उसकी एक सीमा निश्चित कर दी है। परन्तु श्रम की कभी सीमा नहीं होती है। किसान एवं मजदूर आदि का श्रम ही श्रम नहीं है, एक साधक की साधना भी श्रम है। यह बात अलग है कि दोनों के श्रम-मेहनत में अन्तर है। एक का श्रम भौतिक है, दिखाई देने वाला है तो दूसरे का आध्यात्मिक है। यदि गहराई से सोचा जाए तो आध्यात्मिक श्रम ही वास्तव में जीवन को उन्नत बनाने वाला है। आज के वैज्ञानिक युग में भौतिक श्रम की कमी नहीं है, फिर भी विश्व विनाश के कगार पर खड़ा है, इसका एकमात्र कारण यही है कि वैज्ञानिकों के जीवन में आध्यात्मिक श्रम का अभाव रहा है। आध्यात्मिक श्रम के अभाव में भौतिक श्रम या ताकत आज विश्व के लिए वरदान नहीं, अभिशाप बन रही है। अस्तु, भौतिकता के साथ आध्यात्मिकता का प्रकाश होना जरूरी है। आध्यात्मिक ज्योति के अभाव में केवल भौतिक श्रम विश्व में शांति एवं अमन-चैन की धारा नहीं बहा सकता।

जीवन-विकास के लिए आध्यात्मिक श्रम बहुत आवश्यक है। साधु सदा आध्यात्मिक श्रम में संलग्न रहता है। जैसे किसान खेत को जोतने, झाड़-झंखाड़ को खोदकर जमीन साफ बनाने तथा फसल के साथ उग आए घास-फूस को उखाड़ फैंकने में व्यस्त रहता है, कारखाने में मजदूर वस्तुओं के मैल को हटा कर साफ-सुथरी बनाते रहते हैं, और भी लोग अपने कार्यों को व्यवस्थित रूप से करने में लगे रहते हैं, उसी तरह साधु भी सदा-सर्वदा अपनी साधना में संलग्न रहता है। वह अपने जीवन क्षेत्र को साफ करने के लिए, उसमें उग आए मनोविकारों के कंटीले पौधों एवं काम-क्रोध के घास फूस को काट फैंकने तथा जीवन को मांजने में सदा सजग रहता है। वह प्रतिक्षण विकारों के साथ संघर्ष करता है। इसलिए वह बाहर से काम करता हुआ न दिखाई देने पर भी बहुत बड़ा काम करता है। और वह यह कि वह शांति के प्रखर प्रकाश को विश्व के कण-कण में बिखेर देता है।

इतिहास साक्षी है कि भगवान् महावीर और बुद्ध ने अपनी साधना के सौम्य प्रकाश से जगत के अन्धकार को दूर किया था। जन मानस में सद्ज्ञान का दीप जलाकर उसे शांति का मार्ग बताया था। हिंसा, दुराचार एवं शोषण की भयंकर अटवी में पथभ्रष्ट इन्सानों को जीवन की राह बताकर उनके जीवन को उन्नत बनाया था। शोषित एवं उत्पीड़ित तथा अपमान एवं तिरस्कार की आग में जलने वाले अछूतों को गले लगाकर शोषण से मुक्त होना सिखाया था। यह एक ऐसा काम था, जिसे एक-दो तो क्या लाखों-लाखों किसान-मजदूर या वैज्ञानिक

मिलकर भी नहीं कर सकते। क्योंकि उसके लिए साधना करनी पड़ती है। पहले अपने जीवन पर नियंत्रण पाना होता है, विकारों को जीतना होता है। भगवान् महावीर ने अपने जीवन को मांजने के लिए साढ़े बारह वर्ष तक कठोर साधना की थी। क्योंकि विकारों एवं वासनाओं से मुक्त व्यक्ति ही विश्व को सही मार्ग बता सकता है, विश्व में शांति का प्रसार कर सकता है और इसके लिए साधना एवं तपस्या की आवश्यकता है।

आजकल आचार्य विनोबा भावे एवं सन्तबाल जी राष्ट्रीय एवं अन्तर्राष्ट्रीय झगड़ों को बिना संघर्ष एवं बिना युद्ध के समाप्त करने के लिए शान्ति सेना का प्रयोग कर रहे हैं। राष्ट्र में कई झगड़ों को निपटाने में शान्ति सेना कुछ हद तक सफल भी रही है। ये शान्ति सैनिक प्रेम-स्नेह से समस्याओं को सुलझाने का प्रयत्न करते हैं। इन्हें भी पहले शिक्षा दी जाती है। संघर्षों में भी शान्त रहने के लिए जीवन को मांजने की साधना करनी पड़ती है। तब उन्हें अपने काम में सफलता मिलती है। महात्मा गांधी का जीवन हमारे सामने है कि बिना खून की बूंद बहाये अहिंसा की ताकत से आजादी पाने के लिए उन्हें कितनी साधना करनी पड़ी थी, अपने जीवन को कितना मांजना पड़ा था। आन्तरिक जीवन को बदलने के लिए साधना की आवश्यकता है और अन्तर्जीवन को मांजे बिना सुख-शान्ति का प्राप्त होना दुर्लभ है। अत: साधु अपने अन्तर्जीवन को मांजने के लिए जो साधना करता है, वह भी श्रम है। वस्तुत: देखा जाये तो साधु का सारा जीवन ही श्रममय है। उसका एक क्षण भी व्यर्थ नहीं जाता। अत: उसे निकम्मा या आलसी समझना साधना के मूल्य को नहीं पहचानना है।

इतनी लम्बी चर्चा के बाद हमने स्पष्टत: देख लिया कि भीख और भिक्षा एक नहीं, भिन्न-भिन्न हैं। भीख दीनता का प्रतीक है, अत: राष्ट्र के लिए कलंकरूप है। परन्तु भिक्षा साधना की, समता की, त्याग-तप की प्रतीक है, अत: वह राष्ट्र के लिए गौरव की चीज है। भीख से राष्ट्र पतन के गर्त में गिरता है, तो भिक्षा के कारण वह उत्थान की ओर अभिमुख होता है। अत: जैन साधु की भिक्षावृत्ति किसी के लिए बोझ रूप नहीं है। यह हम पहले ही बता चुके हैं कि वह न तो एक ही घर से पात्र भरता है, न किसी का निमंत्रण ही स्वीकार करता है और न अपने लिए बनाई या खरीदी हुई वस्तु काम में लेता है। वह सद्गृहस्थों के घरों में जाता है और उनके घरों में उनके स्वयं के लिए बनाये गये पदार्थों में से अपनी विधि–मर्यादा के अनुसार थोड़ा-थोड़ा शुद्ध एवं सात्त्विक आहार ग्रहण करता है। अत: साधु का जीवन सीधा-सादा एवं जगत के हित के लिए होता है और उस की भिक्षावृत्ति भी सर्वक्षेमंकरी है।

जैन साधु हरी सब्जी का भी स्पर्श नहीं करते हैं। क्योंकि वनस्पति सजीव होती है। अत: अपक्व सब्जी को वे ग्रहण नहीं करते। इसी तरह कुएं, तालाब एवं नदी आदि के पानी को भी पीने, वस्त्रादि धोने के काम में नहीं लाते, यहां तक कि उसका स्पर्श भी नहीं करते। यदि वर्षा हो रही हो तो वे आहार-पानी लेने भी नहीं जाते हैं। वनस्पति की तरह पानी भी सजीव माना गया है। वैज्ञानिकों ने भी इस बात को प्रमाणित कर दिया है कि पानी के एक बिन्दु में अनेकों जीव देखे जा सकते हैं। ये लाखों जीव हलन-चलन करने वाले द्वीन्द्रियादि प्राणी हैं, परन्तु आगम के अनुसार पानी का शरीर स्वयं सजीव है। अत: उसकी रक्षा के लिए साधु कच्चे पानी का स्पर्श नहीं करते। वे गृहस्थ के घर में उसके अपने काम के लिए बने हुए गर्म-उष्ण पानी या बर्तनों का धोया हुआ पानी लेते हैं।

कुछ विचारकों का कहना है कि बर्तनों का धोया हुआ पानी जूठा होता है, इसलिए उसे नहीं लेना चाहिए। मूर्ति-पूजक सम्प्रदाय के साधु धोवन पानी का सर्वथा निषेध करते हैं। परन्तु यह उचित नहीं कहा जा सकता। क्योंकि आचारांग सूत्र में 21 प्रकार का धोवन पानी लेने का विधान है। वहां यह भी उल्लेख किया गया है कि इस तरह का और भी धोवन पानी लिया जा सकता है, जिसका वर्ण, गंध, रस और स्पर्श बदल गया हो। इसके अतिरिक्त मूर्तिपूजक सम्प्रदाय में भी त्रिफले, लवंग आदि का पानी लेने की परम्परा है। वह भी एक तरह का धोवन ही है, अत: धोवन पानी का निषेध करना शास्त्र के विरुद्ध है, ऐसा स्पष्ट कहा जा सकता है।

भारत के अधिकांश प्रान्तों में रात के बासी बर्तन मांजने का तथा मांजने के बाद उन्हें धोकर रखने का रिवाज है। वे बर्तन शुद्ध होते हैं और उन्हीं के धोये हुए पानी को रखने की परम्परा है। वे बर्तन शुद्ध होते हैं, इसलिए उस पानी को जूठा नहीं कहा जा सकता। यदि उसे जूठा मान लिया जाये तो फिर उन बर्तनों को भी जूठा मानना होगा, जो उसमें धोये गये हैं। जब वे बर्तन जूठे नहीं हैं, तब वह पानी कैसे जूठा हो सकता है? नवपद जी के दिनों में मूर्तियों को दूध एवं पानी से धोते हैं, वे सब मूर्तियां बासी होती हैं, उस पानी का मूर्तिपूजक बहन-भाई श्रद्धा से आचमन करते हैं। यदि रात के बासी शुद्ध बर्तनों का धोया हुआ पानी जूठा होता है, तो उन मूर्तियों का धोया हुआ पानी भी जूठा होना चाहिए। परन्तु उसे जूठा नहीं मानते। और उसके अतिरिक्त केवल शुद्ध बर्तन ही नहीं बल्कि जूठे बर्तन भी राख से मांजने के बाद धोये जाते हैं, फिर भी वे जूठे नहीं रहते। क्योंकि सब लोग उन्हें अपने खाने-पीने के काम में लाते हैं। जब वे जूठे नहीं रहते तो जिस पानी में वे धोये गये हैं वह पानी जूठा कैसे हो सकता है?

जब वह पानी भी जूठा नहीं होता, तो जिस पानी में शुद्ध बर्तन धोये गये हैं, उस शुद्ध एवं पवित्र जल को जूठा बताना उचित नहीं है, वस्तुत: प्रासुक पानी जूठा नहीं होता।

इस तरह साधु अपने लिए बना हुआ आहार-पानी स्वीकार नहीं करते। गृहस्थ के घरों में से शुद्ध-सात्त्विक एवं निर्दोष आहार-पानी ग्रहण करते हैं। यह एषणासमिति भी चार प्रकार की है—1. द्रव्य, 2. क्षेत्र, 3. काल, और 4. भाव। द्रव्य से—निर्दोष आहार-पानी, वस्त्र, पात्र आदि ग्रहण करते हैं। क्षेत्र से—विहार के समय साढ़े चार माइल से आगे आहार-पानी नहीं ले जाते हैं। काल से—प्रथम प्रहर का लाया हुआ आहार-पानी चतुर्थ प्रहर में नहीं खाते हैं। भाव से—अनुकूल या प्रतिकूल जैसा भी आहार उपलब्ध होता है, उसे समभाव-पूर्वक ग्रहण करते हैं।

4. आदान-भांड-मात्र निक्षेपणा-समिति

प्रस्तुत समिति का अर्थ यतना-पूर्वक संयम-साधना में आवश्यक उपकरणों को ग्रहण करना और रखना है। साधना में उपकरणों की भी आवश्यकता पड़ती है। आहार लाने एवं खाने के लिए पात्र, जीव-रक्षा के लिए रजोहरण, मुखवस्त्रिका, लज्जा ढकने के लिए वस्त्र एवं निद्रा या प्रमाद से मुक्त होने के लिए आसन रखना होता है। इसके अतिरिक्त आवश्यकता वश तख्त, पुस्तक-पन्ने, पेन्सिल, तृण आदि लेने एवं रखने पड़ते हैं। अत: इनको ग्रहण करते समय एवं रखते समय विवेक रखने की आवश्यकता है जिससे व्यर्थ ही किसी जीव की हिंसा नहीं हो जाये। इसी बात से सावधान करने के लिए प्रस्तुत समिति रखी गई है। यह समिति भी द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव से चार तरह की है। द्रव्य से—किसी वस्तु को अविवेक या अयतना से नहीं रखना। क्षेत्र से—किसी भी वस्तु को अव्यवस्थित या इधर-उधर विखेर कर नहीं रखना। काल से—यथासमय वस्त्र-पात्र की प्रतिलेखना करना और भाव से—संयम-साधना के लिए रखे हुए उपकरणों पर ममत्व नहीं रखना।

5. उच्चार-पासवण-खेल-जल-मल-परिठावणिया समिति

यह हम पहले बता चुके हैं साधना के लिए आहार ग्रहण करना आवश्यक है। आहार के बिना शरीर चल नहीं सकता और जब आहार करते हैं तो निहार भी अनिवार्य है। मल-मूत्र, कफ आदि विकार शरीर के साथ लगे हैं, अत: इनका परित्याग करने के लिए विवेक एवं उपयोग का होना जरूरी है। क्योंकि यतना-विवेक के अभाव में अनेक जीवों की हिंसा हो

जाती है, जिससे साधक भली-भांति संयम की आराधना नहीं कर सकता।

इसके अतिरिक्त साधक के पास संयम-साधना में सहायक एवं उपयोगी उपकरण भी रहते हैं, वस्त्र भी रहते हैं और कभी पात्र टूट-फूट जाते हैं तथा वस्त्र भी फट जाते हैं जो लज्जा-निवारण के लिए उपयोगी नहीं रह पाते हैं। ऐसी स्थिति में उन्हें भी परठना-फैंकना होता है। इसलिए उन परठने-फैंकने योग्य पदार्थों को फैंकते समय यतना रखने के लिए पांचवीं समिति रखी गई है और साधक को आदेश दिया गया है कि उसे मल-मूत्र, टूटे हुए पात्र आदि परठने-फैंकने या त्यागने योग्य पदार्थों को एकान्त निर्जीव स्थान में परठना चाहिए। इस समिति के भी चार प्रकार हैं-1. द्रव्य, 2. क्षेत्र, 3. काल, और 4. भाव। द्रव्य से-मल-मूत्र आदि को ऐसे स्थान में परठना चाहिए, जहां लोगों का आवागमन कम होता हो, और वह भूमि बीज, अंकुर, हरियाली से रहित हो, निरवद्य हो, समतल हो, चूहे आदि के बिलों से रहित हो, और जहां जनता के स्वास्थ्य पर बुरा असर भी न पड़ता हो। साधु अपने संयम एवं नियम के साथ जन-हित को भी ध्यान में रखता है। उसे ऐसा कार्य करने का आदेश नहीं है, जिससे जनता की आत्मा को ठेस पहुंचती हो। अस्तु, मल-मूत्र का त्याग करते समय भी वह इस बात का पूरा ध्यान रखता है कि जहां वह मल-मूत्र का त्याग कर रहा है वहां से कोई गुजरे नहीं, देखे नहीं, जिससे किसी के मन में घृणा पैदा हो। क्षेत्र से-लोगों के आने-जाने के मार्ग में, चौराहे पर मल-मूत्र का त्याग न करे। काल से-जहां उसे मल-मूत्र का त्याग करना है, उस स्थान को दिन में भली-भांति देख लेवे। भाव से-उपयोग एवं यतनापूर्वक मल-मूत्रादि का त्याग करे, त्याग करके आते ही[1] इरियावही का प्रतिक्रमण करे।

तीन गुप्ति

गुप्ति का अर्थ गोपन करना होता है। मन, वचन और शरीर के योगों को प्रवृत्ति से रोकने का नाम गुप्ति है। वह तीन प्रकार की कही गई है-1. मन गुप्ति, 2. वचन गुप्ति, और 3. काय गुप्ति। अप्रशस्त, अशुभ, कुत्सित संकल्प-विकल्प में गतिमान मन को रोकना मनोगुप्ति है। असत्य, कर्कश, कठोर एवं अहितकारी या सावद्य-पाप युक्त वाणी को नहीं बोलना या इस तरह की भाषा निकल रही हो तो उसका निरोध करना वचन गुप्ति है। शरीर

---

1. ''इच्छा-कारेण संदिसह भगवं !...''
इस पाठ का ध्यान करना चाहिए। इसमें गमनागमन सम्बन्धी दोषों का विचार करके उनका परिहार किया जाता है।

को अशुभ प्रवृत्तियों एवं सावद्य व्यापारों से निवृत्त करना काय गुप्ति है।

उपकरण–यह हम पीछे बता चुके हैं कि संयम-साधना के लिए साधु को उपकरण रखने होते हैं। बिना उपकरण रखे वह साधना मार्ग में प्रवृत्त नहीं हो सकता। शरीर सम्बन्धी आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए उसे कुछ साधन रखने ही होते हैं। इसलिए आगम में साधु के लिए उपकरण रखने का विधान किया गया है।

जिनकल्प--आगमों में दो प्रकार के साधुओं का वर्णन मिलता है--1. जिनकल्प और 2. स्थविरकल्प। जिनकल्प को स्वीकार करने वाले साधु मुनिराज कम से कम नौवें पूर्व के तीसरे आयारवत्थु नामक अध्ययन तक के ज्ञाता होते थे, वे पहाड़ की गुफाओं में या जंगल में वृक्ष के नीचे ध्यानस्थ होकर आत्म-साधना में तल्लीन रहते थे, वे निर्भय और निर्द्वन्द्व होकर विचरण करते थे। यदि कभी माग में सिंह भी मिल जाता तब भी भयभीत होकर मार्ग नहीं त्यागते थे। वे अपने शरीर की जरा भी सार-संभाल नहीं करते थे, यदि आंख में तृण पड़ गया है, पैर में कांटा चुभ गया है, तो उसे भी कभी नहीं निकालते थे। वे न किसी भी साधु की सेवा करते थे और न दूसरे साधु से स्वयं अपनी सेवा करवाते थे। वे न कभी किसी को उपदेश देते थे और न शिष्य ही बनाते थे। वे सदा शहर से बाहर जंगल में ही रहते थे, मात्र भिक्षा लेने के लिए शहर या गांव में आते थे।

जिनकल्पी मुनि के भी उपकरण रखने का विधान है। रजोहरण और मुखवस्त्रिका ये दो उपकरण तो उन्हें हर हालत में रखने होते हैं। क्योंकि दोनों जीव-रक्षा के साधन हैं। इसके अतिरिक्त यदि वे लज्जा पर विजय नहीं पा सके हैं, तो शहर या गांव में जाते समय दो हाथ का छोटा-सा वस्त्र लपेट कर जा सकते हैं, परन्तु भिक्षा से लौटते ही उसे उतार कर एक तरफ रख देते हैं। उसका उपयोग मात्र लज्जा-निवारण के लिए ही कर सकते हैं, न कि शीत निवारण के लिए। इसी तरह यदि उनके हाथ की अंगुलियों में छेद पड़ते हों और आहार लेने एवं करने में अयतना होती हो तो वे एक पात्र और उसके साथ एक झोली, पात्र पूंजने का वस्त्र एवं पात्र ढकने के लिए एक वस्त्र भी रख सकते हैं। इस तरह वे अधिक से अधिक सात उपकरण रख सकते हैं। यदि इतने न भी रखें तो कम से कम दो उपकरण तो रखने ही पड़ते हैं–1. मुखवस्त्रिका, और 2. रजोहरण।

आज के दिगम्बर साधु भी दो उपकरण तो रखते ही हैं। रजोहरण की जगह मोरपिच्छी और दूसरा कमण्डल रखते हैं। वे भी नग्न रहते हैं, हाथ में ही भोजन करते हैं, फिर भी हम

उन्हें जिनकल्पी नहीं कह सकते। क्योंकि जिनकल्प की चर्या को वे धारण नहीं करते। उस क्रिया को धारण कर सकने की शक्ति, साहस एवं योग्यता वर्तमान समय के साधकों में नहीं है।

स्थविरकल्प—जो साधु शहर या गांव में निवास करता है, उपदेश देता है, शिष्य बनाता है, अपने शरीर की भी देख-भाल करता है, दूसरे साधु की सेवा भी करता है और दूसरे से सेवा करवाता भी है, मर्यादित वस्त्र-पात्र रखता है, उसे स्थविरकल्पी साधु कहते हैं। स्थविरकल्पी मुनि के लिए 14 उपकरण बताए गए हैं—(1) मुखवस्त्रिका, (2) रजोहरण, (3) प्रमार्जनिका, (4) चोलपट्टा—धोती के स्थान में पहनने का वस्त्र-विशेष, (5-7) तीन चद्दर, (8) एक आसन, (9-11) तीन पात्र, (12) झोली, (13) पात्र साफ करने का वस्त्र, (14) पानी छानने या पात्र ढकने का वस्त्र। इसमें वस्त्र लज्जा एवं शीत निवारण के लिए तथा पात्र अपने एवं अपने सहधर्मी साथियों के लिए आहार-पानी लाने के लिए रखे जाते हैं। परन्तु मुखवस्त्रिका और रजोहरण ये दोनों उपकरण मात्र जीव-रक्षा के लिए ही रखे जाते हैं। अहिंसा का परिपालन करना साधु का मुख्य धर्म है। मुखवस्त्रिका एवं रजोहरण अहिंसा के प्रतीक हैं, अत: ये जैन साधु के चिन्ह भी हैं। और हम यह भी देख चुके हैं कि वस्त्र-पात्र का परित्याग करने वाले जिनकल्पी मुनि भी उक्त दो उपकरणों को रखते हैं। अत: यहां क्रमश: उक्त दोनों उपकरणों पर विस्तार से विचार करेंगे।

मुखवस्त्रिका—मुखवस्त्रिका का उपयोग दो तरह से है—प्रथम जीवों की रक्षा के लिए और दूसरा चिन्ह रूप में। यह हम पहले बता ही चुके हैं कि जिनकल्पी मुनि भी, जो वस्त्र नहीं रखते, मुखवस्त्रिका और रजोहरण रखते हैं। अत: ये दोनों उपकरण जैन मुनि की पहचान के साधन भी हैं। हम देखते हैं कि वैष्णव, शैव आदि परम्परा के संन्यासियों के अपने अलग-अलग चिन्ह होते हैं, जिनसे उन्हें सम्प्रदाय रूप से पहचानने में सरलता रहती है। इसी तरह मुखवस्त्रिका और रजोहरण जैन मुनि के चिन्ह हैं। लोगों में भली-भांति पहचान हो सके इसलिए बाह्य चिन्ह का भी महत्त्व माना गया है।[1]

मुखवस्त्रिका का उपयोग चिन्ह के रूप में गौण और जीव-रक्षा की दृष्टि से प्रधान है। यह तो हम देख चुके हैं कि साधु पर सूक्ष्म एवं स्थूल दोनों तरह के जीवों की रक्षा करने

1. "पच्चयत्थं च लोगस्स..................
.... लोए लिंग-पओयणं।।" —उत्तराध्ययन, 23/32.

का उत्तरदायित्व है और इसी दायित्व को निभाने के लिए उसे खाने-पीने, उठने-बैठने, चलने-सोने आदि रूप से की जाने वाली प्रत्येक क्रिया में सावधानी रखनी होती है। इसी तरह भाषा वर्गणा के पुद्गलों का प्रयोग करते समय भी विवेक रखना जरूरी है। नहीं तो, बोली जाने वाली भाषा से अनेक प्राणियों के प्राणों का नाश हो जाएगा। जैनागमों के अनुसार लोक के सभी प्रदेशों पर जीव स्थित हैं। हम जिस स्थान में रहते हैं या घूमते-फिरते हैं, वहां के आकाश-मण्डल में एक, दो नहीं, असंख्य जीव भरे पड़े हैं। वैज्ञानिक भी इस बात को स्वीकार करते हैं कि थेकसस नाम के असंख्य जन्तु वायु-मण्डल में पाये जाते हैं। वे प्राणी इतने छोटे होते हैं कि सुई के अग्र भाग पर एक लाख जीव समा सकते हैं। इस तरह वैज्ञानिक भी लोक में जीवों के अस्तित्व को मानते हैं। अस्तु, जैनधर्म काल्पनिक विचारों पर गतिशील धर्म नहीं है, प्रत्युत वैज्ञानिक धर्म है। जैन आगमों में इस बात का भी उल्लेख मिलता है कि वायु स्वयं सजीव है। अत: यह सीधी-सी समझ में आने वाली बात है कि जब हम बोलते हैं तो उस समय मुख में से निकलने वाली गर्म वाष्प या वैज्ञानिक भाषा में कहें तो कार्बोलिक एसिड गैस युक्त वायु से वायुमण्डल में स्थित जीवों की हिंसा होती है। और थोड़ी-सी सावधानी एवं विवेक रखकर हम असंख्य जीवों की हिंसा से बच सकते हैं, या यों कहिए कि उनके प्राणों की रक्षा कर सकते हैं। अत: जरा-सा प्रमाद या सांप्रदायिक आग्रह असंख्य प्राणियों के वध का कारण बन जाता है और जरा-सा विवेक लाखों-करोड़ों प्राणियों के जीवन-रक्षण का कारण बन सकता है।

मुख-वस्त्रिका का उपयोग जीवों की सुरक्षा के लिए है। क्योंकि मुख से निकलने वाली वायु गर्म और विषाक्त गैस युक्त होती है और वह पूरे वेग से निकलती है, इसलिए उसके द्वारा वायु-काय के जीवों तथा वायु-मण्डल में स्थित अन्य जीवों की हिंसा होनी निश्चित है। अत: जब हम मुख पर मुखवस्त्रिका बांधे रखते हैं तो बोलते समय जो वायु मुख से बाहर निकलेगी वह उक्त वस्त्र से टकराकर ही बाहर आएगी, इसलिए बाहर आते-आते उसकी शक्ति क्षीण हो जायेगी और फिर वह जीवों को हानि नहीं पहुंचा सकेगी। अत: अहिंसा के परिपालक मुनि के लिए मुखवस्त्रिका बांधना आवश्यक है।

प्रश्न—आज के ऐटम और राकेट के युग में इतनी सूक्ष्म अहिंसा की क्या आवश्यकता है? जब कि मानव चन्द्र-लोक की ओर बढ़ रहा है, स्वर्ग और धरती को एक बनाने का स्वप्न ले रहा है और जैन साधु अभी भी मुखवस्त्रिका के पीछे पड़ा हुआ है।

उत्तर–भारतीय संस्कृति एवं सभ्यता का महत्त्व आकाश और पाताल को नापने में नहीं, बल्कि प्रत्येक प्राणी की भलाई एवं रक्षा करने में रहा है। यह सत्य है कि सर्वज्ञों ने दुनिया के एक-एक अणु को देखा है, परखा है, चप्पे-चप्पे का विवेचन किया है, पर उन्होंने यह सारा कार्य जीवों की सुरक्षा को सामने रखकर किया है। स्वर्ग और नरक को नापने का उतना मूल्य नहीं है, जितना कि एक जीव को बचाने का है। यही कारण है कि तीर्थंकरों का उपदेश नरक-स्वर्ग के नाप-तोल के उद्देश्य से नहीं बल्कि प्राणी जगत की रक्षारूप दया की दृष्टि से होता था।[1] उनका जीवन विश्व-हित के लिए था। अत: मुखवस्त्रिका का विधान भी उसी विराट् भावना का परिचायक है।

भारतीय संस्कृति एवं पाश्चात्य संस्कृति तथा सभ्यता में महान् अन्तर है। पश्चिमी सभ्यता सिर्फ मानव जाति के भौतिक विकास को महत्त्व देती है और भारतीय सभ्यता मानव को अपने विकास के साथ दूसरे जीवों के अभ्युदय का ध्यान रखना भी सिखाती है। यही कारण है कि पश्चिम भौतिक विज्ञान के क्षेत्र में इतना आगे बढ़ने पर भी मानव जीवन को सुखमय नहीं बना सका। आज संसार का हर मानव विज्ञान के भयानक साधनों–ऐटम आदि के विस्फोटक कारनामों से भयभीत है। अहिंसा की उदात्त भावना से शून्य विज्ञान आज मानव को विनाश के कगार पर ले आया है। ऐसी भयंकर परिस्थिति में एकमात्र अहिंसा ही मानव जाति का संरक्षण कर सकती है। उसको अपनाकर ही मानव-जाति को विनाश से बचाया जा सकता है। यह अहिंसा ही भारत की अपनी विशेषता रही है और आज भी इसी भगवती अहिंसा के कारण भारत विश्व को शान्ति का सबक सिखा रहा है।

भारतीय सभ्यता में भी जैनों ने अहिंसा पर अधिक बल दिया है। मानव एवं बड़े-बड़े जीव-जन्तुओं का ही नहीं, छोटे से छोटे प्राणियों के प्राणों की सुरक्षा करने का भी ध्यान रखा है। विश्व के सभी जीवों के साथ दया एवं अहिंसा का व्यवहार करने के कारण ही वे विश्व-बन्धुत्व या वात्सल्य की भावना को अपने जीवन में साकार रूप दे सके हैं। आज सन्त विनोबा ने जयगोपाल, जयराम, जयजिनेन्द्र, जयहिन्द आदि से ऊपर उठकर जयजगत का नारा दिया है। उनके जयजगत के नारे में विश्व के मानवों की जय की भावना रही हुई है। वे विश्व के मानवों को एक परिवार के रूप में देखने का स्वप्न ले रहे हैं। परन्तु जैनों ने इससे भी आगे बढ़कर प्राणी जगत के सभी जीवों के सुख की कामना की है, सबसे प्रेम जोड़ना चाहा है।

1. "सव्व-जग-जीव-रक्खण-दयट्ठयाए भगवया पावयणं सुकहियं" –प्रश्नव्याकरण सूत्र

अत: महावीर का विश्व-बन्धुत्व का संदेश जय जगत के नारे से भी अधिक उदार एवं व्यापक है। आज '**खामेमि सव्वे जीवा, सव्वे जीवा खमन्तु मे, मित्ती मे सव्वभूएसु, वेरं मज्झं ण केणई**' के पाठ को जीवन में साकार रूप देने की महती आवश्यकता है। इसे आचरण में उतारकर जैन विश्व के सामने एक विशिष्ट आदर्श उपस्थित कर सकते हैं।

प्रश्न—मुखवस्त्रिका जीव-रक्षा के लिए लगाई जाती है, इसके पीछे कोई शास्त्रीय आधार भी है या केवल तर्क के बल पर ही ऐसा माना या किया जाता है?

उत्तर—यह हम पहले ही स्पष्ट कर चुके हैं कि आगमों में मुखवस्त्रिका रखने का विधान है और उसका मूल उद्देश्य जीव-रक्षा ही है। क्योंकि खुले मुंह बोली जाने वाली भाषा को सावद्य भाषा कहा गया है। भगवती सूत्र में गौतम स्वामी भगवान् महावीर से प्रश्न करते हैं –

भगवन् ! शक्रेन्द्र सावद्य (हिंसा या पाप युक्त) भाषा बोलते हैं या निरवद्य (हिंसा या पाप रहित)?

भगवान्—गौतम ! देवेन्द्र दोनों तरह की भाषा बोलते हैं।

गौतम—भगवन् ! एक व्यक्ति सावद्य और निरवद्य दोनों तरह की भाषा कैसे बोल सकता है?

भगवान्—गौतम ! जब देवेन्द्र उत्तरासन से मुख ढककर बोलते हैं, तब वे निरवद्य भाषा बोलते हैं और जब मुख पर वस्त्र लगाए बिना बोलते हैं तब वे सावद्य भाषा बोलते हैं।[1] भाषा का द्वैविध्य बोलते समय मुख को आवृत्त करने एवं खुला रखने की प्रवृत्ति पर आधारित है। यह बात श्वेताम्बर परम्परा की सभी संप्रदायों को भी मान्य है कि खुले मुंह से बोली जाने वाली भाषा सावद्य है।

प्रश्न—बोलते समय मुखवस्त्रिका लगाना तो समझ में आ गया, परन्तु पूरे दिन-रात उसे मुंह पर बांधे रखने का क्या उद्देश्य है, यह समझ में नहीं आता?

उत्तर—इस बात को हम पहले ही स्पष्ट कर चुके हैं कि अहिंसा विवेक में है।

1. भगवती सूत्र शतक 16, उ. 2, सूत्र 568.

जरा-सा प्रमाद या अविवेक हिंसा एवं पापबन्ध का कारण बन जाता है। अत: साधु को सदा सावधान एवं जागृत रहने का आदेश है। वह चलते समय रजोहरण को सदा हर कदम पर अपने साथ रखता है। जब कि हर कदम पर वह उसका उपयोग भी नहीं करता है, यहां तक कि अनेकों बार अपने गन्तव्य स्थान पर पहुंचने तक उसे उसका उपयोग करने का अवसर ही नहीं मिलता। फिर भी वह उसे सदा बगल में दबाए या कन्धे पर डाले रहता है। क्यों? इस क्यों का उत्तर एक ही है कि उसे पता नहीं रहता कि किस स्थान पर उसे उसकी आवश्यकता पड़ जाए। कभी पूरे रास्ते में हिलते-चलते जीव दिखाई नहीं देते हैं और कभी-कभी कई स्थान ऐसे आ जाते हैं कि रजोहरण से परिमार्जन किए बिना आगे बढ़ना कठिन हो जाता है। अत: उसकी किस समय आवश्यकता पड़ जाये, यह मालूम न होने से उसे सदा साथ रखने का विधान है। वैसे ही मुखवस्त्रिका भी सदा लगानी चाहिए, पता नहीं किस समय हमें बोलना पड़ जाए। इसके सिवाय किसी भी समय उबासी, खांसी, डकार आदि आ सकते हैं और उससे वायुकाय के जीवों की तथा अन्य जीवों की हिंसा हो जाती है। गोचरी लेते समय एक हाथ में झोली होती है, तथा दूसरे हाथ में पात्र, अत: आहार कम-ज्यादा लेने या न लेने के सम्बन्ध में बोलने में कठिनाई होती है, उस समय यदि मुखवस्त्रिका हाथ में रखी जाए तो उसे लगाया नहीं जा सकेगा और उसे खुले मुंह बोलना होगा। इसी तरह प्रतिक्रमण की आज्ञा लेने के लिए गुरुवन्दन करते समय ''तिक्खुत्तो'' या ''इच्छामि खमासमणो'' का पाठ बोलते हैं। उस समय दोनों हाथ जोड़कर वन्दना करने की परम्परा है, अत: मुख पर वस्त्र रखने का विवेक नहीं रह सकेगा। इसी तरह ''नमोत्थुणं'' देते समय और 'इच्छामि खमासमणो' के 12 आवर्तन करते समय तथा श्रमण सूत्र बोलते समय यतना रख सकना कठिन ही नहीं, असम्भव है। यदि यतना करने जाएंगे तो उस क्रिया को विधि-पूर्वक नहीं कर सकेंगे और विधि का पालन करेंगे तो निरवद्य भाषा नहीं बोल सकेंगे। इसी तरह सुप्तावस्था में भी कभी-कभी अचानक बोल उठते हैं, बड़बड़ाने लगते हैं, मुंह से श्वास लेने लगते हैं, और उस समय हाथ में रखी हुई मुखवस्त्रिका को लगाना बिल्कुल असम्भव है। अत: मुखवस्त्रिका को हाथ में रखकर हम वीतराग की आज्ञा का पूरा-पूरा पालन नहीं कर सकते।

संयम की आराधना के लिए यह जरूरी है कि मुखवस्त्रिका को मुख पर बांधा जाए और वह भी सदा के लिए। क्योंकि इससे लाभ ही है, नुकसान नहीं। यह ठीक है कि हम 24 घण्टे नहीं बोलते, परन्तु यह भी सत्य है कि मुख पर नहीं बांधने से हम कई बार भूल से, प्रमाद से या भ्रान्तिवश खुले मुंह बोल सकते हैं। अस्तु, भाषा की सदोषता से बचने के लिए मुख

पर मुखवस्त्रिका बांधनी चाहिए और सदा बांधे रखनी चाहिए।

प्रश्न–क्या सभी जैन साधु मुखवस्त्रिका का उपयोग करते हैं?

उत्तर–हम यह देख चुके हैं कि महावीर के युग में जिनकल्प और स्थविरकल्प दो परम्पराएं थीं और दोनों परम्पराओं के मुनि मुखवस्त्रिका लगाते थे। परन्तु भगवान् महावीर के 609 वर्ष बाद जैन संघ दिगम्बर और श्वेताम्बर इन दो भागों में विभक्त हो गया। तब से दिगम्बर परम्परा में मुखवस्त्रिका का अस्तित्व नहीं रहा। उन्होंने वस्त्र मात्र का निषेध कर दिया और वर्तमान में विद्यमान आगमों को प्रामाणिक मानने से भी इनकार कर दिया। अपने आचार्यों द्वारा निर्मित ग्रंथों को ही वे प्रमाणस्वरूप मानते हैं। अत: उक्त सम्प्रदाय के मुनि मुखवस्त्रिका नहीं लगाते और न उनके श्रावक ही सामायिक करते समय लगाते हैं। वे खुले मुंह बोली जाने वाली भाषा को सावद्य भी नहीं मानते हैं। फिर भी प्रतिमा का पूजन करते समय मुख पर वस्त्र बांधने की परम्परा उनमें भी है, जिसे वे मुख-कोष कहते हैं। यह मुखकोष जीव-रक्षा के उद्देश्य से नहीं, बल्कि मूर्ति पर थूक न गिर पड़े इसलिए लगाते हैं।

श्वेताम्बर परम्परा में तीन सम्प्रदाएं हैं–श्वे. स्थानकवासी, श्वे. मूर्तिपूजक और श्वे. तेरहपंथ। तीनों सम्प्रदाएं वर्तमान में उपलब्ध 32 आगमों को प्रामाणिक मानती हैं, और यह हम ऊपर बता चुके हैं कि आगमों में मुखवस्त्रिका का विधान है और तीनों सम्प्रदाएं इस बात को स्वीकर करती हैं। फिर भी मान्यता में थोड़ा-सा अन्तर है। स्थानकवासी एवं तेरहपंथी साधु मुखवस्त्रिका मुंह पर बांधते हैं, परन्तु मूर्ति-पूजक साधु उसे मुंह पर नहीं बांधते। उनके यहां मुखवस्त्रिका को हाथ में रखने की परम्परा है। वे भी इस बात को मानते हैं कि खुले मुंह नहीं बोलना चाहिए। बोलते समय या उबासी आदि लेते समय मुख पर मुखवस्त्रिका लगा लेनी चाहिए। इससे स्पष्ट हो जाता है कि श्वेताम्बर परम्परा में तीनों संप्रदाएं मुखवस्त्रिका रखने के उद्देश्य में एकमत हैं। तीनों संप्रदायों की यह मान्यता है कि खुले मुंह बोलने से जीवों की हिंसा होती है और खुले मुंह बोली जाने वाली भाषा सावद्य भाषा कहलाती है। अन्तर केवल इतना ही है कि स्थानकवासी और तेरहपंथी[1] साधु मुखवस्त्रिका को सदा मुख पर बांधे रखते हैं और मूर्तिपूजक उसे मुख पर न बांधकर हाथ में रखते हैं और बोलते समय लगाना आवश्यक मानते हैं।

---

1. तेरहपंथ के साधुओं की मुखवस्त्रिका स्थानकवासी साधुओं की मुखवस्त्रिका की अपेक्षा लम्बाई में ज्यादा और चौड़ाई में कम होती है।

प्रश्न—बोलते समय मुखवस्त्रिका थूक से गीली हो जाती है, जिससे उसमें संमूर्च्छिम जीव पैदा हो जाते हैं, अतः मुखवस्त्रिका सदा मुंह पर बांधे नहीं रखनी चाहिए। क्योंकि इससे हिंसा होती है। इस बात को क्या आप मानते हैं?

उत्तर—प्रश्न हमारे मानने, नहीं मानने का नहीं है। देखना यह है कि आगम भी इस बात को मानते हैं या नहीं। अर्थात् थूक से संमूर्च्छिम जीवों की उत्पत्ति होती है या नहीं? क्योंकि हम अपनी आंखों से उन जीवों को देख नहीं सकते, सिर्फ आगम (सर्वज्ञ) की आंखों से ही उन्हें देख-जान सकते हैं। अतः इसके लिए आगम के विधान को देखना जरूरी है।

यह बात सत्य है कि मुखवस्त्रिका थूक से गीली हो जाती है, परन्तु इस बात में सत्यता का अभाव है कि थूक से गीली हुई मुखवस्त्रिका में संमूर्च्छिम जीवों की उत्पत्ति होती है। क्योंकि आगमों में कहीं भी ऐसा विधान नहीं मिलता। प्रज्ञापना सूत्र में संमूर्च्छिम जीवों की उत्पत्ति के 14 स्थान माने हैं। वे इस प्रकार हैं—1. विष्ठा, 2. पेशाब, 3. कफ, 4. नाक का मल, 5. वमन, 6. पित्त, 7. पीप, 8. रक्त, 9. वीर्य, 10. वीर्य के शुष्क पुद्गल, 11. शव, 12. स्त्री-पुरुष संयोग, 13. नालियां, और 14. अशुचि के सभी स्थान। उक्त चौदह स्थानों में कहीं यह नहीं बताया गया है कि थूक से संमूर्च्छिम जीवों की उत्पत्ति होती है। यदि ऐसा होता तो थूक का नाम भी गिनाया जाता या उत्पत्ति-स्थानों की संख्या भी बढ़ा दी जाती। परन्तु ऐसा नहीं होने से यह स्पष्ट है कि थूक से संमूर्च्छिम जीवों की उत्पत्ति नहीं होती। उक्त स्थानों में भी अन्तर्मुहूर्त्त के बाद ही संमूर्च्छिम जीवों की उत्पत्ति होती है, पहले नहीं।

अतः थूक में संमूर्च्छिम जीवों की उत्पत्ति मानना आगम एवं सिद्धान्त के विरुद्ध है और ऐसे मान लिया जाए तो फिर मुखवस्त्रिका रखने का सिद्धान्त ही गलत हो जाएगा। अतः इस तर्क में जरा भी सत्यता नहीं है कि थूक से संमूर्च्छिम जीवों की उत्पत्ति होती है।

प्रश्न—मुखवस्त्रिका कितनी लम्बी-चौड़ी हो?

उत्तर—मूल आगम में तो इसका विधान देखने में नहीं आया। परन्तु, आवश्यकचूर्णि में इस सम्बन्ध में लिखा है कि मुखवस्त्रिका 21 अंगुल लम्बे, 16 अंगुल चौड़े वस्त्र की चतुष्कोण होनी चाहिए और इसकी आठ तहें बनानी चाहिएं।[1]

---

1. एगबीसांगुलायामा, सोलसांगुलवित्थिणा।
चउक्कारसंजुया य, मुहपोत्तिया एरिसा होइ।। —आवश्यक चूर्णि

प्रश्न–मुखवस्त्रिका बांधने का विधान केवल साधु के लिए ही है या श्रावक (गृहस्थ) के लिए भी है?

उत्तर–इस बात को हम पहले स्पष्ट कर चुके हैं कि मुखवस्त्रिका का प्रयोजन भाषा की सावद्यता को रोकना है। साधु ने सदा के लिए सावद्य योग का त्याग कर रखा है, अत: उसे सदा मुखवस्त्रिका लगाए रखना चाहिए। परन्तु, गृहस्थ पूर्णत: सावद्य योग का त्यागी नहीं है। वह कुछ समय के लिए ही उसका त्याग करता है, कभी एक-दो या अधिक मुहूर्त्त के लिए या एक-दो दिन के लिए। उसकी इस क्रिया को सामायिक और पौषध के नाम से पहचाना जाता है। उक्त समय वह सावद्य योग का त्याग करता है, अत: उस समय उसे अवश्य ही मुखवस्त्रिका बांधनी चाहिए। आवश्यक-चूर्णि में लिखा है कि बिना मुखवस्त्रिका लगाए जो सामायिक या पौषध आदि करता है, उसे 11 सामायिक का प्रायश्चित्त आता है।[1]

इस तरह आगम के पाठों से यह स्पष्ट हो जाता है कि जीवों की रक्षा के लिए मुखवस्त्रिका सदा बांधे रखना चाहिए। अन्यथा खुले मुंह साधक को भाषा की सदोषता से बचना असंभव है।[2]

रजोहरण

प्रश्न–रजोहरण का क्या अर्थ है और यह किस उद्देश्य से रखा जाता है?

उत्तर–रजोहरण शब्द रजस् + हरण से बना है। रजस् संस्कृत का शब्द है। हिन्दी में इसे रज कहते हैं। अत: रज को हरण - दूर करने वाले उपकरण को रजोहरण कहते हैं। रज दो प्रकार की होती है–1. द्रव्य रज, और 2. भाव रज। द्रव्य रज में सभी तरह का कूड़ा-करकट आ जाता है। भाव रज का अर्थ है–आत्मा में अशुभ या पाप कर्म के कूड़े-करकट का आना। द्रव्य रज हवा के साथ आती है और भाव रज अविवेकपूर्ण की गई क्रिया से आती है। जैसे रास्ते में चल रहे हैं। मार्ग में किसी एक स्थान पर इतने जीव-जन्तु गति कर रहे हैं कि उन्हें लांघ कर जाने का रास्ता ही नहीं है। उस समय दो ही उपाय हैं–

---

1 मुहंणतगेण कणोट्ठिया, विणा बंधइ जे को वि सावए।
धम्मकिरिया य करंति, तस्स इक्कारससामाइयस्स णं पायच्छित्तं भवइ। –आवश्यक चूर्णि

2. मुखवस्त्रिका के सम्बन्ध में अधिक शास्त्रीय जानकारी के लिए–1. 'शास्त्रार्थ नाभा' लेखक–शास्त्रार्थ-महारथी श्रद्धेय गणी श्री उदयचन्द जी म. और, 2. मुखवस्त्रिका-सिद्धि, लेखक–श्री रतनलाल जी डोसी, देखें।

1. यात्रा बन्द करके वापस लौट जाएं, या 2. उनके ऊपर से जाया जाए। यदि उनके ऊपर से गति करते हैं तो उन जीवों की हिंसा होती है और उक्त क्रिया से पाप कर्म की रज आत्मा के साथ चिपक जाती है। उस रज को दूर करने के लिए रजोहरण का उपयोग किया जाता है। अर्थात् रजोहरण से विवेक एवं यतना पूर्वक जीव-जन्तुओं को एक तरफ कर दिया जाता है। रजोहरण सुकोमल ऊन का बना होता है, अत: इसके स्पर्श से किसी जीव-जन्तु के प्राणों का नाश नहीं होता है। इस तरह साधु रजोहरण से जीवों की रक्षा करके पाप कर्म की रज से सहज ही बच जाता है और द्रव्य रज को साफ करने की बात तो स्पष्ट ही है।

आजकल लोग मकान साफ करने के काम को छोटा समझते हैं। परन्तु यह काम बड़ा महत्त्वपूर्ण है। विवेक और यतना के साथ भावपूर्वक मकान को साफ करते-करते इन्सान कर्म-रज को भी साफ कर देता है। मकान में रजोहरण फेरते-फेरते यदि आलोचना का एकाध रजोहरण आत्मा या मन पर फेर दे तो वह कर्म-रज को भी सर्वथा साफ कर देता है। यदि अभी परिणामों की इतनी उत्कृष्टता न भी आए तो भी विवेकपूर्वक मकान को साफ करते हुए वह जीवों की यतना-रक्षा करके पाप कर्म से सहज ही बच सकता है। क्योंकि कूड़े-करकट के बिखरे रहने से कई तरह के जीव-जन्तु आ जाते हैं, तथा मकड़ी आदि कई जन्तु उत्पन्न भी हो जाते हैं और असावधानी से अपने या दूसरे के शरीर से उनकी हिंसा होना भी सम्भव है। अत: मकान को साफ करने या रखने का अर्थ है-उस कचरे में स्थित जीवों को विवेकपूर्वक सुरक्षित स्थान में रख देना और नए जीवों की उत्पत्ति को रोक देना। इस तरह विवेक-पूर्वक कचरे को निकालते हुए साधु द्रव्य और भाव दोनों तरह की रज को दूर करता है। यह बिल्कुल ठीक कहा गया है कि कचरे को साफ करते हुए साधु 7 या 8 कर्मों की निर्जरा करता है या उनके बंधन को शिथिल करता है।

प्रश्न-रजोहरण किस चीज का बना होता है?

उत्तर-हम ऊपर बता चुके हैं कि रजोहरण ऊन का बना होता है। साधारण नियम यही है। विशेष परिस्थिति में अर्थात् ऊन उपलब्ध न हो तो ऐसी स्थिति में अन्य वस्तु का भी बनाया जा सकता है। इसलिए स्थानांग सूत्र में 5 प्रकार का रजोहरण रखने का विधान है। बृहत्कल्प सूत्र के दूसरे उद्देशक में भी 5 तरह का रजोहरण रखने की बात कही है। वह इस प्रकार है-1. और्णिक, 2. औष्ट्रिक, 3. सानक, 4. पच्चाणिच्चिअ, और 5. मुंजपिच्छित।

और्ण-भेड़ के बालों को ऊर्ण कहते हैं। ऊर्ण या ऊन से बनाए गए रजोहरण को

और्णिक कहा जाता है। ऊंट के बालों से बनाए गए रजोहरण को औष्ट्रिक, सन अर्थात् पाट (Jute) से बने रजोहरण को सानक, ल्वज नाम के तृण को कूटकर उसकी छाल से बनाए गए रजोहरण को पच्चाणिच्चिअ और मूंज के रजोहरण को मुंजपिच्छित कहते हैं। साधारणत: ऊन के रजोहरण का प्रचलन है और इसी को अधिक प्रमुखता दी गई है।

प्रश्न—क्या सभी जैन साधु रजोहरण का उपयोग करते हैं?

उत्तर—यह हम देख चुके हैं कि महावीर युग में जिनकल्प और स्थविरकल्प दो परम्पराएं थीं। दोनों परम्पराओं में रजोहरण रखने का विधान मिलता है। जिनकल्प पर्याय को स्वीकार करने वाले मुनि वस्त्र का परित्याग कर देते थे; परन्तु रजोहरण और मुखवस्त्रिका ये दो उपकरण तो वे भी रखते थे। भगवान् महावीर के निर्वाण के बाद करीब 609 वर्ष तक अथवा दिगम्बर-श्वेताम्बर का सांप्रदायिक भेद खड़ा नहीं हुआ तब तक सभी जैन साधु रजोहरण रखते रहे हैं। बाद में दिगम्बर परम्परा में मुनियों ने रजोहरण रखना छोड़ दिया और उसकी जगह वे मोरपिच्छी रखने लगे। रजोहरण के उद्देश्य के परिपालन की अनिवार्यता को वे भी मानते हैं, ऐसा कहना चाहिए और श्वेताम्बर परम्परा में स्थानकवासी, मूर्ति-पूजक और तेरहपंथी तीनों संप्रदाएं रजोहरण रखती हैं और साथ ही एक छोटी रजोहरणी—जिसे परिमार्जनिका या बोल-चाल की भाषा में पूंजनी कहते हैं—भी रखते हैं। साध्वियां भी रजोहरण और रजोहरणी रखती हैं, अन्तर इतना ही है कि उनकी रजोहरणी लकड़ी की डंडी से रहित होती है।

प्रश्न—क्या रजोहरण सदा साथ रखना होता है या आवश्यकता पड़ने पर साथ रखा जाता है?

उत्तर—यह हम देख चुके हैं कि मुखवस्त्रिका एवं रजोहरण जीवों की रक्षा के लिए हैं, हिंसा से बचने के लिए हैं। साधु पूर्णत: हिंसा का त्यागी होता है। अत: ये दोनों उपकरण उसके पूर्ण अहिंसक होने के चिन्ह भी हैं और हिंसा से बचने के साधन भी। इसलिए मुखवस्त्रिका की तरह रजोहरण को भी सदा साथ रखना जरूरी है। पता नहीं किस समय इसके उपयोग की आवश्यकता पड़ जाए। इसी कारण निशीथसूत्र में यह विधान किया गया कि साधु रजोहरण को छोड़कर अपने शरीर प्रमाण (साढ़े तीन हाथ) भू-भाग से आगे न जाए। यदि विस्मृति से इस मर्यादा का उल्लंघन कर जाए तो उसके लिए एक उपवास का प्रायश्चित्त बताया है। यह प्रायश्चित्त प्रमाद एवं विस्मृति के दोष से बचकर आगे के लिए सदा सावधान रहने के लिए है।

प्रश्न—रात को रजोहरण बराबर साथ रखने की बात तो समझ में आ सकती है, परन्तु दिन में—जबकि सूर्य के प्रखर प्रकाश में मार्ग साफ-साफ दिखाई दे रहा है, ऐसी स्थिति में भी रजोहरण का बोझ उठाए-उठाए फिरना क्या उचित प्रतीत होता है?

उत्तर—इसके लिए जरा चिन्तन को गहराई में ले जाने की आवश्यकता है। यह सत्य है कि सूर्य के उजाले में हम भली-भांति जीवों का अवलोकन कर सकते हैं। इसलिए रात को जैसे रजोहरण से भू-भाग को साफ करते हुए गति करते हैं, वैसे ही दिन में गति करने की आवश्यकता नहीं है और न कोई साधु अपने चलने के स्थान से लेकर गन्तव्य स्थान तक ऐसी चेष्टा करता ही है। सदा साथ रखने का उद्देश्य केवल इतना ही है कि रास्ते में कई जगह ऐसी परिस्थिति भी आ जाती है कि सारा मार्ग जीव-जन्तुओं से आवृत्त होता है, उन्हें बचाकर आगे बढ़ना कठिन होता है, ऐसे समय के लिए रजोहरण का पास रखना आवश्यक है। रास्ते में ऐसा समय आएगा या नहीं आएगा, इसका निश्चय नहीं होने से रजोहरण को सदा साथ रखने का विधान किया गया, ऐसा लगता है।

सूर्य के प्रकाश में सारी चीजें साफ-साफ परिलक्षित होती हैं, आंखें सब कुछ देखती-परखती हैं, परन्तु रास्ते में आने वाले जीव-जन्तुओं को न आंखें दूर कर सकती हैं और न सूर्य का प्रकाश ही उन्हें मार्ग से हटा सकता है, उन्हें बिना कष्ट एवं पीड़ा पहुंचाए हटाने का काम रजोहरण ही कर सकता है। अत: उसका सदा साथ रखना आवश्यक ही नहीं, अनिवार्य है और भूल या भ्रान्तिवश न रखने पर एक उपवास का प्रायश्चित्त उचित ही प्रतीत होता है। जैनेतर ग्रंथों में भी लिखा है कि शरीर में कष्ट होने पर भी सभी प्राणियों-जीव-जन्तुओं की संरक्षा हेतु रात-दिन सदा देखकर चलना चाहिए।[1] इसमें भी भूमि को देखकर चलने की बात तो ठीक है, परन्तु रात में अंधेरा होने से मार्ग दिखाई नहीं देता और अन्य साधु-संन्यासियों की तरह जैन साधु दीपक आदि काम में लाते नहीं। अत: जीवों की संरक्षा करने के लिए यह आवश्यक है कि दिन में देखकर और रात में परिमार्जन करते हुए गति करें। यों तो जैन साधु रात में बाहर कभी कहीं जाते नहीं। शारीरिक आवश्यकताओं से निवृत्त होने के लिए दिन में अच्छी तरह देखे हुए स्थान में ही जाते-आते हैं, और उस भू-भाग में गमन करते समय परिमार्जन करते हुए चलना आवश्यक है।

---

1. संरक्षणार्थं जन्तूनां, रात्रावहनि वा सदा।
शरीरस्यात्यये चैव, समीक्ष्य वसुधां चरेत्।। —मनुस्मृति अ. 6, श्लोक 68.

रजोहरण साधु की तरह गृहस्थ भी रख सकता है। परन्तु उसमें अन्तर इतना ही है कि साधु के लिए रजोहरण के डंडे पर वस्त्र लपेटने का विधान है—जिसे निसीथिया कहते हैं। परन्तु गृहस्थ रजोहरण के डंडे पर वस्त्र नहीं लपेट सकता। दूसरा अन्तर यह है कि साधु रजोहरण को सदा-सर्वदा अपने पास रखता है, किन्तु गृहस्थ सामायिक-प्रतिक्रमण या पौषधादि धार्मिक क्रिया करते समय ही अपने पास रखता है। रजोहरण के साथ गृहस्थ एक रजोहरणी भी रखता है। श्राविकाएं-बहनें भी रजोहरणी रखती हैं, उनकी रजोहरणी में भी साध्वियों की तरह डंडी नहीं होती।

साधु-साध्वी के लिए सदा और श्रावक-श्राविका के लिए धार्मिक क्रिया करते समय रजोहरण और रजोहरणी रखना जरूरी है। रजोहरण का उपयोग चलते समय मार्ग में आने वाले जीवों की रक्षा के लिए है। रजोहरणी को रजोहरण की तरह सदा साथ रखने की आवश्यकता नहीं है। उसका उपयोग आसनादि का परिमार्जन करने तथा शरीर को खुजलाने के पूर्व परिमार्जन करने के लिए है। अत: उसका उपयोग स्थान पर रहते समय किया जाता है।

उपसंहार

इस तरह हम देख चुके हैं कि साधना जीवन का प्रकाशमान पृष्ठ है। उसमें प्रमाद, गफलत एवं अविवेक को जरा भी स्थान नहीं है। उसकी प्रत्येक क्रिया विवेक एवं यतनापूर्वक होती है और वह अपने उपकरण या साधनों का उपयोग भी जीवों की सुरक्षा एवं संयम-पालन के लिए करता है। अत: आवश्यकतानुसार रखे गए उपकरण उसकी साधना में बाधक नहीं प्रत्युत सहायक ही होते हैं। हम यह पहले ही स्पष्ट कर चुके हैं कि साधना के पथ पर गतिशील साधक को थोड़े-बहुत उपकरण ग्रहण करने ही होते हैं। संसार में ऐसा कोई भी साधु नहीं था और न वर्तमान में है, जो बाह्य उपकरणों के बिना संयम साधना साध सका हो या साध रहा हो। अस्तु, ममता रहित भाव से वस्त्र, पात्र, रजोहरण आदि उपकरण रखना परिग्रह नहीं है।

❑ ❑ ❑

चौबीस तीर्थंकर

प्रश्न–तीर्थंकर किसे कहते हैं?

उत्तर–तीर्थ तैरने के साधन को कहते हैं। संसार सागर से तैरने के साधनों का जो उपदेश करता है, सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यग्चारित्र रूप त्रिविध मुक्ति-मार्ग के साधनों का संसार में प्रसार करता है उसको तीर्थंकर कहते हैं। तीर्थ शब्द का अर्थ धर्म भी होता है। इसलिए जैनशास्त्रों में अहिंसा, सत्य, ब्रह्मचर्य आदि धर्मों को भी तीर्थ का रूप दिया गया है। वैष्णवों के स्कन्धपुराण, काशी खण्ड, अध्याय 6 में कहा है–

सत्यं तीर्थं, क्षमा तीर्थं, तीर्थमिन्द्रियनिग्रहः ।
सर्वभूतदया तीर्थं, तीर्थमार्जमेव च ॥
दानं तीर्थं, दमस्तीर्थं, सन्तोषस्तीर्थमुच्यते ।
ब्रह्मचर्यं परं तीर्थं, तीर्थं च प्रियवादिता ॥
ज्ञानं तीर्थं, धृतिस्तीर्थं, तपस्तीर्थमुदाहृतम् ।
तीर्थानामपि तत्तीर्थं, विशुद्धिर्मनसः परा ॥

अर्थात्–सत्य, क्षमा, इन्द्रियदमन, जीवदया, सरलता, दान, दम, सन्तोष, ब्रह्मचर्य, प्रियवादिता, ज्ञान, धृति और तपस्या तीर्थ हैं। तथा सब तीर्थों में श्रेष्ठ तीर्थ है–मन की शुद्धि।

यहां मन की शुद्धि ही श्रेष्ठ तीर्थ माना गया है और मनः-शुद्धि का मूल कारण है–धर्म। इसलिए जैनदर्शन में धर्म को भी तीर्थ माना गया है।

धर्म मानव को दुर्गति से निकालकर सद्गति में पहुंचाता है। मानव के आधि, व्याधि और उपाधि रूप त्रिताप को उपशान्त करता है। तीर्थंकर अपने समय में ऐसे धर्मतीर्थ की स्थापना करते हैं, उसका उद्धार करते हैं अतः वे तीर्थंकर कहलाते हैं।

धर्म का आचरण करने वाले साधु, साध्वी, श्रावक (जैन गृहस्थ) और श्राविका (जैन महिला) रूप चतुर्विध संघ को भी धार्मिक गुणों की अपेक्षा से तीर्थ कहा जाता है। अत: इस चतुर्विध धर्म-संघ की स्थापना करने वाले महापुरुषों को भी तीर्थंकर कहा गया है।

तीर्थंकर अनन्त दर्शन, अनन्त ज्ञान, अनन्त सुख और अनन्त वीर्य के धारी होते हैं। ये साक्षात् भगवान् या ईश्वर होते हैं। जब तीर्थंकर माता के गर्भ में आते हैं तो इनकी माता को 14 शुभ स्वप्न दिखाई देते हैं। तीर्थंकरों के गर्भावतरण, जन्माभिषेक, जिन-दीक्षा, केवलज्ञान की प्राप्ति और निर्वाण-प्राप्ति, ये पांच कल्याणक होते हैं। ये जन्म से ही मति, श्रुत और अवधि इन तीन ज्ञानों के धारक होते हैं। जन्म से ही इनका शरीर कान्तिमान होता है। इनके नि:श्वास में अपूर्व सुगन्धि रहती है। इनके शरीर का रक्त और मांस सफेद होता है। इनकी वाणी को पशु भी समझ लेते हैं। जहां-जहां इनका विहार होता है, वहां-वहां रोग, वैर, महामारी, अतिवृष्टि, दुर्भिक्ष आदि संकट नहीं होने पाते। तीर्थंकर भगवान् के पधारने के साथ ही देश में सर्वत्र शान्ति छा जाती है।

तीर्थंकरों का जीवन बड़ा अद्भुत होता है। उनके समवसरण (धर्म सभा) में अहिंसा का अखण्ड साम्राज्य होता है। सिंह और मृग आदि परस्पर-विरोधी पशु भी प्रेम से एक साथ बैठते हैं। न सिंह में मारक-वृत्ति रहती है और न मृग में भयवृत्ति। अहिंसा के दिवाकर के सामने हिंसा-अंधकार का अस्तित्व भला कैसे रह सकता है? स्वर्ग-लोक के देवता भी उनके चरण-कमलों में श्रद्धाभक्ति के साथ नतमस्तक होते हैं। तीर्थंकर जहां विराजते हैं, आकाश में देवता दुन्दुभी बजाते हैं और गन्धोदक की वर्षा करते हैं।

तीर्थंकर का जीवन तेजस्वी और प्रतापी जीवन होता है। ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, मोहनीय, अन्तराय इन चार घातिक कर्मों को क्षय करने के अनन्तर ये केवलज्ञान की प्राप्ति करते हैं। केवलज्ञान और केवलदर्शन के द्वारा तीन लोक और तीन काल की सब बातें जानते हैं, देखते हैं। संसार का कोई भी तत्त्व इन के ज्ञान से अछूता नहीं रहता। तदनन्तर ये अपना शेष समस्त जीवन संसार क प्राणियों का उद्धार करने में व्यतीत करते हैं। कुप्रथाएं, कुरूढ़ियां, अन्याय और अनीति को हटाकर सत्य, अहिंसा पूर्ण वातावरण तैयार करते हैं, संसार को ज्ञान की दिव्य ज्योति से ज्योतित करते हैं। जब तीर्थंकर भगवान् की आयु थोड़ी शेष रह जाती है, तब योगों का निरोध करके बाकी बचे, वेदनीय, नाम, गोत्र और आयुष इन चार अघातिक कर्मों को भी नष्ट कर देते हैं। जब सभी कर्म नष्ट हो जाते हैं, तब इनको मुक्ति की प्राप्ति होती है। इनका शरीर यहीं छूट जाता है और ज्ञानादि निज गुणों से युक्त केवल शुद्ध आत्मा

स्वाभाविक ऊर्ध्वगमन के द्वारा लोक के ऊपर अग्रभाग में जा विराजमान होती है। उस समय ये सिद्ध; परमात्मा बन जाते हैं।

प्रश्न—तीर्थंकरों के जीवन में जो बातें बतलाई गई हैं, वे कुछ असम्भव-सी प्रतीत होती हैं। कैसे माना जाये कि ये सब सत्य हैं?

उत्तर—सामान्यत: ये बातें असम्भव अवश्य प्रतीत होती हैं; परन्तु आध्यात्मिक योग के सामने कुछ भी असंभव नहीं है। आजकल भौतिक विद्या के चमत्कार ही कुछ कम आश्चर्य-जनक नहीं हैं तब आध्यात्मिक विद्या के चमत्कारों का तो कहना ही क्या है? आज के साधारण योगी भी कभी-कभी अपने चमत्कारों से मानव-बुद्धि को हतप्रभ कर देते हैं, तो फिर तीर्थंकर तो योगिराज हैं। उनके आध्यात्मिक वैभव की तुलना तो किसी से की ही नहीं जा सकती। अत: तीर्थंकरों के जीवन में जो बातें बताई जाती हैं, वे सर्वथा सत्य हैं, उनमें असत्यता जैसी कोई चीज नहीं है।

दूसरी बात, आज का मनुष्य कूपमण्डूक है, उसे समुद्र की गहराई, लम्बाई तथा चौड़ाई का आभास नहीं है। वासना और कामना का दास मनुष्य अध्यात्मयोग की उच्चता के चमत्कारों का कैसे अनुमान लगा सकता है? अभी की बात है, विमानों को एक कल्पना मात्र समझा जाता था, किन्तु जब विज्ञान ने अंगड़ाई ली और उन्नति ने चरण आगे बढ़ाये तो यह सब सहज संभव हो गया। भला चन्द्रलोक जाने का किसी को कभी स्वप्न भी आया था। पर आज उसके लिए सक्रिय कदम उठाये जा रहे हैं। अत: इस समय जो समझ में नहीं आ रहा है, बुद्धि जिसको इस समय स्वीकार नहीं करती, वह सब असम्भव है, ऐसा नहीं समझ लेना चाहिए। भविष्य के गर्भ में बहुत कुछ छुपा पड़ा है, जो योग्य साधन मिलने पर संभव हो सकता है। न्यूटन ने ठीक ही कहा था कि मैं तो अभी ज्ञान-सागर के किनारे खड़ा हूं, अभी तो मेरे हाथ सिप्पियां ही लगी हैं। मोती तो मैंने चुनने हैं। भाव यह है कि मनुष्य का ज्ञान अभी अधूरा है, और पूर्णता प्राप्त किये बिना किसी तथ्य को असम्भव नहीं कह देना चाहिए।

प्रश्न—क्या तीर्थंकर ईश्वरीय अवतार होते हैं?

उत्तर—जैनदर्शन अवतारवादी दर्शन नहीं है। भगवान् अवतार लेता है, और वह यथा-समय त्रस्त संसार पर दया लाकर बैकुण्ठ धाम से संसार में चला आता है, किसी के यहां जन्म लेता है और अपनी लीला दिखाकर वापिस बैकुण्ठधाम में लौट जाता है। ऐसी मान्यता जैनदर्शन की नहीं है। अत: तीर्थंकर परमात्मा का अवतार रूप नहीं होते। बल्कि

संसारी जीवों में से ही कोई जीव आध्यात्मिक उन्नति एवं प्रगति करता हुआ इतना ऊंचा उठ जाता है कि अन्त में एक दिन वह तीर्थंकर पद पा लेता है। अत: तीर्थंकर को ईश्वर का अवतार नहीं समझना चाहिए।

प्रश्न–तीर्थंकर में और अवतारों में क्या अन्तर है?

उत्तर–ब्रह्मा, विष्णु, महेश आदि देव कारणवश जो विविध रूप धारण करते हैं, वैदिक परम्परा में वे अवतार कहलाते हैं। जैसे ब्रह्मा ने चन्द्रमा का, विष्णु ने राम, कृष्ण का, और महादेव ने दुर्वासा ऋषि का अवतार लिया था। परन्तु जैन तीर्थंकर किसी देव विशेष के अवतार नहीं होते। जो भी जीव पवित्र अहिंसा, संयम, तपस्या द्वारा तीर्थंकर बनने के योग्य बन जाते हैं, वे मनुष्य रूप से पैदा होकर युवावस्था में जैन दीक्षा लेते हैं, साधु बनते हैं, अखण्ड धर्म-साधना द्वारा केवलज्ञानी बनकर साधु, साध्वी, श्रावक और श्राविका रूप चतुर्विध संघ की स्थापना करने के अनन्तर तीर्थंकर कहलाते हैं। अहिंसा, संयम और तप के अध्यात्म उपदेश द्वारा संसारी लोगों को तार कर मोक्ष चले जाते हैं। फिर कभी अवतार नहीं लेते। अत: अवतारों में और तीर्थंकरों में बहुत अन्तर है।

प्रश्न–तीर्थंकर कब होते हैं?

उत्तर–जैनदर्शन ने उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी के नाम से काल के दो विभाग किये हैं। उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी का कालमान असंख्य वर्ष का होता है। असंख्य का अर्थ है–जिसकी अंकों द्वारा गणना न की जा सके। उत्सर्पिणी काल में रूप, रस, गन्ध, स्पर्श, आयुष्य, शरीर और बल आदि वैभव क्रमश: बढ़ता चला जाता है, जब कि अवसर्पिणी काल में उक्त सब घटते चले जाते हैं। सर्प की पूंछ से उसके मुख की ओर आएं तो सर्प की मोटाई बढ़ती जाती है और मुख से पूंछ की ओर आएं तो वह घटती चली जाती है। यही दशा उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी की होती है। उत्सर्पिणी काल में पदार्थों के रूप, रस आदि धीरे-धीरे बढ़ते जाते हैं और अवसर्पिणी काल में वही धीरे-धीरे घटने आरम्भ हो जाते हैं।

उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी दोनों के 6-6 विभाग होते हैं। इनमें प्रत्येक विभाग को आरक कहा जाता है। उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी के कालचक्र की एक पहिए के रूप में कल्पना करें, तो इन विभागों को 12 आरे कह सकते हैं। एक काल के 6 आरे पूर्ण होने पर दूसरे काल के 6 आरों का क्रमश: आरम्भ होता है। इस समय भारतवर्ष आदि क्षेत्रों में

अवसर्पिणी काल का पांचवां आरा चल रहा है। वैदिक परम्परा में इस आरे को कलियुग कहते हैं।

तीर्थंकर भगवान् प्रत्येक काल-चक्र के तीसरे और चौथे आरे में होते हैं। उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी का जब तीसरा आरा चालू होता है, तब भारतवर्ष आदि क्षेत्रों में तीर्थंकर होने आरम्भ हो जाते हैं और जब इन का चौथा आरा समाप्ति पर होता है, तब उक्त क्षेत्रों में तीर्थंकरों का भी अभाव हो जाता है। वैसे पांच महाविदेह[1] क्षेत्रों में 20 तीर्थंकर सदा विद्यमान रहते हैं, जिन्हें जैन जगत में 20 विहरमान कहा जाता है।

इसके अतिरिक्त प्रकृति का यह अटल नियम है कि जब अत्याचार अपनी चरम सीमा पर पहुंच जाता है, अधर्म धर्म का बाना पहन कर जनता को बन्धन में बांध लेता है, सर्वत्र अधार्मिकता तथा पापाचार का भीषण दानव अपना साम्राज्य स्थापित कर लेता है, तब कोई न कोई महापुरुष समाज, राष्ट्र तथा विश्व का उद्धार करने के लिए जन्म लेता है। जन्म लेकर समाज राष्ट्र की तात्कालिक दूषित स्थितियों का सुधार करता है, तात्कालिक धार्मिक तथा सामाजिक भ्रांत रूढ़ियों को समाप्त करके मानव-जगत की दलित मानवता को जीवन-दान देता है। अहिंसा, संयम और तप की त्रिवेणी को जन-गण में प्रवाहित करता है। जैनदर्शन की दृष्टि में वह महापुरुष तीर्थंकर का ही जीता-जागत स्वरूप होता है। जैनदर्शन और वैदिक दर्शन में यही अन्तर है कि जैन दर्शन उसे ईश्वर का अवतार नहीं कहता है, और उसे शुद्धि की चरम दशा को प्राप्त एक मनुष्य मानता है, किन्तु वैदिक दर्शन उसे ईश्वरीय अवतार स्वीकार करता है। हां, तो इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि तीर्थंकर उस समय हुआ करते हैं, जब समाज और राष्ट्र में अधर्म बढ़ जाता है, और धर्म की अत्यधिक न्यूनता हो जाती है, तथा पापाचार का दैत्य सर्वत्र कोहराम मचा देता है।

प्रश्न—उत्सर्पिणी या अवसर्पिणी काल-चक्र के तीसरे और चौथे आरे में जो तीर्थंकर होते हैं, उन सब में एक ही आत्मा होती है या वे सब पृथक्-पृथक् होते हैं? और उनकी संख्या कितनी है?

उत्तर—प्रत्येक काल-चक्र में जो तीर्थंकर होते हैं, वे सब पृथक्-पृथक् होते हैं और सब की आत्मा भी पृथक्-पृथक् होती है। जैन दर्शन ब्रह्मवादियों की तरह विश्व में एक ही

---

1. जम्बू-द्वीप में एक महाविदेह, धातकी-खण्ड और अर्ध-पुष्कर द्वीप में दो-दो महाविदेह क्षेत्र हैं। इस प्रकार सब मिलाकर पांच महाविदेह क्षेत्र हैं। इन पांचों में तीर्थंकर सदा विराजमान रहते हैं। जम्बूद्वीप आदि भूखण्डों का विवरण प्रस्तुत पुस्तक के 'लोकस्वरूप' अध्याय में दिया गया है। पाठक उसे देखने का कष्ट करें।

आत्मा नहीं मानता है। जैन-दृष्टि से आत्माएं अनन्त हैं, और उनमें से जो आत्मा तीर्थंकर-पद-योग्य साधन-सामग्री जुटाती है, तीर्थंकरत्व की भूमिका तैयार कर लेती है, वही आत्मा तीर्थंकर बन पाती है। प्रत्येक कालचक्र में भारतवर्ष में 24 तीर्थंकर होते हैं, इस से कम ज्यादा नहीं।

प्रश्न—प्रत्येक कालचक्र में 24 ही तीर्थंकर क्यों होते हैं? 23 या 25 क्यों नहीं होने पाते?

उत्तर—क्षेत्रविशेष को लेकर प्रत्येक कालचक्र में 24 ही तीर्थंकर होते हैं, 23 या 25 नहीं हो सकते, ऐसा किसी शक्ति-विशेष की ओर से कोई प्रतिबन्ध नहीं लगा हुआ है। वस्तुस्थिति यह है कि केवल-ज्ञानियों ने अपने ज्ञान में देखा कि अतीत के प्रत्येक कालचक्र में 24 तीर्थंकर हुए हैं और भविष्य में भी 24 होंगे, इसलिए उन्होंने कह दिया कि प्रत्येक कालचक्र में 24 तीर्थंकर होते हैं। यदि उनके ज्ञान में तीर्थंकर कम-ज्यादा होते तो वे कम-ज्यादा कह देते। परन्तु कम-ज्यादा तीर्थंकर उन्होंने अपने ज्ञान में नहीं देखे, इसलिए उन्होंने कम-ज्यादा न बताकर 24 ही तीर्थंकर बतालाये हैं।

तीर्थंकर 24 ही होते हैं, कम-ज्यादा नहीं, यह प्राकृतिक नियम है। प्रकृति के नियम या स्वभाव में मनुष्य का कोई दखल नहीं हो सकता। वह तो अपने ढंग से पूर्ण होकर ही रहता है। यदि कोई कहे कि आग उष्ण क्यों होती है? तो आप इसका क्या उत्तर देंगे? यही न कि यह उसका स्वभाव है? धुआं ऊपर की ओर ही क्यों जाता है? नीचे की ओर क्यों नही जाता? इसका समाधान भी यही करना होगा कि यह उसका स्वभाव है। ऐसे ही प्रकृति-स्वभाव के अनुसार अतीत कालचक्र में 24 तीर्थंकर हुए हैं और अनागत कालचक्र में भी 24 तीर्थंकर होंगे। इसीलिए कहा गया है कि प्रत्येक कालचक्र में तीर्थंकर 24 होते हैं।

प्रश्न—वर्तमान अवसर्पिणी काल के 24 तीर्थंकर कौन-कौन से हैं? उनके नाम बतायें।

उत्तर—24 तीर्थंकरों के शुभ नाम निम्नोक्त हैं—

1. श्री ऋषभदेव जी (आदिनाथ जी)
2. श्री अजितनाथ जी
3. श्री संभवनाथ जी
4. श्री अभिनन्दननाथ जी
5. श्री सुमतिनाथ जी
6. श्री पद्मप्रभ जी
7. श्री सुपार्श्वनाथ जी
8. श्री चन्द्रप्रभ जी

9. श्री सुविधिनाथ जी	10. श्री शीतलनाथ जी
11. श्री श्रेयांसनाथ जी	12. श्री वासुपूज्य जी
13. श्री विमलनाथ जी	14. श्री अनन्तनाथ जी
15. श्री धर्मनाथ जी	16. श्री शान्तिनाथ जी
17. श्री कुन्थुनाथ जी	18. श्री अरहनाथ जी
19. श्री मल्लीनाथ जी	20. श्री मुनिसुव्रत जी
21. श्री नमिनाथ जी	22. श्री अरिष्टनेमि जी
23. श्री पार्श्वनाथ जी	24. श्री महावीर स्वामी जी

प्रश्न—24 तीर्थंकरों का कालकृत कितना-कितना अन्तर है?

उत्तर—इस समय अवसर्पिणी काल चल रहा है। इससे पहले उत्सर्पिणी काल होता है। उत्सर्पिणी काल की चौबीसी के अन्तिम 24वें तीर्थंकर के निर्वाण के पश्चात् अठारह[1] कोड़ाकोड़ी[2] सागरोपम[3] व्यतीत हो जाने पर भगवान् आदिनाथ का जन्म हुआ था। इनकी आयु 84 लाख[4] पूर्व की थी। इनसे 50 लाख करोड़ सागरोपम के अनन्तर भगवान् अजितनाथ का जन्म हुआ। इनकी आयु 72 लाख पूर्व की थी। इनसे 30 लाख करोड़ सागरोपम के पश्चात् श्री संभवनाथ जी हुए। इनकी आयु 60 लाख पूर्व की थी। तत्पश्चात् 10 लाख करोड़ सागरोपम के व्यतीत हो जाने पर श्री अभिनन्दननाथ जी का जन्म हुआ। इनकी आयु 50 लाख पूर्व की थी। तदनन्तर 9 लाख करोड़ सागरोपम बीत जाने पर श्री सुमतिनाथ जी का जन्म हुआ। इनकी आयु 40 लाख पूर्व की थी। फिर 90 हजार करोड़ सागरोपम के पश्चात् श्री पद्मप्रभ

---

1. पहला आरा 4 कोड़ाकोड़ी सागरोपम का, दूसरा 3 कोड़ाकोड़ी सागरोपम का और तीसरा आरा 2 कोड़ाकोड़ी सागरोपम का, इस प्रकार 9 कोड़ाकोड़ी सागरोपम उत्सर्पिणी काल का, और 9 कोड़ाकोड़ी सागरोपम अवसर्पिणी काल का, इनको मिलाकर, छहों आरों के 18 कोड़ाकोड़ी सागरोपम काल तक तीर्थंकर के उत्पन्न होने का उत्कृष्ट अन्तर होता है।
2. करोड़ की संख्या को करोड़ की संख्या से गुणा करने पर जो गुणनफल आवे उसे कोड़ाकोड़ी (कोटाकोटि) कहते हैं।
3. सागरोपम शब्द की व्याख्या प्रस्तुत पुस्तक के इसी अध्याय में आगे दी जा रही है।
4. 70 लाख, 56 हजार वर्ष को एक करोड़ से गुणा करने पर 70560000000000 वर्षों का एक पूर्व माना जाता है।

जी हुए। इनकी आयु 30 लाख पूर्व की थी। इनके बाद 9 हजार करोड़ सागरोपम बीत जाने पर श्री सुपार्श्वनाथ जी हुए। इनकी आयु 20 लाख पूर्व की थी। इनके अनन्तर 900 करोड़ सागरोपम व्यतीत हो जाने पर श्री चन्द्रप्रभ जी हुए। इनकी आयु 10 लाख पूर्व की थी। इनके पश्चात् 90 करोड़ सागरोपम बीत जाने पर श्री सुविधिनाथ जी हुए। इनकी आयु दो लाख पूर्व की थी। इनके पश्चात् 9 करोड़ सागरोपम व्यतीत हो जाने पर श्री शीतलनाथ जी हुए। इनकी आयु एक लाख पूर्व की थी। इनके पश्चात् एक अरब, छयासठ लाख, 26 हजार वर्ष कम एक करोड़ सागरोपम बीत जाने पर श्री श्रेयांसनाथ जी पैदा हुए। इनकी आयु 84 लाख वर्ष की थी। फिर 64 सागरोपम के बाद श्री वासुपूज्य जी हुए। इन की आयु 72 लाख वर्ष की थी। इनके पश्चात् 30 सागरोपम के व्यतीत हो जाने पर श्री विमलनाथ जी हुए। इनकी आयु 60 लाख वर्ष की थी। इनके अनन्तर नौ सागरोपम बीत जाने पर श्री अनन्तनाथ जी हुए। इनकी आयु 30 लाख वर्ष की थी। इनके पश्चात् चार सागरोपम बीत जाने पर श्री धर्मनाथ जी हुए। इनकी आयु 10 लाख वर्ष की थी। फिर पौन पल्य कम तीन सागर बीत जाने पर श्री शान्तिनाथ जी हुए। इनकी आयु एक लाख वर्ष की थी। फिर आधा पल्योपम बीत जाने पर श्री कुन्थुनाथ जी हुए। इनकी आयु 95 हजार वर्ष की थी। फिर एक करोड़ और एक हजार वर्ष कम पाव पल्योपम बीत जाने पर श्री अरहनाथ जी का जन्म हुआ। इनकी आयु 84 हजार वर्ष की थी। फिर एक करोड़ और एक हजार वर्ष बीत जाने पर श्री मल्लीनाथ जी का जन्म हुआ। इनकी आयु 55 हजार वर्ष की थी। फिर 54 लाख वर्ष बीत जाने पर श्री मुनिसुव्रत जी हुए। इनकी आयु 30 हजार वर्ष की थी। फिर 6 लाख वर्षों के बाद श्री नमिनाथ जी हुए। इनकी आयु 10 हजार वर्ष की थी। फिर 5 लाख वर्षों के बाद श्री अरिष्टनेमि जी हुए। इनकी आयु एक हजार वर्ष की थी। फिर 84 हजार वर्ष बीत जाने पर श्री पार्श्वनाथ जी हुए। इनकी आयु सौ वर्ष की थी। तत्पश्चात् 250 वर्षो के बाद श्री महावीर स्वामी हुए। इनकी आयु 72 वर्ष की थी।

प्रश्न—कौन तीर्थंकर कहां उत्पन्न हुआ? तीर्थंकरों के जीवन सम्बन्धी कुछ जानकारी करायें।

उत्तर—प्राचीन धर्म-ग्रन्थों में चौबीस ही तीर्थंकरों के जीवन-चरित्रों का बड़े विस्तार के साथ वर्णन किया गया है। परन्तु यहां विस्तार में न जाकर संक्षेप में ही केवल जानकारी के लिए क्रमश: चौबीस तीर्थंकरों का जीवन-परिचय कराया जायेगा।

1. भगवान् ऋषभदेव जी–

वर्तमान काल को अवसर्पिणी काल कहते हैं। उसके 6 आरे होते हैं, पहले और दूसरे आरे में न कोई धर्म होता है, न कोई राजा और न कोई समाज। एक परिवार में पति और पत्नी ये दो प्राणी होते हैं। कल्प-वृक्षों से जीवनोपयोगी आवश्यक पदार्थ प्राप्त हो जाते हैं, उन्हीं से वे प्रसन्न रहते हैं। मृत्यु से पूर्व वे एक पुत्र और एक पुत्री को जन्म देते हैं। दोनों बालक अपना-अपना अंगूठा चूस कर बड़े होते हैं, और बड़े होने पर पति-पत्नी के रूप में रहने लगते हैं। तीसरे आरे का बहुत भाग बीतने तक यही क्रम चलता रहता है। इस काल को भोगभूमि काल कहते हैं। कारण इतना ही है कि उस समय के लोगों का जीवन भोगप्रधान होता है। उन्हें अपने निर्वाह के लिए कुछ भी उद्योग नहीं करना पड़ता। कल्पवृक्ष ही उनकी समस्त कामनाएं पूर्ण कर देते हैं।

आगे चलकर समय ने करवट ली। कल्पवृक्षों की शक्ति क्षीण होने लगी। आवश्यकता की पूर्ति के लिए जितना सामान चाहिए था, कल्पवृक्षों से उतना मिलना बन्द हो गया। आवश्यक वस्तुओं की न्यूनता हो जाने से पारस्परिक संघर्ष का होना स्वाभाविक था। परिणामस्वरूप लोगों में परस्पर में मन-मुटाव चलने लगा। इस मन-मुटाव को दूर करने के लिए, तथा लोगों के रहन-सहन की व्यवस्था कायम करने के लिए समय-समय पर कुछ लोग नेताओं के रूप में आने लगे। जैन दर्शन उन नेताओं को कुलकर के नाम से पुकारता है। कुलकरों ने तात्कालिक परिस्थितियों को शान्त करने का पूरा-पूरा यत्न किया। सर्वत्र शान्ति स्थापित करने के लिए वृक्षों की सीमा निर्धारित कर दी गई। जब सीमा पर भी विवाद होने लगा तब सीमा के स्थान को सुनिश्चित करने के लिए चिन्ह बना दिये गये। इस तरह कुलकर तात्कालिक स्थितियों पर काबू पा लेते थे।

उस समय पशुओं से काम लेना कोई नहीं जानता था, किन्तु आगे चलकर सर्वप्रथम घोड़े पर चढ़ने आदि की कला सिखाई जाने लगी। पहले माता-पिता सन्तान को जन्म देकर मर जाते थे, किन्तु आगे चलकर प्रकृति के इस नियम में अन्तर आ गया, और माता-पिता अपने बाल-बच्चों का पालन-पोषण करने लगे। पहले नदियों को पार करना किसी को नहीं आता था, आगे चलकर इस कमी को भी दूर किया गया। नाव, पुल आदि द्वारा लोगों को नदी पार करने की कला सिखाई गई।

पहले कोई अपराध नहीं करता था, अत: उस समय दण्ड-व्यवस्था की भी

आवश्यकता नहीं थी। किन्तु जब अपराध होने लगे तो दण्ड-व्यवस्था की आवश्यकता भी अनुभव की जाने लगी। पहले तो कल्पवृक्षों से समस्त इच्छित-पदार्थ प्राप्त हो जाते थे, और किसी से किसी प्रकार का कोई विवाद नहीं होता था, सब लोग सप्रेम और सानन्द रहते थे, किन्तु जब कल्पवृक्ष फल कम देने लगे और मनुष्य एक-दूसरे से टकराने लगे तो दण्ड की व्यवस्था करके उस टकराव को शान्त किया जाने लगा। सर्वप्रथम 'हा' कह देना ही अपराधी के लिए काफी था। इसी शब्द से वह वज्राहत की भांति अपने को दण्डित समझता था। बाद में जब इतने दण्ड से काम चलना बन्द हो गया तो "हा, अब ऐसा काम मत करना" यह दण्ड निर्धारित करना पड़ा, किन्तु आगे चलकर जब इतने से भी काम नहीं चला तो 'धिक्कार' पद और जोड़ा गया। इस तरह कुलकरों ने मनुष्यों की तात्कालिक कठिनाइयों को दूर करके सामाजिक व्यवस्था का सूत्रपात किया।

सामाजिक व्यवस्था को कायम करने वाले कुलकर 15 माने जाते हैं। पन्द्रहवें कुलकर का नाम श्री नाभिराय था। इनकी पत्नी का नाम मरुदेवी था। इनसे ऋषभदेव का जन्म हुआ। यही ऋषभदेव इस युग में जैनधर्म के आद्यप्रर्वतक कहलाए। इनके समय में ही ग्राम, नगर आदि की व्यवस्था हुई। गांव कैसे बसाने, नगरों का निर्माण कैसे करना, गर्मी और सर्दी से बचने के लिए घर कैसे बनाने, आदि सभी जीवनोपयोगी कार्य जनता को इन्होंने सिखलाए थे। इन्होंने लौकिक शास्त्र, और व्यवहार की शिक्षा दी। इन्होंने ही अहिंसा धर्म की स्थापना की। इसलिए इन को आदि ब्रह्मा भी कहा जाता है।

भगवान् ऋषभदेव ने जनता को सभी आवश्यक बातों का बोध कराया। इन्होंने प्रजा को कृषि (खेती करने की विद्या), असि (युद्धकला), मसि (लिखने आदि की विद्या), शिल्प, वाणिज्य और विद्या (अध्ययन तथा अध्यापन) इन 6 कर्मों द्वारा आजीविका करना सिखलाया। इसलिए इन्हें प्रजापति भी कहा जाता है। इन्होंने सामाजिक व्यवस्था को चलाने के लिए मानवजाति को तीन भागों में विभक्त किया--क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र। जो लोग अधिक शूरवीर थे, शस्त्र चलाने में कुशल थे, संकट काल में प्रजा की रक्षा कर सकते थे, अपराधियों को दण्ड देकर राष्ट्र की व्यवस्था कर सकते थे, उन्हें क्षत्रिय पद दिया गया। जो व्यापार में, व्यवसाय में, कृषि--खेती-बाड़ी करने-कराने में और पशु-पालन आदि में निपुण थे, वे वैश्य कहलाए। तथा जिन्होंने सेवावृत्ति स्वीकार की, उन्हें शूद्र की संज्ञा दी गई। ब्राह्मण वर्ग या वर्ण की स्थापना भगवान् के सुपुत्र महाराजा भरत ने अपने चक्रवर्ती काल में की थी। जो अपना जीवन ज्ञानाभ्यास में लगाते थे, प्रजा को शिक्षा दे सकते थ, समय-समय पर उसे सन्मार्ग पर

चलने का उपदेश देते थे, उस वर्ग को ब्राह्मण पद अर्पित किया गया था। भगवान् ऋषभदेव ने वर्णों की स्थापना में कर्म की महत्ता को स्थान दिया था। जन्मगत जाति का उस समय कोई आदर या महत्त्व नहीं था। आगे चलकर वैदिक धर्म का जब महत्त्व बढ़ा तो कर्मणा वर्ण के स्थान पर जन्मना वर्ण के सिद्धान्त को प्रतिष्ठा मिल गई। आज के ये ऊंच-नीच के भेद-भाव उसी वैदिक युग की देन हैं।

भगवान् ऋषभदेव की दो पत्नियां थीं—सुमंगला और सुनंदा। इनसे इनके सौ पुत्र और ब्राह्मी, सुन्दरी ये दो पुत्रियां पैदा हुईं। बड़े पुत्र का नाम भरत था, और इनसे छोटे का नाम बाहुबली था। भरत सुमंगला के और बाहुबली सुनंदा के पुत्र थे। भरत परम प्रतापी राजा हुए हैं। ये बड़े ही प्रतिभाशाली और सुयोग्य शासक थे। यही भरत इस युग में भारतवर्ष के प्रथम चक्रवर्ती बने थे। बाहुबली भी अपने युग में माने हुए शूरवीर और योद्धा थे। इनका शारीरिक बल उस समय अद्वितीय समझा जाता था। ये बड़ी ही स्वतंत्र प्रकृति के व्यक्ति थे। चक्रवर्ती भरत ने इन्हें अपने अधीन रखना चाहा था। पर इन्होंने निर्भयतापूर्वक उनके अधीन रहने से इन्कार कर दिया। ये भरत का बड़े भाई के रूप में तो आदर करते थे, किन्तु शासक के रूप में उन्हें मानना इनके लिए असह्य था। अन्त में दोनों का युद्ध होता है। युद्ध में भरत को नीचा देखना पड़ा था। किन्तु "राज्य के निस्सार लोभ में आकर भाई, भाई का हत्यारा बनने को भी तैयार हो जाता है, ऐसा राज्य रखकर मुझे क्या करना है?" इस सद्-विचारणा से बाहुबली को वैराग्य हो जाता है, और वे जैन-मुनि बनकर आत्म-कल्याण करते हैं।

ब्राह्मी और सुन्दरी बहुत ही बुद्धिमती और चतुर कन्याएं थीं, भगवान् ऋषभदेव ने अपनी दोनों पुत्रियों को बहुत ऊंचा शिक्षण दिया था। ब्राह्मी ने लिपि अर्थात् अक्षरज्ञान, व्याकरण, छन्द, न्याय, काव्य और अलंकार ज्ञान में विशेष पाण्डित्य प्राप्त किया था, और सुन्दरी ने गणित विद्या में असाधारण सफलता प्राप्त की थी। भगवान् के यहां पुत्र और पुत्रियों में किंचित् भेद-भाव नहीं था। वे दोनों पर एक जैसा प्रेम रखते थे। दोनों की शिक्षा-दीक्षा का उन्होंने पूरा-पूरा प्रबन्ध किया था। वे नर और नारी दोनों की उन्नति का ध्यान रखते थे। उन्होंने स्त्रियों को 64 कलाएं और पुरुषों को 72 कलाएं सिखलाईं।

भगवान् ऋषभदेव ने जब देखा कि भरत, बाहुबली अब योग्य हो गए हैं और प्रजा के शासन-भार को अच्छी तरह उठा सकते हैं। तब उन्होंने राजपाट को छोड़कर साधु-जीवन अंगीकार किया। साधु बन जाने के पश्चात् भगवान् एकान्त, शून्य वनों में ध्यान लगाकर खड़े रहते थे। किसी से कुछ बोलते नहीं थे। सर्वदा मौन रहते थे। भगवान् के साथ चार हजार अन्य

राजाओं ने भी साधु-जीवन अंगीकार किया था। ये लोग किसी वैराग्य भाव से प्रेरित होकर तो घर से निकले नहीं थे, इन्हें तो भगवान् का प्रेम खींच लाया था। अत: मुनि-जीवन में इन्हें कोई आध्यात्मिक आनन्द नहीं मिल सका। भूख, प्यास के कारण ये घबरा उठे। भगवान् तो मौन रहते थे, अत: उनसे कुछ कह-सुन नहीं पाते थे। अन्त में, निराश होकर मुनिवृत्ति छोड़कर जंगलों में कुटिया बनाकर रहने लगे। वन-फलों का भोजन करके जीवन का निर्वाह करने लगे। भारतवर्ष के विभिन्न धर्मों का इतिहास यहीं से आरम्भ होता है। भगवान् ऋषभदेव के समय में ही 363 मत स्थापित हो चुके थे। इन मतों के संस्थापक वही व्यक्ति थे, जो भगवान् के साथ देखा-दुखी मुनि बने थे, किन्तु भूख-प्यास तथा संयम-जीवन में आने वाले अन्य कष्टों को सहन न कर सकने के कारण मुनिवृत्ति छोड़कर जंगलों में कुटिया बनाकर, और वन-फलों द्वारा अपने जीवन का निर्वाह करने लग गए थे।

धर्म के मुख्यतया दो अंग हैं—तत्त्व-ज्ञान और आचरण। जब मनुष्य की ज्ञान-शक्ति दुर्बल हो जाती है, तब तत्त्व-ज्ञान में उलट-फेर किया जाता है। और इसके फलस्वरूप जड़, चेतन, पुण्य, पाप आदि के सम्बन्ध में एक दूसरे से टकराती हुई विभिन्न विचारधाराएं बह निकलती हैं। और जब आचरण शक्ति कमजोर पड़ जाती है तब आचार सम्बन्धी नियमों में भोग-बुद्धि के प्राधान्य से अन्तर डाल दिया जाता है तथा झूठे तर्कों की आड़ में अपनी दुर्बलताओं का संरक्षण किया जाता है। धार्मिक मतभेदों में प्राय: यही दो बातें मुख्य कारण बना करती हैं। भगवान् ऋषभदेव के युग में जो 363 मत स्थापित हुए, इनके भी यही दो मुख्य कारण थे।

उस समय की जनता साधुओं को साधु-योग्य आहार देना नहीं जानती थी। अत: भगवान् को मुनिवृत्ति के अनुसार निर्दोष भिक्षा न मिल सकी। बहुत-से लोग भगवान् की सेवा में हाथी, घोड़े लेकर आते थे, बहुत-से रत्नों के थाल ही भरकर भगवान् को भेंट देने आते थे। पर यह सब कुछ तो भगवान् स्वयं त्याग कर आए थे। एक बार, भगवान् हस्तिनापुर पहुंचे। वहां के राजकुमार[1] श्रेयांस ने अपने पूर्वजन्म-सम्बन्धी जाति-स्मरण ज्ञान से जानकर भगवान्

---

1. राजकुमार श्रेयांस भगवान् के पुत्र बाहुबली का पौत्र था। कुमार अपने सत-मंजिले महल की खिड़की में बैठा था। उसने राजपथ पर भगवान् को देखा। देखते ही उसे जाति-स्मरणज्ञान हो गया। जाति-स्मरण मतिज्ञान का एक भेद है, इससे पिछले जन्मों का बोध प्राप्त हो जाता है। श्रेयांस ने इससे पिछले आठ भव जान लिए थे। इसी ज्ञान के प्रभाव से इसे दान-विधि का भी ज्ञान प्राप्त हो गया था। इसीलिए उसने मुनि-योग्य शुद्ध निर्दोष आहार भगवान् को बहराया।

को निर्दोष आहार, ईख का रस बहराया। वह संसार त्यागी मुनियों को आहार देने का पहला दिन था। वैशाख शुक्ला[1] तृतीया अक्षय-तृतीया के रूप से यह दिन आज भी उत्सव के रूप में मनाया जाता है।

भगवान् ऋषभदेव महान तपस्वी थे। तपस्या की चरम दशा ने इनके जीवन में साकार रूप धारण कर लिया था। इस तरह तप करते हुए भगवान् ऋषभदेव जब आध्यात्मिकता की उच्चकोटि की अवस्था को प्राप्त हुए तब उन्होंने ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय आदि चार घातिक कर्म क्षय करके वटवृक्ष के नीचे केवलज्ञान को उपलब्ध किया। भगवान् ने केवलज्ञान पाकर जनता को धर्मोपदेश दिया। साधु, साध्वी, श्रावक और श्राविका रूप चतुर्विध संघ की स्थापना की। भगवान् के पहले गणधर भरत महाराज के सुपुत्र श्री ऋषभसेन जी थे और सब से पहली आर्यकाएं प्रभु की अपनी दोनों पुत्रियां ब्राह्मी और सुन्दरी हुईं।

भगवान् ऋषभदेव का जन्म युगलियों के युग में चैत्र कृष्णा अष्टमी को हुआ था। उस समय मनुष्य वृक्षों के नीचे रहते थे और वनफल खाकर जीवन बिताया करते थे, पिता का नाम नाभि राजा और माता का नाम मरुदेवी था। उनकी राजधानी अयोध्या नगरी थी तथा भरत आदि 100 पुत्र थे। आपने युवावस्था में आर्य सभ्यता की नींव डाली। पुरुषों को बहत्तर और स्त्रियों को चौंसठ कलाएं सिखाई थीं। आपने युगलिया[2] धर्म समाप्त करके दो राजकुमारियों के साथ विवाह किया और विवाह पद्धति का प्रादुर्भाव किया। 83 लाख पूर्व राज्य करके आपने भरत को राज्य देकर चैत्र कृष्णा अष्टमी को मुनि-दीक्षा ली। एक हजार वर्ष तक घोर तपस्या करके चार कर्मों को खपा कर फाल्गुन कृष्णा एकादशी को केवलज्ञान (ब्रह्मज्ञान) पाया और साधु, साध्वी आदि चतुर्विध तीर्थ की स्थापना करके तीर्थंकर कहलाए। एक लाख पूर्व तक विश्व को अहिंसा, संयम और तप का सदुपदेश देकर अन्त में कैलाश पर्वत पर माघ कृष्णा त्रयोदशी को शेष चार कर्मों का नाश करके निर्वाण–मोक्ष को प्राप्त हुए। आपके साथ दस हजार अन्य साधु भी मुक्त हुए थे।

भगवान् ऋषभदेव का जीवन त्रिलोकपूज्य जीवन है। सर्वत्र इनका सादर स्मरण किया जाता है। ऋग्वेद, विष्णु-पुराण, अग्नि-पुराण एवं भागवत आदि वैदिक साहित्य में भी

---

1. "अक्षयतृतीया" का समस्त विवरण प्रस्तुत पुस्तक के "जैनपर्व" नामक अध्याय में दिया गया है। पाठक उसे देखें।
2. बहिन-भाई का एक साथ पैदा होना और बड़े होकर उन दोनों का पति-पत्नी के रूप में परिवर्तित हो जाने का नाम युगल-धर्म है।

भगवान् ऋषभदेव का गुण-कीर्तन किया गया है। भगवान् की महत्ता का अधिक क्या वर्णन किया जाए, वैदिक धर्म ने भी इन्हें अपना अवतार स्वीकार किया है।

2. भगवान् अजितनाथ जी

जैनधर्म के आप दूसरे तीर्थंकर माने जाते हैं। आपका जन्म अयोध्या नगरी के इक्ष्वाकुवंशीय क्षत्रिय–सम्राट् जितशत्रु राजा के यहां हुआ था। आपकी माता का नाम विजयादेवी था। आपका जन्म माघ शुक्ला अष्टमी को, दीक्षा माघ कृष्णा नवमी को, केवल–ज्ञान पौष कृष्णा एकादशी को और निर्वाण चैत्र शुक्ला पंचमी को हुआ था। आप की निर्वाण भूमि सम्मेतशिखर है, जो आजकल बंगाल में "पारसनाथ पहाड़" के नाम से प्रसिद्ध है। आप विवाहित थे। 71 लाख पूर्व तक आप गृहस्थ अवस्था में रहे और एक लाख पूर्व आपने संयम का पालन किया तथा एक हजार साधुओं के साथ आप मोक्ष पधारे थे।

3. भगवान् संभवनाथ जी

आप तीसरे तीर्थंकर हैं। आपका जन्म श्रावस्ती नगरी में हुआ। आपके पिता इक्ष्वाकुवंशीय महाराज जितारि थे और सेना-देवी नाम की आपकी पूज्य माता थी। आपने पूर्व जन्म में विपुलवाहन राजा के भव में अकाल–ग्रस्त प्रजा का पालन किया था और अपना सब कोष प्रजा के हितार्थ लुटा दिया था। आपका जन्म मार्गशीर्ष शुक्ला चतुर्दशी को, दीक्षा, मार्ग-शीर्ष शुक्ला पूर्णिमा को, केवलज्ञान कार्तिक कृष्णा पंचमी को और निर्वाण चैत्र शुक्ला पंचमी को हुआ। आपकी निर्वाण-भूमि भी सम्मेतशिखर है। आप विवाहित थे। आप 59 लाख पूर्व तक गृहस्थ अवस्था में रहे और एक लाख पूर्व आपने संयम का पालन किया तथा एक हजार साधु आपके साथ मुक्ति में गए थे।

4. भगवान् अभिनन्दननाथ जी

श्री अभिनन्दननाथ जी जैनधर्म के चौथे तीर्थंकर हैं। आपका जन्म अयोध्या नगरी के इक्ष्वाकुवंशीय राजा संवर के यहां हुआ। आपकी माता का नाम सिद्धार्था था। आपका जन्म माघ शुक्ला द्वितीया को, दीक्षा माघ शुक्ला द्वादशी को, केवलज्ञान पौष कृष्णा चतुर्दशी को और निर्वाण वैशाख शुक्ला अष्टमी को हुआ। आपकी निर्वाण-भूमि सम्मेतशिखर है। आप विवाहित थे। आप 49 लाख पूर्व गृहस्थ अवस्था में रहे और एक लाख पूर्व आपने संयम का पालन किया तथा एक हजार साधुओं के साथ आप मोक्ष पधारे।

5. भगवान् सुमतिनाथ जी

आप जैनधर्म के पांचवें तीर्थंकर हैं। आपका जन्म अयोध्या नगरी (कोशलपुरी) में हुआ। आपके पिता महाराजा मेघरथ और माता श्रीमती सुमंगला देवी थीं। आपका जन्म वैशाख शुक्ला अष्टमी को, दीक्षा वैशाख शुक्ला नवमी को, केवलज्ञान चैत्र शुक्ला एकादशी को और निर्वाण चैत्र शुक्ला नवमी को हुआ। आपकी निर्वाण-भूमि भी सम्मेतशिखर है। आप जब माता के गर्भ में आए थे उस समय आपकी माता की बुद्धि बहुत स्वच्छ और तीव्र हो गई थी, इसलिए आपका नाम सुमतिनाथ रखा गया था। आप विवाहित थे। आप 39 लाख वर्ष गृहस्थ अवस्था में रहे और एक लाख पूर्व तक आपने संयम का पालन किया। अन्त में एक हजार साधुओं के साथ आपने निर्वाण-पद पाया।

6. भगवान् पद्मप्रभ जी

आप छठे तीर्थंकर हैं। आपका जन्म कौशाम्बी नगरी के राजा श्रीधर के यहां हुआ था। माता का नाम सुसीमा था। आपका जन्म कार्तिक कृष्णा द्वादशी को, दीक्षा कार्तिक कृष्णा त्रयोदशी को, केवलज्ञान चैत्र शुक्ला पूर्णिमा को और निर्वाण मार्गशीर्ष कृष्णा एकादशी को हुआ। आपकी निर्वाण-भूमि भी सम्मेतशिखर है। आप विवाहित थे। आप 29 लाख पूर्व तक गृहस्थावस्था में रहे और एक लाख पूर्व तक आपने संयम का पालन किया। अन्त में, एक हजार मुनियों के साथ आप निर्वाण को प्राप्त हुए।

7. भगवान् सुपार्श्वनाथ जी

आप सातवें तीर्थंकर हैं। आपकी जन्म-भूमि काशी (बनारस) थी। आपके पिता महाराजा प्रतिष्ठसेन और माता श्री पृथ्वीदेवी थी। आप का जन्म ज्येष्ठ शुक्ला द्वादशी को, दीक्षा ज्येष्ठ शुक्ला त्रयोदशी को, केवलज्ञान फाल्गुन कृष्णा छठ को और निर्वाण भाद्रपद कृष्णा सप्तमी को हुआ। आपकी निर्वाण-भूमि सम्मेतशिखर है। आप विवाहित थे। 19 लाख पूर्व तक आप गृहस्थावस्था में रहे और एक लाख पूर्व तक आपने संयम का पालन किया। अन्त में, एक हजार साधुओं के साथ आपने सिद्धि प्राप्त की।

8. भगवान् चन्द्रप्रभ जी

आप जैनधर्म के आठवें तीर्थंकर हैं। आपकी जन्म-भूमि चन्द्रपुरी नगरी थी। आपके पूज्य पिता का नाम महासेन राजा और माता का नाम लक्ष्मणा था। आपका जन्म पौष शुक्ला द्वादशी को, दीक्षा पौष कृष्णा त्रयोदशी को, केवलज्ञान फाल्गुन कृष्णा सप्तमी को और निर्वाण

भाद्रपद कृष्णा सप्तमी को हुआ। आपकी निर्वाण-भूमि सम्मेतशिखर है। आप विवाहित थे। आपने 9 लाख पूर्व गृहस्थावस्था में व्यतीत करके एक लाख पूर्व तक संयम का पालन किया। अन्त में, एक हजार साधुओं के साथ आप मुक्त हुए।

9. भगवान् सुविधिनाथ जी

आपका दूसरा नाम पुष्पदन्त भी है। आप जैनधर्म के नौवें तीर्थंकर हैं। आपकी जन्म-भूमि काकंदी नगरी, पिता सुग्रीव तथा माता रामादेवी थी। आपका जन्म मार्गशीर्ष कृष्णा पंचमी को, दीक्षा मार्गशीर्ष कृष्णा छठ को, केवलज्ञान कार्तिक शुक्ला तृतीया को और निर्वाण भाद्रपद शुक्ला नवमी को हुआ। आपकी निर्वाण भूमि सम्मेतशिखर है। आप विवाहित थे। एक लाख पूर्व आपने गृहस्थावस्था में व्यतीत किए और एक लाख पूर्व आपने संयम का पालन किया। अन्त में, एक हजार साधुओं के साथ आपने निर्वाण पद पाया।

10. भगवान् शीतलनाथ जी

आप दशवें तीर्थंकर हैं। आपकी जन्म-भूमि भद्दिलपुर नगरी थी। पिता का नाम दृढ़रथ राजा और माता का नाम नन्दारानी था। आपका जन्म माघ कृष्णा द्वादशी को, दीक्षा मार्गशीर्ष कृष्णा द्वादशी को, केवलज्ञान पौष कृष्णा चतुर्दशी और निर्वाण वैशाख कृष्णा द्वितीया को हुआ था। आपकी निर्वाण-भूमि सम्मेतशिखर है। आप विवाहित थे। आपने पौन लाख पूर्व गृहवास किया और पाव लाख पूर्व तक संयम का पालन किया। अन्त में, एक हजार मुनियों के साथ आपने मुक्ति को प्राप्त किया।

11. भगवान् श्रेयांसनाथ जी

आप जैनधर्म के ग्यारहवें तीर्थंकर हैं। आपकी जन्म-भूमि सिंहपुर नगरी थी। पिता का नाम विष्णुसेन राजा और माता का नाम विष्णु देवी था। आपका जन्म फाल्गुन कृष्णा द्वादशी को, दीक्षा फाल्गुन कृष्णा त्रयोदशी को, केवलज्ञान माघ शुक्ला द्वितीया को और निर्वाण श्रावण कृष्णा तृतीया को हुआ। आपकी निर्वाण-भूमि सम्मेतशिखर है। भगवान् महावीर के जीव ने पूर्व-जन्म में त्रिपृष्ठ वासुदेव के रूप में भगवान् श्रेयांसनाथ के चरणों में बैठकर अहिंसा, संयम और तप का मंगलमय उपदेश सुना था। भगवान् श्रेयांसनाथ विवाहित थे। आप 63 लाख वर्ष गृहस्थावस्था में रहे और 21 लाख वर्ष तक आपने संयम का पालन किया। अन्त में, एक हजार साधुओं के साथ आप निर्वाण को प्राप्त हुए।

12. भगवान् वासुपूज्य जी

आप जैनधर्म के बारहवें तीर्थंकर हैं। आपकी जन्म-भूमि चम्पा नगरी थी। आपके पूज्य पिता महाराज वसुपूज्य थे, और माता जयादेवी थी। आपका जन्म फाल्गुन कृष्णा चतुर्दशी को, दीक्षा फाल्गुन शुक्ला पूर्णिमा को, केवलज्ञान माघ शुक्ला द्वितीया को और निर्वाण आषाढ़ शुक्ला चतुर्दशी को हुआ। आपकी निर्वाण-भूमि चम्पा नगरी थी। आप बाल-ब्रह्मचारी थे, आपने विवाह नहीं कराया। आप अठारह लाख वर्ष गृहवास में रहे और 54 लाख वर्ष तक संयम का पालन किया। अन्त में, 600 मुनियों के साथ आप मुक्ति में गए।

13. भगवान् विमलनाथ जी

आप तेरहवें तीर्थंकर हैं। आपकी जन्म-भूमि कम्पिलपुर नगरी थी। आपके पिता का नाम महाराज कृतवर्म था और माता का नाम श्यामादेवी था। आपका जन्म माघ शुक्ला तृतीया को, दीक्षा माघ शुक्ला चतुर्थी को, केवलज्ञान पौष शुक्ला छठ और निर्वाण आषाढ़ कृष्णा सप्तमी को हुआ। आपकी निर्वाण-भूमि सम्मेतशिखर है। आप विवाहित थे। आप 45 लाख वर्ष गृहस्थाश्रम में रहे और 15 लाख वर्ष तक आपने संयम का पालन किया। अन्त में, 600 मुनियों के साथ मुक्ति को प्राप्त हुए।

14. भगवान् अनन्तनाथ जी

आप जैनधर्म के चौदहवें तीर्थंकर हैं। आपकी जन्म-भूमि अयोध्या नगरी थी। अपके पूज्य पिता का नाम महाराज सिंहसेन और माता का नाम सुयशा देवी था। आपका जन्म वैशाख कृष्णा तृतीया को, दीक्षा वैशाख कृष्णा चतुर्दशी को, केवलज्ञान वैशाख कृष्णा चतुर्दशी को और निर्वाण चैत्र शुक्ला पंचमी को हुआ। आपकी निर्वाण-भूमि सम्मेतशिखर है। आप विवाहित थे। आप साढ़े 22 लाख वर्ष गृहस्थाश्रम में रहे और साढ़े सात लाख वर्ष तक आपने संयम का पालन किया। अन्त में, 700 मुनियों के साथ आपने मुक्ति को प्राप्त किया।

15. भगवान् धर्मनाथ जी

आप जैनधर्म के पन्द्रहवें तीर्थंकर हैं। आपकी जन्म-भूमि रत्नपुर नामक नगरी थी। महाराज भानु आपके पिता थे। आपकी माता का नाम सुव्रता था। आपका जन्म माघ शुक्ला तृतीया को, दीक्षा माघ शुक्ला त्रयोदशी को, केवलज्ञान पौष शुक्ला पूर्णिमा को और निर्वाण ज्येष्ठ शुक्ला पंचमी को हुआ। आपकी निर्वाण-भूमि सम्मेतशिखर है। आप विवाहित थे। आप 9 लाख वर्ष गृहवास में रहे और आपने एक लाख वर्ष संयम का पालन किया। अन्त में, 800 साधुओं के साथ आप मुक्ति में पधारे।

16. भगवान् शान्तिनाथ जी

जैनधर्म के सोलहवें तीर्थंकर भगवान् शान्तिनाथ जी हैं। आपका पवित्र जन्म हस्तिनापुर के राजा विश्वसेन की अचिरा रानी से हुआ था। आपका जन्म ज्येष्ठ कृष्णा त्रयोदशी को, दीक्षा ज्येष्ठ कृष्णा चतुर्दशी को और केवलज्ञान पौष शुक्ला नवमी को हुआ तथा निर्वाण जन्म की तिथि को ही हुआ था। आपकी निर्वाण-भूमि सम्मेतशिखर है। आप भारत के पंचम चक्रवर्ती राजा भी थे। आपके जन्म लेने पर देश में फैले हुए भयंकर मृगी रोग की महामारी शान्त हो गई थी। इसलिए आपका नाम श्री शान्तिनाथ रखा गया था। पहले जन्म में राजा मेघरथ के रूप में आपने कबूतर की रक्षा की थी, बदले में शिकारी को अपने शरीर का मांस काटकर दे दिया था। आप विवाहित थे। आप 75 हजार वर्ष तक गृहवास में रहे और 25 हजार वर्ष तक आपने संयम का पालन किया। सम्मेतशिखर पर नौ सौ मुनियों के साथ आप मोक्ष गए।

17. भगवान् कुन्थुनाथ जी

अप जैनधर्म के सत्रहवें तीर्थंकर हैं। आपका जन्म स्थान हस्तिनापुर था। आपके पिता सूरराजा थे और माता का नाम श्रीदेवी था। आपका जन्म वैशाख कृष्णा चतुर्दशी को, दीक्षा चैत्र कृष्णा पंचमी को, केवलज्ञान चैत्र शुक्ला तृतीया को और निर्वाण वैशाख कृष्णा प्रतिपदा (एकम) को हुआ था। आपकी निर्वाण-भूमि सम्मेतशिखर है। आप भारत के छठे चक्रवर्ती राजा भी थे। आप विवाहित थे। साढे 71 हजार वर्ष तक आप गृहस्थाश्रम में रहे और साढे 23 हजार वर्ष संयम का पालन किया तथा एक हजार मुनियों के साथ आपने सिद्ध पद पाया था।

18. भगवान् अरहनाथ जी

आपको अरनाथ भी कहा जाता है। आप जैनधर्म के अठारहवें तीर्थंकर हैं। आपका जन्म स्थान हस्तिनापुर था। आपके पिता सुदर्शन राजा थे और माता का नाम श्रीदेवी था। आपका जन्म मार्गशीर्ष शुक्ला दशमी को, दीक्षा मार्गशीर्ष शुक्ला एकादशी को, केवलज्ञान कार्तिक शुक्ला द्वादशी को और निर्वाण मार्गशीष शुक्ला दशमी को हुआ। आपकी निर्वाण-भूमि सम्मेतशिखर है। आप भारत के सातवें चक्रवर्ती राजा भी हुए। आप विवाहित थे, और 63 हजार वर्ष गृहस्थ-आश्रम में रहे, 21 हजार वर्ष आपने संयम का पालन किया तथा एक हजार मुनियों के साथ मोक्ष में पधारे।

19. भगवान् मल्लिनाथ जी

आप जैनधर्म के उन्नीसवें तीर्थंकर हैं। आपका जन्म स्थान मिथिला नगरी था। आप के पिता महाराज कुंभ थे और माता का नाम प्रभावती देवी था। आपका जन्म मार्गशीर्ष शुक्ला एकादशी को, दीक्षा मार्गशीर्ष शुक्ला एकादशी को, केवलज्ञान[1] मार्गशीर्ष शुक्ला एकादशी को, और निर्वाण फाल्गुन शुक्ला द्वादशी को-हुआ। आपकी निर्वाण-भूमि सम्मेतशिखर थी। वर्तमान काल के चौबीस तीर्थंकरों में आप स्त्री तीर्थंकर थे। आपने विवाह नहीं कराया। आप जीवन-पर्यन्त ब्रह्मचारी रहे। आपने छ: राजाओं को भी संयम-मार्ग में लगाया था। आपके जीवन-चरित्र में इस सम्बन्ध में इस प्रकार लिखा है–

मल्लिकुमारी जी जब युवावस्था में आए तब आपके सौन्दर्याधिक्य से मोहित होकर 6 राजाओं ने आपसे विवाह करने के लिए आपके पिता महाराज कुम्भ के पास अपने-अपने दूत भेजे। एक कन्या के लिए छह राजाओं की मांगणी देखकर कुम्भ राजा को क्रोध आ गया। उन्होंने दूतों को अपमानित करके अपने नगर से बाहर निकाल दिया। अपमानित दूतों ने सारा वृत्तान्त अपने-अपने राजाओं से कहा। इससे छहों राजा कुपित हो गए और अपनी-अपनी सेना सजा कर राजा कुम्भ के ऊपर चढ़ाई कर दी। इस वृत्तान्त को सुनकर राजा कुम्भ घबरा गए। तब मल्लिकुमारी ने अपने पिता को आश्वासन दिया और कहा कि आप घबराइए नहीं। मैं सबको समझा दूंगी। आप सब राजाओं के पास पृथक्-पृथक् दूत भेज दीजिए, कहला दीजिए कि शाम को तुम मोहन[2] घर में चले आओ। मैं तुम्हें मल्लिकुमारी दे दूंगा। राजा कुम्भ ने ऐसा ही किया।

छहों राजा पृथक्-पृथक् द्वार से मोहन घर में आ गए। मोहन घर के मध्य में स्थित सुवर्ण की पुतली को देखकर वे छहों राजा उसे साक्षात् मल्लिकुमारी समझकर उस पर मोहित हो गए। उसी समय मल्लिकुमारी ने उस पुतली के ढक्कन को उघाड़ दिया, जिसमें डाले हुए

---

1. भगवान् मल्लिनाथ जी को दीक्षा लेने के अनन्तर दूसरे प्रहर में ही केवलज्ञान प्राप्त हो गया था।
2. मल्लिकुमारी ने अवधिज्ञान से इस घटना-चक्र को पूर्व ही जान लिया था। अत: उसने पहले ही अशोक-वाटिका में अनेक स्तंभों वाला एक मोहन घर बनवा लिया था। उसके बीच में उसने अपने ही आकार की एक सोने की प्रतिमा बनवा ली थी। उसके मस्तक पर एक छिद्र रखा था, और उस पर एक कमलाकार ढक्कन लगा दिया। अपने भोजन में से वह एक ग्रास बचाकर प्रतिदिन उसमें डाल देती और वापिस ढक्कन लगा देती थी। भोजन के सड़ने से उसमें से मृतक कलेवर से भी अत्यन्त तीव्र दुर्गन्ध उठने लगी थी।

अन्न की तीव्र दुर्गन्ध बाहर निकली। उस दुर्गन्ध को न सह सकने के कारण वे छहों राजा परांगमुख होकर बैठ गए। इस अवसर को उपयुक्त समझ कर मल्लिकुमारी ने उनको शरीर की अशुचिता बतलाते हुए धर्मोपदेश दिया। वे कहने लगे –

यह शरीर रज और वीर्य जैसे घृणित पदार्थों के संयोग से बना है। माता के गर्भ में अशुचि पदार्थों के आहार के द्वारा इसकी वृद्धि हुई है। उत्तम, रसीले पदार्थ भी इस शरीर में जाकर अशुचि रूप से परिणत हो जाते हैं। नमक की खान में जो पदार्थ गिरता है, जैसे वह नमक बन जाता है, ऐसे ही जो पदार्थ शरीर के संयोग में आते हैं वे सब अपवित्र हो जाते हैं। आंख, नाक, कान आदि नव द्वारों द्वारा सदा इस शरीर से मल झरता रहता है। इस प्रकार के घृणास्पद शरीर पर कभी आसक्त नहीं होना चाहिए।

मल्लिकुमारी के इस उपदेश को सुनकर छहों राजाओं को ज्ञान प्राप्त हो गया। अन्त में, उन्होंने अपने-अपने ज्येष्ठ पुत्रों का राज्याभिषेक करके, मल्लिकुमारी के साथ दीक्षा ग्रहण कर ली। इस प्रकार भगवान् मल्लिनाथ ने छह राजाओं को कल्याण मार्ग में लगाया।

भगवान् मल्लिनाथ का स्त्रीत्व इस तथ्य का जीवित प्रमाण है कि स्त्री भी तीर्थंकर हो सकती है। विश्व के किसी भी धर्म में स्त्री को धर्म-संस्थापक के रूप में महत्त्व नहीं दिया गया है। जैनधर्म की यह उल्लेखनीय विशेषता है कि स्त्री होकर भी भगवान् मल्लिनाथ जी ने बहुत व्यापक भ्रमण किया और सर्वत्र अहिंसा धर्म का ध्वज लहराया। 100 वर्ष तक मल्लिनाथ जी घर में रहे और 54900 वर्ष तक इन्होंने संयम का पालन किया। अन्त में, 500 साधुओं और 500 आर्यिकाओं के साथ आप मोक्ष में पधारे।

20. भगवान् मुनिसुव्रत जी

आप जैनधर्म के बीसवें तीर्थंकर हैं। आप की जन्म भूमि राजगृह नगरी थी। आपके पिता हरिवंश कुलोत्पन्न महाराज सुमित्र थे और आपकी माता का नाम पद्मावती देवी था। आपका जन्म ज्येष्ठ कृष्णा अष्टमी को, दीक्षा फाल्गुन शुक्ला द्वादशी को, केवलज्ञान फाल्गुन कृष्णा द्वादशी को तथा निर्वाण ज्येष्ठ कृष्णा नवमी को हुआ। आपकी निर्वाण भूमि सम्मेतशिखर है। आप विवाहित थे। साढ़े बाईस हजार वर्ष गृहवास में रहे। साढ़े सात हजार वर्ष आपने संयम का पालन किया और अन्त में, आप एक हजार मुनियों के साथ मोक्ष पधारे। भगवान् श्री राम और महासती सीता आपके ही युग में पैदा हुए थे।

21. भगवान् नमिनाथ जी

आप जैनधर्म के इक्कीसवें तीर्थंकर हैं। आपका जन्म स्थान मिथिला नगरी था।[1] आपके पूज्य पिता का नाम महाराज विजयसेन था और माता का नाम वप्रा देवी था। आपका जन्म श्रावण कृष्णा अष्टमी को, दीक्षा आषाढ़ कृष्णा नवमी को, केवलज्ञान मार्गशीर्ष शुक्ला एकादशी को और निर्वाण वैशाख कृष्णा दशमी को हुआ। आपकी निर्वाण भूमि सम्मेतशिखर है। आप विवाहित थे, आप 9 हजार वर्ष तक गृहस्थावस्था में रहे, एक हजार वर्ष तक आपने संयम का पालन किया और अन्त में, एक हजार साधुओं के साथ मोक्ष में पधारे।

22. भगवान् अरिष्टनेमि जी

आपका दूसरा नाम नेमिनाथ भी है। आप जैनधर्म के 22वें तीर्थंकर हैं। आपकी जन्मभूमि आगरा के पास में अवस्थित शौरीपुर नामक नगर था। आपके पिता यदुवंश के राजा समुद्रविजय जी थे और माता का नाम शिवादेवी था। आपके पिता जी 10 भाई थे। सबसे बड़े आपके पिता थे। सबसे छोटे श्री वसुदेव जी थे। समुद्रविजय जी के घर आपने जन्म लिया था और त्रिखण्डाधिपति श्री कृष्ण ने वसुदेव के यहां। इस प्रकार कर्मयोगी श्री कृष्ण जी आपके चचेरे भाई थे। कृष्णजी ने आप से ही धर्मोपदेश सुना था और हजारों यदुवंशियों को आपके चरणों में दीक्षित करवा कर तीर्थंकर गोत्र का बन्ध किया था।

आप बड़े ही कोमल प्रकृति के महापुरुष थे। आपकी कोमलता के अनेकों उदाहरण मिलते हैं। प्रस्तुत में केवल एक की चर्चा की जाएगी। कुमारावस्था में जूनागढ़ के राजा की पुत्री राजीमती से नेमिनाथ का विवाह सुनिश्चित हुआ। बड़ी धूम-धाम के साथ बारात जूनागढ़ के निकट पहुंची। उस समय नेमिनाथ बहुत-से राजपुत्रों के साथ रथ में बैठे हुए आसपास की शोभा देखते जाते थे। सहसा इनकी दृष्टि एक ओर गई तो इन्होंने देखा कि बहुत-से पशु एक बाड़े में बन्द हैं। वे निकलना चाहते हैं, पर उनके निकलने का कोई मार्ग नहीं है। पशुओं की आकुलतापूर्ण दशा देखकर उनका दिल पसीज उठा। उन्होंने सारथि को रथ रोकने का आदेश दिया और पूछा कि ये इतने पशु इस तरह क्यों रोके गए हैं। नेमिनाथ को उस सारथि से यह जानकर बड़ा खेद हुआ कि उनकी बारात में आए अनेक राजाओं के आतिथ्य-सत्कार के लिए इन पशुओं का वध किया जाने वाला है, और इसलिए ये बाड़े में बन्द हैं। नेमिनाथ के दयालु हृदय को बड़ा ही कष्ट पहुंचा। वे बोले—यदि मेरे विवाह के निमित्त इतने पशुओं

1. कुछ आचार्य भगवान् नमिनाथ का जन्म-स्थान मथुरा नगरी बतलाते हैं।

का जीवन संकट में है, तो धिक्कार है ऐसे विवाह को ! अब मैं विवाह नहीं कराऊंगा। वे तुरन्त नीचे उतरे और अपने आभूषण सारथि को देकर वन की ओर चल दिए।

बारात में इस समाचार के फैलते ही कोहराम मच गया। जूनागढ़ के अन्तःपुर में जब राजकुमारी राजीमती को यह समाचार मिला तो वह मूर्च्छित होकर भूमि पर गिर पड़ी। बहुत से लोग नेमिनाथ जी को लौटाने दौड़े, किन्तु सब व्यर्थ। भगवान् ने इस पाप पूर्ण बन्धन में फंसने से सदा के लिए इन्कार कर दिया। अन्त में, वे गिरनार पर्वत पर चढ़कर आत्म-ध्यान में लीन हो गए। केवलज्ञान पाकर अन्य तीर्थंकरों की भाँति इन्होंने चतुर्विध संघ की स्थापना की और संसार में अहिंसा धर्म का प्रसार किया।

भगवान् अरिष्टनेमि का जन्म श्रावण शुक्ला पंचमी को, दीक्षा श्रावण शुक्ला छठ को, केवलज्ञान आश्विन कृष्णा अमावस्या को और निर्वाण आषाढ़ शुक्ला अष्टमी को हुआ। आपकी निर्वाण भूमि काठियावाड़ में गिरनार पर्वत है जिसे पुराने युग में रैवतगिरि भी कहते थे। आपने विवाह नहीं कराया, आप 300 वर्ष गृहवास में रहे, 700 वर्ष तक आपने संयम का पालन किया और 536 मुनियों के साथ निर्वाण-पद प्राप्त किया।

23. भगवान् पार्श्वनाथ जी

आप जैनधर्म के 23वें तीर्थंकर हैं। आपका अपने युग में बड़ा विलक्षण प्रभाव था। आपकी स्तुति में लिखे हजारों स्तोत्र आपकी लोकप्रियता तथा आपके प्रति सर्वतोमुखी श्रद्धा एवं आस्था के ज्वलन्त उदाहरण हैं। हजारों स्तोत्र भगवान् के नाम पर बने हुए हैं, जिन्हें लाखों नर-नारी बड़ी श्रद्धा तथा भक्ति के साथ नित्य पाठ के रूप में पढ़ते हैं। कल्याण मन्दिर स्तोत्र तो इतना अधिक प्रसिद्ध है कि शायद ही कोई धार्मिक मनोवृत्ति का शिक्षित जैन होगा, जो उसे न जानता होगा।

भगवान् पार्श्वनाथ का समय ईसा से करीब 850 वर्ष पूर्व का माना गया है। वह युग तापसों का युग माना जाता था। हजारों तापस आश्रम बनाकर वनों में रहा करते थे। शरीर को अधिक से अधिक कष्ट देना ही उनकी साधना का प्रधान लक्ष्य था। कितने ही तपस्वी वृक्षों की शाखाओं से औंधे मुंह लटका करते थे, कितने ही आकण्ठ जल में खड़े होकर सूर्य की ओर मुंह करके ध्यान लगाया करते थे, कितने ही अपने को भूमि में दबाकर समाधि लगाया करते थे और कितने ही पञ्चाग्नि तप करके शरीर को झुलसा डालते थे। इस प्रकार तापसों की देह-दण्डरूप साधना विभिन्न रूप से उस समय चल रही थी। भोली जनता इन्हीं

विवेक-शून्य क्रियाकाण्डों में धर्म मानकर चल रही थी और उसका विश्वास बन गया था कि आत्मोत्थान तथा आत्म-कल्याण का इससे बढ़कर कोई अन्य साधन नहीं है।

भगवान् पार्श्वनाथ का संघर्ष अधिकतर इन्हीं तापस सम्प्रदायों के साथ हुआ था। भगवान् इस विवेकशून्य क्रिया-काण्ड को हेय मानते थे और कहते थे कि प्रत्येक अनुष्ठान ज्ञानपूर्वक ही करना चाहिए। ज्ञानपूर्वक किया गया मामूली-सा क्रिया-काण्ड भी जीवन में उत्क्रान्ति ला सकता है और ज्ञान के बिना उग्र क्रिया-काण्ड करते हुए हजारों वर्ष भी व्यतीत हो जाएं तब भी उससे पल्ले कुछ नहीं पड़ सकता। भगवान् का विश्वास था कि एक व्यक्ति यदि अज्ञानता के साथ महीने-महीने कुशाग्र भोजन का आसेवन करता है अर्थात् एक मास के अनशन के अनन्तर आहार का ग्रहण करता है, और वह भी कुशा के अग्रभाग जितना भोजन लेता है तथा दूसरी ओर एक व्यक्ति दो घड़ी का प्रत्याख्यान करता है, किन्तु वह ज्ञानपूर्वक करता है, उसमें किसी सावद्य प्रवृत्ति को नहीं आने देता तो उसके सामने अज्ञान-जन्य तप का कुछ भी मूल्य नहीं है। वह तप ज्ञान के साथ किए गए तप रूप पूर्ण चन्द्रमा की सोलहवीं कला को भी प्राप्त नहीं हो सकता।[1] भाव यह है कि विवेकशून्य तपश्चरण आत्मा को उन्नत बनाने की बजाए उसका पतन करता है।

भगवान् पार्श्वनाथ बचपन से ही बड़े साहसी और निर्भीक थे। भय तो मानों इनसे भयभीत होकर भाग गया था। इनके जीवन में ऐसे अनेकों कथानक मिलते हैं, जिनसे इनकी वीरता तथा निर्भीकता स्पष्ट रूप से दृष्टिगोचर होती है। एक बार ये गंगा के किनारे घूम रहे थे। वहां पर कुछ तापस आग जलाकर तपस्या कर रहे थे। ये उनके पास पहुंचे और बाले-इन लक्कड़ों को जलाकर क्यों जीव-हिंसा करते हो? राजकुमार की बात सुनकर वे तापस बड़े झुंझलाए और बोले –

तुझे हिंसा-अहिंसा का क्या बोध है? तुम अभी बच्चे हो, तुम ने अभी महलों के भोग भोगने सीखे हैं। संतों की साधना को अभी तुम क्या समझ सकते हो? जाओ, कहीं पहले हिंसा तथा अहिंसा को समझने के लिए किसी सुयोग्य गुरु की सेवा करो! तापसों का इतना कहना था कि कुमार ने तापसों के पास पड़ी कुल्हाड़ी उठाकर ज्यों ही जलती हुई लकड़ी को फाड़ा तो उसमें से नाग और नागिन का जलता हुआ जोड़ा निकला। इससे तापस अत्यधिक लज्जित

---

1. मासे-मासे तु जो बालो, कुसग्गेणं तु भुंजए।
न सो सुयक्खाय-धम्मस्स, कलं अग्घइ सोलसिं।। उत्त. अ. 9-44.

हुए। इधर कुमार ने सर्प-युगल को मरणासन्न जानकर उनके कान में महामंत्र नवकार का मंगलमय पाठ सुनाया। महामंत्र की पवित्र ध्वनि सुनकर नाग और नागिन का दाह-सन्ताप कुछ शान्त हुआ और अन्त में, जीवन समाप्ति हो जाने पर वे स्वर्गपुरी में धरणेन्द्र और पद्मावती नाम के देव-देवी बने।

नाग-नागिन की दु:खद घटना से राजकुमार पार्श्वनाथ को मार्मिक वेदना हुई। साथ में तापसों के इस अज्ञान तप को देखकर उन्हें उन पर दया भी आई। उन्होंने निश्चय किया कि मैं इन्हें सत्पथ दिखलाऊंगा और ज्ञानपूर्वक तप करने का सुबोध देकर इनके जीवन का सुधार करूंगा। अन्त में, काशी देश के विशाल तथा समृद्ध साम्राज्य को ठुकराकर राजकुमार पार्श्वनाथ मुनि बन गए और उन्होंने सत्य अहिंसा की इतनी उग्र साधना की जिसे सुनकर वज्र-हृदय व्यक्ति भी रोमांचित हुए बिना नहीं रह सकता।

सहनशीलता के तो मानों आप स्रोत थे। भयंकर से भयंकर संकट में भी आप कभी विचलित नहीं हुए। एक बार की बात है कि आप ध्यानस्थ खड़े थे। कमठासुर[1] ने आपको लोम-हर्षक कष्ट दिए। उसने मूसलाधार वर्षा की। पृथ्वी पर चारों ओर पानी ही पानी कर दिया। पानी आपके नाक तक आ गया। आप डूबने ही वाले थे कि ऐसे घोर उपसर्ग के समय धरणेन्द्र और पद्मावती ने आपका उपसर्ग दूर किया। पद्मावती ने अपने मुकुट के ऊपर आपको उठा लिया और धरणेन्द्र ने सहस्र फन वाले सर्प का रूप धारण करके आपके ऊपर अपना फन फैला दिया। कमठासुर आपको मारणान्तिक कष्ट देना चाहता था, तथापि आपने उस पर किञ्चित् रोष नहीं किया, प्रत्युत आप उस पर अन्तर्-हृदय से दया की ही वर्षा करते रहे।

देवकृत और मनुष्यकृत अनेक-विध उपसर्गों को शान्ति के साथ सहन करके भगवान् पार्श्वनाथ ने ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, मोहनीय और अन्तराय इन चार घातिक कर्मों को क्षय करके केवलज्ञान को उपलब्ध किया। केवलज्ञान प्राप्त करने के अनन्तर करीब 70 वर्ष सर्वत्र विहार करके भगवान् ने धर्म का उपदेश दिया। ज्ञानपूर्वक किए गए तप का संसार को महत्त्व समझाया। घर-घर अहिंसा और सत्य के पुनीत दीप जगाकर मानव जगत के

---

1. जिस तपस्वी के लक्कड़ को आपने कुमारावस्था में फाड़ा था, उसका नाम कमठ था और वह मरकर असुर जाति में पैदा हो गया था। कमठासुर उसी तपस्वी के जीव का नाम है।

अज्ञान-अन्धकार को दूर किया। भगवान् ने संसार को चार[1] महाव्रतों का उपदेश दिया था और चतुर्विध संघ की स्थापना की थी।

भगवान् पार्श्वनाथ ने जनकल्याण के लिए क्या किया, इस सम्बन्ध में मैं अपनी ओर से कुछ न लिखकर सुप्रसिद्ध बौद्ध विद्वान श्री धर्मानन्द कौशाम्बी के लेख का अंश प्रस्तुत किए देता हूं, उससे भगवान् के क्रान्तिकारी धार्मिक आन्दोलन की कुछ झांकी प्राप्त हो जाएगी। श्री कौशाम्बी जी अपनी प्रसिद्ध पुस्तक "भारतीय संस्कृति और अहिंसा" में लिखते हैं –

"परीक्षित के बाद जनमेजय हुए और उन्होंने कुरु देश में महायज्ञ करके वैदिक-धर्म का झण्डा लहराया। उसी समय काशी देश में पार्श्वनाथ एक नवीन संस्कृति की आधारशिला रख रहे थे।"

"श्री पार्श्वनाथ का धर्म सर्वथा व्यवहार्य था। हिंसा, असत्य, स्तेय और परिग्रह का त्याग करना, यह चातुर्याम संवरवाद उनका धर्म था। उसका उन्होंने भारत में प्रचुर प्रचार किया। इतने प्राचीन-काल में अहिंसा को इतना सुव्यवस्थित रूप देने का यह प्रथम ऐतिहासिक उदाहरण है।"

"श्री पार्श्वमुनि ने सत्य, अस्तेय और अपरिग्रह, इन तीन नियमों के साथ अहिंसा का मेल बिठाया था। पहले अरण्य में रहने वाले ऋषि-मुनियों के आचरण में जो अहिंसा थी, उसे व्यवहार में स्थान न था। अस्तु, उक्त तीन नियमों के सहयोग से अहिंसा सामाजिक बनी, व्यावहारिक बनी।"

"श्री पार्श्वमुनि ने अपने नए धर्म के प्रसार के लिए संघ बनाया। बौद्ध साहित्य से ऐसा मालूम होता है कि बुद्ध के काल में जो संघ अस्तित्व में थे, उनमें जैन साधु तथा साध्वियों का संघ सब से बड़ा था।"

कौशाम्बी जी के इस लेखांश से यह स्पष्ट हो जाता है कि भगवान् पार्श्वनाथ जी ने आध्यात्मिक जगत में विशेष प्रतिष्ठा प्राप्त की थी और उन्होंने अहिंसा को व्यवस्थित रूप देने का सार्वभौम श्रेय प्राप्त कर लिया था।

---

1. अहिंसा, सत्य, अचौर्य और अपरिग्रह, ये चार महाव्रत भगवान् पार्श्वनाथ ने माने थे। ब्रह्मचर्य महाव्रत को उन्होंने अपरिग्रह में ही संकल्पित कर लिया था। स्त्री को वे परिग्रह मानते थे किन्तु भगवान् महावीर ने द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव के अनुसार ब्रह्मचर्य महाव्रत को स्वतन्त्र मानकर महाव्रतों की संख्या पांच कर दी थी।

भगवान् पार्श्वनाथ का जन्म स्थान काशी देश, बनारस नगरी थी। आपके पिता महाराज अश्वसेन और माता वामादेवी थी। आपका जन्म पौष कृष्णा दशमी को, दीक्षा पौष कृष्णा एकादशी को, केवलज्ञान चैत्र कृष्णा चतुर्थी को और निर्वाण श्रावण शुक्ला अष्टमी को हुआ। आपकी निर्वाण भूमि सम्मेतशिखर है। आप विवाहित थे। 30 वर्ष तक आप गृहस्थाश्रम में रहे। 70 वर्ष तक संयम का पालन किया और एक हजार मुनियों के साथ आपने मुक्ति लाभ प्राप्त किया।

24. भगवान् महावीर स्वामी जी

सत्य, अहिंसा के अमर दूत, विश्ववंद्य भगवान् महावीर आज से लगभग छब्बीस-सौ वर्ष पूर्व इस पवित्र भारत-भूमि पर अवतरित हुए थे। आपने अपने अलौकिक व्यक्तित्व और दिव्य आध्यात्मिक ज्योति से भारतीय संस्कृति के इतिहास में एक क्रांतिकारी युग का श्रीगणेश करके धार्मिक, सामाजिक और राष्ट्रीय क्षेत्र में नव स्फूर्ति, नव उत्साह तथा नव जीवन का संचार किया था। अविवेक और अज्ञान के भीषण गर्त में पड़े मानव को मानवता का आदर्श प्रकाश दिखलाकर उसे सत्य, अहिंसा के सुखद सिंहासन पर बिठलाया था। तथा दम तोड़ रही मानवता को जीवन का दान दिया था।

भगवान् महावीर का जन्म बिहार प्रान्त की वैशाली नगरी (कुण्डल पुर) के राजा सिद्धार्थ के घर में हुआ। इनकी माता त्रिशला[1] महाराजाधिराज चेटक की बहिन थीं। महावीर का जन्म चैत्र शुक्ला त्रयोदशी को हुआ था। भारतवर्ष के इतिहास में चैत्र शुक्ला त्रयोदशी का दिन वह पवित्र दिन है जो मानवता के लिए सदैव आदर एवं सम्मान का दिन बना रहेगा। इस दिन समूचे भारतवर्ष में महावीर जयन्ती बड़े समारोह के साथ मनाई जाती है।

महावीर का जन्म का नाम वर्धमान रखा गया था। जैनशास्त्रों की मान्यता के अनुसार दशवें स्वर्ग से च्यवकर जब महावीर का जीव माता त्रिशला के गर्भ में आया था, तभी से महाराज सिद्धार्थ के राज्य में धन, जन की सर्वतोमुखी वृद्धि होने लगी थी। अड़ोसी-पड़ोसी राजा लोग भी सिद्धार्थ की दासता स्वीकार करने लगे थे, और सिद्धार्थ जिस काम में हाथ डालते थे, वह निर्विघ्न सम्पन्न हो जाता था तथा उन्हें इच्छित लाभ की प्राप्ति होती थी। धन, परिजन तथ अन्य परिवार आदि में आशातीत वृद्धि होने के कारण माता त्रिशला और नरेश सिद्धार्थ ने निश्चय किया कि हमारे वैभव और ऐश्वर्य में जो दिन दूनी और रात चौगुनी उन्नति

1. दिगम्बर मान्यता के अनुसार भगवान् महावीर की माता वैशालीनरेश राजा चेटक की पुत्री थी।

दृष्टिगोचर हो रही है, यह सब गर्भस्थ जीव के ही पुण्य का अपूर्व प्रभाव है। अत: जब यह जीव हमारे घर में जन्म लेगा, तब इसका नाम वर्धमान रखा जाएगा। परिणामस्वरूप गर्भकाल पूर्ण होने पर जब महावीर ने जन्म लिया तब माता-पिता ने पूर्व निश्चय के अनुसार नाम संस्कार के दिन इनका नाम वर्धमान रखा।

वर्धमान बचपन से ही बड़े साहसी और निर्भीक थे। भय को कभी इन्होंने अपने निकट नहीं आने दिया। एक बार ये कुछ साथियों के साथ खेल रहे थे। इतने में अचानक एक सर्प कहीं से आ निकला, और इनकी ओर फुंकारें मारने लगा। अन्य बालक तो डर कर भाग गए किन्तु इन्होंने रस्से की भांति उस सर्प को उठाकर एक ओर छोड़ दिया। सर्प का भयंकर फणाटोप भी इनको भयभीत नहीं कर सका। बस यहीं से इनके जीवनोद्यान में वीरत्व के अंकुर दिखाई देने लग गए थे और यही अंकुर इनके भावी साधनामय जीवन में एक महान वृक्ष के रूप में परिणत हो गए। तथा इन्हें महावीर जैसे महामहिम नाम से विभूषित कराने में सफल हुए। माता-पिता का रखा वर्धमान नाम साधनाकाल में इनके लोम-हर्षक संकटों में जरा भी विचलित न होने के कारण, तथा मेरु की भांति निष्प्रकम्प रहने के कारण महावीर के रूप में बदल दिया गया। इसलिए ये वर्धमान की अपेक्षा महावीर के नाम से ही आध्यात्मिक तथा ऐतिहासिक जगत में विख्यात हैं।

महावीर निर्भीकता और वीरता के तो स्रोत थे ही, साथ में करुणा के भी सागर थे। किसी दु:खी और व्याकुल प्राणी को देखकर महावीर का मानस पसीज उठता था। इतिहास कहता है कि महावीर के युग में यज्ञों का बहुत जोर था। यज्ञों में पशुओं और मनुष्यों का बलिदान बहुतायत से होता था। बेचारे मूक पशु और असहाय मनुष्य धर्म का नाम लेकर आग में फूंक दिए जाते थे, और उस पर भी ''वैदिकी हिंसा, हिंसा न भवति'' यह कहकर उस पाप-कृत्य को अहिंसा का रूप दिया जाता था। करुणा-स्रोत भगवान् महावीर ने ये सब हिंसा पूर्ण यज्ञ अपनी आंखों से देखे तो ये सिहर उठे। बस फिर क्या था, राजपुत्र महावीर ने यज्ञों में जल रहे प्राणियों की रक्षा करने का दृढ़ निश्चय कर लिया। धर्म के नाम पर किये जाने वाले किसी भी अनुष्ठान का विरोध करना, उस समय मृत्यु को निमन्त्रण देना था, किन्तु महावीर तो महावीर ही थे। उन्होंने इस भय की तनिक भी चिन्ता नहीं की। 30 वर्ष की भरी जवानी में सोने के सिंहासन को अस्वीकार करके विश्व-कल्याण के लिए घर से निकल पड़े। मार्गशीर्ष कृष्णा एकादशी को प्रव्रजित होकर महावीर ने स्व-पर कल्याणकारिणी साधना में स्वयं को समग्रत: समर्पित कर दिया।

भगवान् महावीर ने साधु बनते ही उपदेष्टा का आसन ग्रहण नहीं किया था। औरों को समझाने से पहले वे स्वयं को समझाना चाहते थे। उनका विश्वास था कि जब तक साधक अपने जीवन को न सुधार ले, अपनी दुर्बलताओं पर विजय प्राप्त न कर ले, तब तक उसे प्रचार-क्षेत्र में नहीं आना चाहिए। यदि कोई आता है तो उसे सफलता प्राप्त नहीं हो सकती। इसीलिए महावीर ने साधु बनकर साढ़े बारह वर्षों तक घोर और कठोर तप किया। मानव समाज से अलग-थलग रहकर जंगलों में, पर्वतों की गुफाओं में निवास कर आत्मा की अनन्त प्रसुप्त आध्यात्मिक शक्तियों को जगाना ही उन दिनों उनका एकमात्र लक्ष्य था। अन्त में, उनकी साधना सफल हुई और वैशाख शुक्ला दशमी के दिन भगवान् महावीर को केवलज्ञान और केवलदर्शन का अखण्ड प्रकाश प्राप्त हो गया। केवलज्ञानी बनकर महावीर ने मानव समाज में मानवता को जगाने का प्रबल आन्दोलन प्रारंभ कर दिया।

भगवान् महावीर के आचरण-प्रधान धर्मोपदेशों ने भारत की काया ही पलट करके रख दी। वेद-मूलक हिंसक विधि-विधानों में लगे हुए बड़े-बड़े दिग्गज विद्वान भी भगवान् के चरणों के पुजारी बन गए। इन्द्रभूति गौतम जो अपने युग के एक धुरन्धर दार्शनिक और क्रियाकाण्डी ब्राह्मण थे, पावापुरी में विशाल यज्ञ का आयोजन कर रहे थे, इन पर भगवान् के विलक्षण ज्ञान-प्रकाश और अखण्ड तपस्तेज का ऐसा अपूर्व प्रभाव पड़ा कि ये सदा के लिए यज्ञवाद का पक्ष छोड़कर भगवान् के चरणों के दास बन गये। गौतम अकेले नहीं थे, बल्कि चार हजार चार सौ अन्य विद्वान ब्राह्मणों ने भी भगवान् के पास मुनि-दीक्षा ली। केवल ब्राह्मण ही भगवान् के पास साधु बने थे, ऐसी बात नहीं थी, किन्तु बड़े-बड़े राजा-महाराजा तथा सेठ साहूकारों के सुकुमार पुत्र भी भगवान् के चरणों में भिक्षु बने, मगध-सम्राट श्रेणिक की रानियां जो पुष्प-शय्याओं से नीचे कभी पांव नहीं रखती थीं, वे भी भगवान् की सेवा में उपस्थित हुईं और उन्होंने भी भिक्षुणी बनकर भगवान् का शिष्यत्व अंगीकार किया।

भगवान् महावीर ने अपने श्रमण-संघ तथा श्रावक-संघ को व्यवस्थित रखने के लिए चतुर्विध संघ की स्थापना की। चतुर्विध संघ में साधु, साध्वी, श्रावक और श्राविका इन चार समुदायों का सम्मिलन था। इस चतुर्विध संघ को तीर्थ भी कहा जाता है, इस तीर्थ के संस्थापक होने से भगवान् महावीर इस युग में 24वें तीर्थंकर माने जाते हैं।

भगवान् महावीर के सामने उस समय अनेकों समस्याएं थीं। सर्वप्रथम नारी-जगत की समस्या को लें। उस समय का समाज नारी के सम्बन्ध में बड़ी दूषित भावना रख रहा था।

मातृ-शक्ति का बुरी तरह अपमान कर रहा था। इसने उसे धार्मिक तथा सामाजिक अधिकारों से वंचित कर दिया था। किसी नारी को धर्म-शास्त्र पढ़ने का अधिकार नहीं था। नारी को अपवित्र और दीन समझकर इससे घृणा की जाती थी, किन्तु महावीर ने इसका विरोध किया और कहा कि पुरुष के समान नारी भी धार्मिक तथा सामाजिक क्षेत्र में भाग ले सकती है। नारी को हीन और दीन समझना निरी अज्ञानता है। इसके अलावा, भगवान् ने भिक्षुसंघ के समान भिक्षुणी संघ, तथा श्रावक संघ की भांति श्राविका संघ बना कर नारी जाति के सम्मान तथा आदर को सर्वथा सुरक्षित रखा। भगवान् के संघ में जहां साधुओं की संख्या 14 हजार थी वहां साध्वियों की संख्या 36 हजार थी। भगवान् के आध्यात्मिक दरबार में नारी कितनी सम्मानित तथा सत्कृत होती थी, यह उनके चतुर्विध संघ में, भिक्षुणी संघ और श्राविका संघ के स्वतंत्र निर्माण से ही स्वत: स्पष्ट हो जाता है।

भगवान् महावीर के सामने दूसरी समस्या अछूतों की थी। उस समय का हिन्दू समाज शूद्र जाति को अछूत और अस्पृश्य बनाकर उस के साथ बड़ा दुर्व्यवहार करता था। शूद्रों की इतनी अधिक दुर्दशा थी कि यदि कोई शूद्र किसी ब्राह्मण की छाया को भी छू जाता था तो बहुत बुरी तरह उसकी मार-पीट की जाती थी। धर्म-स्थानों में किसी शूद्र को जाने नहीं दिया जाता था, यदि शूद्र किसी वस्तु आदि का स्पर्श कर दे तो उसे फैंक दिया जाता था। शूद्रों के साथ हो रहे इस प्रकार के अमानवीय दुर्व्यवहार से भगवान् महावीर को अत्यधिक वेदना हुई। उन्होंने इस का भी डटकर विरोध किया। भगवान् ने कहा कि मनुष्य जाति एक है, उसमें जाति-पांति की दृष्टि से विभाग करना किसी भी तरह ठीक नहीं है। मनुष्य के प्रति, यह स्पृश्य है या अस्पृश्य है, इस प्रकार का भेदमूलक विचार मानवता के लिए कलंक है। जन्म से कोई स्पृश्य नहीं है और कोई अस्पृश्य नहीं है। ऊंच, नीच के सम्बन्ध में भगवान् के विचार कर्म-मूलक थे। भगवान् का विश्वास था कि श्रेष्ठ कर्म व्यक्ति को श्रेष्ठ और दुष्ट कर्म व्यक्ति को दुष्ट बना देता है। अत: जन्म से न कोई श्रेष्ठ है और न कोई दुष्ट है। जन्म से न कोई ब्राह्मण है, न कोई क्षत्रिय है। जन्म से कोई वैश्य या शूद्र भी नहीं कहा जा सकता। ब्राह्मण बनने के लिए ब्राह्मण के योग्य कर्मों का आचरण करना अपेक्षित होता है। इसी प्रकार उच्चता प्राप्त करने के लिए किसी वर्ण या वर्ग का कोई बन्धन नहीं है। उच्च विचारों वाला प्रत्येक व्यक्ति उच्चता के सिंहासन पर बैठ सकता है। भगवान् महावीर का यह विश्वास केवल विश्वास ही नहीं था, किन्तु हरिकेशीबल जैसे चाण्डाल-पुत्रों को अपने भिक्षु संघ में सम्मानपूर्वक सम्मिलित करके भगवान् ने जो कुछ कहा, वह करके दिखाया। पोलासपुर में सद्दालपुत्र

कुम्हार के यहां रह कर भगवान् ने पतितपावनता तथा दीन-बन्धुता का उज्ज्वल आदर्श उपस्थित किया। आगम साहित्य में एक भी ऐसा उदाहरण नहीं मिलता, जहां भगवान् किसी राजा-महाराजा अथवा ब्राह्मण या क्षत्रिय के महलों में विराजमान रहे हों। राजपुत्र होकर भी साधारण स्थानों में निवास करना, यह प्रभु वीर के त्याग तथा पतितपावनता का ज्वलन्त उदाहरण है।

भगवान् महावीर के सामने तीसरी समस्या यज्ञवाद की थी। उस समय का समाज यज्ञ में पशुओं और मनुष्यों की बलि दिया करता था। उसका विश्वास था कि यज्ञ करने से स्वर्ग की प्राप्ति होती है, और जीवन के समस्त दु:ख दूर ही जाते हैं। अश्वमेध, गोमेध और नर-मेध उस युग के विशेष लब्ध-प्रतिष्ठ यज्ञ माने जाते थे। इन[1] यज्ञों में जीवित घोड़ों, गौओं और मनुष्यों को यज्ञ-कुण्ड में फैंक दिया जाता था। अहिंसा के अग्रदूत भगवान् महावीर ने यज्ञ-वाद के इस किले को भी तोड़ा और संसार को अहिंसा का संदेश देते हुए कहा कि किसी के जीवन का नाश करना अनधिकार चेष्टा है, अन्याय है, अत्याचार है, हिंसा है। हिंसा कभी स्वर्गदायिनी नहीं हो सकती। अग्निकुण्ड में जैसे कमल पैदा नहीं हो सकते, वैसे ही हिंसा की आग जहां जल रही हो वहां सुख, शान्ति और आनन्द के पौधे भी नहीं लहलहा सकते हैं। हिंसा से स्वर्ग मिलता है, कितनी गलत और विचित्र धारणा है यह? बलिदान तो पशुओं का होता है, और स्वर्ग मारने वाले को मिलता है ! यह अन्धेर नहीं तो और क्या है? कहा जाता है कि यज्ञ करने से पशुओं का उद्धार हो जाता है। यदि यज्ञ से पशुओं का उद्धार होता है तो याज्ञिक लोग पहले अपना और अपने परिवार का ही उद्धार क्यों नहीं कर लेते? बेचारे पशुओं को क्यों बलि चढ़ाते हैं? उद्धार के चिन्तकों को सर्व-प्रथम अपना उद्धार करना चाहिए। विश्वास रखो, हिंसा आखिर हिंसा है। चाहे वह किसी भी उद्देश्य से की जाए और किसी भी धर्म-शास्त्र के नाम पर की जाए। जब हम में से किसी को दिया दु:ख धर्म का रूप नहीं ले सकता तो पशुओं को दिया गया दु:ख, सुख का कारण कैसे बन सकता है? अत: हिंसा अधर्म है, पाप है और मानवता के लिए सब से बड़ा अभिशाप है।

इस प्रकार विश्ववंद्य भगवान् महावीर ने तात्कालिक सभी समस्याओं का समाधान किया, और राष्ट्र की काया पलट दी। सोई मानवता को जगा डाला, भारत का धार्मिक और

---

1. आज भी काली देवी आदि देवियां के मन्दिरों में भैंसों, बकरों तथा सूअरों की जो बलियां दी जाती हैं, यह सब महावीर काल में जो यज्ञ चल रहे थे, उन्हीं के ध्वंसावशेष हैं।

सामाजिक स्तर उन्नत किया। भगवान् महावीर का सान्निध्य पाकर मनुष्य ने मनुष्यता की पावन भूमिका पर रहकर 'स्वयं जीओ और दूसरों को जीने दो' (Live and let live) के सर्वोच्च सिद्धान्त की शीतल छाया तले सानन्द जीवन व्यतीत करने का पवित्र ढंग सीखा। भगवान् ने अपने जीवन-काल में धार्मिक और सामाजिक सभी क्षेत्रों में लोगों को एक अपूर्व और एक नया ही दृष्टिकोण दिया था, उनके जीवन का एक-एक पग निराला था, और वह आदर्श से ओतप्रोत था। भगवान् महावीर गृहस्थ में रहे तो भी शान के साथ, और जनगण के मान्य अध्यात्म नेता बने तो भी शान के साथ। अथ से अन्त तक वे आदर्शों का विलक्षण उपहार संसार को अर्पित करते रहे। कभी अपने जीवन में वे लड़खड़ाए नहीं, एक सफल सैनिक की भांति वे सदा प्रगति पथ पर बढ़ते ही चले गये। अन्त में, पावापुरी की पुण्य भूमि में उस महामहिम क्रांतिकारी महामानव का निर्वाण होता है, तीर्थंकर भगवान् का मोक्ष होता है। कार्तिक मास की कृष्णा अमावस्या का दीपमाला[1] पर्व (दीवाली) इस जननेता भगवान् महावीर के पवित्र निर्वाण का एक पुण्यमय मधुर स्मारक है, जिसे भारत के कोने-कोने में बड़े उत्साह और उल्लास के साथ मनाया जाता है।

महावीर के जीवन पर बहुत कुछ लिखा व कहा जा सकता है, परन्तु सभी कुछ लिखना इस समय हमारा लक्ष्य नहीं है। यहां तो केवल भगवान् महावीर की जीवन-झांकी ही पाठकों के सामने चित्रित करना चाहते हैं। विशेष जिज्ञासुओं को स्वतन्त्र रूप से भगवान् महावीर का जीवन-चरित्र देखना चाहिए। संक्षेप में अपनी बात कह दूं, भगवान् महावीर जैन-धर्म के चौबीसवें तीर्थंकर थे, आपकी जन्म-भूमि वैशाली (कुण्डलपुर), पिता महाराजा सिद्धार्थ, और माता त्रिशलादेवी थीं। आप का विवाह अपने समय की अनुपम सुन्दरी राजकुमारी यशोधा[2] से सम्पन्न हुआ था। प्रियदर्शना नाम की आपकी एक पुत्री थी। बड़े भाई का नाम नन्दीवर्धन था। आप उत्कृष्ट त्यागी महापुरुष थे। भारतवर्ष में फैले हुए हिंसामय यज्ञों का आपने डटकर विरोध किया। बौद्ध साहित्य में भी आप का उल्लेख मिलता है। महात्मा बुद्ध आपके समकालीन थे। वर्तमान में आप का ही धर्म-शासन चल रहा है।

भगवान् महावीर की लोक-प्रियता कितनी बढ़ी-चढ़ी है, इस सम्बन्ध में अपनी ओर

1. दीपमाला पर्व के सम्बन्ध में इस पुस्तक के "जैन-पर्व" नामक अध्याय में प्रकाश डाला गया है, पाठक उसे देखने का कष्ट करें।
2. दिगम्बर सम्प्रदाय की मान्यता है कि भगवान् महावीर का विवाह नहीं हुआ, वे बाल-ब्रह्मचारी थे, किन्तु श्वेताम्बर इन्हें विवाहित मानते हैं।

से अधिक कुछ न लिखकर भारत के राष्ट्र-पुरुषों ने समय-समय पर जो भगवान् महावीर के सम्बन्ध में अपने विचार प्रस्तुत किये हैं, आगे की पक्तियों में उन्हीं का यत्किंचित् दिग्दर्शन प्रस्तुत है–

विश्व-शान्ति के अग्रदूत भगवान् महावीर पर लोक-मत

भगवान् महावीर अहिंसा के अवतार थे। उनकी पवित्रता ने संसार को जीत लिया था। महावीर स्वामी का नाम इस समय यदि किसी भी सिद्धान्त के लिए पूजा जाता है, तो वह अहिंसा है।· अहिंसा तत्त्व को यदि किसी ने अधिक विकसित किया है, तो वे महावीर स्वामी थे।

–महात्मा गांधी

मैं अपने को धन्य मानता हूं कि मुझे महावीर स्वामी के प्रदेश में रहने का सौभाग्य मिला है। अहिंसा जैनों की विशेष सम्पत्ति है। जगत के अन्य किसी भी धर्म में अहिंसा सिद्धान्त का प्रतिपादन इतनी सफलता से नहीं मिलता। वर्तमान युग में भगवान् महावीर के सिद्धान्तों के प्रसार की अत्यन्त आवश्यकता है, इसमें कोई सन्देह नहीं है।

–राष्ट्रपति डॉ० राजेन्द्र प्रसाद

यदि मानवता को विनाश से बचाना है, और कल्याण के मार्ग पर चलना है, तो भगवान् महावीर के सन्देश को और उनके बताये हुए मार्ग को ग्रहण किये बिना और कोई रास्ता नहीं है।

–राष्ट्रपति डॉ० राधाकृष्णन

भगवान् महावीर का सन्देश किसी खास कौम या फिरके के लिए नहीं है; बल्कि समस्त संसार के लिए है। अगर जनता महावीर स्वामी के उपदेश के अनुसार चले तो वह अपने जीवन को आदर्श बना ले। संसार में सच्चा सुख उसी सूरत में प्राप्त हो सकता है जब कि हम उनके बताये हुए मार्ग पर चलें।

–राजगोपालाचारी

आधुनिक संसार एक धधकते ज्वालामुखी के मुंह में बैठा है। ऐसा प्रतीत होता है कि उसने दोनों भयंकर और विनाशकारी महा-युद्धों से कोई शिक्षा ग्रहण नहीं की। यदि ज्वालामुखी फट पड़े तो मानवता, सभ्यता, बल्कि संसार का पूर्ण विनाश होने में कोई सन्देह न रहेगा। इस चिन्तामय स्थिति में यदि त्राण पाने का कोई मार्ग है तो वह श्रमण शिरोमणि

भगवान् महावीर का बतलाया हुआ शान्ति, भ्रातृत्व तथा अहिंसा का सन्देश है।

–भीमसेन सच्चर, गवर्नर आन्ध्र प्रदेश

महावीर ने संसार को स्वतन्त्रता का सन्देश दिया है। मुक्ति सच्चे धर्म में शरण लेने से मिलती है, न कि समाज के बाहरी रीति-रिवाजों से।

–डॉक्टर टैगोर

जैन-धर्म के सिद्धान्त मुझे अत्यन्त प्रिय हैं। मेरी आकांक्षा है कि मृत्यु के पश्चात् मैं जैन-परिवार में जन्म धारण करूं।

–जार्ज बर्नार्ड शा

इस प्रकार अन्य भी अनेकों अभिमत महावीर के सम्बन्ध में उपलब्ध होते हैं, किन्तु विस्तार के भय से कुछ-एक ही ऊपर दिए हैं।

प्रश्न–तीर्थंकरों की शरीरगत ऊंचाई कितनी थी?

उत्तर–भगवान् ऋषभदेव के शरीर की ऊंचाई 500 धनुष की थी। अजितनाथ जी की 450 धनुष, संभवनाथ जी की 400, अभिनन्दननाथ जी की 350, सुमतिनाथ जी की 300, पद्मप्रभ जी की 250, सुपार्श्वनाथ जी की 200, चन्द्रप्रभ जी की 150, सुविधिनाथ जी की 100, शीतलनाथ जी की 90, श्रेयांसनाथ जी की 80, वासुपूज्य जी की 70, विमलनाथ जी की 60, अनन्तनाथ जी की 50, धर्मनाथ जी की 45, शान्तिनाथ जी की 40, कुन्थुनाथ जी की 35, अरनाथ जी की 30, मल्लिनाथ जी की 25, मुनिसुव्रत जी की 20, नमिनाथ जी की 15 और अरिष्टनेमि जी की शरीरगत ऊंचाई 10 धनुष की थी। भगवान् पार्श्वनाथ जी के शरीर की ऊंचाई नौ हाथ और भगवान् महावीर के शरीर की ऊंचाई सात हाथ की थी।

प्रश्न–सागरोपम का क्या अर्थ होता है?

उत्तर–एक बार आंख की पलक गिराने में असंख्यात समय बीत जाते हैं, ऐसे असंख्य समयों की एक आवलिका होती है। 4,480 आवलिकाओं का एक श्वासोच्छ्वास, निरोग पुरुष के 3,773 श्वासोच्छ्वासों का एक मुहूर्त्त (दो घड़ी), तीस मुहूर्त्त का एक अहोरात्र (दिन-रात), 15 अहोरात्र का एक पक्ष, दो पक्षों का एक मास, दो महीनों की एक-एक ऋतु (वसन्त आदि), तीन ऋतुओं का एक अयन, (उत्तरायण और दक्षिणायन), और दो अयन

का एक वर्ष होता है।

एक योजन लम्बे, एक योजन चौड़े और एक योजन गहरे गोलाकार गड्ढे में देवकुरु, उत्तरकुरु क्षेत्र के मनुष्य के एक दिन से लेकर सात दिन तक के जन्मे हुए बालक के बालाग्र ऐसे बारीक करके ठूंस-ठूंस कर भर दिए जाएं, जिनके तीक्ष्ण शस्त्र से भी दो टुकड़े न हो सकें। चक्रवर्ती की सेना उनके ऊपर से निकले तो भी वे दबें नहीं। फिर उस गड्ढे में से सौ-सौ वर्ष व्यतीत हो जाने पर एक-एक बालाग्र निकाला जाय। इस प्रकार बालाग्र निकालते-निकालते जितने समय में सारा गड्ढा खाली हो जाए, एक भी बाल उसमें शेष न रहे, उतने वर्षों को एक पल्योपम कहते हैं। ऐसे दस कोड़ाकोड़ी (10000,0000,0000,00) पल्योपम का एक सागरोपम होता है।

प्रश्न—धनुष किसको कहते हैं?

उत्तर—चार हाथ के परिमाण को धनुष कहते हैं।

प्रश्न—मनुष्य सैकड़ों हाथ का हो सकता है, तथा उसकी आयु लाखों वर्षों की भी हो सकती है, यह सत्य कैसे माना जाए?

उत्तर—हमने जो जमाना देखा है, वह केवल 50-60 वर्ष पहले का ही जमाना देखा है। उसे देखकर ही हमने प्राचीन जमाने को उसके साथ मिलाने का यत्न किया है। किन्तु यह हमारी भूल है। क्योंकि दोनों में अपेक्षाकृत बड़ा अन्तर पाया जाता है। जैसे कुछ शताब्दियों पहले योद्धा लोग दो मन भारी लोहे का कवच पहनकर युद्ध करने जाते थे। हम्मीर, टीपू सुल्तान आदि वीर पुरुष मनों भारी वजन की गदा, तलवार आदि को हाथ में लेकर लड़ा करते थे। भीमसेन युद्ध में हाथियों को उठा-उठाकर फैंक दिया करते थे। अभी 30-40 वर्ष पहले लाहौर जिले में चग्रां गांव का रहने वाला हीरासिंह नामक पहलवान 27 मन भारी मुद्गर घुमाता था और इसी जिले के बलटोहे गांव का रहने वाला फत्तेसिंह नामक सिक्ख 100 मन तक भारी अरहट (रेंट) को उठा लेता था। राम-मूर्ति चलती गाड़ी को रोकने का साहस रखता था। इस प्रकार के अन्य अनेकों उदाहरण दिए जा सकते हैं, इन सब पर हम आजकल के नाजुक निर्बल शरीरों को देखकर विचार करें तो ये सब असंभव-सी बातें मालूम पड़ेंगी, किन्तु हैं सब की सब सत्य। अत: हमें वर्तमान काल को अतीत काल के साथ मिलाने का यत्न नहीं करना चाहिए।

प्रकृति का यह अटल सिद्धान्त है कि भूमि यदि बलवान है, अधिक रस वाली है तो

उसमें उत्पन्न हुई वनस्पति में भी अधिक रस और बल होता है। उस सबल वनस्पति का जो सेवन करते हैं वे मनुष्य भी अधिक बली होते हैं। उदाहरणार्थ, पंजाब की भूमि से गुजरात की भूमि में रस और शक्ति कम है। इसलिए पंजाब की वनस्पति खाने वाले पंजाबियों के शरीर गुजरातियों की अपेक्षा अधिक बलवान और कद्दावर होते हैं और पंजाब से काबुल की भूमि अधिक शक्ति सम्पन्न है, अत: वहां के मेवा आदि वनस्पति भारत की अपेक्षा अधिक शक्ति सम्पन्न होने से वहां के पुरुष भी अधिक कद्दावर और बलवान होते हैं। इससे स्पष्ट हो जाता है, शरीर की लम्बाई, चौड़ाई पर भूमि तथा भूमि-जन्य वनस्पति का भी बड़ा प्रभाव रहता है। प्राचीन-काल में भूमि शक्ति सम्पन्न होती थी, तो उससे उत्पन्न हुई वनस्पति भी सबल होती थी। वनस्पति की सबलता से उसे ग्रहण करने वाले भी सबल होते थे, किन्तु आज अवसर्पिणी-काल अर्थात् कलियुग के प्रभाव से भूमि की भी वह पहली जैसी शक्ति नहीं रही, परिणामस्वरूप तज्जन्य वनस्पति भी सबल नहीं है और साथ में वनस्पति खाने वाले मनुष्य भी पहले जैसे बलवान और कद्दावर नहीं रहने पाए हैं।

प्राचीन समय के मनुष्यों में शरीर-बल बहुत होता था, जो कि कलियुग के प्रभाव से आगे-आगे के जमाने में बराबर घटता चला आया है। यह घटती यहीं तक समाप्त नहीं होगी प्रत्युत और आगे बढ़ेगी। इस समय शरीरों में जो बल दृष्टिगोचर हो रहा है, भविष्य में इतना भी नहीं रहेगा, इससे भी कम पड़ जाएगा। ठीक इसी प्रकार शरीर की ऊंचाई के सम्बन्ध में भी समझ लेना चाहिए। पहले समय में शरीर की ऊंचाई भी बहुत बड़ी होती थी, किन्तु घटते-घटते वह भी बहुत कम रह गई है। आज किसी के सामने यदि पुराने समय की शरीरगत ऊंचाई का वर्णन करते हैं, तो उसे वह असंगत और असंभव-सी प्रतीत होती है, परन्तु होती वह सर्वथा सत्य है।

आजकल प्राय: मनुष्यों का कद 5-6 फुट ऊंचा होता है। हमारी आंखों को इसी कद के देखने का अभ्यास पड़ गया है। हमारी आंखें आज इतनी अभ्यस्त हो गई हैं कि यदि सात-आठ फुट का कोई आदमी नजर आ जाए तो हमें महान आश्चर्य होता है और हम उसे पुन:-पुन: देखते हैं। जब व्यक्ति को सामने देखकर भी हमें आश्चर्य होता है, तब जिस शरीरगत ऊंचाई का हमने कभी साक्षात्कार नहीं किया, उसे सुनकर तो हमारा विस्मित होना स्वाभाविक ही है। क्योंकि अद्भुत और अश्रुतपूर्व पदार्थ को सुन या देखकर विस्मित होना मनुष्य का स्वभाव बन गया है। उसी स्वभाव के अनुसार आज मनुष्य तीर्थंकरों की शरीरगत विशाल ऊंचाई को सुनकर विस्मित हो उठता है।

तीर्थंकरों की शरीरगत ऊंचाई की सत्यता में सबसे बड़ा प्रमाण यही दिया जा सकता है कि सौ वर्ष पहले शरीर की जो ऊंचाई पाई जाती थी वह आज नहीं है। समय के प्रभाव से शरीरगत ऊंचाई की क्रमश: हीनता ही इस बात का प्रमाण है कि प्राचीन समय में शारीरिक ऊंचाई बहुत अधिक होती थी। इसके अतिरिक्त आज सामान्य रूप से शरीर का कद 5 या 6 फुट ऊंचा माना जाता है, परन्तु आज भी इससे अधिक ऊंचे कद वाले मनुष्य मिल जाते हैं। बम्बई देवल सर्कस में 9 फुट ऊंचा एक आदमी काम करता था। जब आजकल ही इतने ऊंचे कद वाले मनुष्य मिल जाते हैं, तब फिर प्राचीन समय में बहुत ऊंचे शरीर वाले मनुष्यों का होना क्यों असंगत और असंभव है? 18 सितम्बर सन् 1892 के ''गुजरात मित्र'' के 30वें अंक में अस्थिपंजरों का वर्णन करते हुए लिखा है कि ''कीनटोलोकस'' नाम का एक राक्षस साढ़े 15 फुट ऊंचा था। फरटीग्स नाम का मनुष्य 28 फुट ऊंचा था। मुलतान शहर में वीर दरवाजे के भीतर एक 9 गज की कब्र अभी तक विद्यमान है, जिससे स्पष्टतया प्रकट होता है कि उस कब्र वाला मनुष्य 9 गज यानी 18 हाथ ऊंचा था। विलायत के एक अजायबघर में मनुष्य का डेढ़ फुट लम्बा दांत रखा हुआ है। विचार कीजिए, जिस मनुष्य का वह दांत है, वह स्वयं कितना बड़ा होगा! 12 नवम्बर, सन् 1893 के गुजराती पत्र में हंगरी में मिले हुए एक राक्षसी कद के मेंढक के अस्थि-पिंजर का समाचार छपा था। उसमें लिखा है कि इस मेंढक की दोनों आंखों में 18 इंच यानि डेढ़ फुट का अन्तर है। जब कि आज कल यह अन्तर लगभग एक इंच का होता है। उसकी खोपड़ी 312 रतल भारी है और समस्त हाडों के पंजर का वजन 18600 रतल है। (रतल एक प्रकार का विशिष्ट मान होता है।)

उक्त अस्थि-पंजर लाखों वर्ष पुराने नहीं हैं, किन्तु कुछ हजार वर्ष पहले के हैं। फिर जैन तीर्थंकरों को हुए तो लाखों, करोड़ों वर्ष बीत गए हैं। ये अनुमान से भी कितने अधिक ऊंचे होने चाहिएं, इसका अनुमान उपर्युक्त उदाहरणों से लगाया जा सकता है। तथा भगवान् ऋषभदेव तथा अजितनाथ आदि तीर्थंकरों को तो इतना समय व्यतीत हो चुका है कि जिसकी अंकों द्वारा गणना ही नहीं की जा सकती है। आज के युग में ऊंचे कद वाले मनुष्य तथा अस्थि-पंजर उपलब्ध हो रहे हैं, तो उस युग में इससे भी बहुत ऊंचे कद वाले मनुष्य तथा अस्थि-पंजर हों, तो इसमें आश्चर्य वाली कोई बात नहीं है।

1850 में भूमि खोदते समय राक्षसी कद के मनुष्य का अस्थिपंजर भूमि से निकला था। उसमें जबड़े की अस्थि आज के मनुष्य के पांव जितनी लम्बी थी, उसकी खोपड़ी इतनी

बड़ी थी कि उसमें 28 सेर पक्के गेहूं समा जाते थे, और दांत का वजन पौन आउंस (कुछ कम दो तोले) प्रमाण का था। प्रोफेसर ''थीओडोर कुक'' अपने बनाए ''भूस्तर विद्या'' के ग्रंथ में लिखते हैं कि पहले समय में उड़ते गिरोलो (छिपकली, किरली) जाति के प्राणी इतने बड़े होते थे कि उनकी पांख 27 फुट लम्बी होती थी। जब प्राचीन काल में इतने विशालकाय प्राणी मिलते थे तो मनुष्यों की अवगाहना (शरीर-सम्बन्धी लम्बाई-चौड़ाई) बहुत बड़ी हो, इसमें आश्चर्य जैसी क्या बात है? इसके अतिरिक्त वैदिक ग्रंथ महाभारत के 19वें अध्याय में राहु का सिर पर्वत के शिखर जितना बड़ा लिखा है। इसी ग्रंथ के 29वें अध्याय में 6 योजन ऊंचा और बारह योजन लम्बा हाथी लिखा है। तथा तीन योजन ऊंचा और दश योजन के घेरे वाला कुर्मा–कछुआ बतलाया है। इन सब प्रमाणों से यह नितान्त स्पष्ट हो जाता है कि प्राचीनकाल में प्राणियों की शारीरिक ऊंचाई बड़ी विशाल होती थी।

मनुष्य का यह स्वभाव रहा है कि वह वर्तमान को देखकर ही प्राय: चलता है। इसीलिए उसे अतीत काल की बातें असंगत और असंभव प्रतीत होती हैं। पर वस्तुस्थिति ऐसी नहीं होती। सुनते हैं कि श्री हरदयाल जी एम.ए. हजारों पृष्ठों की पुस्तक को एक बार पढ़ लेते थे, और उन्हें उस पुस्तक का इतना अभ्यास हो जाता था कि उस पुस्तक को उनसे इति से अथ की ओर भी सुनना चाहें तो वे ऐसे सुना सकते थे, जैसे कोई पुस्तक पढ़कर सुना रहा हो। यह बात सर्वथा सत्य है, तथापि सौ वर्षों के बाद जब किसी के सामने कही जाएगी तो वह कहेगा कि ऐसा हो ही नहीं सकता, यह सर्वथा असंभव या असंगत है। परन्तु उसके असंभव या असंगत कह देने से तो वह असंभव या असंगत नहीं हो जाएगा। भीम की शक्ति का जिस समय ग्रन्थों में वर्णन पढ़ते हैं तो देखते हैं कि भीम हाथियों को आकाश में उछाल देता था और उसके उछाले हाथी न जाने कहां गिरते थे। पर आज का मनुष्य इसे भी असंभव और असंगत मानता है। राममूर्ति ने चलती कार को रोक लिया था और वह चलती गाड़ी को भी रोकने का साहस रखता था। उसने अंग्रेजों से कहा था कि यदि गाड़ी सबके लिए मुफ्त कर दी जाय तो मैं ऐसा करके भी दिखला सकता हूं, पर अंग्रेजों ने ऐसा करना स्वीकार नहीं किया, फलत: वह बात नहीं बनने पाई। सौ वर्षों के पश्चात् यदि किसी के सामने राममूर्ति की वीरतापूर्ण यह बात आएगी, तो भी असंभव या असंगत बतलाया जाएगा। इन सब बातों से फलित होता है कि वर्तमान को देखने का मनुष्य का प्राय: स्वभाव हो गया है, इसलिए वर्तमान काल से जो बात मेल नहीं खाती, उस अतीत-कालीन बात को मानने से इन्कार कर देता है। पर उसके इन्कार कर देने से वस्तुस्थिति की हत्या नहीं हो सकती। अत: तीर्थंकरों

की शारीरिक अवगाहना के सम्बन्ध में जैन शास्त्रों में जो लिखा है, वह भी सर्वथा सत्य है, उसमें असत्यता की विचारणा नहीं करनी चाहिए।

रही तीर्थंकरों की आयु की बात, उसके सम्बन्ध में भी इतनी ही बात समझनी चाहिए कि आयु का प्रमाण आजकल की अपेक्षा प्राचीनकाल में बहुत अधिक था। इसका कारण इतना ही है कि उस समय शरीर में शक्ति बहुत होती थी और आज उस शक्ति का अभाव है। शक्तिहीनता या निर्बलता के कारण ही आजकल मनुष्य प्राय: 60-70 वर्ष तक कठिनता से पहुंच पाते हैं, जब कि कुछ समय पहले मनुष्य प्राय: 90 या 100 वर्ष के होकर ही मरते थे। इससे सिद्ध होता है कि प्राचीन-काल में आयु का प्रमाण भी आजकल की अपेक्षा बहुत अधिक था, जो शरीर की ऊंचाई तथा बल के साथ-साथ बराबर दिनों-दिन घटता चला आया है, और घटता ही चला आ रहा है। जैसे अवसर्पिणी काल या कलियुग के प्रभाव से शारीरिक अवगाहना कम हो गई है, और होती जा रही है, वैसे ही प्राणियों की आयु भी अवसर्पिणी या कलियुग के प्रभाव से थोड़ी रह गई है और हीनता की ओर बढ़ रही है। काल का प्रभाव प्रत्येक पदार्थ पर पड़ता है। इस सत्य से कभी इन्कार नहीं किया जा सकता। उदाहरणार्थ—सत्ययुग में मनुष्यों का बल, बुद्धि, विचार तथा रहन-सहन जिस प्रकार का था, आज उसमें बहुत अन्तर आ गया है। आज वे सब बातें केवल शास्त्रों की बातें या स्वप्न बन गई हैं। आज उस युग जैसी सात्विकता देखने को भी नसीब नहीं होती। यही स्थिति आयु की है। आयु भी समय के प्रभाव से अछूती नहीं रही है। अवसर्पिणी काल या कलियुग के भीषण प्रहारों ने आयु की लम्बाई को भी समाप्त कर दिया है।

तीर्थंकरों की महान आयु सुनकर हमें आश्चर्य होता है, और वह हमें असंभव और असंगत-सी प्रतीत होती है, किन्तु बात इतनी विस्मयजनक नहीं है, जितनी आज हमने समझ रखी है। क्योंकि काल के प्रहार बड़े जबरदस्त होते हैं। समय[1] के चक्र को समझ लेने पर कुछ भी विस्मयजनक नहीं रहने पाता।

''प्राचीनकालीन महापुरुषों की आयु महान होती थी'' यह मान्यता केवल जैनदर्शन की ही नहीं है। वैदिक परम्परा भी ऐसा ही मानती है। उदाहरणार्थ, मनुस्मृति की टीका में मर्यादा पुरुषोत्तम भगवान् राम की आयु दस हजार वर्ष की लिखी है। सम्वत् 1949 में

---

1. समय (काल) के विभागों का वर्णन प्रस्तुत पुस्तक के ''लोक-स्वरूप'' नामक अध्याय में किया गया है। पाठक उसे देखने का कष्ट करें।

विरजानन्द प्रैस से लाहौर में प्रकाशित व्यासकृत भाष्यसहित योग-दर्शन पृष्ठ 61-62 पर "भुवनज्ञानं सूर्ये संयमात्" 26; इस सूत्र के भाष्य में लिखा है –

ततः प्रस्तारः सप्तलोका...अणिमाद्यैश्वर्योपपन्ना कल्पायुषो वृन्दारकाः कामभोगिनः औपपादिकदेहा उत्तमानुकूलाभिरप्सरोभिः कृतपरिवाराः। ऐते........महाभूतवशिनो ध्यानाहाराः कल्पसहस्रायुषः इत्यादि।

अर्थात्–सात लोक हैं।.......अणिमा, महिमा आदि ऋद्धियों से सहित, यथेच्छभोगी, सुन्दरीप्रिय, अप्सराओं के परिवार वाले, औपपादिक शरीरधारी देव होते हैं। उनकी आयु (उम्र) कल्प के बराबर होती है।.....ये देव महाभूतों को वश करने वाले, ध्यान मात्र से आहार करने वाले (विचार करते ही जिन को भोजन मिल जावे, भूख मिट जावे), हजार कल्प की आयु वाले होते हैं।

देव-तर्पण प्रकरण में सत्यार्थ-प्रकाश के 101वें पृष्ठ पर स्वामी दयानन्द जी ने शतपथ ब्राह्मण का "विद्वांसो हि देवाः" यह प्रमाण देकर विद्वान मनुष्यों को ही देव बतलाया है। इस कारण स्वामी दयानन्द जी के कथनानुसार योगदर्शन के प्रमाण से यह सिद्ध हो जाता है कि विद्वान पुरुषों की आयु हजार कल्पों की होती है। एक कल्प हजारों वर्षों का होता है। इसलिए योगदर्शन के लिखे अनुसार कभी कहीं मनुष्यों की आयु लाखों वर्षों की भी होनी चाहिए। जब वैदिक जगत का प्रामाणिक ग्रंथ योगदर्शन मनुष्यों की ऐसी लम्बी आयु बतलाता है, जिसका भाष्य महर्षि व्यासकृत है, तब तीर्थंकरों की लम्बी आयु असंभव, अप्रामाणिक या असंगत कैसे कही जा सकती है?

वैदिक परम्परा के महामान्य ऋषिवर विश्वामित्र के तप के सम्बन्ध में कहा जाता है कि वे 80-80 हजार वर्ष लगातार लम्बा तप किया करते थे। इससे स्पष्ट होता है कि प्राचीन काल में बहुत लम्बी आयु होती थी। यदि लाखों वर्ष की आयु को असंभव या असंगत मान लिया जाए तो ऋषि विश्वामित्र का 8-80 हजार वर्ष का लम्बा तप कैसे संभव और संगत हो सकता है?

इसके अतिरिक्त, भारत के मनुष्यों की औसत आयु 26 वर्ष है। अमेरिका आदि देशों में औसत आयु 42 वर्ष की है, किन्तु पृथ्वीराज चौहान के समय में भारतीय मनुष्यों की औसत आयु 80 वर्ष की थी। इस प्रकार थोड़ी-सी शताब्दियों में ही मनुष्यों की आयु में इतनी हीनता आ गई है तो लाखों करोड़ों, अथवा उससे भी प्राचीन काल से अब तक कितनी हीनता आनी

चाहिए यह स्वत: स्पष्ट हो जाता है।

आशा है, उक्त विवेचन से यह स्पष्ट हो गया होगा कि जैन तीर्थंकरों की लम्बी आयु तथा ऊंचे देहमान का जो जैन-शास्त्रों में वर्णन मिलता है, वह सर्वथा सत्य ही है, उसे किसी भी प्रकार असंभव या असंगत नहीं कहा जा सकता।

पुरातनकालीन लम्बी आयु और शारीरिक लम्बाई-चौड़ाई के सम्बन्ध में लेखक ने श्री रणवीर जी, सम्पादक उर्दू-मिलाप, नई दिल्ली, को एक प्रश्न-पत्र भेजा था। उसका जवाब उन्होंने 25-11-58 मंगलवार के उर्दू-मिलाप के, "आपके सवाल और उनका जबाव यह है", इस स्तम्भ में दिया है। वह मननीय, तथा चिन्तनीय होने से यहां दिया जाता है। वह ज्यों का त्यों इस प्रकार है –

प्रश्न–हमारे ग्रंथों में लिखा है कि पहले जमाने में ऋषियों, महात्माओं और दूसरे साधारण लोगों की आयु बहुत लम्बी होती थी, हजारों और लाखों वर्षों की। यह भी लिखा है कि आज की अपेक्षा उनके शरीर अधिक लम्बे और चौड़े होते थे। क्या यह बात सत्य है?

उत्तर--हमारे ग्रंथों के अनुसार सृष्टि को प्रारंभ हुए पौने दो अरब वर्ष व्यतीत हो चुके हैं। छ: मन्वन्तर समाप्त हो चुके हैं। अब सातवें मन्वन्तर के 28वें महायुग (या चतुर्युग) का आखिरी युग कलियुग चल रहा है। इसके भी पांच हजार से अधिक वर्ष व्यतीत हो चुके हैं। हमारे शास्त्रों के अनुसार प्रत्येक मन्वन्तर में 71 महायुग होते हैं। प्रत्येक महायुग में चार युग, एक महायुग का समय 43,20,000 वर्ष होता है। एक मन्वन्तर का काल 30,67,20,000 वर्ष है। इन्हीं शास्त्रों में यह भी लिखा है कि प्रत्येक मन्वन्तर के पश्चात् पृथ्वी पर एक लघु प्रलय आती है। प्राय: सभी मनुष्य और पशु नष्ट हो जाते हैं। नाश का यह समय एक महायुग अर्थात् 43,20,000 वर्ष का होता है। इन 43,20,000 वर्षों में जो कुछ पुराना है, वह प्राय: सब नष्ट हो जाता है, तब अगले मन्वन्तर के प्रारम्भ होने पर पुन: सब तत्त्वों की उत्पत्ति होती है। फिर शास्त्रों में यह भी लिखा है कि प्रत्येक महायुग के अनन्तर महानाश होता है। सब कुछ नहीं, परन्तु बहुत कुछ नष्ट हो जाता है। इस तरह प्रत्येक युग के अनंतर भी विनाश होता है। कोई इतना बड़ा युद्ध होता है, जिसमें मानव जगत का बहुत बड़ा भाग समाप्त हो जाता है। ऐसी दशा में कौन कह सकता है कि आज जो महायुग चल रहा है, इससे पहले के 27 महायुगों में संसार की और मनुष्य की स्थिति क्या थी? और इससे पहले के छ: मन्वन्तरों में क्या थी?

आज जो ज्ञान हमारे पास है, वह अधिक से अधिक दस या पन्द्रह हजार वर्षों का है। वह भी अधूरा और धुंधला-सा। पांच हजार वर्ष पहले का ज्ञान इससे कुछ अच्छा है। ठोस ज्ञान सिर्फ तीन या साढ़े तीन हजार वर्षों का है। इन तीन या साढ़े तीन हजार वर्षों में कहीं भी ऐसा उल्लेख नहीं मिलता कि साधारणतः उन लोगों की आयु बहुत अधिक थी या कद बहुत लम्बे थे।

महाभारत के काल में श्रीकृष्ण की आयु देहान्त के समय 125 वर्ष की थी। आचार्य द्रोण की आयु 400 वर्ष, द्रुपद इनसे भी बड़े थे, और लड़ रहे थे। भीष्मपितामह की आयु 160 वर्ष की थी। शान्तनु के भाई बल्हीक की आयु 185 वर्ष की थी। महर्षि व्यास जिन्होंने महाभारत लिखा है, तीन सौ वर्ष तक जीवित रहे। इन सब महापुरुषों की आयु महाभारत में लिखी है। इनके अतिरिक्त कुछ ऐसे महापुरुष भी हैं, जिनका उल्लेख रामायण में भी आता है और इसके पश्चात् महाभारत में भी। ये महापुरुष हैं—महर्षि मार्कण्डेय, इन्द्र (देवता नहीं, बल्कि एक महाराज), नारद और श्री परशुराम आदि। इन सबका उल्लेख राम की कथा में भी आता है, और महाभारत की कथा में भी। श्रीराम त्रेतायुग में हुए, महाभारत द्वापर के अन्त पर हुआ, इसका अर्थ यह है कि यह सब लोग कम से कम 8,64,000 वर्ष तक जीवित रहे। आज यह बात कोरी गप्प मालूम होती है, किन्तु महर्षि चरक ने अपने आयुर्वेद ग्रंथ में लिखा है कि विशेष प्रकार के रसायन का उपयोग करके पुरातन समय में लोग हजारों वर्षों तक बीमारी, निर्बलता, वार्धक्य और मृत्यु के बिना जीवित रहते थे। वह विशेष प्रकार का रसायन आज हम जानते नहीं हैं। परन्तु मनुस्मृति में मनु महाराज ने भी कहा है कि सतयुग और त्रेता में लोगों की साधारण आयु चार सौ वर्ष होती थी। बाद में वह शनैः शनैः घटती गई। प्रत्येक युग में चार सौ का चतुर्थ भाग कम हो जाता है। अर्थात् सतयुग में चार सौ, त्रेता में तीन सौ, द्वापर में दो सौ और कलियुग में एक सौ। परन्तु स्मरण रखिए कि यह साधारण लोगों की आयु है। महर्षियों, योगियों, सन्तों और उन विद्वानों की नहीं, जो रसायन विद्या को जानते थे।

यह बात कि पुरातन काल में लोगों की आयु लम्बी होती थी, सिर्फ हमारे देश के ग्रंथों में ही नहीं लिखी। बाईबिल (Bible) में और मिश्र की पुरानी पुस्तकों में कई सन्तों और महात्माओं की आयु सात सौ, आठ सौ और नौ सौ वर्ष लिखी है। ऐसी दशा में प्रश्न पैदा होता है कि अगर उस समय में लोगों की आयु इतनी लम्बी होती थी, तो आज क्यों नहीं होती? इसका उत्तर जानना हो तो अमेरिका और अफ्रीका के खेतों में होने वाली फसलों को और बागों में होने वाले फलों को देखिए! इन दोनों देशों के बहुत-से भागों की भूमि पता नहीं

कितनी शताब्दियों से कृषि (काश्त) के बिना पड़ी थी। जब इनमें बीज बोए गए तो प्रत्येक वस्तु की फसल संसार के दूसरे भागों की अपेक्षा कई गुणा उत्तम होने लगी। कारण बिल्कुल स्पष्ट है कि इन दोनों स्थानों पर भूमि के अन्दर शताब्दियों तक उपयोग में न लाए जाने के कारण जो शक्ति है, वह उन देशों की भूमियों में नहीं जो शताब्दियों से आबाद हैं और जिन भूमियों में काश्त हो रही है। यह कई एक शताब्दियों तक उसको उपयोग में न लाए जाने का परिणाम है। इसलिए प्रत्येक मन्वन्तर के बाद जब भूमि 43,20,000 वर्षों तक उपयोग में लाए बिना पड़ी रहेगी तो अगले मन्वन्तर के प्रारम्भ में भूमि की शक्ति असीम होगी। उपरोक्त समस्त तथ्यों के आधार पर कह सकते हैं कि करोड़ों वर्ष पूर्व के मनुष्यों की आयु आज की अपेक्षा अत्यधिक हो तो इसमें किंचित् आश्चर्य नहीं होना चाहिए।

❑ ❑ ❑

बरनार्ड शा और जैन-धर्म

ट्रिब्यून ता. 31-7-46 पृष्ठ 4 सम्पादकीय लेख के कॉलम तीसरे में जार्ज बरनार्ड शा के विषय में लिखा है –

बरनार्ड शा इंग्लैंड के ही नहीं, प्रत्युत संसार भर के सुप्रसिद्ध लेखक हैं। इनकी आयु 90 साल की है। सुलझे हुए विचारों के ये विद्वान हैं। अपने समय के अनुपम उपन्यासकार हैं। सर्वतोमुखी प्रतिभा के धनी हैं। इनका सबसे बड़ा आर्ट (कला) जनहित की भावना से भरपूर साहित्य का निर्माण है। अभी-अभी उन्होंने यह इच्छा प्रकट की है कि यदि मुझे अगले जन्म से धर्म चुनना पड़े तो मैं जैनधर्म को ही पसन्द करूंगा। बरनार्ड शा के अपने शब्द निम्नोक्त हैं –

"If I were to select a religion, it would be, an eastern one, Jainism".

अर्थात्–यदि मुझे कोई धर्म चुनना पड़े तो वह पूर्वीय "जैन-धर्म" होगा। जैनधर्म की महानता और लोकप्रियता कितनी अपूर्व है, जैनधर्म विश्व के धर्मों में कितना ऊंचा स्थान रखता है, यह बात जार्ज बरनार्ड शा के उक्त शब्दों से अच्छी तरह प्रकट हो जाती है।

❑ ❑ ❑

स्थानकवासी जैन परम्परा

प्रश्न—जैन धर्म में कितनी सम्प्रदाय हैं? उनके नाम क्या-क्या हैं?

उत्तर—वर्तमान में जैन धर्म की प्रमुखत: चार सम्प्रदाय हैं। उनके नाम हैं—(1) दिगम्बर सम्प्रदाय, (2) श्वेताम्बर मूर्त्तिपूजक सम्प्रदाय, (3) श्वेताम्बर स्थानकवासी सम्प्रदाय, और (4) श्वेताम्बर तेरापन्थ सम्प्रदाय।

प्रश्न—उक्त चारों सम्प्रदायों में मौलिक अभेद/समानता क्या है?

उत्तर—उक्त चारों सम्प्रदायों की आध्यात्मिक-सैद्धान्तिक मान्यताओं में पर्याप्त समानताएं हैं। बाह्य आचार में पर्याप्त भिन्नताएं होने पर भी आन्तरिक विचार के तल पर मौलिक भेद नहीं हैं। उदाहरण के लिए—चारों सम्प्रदाय तीर्थंकर भगवान् महावीर को अपने आराध्य देव के रूप में मानती हैं, छत्तीस गुणों से युक्त साधु को ही सद्गुरु मानती हैं, सम्यक् ज्ञान, सम्यक् दर्शन, सम्यक् चारित्र, सम्यक् तप को मोक्ष का साधन, तथा अहिंसा, संयम व तप रूप धर्म को धर्म मानती हैं। चारों सम्प्रदायों के दार्शनिक सिद्धान्त पूर्ण एकरूपता लिए हुए हैं। चारों ही सम्प्रदायों के अनुयायी अपने आप को भगवान् महावीर का उपासक और जैन कहलाने में गौरव का अनुभव करते हैं।

प्रश्न—एक ही आराध्यदेव के उपासक होकर भी चार सम्प्रदायों में विभक्तिकरण का क्या कारण है?

उत्तर—हिमालय एक है, पर उससे निकलने वाली सरिताएं अनेक हैं। उन सरिताओं के नाम और प्रवाह स्थल भले ही अनेक और अलग-अलग हैं, पर जलीय गुण-धर्म में सर्वत्र एकरूपता है। ऐसे ही महावीर का धर्मसंघ वर्तमान में भले ही चार विभागों में विभक्त दिखाई दे, पर उन चारों की मौलिक आस्थाओं और मान्यताओं में विभेद नहीं है।

एक बीज से उत्पन्न वृक्ष से अनेक शाखाओं-प्रशाखाओं का विकास होता है। सहस्रों पत्रों, पुष्पों और फलों को वह वृक्ष धारण करता है। वृक्ष की शाखाएं-प्रशाखाएं अलग होकर भी अपने मूल में एक ही होती हैं। ऐसे ही जैन धर्म की विभिन्न सम्प्रदाय भी अलग-अलग

दिखाई देकर भी अलग नहीं हैं। अहिंसा, संयम, तप की प्राणधाराएं सभी सम्प्रदायों की मूल प्रेरणाएं हैं।

प्रश्न—स्थानकवासी शब्द का अर्थ क्या है?

उत्तर—व्याकरण की दृष्टि से 'स्था' धातु से 'अनट्' प्रत्यय होकर स्थान शब्द बनता है। फिर स्वार्थ में 'क' प्रत्यय कर लेने पर स्थानक रूप हो जाता है। वास शब्द से शीलार्थ में ''णित्'' प्रत्यय करके ''वासी'' शब्द बनता है। स्थानक और वासी दोनों शब्दों को मिलाकर 'स्थानकवासी' शब्द सिद्ध हो जाता है। स्थान का अर्थ है—ठहरने की जगह और वासी शब्द 'निवास करने वाला' इस अर्थ का परिचायक है। स्थानक में निवास करने वाला व्यक्ति[1] स्थानकवासी कहलाता।

स्थानक द्रव्य और भाव इन भेदों से दो प्रकार का होता है। द्रव्य-स्थानक शब्द अमुक प्रकार का क्षेत्र, भूमि या निवास करने की जगह आदि अर्थों का बोधक है। स्थानक शब्द द्रव्य दृष्टि से सामान्यतया इन्हीं अर्थों में प्रयुक्त होता है, किन्तु जैन परम्परा में यह शब्द एक विशेष अर्थ में रूढ़ हो गया है। स्थानक जैन-जगत का अपना एक पारिभाषिक शब्द बन गया है और उसका प्रयोग उस स्थान के लिए किया जाता है जिस में माटी, पानी, तृण, घास आदि सचित्त पदार्थ नहीं हैं, जो स्त्री, पशु और नपुंसक से रहित है, जो साधु- मुनिराजों के निमित्त तैयार नहीं किया गया है, अर्थात् साधु को निमित्त बनाकर जिस में किसी भी प्रकार की आरम्भ, समारम्भ आदि क्रियाएं नहीं की गई हैं, चाहे वह किसी व्यक्ति-विशेष का है, या किसी समाज का है, ऐसे शान्त, एकान्त तथा शुद्ध स्थान को स्थानक कहा जाता है। अथवा उस धर्म-स्थान का नाम स्थानक है, जिसका श्वेताम्बर स्थानकवासी जैन परम्परा को मानने वाले गृहस्थ लोगों ने अपनी आध्यात्मिक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए निर्माण किया है। अथवा समय-समय पर संयमशील जैन मुनि जिस स्थान में निवास करते हैं, धर्म प्रचार करने के लिए अपनी मर्यादा के अनुसार आकर ठहरते हैं वह स्थान स्थानक कहलाता है।

स्थानक शब्द की उक्त अर्थ-विचारणा में यह स्पष्ट हो जाता है कि स्थान शब्द का प्रयोग दो स्थानों के लिए किया जा सकता है, प्रथम, जो सामान्य मकान है, जो धर्म-स्थान के रूप में नहीं बनाया जा गया है, जो किसी एक व्यक्ति का है, और जिस में साधु मुनिराज ठहरते हैं, धर्मोपदेश करते हैं, तथा दूसरा—वह स्थान जिसका 'धर्म-स्थान' के रूप में समाज या एक व्यक्ति द्वारा निर्माण हुआ है। इस प्रकार स्थानक शब्द दो अर्थों का बोधक है, किन्तु आज-कल

---

1 स्थीयते अस्मिन्निति स्थानम्, स्थानमेवेति स्थानकम्, स्थानके वसति, तच्छील इति स्थानकवासी।

इसका अधिक प्रयोग श्वेताम्बर स्थानकवासी जैन श्रावक संघ के धार्मिक स्थान के लिए ही किया जाता है।

स्थानक को उपाश्रय[1] भी कहा जाता है। स्थूल दृष्टि से देखा जाए तो ये दोनों पयार्यवाची शब्द हैं, दोनों एक ही अर्थ के परिचायक हैं। मूर्ति पूजा को आगम-विहित न मानने वाली स्थानकवासी परम्परा और उसे आगमविहित मानने वाली श्वेताम्बर मन्दिरमार्गी परम्परा दोनों में स्थानक और उपाश्रय इन शब्दों का व्यवहार चल सकता है। इन दोनों शब्दों में अर्थगत कोई विशेष भेद न होने पर भी सम्प्रदाय-भेद से एक ही भाव के वाचक दोनों शब्द आज बंट गए हैं। मूर्ति-पूजा में विश्वास न रखने वाली स्थानकवासी परम्परा में प्राय: स्थानक शब्द प्रसिद्ध है, और मूर्ति-पूजा मे विश्वास रखने वाली श्वेताम्बर या पीताम्बर मन्दिरमार्गी परम्परा ने उपाश्रय शब्द को अपना लिया है। वैसे स्थानकवासी परम्परा में भी उपाश्रय का आदर पाया जाता है, किन्तु अन्तिम शताब्दियों से इस परम्परा में स्थानक शब्द का ही अधिक प्रयोग मिलता है।

भाव-स्थानक

स्थानक का दूसरा भेद भाव-स्थानक है। आत्मा की स्वाभाविक गुण-परिणति या आत्मा का निज स्वरूप में रमण करना भावस्थान कहलाता है। जब आत्मा क्रोध, मान, माया और लोभ आदि विकारों को जीवन से अलग कर देता है, क्षमा, मृदुता, सरलता और निर्लोभता आदि आत्म-गुणों में रमण करता है; भौतिक पदार्थों की ममता को छोड़कर ज्ञान, दर्शन और चारित्र में अपने को लगा देता है उस समय वह भाव स्थानक को प्राप्त कर लेता है। वस्तुत: आत्मा का विभाव को छोड़कर निज स्वरूप में रमण करना भावस्थानक है।

अध्यात्म जीवन में द्रव्य-शुद्धि और भाव-शुद्धि दोनों की नितान्त आवश्यकता होती है। द्रव्य-शुद्धि का भी अपना महत्वपूर्ण स्थान है। यह भाव-शुद्धि में सहायता प्रदान करती है। इसलिए जैनागमों में साधुओं के लिए स्थान-स्थान पर एकान्त और शांत स्थान में रहने का तथा कामविवर्द्धक स्थान के परित्याग करने का बलपूर्वक आदेश दिया गया है। वह स्थान जहां संयम को बाधा पहुंचती हो, अन्तर्जगत के दूषित और अस्वस्थ होने की सम्भावना रहती हो उसको त्याग देने की आज्ञा प्रदान की है। इस प्रकार जहां द्रव्य-शुद्धि के लिए जैनागमों ने जोर दिया है, वहां इस से अधिक भाव-शुद्धि पर बल दिया है। भाव-शुद्धि का सर्वोपरि स्थान है। भाव-शुद्धि के बिना द्रव्य-शुद्धि का कोई महत्व नहीं रहता। वस्तुत: भाव-शुद्धि से ही

1. उपाश्रीयते संसेव्यते संयमात्मपालनायेत्युपाश्रय:। (स्थानांगवृत्ति:)

द्रव्य-शुद्धि में जीवन आता है। अन्यथा वह मृत कलेवर की भांति निस्सार और निष्प्राण बन जाती है। द्रव्य शुद्धि केवल जीवन के बाह्य वातावरण को शुद्ध करती है किन्तु आत्म-समाधि और संयम की निर्मलता की प्राप्ति के लिए भावशुद्धि अपेक्षित होती है। इसलिए मोक्षाभिलाषी साधक को द्रव्य-शुद्धि से आगे बढ़कर भाव-शुद्धि को अपनाने की आवश्यकता होती है। भाव-शुद्धि का ही दूसरा नाम भाव-स्थानक है। भाव-स्थानक आत्मा की संयमपूर्ण शुद्ध अवस्था का ही नामान्तर है।

जैनागमों ने भाव 5 बतलाए हैं—1. औपशमिक, 2. क्षायिक, 3. क्षायोपशमिक, 4. औदयिक, और 5. पारिणामिक। जो उपशम से पैदा हो, उसे औपशमिक भाव कहते हैं। उपशम एक प्रकार की आत्मा की शुद्धि होती है। जो सत्तागत कर्म का उदय रुक जाने पर वैसे ही प्रकट होती है जैसे मल के नीचे बैठ जाने पर जल में स्वच्छता प्रकट होती है। क्षय से पैदा होने वाले भाव का नाम क्षायिक है। यह आत्मा की वह परमविशुद्धि है जो कर्म का सम्बंध सर्वथा छूट जाने पर प्रकट होती है। जैसे सर्वथा मल के निकाल देने पर जल स्वच्छ हो जाता है, ऐसे ही क्षायिक भावों में आत्मा सर्वथा स्वच्छ हो जाती है। क्षय और उपशम दोनों से पैदा होने वाला भाव क्षायोपशमिक कहलाता है। क्षयोपशम भी एक प्रकार की आत्मिक शुद्धि ही है। यह कर्म के एक अंश का उदय सर्वथा रुक जाने पर और दूसरे अंश का[1] प्रदेशोदय द्वारा क्षय होते रहने पर प्रकट होती है। यह विशुद्धि वैसी ही मिश्रित है जैसे धोने से मादक शक्ति के क्षीण हो जाने और कुछ रह जाने पर कोदों (सांवां-की जाति का एक मोटा अन्न) की शुद्धि होती है। उदय से होने वाले भाव को औदयिक कहते हैं। उदय एक प्रकार का आत्मिक कालुष्य—मालिन्य है जो कर्म के विपाकानुभव[2] से वैसे ही पैदा होता है, जैसे मल के मिल जाने पर जल में मालिन्य प्रकट हो जाता है। पारिणामिक भाव द्रव्य का वह परिणाम है जो सिर्फ द्रव्य के अस्तित्व से आप ही आप प्रकट हुआ करता है। अर्थात् किसी भी द्रव्य का स्वाभाविक स्वरूप-परिणमन ही पारिणामिक भाव कहलाता है। जीवत्व—चैतन्य, भव्यत्व—मुक्ति की योग्यता, अभव्यत्व—मुक्ति की अयोग्यता, ये तीनों भाव पारिणामिक हैं, स्वाभाविक हैं। ये तीनों न कर्मों के उदय से, न उपशम से, न क्षय से और न क्षयोपशम से पैदा होते हैं, किन्तु अनादिसिद्ध आत्म-द्रव्य के अस्तित्व से ही सिद्ध हैं, इसी से वे पारिणामिक हैं।

इन पांच भावस्थानों में क्षायिक भाव ही मुख्य भावस्थान है। यह भावस्थान कर्म सम्बंध के सर्वथा क्षय हो जाने के अनन्तर ही प्राप्त होता है। कर्म-सम्बंध का नाश करने के लिए संयम

---

1. नीरस किये हुए कर्म-दलिकों का वेदन प्रदेशोदय कहलाता है
2. रसविशिष्ट दलिकों का विपाकवेदन ही विपाकोदय होता है।

की परिपालना अत्यावश्यक है। संयम का पालन करने के लिए चारित्र को अपनाना होता है। चारित्र पांच हैं–1. सामायिक, 2. छेदोपस्थापनीय, 3. परिहार-विशुद्धि, 4. सूक्ष्मसम्पराय, और 5. यथाख्यात। समभाव में स्थित रहने के लिए सावद्य प्रवृत्तियों का त्याग करना सामायिक है। प्रथम दीक्षा लेने के बाद विशिष्ट श्रुत का अभ्यास कर चुकने पर विशेष शुद्धि-निमित्त जो जीवन-पर्यन्त पुनः बड़ी दीक्षा ली जाती है या प्रथम ली हुई दीक्षा सदोष हो जाने पर उस का छेद करके फिर नए सिरे से जो दीक्षा का आरोप किया जाता है वह छेदोपस्थापनीय चारित्र होता है। जिस में विशेष प्रकार के तपप्रधान आचार का पालन किया जाता है, उसे परिहार-विशुद्धि चारित्र कहते हैं। जिनमें क्रोध आदि कषायों का तो उदय नहीं होता, सिर्फ लोभ का अंश अति-सूक्ष्म रूप से शेष रहता है वह सूक्ष्म-सम्पराय चारित्र कहलाता है तथा जिसमें किसी भी कषाय का उदय नहीं होने पाता वह यथाख्यात (वीतराग) चारित्र कहा जाता है।

भाव-स्थान को प्राप्त करने वाला साधक उक्त चारित्र का पालन करता है। ये चारित्र भावस्थान को प्राप्त करने के साधन हैं। इन साधनों द्वारा भावस्थान की प्राप्ति होती है। इन साधनों पर "अन्नं वै प्राणाः"[1] इस सिद्धान्त के अनुसार यदि साध्य का आरोप कर लिया जाए तो इनको भी भावस्थान कह सकते हैं। साधन में साध्य का आरोप कर लेने पर सामायिक आदि संयम-स्थान भी भावस्थान के नाम से व्यवहृत किये जा सकते हैं। सामायिक आदि अनुष्ठानों में संलग्न आत्मा पर-भाव को छोड़कर निज स्वभाव में अवस्थित होता है, पुद्गलानन्दी न रहकर आत्मानन्दी बन जाता है। इसलिए भावस्थान का "आत्मा का विभाव को छोड़कर निजस्वरूप में प्रतिष्ठित होना" यह अर्थ भी फलित हो जाता है। इस प्रकार भावस्थानक के दो अर्थ प्रमाणित होते हैं–1. आत्मस्वरूप तथा 2. आत्मस्वरूप की प्राप्ति में साधन-भूत सामायिक आदि चारित्र।

स्थानक शब्द की द्रव्य और भाव गत अर्थविचारणा के अनन्तर यह स्पष्ट हो जाता है कि द्रव्य-स्थानक में वास करने वाला द्रव्य-स्थानकवासी और भाव-स्थानक में वास करने वाला भावस्थानकवासी कहलाता है। **स्थानके द्रव्यस्थानके कस्यांचित् वसत्यां वसति तच्छील इति द्रव्यस्थानकवासी, तथा भावस्थानके भावसंयमादिरूपे सम्यक्-चारित्रे वसति तच्छीलः, भावस्थानवासी।** इस प्रकार गुणनिष्पन्न यौगिक व्युत्पत्ति के द्वारा स्थानकवासी के दोनों रूपों की स्पष्टता और प्रामाणिकता भली-भांति सुनिश्चित हो जाती है। यह सत्य है कि शाब्दिक व्युत्पत्ति के आधार पर व्यक्ति चाहे जैन हो या अजैन हो द्रव्य और भाव स्थानक में

1. अन्न ही प्राण है। यहां अन्न प्राणों का साधन होने पर भी साध्य रूप में ही ग्रहण किया गया है।

वास करने से स्थानकवासी कहला सकता है। स्थानकवासी शब्द की भावना से भावित प्रत्येक व्यक्ति स्थानकवासी पद से व्यवहृत किया जा सकता है किन्तु यह शब्द आज एक विशिष्ट सम्प्रदाय के रूप में रूढ़ हो गया है। मूर्ति-पूजा में विश्वास न रखने वाला श्वेताम्बर जैन-समाज ही आज स्थानकवासी शब्द द्वारा समझा व माना जाता है।

स्थानकवासी शब्द का क्षेत्र बड़ा व्यापक है। इसकी परिधि में संयम के महा-पथ पर बढ़ने वाले, आत्म-स्वरूप को प्राप्त करने के लिए कर्मसेना के साथ युद्ध करने वाले सभी संयमी, साधु, मुनिराज और आत्म-स्वरूप को प्राप्त करने वाले, केवलज्ञानी, सिद्ध, बुद्ध सभी जीव आ जाते हैं। मोक्ष-स्थान को प्राप्त करने की अभिलाषा रखने वाले साधक तो विशुद्ध भाव से सामायिक आदि चारित्रिक रूप भावस्थान में निवास करने के कारण तथा भावस्थान (संयम) के पोषक निर्दोष स्थानक, उपाश्रय या वसति आदि में वास करने से स्थानकवासी कहलाते ही हैं किन्तु लोक के अग्रभाग में विराजमान सिद्ध भगवान् भी स्थानकवासी कहे व माने जा सकते हैं। तथा सर्वोत्कृष्ट कैवल्य-विभूति द्वारा प्राप्त, परम-पुनीत जीवन-मुक्त स्थान में निवास करने वाले तीर्थंकर भगवान् और अन्य केवली भी स्थानकवासी प्रमाणित हो जाते हैं, क्योंकि ये सब आत्माएं अपने भावस्थान--ज्ञान, दर्शन आदि आत्मस्वरूप में विराजमान रहती हैं। इनका भावस्थानक में होना ही इनको स्थानकवासी प्रमाणित कर देता है। इसके अतिरिक्त, यह भी समझ लेना चाहिए कि प्रत्येक मोक्षाभिलाषी साधक को सर्वप्रथम स्थानकवासी बनना ही पड़ता है। स्थानकवासी बनकर ही वह मोक्ष मंदिर को प्राप्त करने में सफल-मनोरथ हो सकता है। स्थानकवासी बने बिना मोक्ष का महामन्दिर हाथ नहीं आ सकता। कारण स्पष्ट है, जब तक वह आत्मसंयम रूप भावस्थान में वास करता हुआ अपने वास्तविक स्वरूप को उपलब्ध नहीं होता तब तक मोक्ष प्राप्त होना कठिन ही नहीं, बल्कि सर्वथा असंभव है। अतः प्रत्येक साधक को सबसे पहले स्थानकवासी बनना होता है। उसके अनंतर ही उसे सच्चिदानन्द की अवस्था मिल सकती है।

स्थानकवासी शब्द का प्रयोग केवल जैन-साधुओं के लिए ही नहीं होता, बल्कि स्थानकवासी परम्परा को मानने वाले या देश-संयम रूप भावस्थान में वास करने वाले गृहस्थ वर्ग पर भी होता है। जैन-परम्परा में श्वेताम्बर शब्द से जैसे श्वेताम्बर साधु और गृहस्थ दोनों का बोध होता है तथा दिगम्बर शब्द जैसे दिगम्बर साधु और गृहस्थ इन दोनों का परिचायक है, वैसे ही स्थानकवासी शब्द स्थानकवासी साधु और गृहस्थ दोनों का संसूचक है। दूसरे शब्दों में, स्थानकवासी शब्द से त्यागी वर्ग और गृहस्थ वर्ग दोनों का ग्रहण किया जाता है।

प्रश्न–स्थानकवासी समाज को ढूण्ढक मत भी कहा जाता है, ढूण्ढक शब्द का क्या भाव है?

उत्तर–ढूंढक शब्द का भी अपना एक गम्भीर और मौलक रहस्य है। यह शब्द लघुता या हीनता का द्योतक नहीं है। इसके पीछे महान दृष्टिकोण रहा हुआ है। इसका अर्थ है– ढूंढ़ने वाला, खोज करने वाला। जीवन-विकास में खोज का, अन्वेषण और अनुसंधान का कितना बड़ा मूल्य है यह आज के वैज्ञानिक युग में किसी से छुपा हुआ नहीं है। अन्वेषण- वृत्ति ने ही आज मनुष्य को पक्षी की तरह आकाश में उड़ना सिखा दिया है, मछली की भांति समुद्र की छाती पर तैरा दिया है। अणु शक्ति और विद्युत शक्ति आदि अन्य भी अनेक प्रकार की शक्तियों का प्रादुर्भाव अन्वेषण और अनुसंधान का ही सुपरिणाम है। अनुसंधान में जीवन है, यदि उसका सदुपयोग हो तो स्वर्ग है और मुक्ति भी इसी के हाथों में खेलती है।

''जिन खोजा तिन पाइया '' की रहस्य-पूर्ण उक्ति ढूण्ढक शब्द की महत्ता, उपयोगिता और लोक-प्रियता को मुक्त-कण्ठ से स्वीकार कर रही है। यह उक्ति सामान्य उक्ति नहीं है। विचार-जगत् में इसका महत्वपूर्ण स्थान है। ढूण्ढक (ढूण्ढिया) शब्द उन लोगों का वाचक है जिन्होनें अध्यात्मवाद की खोज की, धार्मिक क्रियाओं के आडम्बरयुक्त आवरणों को हटाकर उनमें अवस्थित अहिंसा, सत्य आदि का बुद्धि-शुद्ध शोधन किया। **''वैदिकी हिंसा, हिंसा न भवति''** कहकर जो लोग हिंसा को धर्म बतला रहे थे, तथा मन्दिरों में वीतराग भगवान् की प्रतिमा बनाकर उसे सरागता का चोला पहनाकर उनकी वीतरागता को विडम्बित कर रहे थे, सर्वथा त्यागी और अहिंसक महापुरुषों की मूर्तियों के आगे सचित्त पुष्प तथा उनकी मालाएं चढ़ाकर उनकी अहिंसकता को तिरस्कृत कर रहे थे। उन लोगों को अहिंसा का सत्पथ दिखलाकर संसार में अहिंसा के मूल रूप को जिन्होंने सर्वथा सुरक्षित रखा, उन लोगों को ढूण्ढक पद से व्यवहृत किया जाता है। ऐसे विलक्षण और अपूर्व भावों का परिचायक है ढूण्ढक शब्द। ढूण्ढक शब्द का रहस्य निम्नोक्त कविता की भाषा में कितनी सुन्दरता से व्यक्त किया गया है–

ढूण्ढत ढूण्ढत ढूण्ढ लियो सब, वेद पुराण किताब में जोई।
जैसे दही में माखन ढूण्ढत, ऐसे दया में लियो है जोई॥
ढूण्ढत है तब ही वस्तु पावत, बिन ढूण्ढे नहीं पावत कोई।
ऐसे दया में धर्म है ढूण्ढयो, जीव दया बिन धर्म न होई॥

प्रश्न–स्थानकवासी परम्परा प्राचीन है या अर्वाचीन? यह परम्परा भगवान् महावीर से सम्बन्धित है या इसका जन्म उनके अनन्तर हुआ है?

उत्तर–भगवान् महावीर से पूर्व के तीर्थंकरों के युग में स्थानकवासी परम्परा किस रूप में थी? और वह भगवान् महावीर से कैसे सम्बन्धित रही? इत्यादि प्रश्नों के उत्तर ऐतिहासिक सामग्री की अपेक्षा रखते हैं। ऐतिहासिक सामग्री के अभाव में इस सम्बंध में हम कुछ नहीं कह सकते। जहां इतिहास मौन हो जाता है वहां लेखक को भी मौन साधना पड़ता है। अत: विवशता से भगवान् महावीर से पूर्व की स्थानकवासी परम्परा की ऐतिहासिक स्थिति पर कुछ न कहकर भगवान् महावीर के बाद में स्थानकवासी परम्परा किस तरह से चली आ रही है और आज तक उसका प्रवाह अविच्छिन्न धारा से कैसे प्रवाहित होता चला आ रहा है, इसी सम्बंध में कुछ कहा जायेगा।

स्थानकवासी परम्परा का विश्वास है कि भगवान् महावीर से लेकर आज तक कोई भी ऐसी घड़ी नहीं रही जब कि मध्य में स्थानकवासी परम्परा का विच्छेद हो गया हो। इस परम्परा के साधु-मुनिराज सदा संसार को अहिंसा, सत्य का उपदेशामृत पिलाते रहे हैं और भगवान् महावीर से लेकर आज तक भगवान् महावीर की साधु-वंश-परम्परा लगातार चली आ रही है। यह वंश परम्परा कहीं भी कभी खण्डित नहीं होने पाई है। यह सत्य है कि साधु-साध्वियों की अधिकता और न्यूनता होती रही। कभी साधुओं की संख्या बढ़ गई और कभी वे अल्पसंख्यक हो गये, ये सब बातें संभव हो सकती हैं, किन्तु ऐसा कोई समय नहीं आया, जबकि स्थानकवासी मुनिराजों की परम्परा की कड़ी भंग हो गई हो, साधु-जीवन का कभी सर्वथा अभाव हो गया हो। स्थानकवासी परम्परा के विश्वास के अनुसार भगवान् महावीर का धर्मसिंहासन कभी खाली नहीं रहा। उसे कोई न कोई पूज्य आचार्यदेव विभूषित करते ही रहे हैं। यह धर्म-सिंहासन पूर्व की भांति आज भी किसी न किसी धर्माचार्य द्वारा आसेवित तथा परिपालित है।

भगवान् महावीर की शिष्य-परम्परा

स्थानकवासी परम्परा की प्राचीनता तथा अखण्डित धारा को समझने के लिए भगवान् महावीर की शिष्य-परम्परा को देखना होगा। अत: नीचे की पंक्तियों में भगवान् महावीर की शिष्य-परम्परा या शिष्य-वंशावली का परिचय कराया जा रहा है–

1. पूज्य श्री सुधर्मा स्वामी

भगवान् महावीर का जब निर्वाण होता है, उस समय अवसर्पिणी काल का चतुर्थ आरक

चल रहा था। पंचम आरक लगने में तीन वर्ष और साढ़े सात मास शेष थे। इसके अनन्तर पंचम आरा चालू हो जाता है। महावीर-निर्वाण से 470 वर्ष बाद महाराज विक्रमादित्य ने अपना विक्रम सम्वत् चलाया, ऐसा इतिहास-वेत्ताओं का मत है। इस समय विक्रम संवत् 2042 चल रहा है। इससे सिद्ध होता है कि आज से 470 + 2042 = 2512 वर्ष पूर्व भगवान् महावीर का शासन कायम था। इनके निर्वाण के अनन्तर संघ-व्यवस्था का उत्तरदायित्व श्री सुधर्मा स्वामी के कन्धों पर आ गया था।

प्रश्न हो सकता है कि भगवान् के प्रधान शिष्य श्री गौतम स्वामी जी महाराज को भगवान् का धर्म-सिंहासन क्यों नहीं संभाला गया? इन्द्रभूति गौतम केवली बन चुके थे, तब महावीर के बाद आचार्य पद इन्हें भी दिया जा सकता था। पर ऐसा न करके श्री सुधर्मा स्वामी को आचार्य क्यों बनाया गया? केवली को छोड़कर अकेवली (छद्मस्थ) को आचार्य पद देने का क्या कारण है? इसके समाधान में निवेदन है कि जैन-धर्म के आध्यात्मिक जीवन की उन्नति के क्रमिक विकास के अनुसार जीवन को पांच भागों में बांट दिया गया है। पहला साधु, दूसरा उपाध्याय, तीसरा आचार्य, चौथा अरिहन्त और पांचवां सिद्ध। इनमें आचार्य का तीसरा स्थान है, और अरिहन्त का चौथा। अरिहन्त का पर्यायवायी शब्द केवली है। केवली कहो या अरिहन्त एक ही बात है। शब्द-भेद के अतिरिक्त अर्थ-भेद कुछ नहीं है।

आचार्य का अर्थ है—जो आचार का, संयम का स्वयं पालन करता है, और संघ का नेतृत्व करता हुआ दूसरों द्वारा उसका पालन करवाता है। आचार्य शब्द की इस व्याख्या से स्पष्ट है कि आचार्य अभी साधक है, साधना उसके जीवन का ध्येय है, जबकि अरिहन्त सिद्ध हो चुके हैं, काम, क्रोध, मोह, लोभ आदि जीवन-शत्रुओं पर उन्होंने सर्वथा विजय प्राप्त कर ली है, अहिंसा और शांति के वे असीम सागर बन गये हैं। इससे स्पष्ट है कि अरिहन्त का स्थान आचार्य से बहुत ऊंचा है, उनके आत्मगत विकास में महान अन्तर है। अत: अरिहन्त आचार्य का स्थान नहीं ले सकता और आचार्य अरिहन्त के रूप में नहीं देखा जा सकता। इसलिए श्री गौतम स्वामी को भगवान महावीर के अनन्तर आचार्य पद न देकर श्री सुधर्मा स्वामी को दिया गया था। गौतम स्वामी केवलज्ञान पाकर अरिहन्त बन चुके थे। अत: वे आचार्य के स्थान पर जो कि अरिहन्त की अपेक्षा बहुत छोटा स्थान है, बैठ भी नहीं सकते थे।

इसके अतिरिक्त, यदि अरिहन्त को आचार्य पद दे दिया जाये तो आचार्य पद समाप्त हो जायेगा। फिर तो पंच परमेष्ठी की बजाय अरिहन्त, सिद्ध, उपाध्याय और साधु ये चार परमेष्ठी ही रह जायेंगे। पांच पदों की सुरक्षा के लिए भी अरिहन्त को आचार्य का पद नहीं दिया जा

सकता। वस्तुत: अरिहन्त संघ-व्यवस्था से सर्वथा अलग-थलग रहा करते हैं। स्वयं भगवान् महावीर भी संघ-व्यवस्था से अपना कोई सम्बंध नहीं रखते थे। उस समय गण का सारा उत्तरदायित्व गणधरों पर ही था, भगवान् महावीर पर नहीं। महावीर स्वामी तो केवल संघ के संस्थापक तथा नियामक थे। व्यवस्थापक का रूप उन्होंने कभी नहीं लिया। अस्तु, गौतम स्वामी के केवलज्ञानी हो जाने के कारण उनको आचार्यपद नहीं दिया गया। प्रत्युत् भगवान् महावीर के प्रथम पट्टधर बनने का गौरव श्री सुधर्मा स्वामी को मिला। श्री सुधर्मा स्वामी ने बारह वर्ष तक संघ की उचित व्यवस्था की। हर-तरह से संघ का संरक्षण, पोषण और संवर्धन किया। आपके केवली बन जाने पर संघ-व्यवस्था का सारा उत्तरदायित्व आपके ही विनीत शिष्य श्री जम्बू स्वामी जी पर आ गया।

2. पूज्य श्री जम्बू स्वामी

श्री सुधर्मा स्वामी के केवलज्ञान प्राप्त कर लेने के अनन्तर श्री जम्बू स्वामी को आचार्य पद दिया गया। जम्बू एक नगरसेठ के पुत्र थे, धनी होने पर भी सदा वैराग्य-सरोवर में डुबकियां लगाते रहते थे। वैराग्य का रंग इतना अधिक चढ़ चुका था कि विवाह के अगले दिन ही आठ पत्नियों को छोड़कर साधु बन गये थे। यही नहीं, इनके माता-पिता, इन की विवाहित आठों स्त्रियां, इन स्त्रियों के माता-पिता और घर में चोरी करने आये प्रभव आदि 500 चोर, इस प्रकार कुल 526 व्यक्तियों ने इनके साथ साधु-धर्म अंगीकार करके जीवन का कल्याण किया था। श्री सुधर्मा स्वामी के निर्वाण के पश्चात् श्री जम्बू स्वामी को केवलज्ञान प्राप्त हुआ।

इस अवसर्पिणी-कालीन जैन परम्परा में केवल-ज्ञान का आरम्भ भगवान् ऋषभदेव से होता है और उसका अन्त श्री जम्बू स्वामी के बाद हो जाता है। जम्बू स्वामी ही इस काल के अन्तिम केवली थे। जम्बू स्वामी के निर्वाण के अनन्तर निम्नोक्त 10 बातें समाप्त हो गयीं-

1. परम अवधिज्ञान
2. मन:पर्यवज्ञान
3. पुलाक-लब्धि
4. आहारक शरीर
5. क्षायिक सम्यक्त्व
6. केवलज्ञान
7. जिनकल्पी साधु
8. परिहार-विशुद्धि-चारित्र
9. सूक्ष्म-सम्पराय-चारित्र
10. यथाख्यात-चारित्र[1]

---

1. इन्द्रियों और मन की सहायता के बिना साक्षात् आत्मा से मर्यादापूर्वक सम्पूर्ण लोक के रूपी द्रव्यों का जो प्रत्यक्ष ज्ञान होता है उसे परमावधि ज्ञान कहते हैं। परमावधि ज्ञानी चरम शरीरी होता है। भगवती-सूत्र शतक 18, उद्देशक 8 की टीका के अनुसार परमावधि ज्ञानी अवश्य ही अन्तर्मुहूर्त्त में केवल-ज्ञान प्राप्त कर लेता है।

3. पूज्य श्री प्रभव स्वामी

श्री जम्बू स्वामी के केवली बन जाने के अनन्तर प्रभव स्वामी उनके पाट पर विराजमान हुए। प्रभव जयपुर के राजा जयसेन के पुत्र थे। ये प्रजा को कष्ट दिया करते थे, इस कारण देश से निकाल दिये गये और फिर ये चोरों से जा मिले थे। चोरों के सरदार के मर जाने पर इनको चोरों का सरदार बना दिया गया। जम्बूकुमार के विवाह में दहेज रूप से मिले 99 करोड़ सोनैयों को चुराने गए थे, परन्तु स्वयं ही चुराए गए। जम्बूकुमार की अध्यात्म विद्या ने इनकी, लोगों को सुला देने, तथा हाथ लगाते ही ताला खोल देने की, इन दो विद्याओं को निस्तेज बना दिया था। अन्त में, इन्होंने जम्बू स्वामी के चरणों में अपने को अर्पित कर दिया और अपने 499 चोर साथियों को संग लेकर दीक्षित हो गए। सत्य, अहिंसा की विराट् साधना से अपने जीवन को इतना ऊंचा उठा दिया कि जम्बूस्वामी के केवली बन जाने पर समस्त जैन-संघ के आचार्य बन गये।

4. पूज्य श्री स्वयंभव स्वामी

ये वेद-वेदांगों के मर्मज्ञ ब्राह्मण विद्वान थे। एक बार प्रभव स्वामी से इनकी भेंट हो गई। प्रभवाचार्य ने इन्हें द्रव्ययज्ञ और भावयज्ञ का स्वरूप समझाया। इससे इनको प्रतिबोध हुआ और अन्त में, उन्हीं के चरणों में इन्होंने दीक्षा ग्रहण कर ली। प्रभव स्वामी के अनन्तर इन्होंने आचार्य

इन्द्रिय और मन की सहायता के बिना मर्यादा को लिए हुए संज्ञी जीवों के मनोगत भावों को जानना मन:पर्यव ज्ञान है। जिस लब्धि (तपोजन्य प्रभाव से उत्पन्न-शक्ति-विशेष) द्वारा मुनि संघ-रक्षा आदि की खातिर चक्रवर्ती का भी विनाश कर देता है, उस लब्धि को पुलाक लब्धि कहते हैं। प्राणी-दया, तीर्थंकर भगवान् की ऋद्धि तथा संशय-निवारण आदि प्रयोजनों से 14 पूर्वधारी मुनि अन्य क्षेत्र (महाविदेह क्षेत्र) में विराजमान हुए तीर्थंकर भगवान् के समीप भेजने के लिए लब्धि-विशेष से अतिविशुद्ध स्फटिक के समान अपने शरीर में से एक हाथ का जो पुतला निकालते हैं, उसे आहारक शरीर कहते हैं। अनन्तानुबन्धी चार कषायों के और दर्शन-मोहनीय की तीनों प्रकृतियों के क्षय हो जाने पर जो परिणाम-विशेष होता है, वह क्षायिक सम्यक्त्व है, यह सादि अनन्त है, एक बार ही आता है, और आने के बाद कभी जाता नहीं है। मति, श्रुति आदि ज्ञान की अपेक्षा बिना, त्रिकाल एवं त्रिलोकवर्ती समस्त पदार्थों को युगपत् हस्तामलकवत् जानना केवलज्ञान कहलाता है। उत्कृष्ट चारित्र का पालन करने की इच्छा से निकले हुए साधु-विशेष जिनकल्पी कहे जाते हैं। इन के आचार को जिनकल्प स्थिति कहते हैं। जघन्य नौवें पूर्व की तृतीय वस्तु और उत्कृष्ट कुछ कम दस पूर्व-धारी जिनकल्प अंगीकार करते हैं। ये वज्र-ऋषभनाराच संहनन के धारक होते हैं, अकेले रहते हैं, उपसर्ग और रोगादि की वेदना, बिना औषधादि का उपचार किये सहते हैं। उपाधि से रहित स्थान में रहते हैं, आदि इनके जीवन की चर्या होती है। परिहार-विशुद्धि चारित्र, सूक्ष्म-सम्पराय चारित्र और यथाख्यात चारित्र का भावार्थ इसी खण्ड के पिछले पृष्ठों पर लिखा जा चुका है।

पद संभाला और बड़ी योग्यता तथा सफलता से संघ का संचालन किया। श्री दशवैकालिक सूत्र के निर्माता यही स्वयंभवाचार्य थे।

5. पूज्य श्री यशोभद्र, 6. पूज्य श्री सम्भूतिविजय

स्वयंभवाचार्य के अनन्तर श्री यशोभद्र इनके पाट पर विराजमान हुए और इनके बाद श्री सम्भूतिविजय आचार्य बने। आपने अपनी विलक्षण और अपूर्व प्रतिभा द्वारा संघ की उन्नति की और उसकी सर्वतोमुखी व्यवस्था की।

7. पूज्य श्री भद्रबाहु स्वामी

आचार्यप्रवर यशोभद्र के पास आप दीक्षित हुए थे। आप बड़े प्रतिभाशाली थे। आपने उनकी सेवा में रहकर 14 पूर्वों का अध्ययन किया। आचार्यदेव श्री सम्भूतिविजय जी के अनन्तर आपने आचार्य पद संभाला। आप श्रुत-केवली थे।

एक समय की बात है कि कार्तिक शुक्ला पूर्णिमा के दिन महाराज चन्द्रगुप्त ने पौषध किया। उस समय रात्रि के पिछले भाग में उन्होंने सोलह स्वप्न देखे। इन स्वप्नों में एक स्वप्न था--बारह फण वाला सांप। इस स्वप्न का फल भद्रबाहु स्वामी ने बताया कि बारह वर्ष का दुष्काल पड़ेगा। दुष्काल की उन घड़ियों में उन्होंने महाराज चन्द्रगुप्त को दीक्षा दी और उसके बाद दक्षिण में कर्नाटक की ओर विहार कर गये। भद्रबाहु स्वामी के कर्नाटक देश की ओर चले जाने पर संघ नेतृत्व श्री स्थूलिभद्र जी महाराज ने संभाला।

इतिहास बतलाता है कि भद्रबाहु स्वामी के समय एक भयंकर दुष्काल पड़ा। इस दुष्काल से जैन-जगत को बहुत नुकसान उठाना पड़ा। भिक्षा-जीवी जैन-साधु भिक्षा के अभाव में कैसे जीवित रहते? बहुत-से जैन-साधु इस दुष्काल की भेंट हो गये। तथा जो साधु शेष रहे वे भी दुर्बल होने लगे। शारीरिक शिथिलता के कारण उनके शास्त्रीय ज्ञान का ह्रास होने लगा। उस युग में पुस्तकें तो थी ही नहीं, अतः शास्त्र-स्वाध्याय मौखिक ही हुआ करता था। आचार्य अपने शिष्य को स्मरण करा दिया करते थे और शिष्य आगे अपने शिष्य को कण्ठस्थ करा दिया करते थे। इसी क्रम से अर्थात् गुरु-परम्परा से आगमों का स्वाध्याय होता था। किन्तु देश में दुष्काल पड़ जाने से साधुओं को आहार मिलना कठिन हो गया। आहार आदि के न मिलने से साधुओं के शरीर तथा उनकी स्मरण शक्ति का दुर्बल हो जाना स्वाभाविक था। इसका परिणाम यह हुआ कि साधुओं को कण्ठस्थ विद्या विस्मृत होने लगी। अन्त में, जैनेन्द्र प्रवचन के इस ह्रास से खेद-खिन्न होकर संघ-हितैषी और दीर्घदर्शी मुनिराजों ने पाटलीपुत्र (पटना) में एक

मुनि-सम्मेलन बुलाया। उस सम्मेलन का प्रधान श्री स्थूलिभद्र जी महाराज को बनाया गया।

महामहिम मुनिराज श्री स्थूलिभद्र जी ने बड़ी दक्षता के साथ उक्त सम्मेलन का संचालन किया और जिन-जिन मुनियों को जो-जो आगम-पाठ स्मृति में थे, उन सब का संकलन करा दिया गया, किन्तु पूर्वों के ज्ञान में अत्यधिक ह्रास हो गया। इस ह्रास को दूर करने के लिए आचार्यवर्य श्री भद्रबाहु स्वामी की उपस्थिति आवश्यक थी। उस समय आचार्यवर्य कर्नाटक देश की ओर विचर रहे थे, अत: उनको बुलाने के लिए दो मुनिराजों को कर्नाटक देश भेजने की व्यवस्था की गई। किन्तु आचार्यदेव भद्रबाहु स्वामी उस समय[1] एक विशिष्ट साधना में लगे हुए थे, अत: उनका आना कठिन हो गया। अन्त में, ज्ञान के बढ़ते हुए ह्रास को रोकने के लिए स्वयं श्री स्थूलिभद्र जी महाराज अन्य चार मुनिराजों के साथ कर्नाटक देश की ओर चल पड़े और आचार्य प्रवर श्री भद्रबाहु स्वामी की सेवा में पहुंच कर उन्होंने स्वयं ही अपने अन्य साथियों के साथ आचार्य महाराज से पूर्वों का अभ्यास करना आरम्भ किया।

ज्ञान की साधना भी बड़ी कठोर साधना है, कोई शक्ति-सम्पन्न साधक ही इसका पार पा सकता है। पूर्वों का ज्ञान प्राप्त करना तो फिर और भी कठिन समस्या थी। अत: पूर्वों के ज्ञानाभ्यास की कठोरता ने श्री स्थूलिभद्र के सभी साथियों को निराश कर दिया। केवल श्री स्थूलिभद्र ही ऐसे निकले जो दृढ़ता और स्थिरता के साथ आगे बढ़ते रहे। इस तरह श्रम करते-करते श्री स्थूलिभद्र को आशातीत सफलता मिली और उन्होंने 10 पूर्वों का ज्ञान प्राप्त कर लिया।

एक बार श्री स्थूलिभद्र जी महाराज की बहिनें अपने भाई के दर्शनार्थ आईं। बहिनों को

---

1. श्री वाडीलाल मोतीलाल शाह की लिखी "ऐतिहासिक नोंध" में उक्त प्रसंग को लेकर ऐसे लिखा है कि "मुनि अखीरी पूर्वधारी थे, इनके समय में अकाल पड़ने से चतुर्विध संघ को बड़ा संकट हुआ। उस समय पाटलीपुत्र शहर में श्रावकों का संघ इकट्ठा हुआ और सूत्रों के अध्ययन आदि का निश्चय किया तो कुछ फेरफार जान पड़ा, ऐसा देखकर इन्होंने दो साधुओं को नेपाल देश में भद्रबाहु स्वामी को बुलाने भेजा। उन्होंने संयोगों का विचार कर 12 वर्ष बाद आने को कहा। बारह वर्ष का अकाल पूरा हो जाने पर साधु इकट्ठे होकर सूत्रों को मिलाने लगे। ज्ञान का विच्छेद होता देखकर स्थूलिभद्र आदि 5 साधुओं को भद्रबाहु स्वामी के पास नेपाल भेजा, चार साधु तो हिम्मत हार गये किन्तु स्थूलिभद्र ने दस पूर्व का अध्ययन किया, ग्यारहवें पूर्व का अभ्यास करते समय उन्हें विद्या आजमाने की इच्छा हुई, इससे जब भद्रबाहु स्वामी बाहर गये, तब स्थूलिभद्र सिंह का रूप बनाकर उपाश्रय में बैठे। गुरु ने पीछे आकर यह सब देखा। इससे उन्हें विचार आया कि अब ऐसा समय नहीं रहा कि साधक विद्या को कायम रख सके या पचा सके, और आगे पढ़ाना बन्द कर दिया।

अपनी विद्या का प्रभाव दिखलाने के लिए श्री स्थूलिभद्र जी ने रूप-परिवर्तिनी विद्या द्वारा अपने को सिंह बना डाला। भाई की जगह सिंह देखकर बहिनें डर गईं। आचार्य देव से निवेदन किया गया कि श्री स्थूलिभद्र जी महाराज के स्थान पर सिंह बैठा है। ज्ञानी गुरुदेव सब बात समझ गये। विद्या पचाने की क्षमता का अभाव देखकर आचार्यदेव ने श्री स्थूलिभद्र जी को पढ़ाना बन्द कर दिया। संघ ने इस भूल की क्षमा मांगी तथापि वे नहीं माने। संघ का अत्यधिक आग्रह देखकर अन्त में आचार्यदेव ने शेष चार पूर्वों का केवल मूल पाठ ही पढ़ाया, उनका अर्थ समझाने से उन्होंने स्पष्ट इन्कार कर दिया। इस तरह श्री स्थूलिभद्र जी महाराज के सामान्य से विद्यामद ने 14 पूर्वों में से 4 का विच्छेद कर दिया। स्वयं श्री स्थूलिभद्र जी महाराज को इस दुर्घटना का हार्दिक खेद था किन्तु भवितव्यता के आगे क्या वश चलता है ! इस घटना से स्पष्ट हो जाता है कि श्री भद्रबाहु स्वामी ज्ञान के सागर थे, और अपने युग में उनका अद्वितीय व्यक्तित्व था।

8. पूज्य श्री स्थूलिभद्र स्वामी

आचार्यदेव भद्रबाहु का आचार्यत्व श्री स्थूलिभद्र जी महाराज ने सम्भाला। ये महामंत्री शकडाल के प्रिय पुत्र थे। इन्हें कोशा नामक नर्तकी से अत्यधिक स्नेह था। किन्तु माता-पिता के आकस्मिक निधन ने इनको वैरागी बना दिया। वैराग्य-सरोवर में गोते लगाते हुए आप आचार्यवर श्री संभूतिविजय जी के पास दीक्षित हो गये। दीक्षा के बाद आपने कोशा का भी उद्धार किया, उसके घर में एक चातुर्मास करके उसे श्राविका बनाया।

श्री स्थूलिभद्र जी महाराज के अनन्तर चार पूर्व, प्रथम[1] संहनन और प्रथम संस्थान[2] का विच्छेद हो गया। अवसर्पिणी काल का प्रभाव दिनों-दिन आगे बढ़ रहा था, उसी के कारण शारीरिक संहनन और संस्थान में भी ह्रास होना आरम्भ हो गया।

आचार्यदेव श्री स्थूलिभद्र जी महाराज के अनन्तर जो पूज्य आचार्य हुए, उनके शुभ नाम निम्नोक्त हैं-

---

1. हड्डियों की रचना विशेष को संहनन कहते हैं। संहनन छः होते हैं। इनमें प्रथम वज्रऋषभनाराच संहनन है। यह संहनन सब से मजबूत और वज्र जैसा शक्ति-सम्पन्न होता है।

2. शरीर के आकार को संस्थान कहते हैं। ये भी छः प्रकार के होते हैं। इन में प्रथम समचतुरस्त्र-संस्थान है। पालथी मार कर बैठने पर जिस शरीर के चारों कोण समान हों, अथवा सामुद्रिक शास्त्र के अनुसार जिस शरीर के सम्पूर्ण अवयव ठीक प्रमाण वाले हों उसे समचतुरस्त्र-संस्थान कहते हैं।

9. पूज्य श्री आर्य महागिरि जी
10. पूज्य श्री बलसिंह जी
11. पूज्य श्री सुवन जी
12. पूज्य श्री वीर जी
13. पूज्य श्री स्थंडिल जी
14. पूज्य श्री जीतधर जी
15. पूज्य श्री आर्य समद जी
16. पूज्य श्री नंदला जी
17. पूज्य श्री नाग-हस्त जी
18. पूज्य श्री रेवन्त स्वामी
19. पूज्य श्री सिंहगण जी
20. पूज्य श्री स्थण्डिल जी
21. पूज्य श्री हेमवन्त जी
22. पूज्य श्री नागजिन जी
23. पूज्य श्री गोविन्द जी
24. पूज्य श्री भूतदिन्न जी
25. पूज्य श्री छोगण जी
26. पूज्य श्री दूसगणि जी

27. पूज्य श्री देवर्द्धि गणी क्षमाश्रमण स्वामी

वीर संवत् 980 अथवा विक्रम सम्वत् 510 में पूज्य आचार्य श्री देवर्द्धि क्षमाश्रमण हुए। उन्होंने वल्लभीपुर में श्रुतरक्षा के लिए मुनिराजों की एक परिषद् बुलाई थी, जिसमें आज तक जो भी आगम-साहित्य उपलब्ध है, उसे लिपिबद्ध कराया गया। ऐसा करने का एक कारण था और वह यह कि एक बार क्षमाश्रमण जी महाराज कहीं से सूंठ लाए थे, आवश्यकता पूरी होने पर शेष जो सूंठ बची उसे वापिस करना भूल गये। स्मरण आने पर उन्हें बड़ा पश्चात्ताप हुआ, और सूंठ वापिस की। साथ में एक विचार आया कि काल के प्रभाव से अब स्मरण- शक्ति शिथिल पड़ती जा रही है। इस शिथिलता का प्रभाव आगम-साहित्य पर भी पड़ेगा, इससे शास्त्रीय ज्ञान का ह्रास अवश्यंभावी है, अत: क्या ही अच्छा हो कि यदि आगम-साहित्य को लिपिबद्ध करा दिया जाए। फलत: उन्होंने वल्लभी नगरी में मुनिराजों का एक वृहद् सम्मेलन बुलाकर जिस मुनि को जो पाठ याद था वह सब संकलित करके लिपिबद्ध करा दिया। आज जो आगम-साहित्य उपलब्ध हो रहा है, वह सब इन्हीं आचार्य श्री की दूरदर्शितापूर्ण विलक्षण बुद्धि का सुपरिणाम है। पूज्यपाद देवर्द्धि क्षमाश्रमण के अनन्तर होने वाले पूज्य आचार्य मुनियों के शुभ नाम निम्नोक्त हैं-

28. पूज्य श्री वीरभद्र जी स्वामी
29. पूज्य श्री शंकरभद्र जी स्वामी
30. पूज्य श्री यशोभद्र जी स्वामी
31. पूज्य श्री वीरसेन जी स्वामी
32. पूज्य श्री वीरग्रामसेन जी स्वामी
33. पूज्य श्री जिनसेन जी स्वामी

34. पूज्य श्री हरिसेन जी स्वामी
35. पूज्य श्री जयसेन जी स्वामी
36. पूज्य श्री जगमाल जी स्वामी
37. पूज्य श्री देवर्षि जी स्वामी
38. पूज्य श्री भीम ऋषि जी स्वामी
39. पूज्य श्री कर्म जी स्वामी
40. पूज्य श्री राजर्षि जी स्वामी
41. पूज्य श्री देवसेन जी स्वामी
42. पूज्य श्री शंकरसेन जी स्वामी
43. पूज्य श्री लक्ष्मीलाभ जी स्वामी
44. पूज्य श्री रामर्षि जी स्वामी
45. पूज्य श्री पद्मसूरि जी स्वामी
46. पूज्य श्री हरिसेन जी स्वामी
47. पूज्य श्री कुशलदत्त जी स्वामी
48. पूज्य श्री जीवन ऋषि जी स्वामी
49. पूज्य श्री जयसेन जी स्वामी
50. पूज्य श्री विजय ऋषि जी स्वामी
51. पूज्य श्री देवर्षि जी स्वामी
52. पूज्य श्री सूरसेन जी स्वामी
53. पूज्य श्री महासूरसेन जी स्वामी
54. पूज्य श्री महासेन जी स्वामी
55. पूज्य श्री जयराज जी स्वामी
56. पूज्य श्री गजसेन जी स्वामी
57. पूज्य श्री मिश्रसेन जी स्वामी
58. पूज्य श्री विजयसिंह जी स्वामी
59. पूज्य श्री शिव राजर्षि जी स्वामी
60. पूज्य श्री लाल जी स्वामी
61. पूज्य श्री ज्ञान ऋषि जी स्वामी
62. पूज्य श्री भानुलुणा जी स्वामी
63. पूज्य श्री पुरु जी स्वामी
64. पूज्य श्री जीवराज जी स्वामी
65. पूज्य श्री भावसिंह जी स्वामी
66. पूज्य श्री लघुवरसिंह जी स्वामी
67. पूज्य श्री यशवन्त जी स्वामी
68. पूज्य श्री रूपसिंह जी स्वामी
69. पूज्य श्री दामोदर जी स्वामी
70. पूज्य श्री धनराज जी स्वामी
71. पूज्य श्री चिन्तामणि जी स्वामी
72. पूज्य श्री क्षेमकरण जी स्वामी
73. पूज्य श्री धर्मसिंह जी स्वामी
74. पूज्य श्री नगराज जी स्वामी
75. पूज्य श्री जयराज जी स्वामी
76. पूज्य श्री लवजी ऋषि स्वामी
77. पूज्य श्री सोम जी ऋषि स्वामी
78. पूज्य श्री हरिदास जी स्वामी
79. पूज्य श्री बिन्दरावन जी स्वामी
80. पूज्य श्री भवानीदास ऋषि जी स्वामी
81. पूज्य श्री मलूकचन्द्र जी स्वामी

82. पूज्य श्री महासिंह जी स्वामी
83. पूज्य श्री कुशालसिंह जी स्वामी
84. पूज्य श्री छज्जमल जी तपस्वी
85. पूज्य श्री रामलाल जी महाराज
86. पूज्य श्री अमरसिंह जी महाराज
87. पूज्य श्री रामबक्ष जी महाराज
88. पूज्य श्री मोतीराम जी महाराज
89. पूज्य श्री सोहनलाल जी महाराज
90. पूज्य श्री कांशीराम जी महाराज
91. पूज्य श्री आत्माराम जी महाराज
92. पूज्य श्री आनन्द ऋषि जी महाराज
93. पूज्य श्री देवेन्द्र मुनि जी महाराज
94. पूज्य श्री शिव मुनि जी महाराज

इस तरह स्थानकवासी परम्परा के पूज्य मुनिराजों के साथ भगवान् महावीर की शिष्य वंशावली का सम्बंध मिल जाता है। इससे भली-भांति यह प्रमाणित हो जाता है कि स्थानकवासी परम्परा सर्वथा प्राचीन परम्परा है और भगवान् महावीर से लेकर आज तक लगातार चली आ रही है। यह परम्परा कहीं भी खण्डित अथवा भंग नहीं होने पाई। इसलिए स्थानकवासी परम्परा की प्राचीनता स्वत: सिद्ध है।

ऊपर जो भगवान् महावीर की शिष्य-परम्परा दी गई है, यह पंजाबी पट्टावली के आधार पर दी गई है। इसलिए इसके अन्त में, पंजाबी पूज्य आचार्य मुनिराजों का सम्बंध जोड़ा गया है। भारत के अन्य प्रान्तों में स्थानकवासी परम्परा के जितने भी साधु मुनिराज विचर रहे हैं वे सब भी ऊपर की भगवान् महावीर की वंश परम्परा से सम्बंधित ही हैं। किस का किस आचार्यदेव से सम्बंध जुड़ा हुआ है, यह उनकी अपनी-अपनी पट्टावली से जाना जा सकता है। सभी पट्टावलियों को अंकित करना न तो इस अध्याय का उद्देश्य है और न ही उन सब की यहां आवश्यकता ही है। यहां केवल भगवान् महावीर की शिष्य-परम्परा बताकर स्थानकवासी समाज की प्राचीनता का दिग्दर्शन मात्र कराया गया है और यह बताया गया है कि स्थानकवासी परम्परा के वर्तमान साधुओं का सम्बंध सीधा भगवान् महावीर से जुड़ जाता है, उस में किसी भी प्रकार की बाधा नहीं पहुंचने पाती।

प्रश्न—वीर लौंकाशाह कौन थे? स्थानकवासी परम्परा में इसका क्या स्थान है? इस परम्परा का इसे आदि-पुरुष कहा जाता है, यह कहां तक सत्य है?

उत्तर—स्थानकवासी परम्परा रूढ़िवाद और अन्ध परम्परा की सदा विरोधी रही है। इसने जड़-पूजा के स्थान पर गुण-पूजा की प्रतिष्ठा की है। गुण-पूजा की उपयोगिता तथा कल्याण-कारिता का सत्य समझा कर जनमानस का सदा इसने मार्ग-दर्शन किया है।

कहा जा चुका है कि यह परम्परा प्राचीन है और भगवान् महावीर के युग से लेकर आज तक बिना किसी अन्तर के लगातार चली आ रही है। इसको पल्लवित और पुष्पित बनाने के लिए अनेक महापुरुषों ने समय-समय पर अपना योगदान दिया है। भगवान् महावीर की शिष्य-परम्परा या पट्टधर (आचार्य) परम्परा के पूज्य आचार्य श्रमण महापुरुषों के शुभ नाम बताये जा चुके हैं। धर्मप्राण वीर लौंकाशाह भी उन गृहस्थ महापुरुषों में से एक हैं, जिन्होंने स्थानकवासी परम्परा के विकास तथा समुत्कर्ष के लिए अपना सर्वस्व अर्पित कर दिया था और जीवन की सभी शक्तियां लगाकर इस परम्परा को संवर्धित तथा सम्पोषित करके जिन्होंने इसको ह्रास के महागर्त में गिरने से सर्वथा सुरक्षित रखा। महामहिम लौंकाशाह के माता-पिता कौन थे, उन्होंने जन्म लेकर किस भूभाग को पावन किया, आदि सभी बातों का संक्षिप्त वर्णन इस प्रकार है–

लौंकाशाह की जन्मभूमि अरहटबाड़ा नाम का ग्राम था। विक्रम सम्वत् 1472 कार्तिक शुक्ला पूर्णिमा के दिन चौधरी गोत्र के सेठ हेमा भाई ओसवाल की पवित्र पति-परायणा भार्या गंगाबाई की कुक्षि से आप का जन्म हुआ था। आप विवाहित थे। पत्नी का नाम सुदर्शना था। अहमदाबाद में आप जवाहरात का काम किया करते थे। आपकी प्रतिभा तो विलक्षण थी ही, फलत: अहमदाबार के तत्कालीन बादशाह मुहम्मद ने आपके बुद्धिचातुर्य से प्रभावित होकर आपको अपना खजांची बना लिया। आप भी बड़ी प्रामाणिकता के साथ अपने कर्त्तव्य का पालन कर रहे थे, परन्तु एक दुर्घटना न आपके जीवन की दिशा ही बदल डाली। बादशाह के पुत्र ने किसी मतभेद के कारण विष देकर बादशाह को मार डाला। संसार की इस विचित्र स्थिति को देखकर आपका मानस कांप उठा। विरक्ति में ही आप को शांति अनुभव होने लगी। अन्त में, आपने राज्य की नौकरी छोड़ दी और अपने जवाहरात के व्यवसाय में ही जीवन बिताने लगे।

लौंकाशाह में जहां अन्य अनेकों गुण विद्यमान थे, वहां एक गुण यह भी था कि इनके हस्ताक्षर बड़े सुन्दर थे। जब कभी लिखने बैठ जाते तो इतना सुन्दर और आकर्षक लिखते कि मानों लेखन-कला साकार होकर सामने खड़ी प्रतीत होने लगती। जो भी उसे देखता, वह प्रभावित हुए बिना नहीं रहता था। उन्होंने एक लेखक-मण्डल की भी स्थापना कर रखी थी। बहुत- से लेखक रखकर ये प्राचीन शास्त्रों और ग्रन्थों की नकलें करवाया करते थे, और समय मिलने पर स्वयं भी लिखा करते थे। ज्यों-ज्यों ये शास्त्रों की नकल करते और करवाते, तथा उन्हें पढ़ते त्यों-त्यों शास्त्रों की रहस्यमयी बातों का तथा श्रमण भगवान् महावीर के मंगलमय

उपदेशों का भी इन्हें बोध प्राप्त होने लगा। फिर क्या था? इनके ज्ञान-नेत्र खुल गये। एक ओर उनके सामने शास्त्रीय मर्यादायें थीं, दूसरी ओर तात्कालिक समाज का वातावरण था। उन्होंने देखा कि साधु-जीवन में साधुता का ह्रास हो रहा है, शिथिलाचार पनप रहा है और अज्ञ लोग मन्दिरों में भगवान् की प्रतिमा बनाकर उसका पूजन करते हैं, उन पर सचित्त पुष्प और जल का प्रक्षेप किया जा रहा है। इस तरह धर्म के नाम पर अधर्म का पोषण हो रहा है, वीतराग भगवान् को रागी का रूप दिया जा रहा है, हिंसा को अहिंसा समझा जा रहा है।

धर्मप्राण लौंकाशाह की उक्त विचारणा दिन-प्रतिदिन परिपक्व और परिपुष्ट होती गई। अन्त में, उन्होंने तात्कालिक शिथिलाचार तथा मूर्ति-पूजा की अशास्त्रीय मान्यता को समाप्त करने का दृढ़ निश्चय कर लिया। निश्चय के अनुसार उन्होंने अन्धकार का नाश करने के लिए अपना तन, मन और धन लगा दिया। परिणाम यह हुआ कि सफलता उनके चरण चूमने लगी, मूर्ति-पूजा या चैत्य-पूजा के विरोध में समाज में नवक्रांति की एक लहर पैदा कर दी तथा कुछ ही दिनों में लखमशी शाह (उस युग के सुप्रसिद्ध श्रावक) जैसे हजारों महामान्य श्रेष्ठिवर भी इनसे ज्ञान प्राप्त करने के लिए इनके साथ मिल गये। 45 श्रावक तो इनके उपदेशों से इतने प्रभावित हुए कि वे दीक्षित होने को तैयार हो गये। उन का मानस वैराग्य सरोवर में गोते लगाने लगा। अन्त में, भगवान् महावीर के 61वें पट्टधर आचार्यदेव श्री ज्ञान ऋषि जी महाराज के चरणों में इन 45 महानुभावों ने साधु-धर्म अंगीकार किया।[1] इनके इस धार्मिक उत्साह का सर्वोपरि श्रेय वस्तुत: धर्मप्राण लौंकाशाह को ही है। इन्हीं के सदुपदेशों से प्रेरित होकर ये साधु-धर्म के महान असिधाराव्रत को ग्रहण करने में सफल हो सके थे। वीर लौंकाशाह ने स्थानकवासी परम्परा की इस प्रकार जो महान सेवा की, उसे कभी भुलाया नहीं जा सकता। स्थानकवासी समाज के इतिहास में वह सदा अमर रहेगी।

पंजाब पट्टावली का विश्वास है कि धर्म-प्राण लौंकाशाह वृद्धत्व के कारण स्वयं दीक्षा नहीं ले सके थे। उनकी इच्छा अवश्य थी कि साधु बनकर मैं भी समाज की सेवा करूं। समाज में फैल रहे शिथिलाचार को मूलत: समाप्त कर दूं, परन्तु शारीरिक दुर्बलता तथा वार्धक्य के कारण उनका यह मनोरथ सफल नहीं हो सका। तथापि वे अपने सिखाये हुए, उम्मीदवारों को श्रद्धेय आचार्यप्रवर श्री ज्ञान ऋषि जी महाराज की सेवा में भेजते रहे, ताकि वे अपना

1. इन पैंतालीस मुनियों ने अपने मार्गदर्शक और उपदेशक के प्रति श्रद्धा व्यक्त करने के लिए अपने संघ का नाम "लौंकागच्छ" रखा और अपने आचार-विचार और नियम लौंकाशाह के उपदेश के अनुसार बनाये।
—कांफ्रेंस का स्वर्णजयंती ग्रंथ, पृष्ठ 40

आत्म-कल्याण कर सकें। एक पट्टावली में ऐसा भी लिखा है कि श्री लौंकाशाह ने स्वयं भी मार्गशीर्ष शुक्ला पंचमी, सम्वत् 1536 को, श्रद्धेय श्री ज्ञान ऋषि जी महाराज के शिष्य श्री सोहनलाल जी महाराज के पास दीक्षा ले ली थी। तथा इनके उच्च-कोटि के संयम से प्रभावित होकर 400 व्यक्ति इनके शिष्य बन गये और लाखों व्यक्तियों ने इनकी दिव्य आध्यात्मिक ज्योति से ज्योतित होकर श्रावकत्व अंगीकार किया।

धर्म-प्राण लौंकाशाह के जीवन-वृत्तों से यह भली-भांति प्रमाणित हो जाता है कि लौंकाशाह एक क्रांतिकारी महापुरुष थे। उन्होंने तात्कालिक सामाजिक तथा आध्यात्मिक बुराइयों को दूर करने में अपनी समस्त शक्तियां लगा डालीं और अन्त में विजयश्री इनके चरणों में नतमस्तक हो गई। लाखों व्यक्तियों ने आपसे ज्ञान का प्रकाश पाया, लाखों आपके श्रद्धालु बने। अहमदाबाद से लेकर देहली तक आपने अहिंसा-धर्म का ध्वज लहराया।

अहिंसा, संयम और तप की त्रिवेणी में धर्म-प्राण लौंकाशाह स्वयं स्नान किया करते थे और जो भी आपके सम्पर्क में आता उसे भी उस में स्नान करने की पवित्र प्रेरणा प्रदान किया करते थे। यही आपके आध्यात्मिक जीवन का सर्वतोमुखी ध्येय था। इसी ध्येय की पूर्ति के लिए आपने अपना सारा जीवन लगा दिया। जीवन की अन्तिम घड़ियों में भी आपका अष्टम तप (लगातार तीन उपवास, तेला) चल रहा था। तपदेव की आराधना में ही आपने अपने अन्तिम सांस लगाये। इस प्रकार युगपुरुष लौंकाशाह अपने अध्यात्म जीवन से नये युग को अनुप्राणित करके चैत्र शुक्ला एकादशी सम्वत् 1546 को स्वर्गधाम जा विराजे।

धर्म-प्राण लौंकाशाह का स्थानकवासी परम्परा में बड़ा ऊंचा स्थान है। स्थानकवासी समाज उन्हें एक महान युग-स्रष्टा और अपूर्व क्रांतिकारी नेता के रूप में देखती है और मानती है कि इन्होंने स्थानकवासी परम्परा की महान सेवा की है। उस युग में स्थानकवासी परम्परा की जितनी सेवा इन्होंने की है, उतनी किसी अन्य श्रावक ने तो क्या, साधु ने भी नहीं की, यदि यह कह दिया जाये तो कोई अतिशयोक्ति नहीं है। तथापि इस सत्य से इंकार नहीं किया जा सकता कि धर्म-प्राण लौंकाशाह स्थानकवासी परम्परा के आदि-पुरुष नहीं थे, जन्मदाता नहीं थे। ये तो केवल इस परम्परा के सम्पोषक तथा संवर्धक थे। इसमें नव उत्साह, नूतन चेतना, नव्य तथा भव्य स्फूर्ति लाने वाले थे। स्थानकवासी परम्परा का अतीत बहुत प्राचीन है। यह इतना अधिक प्राचीन है कि वह धीरे-धीरे भगवान् महावीर के चरणों में जा पहुंचता है, जो कि भगवान् महावीर स्वामी की वंशपरम्परा[1] द्वारा बिल्कुल स्पष्ट हो जाता है।

1. भगवान् महावीर की वंश-परम्परा का उल्लेख खण्ड-दो के पिछले पृष्ठों पर किया जा चुका है।

प्रश्न–स्थानकवासी परम्परा की मान्यता के अनुसार भगवान् महावीर नग्न थे या वस्त्रधारी ?

उत्तर–स्थानकवासी मान्यता के अनुसार भगवान् महावीर वस्त्रधारी भी थे और वस्त्र-रहित भी। भगवान् महावीर के जीवन में सचेलक और अचेलक दोनों अवस्थाएं रही हैं। जब महावीर दीक्षित हुए, राज्य-सिंहासन का परित्याग कर विश्वकल्याण के लिए साधु बने, उस समय शक्रेन्द्र महाराज ने भगवान् को एक वस्त्र दिया था, उस वस्त्र को देवदूष्य कहते हैं। यह वस्त्र भगवान् के पास 13 मास तक रहा। उसके अनन्तर उनके पास वह वस्त्र नहीं रहा। आधा फाड़ कर स्वयं उन्होंने एक ब्राह्मण को दे दिया था, शेष आधा वस्त्रखण्ड एक झाड़ी में उलझ जाने से वहीं छोड़ दिया जो बाद में उसी ब्राह्मण ने उठा लिया था। इस तरह भगवान् महावीर 13 मास तक वस्त्रधारी रहे और उसके पश्चात् उन्होंने कोई वस्त्र नहीं रखा। वे सर्वथा नग्न ही रहते थे। इससे स्पष्ट है कि भगवान् सचेलक भी रहे और अचेलक भी।

इसके अतिरिक्त, स्थानकवासी परम्परा की ऐसी भी मान्यता है कि भगवान् महावीर किसी को नग्न नजर नहीं आते थे। उनके[1] अतिशयविशेष के कारण वे सबको साधु-वेष में ही दृष्टिगोचर होते थे।

भगवान् महावीर ने दो तरह के कल्प माने हैं–जिनकल्प और स्थविरकल्प। जिनकल्प को अचेलक-कल्प भी कहते हैं। तीर्थंकर या जिनकल्पी साधुओं का वस्त्रों के अभाव के कारण अचेलक कल्प होता है। यद्यपि दीक्षा के समय इन्द्र द्वारा दिया गया देवदूष्य (दिव्य वस्त्र) 13 मास तक भगवान् महावीर के कंधे पर रहता है, किन्तु उसके गिर जाने पर वस्त्र का अभाव हो जाता है। फिर वे सदा नग्न रहते हैं। हाथ ही उन के पात्र होते हैं। इन्हीं में वे भोजन करते हैं। इनके वस्त्र दिशाएं होती हैं। पात्र, रजोहरण, मुखवस्त्रिका, चादर आदि किसी भी प्रकार का उपकरण इनके पास नहीं होता; ये सर्वथा त्यागी, विरक्त तथा अपरिग्रही होते हैं। ऐसे अध्यात्मयोगी महा-पुरुष जिनकल्पी या अचेलक कहलाते हैं। जिनकल्पी साधुओं का आचार-विचार बड़ा ऊंचा और कठोर होता है। साधनागत कठोरता को अधिकाधिक जीवन में

---

1. तीर्थंकर भगवान् चर्मचक्षु वाले व्यक्तियों को नजर नहीं आते थे, और सदा साधुवेष में ही सबको दिखाई देते थे। यह कपोलकल्पित कल्पना नहीं है। इसके पीछे शास्त्रीय आधार भी है। समवायांग सूत्र के 34वें समवाय में लिखा है कि तीर्थंकर भगवान् के 34 अतिशय (अध्यात्म साधना द्वारा उत्पन्न महाशक्ति) होते हैं उनमें पांचवां अतिशय है–तीर्थंकर भगवान् का आहार और नीहार (शौच जाना) प्रच्छन्न रहता है, चर्मचक्षु वालों को दिखाई नहीं देता। जब भगवान् आहार, नीहार करते हुए भी लोगों को उस रूप में दिखाई नहीं देते, तब उनका नग्न दृष्टिगोचर न होना कोई आश्चर्यजनक नहीं है।

ले आना ही इनके साधक जीवन का सर्वतोमुखी ध्येय रहता है।

स्थविरकल्प वस्त्रधारी साधुओं का होता है। स्थविरकल्पी साधु, वस्त्र, पात्र आदि उपकरणों का उपयोग करते हैं। ये साधु अपना जीवन-व्यवहार चलाने के लिए 14 प्रकार के उपकरण रख सकते हैं। उनका विवरण इस प्रकार है–

1. **पात्र**–गृहस्थों के घर से भिक्षा लाने के लिए काठ, मिट्टी तथा तूम्बे आदि द्वारा निर्मित भाजन।

2. **पात्रबन्ध**–पात्रों को बांधने का कपड़ा।

3. **पात्रस्थापना**–पात्र रखने का कपड़ा।

4. **पात्रकेसरिका**–पात्र पोंछने का कपड़ा।

5. **पटल**–पात्र ढकने का कपड़ा।

6. **रजस्त्राण**–पात्र लपेटने का कपड़ा।

7. **गोच्छक**–पात्र आदि साफ करने का कपड़ा।

8-10. **प्रच्छादक**–ओढ़ने की चादर। साधु उत्कृष्ट तीन चादर रख सकता है। अत: ये तीन उपकरण माने जाते हैं।

11. **रजोहरण**–पाट, शय्या आदि पोंछने के लिए ऊन आदि का बना हुआ उपकरण-विशेष।

12. **मुखवस्त्रिका**–मुख-निसृत वायुकाया की रक्षा के लिए मुख पर बांधा जाने वाला वस्त्र।

13. **मात्रक**–लघुशंका आदि गिराने के काम में आने वाला पात्र-विशेष।

14. **चोल्लपट्ट**–गुप्त अंगों को ढकने के लिए धोती के स्थान में बांधा जाने वाला कपड़ा।

जिनकल्प और स्थविरकल्प इन दोनों कल्पों की प्ररूपणा स्वयं भगवान् महावीर ने की है। भगवान् महावीर के युग में दोनों कल्पों के साधु पाये जाते थे, किन्तु भगवान् महावीर के पौत्र शिष्य श्री जम्बू स्वामी के निर्वाण के अनन्तर जिनकल्प का व्यवच्छेद हो गया, उस की समाप्ति हो गई। केवल स्थविरकल्प शेष रहा। आजकल स्थविरकल्प ही चल रहा है। इसी कल्प के नेतृत्व में आज साधु-मुनिराज संयम के महापथ पर बढ़ते चले जा रहे हैं।

जिज्ञासा–वर्तमान में प्रमुख रूप से श्वेताम्बर और दिगम्बर–ये दो जैन सम्प्रदाएं हैं। स्त्री–

मुक्ति आदि के संदर्भ में इन परम्पराओं में कुछेक जो मान्यता-भेद हैं, कृपया उन पर प्रकाश डालिए!

समाधान—यह निर्विवाद है कि आत्म-तत्व, आत्म-साधना और मोक्ष-प्राप्ति के आन्तरिक सिद्धान्तों में समग्र जैन सम्प्रदाएं एक मत हैं। पर काल-प्रभाव से कुछेक मान्यताओं में भिन्नता दृष्टिगोचर होती है। दिगम्बर-श्वेताम्बर में (स्थानकवासी) में जो मान्यता-भेद है उसका संक्षिप्त विवरण इस प्रकार है—

स्त्रीलिंग में मुक्ति

स्थानकवासी परम्परा की मान्यता है कि जिस प्रकार पुरुष मोक्ष का अधिकारी होता है उसी प्रकार स्त्री भी मोक्ष की अधिकारिणी है। पुरुष की भांति नारी भी मोक्ष में जाती है। इसीलिए स्थानकवासी परम्परा ने 15 प्रकार के सिद्धों में स्त्रीलिंग सिद्ध भी माना है। स्त्रीलिंग शब्द स्त्रीत्व का बोधक है। स्त्रीत्व तीन प्रकार का होता है—1. वेद, 2. शरीराकृति और 3. वेष। यहां पर शरीराकृति रूप स्त्रीत्व का ग्रहण किया गया है। क्योंकि वेद (स्त्री को पुरुष की कामना और पुरुष को स्त्री की कामना का होना) के उदय में तो कोई भी जीव सिद्ध नहीं हो सकता। रही वेष की बात, उसका आत्म-कल्याण के साथ कोई सम्बंध ही नहीं है। सारांश यह है कि स्त्रीलिंग सिद्ध उस सिद्ध को कहते हैं जो स्त्री के आकार में होता है। स्त्रीलिंग में सिद्ध बन जाने की मान्यता स्थानकवासी परम्परा की है, किंतु दिगम्बर परम्परा इसे स्वीकार नहीं करती। दिगम्बर परम्परा का विश्वास है कि पुरुष ही मुक्ति का अधिकारी है, स्त्री मुक्ति में नहीं जा सकती। इसमें उसकी दलील यह है कि स्त्री पुरुषत्व से हीन[1] है। अत: पुरुषत्व से हीन होने के कारण नारी मुक्त नहीं हो सकती। किन्तु ऐसा विश्वास सर्वथा भ्रान्ति-मूलक है। क्योंकि नारी को पुरुषत्व से सर्वथा हीन मान लेना ठीक नहीं है। पुरुषों में जैसे आत्मा निवास करती है, वैसे ही नारी में भी आत्मा की अवस्थिति है। चेतना, शक्ति, बुद्धि, धीरता आदि बातों में नारी पुरुष से कभी पीछे नहीं रही है। नारी जीवन का उज्ज्वल इतिहास इस सत्य का सर्वथा पोषक रहा है। अध्यात्म शक्ति की सजीव प्रतिमा महासती चन्दनबाला, सीता, द्रौपदी, दमयन्ती, मृगावती आदि अनेकों ऐसे नारी-जीवन हमारे सामने आते हैं, जिन्होंने प्रतिकूल से प्रतिकूल परिस्थिति में भी अपने धर्म का दृढ़ता तथा स्थिरता से पालन और संरक्षण किया है। अध्यात्मवाद के सभी चमत्कार इनके चरणों में लौटते रहे हैं। इसके अतिरिक्त, पांच महाव्रत,

1. स्त्रीणां न मोक्ष:, पुरुषेभ्यो हीनत्वात् नपुंसकादिवदिति।

तीन गुप्ति और पांच समितियों की जिस प्रकार एक पुरुष आराधना करता है उसी प्रकार नारी भी इनकी परिपालना करती है। फिर पुरुष को मोक्ष मिल जाए, और नारी उस से वंचित रहे, यह कहां का न्याय है?

जिस नारी को दुर्बल या सत्त्वहीन कहा जाता है वह नारी जिस समय अपने अन्दर सोए अध्यात्म देवता को जगा लेती है तब वह इतनी ऊंची उठ जाती है कि पुरुष को भी मात कर जाती है। अध्यात्मवाद की चोटियों को पार करके मानव को संयम का मंगलमय महापाठ पढ़ाती है। संयम से भ्रष्ट हो रहे रथनेमि मुनि को संयम में स्थिर करने वाली कौन थी? यही नारी थी। इसी ने महासती राजीमती के रूप में अपना आदर्श नारीत्व दिखलाया था। उपासकदशांगसूत्र में ऐसे अनेकों श्रावक मिल जाते हैं, जिनका आध्यात्मिक नेतृत्व नारी के हाथों में रहा था। नारी ने उनको धर्म से भ्रष्ट होने से बचाया था। उनके मृत धार्मिक अनुष्ठानों को उसने जीवनदान दिया था। ऐसी दशा में नारी को पुरुष से हीन बतलाना सत्य की हत्या करना है। वस्तुत: दिगम्बर परम्परा नारी के नारीत्व को आंक ही नहीं सकी है। इसीलिए उसने नारी को मुक्ति के अयोग्य बतला कर उसके साथ न्याय नहीं किया है।

शूद्र की मुक्ति

जैन इतिहास बतलाता है कि भगवान् ऋषभदेव तथा उनके पुत्र भरत ने मानव जगत को व्यवस्थित रूप देने के लिए ब्राह्मण, क्षत्रिय आदि चार वर्णों की स्थापना की थी। समाज को ज्ञान-ध्यान के मोतियों से मालामाल करना ब्राह्मण का काम था। आततायी लोगों से दीन, दु:खी की रक्षा का, तथा देश, जाति की सुरक्षा का उत्तरदायित्व क्षत्रियों पर डाला गया था। अन्न, वस्त्र आदि सभी जीवनोपयोगी पदार्थों की व्यवस्था करने की सेवा वैश्यों को दी गई थी। समाज-सेवा का पुण्य कर्म शूद्रों ने संभाला था। इस तरह समाज को चार वर्गों में बांट कर समाज को बहुत सुन्दर व्यवस्थित रूप दे दिया था। उस समय सब लोग अपना-अपना कर्त्तव्य समझ कर अपने-अपने उत्तरदायित्व को निभाने का प्रयास करते थे, किसी में उच्चता या नीचता के भाव नहीं थे। जन्म से कोई ब्राह्मण होता है, क्षत्रिय, वैश्य, अथवा शूद्र कोई जन्म से होता है, ऐसी भावना भी किसी में नहीं पाई जाती थी। सभी जाति की व्यवस्था कर्म से किया करते थे, जो जैसा कर्म करना चाहता था या करता था उसे उसी जाति का या वर्ण का कहा जाता था। कर्मणा जाति ही उस युग का जातिवाद था। जन्म से जातिवाद को कोई स्थान नहीं था। किन्तु जब वैदिक परम्परा ने जोर पकड़ा तब इनमें उच्चता तथा नीचता की भावना ने जन्म लिया। इस

परम्परा ने जन्म से जाति को प्राधान्य देकर कर्म से जाति के पुनीत सिद्धान्त को निस्तेज बना दिया। भगवान् महावीर के युग में यह वैदिकी भावना बहुत जोरों पर थी। जन्मना जातिवाद के प्रभुत्व के कारण ही उस समय शूद्रों की बड़ी दुर्दशा थी, इनकी छाया भी त्याज्य समझी जाती थी। अन्त में, भगवान् महावीर ने जन्मना जातिवाद के सिद्धान्त को समाप्त किया और इसके लिए उन्होंने अपनी समस्त शक्ति होम दी। वैदिक परम्परा से उन्हें खूब लोहा लेना पड़ा था किन्तु अन्त में, इन्हें विजय की प्राप्ति हुई। कर्मणा[1] जातिवाद के सिद्धान्त को इन्होंने जीवनदान दिया और सर्वत्र उसकी प्रतिष्ठा की।

समय ने फिर करवट ली। भगवान् महावीर के निर्वाण के बाद वैदिक परम्परा ने फिर से सिर उठाया और आचार्य शंकर के समय में तो यह परम्परा अपने पूर्ण यौवन पर आ गई थी। इसका फल यह हुआ कि जन्मना जातिवाद के सिद्धान्त की प्राय: सर्वत्र प्रतिष्ठा हो गई। वैदिक परम्परा कहती है-" न स्त्रीशूद्रौ वेदमधीयताम्", स्त्री और शूद्र को वेद पढ़ने का अधिकार नहीं है। इस से स्पष्ट है कि जो परम्परा स्त्री व शूद्र के वेद पढ़ने का भी निषेध करती है, वह परम्परा उन्हें मुक्ति प्रदान कैसे कर सकती है? इसके विपरीत जैन परम्परा कहती है कि प्रत्येक व्यक्ति को धर्म सुनाना चाहिए, चाहे वह कैसा भी है[2]।

स्थानकवासी जैन परम्परा का विश्वास है कि प्रत्येक भव्य जीव मुक्ति में जा सकता है, शूद्र के लिए मुक्ति का द्वार बन्द नहीं है। मोक्ष के साधनभूत सम्यक्दर्शन, सम्यक्ज्ञान और सम्यक्चारित्र को जीवन में लाने वाला प्रत्येक व्यक्ति मोक्ष के द्वार खोल सकता है, फिर चाहे वह शूद्र हो या वैश्य, तथा ब्राह्मण हो या क्षत्रिय।

वस्त्र-सहित मुक्ति

स्थानकवासी परस्परा का विश्वास है कि मनुष्य यदि वस्त्रों का सर्वथा परित्याग कर दे तो यह उसकी साधना की पराकाष्ठा है, किन्तु यदि वह वस्त्रों का बिल्कुल त्याग नहीं कर पाता, तथापि वह सम्यक्-दर्शन, सम्यक्-ज्ञान और सम्यक्-चारित्र के महापथ पर चलकर आध्यात्मिक उन्नति कर सकता है, पहले गुणस्थान से ऊपर उठता हुआ अन्त में, वह चौदहवें

1. कम्मुणा बंभणो होइ, कम्मुणा होइ खत्तिओ।
वइसो कम्मुणा होइ, सुद्दो हवइ कम्मुणा।। —उत्तराध्ययन सूत्र अ. 25.

2. जहा पुण्णस्स कत्थइ तहा तुच्छस्स कत्थइ।
जहा तुच्छस्स कत्थइ, तहा पुण्णस्स कत्थइ।। —आचारांग अ॰ 2 उद्दे॰ 6

गुणस्थान को प्राप्त कर सकता है। दूसरे शब्दों में, वस्त्रों में रहता हुआ भी अनासक्त बनकर मोक्ष का अधिकारी बन सकता है। पर दिगम्बर परम्परा की ऐसी मान्यता नहीं है। उसके विश्वासानुसार मनुष्य जब वस्त्रों का सर्वथा त्याग कर देता है, बिल्कुल दिगम्बर (नग्न) बन जाता है, उस के बाद ही संयमी या साधु का पद प्राप्त करता है और ऐसा दिगम्बर साधु ही मुक्ति को प्राप्त कर सकता है। दिगम्बर बने बिना मुक्ति की उपलब्धि नहीं हो सकती।

संसार-परिभ्रमण का कारण ममत्व है, ममत्व से ही संसार के सब प्रपंचों का विकास होता है। ममत्व हीन जीवन सर्वथा निर्लेप और विरक्त रहता है। वास्तव में सभी प्रकार की आशाओं की जननी ममता ही है। आचार्य शंकर से एक बार पूछा गया था कि संसार में अमृत नाम का कौन-सा पदार्थ है, जिसको पाकर मनुष्य सुख-सरोवर में निमग्न हो जाता है? इस प्रश्न के उत्तर में आचार्य ने एक ही बात कही, वह थी—निराशा[1]। आचार्य बोले—आशाओं की समाप्ति या अभाव ही वस्तुत: अमृत है। जहां आशा की विष-बेल है, वहीं इसके विषमय फल लगते हैं। आशा का पुजारी मानव ही संसार में दु:ख और संकट की चक्की में पिसता रहता है। आशाओं की जननी ममता है। अत: ममता का निरोध ही संयम का सार है।

ममता को परिग्रह भी कहा जाता है। मुक्ति के साधक को इसका त्याग करना आवश्यक होता है। स्थानकवासी परम्परा का विश्वास है कि यदि हृदय ममता से खाली है, किसी पदार्थ की आसक्ति नहीं रख रहा है, तब वह साधना की ओर बढ़ता है, आत्म-शुद्धि उस के निकट आती चली जाती है। इसके विपरीत यदि साधक का मन ममता से ओत-प्रोत हो रहा है, उसे वस्त्रों से, या शरीर आदि अन्य उपकरणों से ममत्व भाव है, तब वह मुक्ति के पथ से पीछे जा रहा है। वस्तुत: ममत्व का अभाव ही मुक्ति का साधन है, सोपान है। वस्त्र हों, या न हों, इससे कुछ फर्क नहीं पड़ता। आवश्यकता ममत्व के त्याग की है। प्रत्यक्ष से नग्नत्व स्वीकार कर लेने पर भी यदि शरीर से ममत्व चल रहा है तब भी मुक्ति दूर रहती है। इसीलिए स्थानकवासी परम्परा का विश्वास है कि मुक्ति की प्राप्ति के लिए वस्त्रों का सर्वथा त्याग या बिल्कुल नग्नत्व अपेक्षित है, ऐसा कोई सिद्धान्त नहीं है। वस्तुत: जिस आत्मा ने ममता-रूपी वस्त्रों को बिल्कुल उतार दिया है, जीवन को निर्ममत्व बना लिया है, वही आत्मा मुक्ति का हकदार है। मुक्ति-प्राप्ति में वस्त्र बाधक नहीं बनते। द्रव्य-नग्नत्व की अपेक्षा भाव-नग्नत्व (ममता का अभाव) की आवश्यकता है।

---

1. किंवामृतं स्यात्, सुखदा निराशा। (चर्पट-मंजरी)

गृहस्थवेष में मुक्ति

दिगम्बर परम्परा का विश्वास है कि मुक्ति को प्राप्त करने के लिए साधु बनना जरूरी है। साधु बने बिना मुक्ति की प्राप्ति असंभव है, किन्तु स्थानकवासी परम्परा कहती है–यह सत्य है कि आत्मशुद्धि के लिए साधु-जीवन में जो साधना हो सकती है वह गृहस्थ जीवन में नहीं हो सकती। क्योंकि साधु-जीवन सांसारिक प्रपंचों से सर्वथा अलग-थलग होने के कारण अहिंसा, संयम और तप की त्रिवेणी में अधिक गोते लगा सकता है। साधना करने का जितना अवसर साधु को प्राप्त हो सकता है, उतना गृहस्थ को नहीं। गृहस्थ पर अनेकों पारिवारिक और सामाजिक उत्तरदायित्व हैं, उसे परिवार के पालन-पोषणार्थ आजीविका आदि अनेकों चिन्ताएँ घेरे रहती हैं। तथापि मुक्ति किसी वेष विशेष से बँधी हुई नहीं होती है, जिस जीवन में साधु-भाव आ जाये, वही जीवन मुक्ति को पा सकता है, फिर वेष चाहे गृहस्थ का हो या साधु का। मुक्ति के साथ वेष का कोई सम्बन्ध नहीं रहता है। वहां तो संयम की साधना चाहिए।

सभी गृहस्थ बुरे होते हैं, ऐसी बात नहीं है। कई गृहस्थ साधुओं से भी अच्छे होते हैं। जिन साधुओं के जीवन में साधुता नहीं है, केवल जिन्होंने साधु का वेष पहन रखा है, किन्तु ईर्ष्या-द्वेष की आग में सदा जलते रहते हैं, कामना और वासना के दास बने हुए हैं, ऐसे वेषधारी साधुओं से वे गृहस्थ अच्छे हैं जिन का जीवन सात्विक है, हिंसा, असत्य, चोरी, दुराचार और परिग्रह से दूर रहता है। भगवान् महावीर ने भी कहा है:-

सन्ति एगेहिं भिक्खूहिं, गारत्था-संजमुत्तरा।
गारत्थेहिं य सव्वेहिं, साहवो संजमुत्तरा।।

–उत्तरा० अ० 5, गा. 20

अर्थात्–किसी-किसी शिथिलाचारी भिक्षु से गृहस्थ संयम में अधिक श्रेष्ठ होते हैं और गृहस्थों से, साधु संयम में श्रेष्ठ हैं ही।

साधु साधना से होता है, वेष से नहीं। इसलिए स्थानकवासी परम्परा में 15 प्रकार के सिद्धों में गृहस्थलिंग सिद्ध भी स्वीकार किया है। जो जीव सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यग्चारित्र की साधना द्वारा गृहस्थ के वेष में ही मोक्ष में चले जाते हैं, वे गृहस्थलिंग सिद्ध कहलाते हैं, जैसे मरुदेवी माता। उन्होंने गृहस्थ वेष में ही निर्वाण पद पाया था। उन्होंने साध्वी का वेष अंगीकार नहीं किया था। भावों की विलक्षण उच्चता ने उनके कर्मों का क्षय करके उन्हें अजर-अमर पद से विभूषित कर दिया था।

मुनियों के उपकरण परिग्रह नहीं हैं

स्थानकवासी परम्परा किसी भी उपकरण को परिग्रह का रूप नहीं देती। इसने आसक्ति और मूर्च्छाभाव को ही परिग्रह माना है। साधु के पास वस्त्र आदि उपकरण हों या न हों, यदि मन में उनके प्रति आसक्ति है, मोह है, तो परिग्रह है, यदि उनमें मूर्च्छाभाव नहीं है, तो सब उपकरणों के होते हुए भी साधु अपरिग्रही ही है। साधु संयम-साधना के लिए जिन वस्त्र आदि उपकरणों का उपयोग करता है, उन पर वह यदि ममत्व भाव नहीं रखता, तो उसे परिग्रही नहीं कहा जाता। श्री दशवैकालिक सूत्र में इस तथ्य का बड़ी सुन्दरता के साथ वर्णन किया गया है। वहाँ लिखा है–

जं पि वत्थं पायं वा, कम्बलं पायपुंछणं।
तं पि संजमलज्जट्ठा, धारन्ति परिहरन्ति य॥
न सो परिग्गहो वुत्तो, नायपुत्तेण ताइणा।
मुच्छा परिग्गहो वुत्तो, इअ वुत्तं महेसिणा॥

–दशवै० अ० 6/20-21

अर्थात्–मोक्ष-साधक साधु जो कल्पनीय वस्त्र, पात्र, कम्बल तथा रजोहरण आदि आवश्यक वस्तुएँ रखते हैं, वे संयम की परिपालना एवं लज्जा की रक्षा के लिए ही रखते हैं–अपने उपयोग में लाते हैं, ममत्व भाव के लिए नहीं।

श्रमण भगवान् महावीर ने वस्त्र-पात्रादि उपकरणों को परिग्रह नहीं बतलाया है, किन्तु मूर्च्छाभाव को परिग्रह कहा है। इन्हीं भगवान् महावीर के प्रवचन को अवधारण करके महर्षि गणधर देवों ने भी मूर्च्छाभाव को ही परिग्रह माना है।

इसलिए स्थानकवासी परम्परा के विश्वासानुसार साधु वस्त्र, पात्र आदि उपकरण रख सकता है। उन पर यदि ममत्व भाव नहीं है तो वे उपरकण परिग्रह रूप हीं है। वे उपकरण 14 माने गये हैं, जिनका वर्णन पीछे पृष्ठों पर किया चुका है।

वस्त्र-पात्र आदि को परिग्रह का रूप देने की मान्यता युक्ति-युक्ति प्रतीत नहीं होती। क्योंकि यदि उपकरण-मात्र को परिग्रह स्वीकार कर लिया जाये तो शरीर को क्या कहा जायगा? **"शरीरमाद्यं खलु धर्म-साधनम्"** की उक्ति शरीर को धर्म साधना का सबसे बड़ा साधन प्रमाणित कर रही है। ऐसी दशा में शरीर को भी परिग्रह ही मानना पड़ेगा। फिर **"शरीरधारी मुनि मुनित्व को प्राप्त नहीं कर सकता"** यह भी स्वीकार करना होगा। बिना

शरीर के धर्म-साधना नहीं हो सकती, ऐसी दशा में बात कैसे बनेगी? अत: सर्वोत्तम मार्ग यही है कि किसी भी उपकरण को परिग्रह न मानकर मूर्च्छाभाव को ही परिग्रह का रूप देना चाहिए। इसी मान्यता के आधार पर सब समस्याएं समाहित हो सकती हैं, अन्यथा नहीं।

तीर्थंकर मल्लिनाथ का स्त्रीत्व

स्थानकवासी परम्परा कहती है कि नारी भी पुरुष की भाँति आध्यात्मिक उन्नति कर सकती है, साध्वी बनकर अहिंसा की विराट् साधना द्वारा घातिक कर्मों का क्षय करके केवली बन सकती है, तीर्थंकर पद के योग्य पूर्व भूमिका तैयार करके समय आने पर तीर्थंकर पद भी प्राप्त कर सकती है। नारी में जब पुरुष की भाँति चेतना है, विचारणा है, आध्यात्मिक जागरण है तो उसके आध्यात्मिक विकास पर किसी भी प्रकार का प्रतिबन्ध कैसे लग सकता है? इसीलिए स्थानकवासी परम्परा इस अवसर्पिणीकालीन 24 तीर्थंकरों में से 19वें तीर्थंकर भगवान् मल्लिनाथ को नारी रूप से स्वीकार करती है।

यह सत्य है कि स्थानकवासी परम्परा यह स्वीकार करती है कि भगवान् मल्लिनाथ स्त्री थे, किन्तु साथ में वह यह भी मानती है कि स्त्री का तीर्थंकर होना अवसर्पिणीकालीन १० आश्चर्यो में से एक आश्चर्य है। जो घटना अभूतपूर्व हो, पहले कभी न हुई हो और लोक में जो विस्मय और आश्चर्य की दृष्टि से देखी जाती हो ऐसी घटना को जैन परिभाषा में आश्चर्य कहा गया है। इस अवसर्पिणी काल में ऐसे दस आश्चर्य हुए हैं। उन में भगवान् मल्लिनाथ का स्त्री रूप से तीर्थंकर होना भी एक आश्चर्य है। त्रिलोक में निरुपम अतिशय और अनन्त महिमा धारण करने वाले प्राय: पुरुष ही हुआ करते हैं और वही तीर्थ की स्थापना किया करते हैं, यह सत्य है किन्तु अनन्त अवसर्पिणियाँ और अनन्त उत्सर्पिणियाँ व्यतीत हो जाने पर कभी-कभी नारी भी तीर्थंकर का स्थान ले लेती है। नारी भी पुरुष की भांति निरुपम अतिशय को धारण करके त्रिलोक-पूज्य बन जाती है और साधु, साध्वी, श्रावक और श्राविका रूप चतुर्विध तीर्थ (संघ) की संस्थापना करके तीर्थंकर पद को उपलब्ध कर लेती है।

11 अंगों की विद्यमानता

तीर्थंकर भगवान् के उपदेशानुसार गणधर देव जिन शास्त्रों की स्वय रचना करते हैं, वे शास्त्र अंगसूत्र कहलाते हैं। जिस प्रकार ब्राह्मण संस्कृति का आधार चार वेद और बौद्ध संस्कृति का आधार त्रिपिटक तथा ईसाइयों का आधार बाइबल (Bible) है उसी प्रकार जैन-संस्कृति का आधार अंग-सूत्र हैं। जिस प्रकार पुरुष के शरीर में दो पैर, दो जंघाएं, दो उरु, दो पसवाड़े

(गात्रार्द्ध), दो भुजाएं, एक गरदन और एक सिर ये 12 अंग होते हैं उसी प्रकार श्रुत शास्त्र रूपी पुरुष के 12 अंग हैं, जो अंग-सूत्र के नाम से कहे जाते हैं। अंग-सूत्रों की संख्या 12 है, किन्तु इनमें बारहवाँ अंग दृष्टिवाद आजकल उपलब्ध नहीं है। अतः आज अंग-सूत्र 11 ही माने जाते हैं। इन अंग-सूत्रों का नाम निर्देश इस प्रकार है–

11–अंगसूत्र–आचारांग, सूत्रकृतांग, स्थानांग, समवायांग, भगवती, ज्ञाताधर्मकथांग, उपासकदशांग, अन्तकृद्दशांग, अनुत्तरोपपातिकदशांग, प्रश्नव्याकरण, विपाकसूत्र।

12–उपांगसूत्र–औपपातिक, रायपसेणी, जीवाभिगम, प्रज्ञापना, जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति, चन्द्रप्रज्ञप्ति, सूर्यप्रज्ञप्ति, निरयावलिका, कल्पावतंसिका, पुष्पिका, पुष्पचूलिका, वृष्णिदशा।

4–मूलसूत्र–दशवैकालिक, उत्तराध्ययन, नन्दी, अनुयोगद्वार।

4–छेदसूत्र–वृहत्कल्प, व्यवहार, निशीथ, दशाश्रुतस्कंध।

ये सब 31 होते हैं और '**आवश्यक सूत्र**' मिलाकर ये 32 हो जाते हैं।

इतिहास कहता है कि भगवान् महावीर के प्रवचन का स्वाध्याय प्रथम मौखिक होता था। आचार्य शिष्य को और शिष्य आगे अपने शिष्य को स्मरण करा दिया करते थे। इस प्रकार गुरु परम्परा से आगमों का पठन-पाठन चलता था। भगवान् महावीर के लगभग 150 वर्षों के अनन्तर देश में दुर्भिक्ष पड़ा। दुर्भिक्ष के होते अन्न का अभाव स्वाभाविक था। अन्नाभाव से बुद्धि-शैथिल्य होने पर कण्ठस्थ विद्या विस्मृत होने लगी। जैनेन्द्र प्रवचन के इस ह्रास को रोकने के लिए जैन मुनिराजों ने एक बृहत्सम्मेलन का आयोजन किया। इसके प्रधान आचार्यवर श्री स्थूलिभद्र जी महाराज बनाये गये। श्री स्थूलिभद्र जी महाराज की देखरेख में जिन मुनियों को जो आगम-पाठ याद थे, उन सब का संकलन किया गया। यह आगम साहित्य पूर्व की भांति अंग और उपांग के नाम से निर्धारित था। तदनन्तर पुनः दुर्भिक्ष पड़ा, उस दुर्भिक्ष में जैन-मुनियों का काफी ह्रास हुआ। प्रवचन-सुरक्षा के लिए मुनिराज श्री स्कन्दिल जी महाराज की अध्यक्षता में पुनः एक मुनि सम्मेलन मथुरा में बुलाया गया। और पूर्व की भांति आगमों का संरक्षण किया गया। काल की विचित्रता से तीसरी बार दुर्भिक्ष ने देश को फिर आक्रांत कर लिया। अब की बार निर्ग्रन्थ प्रवचन को सुरक्षित रखने के लिए श्री देवर्द्धिगणी क्षमाश्रमण ने वल्लभी नगरी में मुनिवरों का एक सम्मेलन बुलाया। इस सम्मेलन में भी पूर्व की भाँति सभी आगमों का संकलन किया गया, किन्तु अब की बार उसे मौखिक नहीं रहने दिया, मुनिराजों को जितने आगमस्थल स्मरण थे उन सब को अंग, उपांग आदि के रूप में लिपिबद्ध करवा दिया गया। और उनकी

अनेकों प्रतियाँ लिखवा डालीं, योग्य-योग्य स्थानों पर उनको भिजवाकर आगम-साहित्य की अनमोल निधि को सदा के लिए सुरक्षित करवा दिया। वही आगमसाहित्य आज हमारे सामने है और उसी को जैन-जगत अपना आध्यात्मिक आधार मानकर चल रहा है।

स्थानकवासी परम्परा की मान्यता है कि देवर्द्धिगणी क्षमाश्रमण ने जो अंगसाहित्य लिपिबद्ध कराया था वह भगवान् महावीर की ही वाणी है, अत: वह सर्वथा प्रामाणिक है। किन्तु दिगम्बर परम्परा इस बात को स्वीकार नहीं करती है, उसका विश्वास है कि अंगसाहित्य महावीर की वाणी नहीं है। अत: वह इस अंगसाहित्य को प्रामाणिक रूप में स्वीकार करने से इन्कार करती है।

भरत को सीस-महल में केवलज्ञान

इतिहास बतलाता है कि एक बार भगवान् ऋषभदेव के बड़े पुत्र भरत महाराज स्नान करके तथा वस्त्र-आभूषणों से अलंकृत होकर आदर्श-भवन (सीसमहल) में गये। वहां दर्पण में अपना रूप देखने लगे। अचानक एक हाथ की अंगूठी अंगुलि में से निकलकर नीचे गिर पड़ी। तब दूसरी अंगुलियों की अपेक्षा वह अंगुलि असुन्दर प्रतीत होने लगी। भरत महाराज को विचार आया कि यह शोभा केवल सोने के आभूषणों के धारण करने से ही है या स्वाभाविक है, ऐसा विचार करके उन्होंने दूसरी अंगुलि की अंगूठी भी उतार दी। यहाँ तक कि अन्त में, मस्तक का मुकुट तक सिर से उतार दिया। पत्ररहित वृक्ष जैसे शोभाहीन हो जाता है उसी प्रकार की अवस्था अपने शरीर की देखकर भरत महाराज की अन्तरात्मा बोल उठी—वस्तुत: यह शरीर सुन्दर नहीं है। इसकी जो सुन्दरता है, वह भी बाह्य पदार्थों पर आश्रित है। जिस प्रकार अनेकविध चित्रों से दीवार को शृंगारित कर दिया जाता है, उसी प्रकार केवल आभूषणों से ही इस शरीर की शोभा दृष्टिगोचर होती है। इसका वास्तविक स्वरूप तो कुछ और ही है। भरत की विचारधारा गंभीर पड़ने लगी। वे सोचने लगे कि यह शरीर विनाशशील है, अनित्य है, नश्वर है, मल-मूत्रादि निकृष्ट पदार्थों का भण्डार है। कपूर, केसर, कस्तूरी और चन्दन कोई भी सुगन्धित पदार्थ इसके सम्पर्क में आ जाए तो वह भी दूषित हो जाता है, सब पदार्थों को यह दुर्गन्धमय बना डालता है। कितना घृणास्पद है यह शरीर?

इस शरीर की रक्षा के लिए मनुष्य अनेकविध यत्न करता है। रोगों से उन्मुक्त रखने के लिए नाना प्रकार की औषधियों का सेवन करता है किन्तु फिर भी यह साथ छोड़ जाता है, एक दिन मृत्यु की गोद में सो जाता है। वे लोग धन्य हैं, जो इससे धार्मिक लाभ उठाते हैं। वे तपस्वी मुनीश्वर धन्य हैं जो इस शरीर की अनित्यता तथा असारता जानकर मोक्षफलदायक तप द्वारा

इस का उपयोग करते हैं। इस प्रकार की अध्यात्म विचारधारा का प्रबल वेग जब उत्पन्न हुआ तब भरत जी महाराज धीरे-धीरे भावों की विशुद्धता से इतने ऊंचे उठ जाते हैं कि ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, मोहनीय और अन्तराय इन चतुर्विध घातिक कर्मों का क्षय करके केवल-ज्ञान को उपलब्ध कर लेते हैं। आदर्श भवन से सर्वज्ञ तथा सर्वदर्शी बनकर ही बाहर निकलते हैं।

स्थानकवासी परम्परा इस प्रकार भरत महाराज के आदर्श-भवन में केवली बन जाने की मान्यता में विश्वास रखती है। इस परम्परा का विश्वास है कि जब अन्तर्जगत की शुद्धि हो जाती है, अन्तः-स्वास्थ्य स्वस्थ हो जाता है, राग-द्वेष जीवन से सर्वथा निकाल दिए जाते हैं, तब घातिक कर्मों का नाश होने पर जीवन सर्वज्ञत्व प्राप्त कर लेता है। फिर भले ही वह सीसमहल में खड़ा हो, या किसी अटवी में बैठा हो।

गर्भ-परिवर्तन

भगवान् महावीर स्वामी का जीव जब मरीचि (त्रिदण्डी) के भव में था, तब जातिमद के कारण उसने नीचगोत्र का बन्ध कर लिया था। अतः परिणामस्वरूप प्राणतकल्प (दसवें देवलोक) के पुष्पोत्तर विमान से च्यवकर वह ब्राह्मण-कुण्ड ग्राम में ऋषभदत्त ब्राह्मण की पत्नी देवानन्दा की कुक्षि में आकर पुत्र रूप से उत्पन्न हुआ। 82 दिन व्यतीत हो जाने पर सौधर्मेन्द्र (प्रथम देवलोक के स्वामी शक्रेन्द्र महाराज) को अवधिज्ञान (ज्ञानविशेष, जिस से कुछ मर्यादा के साथ रूपी पदार्थों का प्रत्यक्ष बोध होता है) से इस बात का बोध होने पर उन्होंने विचार किया कि अनन्त अतीत में तीर्थंकर भगवान् का जन्म ब्राह्मण-कुल में कभी नहीं हुआ, और न भविष्य में कभी ऐसा होगा, यह प्रकृति का नियम है। यह विचार कर उन्होंने हरिणगमेषी देव को बुलाया और उसे आज्ञा दी कि चरम तीर्थंकर भगवान् महावीर का जीव पूर्वोपार्जित अशुभ कर्म के कारण ब्राह्मण कुल में उत्पन्न हो गया है, किन्तु उसका जन्म वहाँ से नहीं हो सकता, क्योंकि तीर्थंकर सदा क्षत्रियों के कुलों में जन्म लिया करते हैं, अतः तुम जाओ और देवानन्दा ब्राह्मणी के गर्भ से उस जीव का हरण करके क्षत्रियकुण्ड नगर के स्वामी महाराज सिद्धार्थ की महारानी त्रिशला के गर्भ में स्थापित करो। शक्रेन्द्र महाराज की आज्ञा के अनुसार देव ने देवानन्दा ब्राह्मणी के गर्भ का हरण करके महारानी त्रिशला की कुक्षि में स्थापित कर दिया, और त्रिशला के गर्भ को देवानन्दा के यहां पहुंचा दिया। इस प्रकार भगवान् महावीर के गर्भ-हरण की यह मान्यता स्थानकवासी परम्परा की है। दिगम्बर परम्परा इसे स्वीकार नहीं करती। उसका विश्वास है कि भगवान् महावीर का जीव देवानन्दा ब्राह्मणी की कुक्षि में उत्पन्न ही नहीं हुआ, वह तो देवलोक से सीधा त्रिशला माता की कुक्षि में आया था।

स्थानकवासी परम्परा ने भगवान् महावीर के गर्भहरण को अवश्य स्वीकार किया है किन्तु इस घटना को वह दशविध आश्चर्यों में एक आश्चर्य के रूप में देखती है। तीर्थंकर भगवान् की गर्भहरण की बात अभूतपूर्व थी। अनन्त काल के अनन्तर इस अवसर्पिणी काल में ऐसा हुआ था, अत: स्थानकवासी परम्परा इस गर्भहरण को एक आश्चर्य के रूप में स्वीकार करती है। आश्चर्य शब्द के सम्बन्ध में पीछे पृष्ठों पर ऊहापोह किया जा चुका है।

गर्भहरण की बात लोगों को कुछ असम्भव-सी प्रतीत होती है। किन्तु यदि गम्भीरता से विचार किया जाए तो पता चलेगा कि इस में असम्भव कुछ नहीं है। क्योंकि वर्तमान को देखना मनुष्य का स्वभाव है। अत: वह वर्तमान में न दिखाई देने वाली घटना को असम्भव मानने लग जाता है। पर उसके असम्भव मान लेने मात्र से वह असम्भव नहीं हो जाती। कुछ वर्ष पहले विमानों की बातें सुनकर लोग हंसा करते थे, और कहा करते थे कि आकाश में उड़ने वाला यंत्र कैसे हो सकता है, यह सर्वथा असम्भव है। किन्तु आज एक या दो नहीं, हजारों की संख्या में ऐसे यंत्र आकाश में उड़ारियाँ ले रहे हैं। इनकी गति प्रति घण्टा हजारों माइल है और हजारों कोस की यात्रा तय कर लेते हैं। दूसरी ओर विज्ञान ने चिकित्सा के क्षेत्र में जो उन्नति की है, वह भी विलक्षण है। डॉक्टर लोग एक व्यक्ति का रक्त दूसरे व्यक्ति को चढ़ा देते हैं। एक फेफड़ा (Lungs) निकालकर दूसरा लगा देते हैं। नारियों के गर्भाशय निकालकर उन्हें ठीक करके पुन: वहीं रख देते हैं। यदि ये साधारण बुद्धि के मनुष्य ऐसा कर सकते हैं तो अनेकों दिव्य शक्तियों के स्वामी देवताओं के लिए गर्भ-परिवर्तन कर देना कैसे असम्भव कहा जा सकता है? फिर स्थानकवासी परम्परा तो स्वयं इसे आश्चर्य (अनन्त काल के अनन्तर होने वाली विरल कर्मजन्य घटना) कहती है और भगवान् महावीर के एक पूर्वकृत अशुभ कर्म का अशुभ फल मानती है।

श्री मदनकुमार मेहता द्वारा अनुवादित श्री भगवती सूत्र (हिन्दी) की भूमिका में श्री मोहनलाल बाँठिया ने इस सम्बन्ध में बहुत सुन्दर ऊहापोह किया है। वे लिखते हैं कि भगवान् वर्धमान महावीर के जन्म के समय की गर्भ-स्थानान्तरण की घटना को लेकर बहुत कुछ आक्षेप हुए हैं और कहा गया है कि यह असम्भव जैसी बात भगवान् महावीर के जीवन को अन्य धर्मों के भगवानों के जीवन की तरह चमत्कारमय बनाने के लिए ही पश्चाद्वर्ती आचार्यों ने जैन शास्त्रों में मिला दी है। जैन-शास्त्रों में वर्णित गर्भ-स्थानान्तरण की घटना में सरल बात (या प्रश्न) यह है कि क्या एक स्त्री के गर्भाशय से गर्भजीव को पक्व या अपरिपक्व

अवस्था में निकाल कर अन्य स्त्री के गर्भाशय में आरोपित किया जा सकता है? और वह आरोपित जीव फिर स्वाभाविक रूप से पैदा हो सकता है? आधुनिक वैज्ञानिकों ने अपनी बहुमुखी प्रगति में इस विषय को भी अछूता नहीं छोड़ा है। प्राणि-शास्त्रवेत्ता डाक्टर चांग ने बोस्टन विश्वविद्यालय के जैव-रसायनशाला में इस सम्बन्ध में अर्थात् गर्भ-स्थानान्तरण सम्बन्धी परीक्षण किये हैं। इसमें उन्हें प्राथमिक सफलताएं मिली हैं। अमेरीकन हिरनी के गर्भबीज को एक अंग्रेजी हिरनी के गर्भाशय में सफलता से स्थानान्तरित किया गया है। जैव-रसायनागार जैव वोस्टन तथा कृषि कॉलेज केम्ब्रिज में पारस्परिक सहयोग से गर्भ-स्थानान्तरण सम्बन्धी अन्वेषण जारी हैं और शीघ्र ही इस सम्बन्ध में सविस्तृत विवरण ज्ञात होगा। (पृष्ठ 21-22)

महावीर को तेजोलेश्या-जनित उपसर्ग

गोशालक भगवान् महावीर का शिष्य था, भगवान् ने ही उसे शिक्षित और दीक्षित किया था, किन्तु वह आगे चलकर भगवान् का ही विरोधी बन गया। भगवान् की अवहेलना और भर्त्सना करना उसने अपने जीवन का लक्ष्य बना लिया। एक बार उसने अपने तपस्तेज से भगवान् के दो साधुओं को जला डाला था, निरपराध दो मुनियों के बलिदान से भी गोशालक की क्रोध-ज्वाला शान्त नहीं हुई। वह क्रोधावेश में भगवान् महावीर को भी अपमानजनक शब्द बोलने लगा। अन्त में, करुणा के सागर भगवान् महावीर ने उसको कहा—गोशालक! एक अक्षर देने वाला विद्यागुरु कहलाता है, एक भी आर्य धर्म का वचन सुनाने वाला धर्मगुरु माना जाता है। मैंने तो तुझे दीक्षित और शिक्षित किया है, मैंने ही तुझे पढ़ाया है, और मेरे ही साथ तेरा यह व्यवहार! गोशालक! तू यह अनुचित कर रहा है, तुझे ऐसा नहीं करना चाहिए।

चाहिए तो यह था कि गोशालक अपने गुरुदेव से क्षमा मांगता, किन्तु भगवान् के वचनों का उस पर उल्टा ही परिणाम हुआ। वह शान्त होने की बजाय अधिक उत्तेजित हो गया, और उसने क्षण भर में अपनी तेजोलेश्या (तपोजन्य तेज-शक्ति) को भगवान् के ऊपर छोड़ दिया। उसे अटल विश्वास था कि इसके प्रयोग से वह भगवान् का अन्त कर देगा, किन्तु उसकी धारणा निष्फल सिद्ध हुई। पर्वत से टकराई हुई वायु की भांति गोशालक द्वारा छोड़ी गई तेजो-लेश्या भगवान् से टकराकर चक्र काटती हुई ऊंची चढ़ कर पुनः वापिस गोशालक के शरीर में ही प्रवेश कर गई। तेजोलेश्या के शरीर में प्रविष्ट होते ही गोशालक का शरीर जलने लगा। अन्त में, निर्विष नाग की भांति निस्तेज हालत में गोशालक वहां से चला गया।

गोशालक ने भगवान् महावीर पर जो तेजोलेश्या छोड़ी थी यद्यपि उससे तात्कालिक हानि नहीं हुई पर उसकी प्रचण्ड ज्वालाएँ अपना थोड़ा-सा प्रभाव भगवान् महावीर पर अवश्य कर गईं। उनके ताप से प्रभु के शरीर में पित्त ज्वर हो गया। परिणामस्वरूप भगवान् को खून के दस्त आने लगे। रक्त के अधिक स्राव से भगवान् का शरीर काफी शिथिल और कृश हो गया। केवलज्ञान होने के पश्चात् पहली बार भगवान् को यह तेजोलेश्याजनित उपसर्ग सहन करना पड़ा। ऐसी मान्यता है स्थानकवासी परम्परा की, किन्तु दिगम्बर परम्परा भगवान् के तेजोलेश्याजनित इस उपसर्ग को स्वीकार नहीं करती। उसका विश्वास है कि सर्वज्ञत्व और सर्वदर्शित्व जैसी उच्चतम आत्मिक भूमिका पर विराजमान तीर्थंकर भगवान् महावीर को यह भीषण वेदना क्यों? ऐसी लोमहर्षक वेदना ऐसी वीतराग आत्मा को नहीं हो सकती। किन्तु स्थानकवासी परम्परा का कहना है कि केवली भगवान् ने भले ही घातिक कर्मों को क्षय कर दिया है पर अभी तक उनके वेदनीय, नाम, गोत्र और आयुष ये चार अघातिक कर्म अवशिष्ट होते हैं, वेदनीय कर्मजन्य सुख-दु:ख का उनको भी उपभोग करना पड़ता है। यदि वेदनीय कर्म का फल ही न हो तो फिर उसकी अवस्थिति का अर्थ ही क्या है? अत: वेदनीय कर्मजन्य सुख, दु:ख का अनुभव तो तीर्थंकरत्व, सर्वज्ञत्व और सर्वदर्शित्व प्राप्त कर लेने पर भी आत्मा को करना ही होता है।

तीर्थंकर भगवान् का यह अतिशय होता है कि वे जहाँ विराजते हैं, उस स्थान के चारों ओर सौ योजन के अन्दर किसी भी प्रकार का वैर-भाव, मरी आदि रोग, और दुर्भिक्ष आदि किसी प्रकार का उपद्रव नहीं होने पाता, किन्तु श्रमण भगवान् महावीर स्वामी को केवली अवस्था में भी यह जो गोशालक द्वारा छोड़ी गई तेजोलेश्या का उपसर्ग सहन करना पड़ा, यह एक आश्चर्य की बात है। तीर्थंकर भगवान् तो देव, मनुष्य, तिर्यञ्च सब के लिए सत्कार के पात्र हैं, उपसर्ग के पात्र नहीं हैं। तथापि अनन्त काल के अनन्तर कभी ऐसी दु:खद घटना उनके जीवन में भी संघटित हो जाती है। यही दशविध आश्चर्यों में एक आश्चर्य का अपना स्वरूप है। इसीलिए स्थानकवासी परम्परा भगवान् महावीर के इस उपसर्ग को एक आश्चर्य के रूप में देखती है।

महावीर का विवाह (कन्या-जन्म)

स्थानकवासी परम्परा का विश्वास है कि भगवान् महावीर विवाहित थे। राजकुमारावस्था में इनका राजकुमारी यशोधा के साथ विवाह सम्पन्न हुआ था और उससे उनके प्रियदर्शना नाम

की एक पुत्री भी हुई थी, किन्तु दिगम्बर परम्परा भगवान् महावीर को अविवाहित मानती है। उसका विश्वास है कि महावीर अखण्ड ब्रह्मचारी थे, वैवाहिक जीवन को उन्होंने कभी अंगीकार नहीं किया था।

तीर्थंकर के कन्धे पर देवदूष्य वस्त्र

स्थानकवासी परम्परा का विश्वास है कि भगवान् महावीर जब दीक्षित हुए थे, साधु बने थे, तब सौधर्मेन्द्र शक्रेन्द्र महाराज ने भगवान् को एक वस्त्र अर्पित किया था, जो प्रभु ने अपने कन्धे पर डाल लिया था, और जो जैन साहित्य में देवदूष्य के नाम से प्रख्यात है। यह देवदूष्य भगवान् के पास 13 महीने रहा, बाद में वह उनके पास नहीं रहा। किन्तु दिगम्बर परम्परा ऐसा विश्वास नहीं रखती। उसका कहना है कि भगवान् सर्वथा दिगम्बर थे, नग्न थे, दिशाएँ ही उनके वस्त्र थे। एक बार वस्त्र और भूषणों को उतार कर इन्होंने कभी किसी वस्त्र को धारण नहीं किया। इनका यह नग्नत्व आजीवन रहा।

मरुदेवी माता की हाथी पर मुक्ति

एक हजार वर्ष की निरन्तर कठोर साधना के अनन्तर जब भगवान् आदिनाथ को केवलज्ञान की प्राप्ति हुई तो उसी समय भगवान् के पुत्र भरत महाराज की आयुधशाला में चक्ररत्न की उत्पत्ति हुई। पुण्योत्कर्ष के प्रताप से भरत को हर्ष-महोत्सव के एक साथ दो पुण्य अवसर प्राप्त हुए। प्रश्न उपस्थित हुआ कि पहले किस उत्सव को मनाया जाए? भरत ने सोचा--चक्ररत्न तो केवल इस भौतिक संसार के लाभ की वस्तु है, किन्तु प्रभु के केवलज्ञान का महोत्सव लोक और परलोक दोनों के लिए हितकारी है। अत: सर्वप्रथम भगवान् के केवलज्ञान महोत्सव को मनाना चाहिए और उसी में सम्मिलित होना चाहिए। इस निश्चय के बाद भगवान् के दर्शन करने के लिए दर्शन-यात्रा की व्यवस्था के वास्ते मंत्री को आदेश दिया और इस शुभ समाचार को लेकर स्वयं अपनी पूज्य दादी मरुदेवी माता के चरणों में उपस्थित हुए। राजमाता के चरणों में नतमस्तक होने के अनन्तर उन्होंने अर्ज की—माता! आज मैं आपको एक शुभ समाचार सुनाने आया हूँ। आपके पुत्र आज केवली बन गये हैं। केवलज्ञान प्राप्ति के उपलक्ष्य में बड़ा भारी उत्सव होने वाला है। देवी, देवता, मनुष्य, मानुषी सभी उसमें सम्मिलित हो रहे हैं। आप भी चलिए! आप प्रतिदिन अपने पुत्र को देखने की लालसा व्यक्त किया करती हैं और मुझे उपालंभ दिया करती हैं, कि तू मेरे पुत्र की खबर नहीं मंगाता। आज बड़ा सुन्दर अवसर है माँ! तैयार हो जाओ। भगवान् के दर्शन होंगे और केवलज्ञान-महोत्सव मनाया जाएगा।

मरुदेवी माता उक्त समाचार सुनकर फूली न समाई। झट तैयार हो गई और सहर्ष हाथी के हौदे पर बैठ गई। राजमाता के पीछे स्वयं भरत महाराज बैठ गये, अन्य हजारों राजा-महाराजा तथा चतुरंगिणी सेना भी साथ-साथ चली। इस प्रकार बड़े समारोह के साथ भगवान् आदिनाथ के दर्शन करने के लिए भरत महाराज ने प्रस्थान किया। मरुदेवी माता मातृसुलभ-ममता के कारण विचार करती जा रही थीं—पता नहीं, मेरे पुत्र की क्या अवस्था है! राजपाट छोड़े वर्षों बीत गये हैं, न जाने बेचारा किस दशा में होगा? बड़ा निर्मोही हो गया है वह, उसने आज तक मेरी खबर तक नहीं ली। अच्छा, मिलूगी तो उपालंभ दूंगी.......। समवसरण के पास आने पर भरत बोले—माता! अपने पुत्र की ऋद्धि तो देखो। इनके आगे आकाश में धर्म-चक्र शोभायमान है, सिर पर तीन छत्र हैं, इनके दोनों ओर तेजोमय श्रेष्ठ चंवर अवस्थित हैं, आकाश के समान स्वच्छ, स्फटिक मणि के बने हुए पादपीठ वाले सिंहासन पर ये विराजमान हैं। पत्र, पुष्प और पल्लव से शोभित, छत्र, ध्वज और पताका से युक्त अशोक वृक्ष प्रकट हो रहा है। इनके पीछे मस्तक के पास देदीप्यमान भामण्डल (गोलाकार प्रकाशपुंज) कितना सुन्दर लग रहा है। माँ! जरा ध्यान से अपने पुत्र के अध्यात्म वैभव को देखो।

हर्ष से रोमाञ्चित और आनन्दातिरेक के कारण नि:सृत अश्रु-जल से परिपूर्ण नयनों से अपने पुत्र के अलौकिक अध्यात्म वैभव और ऐश्वर्य को निहार कर माता मरुदेवी आनन्द-सागर में निमग्न हो गई। उसने सोचा—मेरा पुत्र तो बड़ा सुखी है। देवी, देवता भी इसकी सेवा में नतमस्तक खड़े हैं, मनुष्यों का तो कहना ही क्या है! मैं तो व्यर्थ में ही इसके अनिष्ट की आशंका कर रही थी। इससे बढ़कर और कौन सुखी होगा? मैं सोचा करती थी, पुत्र ने कभी मेरी सार नहीं ली, अब समझी, ऐसे आनन्द-सरोवर में रहकर भला यह मुझे क्यों याद करने लगा? अच्छा चलती हूँ, पूछूंगी जरूर, पुत्र कितना भी बड़ा क्यों न हो जाए, आखिर माँ तो माँ ही रहती है........इस प्रकार के विचारों में निमग्न मरुदेवी माता प्रभु के दरबार में गई, पर वीतरागी प्रभु ने तो आँख उठाकर अपनी जननी की ओर निहारा भी नहीं।

मां सन्न रह गई। उसे स्वप्न में भी आशा नहीं थी कि मेरा पुत्र मुझे देखेगा भी नहीं। हाथी के हौदे पर बैठी विचार करने लगी कि पुत्र-मोह में पागल होकर मैंने तो अपने नयन भी खो लिए और उसने मुंह उठाकर मेरी ओर देखा भी नहीं। मां का दिल भर आया। रोने लगी। अन्त में बोली—धिक्कार है ऐसे मोह को। तू पागल है, जो पुत्र के मोह में विह्वल हो रही है। जगत में कौन किस का है? माता, पुत्र आदि सभी सम्बन्धों में कोई तथ्य नहीं है, ये सब काल्पनिक सम्बन्ध हैं। जीव अकेला आया है, और अकेला ही जाएगा। पुत्र आदि किसी ने भी साथ नहीं

देना। किसी ने सच कहा है:-

दुनिया के बाजार में, चलकर आया एक।
मिले अनेकों बीच में, अन्त एक का एक॥

ममता का बन्धन टूट गया। माता की गंभीरता बढ़ती चली गई, बाह्य संसार को भूलकर अन्तर्जगत में विहरण करने लगी। अन्त में, एकत्व भावना के सहारे वीतरागता के महा-मन्दिर की उसने सब श्रेणियां पार कर लीं, उसकी अध्यात्म चेतना उच्चता के शिखर पर पहुँच गई। बस फिर क्या था! हाथी के हौदे पर ही घातिक कर्मों की समाप्ति होने पर मरुदेवी माता मोक्षधाम में जा विराजीं। जन्म-मरण की परम्परा को सदा के लिए समाप्त करके उन्होंने परमात्मपद को प्राप्त कर लिया।

इस अवसर्पिणीकाल में मुक्ति-पुरी का द्वार सर्वप्रथम माता मरुदेवी ने खोला था। सिद्धों के संसार में सर्वप्रथम दाखिल होकर अनन्त ज्ञान और अनन्त आनन्द में रमण करने वाली इस अवसर्पिणीकाल की प्रथम नारी थी जिसने इस युग में सर्वप्रथम मोक्ष प्राप्त की थी।

"मरुदेवी माता हाथी के हौदे पर केवल-ज्ञान प्राप्त करके सर्व प्रथम सिद्ध बनीं" यह मान्यता स्थानकवासी परम्परा की है। दिगम्बर परम्परा में ऐसा नहीं माना जाता है। उसका विश्वास है कि नग्नत्व अंगीकार करने पर ही व्यक्ति साधुत्व को पा सकता है, अन्यथा नहीं। और नारी का नग्न रहना इनके यहाँ सर्वथा निषिद्ध है। ऐसी दशा में नारी साधु-जीवन में प्रविष्ट नहीं हो सकती और साधुत्व प्राप्त किए बिना केवलज्ञान या सिद्धत्व की प्राप्ति सर्वथा असम्भव है। अत: दिगम्बर परम्परा में मरुदेवी माता का हाथी के हौदे पर मुक्त होना सर्वथा अमान्य है।

स्थानकवासी परम्परा उक्त पद्धति से मरुदेवी की मुक्ति को सहर्ष स्वीकार करती है। इसका कहना है कि साधु जीवन के लिए निष्परिग्रही होना आवश्यक है। निष्परिग्रही अवस्था मूर्च्छाभाव छोड़ने से प्राप्त होती है। मूर्च्छा का परित्याग नर और नारी दोनों ही कर सकते हैं। जब नारी मूर्च्छा का, आसक्ति का सर्वथा परित्याग कर देती है, सर्प जैसे कांचली को त्याग कर फिर उसकी ओर देखता भी नहीं है। वैसे ही नारी-जीवन जब संसार के प्रलोभनों से मुँह फेर लेता है, सम्यग्दर्शन, समयग्ज्ञान और सम्यग्चारित्र की सम्यक् आराधना द्वारा आत्मा को निष्कर्म बना लेता है, तब उसका मुक्त होना सर्वथा सत्य है, उसमें संसार की कोई शक्ति प्रतिबन्धक नहीं बन सकती।

वस्तुतः मुक्ति न पुरुष वेष को मिलती है, न नारी वेष को। मुक्ति की प्राप्ति के लिए अवेदी होना आवश्यक है। वेद तीन होते हैं–स्त्रीवेद, पुरुषवेद और नपुंसकवेद। मैथुन करने की अभिलाषा का नाम वेद है। जैसे पित्त के प्रभाव से मधुर पदार्थ ग्रहण करने की रुचि होती है, उसी प्रकार स्त्री को पुरुष के साथ रमण करने की जो इच्छा होती है, वह स्त्रीवेद है। जैसे कफ के प्रभाव से खट्टे पदार्थ की रुचि होती है वैसे ही पुरुष को स्त्री के साथ रमण करने की जो इच्छा होती है, वह पुरुषवेद है। जैसे पित्त और कफ के प्रभाव से मद्य-पदार्थों के प्रति रुचि होती है, उसी तरह नपुंसक को स्त्री और पुरुष दोनों के साथ रमण करने की जो अभिलाषा होती है, उसे नपुंसकवेद कहते हैं। वेद का अभाव अवेद होता है। अवेद जिसमें होता है, उसे अवेदी कहते हैं। मुक्ति की प्राप्ति के लिए वेद का परित्याग करना पड़ता है। वेद का परित्याग चाहे नारी करे, चाहे नर करे, प्रत्येक अवेदी जीवन-मुक्ति का अधिकारी होता है। वेद का सर्वथा अभाव ही मुक्ति का सोपान है। वस्त्रों का या चोले का उससे कोई सम्बन्ध नहीं है।

साधु की सामुदानिक गोचरी

सामुदानिक शब्द उस भिक्षा का परिचायक है जो भिक्षा मधुकरी वृत्ति द्वारा प्राप्त की जाती है, बिना भेदभाव के सभी घरों से ली जाती है तथा जिस में धनी, निर्धन या अपने और पराए का कोई भेद नहीं रखा जाता। निर्धन हो या धनी, सम्बन्धी हो या असम्बन्धी, सामान्य हो या विशेष, परिचित हो या अपरिचित सभी घरों से प्राप्त की जाने वाली निर्दोष भिक्षा का नाम सामुदानिक भिक्षा है। जिस प्रकार भ्रमर यह प्रतिबन्ध नहीं रखता कि मैं अमुक पुष्पवाटिका से या अमुक पुष्प से ही रस लूंगा किन्तु वह सर्वत्र सभी पुष्पों से थोड़ा-थोड़ा रस लेता रहता है, ऐसे ही सामुदानिक भिक्षा द्वारा जीवन-निर्वाह करने वाला भिक्षु भी ऐसा कोई प्रतिबन्ध नहीं रखता कि मैं अमुक व्यक्ति के ही घर से या अमुक व्यक्ति से ही या अमुक प्रकार का ही आहार ग्रहण करूंगा। प्रत्युत अपने स्थान से निकलकर जिधर को वह भिक्षार्थ चल देता है, उधर के सभी प्रामाणिक और आचार-विचार आदि की दृष्टि से सात्त्विक घरों से भिक्षा प्राप्त करता है। किसी के यहां अवश्य जाना है और बिना कारण किसी के यहां नहीं जाना है, ऐसा उस पर कोई प्रतिबन्ध नहीं होता।

श्री दशवैकालिक आदि सूत्रों में ऐसा लिखा है कि भिक्षु स्वादपूर्त्यर्थ भिक्षा के समय धनिक परिवारों की ही खोज में न रहे, बल्कि मार्ग में चलते हुए जो भी घर आ जाए, उसमें बिना किसी भेद-भाव के उसे भिक्षा को जाना चाहिए, और अपनी विधि के अनुसार जैसा सुन्दर अथवा असुन्दर किन्तु प्रकृति के अनुकूल भोजन मिले, ग्रहण करना चाहिए। भोजन के

सम्बन्ध में स्वास्थ्य का ध्यान रखना तो आवश्यक है किन्तु स्वाद का ध्यान कतई नहीं रखना चाहिए। भगवान् महावीर ने भिक्षा-सम्बन्धी प्रत्येक नियम मानव जीवन की दुर्बलताओं को लक्ष्य में रखकर ऐसा बनाया है कि जिससे भिक्षा में किसी भी प्रकार की दुर्बलता प्रवेश न कर सके, और भिक्षा का आदर्श भी कलंकित न हो।

स्थानकवासी परम्परा भिक्षा-जीवी साधु के लिए सामुदानिक भिक्षा ग्रहण करने का विधान करती है, उस का विश्वास है कि साधु को नियत घरों में ही भिक्षार्थ नहीं जाना चाहिए। अनियत और अनिश्चित घरों से ही उसे भिक्षा प्राप्त करनी चाहिए। किन्तु दिगम्बर परम्परा ऐसा स्वीकार नहीं करती। उसका विचार है कि आहार-सम्बन्धी शुद्धि सामुदानिक भिक्षा में नहीं हो सकती। अत: अनियत घरों की बजाय नियत घरों में ही भिक्षा ग्रहण करनी चाहिए। इस सम्बन्ध में स्थानकवासी परम्परा का कहना है कि नियत घरों से आहार ग्रहण करने से आसक्ति, लोलुपता, तथा राग-द्वेष को प्रोत्साहन मिलता है, आधाकर्म आदि भिक्षा-दोषों की उत्पत्ति होती है, अत: साधु को सामुदानिक भिक्षा ही ग्रहण करनी चाहिए और उसी में आहार-शुद्धि का पूर्णतया ध्यान रखना चाहिए।

स्थानकवासी परम्परा और दिगम्बर परम्परा में मुख्य रूप से जो मत भिन्नता है उसका वर्णन ऊपर की पंक्तियों में कर दिया गया है। इन मतभेदों के अतिरिक्त कुछ एक अन्य भेद भी हैं, जैसे स्थानकवासी परम्परा मूर्ति-पूजा में विश्वास नहीं रखती, दिगम्बर परम्परा नग्न तीर्थंकर मूर्तियों की पूजा करने में विश्वास रखती है। स्थानकवासी परम्परा मुख ढककर बोलने में भाषा की निरवद्यता स्वीकार करती है, पर दिगम्बर परम्परा में खुले मुंह बोलने से भाषा निरवद्य होती है, ऐसी कोई मान्यता नहीं पाई जाती है। यही बातें दिगम्बर परम्परा को स्थानकवासी परम्परा से भिन्न प्रकट करती हैं।

प्रश्न—स्थानकवासी परम्परा, श्वेताम्बर मर्तिपूजक परम्परा तथा दिगम्बर परम्परा ये तीनों परम्पराएँ कहाँ तक एक दूसरे के निकट हैं?

उत्तर—उपर्युक्त तीनों परम्पराओं की मान्यताओं में कुछेक भेद होने पर भी अनेकों मन्तव्यों में तीनों की एकता भी है। जैन-धर्म के इन विभिन्न सम्प्रदायों में जो कुछ भिन्नता पाई भी जाती है, वह अधिकांश में व्यावहारिक दृष्टि से ही पाई जाती है ; तात्त्विक दृष्टि से नहीं। क्योंकि सभी जैन परम्पराएँ, अहिंसावाद, अनेकान्तवाद, अपरिग्रहवाद, कर्मवाद तथा आत्मवाद को स्वीकार करती हैं ; आत्मा, परमात्मा, मोक्ष, संसार आदि के स्वरूप में कोई मतभेद नहीं

हैं, नवतत्त्वों का स्वरूप सभी एक-सा मानते हैं, कुछ एक परिभाषाओं को छोड़कर कर्म-सिद्धान्त की मान्यता में भी कोई भेद नहीं है। श्राद्ध, पितृतर्पण, अपुत्रस्य गतिर्नास्ति (पुत्रहीन की गति नहीं होती), ईश्वर जगत का निर्माता है, भाग्य का विधाता है, कर्मफल का प्रदाता है, तथा अवतार धारण करके मनुष्य और पशु के रूप में अवतरित होता है, पाषाण, रजत, सुवर्ण आदि की मूर्तियों में भगवान् विराजमान रहता है, भूमि पर प्राण छोड़े बिना मनुष्य की गति नहीं होती है, पृथ्वी बैल के सींगों पर अवस्थित है, या शेषनाग ने अपने फन पर उठा रखी है, बैल जब सींग बदलता है तो भूचाल आता है, इस प्रकार की अन्य भी अनेकों वैदिक परम्परा-सम्मत मान्यताओं पर जैन-धर्म की तीनों सम्प्रदाय कोई आस्था तथा श्रद्धा नहीं रखती हैं। इस तरह तीनों परम्पराओं में तात्त्विक दृष्टि से कोई विशेष मतभेद नहीं है, इन सब बातों में तीनों एकमत हैं।

प्रश्न--जैन-धर्म की विभिन्न परम्पराओं में मतभेद के कारण जो वैर-विरोध की दीवार खड़ी है, इसे किस तरह गिराया जा सकता है?

उत्तर--उपर्युक्त प्रश्नोत्तरों में स्थानकवासी परम्परा, श्वेताम्बर परम्परा और दिगम्बर परम्परा तीनों परम्पराओं का जो मतभेद प्रकट किया गया है, यह सत्य है कि यह भेद गिराया नहीं जा सकता, किन्तु यह भी सत्य है कि इस भेद के कारण दिलों में जो ईर्ष्या-द्वेष, वैर-विरोध की दीवार खड़ी हो चुकी है, इसे अवश्य गिराया जा सकता है, संकीर्ण मानस को उदारता अर्पित की जा सकती है। यह उदारता कैसे अर्पित की जा सकती है? यह नीचे की पंक्तियों से समझ लीजिए।

स्थानकवासी परम्परा 32 आगम मानती है, और श्वेताम्बर मूर्ति-पूजक 45। परन्तु 32 आगमों को तो दोनों परम्पराएं ही स्वीकार करती हैं। दोनों ही परम्पराएं इन आगमों को प्रामाणिक रूप से देखती हैं। दोनों परम्पराएं मुखवस्त्रिका को जीवरक्षा का साधन मानती हैं। इसमें किसी का कोई मतभेद नहीं है। रही बात मूर्तिपूजा तथा तीर्थयात्रा आदि अन्य मान्यताओं की, इनको लेकर भी लड़ने की तथा द्वेष करने की आवश्यकता नहीं है जीवन में सर्वत्र विचारों की एक-रूपता संभव भी नहीं है। कहीं न कहीं विचार-भिन्नता आ ही जाती है, पर उसे शान्ति से सहन करना चाहिए और इस सिद्धान्त को मान देकर चलना चाहिए कि जीवन के कल्याण के लिए राग-द्वेष को छोड़कर वीतरागता की अपेक्षा होती है। चाहे कोई स्थानकवासी है, चाहे कोई श्वेताम्बर मूर्तिपूजक है; किन्तु आत्म-शुद्धि के लिए दोनों को राग-द्वेष से पिण्ड छुड़ाना होता है, वीतरागता के महापथ पर चलना होता है। यह नहीं हो सकता कि राग-द्वेष भी हमारे साथ

चलते जाएं और हमारा जीवन कल्याण के निकट भी पहुँच जाए। राग-द्वेष की आँधियों से वीतरागता का दीपक कभी जगमगा नहीं सकता। अत: वीतरागता की प्राप्ति के लिए राग-द्वेष को छोड़ना ही होता है।

स्थानकवासी यदि द्वेषी है, द्वेष की आग में जल रहा है, तो उसका कभी कल्याण नहीं हो सकता, चाहे वह मुखवस्त्रिका बांधता है, और 32 आगमों का विश्वासी है। ऊपर का क्रिया-काण्ड कितना भी अच्छा हो, किन्तु यदि वह द्वेष से प्यार करता है तो उस का कभी उद्धार नहीं हो सकता। यही यथार्थ श्वेताम्बर मूर्त्तिपूजक के लिए भी सत्य है। वस्तुत: आत्म-कल्याण के लिए जीवन के विकारों को शान्त करने की और वीतरागता के महापथ पर चलने की आवश्यकता होती है। अत: जहाँ विचारों में कहीं मत-भेद हो तो उसे शान्ति से सहन करना चाहिए। निन्दा, चुगली से दूर हटकर अपने आत्म-मन्दिर में ज्ञान तथा सहिष्णुता के दीपक जला कर आचरण के झाड़ू द्वारा उसमें स्थित विकारों के कूड़े-करकट को निकालकर फैंक देना चाहिए। जीवन के भविष्य को उज्ज्वल बनाने का इससे बढ़कर और कोई मार्ग नहीं है।

दिगम्बर परम्परा के साथ कुछ बातों को लेकर जो मान्यता-भेद दिखाई देता है, उसको लेकर भी मनमुटाव पैदा करने की आवश्यकता नहीं है। इस मतभेद के होने पर भी एक-दूसरे को एक-दूसरे से द्वेष नहीं रखना चाहिए। **"भिन्नरुचिर्हि लोक:"** के सिद्धान्त को आगे रखकर मतभेद-जनित मानसिक सन्तुलन नष्ट नहीं होने देना चाहिए। इसके अतिरिक्त, मुक्ति का प्रश्न, केवलज्ञान की प्राप्ति व अप्राप्ति के प्रश्न को लेकर आज के पंचम आरे में लड़ने की आवश्यकता नहीं है, क्योंकि मोक्ष और केवलज्ञान आज के इस अवसर्पिणी काल के अन्त तक और उत्सर्पिणी के प्रारम्भिक आरकद्वय तक प्राप्त होने वाला नहीं है। फिर इसको लेकर विवाद क्यों किया जाए? रुपया मिला नहीं, उसके बँटवारे को लेकर मुष्टा-मुष्टि होना समझदारी की निशानी नहीं है और जहां तक भगवान् महावीर के विवाह, संतान, देवदूष्य तथा उपसर्ग आदि का प्रश्न है, और भगवान् मल्लिनाथ के स्त्रीत्व का प्रश्न है, ये सब पुराने युग की बातें हैं। आज तो हमारे सामने ये परिस्थितियाँ नहीं हैं, फिर इनको वैर-विरोध का माध्यम क्यों बनाया जाए? साधु-गोचरी की मर्यादा, शूद्रों को हीन मानने की वृत्ति में सब जन्मना वर्णव्यवस्था के द्वारा पैदा हुए विकार हैं। जैनधर्म तो मनुष्य क्या संसार के सभी प्राणियों को **"सव्वे जीवा वि इच्छन्ति, जीविउं न मरिज्जिउं"** यह कहकर समान प्यार प्रदान करता है। किसी को भी द्वेष से देखने का निषेध करता है। अत: इन बातों को भी वैर-विरोध और

ईर्ष्या-द्वेष का आधार नहीं बनाना चाहिए।

मनुष्य उद्यान में जाता है, वहां नाना रंगों के फूलों को देखता है। वे नाना फूल उद्यान की शोभा के घातक या बाधक नहीं हैं, प्रत्युत साधक हैं। पर यदि वे आपस में लड़ने लग जाएँ, केवल अपने को सुरक्षित रख-कर शेष पुष्पों को समाप्त कर देना चाहें तो क्या होगा? यही कि उद्यान का सत्यानाश हो जाएगा। यही दशा विचारों के उद्यान की है। विचारों के बाग में नानाविध मान्यताओं के पुष्प खिल रहे हैं, इससे उसकी शोभा है, वे सब प्रतिभा-व्यायाम के चमत्कार हैं, वे भले ही परस्पर-विरोधी विचारों का प्रतिनिधित्व करते हैं तथापि उनको परस्पर लड़ना नहीं चाहिए, बल्कि उनको उद्यान के पुष्पों की भांति स्वस्थ रहना चाहिए। इस प्रकार मानव यदि अपने को उदार और विराट् बना ले तो कभी वैर-विरोध और ईर्ष्या-द्वेष की आग सुलग नहीं सकती। और विचारगत अनेकता रहने पर भी शान्ति कायम रह सकती है।

❑ ❑ ❑

जैन पर्व

प्रश्न–आध्यात्मिक जगत में पर्व का क्या महत्त्व है?

उत्तर–आध्यात्मिक तथा सामाजिक जगत में पर्व का बड़ा महत्त्व-पूर्ण स्थान है। पर्व में अनेकों गुण पाए जाते हैं। पर्व किसी सम्प्रदाय या जाति के जीवन के चिह्न होते हैं। एक विद्वान का कहना है कि जिस लाठी में जितनी निकट-निकट गांठें होंगी, वह लाठी उतनी ही अधिक मजबूत और चिरस्थायी होगी। ऐसे ही जिस जाति में अपने पूर्वजों की मान्यताओं एवं परम्पराओं को जीवित रखने के लिए अधिकाधिक पर्व मनाए जाते हैं, वह जाति संसार में अनेकों क्रान्तियों के होने पर भी जीवित रहती है, संसार की कोई शक्ति उसके जीवन को समाप्त नहीं कर सकती। इस तरह पर्व समाज की अस्तव्यस्त तथा बिखरी हुई शक्ति को केन्द्रित करने में सहायक होते हैं।

पर्व की सब से बड़ी विशेषता यह है कि पर्व समाज को व्यवस्थित एवं संगठित करता है, क्योंकि पर्व के दिन समस्त लोग एक स्थान पर एकत्रित होकर अपनी जाति की उन्नति और अवनति के सम्बन्ध में सोच सकते हैं। यदि समाज अवनति की ओर जा रहा हो तो अवनति से बचा कर उन्नति की ओर उसको मोड़ सकते हैं। इसमें सन्देह नहीं कि जैन जाति पर समय-समय पर जैनेतर द्वारा आध्यात्मिक और सामाजिक हर तरह के आक्रमण[1] होते रहे हैं और इसे समाप्त करने में किसी ने कोई कसर नहीं छोड़ी, तथापि यह जाति आज भी जीवित है। आज भी चट्टान की तरह मजबूती के साथ खड़ी है, तो इसका कारण केवल जैन जाति के अपने पर्व हैं। पर्वों के माध्यम से इसे एक स्थान पर बैठ कर अपने हानि-लाभ सोचने का अवसर मिलता रहा है। इसीलिए पर्व किसी भी जाति की बिखरी हुई शक्ति को एकत्रित करने में अत्यधिक लाभदायक माने जाते हैं, और आध्यात्मिक तथा सामाजिक संसार में इनका अपना एक विशिष्ट स्थान है।

1. इसके लिए 'सरिता' का "हमारी धार्मिक सहिष्णुता" नामक लेख देखना चाहिए।

प्रश्न--पर्व कितने प्रकार के होते हैं?

उत्तर--पर्व दो तरह के होते हैं--एक लौकिक और दूसरे अलौकिक। जिस पर्व में केवल लौकिकता की प्रधानता होती है, सांसारिकता का पोषण होता है, नवीन-नवीन वस्त्र सिलाए व पहने जाते हैं, अनेक प्रकार के मिष्टान्न और खाने-पीने के अन्य अनेकविध साधन जुटाये जाते हैं, नूतन-नूतन आभूषणों का निर्माण और उनसे शरीर को आभूषित एवं शृंगारित किया जाता है, नृत्य और संगीत होते हैं, रंगरेलियां मनाई जाती हैं तथा जिसमें जीवन का उपवन राग-रंग के सुगन्धित पुष्पों से महक उठता है, उस पर्व को लौकिक पर्व कहते हैं। होली, विजय-दशमी, महावीर जयन्ती आदि लौकिक पर्व हैं। वैसे तो लौकिक पर्वों का सम्बंध केवल जीवन के बाह्य वातावरण से होता है, और आत्मिक जीवन के उत्थान या कल्याण के साथ उनका कोई विशेष सम्बन्ध नहीं होता, किन्तु जैन धर्म की यह विशेषता रही है कि उसने लौकिक पर्वों की लौकिकता को गौण रख कर उनमें अलौकिकता के दर्शन करने का प्रयास किया है। लौकिक पर्वों को भी अपने ढंग से अलौकिक पर्व बनाने पर अधिक बल दिया है। उदाहरणार्थ, विजयदशमी को ही लें। विजयदशमी के राम और रावण ये दो प्रधान पात्र हैं। राम सदाचारी थे और रावण दुराचारी। अत: जैनदर्शन ने राम को सदाचार का प्रतीक माना है, और रावण को दुराचार का। राम और रावण के युद्ध का अर्थ है--सदाचार और दुराचार का युद्ध। रावण की पराजय को दुराचार की पराजय का प्रतीक माना है और राम की विजय को सदाचार की विजय का। इस प्रकार जैनदर्शन ने विजय-दशमी द्वारा सदाचार को प्रसादान्त और दुराचार को विषादान्त मान कर मानव को सदाचारी बनने की आदर्श प्रेरणा दी है। यही विजय-दशमी की आध्यात्मिकता है।

ऐसी ही स्थिति महावीर-जयन्ती पर्व की है। महावीर-जन्म के उपलक्ष्य में बच्चे, युवक और वृद्ध सभी जैन व्यक्ति आमोद-प्रमोद से फूले नहीं समाते, सभी सुन्दर और नवीन वेषभूषा से अपने को विभूषित करते हैं। कहीं नगर-कीर्तन का कार्य-क्रम चलता है, कहीं अहिंसा-सम्मेलन, कहीं कवि-सम्मेलन और कहीं महिला-सम्मलेन का आयोजन होता है, कहीं-कहीं व्याख्यानों और आख्यानों द्वारा महावीर-जीवन पर प्रकाश डाला जाता है। इस तरह महावीर जयन्ती द्वारा खूब मनोरंजन चलता है, किन्तु अध्यात्मवादी और निवृत्ति-प्रधान जैन-दर्शन इस उत्सव के बाह्य रूप को इतना महत्व नहीं देता, जितना कि उसके अन्तरंग रूप को देता है। वह तो इस पर्व से अन्तर्जगत को विकसित, निर्विकार तथा कल्याणोन्मुख बनाने की प्रेरणा लेने की बात कहता है। भगवान् महावीर की शिक्षाओं तथा उनके उपदेशों को जीवन में लाकर मानव को

अपने में महावीरत्व प्रकट कर लेने के लिए अधिक बल देता है। इस प्रकार जैनदर्शन लौकिक पर्वों द्वारा मानव को जीवन निर्माण की कुछ अलौकिक सामग्री जुटाने की आदर्श प्रेरणा प्रदान करता है।

यह सत्य है कि लौकिक पर्वों में सांसारिक आमोद-प्रमोद की वर्षा होती है किन्तु अलौकिक पर्वों में इससे सर्वथा विपरीत होता है। वहां आध्यात्मिकता के नेतृत्व में सभी प्रवृत्तियां चलती हैं, अन्याय, अत्याचार एवं अनैतिकता के पतझड़ से शुष्क और नीरस हुए जीवन-तरु को सत्य, अहिंसा के पावन जल से सींचना पड़ता है। तपस्या की भट्ठी में कर्मों के ईंधन की भस्म बनाई जाती है। जैनेन्द्र वाणी की छाया तले बैठ कर आत्मज्योति जगाने के लिए मानसिक दुर्बलता, स्वार्थ-परायणता तथा अस्मिता के दुर्भावों का बहिष्कार करना पड़ता है। इसके अलावा अलौकिक पर्व में पावन तथा मधुर झंकार से अन्तर्वीणा झंकृत हो उठती है–

[1]सत्त्वेषु मैत्री गुणिषु प्रमोदं,
क्लिष्टेषु जीवेषु कृपापरत्वम्।
माध्यस्थ्य-भावं विपरीतवृत्तौ,
सदा ममात्मा विदधातु देव!॥

जीवन के महाकाश पर आत्मदेव के महासूर्य को जो मोहवासना का केतु ग्रस रहा है उससे आत्मदेव को मुक्त करना होता है। ऐसी अन्य अनेकों विशेषताओं के कारण ही अलौकिक पर्व पर्वजगत में बड़ा ऊंचा और आदर्श स्थान रखते हैं। अक्षय तृतीया, महापर्व पर्युषण, महापर्व सम्वत्सरी आदि अनेकों अलौकिक पर्व माने जाते हैं।

प्रश्न–क्या जैन जगत में लौकिक और अलौकिक दोनों प्रकार के पर्व मनाए जाते हैं? यदि मनाए जाते हैं तो वे कौन-कौन से हैं?

उत्तर–जैन जगत में लौकिक और अलौकिक दोनों तरह के पर्व मनाए जाते हैं। उनमें कुछ एक पर्वों का संक्षिप्त विवरण इस प्रकार है–

अक्षय-तृतीया

जैन संस्कृति तथा जैनधर्म के इतिहास में अक्षय-तृतीया का बड़ा माहात्म्य वर्णित है। जैन

1. हे जिनेन्द्रदेव! मैं चाहता हूं कि यह मेरी आत्मा सदैव प्राणी मात्र के प्रति मित्रता का भाव, गुणी जनों के प्रति प्रमोद का भाव, दुःखी जीवों के प्रति करुणा का भाव और धर्म से विपरीत आचरण करने वाले अधर्मी तथा विरोधी जीवों के प्रति राग-द्वेष से रहित उदासीनता का भाव धारण करे।

जगत ने इस पर्व को तप:शक्ति का प्रतीक माना है। तप के मेरुपर्वत पर कौन कितना ऊंचा चढ़ सकता है यह चढ़ने वाले व्यक्ति की शक्ति का मापदण्ड है।

अक्षयतृतीया का सीधा सम्बन्ध युगादि पुरुष भगवान् ऋषभदेव से है। वे स्वयं युगसंस्थापक और युग-प्रवर्तक थे। पर जब सब कुछ छोड़कर त्यागी बने तो एक वर्ष तक उन्हें भोजन नहीं मिला। उस समय के लोगों ने साधु-साध्वी को देखा नहीं था, वे साधुवृत्ति से सर्वथा अनजान थे। इसलिए प्रभु के त्याग और आहार की विधि को कोई जानता और पहचानता भी नहीं था। आखिर वैशाख शुक्ला तृतीया के पुण्य दिन ठीक एक वर्ष के बाद हस्तिनापुर में राजकुमार श्रेयांस[1] के हाथ से भगवान् ने ईख के रस से पारणा किया, यही इस तृतीया का इतिहास है, और यही इसका महत्व है, जिसके कारण यह सदा के लिए अक्षय बन गई।

वैशाख शुक्ला तृतीया को दान-तृतीया भी कहा जा सकता है, किन्तु उसे दानतृतीया न कह करके जो अक्षयतृतीया कहा गया है, इसके पीछे कई एक रहस्यमयी बातें हैं। प्रथम तो युगादि-देव भगवान् ऋषभदेव के पाणिपात्र[2] में जितना इक्षुरस डाला गया था, उसमें से एक कण भी नीचे नहीं गिरने पाया, एक बूंद भी क्षय नहीं होने पाई। इस चमत्कार-पूर्ण अक्षयविधि के सर्व-प्रथम दर्शन भगवान् ऋषभदेव के पारणे में हुए और यह अक्षय विधि भगवान् के शरीर के अक्षय रहने का, सुरक्षित होने का कारण बनी।

दूसरी बात, राजकुमार श्रेयांस के इक्षुरस के दान से अन्य लोगों को दान विधि का बोध हुआ, जो अन्य साधु-मुनिराजों के संयम-शरीर को अक्षय (सुरक्षित) रखने में पूर्ण सहायक प्रमाणित हुआ। तीसरी बात, मानव जगत वर्षीतप की आराधना करके इस दिन अक्षय हुआ,

---

1. श्रेयांसकुमार भगवान् ऋषभदेव का प्रपौत्र, बाहुबलि का पौत्र और सोमप्रभ राजा का पुत्र था। एक दिन वह महल की खिड़की में बैठा था, उसने बाहर भगवान् ऋषभदेव को देखा। भगवान् एक वर्ष की कठोर तपस्या का पारणा लेने के लिए भिक्षार्थ घूम रहे थे। शरीर एकदम सूख गया था। उस समय के भोले लोग भगवान् को अपना राजा समझकर अपने घर निमन्त्रित कर रहे थे। कोई उन्हें भिक्षा में धन देना चाहता था और कोई कन्या। इस बात का किसी को ज्ञान न था कि भगवान् इन सब चीजों को त्याग चुके हैं। ये वस्तुएं उनके लिए व्यर्थ हैं। उन्हें तो लम्बे उपवास का पारणा करने के लिए शुद्ध आहार की आवश्यकता है। श्रेयांस इस दृश्य को देखता चला गया, गम्भीर विचारणा के अनन्तर उसे जातिस्मरण ज्ञान हो गया। इस ज्ञान में मनुष्य अपने पिछले जन्मों को जान लेता है। श्रेयांस ने इस ज्ञान के प्रभाव से अपने अतीत के आठ भव जान लिए थे। इस कारण उसे निर्ग्रन्थ श्रमण को शुद्ध एवं प्रासुक आहार दान देने की विधि का बोध हो गया। श्रेयांस तत्काल उठा, और उसने भगवान् को गन्ने के रस से पारणा कराया।
2. तीर्थंकरों के पात्र उनके हाथ ही हुआ करते हैं, काष्ठ आदि का अन्य कोई पात्र वे अपने पास नहीं रखते।

उसे अक्षयस्थिति (मोक्ष) प्राप्त करने का मार्ग मिला। इन्हीं कारणों से वैशाख शुक्ला तृतीया को दानतृतीया न कहकर अक्षयतृतीया कहा गया है।

अक्षय-तृतीया भगवान् ऋषभदेव के पारणे का महोत्सव है। इस महोत्सव के माध्यम से उस प्रकाशपुंज के आत्म-प्रकाश से अपने आत्म-मन्दिर को प्रकाशित किया जाता है और इस दान से माधुर्यदान देने की प्रेरणा प्राप्त की जाती है। इक्षुरस तो जब तक मुंह में रहता है, तभी तक मिठास देता है और क्षणिक शक्ति प्रदान करता है, किन्तु माधुर्य का दान जहां जीवन में आत्मिक शक्ति पैदा करता है, बाहरी जीवन को अनेक कटु-प्रसंगों से बचा लेता है, वहां जीवन की रूक्षता को स्निग्धता में परिवर्तित कर देता है। शक्कर के टीन खाकर भी यदि मनुष्य का जीवन मीठा नहीं बना, तो इसका कारण केवल मानव की कटुता, विषमता और माधुर्य की न्यूनता है। अक्षयतृतीया के महोत्सव से इसी की प्राप्ति की प्रेरणा प्राप्त की जाती है।

अक्षयतृतीया को इक्षुरस का दान दिया जाता है, और वर्षीतप का पारणा किया जाता है। आज लगातार एक वर्ष तक उपवास करने का शारीरिक बल तो है नहीं, इसलिए एक उपवास के अनन्तर पारणा, पुन: उपवास करना, इस तरह निरन्तर वर्ष भर तप किया जाता है। इस तप को वर्षीतप की संज्ञा दी जाती है। वैशाख शुक्ला द्वितीया को वर्षीतप का अन्तिम उपवास होता है, और अक्षय तृतीया को उसका पारणा होता है। वर्षीतप का पारणा बड़े समारोह तथा आमोद-प्रमोद के साथ किया जाता है।

महापर्व पर्यषुण

महापर्व पर्युषण एक अलौकिक पर्व है। यह पर्व हमारी संस्कृति, सभ्यता और धर्ममय जीवन के समुज्ज्वल सिद्धान्तों का पुण्य प्रतीक है। जैन धर्म का सांस्कृतिक और धार्मिक यह पर्व किस कारण महान आदर तथा श्रद्धा का केन्द्र बन गया, और इसके मनाने का उद्देश्य क्या है, आदि प्रश्नों का समाधान पर्युषण शब्द की अर्थ-विचारणा से भलीभांति प्राप्त हो जाता है।

पर्युषण[1] शब्द में परि उपसर्ग है, उष् धातु और अनट् प्रत्यय है। परि का अर्थ है—चारों ओर से, हर प्रकार से। उष् धातु जलाना, क्षय करना इस अर्थ का परिचायक है। तथा अनट् प्रत्यय धातु से संज्ञा बनाने के अर्थ में प्रयुक्त होता है। भाव यह है कि जिस अनुष्ठान से कर्मों का सर्वतोमुखी विनाश किया जाए, कर्ममल को हर तरह से जलाया जाए उस अनुष्ठान को पर्युषण कहते हैं। अथवा जिन दिनों में मनुष्य का प्रत्येक आचरण कर्मों के ईंधन को जलाने वाला हो,

1. परि समन्तात् ओषति दहति समूलं कर्मजालं यत् तत् पर्युषणम्।

आत्मा को सोने की भांति कुंदन बनाने वाला हो, उन दिनों को पर्युषण पर्व कहा जाता है। वस्त्रों को स्वच्छ बनाना, और उनका मल दूर कर देना जैसे धोबी का उद्देश्य होता है, वैसे ही आत्मा के दोषों, विकारों तथा कुसंस्कारों के मल को विनष्ट कर देना ही पर्युषण पर्व का प्रधान लक्ष्य होता है।

आत्मशुद्धि के अनुष्ठानों को यूं तो जीवन में सदैव लाया जा सकता है, पर हमारे आचार्यों ने विशेष रूप से कुछ दिन ऐसे निश्चित कर दिए हैं जिनमें विशेष रूप से धर्माराधन किया जाए और विशेष रूप से आत्मनिरीक्षण करके आत्मदोषों का आमूलचूल विनाश किया जाए। पर्युषण के पीछे भी यही भावना है। यह पर्व एक सप्ताह में सम्पन्न होता है। आजकल जैसे खादी सप्ताह, गीता-सप्ताह आदि सप्ताह मनाए जाते हैं वैसे ही यह पर्व एक आध्यात्मिक सप्ताह है। वर्ष भर में यदि मनुष्य अपने जीवन की जांच पड़ताल न कर सका हो, आत्मचिन्तन तथा आत्मनिरीक्षण का उसे अवसर न मिल सका हो तो कम से कम इस सप्ताह में तो वह अपने जीवन के बही-खाते को अवश्य देख ले, और उसमें जो हेरा-फेरी या गड़बड़ चल रही हो उसे दूर करने का यत्न कर ले, ताकि भविष्य में जीवन की पुस्तक साफ-सुथरी और प्रामाणिक बन सके।

महापर्व पर्युषण का उदय भाद्रपद कृष्णा त्रयोदशी में होता है और भाद्रपद शुक्ला पंचमी में उसका अन्तर्धान हो जाता है। कृष्ण पक्ष में चालू हो कर शुक्लपक्ष में समाप्त होने का अभिप्राय इतना ही है कि यह मानव को अन्धकार से निकलकर प्रकाश में आने की प्रेरणा देता है। मानव-जीवन की अज्ञानता और उसकी हेय, उपादेय के प्रति विवेकशून्यता ही उसका अंधकार है। इस अंधकार को हटाकर पर्युषण पर्व मानव हृदय में अहिंसा, सत्य और समदर्शिता के दीपक जलाता है। ताकि आध्यात्मिकता की दिव्य ज्योति से ज्योतित हुआ मानवीय जीवन अपने भविष्य को समुज्ज्वल बना सके, और अपने अन्दर सोए प्रभुत्व के देवता को जगाने की क्षमता प्राप्त कर सके।

पर्युषण पर्व एक आध्यात्मिक यज्ञ है, इसमें हिंसा, असत्य, चौर्य, मैथुन आदि आत्मविकारों की आहुति डालनी पड़ती है। आहुति डालने की यह प्रक्रिया सप्ताह भर चलती रहती है और आठवें दिन इस यज्ञ में विकारों की पूर्णाहुति डाल दी जाती है। यही आठवां दिन महापर्व सम्वत्सरी के नाम से जैन जगत में प्रसिद्ध है। वैसे तो सप्ताह भर ही कर्मनाश के निमित्त आध्यात्मिक साधना में प्रयास चलता है, किन्तु आठवें दिन साधक कर्मों का नाश करने के लिए अपनी सारी शक्ति लगा देता है। इस दिन वह पौषध करके 24 घण्टे आत्म-दोषों का

अन्वेषण, निरीक्षण और तन्निमित्तक क्षमायाचना के द्वारा आत्मा को कर्ममल से रहित करने का सर्वतोमुखी यत्न करता है। यदि दोनों पर्वों की मूलभावना को देखा जाए तो इन में कोई विशेष विभिन्नता दृष्टिगोचर नहीं होती। दोनों का एक ही लक्ष्य है, एक ही ध्येयपूर्ति के दोनों साधन हैं, संभव है इसीलिए इन आठ दिनों को अष्टान्हिक पर्व कहा जाता है।

अष्टान्हिक पर्व के पुण्य दिनों में प्राय: सभी स्त्री-पुरुष अपनी-अपनी शक्ति के अनुसार तपदेव की उपासना करते हैं। कोई एक उपवास करता है, कोई दो, इस तरह कोई लगातार आठ उपवास भी करता है। कोई आठों दिन एक बार भोजन करते हैं, अर्थात् एकाशन तप करते हैं, कुछ लोग स्तोत्र पढ़ते हैं, मंगल पाठ करते हैं, महामंत्र नवकार का अखण्ड जाप करते हैं। इन दिनों व्याख्यानों में श्री अन्तकृद्दशांग या कल्पसूत्र सुनाया जाता है। प्रभावना के लिए मोदक भी बांटे जाते हैं।

अष्टान्हिक पर्व श्वेताम्बर परम्परा में भाद्रपद कृष्णा 13 से लेकर भाद्रपद शुक्ला 5 तक मनाया जाता है। दिगम्बर सम्प्रदाय में यह पर्व प्रतिवर्ष भाद्रपद शुक्ला 5 से चतुर्दशी तक मनाया जाता है और उसके यहां यह पर्व दशलक्षण नाम से कहा जाता है। इन दस दिनों में उसके यहां तत्त्वार्थसूत्र के 10 अध्याय और धर्म के दस लक्षणों पर व्याख्यान सुनाए जाते हैं।

महापर्व सम्वत्सरी

सम्वत्सरी एक लोकोत्तर या अलौकिक महापर्व है। यह महापर्व मानव को आत्मनिरीक्षण, आत्मचिन्तन तथा स्व-स्वरूप-रमण की मधुर प्रेरणा प्रदान करता है। मानव जाति को सुखशान्ति का दिव्य आलोक दिखाता है। वैयक्तिक दोषों, त्रुटियों, स्खलनाओं तथा भूलों पर गम्भीर दृष्टिपात करके आत्मशुद्धि की पवित्र प्रेरणा देता है। कड़े से कड़े सामाजिक तथा राष्ट्रीय वैर-विरोध व मतभेद को भूलकर शत्रु तक के साथ सरल हृदय से सप्रेम व्यवहार करना सिखाता है। पारस्परिक मनो-मालिन्य हटा कर दूसरे प्राणियों की भूलों व गलतियों को भी उदार हृदय से क्षमा कर देना, तथा उनसे मैत्री भाव स्थापित कर लेना आदि इस महापर्व की आदर्श विशेषताएं हैं।

[1]खामेमि सव्वे जीवा, सव्वे जीवा खमंतु में।
मित्ती में सव्वभूएसु, वेरं मज्झं न केणइ॥

1. मैं सब जीवों को क्षमा करता हूं और वे सब जीव भी मुझे क्षमा करें। मेरा सब जीवों के साथ पूर्ण मित्रता-भाव है, किसी के साथ भी वैर-विरोध नहीं है।

क्षमा और मैत्री इस महापर्व की सर्वोच्च विशेषताएं हैं। इस विलक्षण महापर्व की छाया तले बैठने वाला व्यक्ति आसुरी भावना को छोड़कर सात्त्विकता को प्राप्त कर लेता है और उसका कण-कण अध्यात्मवाद के सुरम्य पुष्पों से सुगन्धित हो उठता है। मानव बाह्य जगत की आपातरमणीय वृत्तियों को छोड़कर अन्तर्जगत की पूर्व भूमिका पर अवस्थित हो कर अपूर्व आनन्द सागर में डुबकियां लेने लगता है।

सम्वत्सर नाम वर्ष का है। सम्वत्सर शब्द से पर्व (त्यौहार) अर्थ में संस्कृत व्याकरण द्वारा[1] अण् प्रत्यय लगाकर साम्वत्सर शब्द बनता है। वर्ष के अनन्तर मनाये जाने वाले पर्व को साम्वत्सर पर्व कहते हैं। स्त्री-लिंग में यही पर्व सम्वत्सरी कहलाता है। जैन जगत में यह पर्व सम्वत्सरी के नाम से ही प्रसिद्ध एवं प्रचलित है। वर्ष भर में मनुष्य से जो भूलें हुई हों, त्रुटियां और अपराध बन पाये हों, उनका अन्वेषण, चिन्तन और उनके लिए पश्चात्ताप करना तथा अन्त में क्षमा-याचना करके अपनी आत्मा को शुद्ध, निर्विकार तथा पवित्र बनाना ही इस पर्व का सर्वतोमुखी लक्ष्य रहता है

वैसे क्षमायाचना की प्रेरणा जैनेतर शास्त्रों में भी पाई जाती है। अन्य शास्त्र भी क्षमा-आराधना की बात कहते हैं, किन्तु क्षमायाचना के माध्यम से की जा रही इस आत्म-शुद्धि के परम सत्य को एक महापर्व के रूप में उपस्थित करके जैनाचार्यों ने मानव जगत पर भारी उपकार एवं अनुग्रह किया है। मनुष्य जाति सदा के लिए इन महापुरुषों की ऋणी रहेगी।

इस पर्व का केवल आध्यात्मिक महत्त्व ही नहीं है। यदि सूक्ष्म दृष्टि से देखा जाये तो यह पर्व आर्थिक दृष्टि से भी समाज और राष्ट्र के लिए बड़ा लाभप्रद है। इसकी आराधना से राष्ट्र का बहुत-सा धन जो राष्ट्र की व्यवस्था करने के लिए उपयोग में आता है, बच सकता है। सरकार जब बजट बनाती है तो सबसे पहले सेना, फिर पुलिस और फिर अदालत का ध्यान रखती है। जब तालीम और हॉस्पिटल की बात आती है तो कहा जाता है कि पैसे नहीं हैं। यदि लोग सम्वत्सरी के संदेश अर्थात् क्षमा को अपना लें, शान्ति के पुजारी हो जायें, आपस में भाई-भाई बन कर रहें तो किसी में कोई लड़ाई-झगड़ा न हो। यदि देश में सर्वत्र भ्रातृ-भाव हो, शान्ति स्थापित हो, कोई आपस में क्लेश न करे, तो पुलिस और अदालत के लिए इतना धन व्यय करने की क्या आवश्यकता है? जो धन देश के विवादों और पारस्परिक झगड़ों को शान्त

1. सम्वत्सरात् पर्व-फले ।3।1।।77। सम्वत्सरशब्दात् पर्वाणि च फले चाण् भवति। सांवत्सरं फलं पर्व वा अन्यत्र साम्वत्सरिको रोग:। इतिशाकटायनम्। सम्वत्सरात्फलपर्वणो:। साम्वत्सरं फलं पर्व वा। साम्वत्सरिकमन्यत्। (सिद्धान्त कौमुदी)

करने के लिए प्रयुक्त किया जाता है, वही धन यदि देश के निर्माण और उत्थान में लगाया जाये, अशिक्षित जनता को शिक्षित करने में प्रयुक्त किया जाए तो हमारा देश आध्यात्मिक, सामाजिक और राष्ट्रीय सभी दृष्टियों से उन्नत और समुन्नत हो सकता है।

सम्वत्सरी[1] जैनों का एक विशेष आध्यात्मिक और लोकोत्तर पर्व है। इस पर्व में खास तौर से तप, त्याग और ब्रह्मचर्य का आराधन किया जाता है। व्याख्यानों के लिए विशेष रूप से पण्डाल बनवाये जाते हैं, बाहर से बड़े-बड़े विद्वानों को बुलाकर इस पर्व की महत्ता पर व्याख्यान कराये जाते हैं। इस पवित्र दिन परोपकारी संस्थाओं को दान दिया जाता है। सब पुरुष एकत्रित होकर परस्पर गले मिलते हैं, और गतवर्ष की अपनी गल्तियों के लिए परस्पर क्षमा-याचना करते हैं। जो लोग देशान्तर में होते हैं, उनसे पत्रों द्वारा क्षमा-याचना की जाती है। गत वर्ष में कोई वैर-विरोध एक दूसरे के प्रति हो गया हो, उसके लिए "**मिच्छा मि दुक्कडं**–मेरा दृष्कृत मिथ्या हो" यह कहकर या लिखकर क्षमा मांगी जाती है, इस दिन सभी स्त्री- पुरुष अपनी-अपनी शक्ति के अनुसार पौषध, व्रत, एकाशन, दया, सामायिक, संवर आदि करते हैं। इस दिन जैन समाज कोई व्यापार नहीं करता और सभी सावद्य प्रवृत्तियों से किनारा किया जाता है। इसके अलावा, प्रान्त या नगर आदि के कसाईखाने बन्द कराने का पूरा-पूरा प्रयास किया जाता है। अहिंसा के प्रतीक इस पुण्य पर्व के दिन हिंसा बन्द रखकर अहिंसा की सर्वतोमुखी प्रतिष्ठा की जाती है।

पार्श्व-जयंती

जैनधर्म ने 24 तीर्थंकर माने हैं, उनमें पहले भगवान् ऋषभदेव थे आदि अन्तिम भगवान् महावीर। भगवान् महावीर से अढाई सौ वर्ष पूर्व 23वें तीर्थंकर भगवान् पार्श्वनाथ थे। जैन साहित्य में जो स्थान भगवान् महावीर का है, वही स्थान भगवान् पार्श्वनाथ का है। भगवान् महावीर की तरह भगवान् पार्श्वनाथ भी अपने युग के तीर्थंकर थे, इन्होंने अपने युग में मानव को मानवता का सत्य समझाया था, इन्सान को भगवान् बनने की कला सिखलाई थी। भगवान् पार्श्वनाथ की आध्यात्मिक जगत में महान प्रतिष्ठा है। भगवान् की स्तुति में लिखे गये हजारों स्तोत्र भगवान् की लोकप्रियता तथा इनके प्रति सर्वतोमुखी श्रद्धा तथा आस्था के समुज्ज्वल उदाहरण हैं।

1. सम्वत्सरी पर्व की विशेष जानकारी के इच्छुकों को मेरी लिखी "सम्वत्सरी पर्व क्यों और कैसे?" नामक पुस्तक देख लेनी चाहिए।

अन्तिम कुछ वर्षों से पूर्व भगवान् पार्श्वनाथ को केवल जैन परिवार ही जानते थे, किन्तु अब आज के पुरातत्त्ववेत्ता लोगों ने भी इन को भारत का एक आध्यात्मिक एवं ऐतिहासिक महापुरुष मान लिया है। खुदाई में ऐसे अनेकों तत्त्व मिले हैं, जिनके आधार पर भगवान् पार्श्वनाथ का तीर्थंकरत्व निर्विवाद रूप से प्रमाणित हो गया है।

भगवान् पार्श्वनाथ का जन्म आज से 2830 वर्ष पहले हुआ था। आपने राज परिवार में जन्म लिया था। महाराज अश्वसेन आपके पिता थे और माता का नाम वामादेवी था। भारत की विख्यात विद्याधाम काशी आपकी जन्मभूमि थी। आपने युवावस्था में ही दीक्षित हो कर लगभग 70 वर्ष तक भारत में अहिंसा का प्रचार किया और 100 वर्ष की आयु में सम्मेतशिखर पर जाकर निर्वाण–मोक्ष प्राप्त किया। आपके पावन उपदेशों की चिरस्मृति के लिए भारत सरकार ने सम्मेतशिखर का "पारसनाथ हिल" यह नाम रख दिया है। ऐतिहासिकों का कहना है कि "बुद्ध ने अपने धर्म का मूल पाठ भगवान् पार्श्वनाथ के सन्तानीय साधु की सेवा में रहकर ही सीखा था"।

भगवान् पार्श्वनाथ का पुण्य जन्म पौष कृष्णा दशमी को हुआ था। पौष की कृष्णा दशमी जैन जगत् में एक पुण्य तिथि मानी है। इस तिथि को समस्त जैन जगत् भगवान् पार्श्वनाथ का जन्म दिवस मनाता है। बड़े समारोह के साथ भगवान् के चरणों में श्रद्धाञ्जलियां अर्पित की जाती हैं। सार्वजनिक सभाओं में भगवान् के जीवन पर प्रकाश डाल कर उनके सत्य, अहिंसा सम्बन्धी पुनीत सिद्धान्तों का प्रचार किया जाता है।

महावीर-जयंती

जैनधर्म के चौबीसवें तीर्थंकर, सत्य-अहिंसा के अमरदूत, भगवान् महावीर महाराजा सिद्धार्थ के घर में पैदा हुए थे। आपकी माता का नाम महारानी त्रिशला था। सिद्धार्थ नरेश के यहां आप के अवतरण से यश, लक्ष्मी, सौभाग्य आदि में वृद्धि हुई थी, इसलिए आपका नाम वर्धमान रखा गया था, किन्तु आत्मसाधना काल में भीषणातिभीषण, लोम-हर्षक संकटों की छाया तले जरा भी विचलित न होने के कारण आप संसार में महावीर के नाम से प्रख्यात हुए।

महावीर का मानस आरम्भ से ही तप, त्याग और वैराग्य की ओर झुका हुआ था। महावीर युवक होने पर भी क्रान्तिकारी तप, त्याग और वैराग्य के आदर्श प्रतीक थे। परिणाम-स्वरूप भरी जवानी में सोने के सिंहासन को लात मारकर आप विश्वकल्याण का ध्वज लेकर आत्म-साधना की ओर बढ़े, और साधु बन गये। वर्षों की कठोर और उच्च कोटि की तपस्या

के द्वारा आपने केवलज्ञान (ब्रह्मज्ञान) पाया और कैवल्य की अनुपम ज्योति से आपने संसार को सत्य, अहिंसा का सत्पथ दिखलाया। अज्ञानता, संकीर्णता और असहिष्णुता आदि कृष्णतम मेघों को हटाकर संसार के महाकाश को अहिंसावाद, कर्मवाद, अपरिग्रहवाद और स्याद्वाद के दिव्य आलोक से आलोकित किया। भगवान् महावीर ने अपने अलौकिक व्यक्तित्व और ज्ञान ज्योति द्वारा भारतीय संस्कृति के इतिहास में एक आध्यात्मिक क्रान्तिकारी युग का श्रीगणेश करके धार्मिक, सामाजिक और राष्ट्रीय क्षेत्रों में नव चेतना, नव स्फूर्ति और एक नवीन उत्साह का संचार एवं प्रसार किया था।

भगवान् महावीर विश्व के अद्वितीय क्रान्तिकारी महापुरुष थे, उनकी क्रान्ति किसी एक क्षेत्र तक सीमित न थी, उन्होंने तो सर्वतोमुखी क्रान्ति का मंत्र फूंका था। अध्यात्म, दर्शन, समाज व्यवस्था तथा भाषा के क्षेत्र में भी उनकी देन अनुपम है। अहिंसा की त्रिविध (मानसिक, वाचिक, कायिक) गंगा बहाकर **"वैदिकी हिंसा, हिंसा न भवति"** की युक्ति-हीन मान्यता का परिहार किया, पारस्परिक खण्डन-मण्डन में निरत दार्शनिकों को अनेकान्तवाद का महामन्त्र दिया, सद्गुणों की अवहेलना करने वाले जन्मना जातिवाद पर कठोर प्रहार करके गुण-कर्म के आधार पर जातिव्यवस्था का सिद्धान्त उपस्थित किया। नारियों की प्रतिष्ठा को सुरक्षित रखा, और विभ्रान्त भारत को साध्वीसंघ तथा श्राविकासंघ की अनमोल निधि देकर नारी जगत की प्रतिष्ठा का पूर्णतया संरक्षण किया। यज्ञ के नाम पर पशुओं के प्राणों से खिलवाड़ करने वाले स्वर्ग-कामियों को स्वर्ग का सच्चा मार्ग बताया। नदियों और समुद्रों में स्नान करने या पाषाण-पूजा में धर्म समझने की लोकमूढ़ता का निराकरण किया। लोकभाषा को अपने उपदेश का माध्यम बनाकर पण्डितों के भाषाभिमान को समाप्त किया। संक्षेप में यह कि भगवान् महावीर ने समाज के समग्र मापदण्ड को बदल डाला और सम्पूर्ण जीवनदृष्टि में एक भव्य और दिव्य नूतनता उत्पन्न कर दी।

चैत्र शुक्ला त्रयोदशी भगवान् महावीर की जन्मतिथि है। इसी तिथि को बिहार प्रान्त के कुण्डलपुर नगर में भगवान् महावीर ने जन्म लिया था। इस दिन भारतवर्ष के सभी जैन लोग अपना समस्त कारोबार बन्द करके अपने-अपने स्थानों पर बड़ी धूमधाम से महावीर जयन्ती मनाते हैं। ब्रह्ममुहूर्त में प्रभात फेरियां निकलती हैं, प्रात: रमणीक और विशाल पण्डालों में भगवान् महावीर के जीवन-चरित्र को लेकर भाषण होते हैं; भजन और कविताएं पढ़ी जाती हैं मध्याह्न में जुलूस निकलते हैं, रात्रि में पुन: सार्वजनिक सभा का आयोजन होता है। उसमें प्रभु के जीवन-सम्बन्धी घटनाओं पर प्रकाश डाला जाता है, कवि-सम्मेलन होता है। इस प्रकार

खूब समारोह के साथ महावीर-जयन्ती का पुण्य पर्व मनाया जाता है।

आकाशवाणी (रेडियो) द्वारा भगवान् महावीर के जीवन-वृत्त लोगों तक पहुंचाये जाते हैं, प्रभु के चरणों में श्रद्धापुष्प अर्पित किये जाते हैं। प्रायः भारत का प्रत्येक राज्याधिकारी इस उत्सव में सम्मिलित होता है। भारत भर में सभी प्रान्तीय सरकारों ने अपने-अपने प्रान्तों में महावीर जयन्ती के पुण्य दिवस को 'अवकाश दिवस' घोषित कर दिया है। केन्द्रीय सरकार ने भी महावीर जयन्ती की छुट्टी उद्घोषित कर दी है। बर्मा में भी महावीर जयन्ती की छुट्टी होती है।

वीर-निर्वाण-महापर्व (दीपमाला)

वीर-निर्वाण महापर्व आज दीपमाला के नाम से प्रख्यात है। इसके सम्बन्ध में कई एक विश्वास पाये जाते हैं। कोई इसका सम्बन्ध वनवासकाल समाप्त करके वापिस आये मर्यादा पुरुषोत्तम भगवान् राम के अयोध्या प्रवेश से जोड़ता है। कोई इसे सम्राट अशोक की दिग्विजय का सूचक मानता है। किन्तु जैन जगत इसमें से किसी बात पर भी विश्वास नहीं रखता, क्योंकि इसके सम्बन्ध में जैन जगत् की अपनी स्वतन्त्र मान्यता है।

कल्पसूत्र में लिखा है कि कार्तिक अमावस्या की रात्रि थी। उस समय पावापुरी नगरी की विशाल पौषधशाला में नव मल्लवी जाति के काशी-देश के राजा और नव लिच्छवी जाति के कौशल देश के राजा इस प्रकार 18 देशों के राजा भगवान् महावीर की चरण-सेवा में पौषध व्रत[1] धारण करके उनके उपदेशामृत का पान कर रहे थे। इसी रात्रि को भगवान् महावीर का निर्वाण होता है। सूर्यास्त हो जाने पर जैसे जगतीतल पर अन्धकार अपना शासन जमा लेता है, वैसे ही सत्य, अहिंसा के दिवाकर भगवान् के निर्वाण हो जाने से उनका भामण्डल[2] समाप्त होने पर सर्वत्र अन्धकार व्याप्त हो गया। इस अन्धकार को दूर करने के लिए भगवान् की सेवा में उपस्थित राजा लोगों ने रत्नों का प्रकाश किया। रत्नों के प्रकाश द्वारा भामण्डल की पुण्य स्मृति में द्रव्य प्रकाश की प्रतिष्ठा कर दी गई। कालान्तर में सभी स्थानों में कार्तिकी अमावस्या की रात को रत्नों का प्रकाश करके भगवान् महावीर के निर्वाण-दिवस की पुण्य स्मृति को ताजा किया जाने लगा। इस द्रव्य-प्रकाश से भाव-प्रकाश (ज्ञान) को प्राप्त करने की प्रेरणा भी

1. अष्टमी, चतुर्दशी आदि पर्व तिथियों में किया जाने वाला जैन गृहस्थ का एक व्रत विशेष पौषध कहलाता है।
2. आध्यात्मिकता के शिखर पर विराजमान महापुरुष के सिर के पीछे एक गोलाकार प्रकाशपुंज सदा अवस्थित रहता है जो उनके आध्यात्मिक साधनाजनित अध्यात्म प्रकाश का एक पुण्य प्रतीक समझा जाता है। उसे ही भामण्डल कहते हैं।

प्राप्त की जाने लगी। जैन नरेशों के प्रभावाधिक्य से तथा भगवान् महावीर के अपने महान आध्यात्मिक व्यक्तित्व से धीरे-धीरे यह निर्वाण दिवस एक धार्मिक पर्व के रूप में परिवर्तित हो गया, और सारे भारतवर्ष में ही मनाया जाने लगा। काल की अनेकों घाटियां पार करता हुआ वही निर्वाण-दिवस कुछ फेरफार के साथ आज दीपमाला के रूप में परिवर्तित हो गया है और इसी नाम से सर्वत्र प्रसिद्ध है।

जैन दृष्टि से दीपमाला अलौकिक पर्व है। सांसारिक राग-रंगों के साथ इस का कोई सम्बन्ध नहीं है। यह तो केवल भगवान् महावीर के निर्वाण का स्मारक पर्व है, और इसके माध्यम से ज्ञान-स्रोत भगवान् के ज्ञानालोक से आत्म-मन्दिर को आलोकित करना है, किन्तु आज इस पर्व के अवसर पर भाव-लक्ष्मी को छोड़कर द्रव्य-लक्ष्मी का पूजन किया जाता है, मिठाइयां खाई जाती हैं, आतिशबाजी जलाई जाती है, जूआ खेला जाता है। अतएव यह पर्व जैन दृष्टि से अपनी अलौकिकता खो बैठा है, ऊपर-ऊपर से यह सर्वथा लौकिक पर्व ही बन गया है, किन्तु यदि इस के वास्तविक स्वरूप को देखा जाए तो निःसन्देह यह अलौकिक पर्व ही है।

जैनों के लिए दीपमाला के महत्त्व तथा सम्मान की एक और भी बात है। इतिहास बतलाता है कि जिस दिन भगवान् महावीर का निर्वाण हुआ उस दिन अनगार गौतम भगवान् के आदेश पर ही ग्रामान्तर में एक ब्राह्मण को प्रतिबोध देने गए हुए थे। वहां से लौटते हुए उन्हें भगवान् के निर्वाण का समाचार ज्ञात हुआ जिसे सुनकर वे सन्न रह गये। इनके मन में भूचाल-सा आ गया, आंखों के आगे अन्धेरा छा गया। वे वज्राहत की भांति दुःख सागर में डूब गए। अन्त में, बड़ी मुश्किल से इनका मानस कुछ स्वस्थ हुआ और इनकी अन्तरात्मा झंकृत हो उठी-

दुनिया के बाजार में, चल कर आया एक।
मिले अनेकों बीच में, अन्त एक का एक॥

इस सात्त्विक और धार्मिक विचारणा की पराकाष्ठा के सुदर्शन चक्र ने कर्म सेनापति मोह-कर्म को सदा के लिए शान्त कर दिया। सेनापति मोह के समाप्त होते ही भगवान् गौतम को केवलज्ञान प्राप्त हो गया। श्री गौतम जी महाराज[1] का अन्तर्जगत केवलज्ञान की ज्योति से

1. भगवान् महावीर द्वारा स्वयं दीक्षित किए हुए 14 हजार साधु थे, उनमें प्रधान श्री गौतम स्वामी थे। भगवान् के 11 गणधरों में इनका पहला स्थान है। इनका वास्तविक नाम इन्द्रभूति था। गौतम तो इनका गोत्र था, किन्तु जैन संसार में ये अपने गोत्र से ही अधिक प्रसिद्ध हैं।

ज्योतित हो उठा। जैन परम्परा के अनुसार देवों ने आकाश में दुन्दुभि बजाई और बड़े समारोह के साथ भगवान् गौतम के केवलज्ञान महोत्सव को मनाया।

दीपमाला की रात्रि को दो मांगलिक कार्य सम्पन्न हुए थे। एक भगवान् महावीर का निर्वाण और दूसरे भगवान् गौतम को केवलज्ञान। यही कारण है कि दीपमाला की रात्रि जैनों की परम आराध्य तथा उपास्य रात्रि बन गई है। जैन लोग इस पवित्र रात्रि को सब से महत्त्व पूर्ण तथा आत्मशुद्धि की सर्वोत्तम सन्देशवाहिका रात्रि समझते हैं। शास्त्रीय मान्यता है कि इस रात्रि को आकाश के निवासी देव-देवियों ने भी वीर-निर्वाण तथा श्री गौतम स्वामी के केवलज्ञान का महोत्सव मनाकर प्रभु वीर तथा श्री गौतम स्वामी जी महाराज के चरणों में अपनी-अपनी श्रद्धाञ्जलियां अर्पित की थीं। वृद्ध परम्परा का विश्वास है कि अतीत की भांति आज भी देव-देवियां वीर-निर्वाण तथा गौतमीय केवलज्ञान के उपलक्ष्य में इस रात्रि को आमोद-प्रमोद करते हैं और उत्सव मनाते हैं।

जैन जगत में दीपमाला[1] एक महत्त्वपूर्ण और आध्यात्मिक पर्व माना गया है। जैन लोग बड़ी श्रद्धा तथा आस्था के साथ इस पर्व को मनाते हैं। इसके उपलक्ष्य में धर्म-प्रेमी लोग अधिकाधिक धार्मिक अनुष्ठान करते हैं। पौषध, व्रत आदि तप करते हैं, सामायिक करते हैं। उत्तराध्ययन सूत्र का पाठ करते हैं। कुछ लोग तो दीपमाला से पूर्व दो दिन लगातार उपवास करते हैं, दीपमाला के तीसरे दिन तेला (लगातार तीन व्रत) करते हैं। इस तरह दीपमाला का दिन तथा रात्रि धर्म-ध्यान के वातावरण में व्यतीत किये जाते हैं।

भैया-दूज

दीपमाला भगवान् महावीर की निर्वाणरात्रि है। इस विषय पर "वीर निर्वाण महापर्व" के प्रसंग में प्रकाश डाला जा चुका है। महावीर के निर्वाण का वृत्तान्त जब इनके बड़े भाई महाराज नन्दीवर्धन के कानों तक पहुंचा तो उनको यह सुनकर असीम वेदना हुई। उन्हें वियोगजन्य अत्यधिक मार्मिक वेदना ने बुरी तरह आहत कर डाला। क्या हुआ, महावीर साधु बन गये, उन्होंने घर-बार को तिलांजलि दे दी, वनों में जाकर तपस्या आरम्भ करने का मन बना लिया। फिर भी वे भाई तो थे ही। भाई की आत्यन्तिक जुदाई से भाई को असह्य वेदना का होना स्वाभाविक ही है। जैन इतिहास कहता है कि भाई के वियोगजन्य दुःख से व्याकुल होकर

1. दीपमाला के सम्बन्ध में अधिक जानने के इच्छुकों को मेरी लिखी "दीपमाला और भगवान् महावीर" नाम की पुस्तक देख लेनी चाहिए।

नन्दीवर्धन ने अन्नजल का त्याग कर दिया और सघन आर्त्तध्यान में डूब गए। नरेश नन्दीवर्धन की उक्त अवस्था से सारे राज्य में हाहाकार मच गया। अन्त में, भगवान् महावीर की बहिन सुदर्शना आई, उसने भाई नन्दीवर्धन को बड़ी मुश्किल से समझाया और आखिर में अपने घर बुलाकर भाई को भोजन कराया। जिस दिन भोजन कराया उस दिन कार्तिक शुक्ला द्वितीया थी। जैन परम्परा के अनुसार धीरे-धीरे यह द्वितीया भैया-दूज के नाम से एक पर्व के रूप में परिवर्तित हो गई।

आज भी भैया-दूज पर्व मनाया जाता है। आज भी बहिन भाई को अपने घर बुलाती है और भाई को तिलक लगाकर सप्रेम उसके साथ भोजन करती है। इस पर्व द्वारा भाई और बहिन के हृदयों में बह रही प्रेम-धारा के आज भी पूर्व की भांति दर्शन किये जा सकते हैं। वस्तुत: भैया-दूज बहिन और भाई के पवित्र प्रेम का प्रतीक है। भाई गरीब हो, कितना भी निर्धन क्यों न हो, यहां तक कि दाने-दाने का मोहताज हो, फिर भी बहिन के लिए वह भाई ही रहेगा, बहिन का अटूट प्रेम भाई से टूट नहीं सकता, बहिन मृत्यु-शय्या पर भी क्यों न पड़ी हो, तब भी वह भाई का हित ही सोचती है। यही स्थिति भाई की होती है, अपनी बहिन के प्रति। बहिन कैसी भी दशा में हो, उसका परिवार सम्पन्न हो या खस्ताहाल हो, तथापि भाई बहिन को देवी की तरह पूजता है, अपने सांझे दूध की सदा लाज रखता है। भाई बहिन पर कभी रुष्ट भी हो जाये किन्तु जब बहिन की गीली आंखें देखता है तो झट उसका रोष गायब हो जाता है। हृदय का प्रेम-सरोवर छलकने लग जाता है। भाई बहिन के इसी पवित्र स्नेह भाव का प्रतीक यह भैया दूज पर्व माना गया है।

रक्षाबंधन

राजा पद्म के मंत्री का नाम बलि था। बलि जैन साधुओं से घृणा और द्वेष रखता था। किन्तु था बड़ा वीर। एक बार उसने युद्ध में पराक्रम दिखलाकर अपने राजा को प्रसन्न कर लिया। महाराज पद्म ने प्रसन्न होकर बलि को सात दिन का राज्य दे दिया। इधर अकस्मात् अकम्पनाचार्य अपने सात सौ शिष्यों के साथ उधर आ निकले। बलि को भी पता चला। उसने अपने द्वेष-वश मुनिसंघ को एक बाड़े में घेर कर पुरुष-मेध यज्ञ में बलि करने का निश्चय किया। ऐसे संकट काल में एक वैक्रियलब्धि धारी मुनि विष्णुकुमार से प्रार्थना की गई कि आप पद्म राजा के भाई हैं अत: आप ही मुनि संघ पर आये इस संकट को दूर कर सकते हैं। तपस्या में लीन विष्णुकुमार मुनि उक्त प्रार्थना पर नगर में आये और उन्होंने अपने भाई पद्म राजा को समझाया कि भाई! इस कुरुवंश में तो साधुओं का आदर होता आया है किन्तु अब यह क्या

अनर्थ होने जा रहा है? पद्म राजा को उक्त घटना से दु:ख तो बहुत था, किन्तु वे वचन-बद्ध थे, अत: उन्होंने अपने को विवश बताया। तब विष्णुकुमार मुनि बलि राजा के पास गये और उससे मुनिसंघ के लिए स्थान मांगा। बलि ने कहा कि आप मेरे राजा के भाई हैं, इसलिए आपका मान करता हुआ मैं अढाई कदम जगह देता हूं, उसी में रह लो। इस पर विष्णुकुमार को रोष हो आया और अपनी शक्ति का चमत्कार उन्होंने वहां प्रकट किया। उन्होंने अपने शरीर का आकार एक लाख योजन का बना लिया, एक पैर सुमेरु पर्वत पर रखा, और दूसरा मानुषोत्तर पर्वत पर तथा तीसरा कदम बीच में लटकने लगा। यह देख पृथ्वी-वासी लोग अत्यधिक क्षुब्ध हो गये, बलि क्षमा मांगने लगा, उसने राज्य वापिस कर दिया और इस तरह विष्णुकुमार के प्रभाव से उस समय यह संकट दूर हुआ।

मुनिजनों पर संकट आया देखकर लोगों ने अन्न-जल का त्याग कर दिया था। संकट टलने पर सबने पारणा किया। सब विष्णुकुमार जी महाराज के द्वारा कृत रक्षा के बन्धन में अपने को बद्ध अनुभव करने लगे। जिस दिन यह रक्षा हुई थी उसी दिन से प्रतिवर्ष रक्षाबन्धन के रूप में एक उत्सव या पर्व मनाया जाने लगा। यह सत्य है कि उस समय रक्षाबन्धन को मनाने का यह रूप नहीं था, जो आज उपलब्ध हो रहा है। आज तो बहिनें भाइयों के हाथों में राखियां बांध कर इस पर्व को मनाती हैं।

आत्म-जयंती

जैन-धर्म दिवाकर पूज्य श्री आत्माराम जी महाराज श्री वर्धमान स्थानकवासी जैन श्रमणसंघ के प्रधानाचार्य थे। आपश्री की जयन्ती भाद्रपद शुक्ला द्वादशी को समूचे भारत में बड़े समारोह के साथ मनाई जाती है। इस दिन स्थानकवासी समाज में एक नया उत्साह देखने को मिलता है। असहायों और गरीब लोगों को भोजन खिलाया जाता है। रात्रि को कवि-सम्मेलन, संगीत-सम्मेलन होते हैं।

श्रद्धेय आचार्य-प्रवर पूज्य श्री आत्माराम जी महाराज का जन्म वि.सं. 1939 भाद्रपद शुक्ला द्वादशी को हुआ। पंजाब में जिला जालंधर में तहसील राहों आपकी जन्म-भूमि है। वहां के प्रसिद्ध व्यापारी सेठ मनसाराम जी आपके पिता थे और श्री परमेश्वरी देवी माता; जिसने धर्म-दिवाकर को उदित करके पूर्वदिशा का स्थान ग्रहण करने का सुअवसर प्राप्त किया।

आचार्य प्रवर का शैशव काल बड़ा संकटमय रहा। प्रतिकूल परिस्थितियों की थपेड़ें आपको निरन्तर परेशान करती रहीं। आठ वर्ष की लघुवय में ही आपके माता-पिता का निधन

हो गया था। 10 वर्ष की उम्र में दादी भी आपको निराधार छोड़कर परलोक सिधार गई। इस तरह आपने बाल्यकाल में सुख के दिन नहीं देखे।

वैराग्य

उक्त घटनाओं के बाद आचार्य प्रवर एक तरह से निराश-हताश-से हो गये, उदासीन रहने लगे। घर में उनका मन नहीं लगता था, घर का समस्त वैभव उन्हें नागिन की तरह डसने लगा। वे वहां से चलकर लुधियाना आए। वहां पर विराजमान श्रद्धेय पूज्य श्री जयरामदास जी महाराज, एवं स्वनामधन्य पूज्य श्री शालिग्राम जी महाराज के दर्शनों से आप की आत्मा को कुछ शान्ति मिली। पूज्यश्री के उपदेश से आपके मन में जो संसार से निराश-हताश हो चुका था, वैराग्य की भावना जागी। वि० सं० 1959 आषाढ़ शुक्ला 5 को बनूड शहर में श्रद्धेय शालिग्राम जी महाराज के करकमलों से आप दीक्षित हुए।

शिक्षा-दीक्षा

श्रद्धेय आचार्य श्री मोतीराम जी म० के सान्निध्य में रहकर आपने मुनि जीवन की शिक्षा-दीक्षा पाई तथा उन से ही शास्त्रों का गम्भीर अध्ययन किया, आगममहोदधि का मन्थन किया। आपका आगम-ज्ञान बड़ा ही विलक्षण और अपूर्व था। आप के गम्भीर शास्त्रीय ज्ञान से ही प्रभावित होकर वि० सं० 1969 को फाल्गुण मास में आचार्य प्रवर श्री सोहनलाल जी महाराज ने अमृतसर में आप को उपाध्याय पद से विभूषित किया।

आचार्य पद

आप की उच्चता, महत्ता एवं लोकप्रियता प्रतिक्षण बढ़ती जा रही थी। आपके चारित्रनिष्ठ जीवन ने जनमानस पर अपना अधिकार जमा लिया था। उसी का यह शुभ परिणाम था कि श्रद्धेय आचार्य श्री कांशी राम जी महाराज के स्वर्गवास होने के पश्चात् वि० सं० 2003 चैत्र शुक्ला त्रयोदशी को लुधियाना में आपको पंजाब सम्प्रदाय के आचार्य पद पर प्रतिष्ठित किया गया। तत्पश्चात् वि० सं० 2009 में सादड़ी (मारवाड़) सम्मेलन में स्थानकवासी समाज की सभी सम्प्रदायों के प्रतिनिधि मुनिवरों ने आपको श्रमण संघ के प्रधान आचार्य के रूप में स्वीकार किया। आप की अनुपस्थिति में श्रमण संघ द्वारा प्रदान किया गया यह गौरव-पूर्ण पद इस बात का परिचायक है कि आप का व्यक्तित्व कितना विराट और विशाल था। इस तरह एक ही जीवन में उपाध्याय, एक विशेष सम्प्रदाय के आचार्य और फिर अखिल भारतीय स्थानकवासी श्रमणसंघ के आचार्य पद को प्राप्त करना आपके आध्यात्मिक जीवन की सब

से बड़ी सफलता थी। आचार्य श्री की महत्ता, उच्चता तथा लोकप्रियता का इससे बढ़कर और क्या उदाहरण हो सकता है!

साहित्य-निर्माण

आपने आगमों का तलस्पर्शी अध्ययन किया। आपका चिन्तन-मनन भी बहुत गहरा था। शास्त्रों के बहुत-से पाठ आप को करामलकवत् उपस्थित थे, और आगमों में कौन रत्न किस स्थल पर है, यह भी आपकी दृष्टि से ओझल नहीं रहा। इसी का परिणाम है कि आप आगम साहित्य से सम्बन्धित अनेकों ग्रन्थों का निर्माण कर सके।

आपके द्वारा लिखित एवं अनुवादित करीब 60 पुस्तकें प्रकाशित हो चुकी हैं। इनमें उत्तराध्ययन सूत्र (3 भाग), दशाश्रुतस्कंध, अनुत्तरोपपातिक-दशा, अनुयोगद्वार, दशवैकालिक, अन्तकृद्दशांग, श्री आचारांग, श्री स्थानांग, श्री तत्त्वार्थसूत्र-जैनागम समन्वय, जैनतत्त्व-कलिका-विकास, जैनागमों में अष्टांग योग, जैनागमों में स्याद्वाद (दो भाग), जैनागम न्याय संग्रह आदि मुख्य ग्रन्थ रत्न हैं। इन ग्रन्थों का अध्ययन करने से आचार्यश्री के गम्भीर ज्ञान का पूर्णतया परिचय मिल जाता है।

साहित्यिक व्यक्तित्व

प्राकृत भाषा तथा साहित्य के विद्वान् के रूप में आचार्य प्रवर की ख्याति भारत के कोने-कोने में फैल चुकी थी। पाश्चात्य विद्वान भी आप की प्राकृत भाषा की सेवाओं से अत्यधिक प्रभावित हुए। एक बार आप लाहौर में पधारे, वहां पंजाब यूनिवर्सिटी के वाइस चान्सलर तथा प्राकृत भाषा के विद्वान डा० ए.सी. वूल्नर से आप की भेंट हुई। वार्तालाप प्राकृत भाषा में किया गया। डा० वूल्नर आचार्यश्री के व्यक्तित्व और प्राकृत तथा संस्कृत भाषा के प्रगाढ़ पाण्डित्य से अत्यधिक प्रभावित हुए। आप को पंजाब यूनिवर्सिटी के हस्तलिखित ग्रन्थों का बृहद् भण्डार दिखाया गया और आपश्री को मान देने के विचार से डा. वूल्नर ने आप को पंजाब लायब्रेरी का प्रयोग करने के लिए सम्मानित सदस्य बनाया। पंजाब यूनिवर्सिटी का यह विशेष नियम था कि यूनिवर्सिटी से सम्बन्धित व्यक्ति ही लायब्रेरी का प्रयोग कर सकता था किन्तु आपके व्यक्तित्व से प्रभावित होकर यह विशेष अधिकार आपको दिया गया। इससे साहित्यिक संस्थाओं में आपके व्यापक पाण्डित्य के मान तथा उसकी प्रतिष्ठा का भली प्रकार पता लग जाता है।

आचार्य श्री का जीवन-चरित्र धैर्य आदि महानताओं से भरपूर है। हमने तो यहां कुछ झांकी

मात्र दिखाई है। विशेष जानने की इच्छा रखने वाले महानुभावों को मेरे द्वारा लिखित "आचार्य-सम्राट्" नामक पुस्तक पढ़ लेनी चाहिए।

निष्कर्ष

ऊपर लिखित अनेकानेक लोकोत्तर और लौकिक पर्व-त्यौहार जैन-जगत् में मनाए जाते हैं। निष्कर्षत: यही कहा जा सकता है कि जैन धर्म एक अध्यात्म-प्रधान धर्म है। वहां लौकिक उत्सवों को गौण और लोकोत्तर/आध्यात्मिक उत्सवों को प्रधान माना गया है। इसीलिए प्रस्तुत अध्याय में आध्यात्मिक पर्वों के महत्व पर ही यत्किंचित् प्रकाश डाला गया है।

❑ ❑ ❑

भाव-पूजा

प्रश्न–मूर्तिपूजा के सम्बन्ध में स्थानकवासी समाज का क्या विश्वास है? यह मूर्तिपूजा का समर्थक है या विरोधी?

उत्तर–पूजा शब्द का अर्थ है–परमात्मा का भक्तिपूर्ण स्मरण या स्तवन। पूजा दो प्रकार की होती है–द्रव्य-पूजा और भाव-पूजा। मन्दिर में जाकर पाषाण, रजत, सुवर्ण या माटी आदि द्वारा बनी भगवान् की मूर्ति को नमस्कार करना, उस पर पुष्प, चावल आदि चढ़ाना, उसे तिलक लगाना, उसके आगे धूप जलाना, टल्लियां बजाना, मूर्ति की परिक्रमा करना आदि सभी व्यापारों को द्रव्य-पूजा कहते हैं। भगवान् के साथ तादात्म्य सम्बन्ध स्थापित करने के लिए भगवान् के गुणों का चिन्तन करना, प्रभु के गुणों का स्मरण करना, प्रभु-गुणों को आत्मसात् करने का प्रयास करना भाव-पूजा कही जाती है। भाव-पूजा में द्रव्य-पूजा की भांति पुष्पों की, धूप की, चन्दन की यहां तक कि किसी भी बाह्य सामग्री की आवश्यकता नहीं होती। भाव-पूजा का सम्बन्ध प्रभु के गुणों के साथ होता है और पूजा करने वाले को उनमें अपने को निमग्न करना होता है।

द्रव्य-पूजा के लिये प्रात: या सायं का समय सुनिश्चित होता है, किन्तु भाव-पूजा के लिए कोई विशेष समय निश्चित नहीं होता है, यह किसी भी समय की जा सकती है; इसके लिए किसी समय विशेष का प्रतिबन्ध नहीं है। जिस स्थान पर चाहें और जब चाहें भाव-पूजा का लाभ ले सकते हैं। सांसारिक काम-धन्धा करते समय यदि नैतिकता, न्यायप्रियता तथा सत्यनिष्ठा का नेतृत्व चल रहा हो, तो उस समय भाव-पूजा जीवन में साकार रूप लेकर विराजमान हो जाती है। भाव-पूजा दुष्प्रकृति, खराब स्वभाव या काम, क्रोध, मोह, लोभ आदि जीवन-विकारों को समाप्त करके क्षमा, सरलता, निर्लोभता आदि सद्गुणों को जीवन के व्यवहार में प्रकट करने की भावना में ही निवास करती है। वस्तुत: सत्य और अहिंसा के भावों को विकसित करके निज-स्वरूप में रमण करने की प्रेरणा प्रदान करना ही भाव-पूजा का मुख्य एवं अन्तिम लक्ष्य रहता है और इसी में उस की सफलता मानी गई है।

भाव-पूजा आत्म-कल्याण का निर्झर है, आत्मोत्थान का स्रोत है, द्रव्य-पूजा का आत्म-कल्याण और आत्मशुद्धि के साथ कोई सम्बन्ध नहीं है। आत्मकल्याण तो भाव-पूजा से ही संभव है और भाव-पूजा ही मानव को उसके समस्त विकारों का नाश करके महामानव के उच्चतम सिंहासन पर बिठलाने की क्षमता रखती है। अत: स्थानकवासी परम्परा द्रव्य-पूजा को कोई महत्त्व प्रदान नहीं करती। इसके विश्वासानुसार भाव-पूजा जीवनोत्थान की पूर्व- भूमिका है, और इसी के द्वारा आत्म-कल्याण और आत्म-शुद्धि की उपलब्धि हो सकती है, ऐसा वह विश्वास रखती है।

प्रश्न—स्थानकवासी परम्परा द्रव्य-पूजा में क्या दोष मानती है? और भाव-पूजा में क्या महत्त्व समझती है?

उत्तर—भाव-पूजा के महत्व की चर्चा पूर्व की जा चुकी है। भाव-पूजा सर्वथा निर्दोष है, सात्त्विक है, आत्म-शुद्धि की महाप्रेरणा लिए हुए है। इसलिए भाव-पूजा का अपना विशेष महत्त्व है। यह आत्मा में भगवत्स्वरूप के दर्शन कराती है, और आत्मा के समस्त विकारों को समाप्त करने का महामार्ग दिखलाती है। इस आत्मा को महात्मा, और धीरे-धीरे महात्मा को परमात्मा के रूप में परिवर्तित कर देती है। इसीलिए इसके आश्रयण की ओर स्थानकवासी परम्परा का झुकाव है।

हजारों ही नहीं, लाखों वर्षों से संसार में अहिंसा का पावन स्वर गूंजता रहा है। भगवान् महावीर ने जब उस स्वर से अपना स्वर मिलाया तो उन्होंने कहा था-

सव्वे जीवा वि इच्छन्ति, जीवियं न मरिज्जियं।
तम्हा पाणवहा घोरं, निग्गन्था वज्जयन्ति णं॥

अर्थात् सब जीव जीना चाहते हैं, मरना कोई नहीं चाहता। इसीलिए निर्ग्रन्थ साधक सदा प्राणि-वध से दूर रहते हैं।

कितना विराट् और सात्त्विक सत्य है यह! संसार के प्रत्येक महापुरुष ने इस सत्य को अपने स्वर के साथ मिलाकर गाया है, और महामंत्र मान कर इसकी सब ने आराधना की है। द्रव्य-पूजा के अन्य दोषों की चर्चा बाद में करेंगे, सर्व-प्रथम इसमें सबसे पहला दोष यही है कि जिस सत्य के गीत संसार अनादिकाल से गाता आया है और जिस सत्य को महामंत्र बनाकर भगवान् महावीर ने अपनी अध्यात्म साधना का श्रीगणेश किया था उस सत्य की आत्मा पर यह द्रव्य-पूजा प्रहार करती है। यही इस द्रव्य-पूजा में एक बहुत बड़ा दोष है।

द्रव्य-पूजा की साधन-सामग्री में चन्दन, धूप आदि के साथ-साथ पुष्प भी रहते हैं। द्रव्य-पूजा करते समय पुजारी चन्दन घिसता है, उसका तिलक लगाता है, धूप जलाता है, इसके साथ- साथ वह अपने पूज्य को पुष्प भी अर्पित करता है। समझ में नहीं आता, जिन वीतरागी महापुरुषों ने संसार को अहिंसा की साधना में लगाया, जो स्वयं कभी पुष्पों का स्पर्श नहीं करते थे, जिन्होंने अपने श्रमण-साधकों को पुष्प-स्पर्श का सदा के लिए निषेध कर दिया था, उन्हीं महापुरुषों को निमित्त बनाकर पुष्पगत जीवों का संहार करना, और उन्हें उपहार रूप से महापुरुषों की प्रतिमाओं पर चढ़ाना कहां तक उचित है, और कहां तक अहिंसक कृत्य है! जरा शान्ति से सोचने की आवश्यकता है।

हिंसा तो हिंसा ही है, चाहे वह कहीं भी हो, और किसी भी उद्देश्य को लेकर की गई हो। जिस तरह देवी-देवताओं के मन्दिरों में भेड़, बकरी, भैंसा आदि पञ्चेन्द्रिय जीवों की बलि देना एक हिंसक कृत्य है, वैसे ही एकेन्द्रिय, जीवों की हत्या करना भी एक पाप-मय कार्य है। पञ्चेन्द्रिय हो या एकेन्द्रिय, जीवन तो सभी को प्रिय है। सभी जीना चाहते हैं, मरना कोई नहीं चाहता। इसीलिए किसी जीव को मारना या सताना पाप माना गया है। फिर एकेन्द्रिय जीवों के शरीर रूप पुष्पों को भगवान् की मूर्ति पर चढ़ाना कहां की अहिंसा है? इसमें तो स्पष्टरूप से हिंसा निवास कर रही है। अत: द्रव्य-पूजा में यही सब से पहला दोष है, कि वहां हिंसा को अहिंसा का रूप दिया जाता है, और वहां एकेन्द्रिय जीवों की हिंसा की जाती है।

धूप जलाना, दीप जलाना, इन कार्यों में एकेन्द्रिय जीवों की हिंसा होती है। सचित्त जल का प्रयोग करने पर जलकायिक जीवों की हिंसा होती है। टल्ली बजाने से वायुकायिक जीव मरते हैं। इस प्रकार द्रव्य-पूजा में जलकायिक, अग्निकायिक, वायुकायिक तथा वनस्पतिकायिक इन सभी जीवों का संहार होता है। इसके अलावा दीपशिखा पर अनेकों त्रस जीवों का भी जीवन जल जाता है। त्रस और स्थावर जीवों की विनाशिका द्रव्य-पूजा के दोषों की गणना कहां तक की जावे?

जैन सिद्धान्त कहता है कि हिंसा में धर्म न रहा है और न कभी रहेगा। हिन्दी के कवि ने इसी सत्य को कविता की भाषा में बहुत सुन्दरता से व्यक्त किया है। वह कहता है-

अग्नि जैसे अरविन्द न विलोकियत,
सूरज अस्त में जैसे वासर न जानिए।
सांप के वदन जैसे अमृत न उपजत,
कालकूट खाय जीवन न मानिए।

कलह करत नहीं पाइए सुजस रस,
बाढ़त रसांस रोग नाश न वखानिए।
प्राणवध हिंसा मांही, धर्म की निशानी नहीं,
याही ते बनारसी विवेक मन आनिए।

अर्थात्–अग्निकुण्ड से कमलों का जन्म नहीं होता, सूर्यास्त होने पर दिन नहीं रहता, क्लेश की अवस्थिति में सुयश का रस प्राप्त नहीं होता, सर्प के मुख में अमृत पैदा नहीं होता, विष सेवन से जीवन सुरक्षित नहीं रहता, रसांस के बढ़ने से रोग का नाश नहीं होता। कवि बनारसी दास जी कहते हैं कि जैसे ऊपर की बातें असंभव हैं, ऐसे ही जीव-हिंसा में कभी धर्म नहीं ठहर सकता। अतः मनुष्य को यह विवेक मन में धारण कर लेना चाहिए।

इसके अलावा, भगवतीसूत्र शतक 2, उद्देशक 5, सूत्र 109 में श्रावक के पांच अभिगम (साधु के सन्मुख जाते समय श्रावक के पांच कर्त्तव्य) बतलाए हैं। वे इस प्रकार हैं–1. सचित्त द्रव्य, पुष्प, ताम्बूल आदि का परित्याग करना। 2. अचित्त द्रव्य–शारीरिक वस्त्रों को मर्यादित करना। 3. एक पट वाले दुपट्टे का उत्तरासंग करना। 4. मुनिराज को देखते ही हाथ जोड़ना। 5. मन को एकाग्र करना।

जो लोग मन्दिर में भगवान् की प्रतिमा पर पुष्प चढ़ाते हैं, उनका ऐसा करना कहां तक शास्त्रीय है, जरा सोचने का कष्ट करें। जब श्रावक द्वारा मुनिराज के पास तभी जाया जा सकता है जबकि वह सचित्त द्रव्यों का सर्वथा परित्याग कर दे, ऐसी दशा में मन्दिर में भगवान् के निमित्त पुष्प ले जाना कैसे उचित माना जा सकता है?

द्रव्य-पूजा में जड़-मूर्तियों को नमस्कार किया जाता है, जड़ के आगे चेतन को झुकाया जाता है। जड़ के आगे चेतन का नतमस्तक होना किसी भी तरह संगत और उचित नहीं कहा जा सकता, क्योंकि नमस्कार शब्द का शाब्दिक अर्थ स्वयं इस बात का विरोध करता है। नमस्कार की व्याख्या करते हुए एक आचार्य कहते हैं–

मत्तस्त्वमुत्कृष्टः, त्वत्तोऽहमपकृष्टः, एतदद्वयबोधनानुकूल-व्यापारो हि नमः शब्दार्थः। अर्थात् मेरे से आप उत्कृष्ट हैं, गुणों में बड़े हैं और मैं आपसे अपकृष्ट हूं, गुणों में हीन हूं, इन दोनों बातों का बोधक नमः शब्द है। तात्पर्य यह है कि नमस्कार करने वाला व्यक्ति जिसको नमस्कार करता है, वह नमस्कार के द्वारा उसके बड़प्पन को अभिव्यक्त करता है। वह प्रकट करता है कि आप मुझसे बड़े हैं और मैं आप से छोटा हूं।

लौकिक व्यवहार भी नमस्कार शब्दगत इस भावना का पोषक है। पुत्र पिता को नमस्कार करता है, पिता पुत्र को नहीं। ऐसा क्यों है? इसीलिए कि पिता का स्थान ऊंचा है और पुत्र का स्थान नीचा। शिष्य गुरु को अपने से उच्च मानता है, और स्वयं को उनसे तुच्छ अभिव्यक्त करता है। इस प्रकार उत्कृष्टता तथा अपकृष्टता प्रकट करने के लिए ही नमस्कार का उपयोग किया जाता है। इस सत्य से किसी को विरोध नहीं है। यहां सब एकमत हैं।

अब मूर्ति की बात लीजिए! मूर्ति को नमस्कार करने से पहले यह समझ लेना चाहिए कि मूर्ति नमस्कार करने वाले व्यक्ति से ऊंची है या वह व्यक्ति उससे ऊंचा है। यह सर्वविदित सत्य है कि व्यक्ति चेतन है, और मूर्ति जड़ है। दोनों में चेतन का स्थान ऊंचा है। चेतन जड़ से बड़ा है। ऐसी दशा में चेतन का जड़ के आगे झुकना सर्वथा अयोग्य है, अनुचित है। चेतन का जड़ को प्रणाम करने का क्या मतलब? जड़ के आगे चेतन नतमस्तक हो तो क्या यह चेतनता का उपहास नहीं है? वस्तुत: जड़ को नमस्कार करना अपने चेतन-स्वरूप को अपमानित करना है। इस प्रकार मूर्ति-पूजा या जड़-पूजा का विरोध स्वयं नमस्कार शब्द का अर्थ कर रहा है। इसीलिए स्थानकवासी परम्परा मूर्ति-पूजा में विश्वास नहीं रखती और इसे वह असंगत और अशास्त्रीय कहती है।

यह सत्य है कि मूर्ति, मूर्ति है, मूर्ति को मूर्ति मानने से किसी को इन्कार नहीं हो सकता, किन्तु मूर्ति को भगवान् मानना या भगवान् की भांति उसका पूजन करना, स्तवन करना, यह ठीक नहीं है। जड़ को चेतन मान लेना किसी भी तरह उचित नहीं कहा जा सकता। जैनागमों ने २५ प्रकार के मिथ्यात्वों में से "जड़ को चेतन मानना या चेतन को जड़ मानना," यह भी एक मिथ्यात्व माना है। अत: मूर्ति को चेतन समझना, भगवान् मानकर उसकी पूजा करना, उसे नमस्कार करना मिथ्यात्व का पोषण करना है, जोकि किसी भी दशा में उचित नहीं है।

मूर्ति को स्नान कराना, तिलक लगाना, भोग लगाना, शृंगारित करना आदि जितने भी उपक्रम हैं, ये सब किस लिए? यदि ये सब मूर्ति को भगवान् समझ कर किए जाते हैं, तब भी ठीक नहीं है, क्योंकि भगवान् तो इन सब प्रपंचों के त्यागी थे, त्याग का ही उन्होंने संसार को उपदेश दिया है। ऐसे त्यागी और वीतरागी जीवन में ऐसे भोगमय नाटकों का क्या उद्देश्य है? जो शृंगार साधुओं के लिए त्याज्य एवं हेय है, फिर वह भगवान् के लिए कैसे उपादेय बन सकता है? गीत वीतरागता के गाये जायें और गेय (जिसके गीत गाये जाते हैं) को भोग सामग्री से लथपथ कर दिया जाये, यह कहां तक न्याय-संगत तथा तर्क-संगत है? शान्ति से विचार करने की आवश्यकता है।

प्रश्न—यह माना कि मूर्ति जड़ है किन्तु उसकी पूजा तो होनी ही चाहिए। क्योंकि मूर्ति को देखने से मूर्तिमान इष्टदेव का स्मरण हो जाता है। जो मूर्ति अपने इष्टदेव का स्मरण कराती है, उसको नमस्कार करने में क्या बाधा है?

उत्तर—सर्वप्रथम तो यह जान लेना चाहिए कि "मूर्ति मूर्ति-मान पदार्थ का अवश्य स्मरण करा देती है" यह कोई सिद्धान्त नहीं है। यदि यह सिद्धान्त होता तो एक अनभिज्ञ व्यक्ति को भी मूर्ति देखकर मूर्तिमान व्यक्ति का बोध हो जाना चाहिए था; पर ऐसा होता नहीं है। यदि किसी ने महाराणा प्रताप को नहीं देखा या नहीं सुना है तो भले ही उसके सामने राणा की मूर्ति रख दी जाये, पर वह व्यक्ति कभी यह नहीं कह सकता कि यह राणा की मूर्ति है। यदि "मूर्ति को देखकर मूर्तिमान पदार्थ का ज्ञान हो जाता है" यह बात सत्य होती तो उस व्यक्ति को राणा की मूर्ति को देखकर राणा का अवश्य बोध हो जाना चाहिए था। पर ऐसा होता नहीं है। अत: यह बात सिद्धान्त का रूप नहीं ले सकती।

मूर्ति को देखकर उसी मूर्तिमान पदार्थ का बोध होता है, जहां पहले मूर्तिमान पदार्थ को या तो देखा हो, या उसके सम्बन्ध में किसी से कुछ समझ रखा हो। मूर्तिमान पदार्थ से सर्वथा अनभिज्ञ व्यक्ति के सामने यदि मूर्ति आ जाये तो उसे उससे कोई जानकारी नहीं हो सकती। यह एक अटल सत्य है। इसे कभी भी झुठलाया नहीं जा सकता। मूर्तिमान व्यक्ति से परिचित व्यक्ति यदि उसकी मूर्ति को देख लेता है, और उसकी ओर ध्यान देता है, तो उसे उस मूर्तिमान व्यक्ति का स्मरण हो सकता है। यह भी सत्य है, इसको मानने से भी कोई इन्कार नहीं है। क्योंकि मूर्तिमान पदार्थ को बार-बार देखने से द्रष्टा के मानसपटल पर ऐसे संस्कार पड़ जाते हैं जो कि कालान्तर में यदि मूर्तिमान व्यक्ति या उसकी मूर्ति सामने आ जाये तो एकदम वे पुराने संस्कार जागृत हो उठते हैं, परिणाम-स्वरूप द्रष्टा व्यक्ति झट कह देता है कि यह तो अमुक व्यक्ति है, या यह अमुक व्यक्ति की मूर्ति है। इस प्रकार मूर्ति पूर्व संस्कारों को प्रबुद्ध करने में कारण बन जाती है। मूर्ति की इस संस्कार संस्मारकता से किसी को कोई इन्कार नहीं है।

मूर्ति संस्कारों की संस्मारिका है, यह सत्य है; किन्तु इसका यह अर्थ नहीं है कि केवल संस्कारों की प्रबोधिका होने से मूर्ति वंदनीय है या नमस्करणीय है। क्योंकि मूर्ति द्वारा मूर्तिमान पदार्थ का स्मरण करना, कोई अपूर्व घटना नहीं है, केवल मूर्ति की ही यह विशेषता नहीं है। यह विशेषता तो प्रत्येक पदार्थ में पाई जाती है। संसार का प्रत्येक पदार्थ संस्कारों का संस्मारक बन सकता है। कोई भी ऐसा पदार्थ नहीं है जो व्यक्ति के तत्सम्बन्धी संस्कारों को प्रबुद्ध न करता हो। दुनिया की हर वस्तु अपने-अपने ढंग से किसी न किसी पदार्थ या घटना की स्मृति

कराने में सहायक बन जाती है। यदि केवल संस्कारों की प्रबोधिका होने से मूर्ति वन्दनीय है, तब तो संसार की प्रत्येक वस्तु वन्दनीय माननी पड़ेगी और उसकी पूजा करनी पड़ेगी। संसार की वस्तुएं पुरातन संस्कारों को जगाने में किस तरह कारण बनती हैं, यह नीचे के उदाहरणों से समझिये।

आप अपने घर के सभी व्यक्तियों को खूब जानते हैं, उनकी वेशभूषा से सर्वथा परिचित हैं। आपको पता है कि बड़ा भाई चप्पल पहनता है, जूता उसे पसन्द नहीं है। और चप्पल भी साधारण नहीं, अच्छी सुन्दर, कीमती और विदेश-निर्मित हैं। भाई के इस स्वभाव का आपको पूर्ण बोध है। आप किसी समय स्थानक या मन्दिर में गये तो आपने सीढ़ियों के एक ओर पड़े भाई के चप्पल देखे तो एकदम आपका हृदय कह उठता है कि ये चप्पल तो भाई साहिब के हैं। मालूम होता है कि भाई साहिब ऊपर अवश्य बैठे हैं। यह सोचकर आप ऊपर गये तो सचमुच आपको भाई साहिब मिल गये। चप्पल को देखकर जो भाई साहिब का आपको ख्याल आया था, वह ठीक निकला। या यूं कहें, चप्पल भाई-साहिब का बोध कराने में कारण बन गये।

एक उदाहरण और लीजिये! आप अपने मकान को छोड़कर किसी दूसरे मकान में जाकर रहने लग गये हैं। अब आपको पहले मकान का कभी ख्याल नहीं आता और न ही उस मकान में जो घटनाएं घटित हुई थीं, उनका कभी विचार आता है। एक दिन अकस्मात् आप उस पुराने मकान के पास से निकले तो सहसा मकान देखते ही यह स्मरण हो आया कि इस मकान में कभी हम रहते थे। आपकी स्मृति और आगे बढ़ी। आपने सोचा—इसी मकान में हमारे दादा का देहान्त हुआ था। कितने अच्छे थे हमारे दादा। मरती बार उन्होंने उफ तक न की। रोगों ने शरीर छलनी कर दिया था, मगर उन्होंने कभी सी तक न की। सदा भगवान् का भजन गाते रहते थे। बीमारी की दशा में भी प्रभु-भक्ति और प्रभु-चिन्तन करना उनके जीवन की साधना थी। स्वयं तो सब कुछ किया ही करते थे; किन्तु परिवार से भी कहा करते थे, सबको समझाया करते थे कि प्रभु का भजन करना चाहिए, यही जीवन का अन्तिम साथी है। संसार के समस्त वैभव यहीं रह जाने वाले हैं। कौड़ी भी मनुष्य के साथ नहीं जाती। सिकन्दर दुनिया से क्या ले गया! और तो और, मैंने लाखों कमाये, लाखों की जायदाद बनाई। अब चलने को तैयार हूं। मैं क्या ले जाऊंगा? मैं भी तो यहां से खाली हाथ ही चलता बनूंगा। मैं ही नहीं, मेरी तरह तुम भी ऐसे ही चलोगे, तुम्हारी ही नहीं, तुम्हारे परिवार की भी यही दशा होगी। अतः जीवन में कुछ सत्कर्म करना चाहिए, जीवन के भविष्य को उज्ज्वल बनाने का प्रयास करना चाहिए। आदि बातें

आपके मस्तिष्क में उत्पन्न हो जाती हैं। किसे देखकर? अपने पुराने मकान को देखकर। इस तरह एक मकान भी अपने ढंग से किसी घटना या सत्य का स्मरण कराने में कारण बन जाता है। मकान ही नहीं, अपितु संसार की हर वस्तु अपने-अपने ढंग से किसी न किसी बात का स्मरण कराने में कारण बन सकती है। यदि किसी वस्तु की स्मारिका होने से मूर्ति वन्दनीय या पूजनीय मानी जायेगी तो मूर्ति की तरह संसार की अन्य वस्तुएं भी पूजनीय स्वीकार करनी पड़ेंगी। यह कैसे हो सकता है कि मूर्तिमान व्यक्ति का स्मरण कराने से मूर्ति को तो नमस्कार किया जाये और दूसरी वस्तुएं जो कि अपने-अपने ढंग से अन्य वस्तुओं का स्मरण कराती हैं उनको नमस्कार न किया जाये? इस तरह मूर्ति की भाँति चप्पल, मकान आदि सब पदार्थों को नमस्कार करना पड़ेगा। क्योंकि मूर्ति की तरह इनके द्वारा भी हमें किसी न किसी घटना-चक्र का स्मरण हो आता है।

प्रश्न—यह सत्य है कि प्रत्येक वस्तु किसी न किसी अन्य वस्तु या घटना का स्मरण कराने में कारण बन सकती है, किन्तु स्मरण-स्मरण में भी अन्तर होता है। मूर्ति भगवान् का स्मरण कराती है, और दूसरी सांसारिक वस्तु किसी अन्य सांसारिक वस्तु का। किन्तु भगवान् मंगल-रूप हैं, इनका स्मरण जन्म-जन्मान्तर के पापों को नष्ट करने का कारण बन सकता है। इनके स्मरण से जीवन उन्नत और समुन्नत बन सकता है। इसके विपरीत अन्य पदार्थों से जिन वस्तुओं का स्मरण होता है, उनका हमारे जीवन-निर्माण के साथ कोई सम्बन्ध नहीं है। वे हमारे जीवन-कल्याण में सहायक सिद्ध नहीं हो सकतीं, इसलिए वे मूर्ति की भाँति पूजनीय कैसे हो सकती हैं? मूर्ति जीवननिर्मात्री साधन-सामग्री की स्मारिका होने से पूजनीय है। इसमें बाधा वाली कौन-सी बात है?

उत्तर—मूर्ति को यदि इसलिए ही पूजनीय मान लिया जाये कि वह जीवन-कल्याण की कारणभूत सामग्री का स्मरण कराती है तो जीवन-निर्माण में सहायक वस्तुओं में सभी पदार्थ पूजनीय और नमस्करणीय स्वीकार करने पड़ेंगे। ऐसा नहीं हो सकता कि भगवान् का स्मरण कराने वाली मूर्ति का तो वंदन एवं स्तवन किया जाये और अन्य वस्तुएं जो कल्याण तथा मंगल स्वरूप गुरुदेव आदि अध्यात्म शक्तियों का स्मरण कराती हैं, उनको वंदन या उनका स्तवन न किया जाये। गुरुदेव भी तो जीवन के निर्माण का पाठ पढ़ाते हैं और ज्ञान-ध्यान की पुण्य सामग्री देकर जीवन का कल्याण करते हैं, तो फिर इनके चरणों की स्मारक साधक सामग्री का पूजन और वन्दन क्यों नहीं किया जाना चाहिए? इस तथ्य को उदाहरणों से समझिये!

एक कागज है, उस पर हमारे आराध्य गुरुदेव ने अपने हाथों से महामन्त्र लिख रखा है। उस कागज को देखते ही पूज्य गुरुदेव का स्मरण हो आता है।

एक लाठी है, उसे गुरुदेव अपने हाथों में रखा करते थे, उसके सहारे चला करते थे : उस लाठी को देखकर गुरु महाराज का पवित्र स्वरूप एकदम दर्शक के सामने साकार होकर खड़ा हो जाता है।

एक मकान है, उसमें गुरुदेव ने चातुर्मास किया था। उसमें रहकर गुरुदेव सत्य, अहिंसा के पावन उपदेश सुनाया करते थे, जन-गण-कल्याण-कारिणी जिनेन्द्र वाणी के स्रोत बहाया करते थे। जहां-जहां बैठ कर स्वयं दर्शक ने गुरुदेव से अध्यात्मवाद का पाठ पढ़ा था, उस-उस स्थान को देखते ही वन्दनीय गुरुदेव की स्मृति ताजा हो उठती है।

वह झांवां या पत्थर का टुकड़ा जिसके द्वारा गुरुदेव अपने पांव साफ किया करते थे, मार्ग में जो मल पांव को लग जाता था उसे उससे धोया करते थे, तथा जिसे गुरुदेव न संभाल कर एक कोने में रख छोड़ा था, उसे देखते ही गुरुदेव के पांव धोने का दृश्य सामने आ खड़ा होता है, और उससे गुरुदेव की मंगलमूर्ति का स्मरण हो उठता है।

वह कलम, जिससे गुरुदेव शास्त्र लिखा करते थे, शास्त्र-सम्पादन करके साहित्य भगवान् की अनुपम सेवा किया करते थे, उस कलम को देखते ही गुरुदेव का शास्त्र-सम्पादन, उनके लिखने की धुन तथा साहित्य-सेवा की निष्ठा स्मृतिपथ में साक्षात् हो जाती है। गुरुदेव के सतत् परिश्रम तथा उनकी विलक्षण साहित्य-सेवा की झांकी की स्मृति उस कलम को देखते ही ताजा हो उठती है।

वह घड़ी, जो प्राय: गुरुदेव के पाट के पास रखी रहती थी, सामायिक आदि अनुष्ठानों के लिये समय की जानकारी तथा व्याख्यान आदि के वास्ते जिसका सदैव प्रयोग होता था, उसको देखकर भी गुरुदेव के पुण्य दर्शनों की घड़ी याद आ जाती है।

वह पात्र, जो गुरुदेव के हाथों से गिर कर टूट गया था, तथा जिसके टुकड़े गुरुदेव ने उठाकर एकान्त स्थान में रख दिये थे, उनका कोई साधु उपयोग कर रहा है, तो उन्हें देखकर सहसा गुरुदेव का स्मरण हो जाता है। अन्तरात्मा बोल उठती है कि ये उसी पात्र के टुकड़े हैं जो गुरुदेव के हाथ से गिर कर टूट गया था।

वह माला, जो गुरुदेव ने पलट दी थी, और जिसे गुरुदेव रोज अपने प्रयोग में लाया करते थे, जिस पर "नमो अरिहन्ताणं, नमो सिद्धाणं, नमो आयरियाणं, नमो उवज्झायाणं, नमो लोए

सव्वसाहूणं" इन पांच पदों का मधुर स्वर से जाप किया करते थे। उस माला को हाथ में लेते ही गुरुदेव की मंगलमय पुण्य स्मृति हो उठती है।

इसी प्रकार वह पाट जिस पर गुरुदेव अधिकतया बैठा करते थे, वह रजोहरण जो गुरुदेव ने पलट दिया है, वह पुस्तक जो गुरुदेव व्याख्यान में लेकर सुनाया करते थे, तथा जिसके सम्बन्ध में गुरुदेव से एक श्रोता ने प्रश्नोत्तर किए थे। उसे देखकर हमें अपने पूज्य गुरुदेव की याद आ जाती है। यह सब जानते हैं कि गुरुदेव कल्याणकारी हैं, मंगल के पुण्य स्रोत हैं तथा ज्ञान के जीवित विश्व कोष हैं, जिनका क्षण भर का सम्पर्क भी जीवन को मोड़कर रख देता है, जीवन को अन्धकार से निकाल कर सत्य-अहिंसा के महान प्रकाश में ले आता है। ऐसे पूज्य गुरुदेव का जिन-जिन वस्तुओं को देखकर स्मरण होता है, उनका नमस्कार क्यों न किया जाए? जब मूर्ति केवल भगवान् की स्मारिका होने से नमस्करणीय बन सकती है तो महामहिम मंगलमूर्ति गुरुदेव की स्मारक सामग्री भी नमस्करणीय क्यों नहीं बन सकती? भक्तराज कबीर के ये शब्द--

गुरु गोबिन्द दोनों खड़े, किस के लागूं पाय?
बलिहारी गुरुदेव के, जिस गोबिंद दियो बताय॥

ये शब्द स्पष्टतया प्रकट कर रहे हैं कि गुरु का स्थान भगवान् से भी ऊंचा है, तब तो गुरुदेव के पुण्य स्मरण की कारण सामग्री की भी अवश्य पूजा होनी चाहिये; पर मूर्ति को पूजने वाले ऐसा करते नहीं हैं। जिन वस्तुओं से गुरुदेव की याद आती है, कोई मूर्तिपूजक उन्हें नमस्कार नहीं करता देखा गया। इससे यह प्रमाणित हो जाता है कि यदि मूर्ति जीवन-निर्माण में सहायक कारण सामग्री का स्मरण कराती है, इसलिए वह नमस्करणीय है, ऐसा कोई सिद्धान्त नहीं बन सकता और न ही इस में बौद्धिक या व्यावहारिक सत्यता है।

दूसरी बात यह भी है कि मूर्ति का काम यदि केवल भगवान् का स्मरण कराना है, तो मन्दिर में जाने की क्या आवश्यकता है? क्योंकि मन्दिर जाने की भावना जब मन में आती है तभी व्यक्ति घर से मन्दिर की ओर प्रस्थान करता है, अन्यथा नहीं। जब घर में ही मन्दिर का ध्यान आ गया अर्थात् भगवान् का ध्यान आ गया, तो फिर मन्दिर में जाने का कोई उद्देश्य नहीं रहता। मूर्ति के आगे खड़ा होने की भी कोई आवश्यकता नहीं रहती। मन्दिर की मूर्ति ने जिस भगवान् का स्मरण कराना था, उस का तो घर में ही स्मरण हो चुका है।

प्रश्न--मूर्ति जड़ है, यह सत्य है, किन्तु उसमें यदि चेतन की भावना कर ली जाए तो क्या आपत्ति है?

उत्तर–भावना सम्यक् और यथार्थ होनी चाहिए, तभी वह फलवती हो सकती है। लड़की में लड़के की भावना और लड़के में लड़की की भावना करना किसी भी तरह संगत नहीं कहा जा सकता। भावना मनुष्य को पशु और पशु को मनुष्य नहीं बना सकती। गीता कहती है कि असत् सत् नहीं होता और सत् असत् नहीं बन सकता। यदि आग में पानी की भावना कर ली जाए तो क्या आग पानी बन सकती है, या पानी आग का रूप ले सकता है? उत्तर स्पष्ट है, कभी नहीं।

कल्पना करो कि एक व्यक्ति एक कागज के टुकड़े पर दस रुपये के नोट की भावना कर लेता है और फिर बाजार में जाकर मुंह मीठा करना चाहता है। क्या वह वैसा कर सकेगा? कदापि नहीं। मुंह मीठा तो क्या होगा, उलटा यह अधिक संभव है कि उस पर दो-चार थप्पड़ पड़ जायें। वास्तव में सत्यतापूर्ण भावना ही रंग लाया करती है। वही भवनाशिनी और कार्य-साधिनी हुआ करती है। असत्यपूर्ण भावना का कोई मूल्य नहीं होता। एक विधवा के पास उसके पति की पाषाण-प्रतिमा है, उसे वह हर तरह संभाल कर रखती है। यदि वह स्त्री उस पाषाणप्रतिमा पर अपने पति की भावना कर ले, पति-बुद्धि से उस मूर्ति के दर्शन करने लगे तो क्या उस से उसका वैधव्य मिट जायगा? क्या वह संसार में सधवा कहला सकेगी? यदि भावना से ही सब काम बन सकते हों तब तो वह विधवा नारी भी पति की पाषाण-प्रतिमा पर पति-बुद्धि कर लेने के बाद सधवा बन जानी चाहिए। पर संसार में इस प्रकार कोई विधवा नारी सधवा नहीं बन सकी है। इस से यह स्पष्ट हो जाता है कि जड़ में चेतन भगवान् की भावना कर लेने से जड़ मूर्ति भगवान् नहीं बन सकती।

प्रश्न–मूर्ति-पूजा से मन टिकता है, अस्थिर मन स्थिर हो जाता है, इसलिये मूर्ति पूजा की आवश्यकता है। फिर इसका निषेध क्यों?

उत्तर–मूर्ति-पूजा या मूर्ति को वन्दन करने से यदि मन टिकता हो, तब तो जितने भी मूर्ति की पूजा करने वाले लोग हैं, सभी के मन टिक जाने चाहिएं थे। किन्तु मूर्ति-पूजा करते-करते किसी को 50, किसी को 60, किसी को 70 वर्ष हो गये हैं, तब भी उनका मन नहीं टिका। अत: मूर्तिपूजा से मन टिकता है, ऐसा कहना ठीक नहीं है। यदि कहा जाय कि मूर्ति पर दृष्टि जमा कर मन को एकाग्र किया जा सकता है तो यह भी कोई सिद्धान्त नहीं है। क्योंकि दृष्टि टिका कर मन को टिकाने के अन्य भी अनेकों साधन हैं। नासिका के अग्रभाग पर दृष्टि जमा कर मन को स्थिर किया जा सकता है और पांव के अंगूठे पर दृष्टि टिका कर मानसिक चंचलता को हटाया जा सकता है। इस तरह अन्य पदार्थों पर भी दृष्टि स्थिर करके मन को एकाग्र किया

जा सकता है। केवल मूर्ति पर ही दृष्टि जमाकर मन को टिकाया जा सकता है, ऐसा कोई सिद्धान्त नहीं है।

मानसिक एकाग्रता के लिये मूर्ति आदि का कोई प्रश्न नहीं है, वहां तो अभ्यास की आवश्यकता होती है। जिस किसी वस्तु पर दृष्टि टिकाकर मन को एकाग्र करने का जितना-जितना अभ्यास बढ़ता चला जायगा, उतना-उतना मन एकाग्र होता चला जायगा और चंचलता छोड़ता चला जायगा। वह अभ्यास किसी भी पदार्थ पर किया जा सकता है। मूर्ति की तो बात ही क्या है, किसी दीवार पर दृष्टि जमाकर देखते चले जायें, और उस अभ्यास को बढ़ाते चले जायें तो एक दिन मन स्थिर हो जायगा। वस्तुत: मन की स्थिरता के लिये मूर्ति आदि किसी विशेष वस्तु की आवश्यकता नहीं है, उसके लिये तो सतत अभ्यास की जरूरत है। इसीलिये गीताकार ने मानसिक चंचलता को दूर करने के लिए मूर्ति को साधन न बताकर अभ्यास और वैराग्य इन दो साधनों में भी अभ्यास को सर्वप्रथम स्थान दिया है। अभ्यास के अनेकों उपाय हैं। मंत्रों को यदि स्वर के उतार-चढ़ाव के साथ पढ़ा जाये, और इसका अभ्यास बढ़ता चला जाये तो मन स्थिर हो सकता है। या मंत्रों को जरा मन्थर स्वर से बोलिए, और मुख-नि:सृत मंत्र ध्वनि की ओर मन को लगा दीजिये, धीरे-धीरे इस में अभ्यास बढ़ा दीजिए तो एक दिन मन एकाग्र हो जायगा। इस तरह अभ्यास मानसिक एकाग्रता में सहायक सिद्ध हो जाता है।

यह सत्य है कि मन को स्थिर करने के लिए यदि कोई मूर्ति का भी प्रयोग कर लेता है, तो इसमें आपत्ति वाली कोई बात नहीं है। मूर्ति पर दृष्टि जमाकर किया गया अभ्यास भी मानसिक एकाग्रता का कारण बन सकता है। पर इसका यह मतलब नहीं कि मूर्ति को मस्तक झुकाया जाए, और उस पर पुष्प चढ़ाये जाएं, तिलक लगाया जाए या उसे भोग लगाया जाए। क्योंकि मूर्ति को सिर झुकाना चेतनता का अपमान करना है। सोने, चांदी, पत्थर या कागज आदि के किसी विशिष्ट आकार के सामने नतमस्तक होना मानव की महत्ता, और अनन्त सूर्यों के सूर्य आत्मदेव की अवहेलना करना है। वह मानव जो साधना की पगडण्डियों पर चल कर इन्द्रों के सिंहासनों को कम्पित कर सकता है, मुक्ति-पुरी के पट खोल सकता है, अध्यात्मवाद की समस्त शक्तियां जिसके जीवनांगण में क्रीड़ाएं कर सकती हैं, संसार के निखिल अध्यात्म वैभव जिसके चरणों में बिखरे पड़े हैं, उस महाशक्ति का एक पाषाण खण्ड के आगे अपने को नतमस्तक कर देना, मानवता तथा अध्यात्मवाद का सबसे बड़ा तिरस्कार करना है, जिसको कभी न्यायसंगत और बुद्धिसंगत नहीं कहा जा सकता।

इसके अलावा, प्रकृति का एक नियम है। वह यह कि मनुष्य का मन एक समय में एक ही काम कर सकता है, दो नहीं। इस नियम के अनुसार जब वह मूर्ति को देखता है तो उस समय मूर्तिमान भगवान् का स्मरण नहीं कर सकता, और जब वह मूर्तिमान भगवान् का ध्यान करता है तो उस समय मूर्ति का साक्षात्कार नहीं कर सकता। भले ही मूर्ति सामने स्थित हो, आंखें भी खुली हों, परन्तु मन के प्रभु-ध्यान-मग्न होने पर मूर्ति दृष्टिगोचर नहीं हो सकती। क्योंकि मन को एक समय में एक ही काम करना होता है। मन जब प्रभु के गुणों में रमण करने लग जाता है तब उसका चक्षु इन्द्रिय से सम्बन्ध टूट जाता है। मन असम्बन्धित चक्षु इन्द्रिय किसी भी पदार्थ का साक्षात्कार नहीं कर पाती। ऐसी दशा में मूर्ति मन को एकाग्र बनाने में कैसे कारण बन सकती है?

प्रश्न--मूर्ति भगवान् का प्रतीक है, उसके सम्पर्क से बुरे विचारों का नाश होता है, और अच्छे विचारों की उत्पत्ति होती है। अतः मूर्ति का सम्मान भगवान् के समान क्यों नहीं किया जाना चाहिए?

उत्तर-- मूर्ति के सम्पर्क से बुरे विचार हट जाते हैं और अच्छे विचारों की प्राप्ति होती है, यह भी कोई सिद्धान्त नहीं है और न ही ऐसा सम्भव हो सकता है। व्यवहार भी इस बात का समर्थक नहीं है। एक बात बताइये, जिस कमरे में भगवान् की मूर्तियां लगी हुई हैं, उस कमरे में रहने वाले स्त्री-पुरुषों के मन में क्या कभी विकार पैदा नहीं होता? वे सर्वदा निर्विकार रहते हैं? और वे वहां अपनी वासना-पूर्ति करते हैं या नहीं? उत्तर स्पष्ट है कि वहां सब कुछ होता है। भोग-विलास की सभी प्रवृत्तियां वहां चलती हैं। दम्पती जीवन के विलासी जीवन में उस कमरे में अवस्थित भगवान् की मूर्तियों का कोई प्रभाव नहीं पड़ता। ऐसी दशा में यह कैसे कहा जा सकता है कि मूर्ति का सम्पर्क पाकर बुरे विचार हट जाते हैं और विचारों में सात्त्विकता का संचार होता है। विश्वास रखें, विचारों की शुद्धि के साथ मूर्ति का सीधा कोई सम्बन्ध नहीं है। यदि ऐसा होता, तो जिस मकान की दीवारों पर भगवान् की मूर्तियां लगा रखी हैं उसमें अवस्थित लोगों के वासनामय संस्कार समाप्त हो जाने चाहिएं थे और उनका अन्तर्जीवन सर्वथा सात्त्विक और निर्विकार बन जाना चाहिए था। पर ऐसा होता नहीं है।

मूर्ति द्वारा जीवन का विकास होता है, यह कथन सर्वथा असत्य है। क्योंकि चित्र ही यदि जीवन को बदल देने वाले होते तो चित्रकारों तथा चित्र-विक्रेताओं के जीवन अवश्य परिवर्तित या निर्विकारी होते हुए दिखाई देने चाहिएं थे। और वीतरागी जीवन को चित्रित करने वाला

व्यक्ति अवश्य वीतरागता के उच्च शिखर पर पहुंच जाना चाहिए था। पर ऐसा होता नहीं है। अत: मूर्ति को जीवन के सुधार का या उन्नति का कारण नहीं कहा जा सकता।

इसके अलावा, समाचार-पत्रों द्वारा मन्दिरों में, धर्म-स्थानों में चोरी हो जाने के समाचार प्राय: सुनने को मिलते रहते हैं। कहीं भगवान् का मुकुट चुरा लिया जाता है, कहीं जगदम्बा की नथ चुरा ली जाती है। इस प्रकार अनेकों दुर्घटनायें सुनने को मिलती हैं। ऐसी दशा में मूर्ति का सम्पर्क विचारों की पवित्रता का कारण है, यह कैसे माना जा सकता है? मूर्ति विचारों की पवित्रता का कारण होती तो चोर जब मूर्ति का मुकुट चुराने आता है, उसके अन्य आभूषण चुरा कर ले जाता है तो उस समय उसके विचारों में पवित्रता क्यों नहीं उत्पन्न हो पाती? क्यों भगवान् और भगवती जगदम्बा उससे अपना आप लुटवा बैठते हैं?

प्रश्न—यदि मूर्ति की पूजा सर्वथा निरुपयोगी है तो फिर मूर्ति बनाने का उद्देश्य क्या है?

उत्तर—स्थानकवासी परम्परा को मूर्ति से कोई विरोध नहीं है। वह तो केवल उसकी पूजा से विरोध रखती है। मूर्ति को हाथ जोड़ना, स्नान कराना, तिलक लगाना, भोग लगाना, शृंगारित करना, पुष्प आदि सामग्री चढ़ाना, तथा भगवान् की भांति उसकी प्रतिष्ठा करना आदि मान्यताओं का विरोध करती है। मूर्ति सर्वथा अनुपयोगी है, उसकी कोई भी उपयोगिता नहीं है, ऐसी धारणा स्थानकवासी परम्परा की नहीं है।

मूर्ति एक कला है। कला जगत में मूर्ति का अपना एक महत्व-पूर्ण स्थान है। जिस गुण या कौशल के कारण किसी वस्तु में उपयोगिता और सुन्दरता आती है, उसकी कला संज्ञा है। कला के दो प्रकार हैं—एक उपयोगी कला, दूसरी ललित कला। उपयोगी कला में बढ़ई, लुहार, सुनार, कुम्हार, राज, जुलाहे आदि के व्यवसाय सम्मिलित हैं। इसके द्वारा मनुष्य की शारीरिक आवश्यकताएं पूर्ण होती हैं। ललित कला के अन्तर्गत वास्तुकला, मूर्तिकला, चित्रकला, संगीत कला और काव्य कला ये पांच कलाएं आती हैं। वास्तुकला का आधार पत्थर, लोहा, लकड़ी आदि हैं, जिससे इमारतें बनाई जाती हैं। चित्रकला का आधार कपड़ा, कागज, लकड़ी का चित्रपट है, जिस पर चित्रकार अपने ब्रुश या कलम की सहायता से भिन्न-भिन्न पदार्थों या जीव-धारियों के प्राकृतिक रूप-रंग और आकार आदि को अभिव्यक्त करता है। संगीत कला का आधार नाद है, जिसको या तो मनुष्य अपने कण्ठ से या कई प्रकार के यन्त्रों द्वारा उत्पन्न करता है। काव्य कला शाब्दिक संकेतों के आधार पर अपना अस्तित्त्व प्रदर्शित करती है। रही मूर्ति कला की बात, इसे नीचे की पंक्तियों में समझिये—

मूर्तिकला में मूल आधार पत्थर, धातु, मिट्टी या लकड़ी आदि के टुकड़े होते हैं, जिन्हें मूर्तिकार कांट, छांट या ढाल कर अपने अभीष्ट आकार में परिणत करता है। मूर्तिकार की छैनी में असली सजीव या निर्जीव पदार्थ के सब गुण अन्तर्निहित होते हैं। वह सब कुछ अर्थात् रंगरूप, आकार आदि प्रदर्शित कर सकता है। केवल गति देना उसके सामर्थ्य से बाहर होता है। जब तक कि वह किसी कल या पुर्जे का आवश्यक प्रयोग न करे। परन्तु ऐसा करना उसकी कला की सीमा से बाहर है। उसमें मानसिक भावों का प्रदर्शन वास्तुकार (मकान आदि बनाने वाले) की कृति की अपेक्षा अधिकता से हो सकता है। मूर्तिकार अपने प्रस्तरखण्ड या धातुखण्ड में जीव-धारियों की प्रतिच्छाया बड़ी सुगमता से संघटित कर सकता है। यही कारण है कि मूर्तिकला का मुख्य उद्देश्य शारीरिक या प्राकृतिक सुन्दरता को प्रकाशित करना है।[1]

यदि मूर्ति के मूल इतिहास को टटोलने लगें तो पता चलेगा कि पहले-पहले मूर्ति के निर्माण में एक यही उद्देश्य होता था। किन्तु समय ने ऐसा चक्र चलाया कि उसमें अनेकों विकार आ गए और मूर्ति के पीछे जो मूल भावनाएं थीं, वे समाप्त हो गईं, तथा जड़त्व को समाप्त करके उसमें भगवान् की कल्पना कर ली गई। भगवान् की भांति उस जड़-खण्ड की भी आराधना और उपासना होने लगी। उसको सीस झुकाना, स्नान कराना, तिलक लगाना, उस पर पुष्पों की वर्षा करना, चावल आदि चढ़ाना, दीप और धूप जलाना, और न जाने क्या-क्या सामग्री मूर्तिदेव के चरणों में अर्पित की जाने लगी। मूर्ति के पीछे यह जो व्यर्थ का हिंसापूर्ण आडम्बर लगा दिया गया है, इसी ने मूर्ति के मूल उद्देश्यों की हत्या कर दी है। फलतः मूर्ति-पूजा के विरोध ने जन्म लिया और मूर्ति-पूजा को हिंसा-कृत्य तथा व्यर्थ का आडम्बर बताकर जन-मानस को अन्धकार से निकालने के लिए उसके निषेध का प्रचार होने लगा। ऐसा होना आवश्यक भी था, अन्यथा हिंसा और आडम्बर जनमानस पर सदा के लिए छा जाते।

प्रश्न—आजकल खुदाई में तीर्थंकर देवों की हजारों वर्ष पुरानी मूर्तियां निकलती हैं, यदि मूर्ति-पूजा अर्वाचीन होती तो हजारों वर्ष पुरानी मूर्तियां न निकलतीं? प्राचीन मूर्तियों की प्राप्ति ही इस बात का प्रमाण है कि पहले मूर्ति-पूजा होती थी। फिर मूर्ति-पूजा का निषेध क्यों?

उत्तर—मूर्ति-पूजा के निषेध का यह अर्थ नहीं है कि मूर्तियों का भी निषेध हो गया। मूर्तियों का निर्माण तो हजारों नहीं, लाखों वर्ष पूर्व का है। इस सत्य से कौन इन्कार कर सकता है। 72 कलाओं में से चित्रकला (मूर्ति-कला) भी एक कला है, कला की दृष्टि से मूर्ति का

1. "ललितकला, कलाएं और काव्य" नामक लेख में, डा० श्यामसुन्दर जी।

बड़ा ऊंचा स्थान है और यह भी मनुष्य की प्रतिभा का एक अनुपम चमत्कार है। इसीलिए इसे विशेषरूप से 72 कलाओं में परिगणित किया गया है। 72 कलाएं भी स्वयं भगवान् आदिनाथ ने संसार को सिखाई थीं। अत: मूर्ति की प्राचीनता से कोई मतभेद नहीं है। मतभेद तो मूर्ति-पूजा से है। मूर्ति की पूजा करना, चेतन की भांति जड़ की उपासना करना और उसे स्नान कराना, तिलक लगाना, पुष्पादि चढ़ाना आदि जितनी भी प्रवृत्तियां हैं, इनका अध्यात्मवाद में कोई स्थान नहीं है।

पुरातत्त्व विभाग को खुदाई में जो मूर्तियां उपलब्ध हुई हैं, एवं हो रही हैं या भविष्य में होंगी, उनसे केवल भारत की प्राचीन मूर्तिकला का ही परिचय प्राप्त होता है। भारत के प्राचीन शिल्पी कितने मेधावी और प्रतिभाशाली होते थे, उनके हाथ में कितना विचित्र चमत्कार और अद्भुत आकर्षण रहता था, वे अपनी विचारधारा को मूर्त रूप कैसे और कितनी सफलता के साथ देते थे, आदि सभी बातों की जानकारी प्राप्त होती है। परन्तु इससे मूर्ति-पूजा को प्रमाणित नहीं किया जा सकता। अत: खुदाई में निकल रही प्राचीन मूर्तियों से मूर्ति-पूजा की प्राचीनता समझ लेने की भूल कदापि नहीं करनी चाहिए।

मूर्ति प्राचीन है, इसलिए वह पूज्य समझी जाए या उसकी पूजा करनी चाहिए, यह कोई सिद्धान्त नहीं बन सकता। क्योंकि प्राचीन तो बहुत-सी वस्तुएं मिल सकती हैं, तो क्या सभी की पूजा की जानी चाहिए? खुदाई में तो नानाविध बरतन भी निकलते हैं, अस्थियां भी निकलती हैं, तथा अन्य अनेकों पदार्थ भी निकलते हैं, पर इसका यह अर्थ तो कभी नहीं हो सकता कि वे प्राचीन हैं, इसलिए उनकी पूजा अवश्य होनी चाहिए। जैसे बरतन, अस्थियां आदि पदार्थ पूज्य नहीं माने जा सकते, बिल्कुल वैसी ही स्थिति मूर्तियों की भी है, मूर्तियों को प्राचीन समझ कर उनकी पूजा नहीं की जा सकती।

प्रश्न–शास्त्रों[1] में साधु को चित्रित दीवार देखने का निषेध क्यों किया गया है?

उत्तर–साधु यदि चित्रों के देखने में व्यस्त रहेगा तो उसके ज्ञान-ध्यान में विघ्न पड़ेगा। साधु को ज्ञान, ध्यान, स्वाध्याय, तप, संयम आदि अनुष्ठानों में व्यस्त रहना होता है तथा जन-मानस को सत्य, अहिंसा का उपदेशामृत पिलाना होता है। किन्तु चित्रों के देखने में लगे रहने से समय का दुरुपयोग होगा, और ज्ञान-ध्यान में भी विघ्न उपस्थित होगा, इसलिए शास्त्रों में साधु को चित्रित मकान में ठहरने या चित्रित दीवारों को देखने का निषेध किया गया है।

---

1. चित्तभित्तिं न निज्झाए" –दशवैकालिक अ० 9/55.

प्रश्न–स्थानकवासी लोगों के घरों में साधु-मुनिराजों के चित्र प्राय: देखने में आते हैं। उनको वदंन करना चाहिए या नहीं? यदि नहीं तो वे क्यों लगाए जाते हैं?

उत्तर–पूर्व में कहा जा चुका है कि मूर्ति का कला की दृष्टि से बड़ा महत्त्वपूर्ण स्थान है। तथा ऐतिहासिक दृष्टि से यदि उसको देखा जाए तो उस से बड़ा लाभ होता है, किन्तु उसको वंदन करना या उसकी पूजा करना किसी तरह भी ठीक नहीं है। मूर्ति भगवान् महावीर की हो, आचार्यश्री, उपाध्यायश्री, गुरुदेवश्री या अन्य किसी मुनिराज की हो, कोई भी मूर्ति क्यों न हो, मूर्त्ति के निमित्त से उनमें रही चेतना को स्मरण करना उनमें रही शुद्धात्मा को स्मरण करने में दोष नहीं है।

रही बात मूर्ति लगाने की, इसके सम्बन्ध में इतना ही कहना है कि यदि कोई व्यक्ति परिचय के लिए घरों या दुकानों में चित्र लगाता है, यह हमारे भगवान् महावीर की प्रतिच्छाया है, हमारे आचार्य भगवान् का शारीरिक आकार ऐसा है, या था इत्यादि बातों की जानकारी करने या कराने के लिए चित्रों का प्रयोग करता है और वहां धूप नहीं जलाता, उसका पूजन या स्तवन नहीं करता तो सैद्धान्तिक दृष्टि से चित्रों के लगाने में कोई दोष नहीं है। स्थानकवासी परम्परा का विरोध मूर्ति से नहीं है बल्कि जड़-पूजा से है।

प्रश्न–देवी अथवा देवताओं की मूर्तियों या मढ़ी-मसानी आदि की पूजा व प्रतिष्ठा के सम्बन्ध में स्थानकवासी परम्परा की क्या मान्यता है?

उत्तर–संसार में दो प्रकार की प्रवृत्तियां पाई जाती हैं, प्रथम संसार-मूलक और दूसरी मोक्ष-मूलक। संसार-मूलक प्रवृत्ति सांसारिक जीवन का पोषण करती है जबकि मोक्षमूलक प्रवृत्ति उसका शोषण। सांसारिक प्रवृत्तियों से जन्म-मरण की वृद्धि होती है और अध्यात्म प्रवृत्तियां आत्मा का कल्याण करती हैं, जन्म-मरण की परम्परा से बचा कर आत्मा को उसके वास्तविक स्वरूप में ले आती हैं, उसे परमात्मा बनाती हैं।

जैन धर्म निवृत्ति-प्रधान धर्म है, वह आध्यात्मिकता की प्राप्ति के लिए सर्वतोमुखी प्रेरणा प्रदान करता है। आध्यात्मिक जीवन का अन्तिम लक्ष्य परमसाध्य मोक्ष को प्राप्त करना होता है। संसार की मोह-माया उसके लिए बन्धन रूप होती है। इसीलिए वह उसे अपनी प्रगति में बाधक समझता है। जन्म-मरण की पोषिका कोई भी प्रवृत्ति उसके लिए त्याज्य एवं हेय होती है, सांसारिकता को बढ़ाने वाली सभी चीजों से अध्यात्म-जीवन का कोई लगाव नहीं होता। वह सदा उनसे दूर रहता है। देवी, देवताओं की पूजा, मढ़ी-मसानी आदि की उपासना

सांसारिकता का पोषण करती है, इसीलिए जैन धर्म देवी देवताओं तथा मढ़ी-मसानी आदि की पूजा में कोई विश्वास नहीं रखता और आध्यात्मिक दृष्टि से उसका सर्वथा निषेध करता है। देवी-देवताओं की पूजा सांसारिकता का पोषण किस प्रकार करती है यह नीचे की पंक्तियों से समझ लीजिए!

मढ़ी-मसानी या देवी-देवता की पूजा करने वाला व्यक्ति यही समझ कर पूजा करता है कि इससे मुझे धन की प्राप्ति होगी, मेरा व्यापार चमकेगा, युद्ध में विजय लाभ होगा, मैं शासक बनूंगा, मेरा परिवार सम्पन्न होगा, लड़के की शादी हो जायगी, ऐसी ही अन्य अनेकों लालसाएं होती हैं, इन्हीं के कारण मनुष्य देवी-देवता की पूजा करता है, देवी-देवताओं के मन्दिर में जाकर अलख जगाता है।

धन, जन, परिवार आदि की लालसा मोह को जन्म देती है, या मोह का संवर्धन करती है। मोह से संसार की वृद्धि होती है। संसार की वृद्धि का अर्थ है—जन्म, मरण रूप दुःखों का बढ़ जाना। जन्म-मरण की परम्परा की वृद्धि मुमुक्षु प्राणी को कभी इष्ट नहीं होती। वह तो आत्मा को मोह-माया की बेड़ियों में जकड़ने वाली प्रत्येक प्रवृत्ति से सदा दूर भागता है। कोई भी ऐसा काम नहीं करता जो उसकी आत्मा को मोक्ष से दूर ले जाये। इसीलिए आध्यात्मिक दृष्टि से मढ़ी-मसानी की पूजा मोहरूप एवं मोहवर्धक होने से त्याज्य मानी गई है।

यदि कोई कहे कि मढ़ी-मसानी या देवी-देवता की पूजा से मोक्ष की प्राप्ति होती है या स्वर्ग की उपलब्धि होती है तो यह उसकी भ्रान्ति है। देवी, देवता में ऐसा करने की शक्ति ही नहीं होती। अशक्त से शक्ति की प्रार्थना करने का कुछ अर्थ ही नहीं होता। धनहीन से जैसे कभी धन की प्राप्ति नहीं हो सकती है वैसे ही मोक्ष रूप धन से हीन देवी-देवता से भी मोक्ष की प्राप्ति नहीं हो सकती। दूसरी बात यह कि जब देव, देवरूप से स्वयं ही मुक्ति में नहीं जा सकता, और जब देव को देवायु समाप्त होने पर अनिच्छा से ही भूतल पर आना पड़ता है, तो वह दूसरों को मुक्ति और स्वर्ग कैसे प्रदान कर सकता है?

यह ठीक है कि जो लोग देव को कर्मफल का निमित्त मानकर देवपूजा करने वाले पर मिथ्यात्वी का आरोप लगाते हैं, यह भी ठीक नहीं है। क्योंकि वह सम्यक्त्वी है। पदार्थों के सम्यक् बोध का नाम सम्यक्त्व है, सम्यक्त्व का अभाव अर्थात् सत्य को असत्य, असत्य को सत्य समझने का नाम मिथ्यात्व कहा गया है। पूजा करने वाले व्यक्ति का यह विश्वास है, और उसकी यह मान्यता है कि मैं जो देवपूजा कर रहा हूं, यह धर्म नहीं है, इसका धर्म से कोई सम्बन्ध नहीं है। वह यह भी भलीभांति जानता है कि मैं यह मोहवर्धक काम कर रहा हूं, इससे

मुझे कोई अध्यात्म-लाभ नहीं हो सकता, उसकी अन्तरात्मा सदा विचारती रहती है कि मैं क्या करूं? मैं गृहस्थ हूं, स्वयं जिस काम को संसार-वर्धक मानता हूं, धर्मदृष्टि से जिसे अच्छा नहीं समझता हूं, पर लोक-दिखावे के लिए या अपने ऐहिक स्वार्थों की पूर्ति के लिए ये काम मुझे करने पड़ते हैं। जानता हूं कि वीतराग देव की भक्ति और स्तुति ही संसार सागर से पार करने वाली है, मढ़ी-मसानी, या देवी-देवता की पूजा से आत्मा का पतन होता है, संसार की वृद्धि होती है, तथापि मोहवश मुझे ऐसा करना पड़ रहा है, ऐसा सत्य विश्वास रखने पर भी उसे मिथ्यात्वी या सम्यक्त्वशून्य कैसे कहा व माना जा सकता है?

शास्त्रों के परिशीलन से पता चलता है कि शुभाशुभ कर्म फल की प्राप्ति में अनेकों निमित्त होते हैं। उनमें एक देव भी है।[1] देवनिमित्तता के शास्त्रों में यत्र-तत्र अनेकों उदाहरण मिलते हैं। श्री कल्पसूत्र में लिखा है कि हरिणगमेषी देव ने गर्भस्थ भगवान् महावीर को देवानन्दा की कुक्षि से महारानी त्रिशला के यहां परिवर्तित किया था। अन्तकृद्दशांग सूत्र का कहना है कि देव ने सेठानी सुलसा की सन्तति को माता देवकी के पास, और देवकी की सन्तति को सेठानी सुलसा के यहां पहुंचाया था। श्री ज्ञाताधर्मकथांग सूत्र में लिखा है कि महाराज श्रेणिक के प्रधानमंत्री श्री अभयकुमार के मित्रदेव ने अकाल में मेघ वर्षा कर माता धारिणी का दोहद पूर्ण किया था। भगवान् महावीर का जीवन कहता है कि संगम देव भगवान् महावीर को लगातार छह महीने कष्ट देता रहा। इसके अतिरिक्त अन्य भी ऐसे अनेकों उदाहरण शास्त्रों में उपलब्ध होते हैं, जिन में कर्मफल में देव की निमित्तता सुचारु रूप से प्रकट होती है।

"ऐहिक प्रवृत्तियों में देव बाधक या साधक बन सकता है" यह मान कर तथा "देवपूजा संसार-वर्धिका है" यह समझ कर भी जो व्यक्ति देवी-देवताओं की पूजा करता है, उस व्यक्ति को मिथ्यात्वी नहीं कहना चाहिए। यदि उसको मिथ्यात्वी मान लिया जायेगा तो लगातार तीन उपवास करके देवता का आह्वान करने वाले, सम्यक्त्व के धनी चक्रवर्ती, तीर्थंकर, वासुदेव कृष्ण आदि सभी पूर्व पुरुष मिथ्यात्वी मानने पड़ेंगे। हां, यदि कोई देवी, देवताओं की पूजा को आत्मकल्याण का साधन मानता हो, और मढ़ी-मसानी की उपासना को धर्म समझता हो, तथा उसे मोह-वर्धक न मानता हो तो वह एकान्त मिथ्यात्वी है। फिर उसके मिथ्यात्वी होने में कोई सन्देह नहीं है।

---

1. स्थानांगसूत्र स्थान 5, उद्देशक 2.

प्रश्न–देवपूजा मोहवर्धक होकर सांसारिकता का पोषण करती है तो सम्यक्त्वी का सम्यक्त्व देव-पूजा से खण्डित क्यों नहीं होता?

उत्तर–सत्य को सत्य समझना, और असत्य को असत्य के रूप में देखना, इसका नाम सम्यक्त्व है। सम्यक्त्वी बुराई को बुराई समझता है, और अच्छाई को अच्छाई के रूप में देखता है। जब बुराई को अच्छाई और अच्छाई को बुराई समझ लिया जाता है, तब सम्यक्त्व का घात होता है।

सम्यक्त्व का अर्थ यह नहीं होता कि जीवन में कोई भी भूल न हो। सम्यक्त्वी के जीवन में भी अनेकों दोष रह सकते हैं। सम्यक्त्वी यदि गृहस्थ है, तो हिंसा, असत्य, चौर्य, मैथुन और परिग्रह आदि दोष उसमें पाये जा सकते हैं, पर अन्तर इतना रहता है कि सम्यक्त्वी इन दोषों को दोष ही समझता है, इन कार्यों को जीवन का दूषण मानता है, इसके विपरीत मिथ्यात्वी इनको दोष नहीं समझता, वह इन्हें जीवन का भूषण मानकर चलता है। दूषण को दूषण समझना सम्यक्त्व है, और दूषण को भूषण मानना मिथ्यात्व है।

"देवी देवताओं का पूजन, स्तवन, मोह-माया का संवर्धक है" यह ज्ञान रखता हुआ सम्यक्त्वी यदि देवपूजन करता है, तो समझना चाहिए कि सम्यक्त्वी के पास अभी सम्यक् विश्वास ही है, पर अभी वह तदनुसार आचरणशील नहीं बन सका। यह सत्य है कि सम्यक्त्व जब आचरण का स्थान ले लेता है तभी वह निर्वाण का कारण बनता है, अन्यथा नहीं।

प्रश्न हो सकता है कि जो सम्यक्त्व आचरण का स्थान नहीं ले पाता, उसका जीवन में क्या फायदा है? इसका उत्तर यह है कि सम्यक्त्व का यह फायदा होता है कि सम्यक्त्वी संसार-वर्धक कार्यों को हेय समझता है। उनको दु:खों का उत्पादक जानता है और उनको छोड़ने का प्रयत्न करता है। यदि करता भी है तो विवशता से करता है और धीरे-धीरे उनसे भी अलग रहने का प्रयास करता रहता है, किन्तु सम्यक्त्व-विहीन मनुष्य बुराई को बुराई नहीं समझता है और कभी उस बुराई को छोड़ने का प्रयास भी नहीं करता है, सदा उसमें संलग्न रहता है। संक्षेप में कहा जाये तो सम्यक्त्वी का सुधार संभव है, किन्तु मिथ्यात्वी का सर्वथा असंभव।

❑ ❑ ❑

सत्रहवां अध्याय

जैनधर्म और विश्व समस्याएं

प्रश्न—जैनधर्म विश्व के निर्माण एवं कल्याण के लिए कैसे सहकारी बन सकता है? विश्व की समस्याओं को समाहित करने में इसकी क्या उपयोगिता है?

उत्तर—जैनधर्म विश्वकल्याण का प्रतीक बनकर ही संसार के सन्मुख उपस्थित होता है, और विश्व की समस्याओं को समाहित करने में इसकी अत्यन्त उपयोगिता तथा उपदेयता है। वह कैसे है, इसे समझने से पूर्व धर्म की उपयोगिता को समझ लीजिए!

धर्म की सृष्टि व्यक्ति के उत्थान और कल्याण के लिए ही हुई है। इसका कारण स्पष्ट है कि व्यक्ति परिवार, समाज, राष्ट्र और विश्व से कोई अलग वस्तु नहीं है। व्यक्तियों का समूह परिवार है, परिवारों का समूह समाज है, समाजों का समूह राष्ट्र और राष्ट्रों का समूह ही विश्व के नाम से पुकारा जाता है। अत: आज जिन्हें विश्व की समस्याएं कहा जाता है, वास्तव में उन्हें विश्व में बसने वाले व्यक्तियों की ही समस्याएं समझना चाहिए। यह सत्य है कि व्यक्ति एक इकाई है, किन्तु अनेक इकाइयां मिलकर ही दहाई, सैंकड़ा, हजार आदि संख्याएं बनती हैं। अत: व्यक्ति के उत्थान के लिए जन्मा हुआ धर्म जब किसी खास व्यक्ति के अभ्युत्थान का कारण न बनकर व्यक्ति मात्र के अभ्युत्थान का कारण बनता है, तब वह विश्व के भी उत्थान का कारण बन सकता है। इसके विपरीत जो धर्म व्यक्ति की समस्याओं को समाहित नहीं कर पाता उससे विश्व की समस्याए समाहित हो सकेंगी, ऐसा नहीं कहा जा सकता। इसलिए जैनधर्म का विश्वास है कि धर्म का प्रादुर्भाव व्यक्ति के कल्याण के लिए हुआ है, और उससे जब समष्टि का कल्याण होता है, तब विश्व की समस्याएं अपने-आप समाहित हो जाती हैं।

वर्तमान युग को हम अशान्ति का युग कह सकते हैं। आज संसार के सभी देशों तथा प्रदेशों की स्थितियों पर दृष्टिपात करने से यह ज्ञात होता है कि आज कोई भी ऐसा राष्ट्र नहीं है, जिसमें किसी न किसी प्रकार की अशान्ति न हो। सभी देश चिन्ता और भय से ग्रस्त हो रहे हैं। छोटे-बड़े सभी लोग दु:खों के प्रहारों से आहत हैं। कहीं अन्न की समस्या है तो कहीं वस्त्र

की। कहीं राजनैतिक समस्याएं उलझ रही हैं तो कहीं साम्प्रदायिक समस्याएं देश की शान्ति को नष्ट कर रही हैं। कहीं भाषा का मोह उपद्रव मचा रहा है तो कहीं प्रान्तीयता की भावना भूचाल ला रही है। इस प्रकार सारा संसार दु:खों की भट्टी में जल रहा है।

दु:खों की इस आग को शान्त करने के लिए प्रत्येक राष्ट्र प्रयत्नशील है। बड़ी-बड़ी विस्तृत अर्थसाध्य योजनाएं बनाई जा रही हैं। शस्त्र-अस्त्रों के बनाने के लिए फैक्टरियां खोली जा रही हैं। परमाणु बम, हाईड्रोजन बम तथा नाइट्रोजन आदि विविध बम तैयार किये जा रहे हैं। इसके अलावा, अन्य अनेकविध नर-संहारक गैसें भी बनाई जा रही हैं, तथा हजारों मील ऊंचे आकाश में उड़ने वाले रॉकेट तैयार किये गये हैं। ये वे शान्ति के साधन हैं जो प्रकाश में आ चुके हैं। परोक्ष में न जाने कितने जहरीले शस्त्र बनाये गये हैं या बनाए जा रहे हैं। इन साधनों से आशा की जा रही है कि विश्व में शान्ति की स्थापना होगी। विश्व की समस्त समस्याएं समाहित की जाएंगी। मानव का भविष्य सुरक्षित, निरापद बन सकेगा। अधिक क्या, समझा जा रहा है कि इस सामग्री द्वारा स्वर्ग को भूतल पर लाकर रख दिया जाएगा।

आज के वैज्ञानिक कुछ भी समझते रहें और कुछ भी कहते रहें किन्तु यह दृढ़ता के साथ कहा जा सकता है कि विज्ञानजन्य युद्ध-सामग्री चाहे कितनी भी जुटा ली जाए, और चाहे कितने भी बम तैयार कर लिए जाएं पर इससे संसार में शान्ति स्थापित नहीं हो सकती। ये युद्ध-साधन विश्व की समस्याओं को कभी समाहित नहीं कर सकते। मकान की नींव में पानी डालकर उसकी दृढ़ता के स्वप्न देखने से क्या मकान की नींव दृढ़ हो सकती है? क्या आग से आग को शान्त किया जा सकता है? यदि गंभीरता से विचार किया जाए तो यह मानना पड़ेगा कि आज का मानव धधकते अंगारों को चमकता हुआ हीरा समझ बैठा है। आक के बीज बोकर आम्रफल खाना चाहता है, खून से सने वस्त्र को खून से शुद्ध करना चाहता है और हिंसा की आग से विश्व के उद्यान को हरा-भरा देखना चाहता है। पर यह उसकी भूल है। विश्व में शस्त्रों, अस्त्रों से शान्ति स्थापित नहीं की जा सकती। बड़े-बड़े बम भी विश्व की समस्याओं को समाप्त नहीं कर सकते। इन हिंसापूर्ण साधनों द्वारा विश्व में अमन स्थापित करने का विचार स्वप्न ही समझना चाहिए। यह सत्यता तथा यथार्थता का रूप कभी नहीं ले सकता।

विश्व की समस्याओं का समाधान न युद्ध से हो सकता है, और न युद्धजनक शस्त्र-अस्त्रों का निर्माण करके संसार को भयभीत करने से। विश्व की समस्याओं का समाधान जब कभी होगा तो वह केवल जैनधर्म के निर्दिष्ट अहिंसा के महापथ पर चलने से ही होगा। अहिंसा ही संसार में शान्ति की स्थापना कर सकती है और अहिंसा ही स्वार्थ की भावना को मिटाकर

विश्व में भ्रातृ-भावना का प्रसार कर सकती है। किसी के साथ बुरी भावना या द्वेषभाव न रखकर सभी के साथ प्रेम और मित्रता का व्यवहार करना अहिंसा है। अहिंसा कहती है कि विश्व के सभी प्राणी जीवित रहना चाहते हैं, मरना कोई नहीं चाहता, दु:ख, वेदना सभी को अप्रिय है। इसलिए किसी जीव को दु:ख नहीं देना चाहिए। दूसरों को सता कर प्राप्त किया गया सुख, सच्चा सुख नहीं हो सकता। इसके अलावा, कोई व्यक्ति यदि अपने सुख के लिए किसी को सताता है तो यह स्वाभाविक ही है कि दूसरा व्यक्ति भी समय पाकर पहले व्यक्ति को सताएगा। इस प्रकार यदि दूसरों को सता कर सुख प्राप्त करने का सिद्धान्त अपना लिया जाए तो एक दिन सभी जीव दु:खी हो जाएंगे। ढूंढ़ने पर भी संसार में कोई सुखी नहीं मिल सकेगा। अत: किसी का अनिष्ट नहीं करना चाहिए।

किसी भी कार्य को करने से पहले यह विचार कर लेना चाहिए कि मेरे इस कार्य से किसी को हानि तो नहीं पहुंचती, किसी का जीवन स्वाहा तो नहीं होता, यदि ऐसा होता हो तो उस कार्य को नहीं करना चाहिए। क्योंकि तुम यदि किसी के हित की चिन्ता करते हो, उसे सुरक्षित रखते हो, तो तुम्हारा हित भी दूसरों द्वारा सुरक्षित रह सकेगा। वस्तुत: "सुखी रहें सब जीव जगत के, कोई कभी न घबरावे" की मंगल कामना ही मानव-जगत को आधि, व्याधि और उपाधि जन्य दु:खों से मुक्त कर सकती है और यही भावना परिवार, समाज और राष्ट्र के संघर्षों का अन्त करके विश्व की समस्त समस्याओं को समाहित कर सकती है।

अहिंसा-सिद्धान्त ही विश्व में शान्ति की स्थापना कर सकता है, इस सत्य को प्रमाणित करने के लिए किसी प्राचीन इतिहास को टटोलने की आवश्यकता नहीं है। वर्तमान का इतिहास ही अहिंसा की महत्ता, विश्व की समस्याओं को समाहित करने में उसकी क्षमता को प्रकट करने में पर्याप्त है। कोरिया का युद्ध जो विश्वयुद्ध की भूमिका बनता जा रहा था, वह शान्त किसने किया था? अमेरिका के परमाणु बम, रूस और चीन की प्रचण्ड सैन्य-शक्ति जिस युद्ध की आग को शान्त नहीं कर पाई थी, उस आग पर किसने पानी डाला था? एक कण्ठ से नहीं, हजारों कण्ठों से यही कहना होगा कि अहिंसा ने। कोरिया के मैदानों में शान्ति तथा अमन का ध्वज अहिंसा ने लहराया था। इतिहास बताता है कि जब भी कहीं सेना भेजी जाती रही है तो वह केवल शत्रुओं का दमन करने के लिए या अपनी महत्ता का विकास करने के लिए, किन्तु केवल विश्वबन्धुत्व और शान्ति स्थापित करने के लिए आज तक कोई भी सेना किसी भी राष्ट्र की ओर से नहीं भेजी गई। अहिंसा के अग्रदूत भारतवर्ष ने कोरिया में अपनी सेनाएं भेजकर अपना राष्ट्रीय कर्त्तव्य पालन करने के साथ-साथ अहिंसा की सार्वभौमिकता

तथा विश्व-समस्याओं को समाहित करने में उसकी क्षमता को सिद्ध करने का बहुत उत्तम प्रयास किया है।

अहिंसा-सिद्धान्त विश्व को सर्वतोमुखी अभ्युदय और शान्ति का विश्वास प्रदान करता है। इतिहास इस बात का गवाह है कि जैन नरेश चन्द्रगुप्त मौर्य के शासन में प्रजा का जीवन बड़ा शान्तिपूर्ण और पवित्र था। वैर-विरोध, ईर्ष्या-द्वेष तथा हिंसा, असत्य आदि पापों से प्रजा प्राय: दूर रहती थी, वह उन्नति और समृद्धि के शिखर पर विराजमान थी। वर्तमान युग में भी अहिंसा के महाप्रकाश में जो लोग अपना जीवन व्यतीत करते हैं, वे अन्य समाजों की अपेक्षा अधिक समृद्ध और सुखी नजर आते हैं। यह बात भारत सरकार के रिकार्ड में भली भांति देखी जा सकती है, जिसके आधार पर एक बार एक उच्च राष्ट्रीय राजकर्मचारी ने कहा था कि "फौजदारी अपराध करने वालों में जैनों की संख्या प्राय: शून्य है। जैनों का परम आराध्य धर्म अहिंसा है। जैनों में फौजदारी की वृत्ति की न्यूनता का कारण उनकी अहिंसकता ही है।"

आज स्वार्थ-परायणता ने मानव पर अपना अखण्ड साम्राज्य स्थापित कर लिया है। स्वार्थ-साधना के लिए आज का मनुष्य उचित, अनुचित, कर्तव्य, अकर्तव्य का कोई विचार नहीं करता। स्वार्थ की पूर्ति होनी चाहिए, उसके लिए अनैतिकता का नग्न नृत्य भी क्यों न करना पड़े। "हम ही आगे रहें, दूसरा चाहे कहीं जावे।" इस स्वार्थपूर्ण दृष्टि को आगे रखकर बड़े ऊंचे-ऊंचे सिद्धान्तों की घोषणा की जाती है। जिस प्रकार पंचतंत्र का बूढ़ा बाघ अपने आप को बड़ा भारी अहिंसाव्रती बताकर प्रत्येक पथिक से कहा करता था- **"इदं सुवर्ण-कंकणं गृह्यताम्।"** और जिस प्रकार एक गरीब ब्राह्मण उस बाघ के चक्र में आकर प्राणों से हाथ धो बैठा था वैसे ही उच्च सिद्धान्तों की घोषणा करने वाले लोगों के फन्दे में लोग फंस जाते हैं और नाना प्रकार के असह्य दु:खों का उपभोग करते हैं। आश्रितों का शोषण, अपनी श्रेष्ठता का अहंकार, दूसरों से घृणा और प्रतिहिंसा की तीव्र भावना ही आज प्राय: वाचनिक आश्वासन का स्थान ले चुकी हैं। इसका कारण केवल स्वार्थपरायणता है। वस्तुत: स्वार्थ की अवस्थिति में मनुष्य बड़े से बड़ा पाप करने को सन्नद्ध हो जाता है। हीरोशिमा द्वीप के नर-संहार को कौन नहीं जानता? अमेरिका ने वहां अणुबम गिराकर लाखों जापानियों को स्वाहा कर दिया था। अपने स्वार्थ के लिये अन्य देश अथवा राष्ट्र के बच्चे, महिलाओं आदि के जीवन का कोई भी मूल्य नहीं रहता। वे क्षण भर में मौत के घाट उतार दिए जाते हैं। जहां तक ऊपर की चर्चा का सम्बन्ध है, वहां तक तो प्रत्येक राष्ट्र मानवता, करुणा, विश्वप्रेम की ऐसी मोहक बातों की चर्चा करता है, और अपने कामों में इतनी नैतिकता दिखाता है कि नीति-विज्ञान के आचार्य

भी चकित रह जाते हैं, किन्तु जब आचरण का प्रश्न आता है तो सब अपना-अपना स्वार्थ साधते हैं। मानवता और विश्व-प्रेम की भावना न जाने कहां छिपं जाती है। रामायण में वर्णित बकराज ने पम्पासरोवर के निकट मर्यादा पुरुषोत्तम भगवान् राम जैसे युगपुरुष को भी चरित्र के बारे में भ्रांत बना दिया था और वे इसे धार्मिक समझने लगे थे। पीछे उनका भ्रम भी दूर हो गया था। आज के स्वार्थप्रिय लोग रामायण के बकराज की भांति मानव जगत को भ्रान्त कर रहे हैं। नैतिकता की चर्चा में अपने को बड़े प्रामाणिक और सर्वथा दूध धोए प्रकट करते हैं, किन्तु जब आचरण की घड़ी आती है तो बकराज की भांति मछलियों को हड़प कर जाते हैं, अपने स्वार्थ की पूर्ति के लिए मानवता की अर्थी निकाल देते हैं। महाकवि अकबर ने ठीक ही कहा है-

इल्मी तरक्कियों से जबां तो चमक गई।
लेकिन अमल हैं इनके, फरेबो दगा के साथ॥

आज का युग यंत्रों का युग है। यंत्रों का आश्रय पाकर खाद्य वस्तुएं पहले की अपेक्षा आज अधिक परिमाण में उत्पन्न की जा रही हैं। अन्नोत्पादन खूब प्रगति कर रहा है, ट्रैक्टरों द्वारा कृषि-कर्म को प्रत्येक दृष्टि से समुन्नत किया जा रहा है। तथापि आज मानव रोटी की समस्या का समाधान नहीं कर पाया। अन्नाभाव के कारण अन्न की स्वल्पता से आज अनेकों राष्ट्र व्याकुल हैं । हजारों जीवन अन्न न मिलने के कारण मृत्यु का ग्रास बन रहे हैं। यह सब कुछ क्यों हो रहा है? गंभीरता के साथ विचार करेंगे तो इसमें स्वार्थमय वृत्तियों का ही प्रभुत्व मिलेगा। लाखों टन गेहूं तथा अन्य बहुमूल्य खाद्य सामग्री इसलिए जला दी जाती है, या नष्ट कर दी जाती है कि बाजार का निर्धारित भाव नीचे न जाने पावे और उससे जो लाभ होता है, वह सुरक्षित बना रहे। विदेशों की बात जाने दीजिए। बंगाल सरकार ने लाखों बंगालियों को दाने के कण-कण के लिए तरसाया, उन्हें मृत्यु की भेंट हो जाने दिया, किन्तु सरकारी धान्य- राशि को हवा तक नहीं लगने दी, हजारों मन धान्य सड़ कर नष्ट हो गया, पर प्रजा के हितार्थ उसका उपयोग नहीं किया गया। क्या किया जाए? आज की राजनीति की चाल ही ऐसी विचित्र है कि कुछ कहते नहीं बनता, उसके आगे स्वार्थपोषण के अलावा अन्य जनहितसाधक तथा नैतिक तत्वों का कोई मूल्य नहीं है। इसीलिए जैनधर्म कहता है कि जब तक स्वार्थपरायणता का बहिष्कार नहीं होता और अहिंसा भगवती का सत्कार नहीं होता तब तक अन्नादि समस्याओं का समाधान नहीं हो सकता। जैन-धर्म का विश्वास है कि **"आत्मवत् सर्वभूतेषु"** की मंगलमय कामना का यदि प्रत्येक जनमानस में स्त्रोत प्रवाहित होने लग जाए तो संसार में दुःख ढूंढ़ने पर भी न मिले और विश्व की सभी समस्याएं एकदम सुलझ जाएं।

अहिंसा-सिद्धान्त विश्व की प्रत्येक समस्या का समाधान करता है, इसके शासन में कोई भी समस्या असमाहित नहीं रहने पाती। अहिंसा के शासन में युद्ध-भावना तो जीवन का सदा के लिए साथ छोड़ देती है। मानव सच्चा मानव बन जाता है, उसे सभी हिंसक प्रवृत्तियों से घृणा हो जाती है, उसका हृदय सदा दया और करुणा से छलछला उठता है। सम्राट् अशोक को कौन नहीं जानता? सम्राट अशोक ने अपनी कलिंग-विजय में जब लाख से ऊपर मनुष्यों की मृत्यु का भीषण दृश्य देखा तो उसकी अन्तरात्मा तिलमिला उठी, उसमें अहिंसा के महा प्रकाश का उदय हुआ। जब से अशोक के मन-मन्दिर में अहिंसा भगवती ने आसन जमाया, तभी से उन्होंने जगत भर में अहिंसा, प्रेम, सेवा आदि के उज्ज्वल भाव उत्पन्न करने में अपना और अपने विशाल साम्राज्य की शक्ति का उपयोग किया। किन्तु आज की बात निराली ही है। हीरोशिमा द्वीप में लाखों जापानियों को मौत के घाट उतार कर भी अमेरिका की आंखों का खून नहीं उतरा और न वहां पश्चात्ताप का ही उदय हुआ है। पश्चात्ताप हो भी क्यों? हिंसा के प्रति पश्चात्ताप अहिंसक को ही हो सकता है। अहिंसा भगवती के चरणों की सेवा किए बिना पश्चात्ताप की भावना पैदा नहीं हो सकती। अहिंसक मानस ही किसी दु:खी को देखकर करुणा के आंसू बहा सकता है और हिंसक वृत्तियों के लिए पश्चात्ताप कर सकता है, स्वार्थी और अपने अहं में घिरा रहने वाला व्यक्ति दूसरे की वेदना की परवाह नहीं करता?

लोग सिंह और बाघ जैसे पशुओं को क्रूर कहते हैं, परन्तु वस्तु-स्थिति ऐसी नहीं है। मानव की क्रूरता पशुओं से बहुत बढ़ी चढ़ी है। मानव की क्रूरता के सामने पशुओं की क्रूरता किसी गिनती में नहीं है। युद्धों में होने वाले हजारों-लाखों मनुष्यों के संहार के समक्ष पशुओं द्वारा की गई हिंसा कुछ भी नहीं है। पशुओं की क्रूरता अपनी खुराक तक सीमित रहती है, परन्तु मनुष्य तो भोजन के सिवाय अन्य कई विलासप्रिय साधनों के लिए तथा अपनी महत्त्वाकांक्षाओं की पूर्ति के निमित्त क्रूरता का ताण्डव नृत्य करता रहता है। मनुष्य ने पशुओं को अधिक संख्या में मारा है या पशुओं ने मनुष्य को अधिक तादाद में मारा है? इसका यदि हम विचार करने लगें तो यह सहज की प्रतीत हो जाएगा कि पशुओं ने जितने मनुष्य मारे होंगे उनसे सैकड़ों-लाखों गुणा अधिक पशुओं को मनुष्य ने मारा होगा। इससे बढ़कर मनुष्य की स्वार्थप्रियता और अज्ञानता का कौन-सा उदाहरण उपस्थित किया जा सकता है?

विश्व में यदि अहिंसा का प्रसार हो जाए और प्रत्येक राष्ट्र अहिंसक भावनाओं को अपना ले तो यह दृढ़ता के साथ कहा जा सकता है कि विश्व में शान्ति स्थापित होने में कुछ भी देर न लगे। वस्तुत: भावना के परिवर्तन की ही आवश्यकता है। हिंसक भावना को छोड़कर यदि

अहिंसक भावना का निर्माण कर लिया जाए तो हिंसाजनक साधन भी हिंसक नहीं रहने पाते, उनका सदुपयोग होने से वे अहिंसकता का ही रूप ले सकते हैं। पिछले दो सौ वर्षों में विज्ञान ने खूब उन्नति की है, उसने ऐसे-ऐसे यंत्र प्रदान किए हैं, जो विश्व का संरक्षण और संहार, दोनों ही कार्य कर सकते हैं। यदि उनका अच्छा उपयोग किया जाए तो उससे विश्व का संरक्षण और यदि उनका बुरा उपयोग किया जाए तो उससे विश्व का संहार भी हो सकता है। वास्तव में वस्तु का लाभ और अलाभ उसके सद् और असद् उपयोग पर निर्भर हुआ करता है। विद्या जैसी उत्तम वस्तु भी दुर्जन के हाथ में जाकर ज्ञान के स्थान में विवाद को जन्म दे देती है। धन को पाकर दुर्जन अभिमानी हो जाता है, किन्तु सज्जन उससे परोपकार करता है। शक्ति पाकर एक व्यक्ति दूसरे को सताता है और दूसरा उसी से आततायियों के हाथों से पीड़ितों की रक्षा करता है। विज्ञान-जनित यंत्र भी एक प्रकार की शक्ति है, यदि देश, जाति के उत्थान तथा निर्माण के लिए उसका उपयोग किया जाए तो वह मनुष्यता के लिए वरदान प्रमाणित हो सकती है। किन्तु यह सब कुछ अहिंसा की छाया तले बैठकर ही हो सकता है।

आज विज्ञान ने दूरी का अन्त कर दिया है, एक दूसरे को एक दूसरे के निकट लाकर खड़ा कर दिया है। विश्व की विभिन्न जातियों और राष्ट्रों को इतना समीप ला दिया है कि वे यदि परस्पर संबद्ध होकर रहना चाहें तो एक सूत्र में बद्ध होकर रह सकते हैं। संगठन के अनेक नए साधन आज के विज्ञान ने प्रस्तुत किए हैं, किन्तु आज उनका उपयोग संगठन के लिए हो रहा है, या विघटन के लिए, यह स्वयं सोचा जा सकता है। जंगल में शिकार की खोज में भटकने वाला व्याघ्र अपने नुकीले पंजों, अपने पैने दांतों का जैसा उपयोग अपने शिकार के साथ करता है वैज्ञानिक साधनों का वैसा ही उपयोग करते दिखलाई देते है। फलतः युद्धों की सृष्टि होती है और राष्ट्रों का धन तथा जनबल उनकी भेंट चढ़ा दिया जाता है। स्वार्थ की उपशान्ति किए बिना इन युद्धों को उपशान्त नहीं किया जा सकता। स्वार्थ-शमन केवल अहिंसा के आश्रयण और आसेवन से ही हो सकता है। अहिंसा के औषध बिना इस महारोग का अन्य कोई प्रतिकार नहीं है।

अहिंसा की उपयोगिता और उपादेयता का आज अनुभव किया जाने लगा है। युद्ध के महाविनाश ने युद्ध करने वालों को भी भयभीत कर दिया है और अहिंसा-तत्व पर विचार करने के लिए उन्हें भी विवश कर दिया है। अब लोग यह सोचने लग गये हैं कि अहिंसा को छोड़कर हम शान्ति पा नहीं सकते। अब सब चाहते हैं कि युद्ध न हों, किन्तु युद्ध के जो कारण हैं उन्हें कोई नहीं छोड़ता। सर्वत्र राजनैतिक और आर्थिक संघटनों में पारस्परिक अविश्वास और

प्रतिहिंसा की भावना छिपी हुई है। दूसरों को बेवकूफ बनाकर अपना कार्य साधना ही सबका मूल मंत्र बना हुआ है। राष्ट्रों और जातियों के बीच में आज हिंसामूलक व्यवहार का प्राधान्य है। स्वार्थपरता, बेईमानी, धोखेबाजी ये सब हिंसा के ही रूपान्तर हैं। इनके रहते हुए प्रीति और मैत्री नहीं हो सकती। प्रीति और मैत्री की संस्थापना तो "जीओ और जीने दो" का सर्वोत्तम सिद्धान्त ही कर सकता है। जब तक विभिन्न जातियां और देश इस सिद्धान्त को नहीं अपनाते, तब तक विश्व की समस्याएं नहीं सुलझ सकतीं, बल्कि उनमें और अधिक टकराव होगा। अत: विश्व की समस्याओं को सुलझाने के लिए राष्ट्रों की शासन-प्रणाली में आमूल परिवर्तन होना चाहिए।

सामाजिक तथा आर्थिक व्यवस्थाओं में संशोधन होना चाहिए। किन्तु यह परिवर्तन और संशोधन अहिंसा-सिद्धान्त को जीवन-पथ के रूप में अपना कर किया जाना चाहिए।। अहिंसा की भावना के नेतृत्व के बिना किया गया कोई भी काम धीरे-धीरे हिंसा की ओर अग्रसर होता चला जाता है, अत: जो कुछ भी हो वह अहिंसा के नेतृत्व में ही हो। पर इसके साथ-साथ इस बात का भी सदा ध्यान रखना होगा कि बल प्रयोग के आधार पर मानवीय सम्बन्धों की भित्ति कभी खड़ी नहीं की जा सकती। कौटुम्बिक और सामाजिक जीवन के निर्माण में बहुत अंशों तक सहानुभूति, दया, प्रेम तथा सौहार्द की नितान्त आवश्यकता रहती है।

आज जिन देशों में प्रजातंत्र है, उन देशों में यद्यपि अपनी-अपनी जनता के सुख-दु:ख का पूरा-पूरा ध्यान रखा जाता है, किन्तु दूसरे देशों की जनता के साथ वैसा उत्तम व्यवहार नहीं किया जाता। बातें तो बहुत सात्त्विक और तत्त्वनिर्माण की की जाती हैं, परन्तु व्यवहार उनसे बिल्कुल उलटा किया जाता है। दूसरे देशों पर अपना स्वत्त्व बनाए रखने के लिए राजनैतिक गुटबंदियां की जाती हैं, उनके विरुद्ध प्रचार करने के लिए लाखों रुपया स्वाहा किया जाता है, और इस पर भी यह कहा जाता है कि हम उनकी भलाई के लिए उन पर शासन कर रहे हैं। शासनतंत्र के द्वारा अपना अधिकार जमा कर उन देशों के धन और जनबल का मनमाना उपयोग किया जाता है। यह सब हिंसा नहीं तो और क्या है? यदि राष्ट्रों का निर्माण अहिंसा के आधार पर किया जाए और हिंसक व्यवहार को कोई स्थान न दिया जाए तो राष्ट्रों में पारस्परिक अविश्वास और प्रतिहिंसा की भावना देखने को भी न मिले। समस्त राष्ट्रों का एक विश्वसंघ हो, जिस में समस्त राष्ट्र, समाज भ्रातृभाव के आधार पर एक कुटुम्ब के रूप में सम्मिलित हों, न कोई किसी का शासक हो और न कोई शास्य हो। सब के सब सुख-दु:ख का बराबर ध्यान रखें। सब के साथ सब का मैत्रीभाव हो, इस तरह 'वसुधैव कुटुम्बकम्' के पवित्र और

अहिंसक सिद्धान्त को चरितार्थ करके यदि सब राष्ट्र अपनी-अपनी नीयतों की सफाई कर लें और एक प्रेम-सूत्र में बंध जावें, तो न कोई युद्ध हो और न युद्ध के भीषण संकटों से जनता को असीम कष्ट भोगना पड़े।

भाषा और प्रान्तीयता को लेकर जो विवाद होते हैं, साम्प्रदायिकता के व्यामोह ने जनमानस को जो पागल बना रखा है, अन्न और वस्त्र के लिए जो उपद्रव किये जाते हैं, तथा अर्थ-समस्या को आधार बनाकर मानव के रक्त से जो होली खेली जाती है, ये सब अनर्थ भी सदा के लिए समाप्त हो सकते हैं। मानव-जगत आनंद और शान्ति का महामन्दिर बन सकता है। शर्त एक है और वह यह कि सर्वत्र अहिंसा की ही पूजा हो। प्रत्येक मानव अपने मनमन्दिर में भगवती अहिंसा की अर्चना करे, अहिंसा के ही वायुमण्डल में सांस ले, और अहिंसामय ही जीवन व्यतीत करे।

अहिंसा- धर्म प्रत्येक व्यक्ति को आचरण-निर्माण पर जोर देता है, और उसके जीवन से हिंसामूलक व्यवहार को निकाल कर पारस्परिक व्यवहार में मैत्री, प्रमोद, करुणा और माध्यस्थ्यभाव से बरतने की प्रेरणा प्रदान करता है। इतना ही नहीं, वह तो यह भी कहता है कि राजा भी धार्मिक विचारों का होना चाहिए। क्योंकि राजा के अधार्मिक होने से राजनीति दूषित हो जाती है और राजनीति में अधार्मिकता के प्रविष्ट हो जाने पर राष्ट्र में नैतिक जीवन गिरना आरंभ हो जाता है। ऐसी दशा में व्यक्ति यदि अनैतिकता से बचना भी चाहे तो भी बच नहीं सकता। अनेक बाहरी प्रलोभनों और आवश्यकताओं से दबकर वह भी अनर्थ करने के लिए तत्पर हो जाता है। युद्धकाल से लेकर आज तक चला आ रहा चोर बाजार इस तथ्य की प्रामाणिकता के लिए पर्याप्त उदाहरण है। अत: राजनीति और व्यक्तिगत जीवन में यदि अहिंसा को अपना लिया जावे तो राजा और प्रजा दोनों शान्ति से रह सकते हैं।

हिंसा और विनाशकता, अधिकार-लिप्सा और असहिष्णुता, सत्ता लोलुपता और स्वार्थान्धता मे आकुल-व्याकुल संसार में अहिंसा ही सर्वश्रेष्ठ अमृतमय विश्रामभूमि है, जहां पहुंच कर मनुष्य आराम की सांस लेता है। अपने और दूसरों को समान धरातल पर देखने के लिए अहिंसा की आंख का होना नितान्त आवश्यक है। अहिंसा न होती तो मनुष्य न अपने को पहिचानता, और न दूसरों को ही। पशुत्व से ऊपर उठने के लिए अहिंसा का आलम्बन अत्यावश्यक है। संसार भर के प्राणियों को अपनी आत्मा के समान समझना अहिंसा है। जिस दिन, जिस घड़ी मनुष्य अपने अन्दर जो जीने का अधिकार लेकर बैठा है, वही जीने का अधिकार सहज भावों से दूसरों को दे देता है, दूसरों की जिन्दगियों को अपनी जिन्दगी के समान देख लेता है, और

संसार के सब प्राणी उसकी भावना में उसकी अपनी आत्मा के समान बन जाते हैं, और सारे संसार को समान दृष्टि से देखने लगता है। वह यह समझने लग जाता है कि ये सब प्राणी मेरे ही समान हैं, इनमें और मुझ में कोई मौलिक अन्तर नहीं है। जो चीज मुझे प्यारी है वही औरों को भी प्यारी और पसंद है। उसी दिन और उसी घड़ी उस मनुष्य में अहिंसा की प्रतिष्ठा हो जाती है। अहिंसा उसके मनमन्दिर में अपना आसन जमा लेती है।

अहिंसा के सम्बन्ध में जैनेतर दर्शनों ने भी बहुत कुछ कहा है किन्तु जैन-धर्म की अहिंसा सर्वोपरि है। वैदिक दर्शन में **'मा हिंस्यात् सर्वभूतानि'** यह कहकर हिंसा का विरोध किया गया है, किन्तु यही दर्शन **"वैदिकी हिंसा, हिंसा न भवति"** यह कहकर हिंसा का समर्थन भी करता है। इसीलिए ब्राह्मण-संस्कृति के एक-छत्र राज्य के नीचे भारतीय लोग अपने आराध्यदेव को पशुबलि या नरबलि की भेंट करके अपने को स्वर्गाधिकारी बनाया करते थे। यद्यपि बौद्धों ने ब्राह्मण संस्कृति के **"वैदिकी हिंसा, हिंसा न भवति"** के सिद्धान्त को निरा ढकोसला कहने में जरा भी संकोच नहीं किया और साथ में संसार को अहिंसा का दिव्य संदेश भी दिया, किन्तु उनकी अहिंसा भी पंगु अहिंसा है, उसमें अनेकों दोष पाए जाते हैं।

जापान, लंका और वर्मा आदि के निवासी बौद्ध मांसाहारी हैं, अहिंसा सिद्धान्त को मानते हुए भी ये लोग मांस खाते हैं, यदि इन से कोई पूछे कि तुम अहिंसा को मानकर भी मांस क्यों खाते हो, तो वे उत्तर में कहते हैं कि हम अपने हाथ से पशुओं को नहीं मारते हैं। बाजार से मांस मिलता है, और उसे हम खरीद लाते हैं। इसमें हमको हिंसा नहीं लगती है। जापान आदि देशों में मांस बेचने वालों की दुकानों पर लगे बोर्डो पर लिखा रहता है-not killed for you, अर्थात्-तुम्हारे वास्ते नहीं मारा गया है। यहां मांस तुम्हारे उद्देश्य से तैयार नहीं किया गया है। इन बोर्डो को लगाने का यही उद्देश्य होता है कि बौद्ध साधु "मांस हमारे लिए तैयार नहीं किया" यह समझकर मांस ग्रहण कर सकें। बौद्धों की अहिंसा में पशुजगत की सर्वथा उपेक्षा कर दी गई है। ऐसी अहिंसा को शुद्ध अहिंसा कैसे कहा जा सकता है?

ईसाइयों के धर्मग्रन्थ बाइबिल (Bible) की दस आज्ञाओं में एक आज्ञा है-"Thou shall not kill" अर्थात्-तू किसी को मत मार। इस प्रकार ईसाई ग्रन्थों में अहिंसा का वर्णन मिलता है। ईसा मसीह ने यहां तक कहा है कि "यदि कोई तुम्हारे एक गाल पर चपत मारता है तो तुम अपना दूसरा गाल उसके सामने कर दो।" किन्तु ईसाई धर्म की यह अहिंसा मानव जीवन तक ही सीमित है। ईसा की अहिंसा की छाया पशु जगत तक नहीं पहुंचती है।

इस प्रकार कुछ लोगों ने अहिंसा को केवल मनुष्य जाति तक सीमित कर दिया और कोई उसे आगे ले गया तो वह पशुओं–पक्षियों तक सीमित हो गई, किन्तु जैन धर्म की अहिंसा में ऐसी कोई मर्यादा नहीं है। जैन अहिंसा के विशाल प्रांगण में विश्व के समस्त चराचर जीवों का समावेश होता है, उसमें त्रस, स्थावर, एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, पंचेन्द्रिय पृथ्वी, जल, वायु, वनस्पति के सभी जीव सुरक्षा का वरदान पाते हैं। कीड़े, मकौड़े, च्यूंटी, मक्खी, गाय, भैंस, घोड़ा, बंदर आदि सभी तिर्यञ्च प्राणी सानंद विहरण करते हैं, किसी को किसी भी प्रकार की कोई बाधा या व्यथा नहीं पहुंचने पाती। मनुष्य जीवन के संरक्षण का तो वहां विशेष ध्यान रखा जाता है, क्योंकि प्राणियों में मनुष्य का सर्वोपरि स्थान है। आचार-विचार की दृष्टि से जितना मनुष्य पूर्ण है या हो सकता है, उतना कोई अन्य प्राणी नहीं। अत: अन्य सभी जीवनों में मनुष्य-जीवन को प्रधान और दुर्लभ स्वीकार किया गया है। ऐसे अनमोल मानव-जीवन की सुरक्षा का विशेष ध्यान रखा जाता है–अहिंसा के प्रांगण में। जैन-अहिंसा का प्रांगण जितना विशाल है, उतना किसी अन्य धर्म की अहिंसा का नहीं है। जैन-धर्म की अहिंसा आकाश की भांति असीम है, आत्मा की तरह सूक्ष्म है और काल की तरह अनन्त है।

जैन अहिंसा के नियम यद्यपि कड़े दिखाई देते हैं, किन्तु उनके पालन में मनुष्य की शक्ति और परिस्थिति का ध्यान रखा जाता है। इसलिए उनकी कठोरता चिंताजनक नहीं है। उनका तो एक ही ध्येय है कि मनुष्य स्वयं अपने को नियंत्रण में रखे, और अपनी अनियंत्रित कामनाओं और वासनाओं पर ब्रेक लगाना सीखे। उसकी दशा नशे में मस्त उस मोटर चालक जैसी नहीं होनी चाहिए, जो सरपट मोटर दौड़ाते हुए यह भूल जाता है कि जिस सड़क पर मैं मोटर चला रहा हूं, उस पर कुछ अन्य प्राणी भी चल रहे हैं, जो मेरी मोटर से दबकर मर सकते हैं। उसे जहां अपने जीवन की व अपने सुख-चैन की चिन्ता होती है, वहां दूसरों के जीवनों का भी उसे ध्यान रहना चाहिए। इसके अलावा, वह यही न सोचता रहे कि मुझे स्वादिष्ट से स्वादिष्ट पदार्थ खाने को मिलने चाहिएं, चाहे दूसरों को सूखा कौर भी न मिले। मेरे खजाने में सोने-चांदी का ढेर लगा रहना चाहिए, चाहे दूसरों के तन पर फटा चीथड़ा भी न हो, मेरी साहूकारी सैंकड़ों को गरीब बनाती है तो मुझे क्या! मेरे भोग-विलास के निमित्त दूसरे के प्राणों पर आती है तो मुझे क्या! मेरे साम्राज्यवाद की चक्की में देश का देश पिस रहा है तो मुझे क्या! इस प्रकार की सभी विचारणाओं पर अंकुश लगाना ही अहिंसा का सर्वतोमुखी लक्ष्य होता है क्योंकि ये विचार हिंसा को जन्म देते हैं। इन्हीं के कारण परस्पर अविश्वास की तीव्र भावना रात-दिन मानव को व्याकुल बनाए रखती है। सब उस अवसर की प्रतीक्षा में रहते हैं कि कब

दूसरे का गला दबोचा जाए। इन सब विचारों से बचने का एक ही उपाय है, और वह है—अहिंसा। इसके बिना शान्ति नहीं मिल सकती। अहिंसा की प्रतिष्ठा होने पर ही मनुष्य बुराई को बुराई समझता है और बुराई को करते हुए भी कम से कम इतना तो नहीं भूलता कि मैं बुरा कर्म कर रहा हूं। बुराई को बुराई समझना भी अहिंसा की ओर बढ़ना है। जो बुराई को बुराई जान लेता है, वह समय आने पर कभी न कभी बुराई को छोड़ भी देता है। बुराई को बुराई के रूप में समझना और अन्त में उसको जीवन से निकाल देना ही अहिंसा का अपना ध्येय होता है।

अहिंसा पर कुछ आक्षेप किए जाते हैं। कहा जाता है कि अहिंसा सिद्धान्त इतना सूक्ष्म है, और इसकी मर्यादा इतनी बढ़ा दी गई है कि वह व्यवहार की वस्तु नहीं रही। जैन-अहिंसा का पालन किया जाए तो जीवन के समस्त व्यापार बंद कर देने पड़ेंगे, समस्त क्रियाएं समाप्त करनी होंगी, और निश्चेष्ट होकर देह का ही परित्याग कर देना होगा। उनका विश्वास है कि जीवन-व्यवहार चलाना और अहिंसा का पालन करना, ये दोनों बातें परस्पर विरुद्ध हैं। इन दोनों बातों का एक-दूसरे से मेल नहीं है। या तो मनुष्य इस अहिंसा की उपेक्षा करके जीवन चलावे या फिर अहिंसा के यज्ञ में अपने जीवन की सर्वथा आहुति ही डाल दे, अपने आप को समाप्त कर दे। जिस अहिंसा की परिपालना में जीवन ही सुरक्षित न रह सके तो उस अहिंसा का पालन कैसे संभव हो सकता है?

ऊपर-ऊपर से जब हम देखते हैं और विचार करते हैं तो ये बातें कुछ तर्क-संगत प्रतीत होती हैं, किन्तु जैन-शास्त्रों में अहिंसा का जो वर्गीकरण किया गया है, साधक की योग्यता तथा भूमिका के आधार पर अहिंसा की जो महाव्रत तथा अणुव्रत, ये दो श्रेणियां बताई हैं, उनको यदि भलीभांति समझ लिया जाए तो ऊपर के आक्षेप में कुछ भी जान नहीं रहने पाती। अहिंसा के भेद और उपभेदों का वर्णन इस पुस्तक के जैन-धम नामक स्तंभ के चारित्रधर्म के अहिंसाणुव्रत तथा अहिंसा महाव्रत प्रकरण में किया जा चुका है, पाठक उसे देखने का प्रयास करें।

अहिंसा के सूक्ष्म और विस्तृत भेदों से, उपभेदों से हमें भयभीत नहीं होना चाहिए। अहिंसा आध्यात्मिकता का सागर है। उसमें से जितना भी हम ले सकें, उतना ले लेना चाहिए। कल्पना करें! गंगा अपना विशाल प्रवाह लिए बह रही है, उसकी असीम जल-राशि और चौडे फाट को देखकर कोई मनुष्य किनारे पर खड़ा-खड़ा विचार करे कि मैं प्यास से छटपटा रहा हूं। मुझे गंगा का जल पीना चाहिए, मगर कैसे पीऊं, गंगा का प्रवाह बहुत बड़ा है, और मेरा मुंह बहुत छोटा है। इस छोटे मुंह में इतना बड़ा प्रवाह कैसे समा सकता है? तो ऐसे विचार करने वाले

मनुष्य को क्या कहना चाहिए? यही न, कि भाई! गंगा का प्रवाह विशाल है, तो इसका तुझे क्या कष्ट है? तुझे प्रवाह पीना है या पानी? यह तो आवश्यक नहीं है कि यदि पीए तो सम्पूर्ण प्रवाह को पीए और न पीए तो बिल्कुल ही न पीए, प्यास से ही छटपटाता रहे। भाई! गंगा के प्रवाह की चिन्ता न कर, तुझे इसकी विशालता से क्या? जितनी प्यास है, तुझे उतना ही पानी पी लेना चाहिए। भाव यह है कि जैसे प्रवाह विशाल या असीम होने के कारण गंगा का जल अपेय नहीं हो जाता, उसी प्रकार अहिंसा-सिद्धान्त विशाल और असीम होने के कारण अनाचरणीय नहीं कहा जा सकता। जैसे गंगा की असीम जलराशि में से एक चुल्लू या एक लोटा या एक घड़ा पानी लेकर व्यवहार में लाया जा सकता है, उसी प्रकार अहिंसा-गंगा के पावन नीर का भी अपनी शक्ति के अनुसर व्यवहार किया जा सकता है।

जैन-धर्म ने साधक-जीवन अनेक श्रेणियों में विभक्त कर दिये हैं। उनके सामर्थ्य के अनुसार अहिंसा की भी अनेक श्रेणियां बना दी गई हैं। मुनिजन सम्पूर्ण अहिंसा का पालन करने की चेष्टा करते हैं और गृहस्थ आंशिक अहिंसा को अपने जीवन में लाने का प्रयत्न करता है। मुनियों के अहिंसाव्रत को महाव्रत और गृहस्थों के अहिंसाव्रत को अणुव्रत कहा है। फिर इसमें भी बहुत-से प्रकार हैं, बहुत-सी कोटियां हैं, और जो व्यक्ति जिस प्रकार का या जिस कोटि की अहिंसा का पालन करना चाहे वह उसी का पालन कर सकता है। जैन धर्म जबर्दस्ती किसी पर अहिंसा को नहीं लादता। जैनधर्म ने अहिंसा के सूक्ष्म और स्थूल ये दोनों रूप अध्यात्म जगत के सामने उपस्थित कर दिये हैं। उसको अपनाने वाला अपनी क्षमता तथा शक्ति के अनुसार जिस रूप को अपनाना चाहे सहर्ष अपना सकता है। जैनागमों में स्थान-स्थान पर **"अहासुहं देवाणुप्पिया**[1]**!"** इस वाक्य का आदर किया है। जब किसी साधक ने किसी तीर्थंकर या वीतराग महापुरुष के सामने साधना के महापथ पर चलने के लिए उनकी अनुमति मांगी है तो उन्होंने उत्तर में यही कहा कि देवानुप्रिय! तुम अपनी शक्ति देखो, क्षमता देखो! यदि तुम्हारे में इस रास्ते पर चलने की शक्ति है तो अवश्य चलो, यदि शक्ति नहीं है तो फिर जितनी शक्ति है, उसका सदुपयोग करो! जैनधर्म ने साधक की क्षमता की ओर पूरा- पूरा ध्यान दिया है।

1. किसी को सम्बोधित करने के लिए जैनागमों में प्राय: देवानुप्रिय शब्द का प्रयोग पाया जाता है। देवानुप्रिय शब्द यशस्वी, तेजस्वी, सरल-प्रकृति, देव के समान प्रिय, ऐसे अनेकों अर्थों का परिचायक है। कल्पसूत्र के व्याख्याकार श्री समय-सुन्दर गणी जी देवानुप्रिय शब्द का "देवानपि अनुरूपं प्रीणातीति इति देवानुप्रियः" यह अर्थ करते हैं। वक्ता देवानुप्रिय शब्द के सम्बोधन से सम्बोधित व्यक्ति में देवों को प्रसन्न करने की विशिष्ट योग्यता बता कर उसका सम्मान प्रकट करता है।

बलात् किसी पर साधना को नहीं लादा। ऐसी ही स्थिति अहिंसा के सिद्धान्त की है। इसे भी यथेच्छ और यथाशक्ति अपनाया जा सकता है।

यह समझना कि अहिंसा का पालन करने से संसार के काम रुक जाते हैं, यह निरी भ्रान्ति है। इतिहास बतलाता है कि अनेक राजा-महाराजा और सम्राट् हो चुके हैं जो अपने जीवनकाल में अहिंसा-सिद्धान्त का पूर्ण ध्यान रखा करते थे और अहिंसा के नेतृत्व में बड़े-बड़े साम्राज्यों का संचालन किया करते थे। उनके यहां केवल संकल्पजा[1] हिंसा का त्याग था। आरंभजा और विरोधी हिंसा का त्याग उन्होंने नहीं किया था। निरपराध जीव उनके यहां सर्वथा सुरक्षित रहते थे और अपराधी उनके यहां दण्डित होते थे। केवल दु:ख देने की भावना से उनको दण्ड नहीं दिया जाता था, बल्कि उनको शिक्षित करने के लिए, अन्याय और अनीति का प्रसार रोकने के लिए ऐसा किया जाता था।

इस प्रकार जब हम अहिंसा की बारीकियों में उतरते हैं और उन पर गंभीरता से विचार करते हैं तो यह स्पष्ट हो जाता है कि जैन-धर्म की अहिंसा न अव्यवहार्य है और न ही अनाचरणीय। प्रत्युत इसकी सुविधापूर्वक पालना की जा सकती है और यह मानव-जीवन को पूर्णतया व्यवस्थित करने के साथ-साथ उसे सात्त्विकता और प्रामाणिकता का पुंज बना डालती है।

अहिंसा-सिद्धान्त पर यह भी आक्षेप किया जाता है कि अहिंसा के प्रचार ने भारतवर्ष को कायर बना दिया है, और दासता की जंजीरों में जकड़ दिया है। इसमें कारण यह बताया जाता है कि हिंसा-जन्य पाप से भयभीत भारतीय लोग शौर्य और वीर्य गंवा बैठे हैं। उसका फल यह हुआ कि यहां की प्रजा में युद्ध करने की भावना सर्वथा समाप्त हो गई और आक्रमणकारियों ने इस देश पर लगातार आक्रमण करके इस देश को अपने अधीन कर लिया। गंभीरता से विचार करने पर मालूम होता है कि इस आक्षेप में कोई तथ्य नहीं है, क्योंकि भारत का प्राचीन इतिहास यह प्रमाणित करता है कि जब तक इस देश में अहिंसकों का शासन बना रहा, तब तक यहां की प्रजा सर्वथा समुन्नत थी, इसमें शौर्य और पराक्रम की कोई कमी नहीं थी। उन अहिंसक शासकों ने अपने देश की रक्षा के लिए शक्तिशाली शत्रुओं के साथ वीरतापूर्ण युद्ध किए, कायरता से उन्होंने कभी अपना मस्तक उनके आगे नहीं झुकाया। सम्राट् चन्द्रगुप्त और अशोक से ऐतिहासिक लोग पूर्णतया परिचित हैं। ये अहिंसा धर्म के सबसे बड़े उपासक और प्रचारक थे। उनके शासनकाल में भारत कभी पराधीन नहीं हुआ। बल्कि भारत की जितनी विशाल

1. संकल्पजा आदि हिंसा-भेदों का अर्थ पीछे अहिंसा-प्रकरण में लिखा जा चुका है।

सीमाएं उस काल में थीं उतनी आज नहीं रही हैं और न निकट भविष्य में होने की संभावना ही की जा सकती है।

राष्ट्रपिता महात्मा गान्धी का जीवन ऊपर के आक्षेप का जीता-जागता उत्तर है। गांधी जी अहिंसा के उपासक थे। क्या गांधी जी को कायर कहने का कोई साहस कर सकता है? गांधी जी ने अहिंसा के दिव्य शस्त्र को लेकर शक्तिशाली ब्रिटिश सरकार का डटकर सामना किया और रक्त की एक बूंद बहाए बिना ही उसके पैर उखाड़ दिए, अंग्रेज सत्ता को सदा के लिए भारत की पुण्य भूमि से निकाल दिया। सैंकड़ों वर्षों की भारत की दासता का अन्त आया तो आखिर अहिंसा के ही प्रभाव से। अहिंसा के ही प्रताप तथा उसकी असाधारण शक्ति से ही भारत परतन्त्रता की बेड़ियों को तोड़कर स्वतन्त्र बन सका है। अहिंसा एक निराला शस्त्र है, वीरता इसकी दासी है। स्वयं गांधी जी कहा करते थे कि मेरी अहिंसा एक विधायक शक्ति है। कायरता या दुर्बलता को उसमें कोई स्थान नहीं है। गांधी जी का विश्वास था कि एक हिंसक से अहिंसक बनने की आशा तो की जा सकती है, किन्तु कायर व्यक्ति कभी अहिंसक नहीं बन सकता। वस्तुत: अहिंसा के साथ कायरता का कोई सम्बन्ध नहीं है।

भारत की परतंत्रता का कारण अहिंसा नहीं है। अहिंसा को भारतीय परतंत्रता का कारण कहना एक जबर्दस्त ऐतिहासिक भ्रान्ति है। भारतीय इतिहास पर दृष्टिपात करने से पता चलता है कि भारत पर जब पृथ्वीराज चौहान का शासन था तो उस समय भारत के साथ विदेशी शक्तियों का संघर्ष चल रहा था। इतिहास बतलाता है कि गजनी के यवन बादशाह शहाबुद्दीन गौरी ने भारत पर २७ बार आक्रमण किया था, किन्तु 27 बार ही उसको मुंह की खानी पड़ी थी। वीरशिरोमणि पृथ्वीराज चौहान तथा इनके वीर सैनिकों ने बहुत बुरी तरह उसको पछाड़ा था। भारत के वीर सैनिकों की वीरता का वे लोहा मानते थे, किन्तु भारत के अधिनायक जब आपस में ही लड़ने लग गए और जब इनको फूट पिशाचिनी ने बहुत बुरी तरह घेर लिया तब इनका सर्वतोमुखी ह्रास होने लग गया। पृथ्वीराज चौहान और जयचंद की फूट ने ही भारत को परतंत्र बनाया। इतिहास बतलाता है कि देश-द्रोही जयचंद ने पृथ्वीराज को अपमानित और पराजित करने के लिए स्वयं शहाबुद्दीन को निमंत्रण भेजा, उसके साथ मिलकर वह स्वयं पृथ्वीराज से लड़ा। अन्त में, पृथ्वीराज पराजित हो गया, परिणाम यह हुआ कि यवन-सत्ता ने भारत को अपने अधीन कर लिया। इस ऐतिहासिक सत्य से यह स्पष्ट हो जाता है कि भारतीय परतंत्रता का कारण अहिंसा नहीं, बल्कि आपस की फूट है। आपस की फूट ने ही भारत को परतंत्र बनाया और इसकी स्वतंत्रता को समाप्त किया। अहिंसा तो मनुष्य को वीर और साहसी

बनाती है, उसमें विश्व-प्रेम का संचार करती है। संसार में जो कुछ शान्ति दृष्टिगोचर हो रही है और मानव-जगत में दया, क्षमा, करुणा, परोपकार, सहानुभूति आदि जो श्रेष्ठ भावनाएं पाई जा रही हैं ये सब अहिंसा की ही बहुमूल्य देन हैं।

वस्तुत: अहिंसा ही परम धर्म है और अहिंसा ही परम ब्रह्म है। अहिंसा ही सुख-शान्ति देने वाली है। अहिंसा ही संसार का त्राण करने वाली है। यही मानव का सच्चा धर्म है। यही मानव का सच्चा कर्म है। यही वीरों का सच्चा बाना है। यही वीरों की प्रमुख निशानी है। इसके बिना न मानव की शोभा है, और न उसकी शान है। मानव और दानव में अहिंसा और हिंसा का ही तो अन्तर है। अहिंसा मानवी शक्ति है और हिंसा दानवी। जब से मानव ने अहिंसा को भुला दिया है, तभी से वह दानव बनता चला जा रहा है और इसकी दानवता का अभिशाप इस विश्व को भुगतना पड़ रहा है। विश्व में जो अशान्ति, कलह, उपद्रव हो रहे हैं तथा युद्धों का जो तांता लग रहा है, इसके मूल में दानवी भावना ही काम कर रही है। फिर भी मानव इस सत्य को समझ नहीं पा रहा है। किन्तु वह दिन दूर नहीं कि जब यह मानव-जगत अहिंसा की महत्ता को समझेगा और इसे अपनाकर अपने भविष्य को उज्ज्वल, समुज्ज्वल बनाने का बुद्धि-शुद्ध प्रयास करेगा। ऐसा किए बिना दूसरा इलाज भी तो कोई नहीं है। अहिंसा ही एक ऐसा सर्वोत्कृष्ट और सर्वोत्तम साधन है कि जो विश्व में शान्ति स्थापित कर सकता है, और विश्व की समस्त समस्याओं का समाधान भी कर सकता है।

❑ ❑ ❑

अठारहवां अध्याय

लोक-स्वरूप–जैन-दर्शन की दृष्टि में

प्रश्न--यह दृश्यमान या अदृश्यमान संसार क्या चीज है? इसका क्या स्वरूप है?

उत्तर--धर्म, अधर्म, आकाश, काल, पुद्गल और जीव इन छ: पदार्थों का सामूहिक नाम ही संसार, जगत, सृष्टि या लोक है। जैन परिभाषा में इन छहों को षड्-दव्य कहते हैं। और यह लोक षड्-द्रव्यात्मक कहा जाता है। हिलने, चलने वाले पदार्थों को हिलने-चलने में सहायता देने वाले द्रव्य का नाम धर्म है। ठहरने वाले पदार्थो को ठहरने में मदद करने वाले द्रव्य का नाम अधर्म है। सब पदार्थों के आधारभूत द्रव्य को आकाश कहा जाता है। जो जीव, अजीव पर बरतता है, और उन पदार्थों की नवीन, पुरातन आदि अवस्थाओं के परिवर्तन में सहायक होता है, उसको काल कहते हैं। समय, घड़ी, दिन, मास, युग आदि इसी के विभाग हैं। स्पर्श, रस, गन्ध और रूप वाले द्रव्य को पुद्गल कहते हैं। शब्द, धूप, छाया, अन्धकार, प्रकाश आदि भी पुद्गलमय ही हैं। जिसमें चेतना शक्ति हो वह जीवद्रव्य है। ये छहों द्रव्य अनादि अनन्त हैं, अर्थात् कभी बने नहीं और कभी नष्ट होंगे नहीं, सदा थे और सदा रहेंगे। इसलिए जैनदर्शन कहता है कि षड्द्रव्यात्मक संसार किसी का बनाया हुआ न होकर स्वाभाविक है, और अनादि- अनन्त है।

प्रश्न--क्या संसार का कभी नाश नहीं होता है?

उत्तर--संसार की अवस्थाएं बदलती रहती हैं, किन्तु छहों द्रव्यों का नाश कभी नहीं होता। मनुष्य-क्षेत्र में कहीं-कहीं प्रलय होती है, परन्तु बीज नष्ट कभी नहीं होता।

प्रश्न--भूमण्डल और आकाशमण्डल के सम्बन्ध में जैन-दर्शन की क्या मान्यता है?

उत्तर--जैनदर्शन ने विश्व को दो भागों में बांटा है--एक लोक और दूसरा अलोक। आकाश के जिस भाग में धर्म, अधर्म, जीव आदि द्रव्य पाए जाते हैं, वह लोक कहलाता है। जहां आकाश के अलावा कोई और द्रव्य न हो, शुद्ध आकाश ही आकाश हो, उसे अलोक कहते हैं। अलोक अनन्त, अखण्ड अमूर्तिक और केवल पोलारमय होता है। जैसे किसी विशाल

स्थान के मध्य में छींका लटका हो, उसी प्रकार अलोक के मध्य में यह लोक है, भूमि पर एक दीपक उलटा रखकर उसके ऊपर दूसरा दीपक सीधा रख दिया जाए, और उस पर तीसरा दीपक फिर उलटा करके रख दिया जाए तो जैसा आकार उन तीनों दीपकों का होता है, वैसा ही आकार इस लोक का माना गया है।

लोक 14 राजू के विस्तार वाला है। राजू जैन दर्शन का एक पारिभाषिक शब्द है। इसे समझ लीजिए! 3,81,27,970 मन वजन को भार कहा जाता है। ऐसे 1000 भार के लोहे के गोले को कोई देवता ऊपर से नीचे फैंके। वह गोला छः महीने, छः दिन, छः प्रहर, छः घड़ी में जितने विशाल प्रदेश को लांघ कर जावे उतने विशाल क्षेत्र को एक राजू कहते हैं। ऐसे 14 राजू के विस्तार वाला यह लोक है।

लोक के तीन भाग हैं—अधः, मध्य और ऊर्ध्व। अधोलोक सात राजू चौड़ा है, यह मेरुपर्वत के समतल के नीचे 9 सौ योजन[1] की गहराई के बाद गिना जाता है। अधोलोक में सात नरक हैं—रत्नप्रभा, शर्कराप्रभा, बालुकाप्रभा, पंकप्रभा, धूमप्रभा, तमःप्रभा और महातमःप्रभा। नारकियों की निवास-भूमि नरक कहलाती है। ये सातों नरक समश्रेणि में न होकर एक दूसरे के नीचे हैं। उनकी लम्बाई-चौड़ाई आपस में एक समान नहीं है। पहले नरक से दूसरे की लम्बाई-चौड़ाई कम है, दूसरे से तीसरे की, इसी प्रकार छठे से सातवें नरक की लम्बाई-चौड़ाई पूर्वापेक्षया[2] न्यूनातिन्यून होती जाती है। ये नरक आपस में साथ मिले हुए नहीं हैं। इनमें एक

---

1. जिसके दो भागों की कल्पना भी न हो सके, उस निरंश पुद्गल को परमाणु कहते हैं। ऐसे अनन्त सूक्ष्म परमाणुओं के संयोग से एक बादर परमाणु बनता है। अनन्त बादर परमाणुओं का एक उष्ण श्रेणिक (गरमी का) पुद्गल, आठ उष्ण श्रेणिक पुद्गलों का एक शीत श्रेणिक (सरदी का) पुद्गल, आठ शीत श्रेणिक पुद्गलों का एक ऊर्ध्वरेणु, आठ ऊर्ध्वरेणुओं का एक त्रसरेणु (त्रस जीव के चलने पर उड़ने वाला धूलि का कण), आठ त्रसरेणुओं का एक रथरेणु (रथ के चलने पर उड़ने वाला धूलि का कण), आठ रथरेणुओं का एक देवकुरु या उत्तरकुरुक्षेत्र के मनुष्य का बालाग्र, इन 8 बालाग्रों का एक हरिवास, रम्यकवास क्षेत्र के मनुष्य का बालाग्र, इन 8 बालाग्रों का एक हेमवत, हैरण्यवत क्षेत्र के मनुष्य का बालाग्र, इन 8 बालाग्रों का एक पूर्वपश्चिम महाविदेह क्षेत्र के मनुष्य का बालाग्र, इन आठ बालाग्रों की एक लीख, आठ लीखों की एक यूका, आठ यूकाओं का एक यवमध्य, आठ यवमध्यों का एक अंगुल, छः अंगुलों का एक पाद (मुट्ठी), दो पादों की एक वितस्ति, दो वितस्तियों का एक हाथ, दो हाथों की एक कुक्षि, दो कुक्षियों का एक धनुष, 2000 धनुषों की एक गव्यूति (कोस), चार गव्यूतियों का एक योजन होता है। इस योजन से अशाश्वत वस्तुओं का माप होता है। शाश्वत (नित्य) वस्तुओं का माप 4000 कोस के योजन से होता है।
2. जैसे प्रथम नरक की मोटाई 1 लाख 80 हजार योजन है, दूसरे की 1 लाख 32 हजार, तीसरे की 1 लाख 28 हजार, चतुर्थ की 1 लाख 20 हजार, पंचम की 1 लाख 18 हजार, छठे की 1 लाख 16 हजार और सातवें नरक की मोटाई 1 लाख 8 हजार योजन की होती है।

दूसरे के बीच में बहुत बड़ा अन्तर है। इस अन्तर में घनोदधि, घनवात, तनुवात और आकाश क्रमशः नीचे-नीचे हैं। अर्थात् पहली नरक-भूमि के नीचे घनोदधि है, घनोदधि के नीचे घनवात, घनवात के नीचे तनुवात और तनुवात के नीचे आकाश है। आकाश के बाद दूसरी नरक-भूमि है। इस भूमि और तीसरी भूमि के बीच भी घनोदधि आदि का वही क्रम है। इसी तरह सातवीं भूमि तक सब भूमियों के नीचे इसी क्रम से घनोदधि आदि विद्यमान हैं। वैसे आकाश सर्वव्यापक है, किन्तु घनोदधि आदि का क्रम समझाने के लिए यह बात कही गई है।

पहली नरक-भूमि कृष्णवर्ण वाले रत्नों से व्याप्त होने से रत्नप्रभा कहलाती है। बरछे, भाले आदि से भी अधिक तीक्ष्ण शर्कराओं—कंकरों की बहुतायत होने से दूसरे नरक को शर्करा-प्रभा कहा जाता है। भडभूंजे की भट्टी के रेत से भी अधिक उष्ण बालुका-रेत की मुख्यता के कारण तीसरी भूमि बालुकाप्रभा कही गई है। पंक (कीचड़) की अधिकता को लेकर चतुर्थ नरक का नाम पंकप्रभा रखा गया है। राई, मिर्च के धूएं से भी अधिक खारे धूम— धूएं की अधिकता से पांचवां नरक धूमप्रभा, अन्धेरे की विशेषता से छठा नरक तमःप्रभा, और महान तम, घने अन्धकार की प्रचुरता से सातवां नरक महातमःप्रभा कहलाता है।

वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्श, शब्द और संस्थान आदि अनेक प्रकार के पौद्गलिक परिणाम सातों नरकों में उत्तरोत्तर अधिक-अधिक अशुभ हैं। सातों नरकों के निवासी नारकियों के शरीर उत्तरोत्तर अधिक-अधिक अशुभ वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्श, शब्द और संस्थान वाले तथा अधिक-अधिक अशुचि और बीभत्स हैं। सातों नरकों में वेदना उत्तरोत्तर अधिक तीव्र होती चली जाती है। पहले तीन नरकों में उष्णवेदना, चतुर्थ में उष्णशीत, पांचवें में शीतउष्ण है। अर्थात् यहां शैत्य का प्राधान्य और उष्णता का स्वाल्प्य होता है। छठे में शीत और सातवें में अधिक शीत वेदना होती है। यह उष्णता और शीतता की वेदना इतनी सख्त होती है कि इस वेदना को भोगने वाले नारकी यदि मनुष्यलोक की सख्त गरमी या सख्त सरदी में आ जाएं तो उन्हें बड़े आराम से नींद आ सकती है।

नरकों में क्षेत्रस्वभाव के कारण सर्दी, गरमी का भयंकर दुःख तो है ही, साथ ही वहां पर भूख-प्यास का दुःख और भी भयंकर है। भूःख का दुःख तो इतना अधिक है कि अग्नि की तरह सब कुछ भक्षण कर लेने पर भी शान्ति नहीं होती, बल्कि और अधिक भूख की ज्वाला भड़क उठती है। प्यास का कष्ट इतना ज्यादा है कि कितना भी जल क्यों न पी लिया जाए, पर उससे तृप्ति नहीं होने पाती। इस दुःख के उपरान्त बड़ा भारी दुःख तो उनको आपस के वैर और मार-पीट से होता है। जैसे कौआ और उल्लू तथा सांप और नेवला जन्म से शत्रु हैं,

वैसे ही नारकीय जीव भी स्वभाव से शत्रु हैं। इसलिए वे एक-दूसरे को देखकर कुत्तों की तरह आपस में लड़ते हैं, काटते हैं और गुस्से से जलते हैं।

क्षेत्रस्वभाव-जन्य वेदना और परस्परजनित वेदना के अलावा, एक और वेदना नारकियों को सहन करनी पड़ती है। वह है--परमाधार्मिक देवों द्वारा दी गई वेदना। परमाधार्मिक एक प्रकार के असुरदेव होते हैं, जो बहुत क्रूरस्वभाव वाले होते हैं, और पापमय प्रवृत्तियों में अधिकाधिक रस लेते हैं। इनकी अम्ब, अम्बरीष, श्याम, शबल आदि पन्द्रह जातियां हैं। ये स्वभाव से ही ऐसे निन्द्य और कुतूहलप्रिय होते हैं कि उन्हें दूसरों के सताने में ही आनंद मिलता है। इसलिए नारकियों को अनेक प्रकार के प्रहारों से परि-पीड़ित करते रहते हैं। उन्हें आपस में कुत्तों, भैंसों और मल्लों की तरह लड़ाते हैं। आपस में उनको लड़ते और मार-पीट करते देखकर बहुत खुश होते हैं।

मांसाहारी जीव जब नरक में उत्पन्न होते हैं तो ये परमाधार्मिक देव उनके शरीर का मांस चिमटे से नोंचकर, तेल में तल कर या गरम रेत में भूनकर उन्हीं को खिलाते हैं और कहते हैं कि तुम्हें मांस-भक्षण करने का बड़ा शौक था, अब इसे खाओ। जैसे तुम्हें दूसरे प्राणियों का मांस प्रिय था, वैसे ही अब इसे ग्रहण करो। जो लोग मदिरापान के दोष से नरक में उत्पन्न होते हैं, तो उनको ताम्बे, सीसे, (रांगे), लोहे आदि का उबला हुआ रस संडासी से जबर्दस्ती मुंह फाड़कर पिलाते हैं। जो वेश्यागमन और पर-स्त्रीगमन जनित पाप से नरक में जन्म लेते हैं, तो उन्हें आग में तपा कर लाल, सुर्ख बनाई हुई फौलाद की नारी-प्रतिमा से बलपूर्वक आलिंगन कराते हैं, और कहते हैं कि तुम्हें पर-स्त्री प्यारी लगती थी, तो अब इससे प्यार करो। रोते क्यों हो? कुमार्ग पर चलने वालों को और असत्य, पापकारी उपदेश देकर दूसरों को पापाचारी बनाने वाले जीवों को धधकते हुए अंगारों पर चलाते हैं। जो लोग जानवरों और मनुष्यों को उनकी शक्ति से अधिक भार लाद कर तड़पाते हैं, उनसे कंकर, पत्थर और कांटों से युक्त रास्ते पर लाखों मन भार वाली गाड़ी खिंचवाते हैं, ऊपर से तीखी आर वाले चाबुकों के प्रहार करते हैं। मूक पशुओं तथा दीन-हीन मनुष्यों पर किए गए अत्याचारों का उन्हें दण्ड देते हैं। माता-पिता आदि वृद्ध और उपकारी जनों को जो सन्ताप देते हैं, उनका हृदय भालों से छेदा जाता है। दगाबाजी करने वालों को ऊंचे पहाड़ों से पटका जाता है। इसी प्रकार श्रोत्र, चक्षु, घ्राण, रसना, और स्पर्शेन्द्रिय के वश होकर नाना प्रकार के कुकर्म करने वालों को बहुत बुरी तरह व्यथित एवं परिपीड़ित किया जाता है, कानों में उबलता सीसा डाला जाता है, आंखें शूल से फोड़ी जाती हैं, मिर्ची का भयंकर धुआं सुंघाया जाता है, मुंह में कटार भरी जाती है, घानी में पीला

जाता है, अंगारों पर पकाया जाता है। इस प्रकार पूर्व जन्म-कृत कुकृत्यों के अनुसार नारकीय जीवों को नाना प्रकार के घोरातिघोर दु:ख दिए जाते हैं। नारकीय जीव विवशता से सारा जीवन इन सब तीव्र वेदनाओं के उपभोग में ही व्यतीत कर देते हैं। वेदना कितनी भी क्यों न हो, पर नारकीय जीवों को न कोई शरण है, और उनकी अनपवर्तनीय आयु[1] होने के कारण न उनका जीवन ही समाप्त होता है।

परमाधार्मिक देव तीसरे नरक तक ही जाते हैं, आगे नहीं। इसलिए आगे के चार नरकों में क्षेत्रस्वभाव-जन्य और परस्पर-जनित ये दो प्रकार की ही वेदनाएं होती हैं। इन चार नरकों में परमाधार्मिक देवकृत वेदनाओं का नारकीय जीवों को उपभोग नहीं करना पड़ता।

नरकावास की भीतों में बिल के आकार के नारकियों के उत्पन्न होने के स्थान बने हुए हैं। पापी जीव इन्हीं स्थानों में उत्पन्न होते हैं। नारकीय जीव बिलस्थान में उत्पन्न होकर दो घड़ी के अनन्तर बिल के नीचे रही हुई कुम्भी में नीचे सिर और ऊपर पैर करके गिरते हैं। ये

---

1. आयु दो तरह की होती है–अपवर्तनीय और अनपवर्तनीय। जो आयु बन्ध-कालीन स्थिति के पूर्ण होने से पहले ही भोगी जा सके वह अपवर्तनीय और जो आयु बन्ध-कालीन स्थिति के पूर्ण होने से पहले न भोगी जा सके वह अनपवर्तनीय आयु कहलाती है। जैनदर्शन कहता है कि भावी जन्म की आयु वर्तमान जीवन में निर्माण की जाती है। उस समय यदि परिणाम मंद हों तो आयु का बंध शिथिल होता है, जिससे निमित्त मिलने पर बंधकालीन कालमर्यादा घट जाती है। इसके विपरीत आयुबंध करते समय यदि परिणाम तीव्र हों तो आयु का बंध प्रगाढ़ होता है, जिससे निमित्त मिलने पर भी वह बंध-कालीन कालमर्यादा घटने नहीं पाती, और न उसे एक साथ ही भोगा जा सकता है। जैसे सघन बोए हुए बीजों के पौधे पशुओं के लिए दुष्प्रवेश्य और विरल-विरल बोए हुए उनके लिए सुप्रवेश्य होते हैं, वैसे ही तीव्र परिणामजनित प्रगाढ़ बंध वाली आयु शस्त्र, विष, अग्नि आदि का प्रयोग होने पर अपनी नियत कालमर्यादा से पहले पूर्ण नहीं होती और मंदपरिणामजनित शिथिलबंध वाला आयु उक्त प्रयोग होते ही अपनी नियत कालमर्यादा पूर्ण होने से पहले ही अन्तर्मुहूर्त मात्र काल में भोग ली जाती है। आयु के इस शीघ्र भोग को अपवर्तना या अकाल मृत्यु कहते हैं और नियतस्थिति भोग को अनपवर्तना या काल-मृत्यु कहते हैं। अपवर्तनीय आयु सोपक्रम (उपक्रमसहित) होती है। तीव्र शस्त्र, तीव्र विष और तीव्र अग्नि आदि जिन निमित्तों से अकालमृत्यु होती है उनका मिलना उपक्रम है। ऐसा उपक्रम अपवर्तनीय आयु में अवश्य होता है, क्योंकि यह आयु नियम से काल-मर्यादा समाप्त होने से पहले ही भोगने योग्य होती है। परन्तु अनपवर्तनीय आयु सोपक्रम और निरुपक्रम दोनों प्रकार की होती है। इस आयु को अकालमृत्यु लाने वाले उक्त निमित्तों का संनिधान होता भी है और नहीं भी होता। उक्त निमित्तों का सन्निधान होने पर भी अनपवर्तनीय आयु नियत काल-मर्यादा से पहले पूर्ण नहीं होती। औपपातिक जीव (नारकी और दव), चरम-शरीरी (जन्मान्तर किए बिना इस शरीर से मोक्ष जाने वाले), उत्तम पुरुषों (तीर्थंकर, चक्रवर्ती, वासुदेव आदि) और असंख्य वर्ष-जीवी (असंख्य वर्षों की आयु वाले) जीव अनपवर्तनीय आयु वाले ही होते हैं।

कुम्भियां ठीक बिल के नीचे पड़ी रहती हैं। ये चार प्रकार की होती हैं–1–ऊंट की गरदन के समान टेढ़ी-मेढ़ी, 2–घी के कुप्पे के समान जिसका मुख चौड़ा और अधोभाग संकड़ा (तंग भाग) होता है, 3–डिब्बे के समान, जो ऊपर नीचे बराबर परिमाण वाली होती हैं, 4–अफीम के दौड़े जैसी, (पेट चौड़ा और मुख संकरा) तंग। इन चार प्रकार की कुम्भियों में से किसी एक कुम्भी में गिरने के पश्चात् नारकी जीव का शरीर फूल जाता है, शरीर फूल जाने के कारण वह उसमें बुरी तरह फंस जाता है। कुम्भी की तीखी धारें उसके चारों ओर चुभती हैं और नारकी जीव वेदना से तिल-मिलाने लगता है। उस समय परमाधार्मिक देव उसे चिमटे से या संडासी से पकड़ कर खींचते हैं, नारकी जीव के शरीर के टुकड़े बनाकर वहां से उसे निकालते हैं। इससे नारकीय जीव को घोर वेदना तो होती है, मगर वह मरता नहीं है। नारकी जीव के शरीर के वे टुकड़े पारे की तरह मिल जाते हैं और फिर जैसे का तैसा शरीर बन जाता है।

तीसरे नरक तक तो परमाधार्मिक देव नारकियों को कुम्भी से निकाल लेते हैं। शेष नरकों में जो कुम्भियां हैं, इनमें नारकीय स्वयं ही एक-दूसरे को निकालते हैं, स्वयं ही एक-दूसरे की मार-पीट करके एक-दूसरे को पीड़ित करते हैं। वैसे तो सभी नरकों में वेदनाओं का जाल बिछा हुआ है, किन्तु वेदनाओं में तीव्रता आगे-आगे बढ़ती जाती है। सब से कम वेदना पहले नरक में और सर्वाधिक वेदना सातवें नरक में होती है।

रत्न-प्रभा नरक के निवासी नारकियों की जघन्य (कम से कम) स्थिति दस हजार वर्ष की है, और उत्कृष्ट (अधिक से अधिक) एक सागरोपम की। शर्कराप्रभा के नारकियों की जघन्य स्थिति एक सागरोपम की होती है और उत्कृष्ट स्थिति तीन सागरोपम की। इसी प्रकार तीसरे नरक की जघन्य स्थिति तीन सागरोपम और उत्कृष्ट स्थिति सात सागरोपम, चौथे नरक की जघन्य स्थिति सात और उत्कृष्ट दस, पांचवें नरक की जघन्य दस और उत्कृष्ट 17, छठे की जघन्य स्थिति 17 और उत्कृष्ट 22, तथा सातवें नरक की जघन्य स्थिति 22 और उत्कृष्ट स्थिति 33 सागरोपम की होती है।

असंज्ञी[1] प्राणी मरकर पहले नरक में उत्पन्न हो सकता है, आगे नहीं। भुजपरिसर्प पहले

1 मन वाले प्राणी को संज्ञी कहते हैं, मन से रहित प्राणी असंज्ञी कहलाते हैं। एकेन्द्रिय और विकलेन्द्रिय सभी जीव असंज्ञी होते हैं। यह सत्य है कि कृमि आदि विकलेन्द्रिय जीवों में भी अत्यन्त सूक्ष्म मन है, इससे वे हित में प्रवृत्ति और अनिष्ट से निवृत्ति कर लेते हैं, पर उनका वह कार्य सिर्फ देहमात्रोपयोगी होता है, इससे अधिक नहीं। यहां इतना पुष्ट मन विवक्षित है, जिससे निमित्त मिलने पर देहयात्रा के अलावा और भी अधिक विचार किया जा सके, अर्थात् पूर्वजन्म तक का स्मरण भी हो सके। इतनी विचार की योग्यता वाला मन ही यहां अपेक्षित है। ऐसे मन वाले को ही संज्ञी और इससे वञ्चित प्राणी को असंज्ञी कहा जाता है।

दो नरक तक, पक्षी तीसरे नरक तक, सिंह चौथे नरक तक, उरग पांचवें नरक तक, स्त्री छठे नरक तक, मत्स्य और मनुष्य मरकर सातवें नरक तक जा सकता है। भाव यह है कि तिर्यञ्च और मनुष्य ही नरक में पैदा हो सकते हैं, देव और नारकियों का नरक में उत्पन्न न होने का कारण उनमें वैसे अध्यवसाय का अभाव ही समझना चाहिए।

पहले तीन नरकों के नारकीय जीव मनुष्य जन्म पाकर तीर्थंकर पद पा सकते हैं, चौथे नरक के नारकीय जीव मनुष्य-गति में निर्वाण पद भी पा सकते हैं। पांचवें नरक के नारकीय जीव मनुष्य बनकर संयम का लाभ ले सकते हैं। छठे नरक से निकले हुए नारकीय जीव देश-विरति (श्रावक-धर्म) और सातवें नरक से निकला हुआ नारकीय जीव सम्यक्त्व प्राप्त कर सकता है। भाव यह है कि नारकीय जीव का सदा के लिए पतन नहीं हो जाता है। वह नरक से निकलकर, मनुष्य-जन्म लेकर सत्य, अहिंसा की साधना द्वारा अपने भविष्य को उज्ज्वल बना सकता है। जिस प्रकार मनुष्य गति का प्राणी आध्यात्मिक समुच्चता का शिखर उपलब्ध कर सकता है, वैसे ही नरक गति का जीव भी वहां से निकलकर, मनुष्यलोक को प्राप्त होकर आध्यात्मिक साधना द्वारा जीवन का कल्याण कर सकता है।

भवनपति देव

प्रथम नरक में 13 पाथड़े और 12 अन्तर हैं।[1] अन्तर असंख्य योजन के लम्बे-चौड़े और 11583 योजन क ऊंचे होते हैं। इन बारह अन्तरों में से एक सबसे ऊपर का और एक सबसे नीचे का खाली पड़ा है, बीच में दस अन्तर हैं। उनमें अलग-अलग जाति के भवनपति देव रहते हैं। दस में से पहले अन्तर में असुरकुमार जाति के भवनपति देव रहते हैं। दूसरे अन्तर में नागकुमार जाति के भवनपति देव, तीसरे में सुपर्णकुमार जाति के, चौथे में विद्युत्कुमार जाति के, पांचवें में अग्निकुमार जाति के, छठे में दीपकुमार जाति के, सातवें में उदधिकुमार जाति के, आठवें में दिशाकुमार जति के, नौवें में वायुकुमार जाति के और दसवें में स्तनितकुमार

---

1. जैसे मकान में मंजिलें होती हैं, वैसे ही नरक में भी मंजिलें होती हैं। नरक की मंजिल को अन्तर कहते हैं। जैसे मंजिलों के बीच में छत-पृथ्वीपिण्ड रहता है, वैसे ही अन्तरों के बीच के पृथ्वी-पिण्ड को पाथड़ा कहा जाता है। पाथड़ों के मध्य पर्वतीय गुफाओं के समान पोलार (शून्य प्रदेश) होता है, उसी में नरकावास होते हैं। इन नरकावासों में नारकीय जीव निवास करते हैं। पाथड़े और अन्तर नरकों में होते हैं। सातवें नरक में 1 पाथड़ा; छठे में 3 पाथड़े 2 अन्तर; पांचवें में 5 पाथड़े 4 अन्तर; चौथी नरक में 7 पाथड़े 6 अन्तर; तीसरे नरक में 9 पाथड़े 8 अन्तर; दूसरे में 11 पाथड़े 10 अन्तर और प्रथम नरक में 13 पाथड़े और 12 अन्तर होते हैं।

जाति के भवनपति देव निवास करते हैं।

सभी भवनपति देव कुमार इसलिए कहे जाते हैं, क्योंकि वे कुमार की भांति देखने में प्राय: सुन्दर, मनोहर तथा सुकुमार होते हैं, और मृदु व मधुर गति वाले तथा क्रीड़ाशील होते हैं। दसों प्रकार के भवनपतियों की शरीरगत चिन्हादि स्वरूप-सम्पत्ति जन्म से ही अपनी-अपनी जाति में जुदा-जुदा है। 1–असुर-कुमारों के मुकुट में चूड़ामणि का चिन्ह होता है, 2–नागकुमारों के मुकुट में नाग का, 3–सुपर्णकुमारों के गरुड़ का, 4–विद्युत्कुमारों के वज्र का, 5–अग्निकुमारों के घट का, 6–द्वीपकुमारों के सिंह का, 7–उदधिकुमारों के मकर का, 8–दिक्कुमारों के हस्ती का, 9–वातकुमारों के अश्व का, 10–स्तनितकुमारों के शराव-युगल का चिन्ह होता है। नागकुमार आदि सभी देवों के चिन्ह उनके-अपने आभरणों में होते हैं। सभी के वस्त्र, शस्त्र, भूषण आदि भी विविध प्रकार के होते हैं।

मध्यलोक

अधोलोक में सात नरक हैं और 10 प्रकार के भवनपति देवता पाये जाते हैं। अधोलोक से ऊपर मध्यलोक है। उसका प्रारम्भ रत्नप्रभा नरक के ऊपर के 9 सौ योजन पृथ्वी-पिण्ड से चालू हो जाता है। रत्नप्रभा नरक के ऊपर एक हजार योजन का पृथ्वी-पिण्ड है, उसमें से एक सौ योजन ऊपर और एक सौ योजन नीचे छोड़कर बीच में 800 योजन की पोलार है। इस पोलार में आठ प्रकार के व्यन्तरदेव रहते हैं। उनके नाम निम्नोक्त हैं–

1–पिशाच,	2–भूत,	3–यक्ष,	4–राक्षस,
5–किन्नर,	6–किंपुरुष,	7–महोरग,	8–गन्धर्व,

व्यन्तरदेव चंचल स्वभाव के होते हैं। वे अपनी इच्छा से या दूसरों की प्रेरणा से भिन्न-भिन्न जगह जाया करते हैं। उनमें कई-एक तो प्रसन्न होने पर मनुष्यों की सेवा करते हैं और रुष्ट होने पर कई-एक उनके दु:खों का कारण भी बन जाते है। वे विविध प्रकार के पहाड़ों और गुफाओं तथा वनों के अन्तरों में बसने के कारण व्यन्तर कहलाते हैं।

मनुष्य-लोक

रत्न-प्रभा पृथ्वी की छत पर मनुष्य लोक है। इसके मध्य में मेरुपर्वत है। इसकी ऊंचाई एक लाख योजन की है, जिसमें एक हजार योजन जितना भाग भूमि में है और 99 हजार योजन प्रमाण भाग भूमि के ऊपर है। मेरुपर्वत तीनों लोकों का अवगाहन कर रहा है और भद्रशाल, नन्दन, सौमनस तथा पाण्डुक इन चार वनों से घिरा हुआ है। मेरु के तीन काण्ड हैं। पहला काण्ड हजार योजन प्रमाण है जो जमीन में है, दूसरा 63 हजार योजन और तीसरा 36 हजार

योजन प्रमाण है। पहले काण्ड में शुद्ध पृथ्वी तथा कंकर आदि की बहुलता है, दूसरे में चांदी, स्फटिक आदि की और तीसरे में सोने की प्रचुरता पाई जाती है।

जम्बूद्वीप

मेरु पर्वत के चारों ओर थाली के आकार का पूर्व से पश्चिम तक और उत्तर से दक्षिण तक एक लाख योजन का जम्बूद्वीप है। इसमें अनेकों क्षेत्र पाये जाते हैं, जिनमें पहला भरत[1] है, जो मेरुपर्वत से दक्षिण की ओर है, भरत से उत्तर की ओर हैमवत, हैमवत से उत्तर में हरि, हरि से उत्तर में विदेह[2], विदेह से उत्तर में रम्यक, रम्यक से उत्तर में हैरण्यवत और हैरण्यवत से उत्तर में ऐरावत क्षेत्र है। इन सातों क्षेत्रों को एक-दूसरे से अलग करने वाले उनके बीच छः पर्वत हैं, जो वर्षधर कहलाते हैं। वे सभी पूर्व दिशा से पश्चिम दिशा तक लम्बे हैं। भरत और हेमवत क्षेत्र के मध्य में हिमवान पर्वत है। हेमवत और हरिवर्ष का विभाजक महाहिमवान पर्वत है। हरिवर्ष और विदेह को जुदा करने वाला निषधपर्वत है। विदेह और रम्यक को भिन्न करने वाला नील पर्वत है। रम्यक और हैरण्यवत को विभक्त करने वाला रुक्मी पर्वत है। हैरण्यवत और ऐरावत के बीच विभाग करने वाला शिखरी पर्वत है।

मेरुपर्वत से दक्षिण में निषधपर्वत के पास उत्तर में अर्ध-चन्द्राकार देवकुरु क्षेत्र है। इस क्षेत्र में साढ़े आठ योजन ऊंचा रत्नमय जम्बू नाम का एक वृक्ष है। इस पर जम्बूवृक्ष का अधिष्ठाता महान् ऋद्धि का धारक अणढी नाम का देवता रहता है। मेरुपर्वत के उत्तर में नीलवन्त पर्वत के पास दक्षिण में देवकुरुक्षेत्र के समान उत्तरकुरुक्षेत्र है, वहां जम्बूवृक्ष के समान शाल्मली वृक्ष है।

---

1. जम्बू-द्वीप में मेरु पर्वत से 85000 योजन दक्षिण दिशा में भरतक्षेत्र है। इसके मध्य में वैताढ्य पर्वत है। यह पर्वत भरत-क्षेत्र को दो भागों में बांट देता है— एक दक्षिणार्ध भरत और दूसरा उत्तरार्ध भरत। उत्तर दिशा में भरतक्षेत्र की सीमा पर चुल्लहिमवान पर्वत है, वहां पद्म नाम का एक द्रह (तालाब) है। इसके पूर्व द्वार से गंगा और पश्चिम द्वार से सिंधु नाम की दो नदियां वैताढ्य पर्वत के नीचे होकर निकलती हैं और अन्त में लवण समुद्र में जा मिलती हैं। इस प्रकार वैताढ्यपर्वत तथा गंगा एवं सिन्धु नदी के कारण भरतक्षेत्र के छः भाग होते हैं। इन्हीं भागों को षट्खण्ड कहते हैं। चक्रवर्ती का राज्य इन्हीं षट्खण्डों में होता है।
2. विदेह का ही दूसरा नाम महाविदेह है। मेरु पर्वत से पूर्व और पश्चिम में यह क्षेत्र है। इसके बीचों-बीच मेरु पर्वत के आ जाने से इसके दो विभाग हो जाते हैं—पूर्व महाविदेह और पश्चिम महाविदेह। पूर्व महाविदेह के मध्य में सीता नदी और पश्चिम महाविदेह के मध्य में सीतोदा नाम की नदी के आ जाने से एक-एक के फिर दो विभाग हो जाते हैं। इस प्रकार इस क्षेत्र के चार विभाग बन जाते हैं। इन चारों विभागों में आठ-आठ विजय (क्षेत्र-विशेष) हैं। ये 8×4=32 होने से महाविदेह में 32 विजय पाई जाती हैं। इस क्षेत्र में सदैव चौथे आरे जैसी स्थिति रहती है।

लवणसमुद्र

जम्बद्वीप के बाहर चूड़ी के आकार का जम्बूद्वीप को घेरे हुए 2 लाख योजन का विस्तार वाला लवणसमुद्र है। यह किनारे पर तो बाल के अग्र भाग जितना गहरा है, किन्तु आगे-आगे इसकी गहराई बढ़ती चली जाती है। 95000 योजन आगे जाने पर इसमें 1000 योजन की चौड़ाई में 1000 योजन की गहराई आती है। फिर गहराई कम होने लग जाती है, और क्रम से घटती-घटती धातकीखण्ड द्वीप के समीप यह बालाग्र जितना गहरा रह जाता है। लवणसमुद्र का पानी नमक जैसा खारा है।

जम्बूद्वीप के भरतक्षेत्र से उत्तर में स्थित चुल्लहिमवान पर्वत के पूर्व और पश्चिम में दोनों ओर हाथी के दांत के समान वक्र दो-दो दाढ़ें लवण-समुद्र में गई हुई हैं। एक-एक दाढ़ दक्षिण की ओर मुड़ी हुई है और एक-एक उत्तर की ओर। इन चारों दाढ़ों पर सात-सात अन्तर्द्वीप हैं, जो एक-दूसरे से सैकड़ों योजन के अन्तर पर हैं। चुल्लहिमवान पर्वत की तरह ऐरावत क्षेत्र की सीमा करने वाला शिखरी पर्वत है, इसकी भी चार दाढ़ें लवणसमुद्र में अवस्थित हैं, उन पर भी सात-सात अन्तर्द्वीप हैं। इस प्रकार दोनों तरफ के मिलकर सब अन्तर्द्वीप 56 हो जाते हैं। इन अन्तर्द्वीपों में पल्य के असंख्यातवें भाग की आयु वाले युगलिया मनुष्य रहते हैं। वहां के मनुष्य मर कर एकमात्र देवगति की आयु को प्राप्त होते हैं।

धातकीखण्डद्वीप

लवणसमुद्र के चारों ओर गोलाकार चार लाख योजन के विस्तार वाला धातकीखण्ड द्वीप है। यह द्वीप लवणसमुद्र को घेरे हुए है। इसके मध्य में पूर्व और पश्चिम द्वार से निकले इक्षुकार नाम के दो पर्वत हैं। इससे इस खण्ड के पूर्व धातकीखण्ड और पश्चिम धातकी- खण्ड ऐसे दो भाग हो जाते हैं। दोनों भागों में एक-एक मेरुपर्वत है। जम्बूद्वीप की अपेक्षा धातकीखण्ड में मेरु, क्षेत्र और पर्वतों की संख्या दुगुनी है, और नाम सबके एक जैसे हैं।

कालोदधि समुद्र

धातकीखण्ड द्वीप को चारों ओर से घेरे हुए कंकण के आकार का 8 लाख योजन का चौड़ा और हजार योजन का गहरा कालोदधि समुद्र है। इसके पानी का स्वाद साधारण पानी जैसा माना गया है।

पुष्करद्वीप

कालोदधि समुद्र को चारों ओर से घेरे हुए चूड़ी के आकार का 16 लाख योजन का चौड़ा पुष्करद्वीप है। इसके मध्य में 1721 योजन ऊंचा वलयाकार एक मानुषोत्तर पर्वत है। इस पर्वत

के कारण पुष्करद्वीप के दो भाग हो जाते हैं। इस पर्वत के भीतर आधे भाग में ही मनुष्य की बस्ती (आबादी) है, बाहर नहीं। इसी कारण यह पर्वत मानुषोत्तर पर्वत कहा जाता है।

धातकीखण्ड द्वीप की भांति पुष्करद्वीप के मध्य में भी दो इक्षुकार पर्वत हैं, जिनके कारण इसके भी दो विभाग हो जाते हैं—पूर्व पुष्करार्ध द्वीप और पश्चिम पुष्करार्ध द्वीप। धातकीखण्ड के समान इसमें भी दो मेरु पर्वत हैं। ये मेरु, क्षेत्र, पर्वत और नदी आदि सभी पदार्थ धातकीखण्ड द्वीप के समान ही होते हैं। इन सब का विस्तार धातकीखण्ड द्वीप के समान ही समझना चाहिए।

इस प्रकार एक लाख योजन का जम्बूद्वीप, उसके दोनों तर्फ का चार लाख योजन का लवणसमुद्र, उसके दोनों तर्फ का आठ लाख योजन का धातकीखण्ड द्वीप, इसके दोनों तर्फ 16 लाख योजन का कालोदधि समुद्र और फिर इसके दोनों ओर का सोलह लाख योजन का पुष्करार्ध द्वीप। इस प्रकार 1+4+8+16+16=45 लाख योजन का अढाई द्वीप है। इस जम्बूद्वीप के मध्य में खड़े होकर एक ओर से पुष्करार्ध द्वीप तक भूखण्ड की चौड़ाई की गणना करने लगें तो 22½ लाख योजन का अढाई द्वीप होता है, परन्तु जब जम्बूद्वीप के दोनों ओर से उसकी गणना करने लगें तो दोनों ओर से 22-22 लाख योजन बनते हैं, दोनों को मिला कर 44 लाख और उनमें एक लाख योजन का मध्यस्थ जम्बूद्वीप मिलाकर 45 लाख योजन बनते हैं।

अढाई द्वीप में ही मनुष्य रहते हैं, इसलिए इसे मनुष्य-क्षेत्र या मनुष्यलोक भी कहते हैं। अढाई द्वीप के बाहर मनुष्यों की उत्पत्ति नहीं होती, बादर अग्निकाय, द्रह (तालाब), कुण्ड, नदी, गर्जना-शब्द, विद्युत्, मेघ, वर्ष, ओले नहीं होते और दुष्काल भी नहीं पड़ता। मानुषोत्तर पर्वत के बाहर के पुष्करार्ध द्वीप में देवताओं तथा तिर्यञ्चों का निवास रहता है। विद्या-सम्पन्न मुनि या वैक्रिय-लब्धिधारी मनुष्य ही अढाई द्वीप के बाहर जा सकते हैं, पर उनका जन्म-मरण तो मानुषोत्तर पर्वत के अन्दर ही होता है।

मनुष्य जाति के मुख्यतया दो भेद होते हैं—आर्य और म्लेच्छ। निमित्त-भेद से छः प्रकार के आर्य माने गये हैं—1-क्षेत्र से, 2—जाति से, 3—कुल से, 4—कर्म से, 5—शिल्प से और, 6—भाषा से। क्षेत्र से आर्य वे होते हैं, जो 15 कर्मभूमियों[1] में और उनमें भी जो आर्य देश में

1. जहां असि-युद्ध, मसि-लेखनविधि, कृषि-खेती, राजनीति, साधु-साध्वी, धर्म-व्यवहार, 72 कला पुरुषों की, 64 कला स्त्रियों की तथा 100 प्रकार का शिल्प कर्म पाया जाए उसे कर्म-भूमि क्षेत्र कहते हैं। जहां ये सब कार्य न हों वह अकर्म-भूमि कहलाती है। 5 भरत, 5 ऐरावत, 5 महाविदेह, ये 15 कर्म-भूमियों के क्षेत्र माने गये हैं। 5 देवकुरु, 5 उत्तरकुरु, 5 हरिवर्ष, 5 रम्यकवर्ष, 5 हेमवत, 5 हैरण्यवत, ये 30 अकर्म-भूमियों के क्षेत्र कहे गए है। अकर्मभूमि के मनुष्य 10 प्रकार के कल्पवृक्षों द्वारा अपनी इच्छाएं पूर्ण किया करते हैं।

पैदा होते हैं[1]। जो इक्ष्वाकु, विदेह, हरि, ज्ञात, कुरु, उग्र आदि वंशों में पैदा होते हैं, वे जाति से आर्य हैं। कुलकर, चक्रवर्ती, बलदेव, वासुदेव और दूसरे भी जो विशुद्ध कुल वाले हैं, वे कुल से आर्य हैं। पठन, पाठन, कृषि, लिपि, वाणिज्य आदि से आजीविका करने वाले कर्म से आर्य हैं। जुलाहा, नाई, कुम्हार आदि जो अल्प आरम्भ (हिंसा) वाली और अनिन्द्य आजीविका से जीते हैं वे शिल्प आर्य होते हैं। जो शिष्ट-पुरुष-मान्य भाषा में सुगम रीति से बोलने आदि का व्यवाहर करते हैं, वे भाषा से आर्य हैं। इन छ: प्रकार के कार्यों से विपरीत लक्षण वाले सभी लोग म्लेच्छ कहलाते हैं। आर्य और म्लेच्छ सभी लोग जहां रहते हैं उसे मनुष्य-लोक कहते हैं। इसी मनुष्य-लोक को अढाई द्वीप कहते हैं। अढाई द्वीप में जम्बूद्वीप, धातकीखण्ड- द्वीप और पुष्करार्धद्वीप आते हैं। पुष्करार्धद्वीप के चारों ओर 32 लाख योजन का पुष्कर समुद्र हैं। इसी प्रकार आगे एक द्वीप और एक समुद्र के क्रम से द्वीप और समुद्र हैं। ये सब द्वीप और समुद्र एक दूसरे से दुगुने-दुगुने विस्तार वाले हैं। तीन द्वीपों और तीन समुद्रों का वर्णन किया जा चुका है। आगे के कुछ द्वीपों और समुद्रों के नाम इस प्रकार हैं-

7-वारुणी द्वीप,	8-वारुणी समुद्र,
9-क्षीर द्वीप,	10-क्षीर समुद्र,
11-घृत द्वीप,	12-घृत समुद्र,
13-इक्षु द्वीप,	14-इक्षु समुद्र,
15-नंदीश्वरद्वीप,[2]	16-नंदीश्वर समुद्र,
17-अरुण द्वीप,	18-अरुण समुद्र,

1. 15 कर्मभूमियां, 30 अकर्म-भूमियां और 56 अन्तर्द्वीप इस प्रकार उक्त सब मिलाकर 101 मनुष्यों के रहने के क्षेत्र हैं। इनमें अकर्म-भूमियों और अन्तर्द्वीपों में युगलिया मनुष्य रहते हैं। वे देवों सरीखे पूर्वोपार्जित शुभ कर्मों के शुभ फल भोगते हैं। धर्म की तनिक भी आराधना नहीं कर सकते। धर्माराधना के योग्य कर्मभूमि के ही केवल 15 क्षेत्र हैं। इनमें से पांचों महाविदेह-क्षेत्रों में तो सदैव धर्म की प्रवृत्ति बनी रहती है, किन्तु 5 भरत और 5 ऐरावत इन दस क्षेत्रों में दस-दस कोडाकोडी सागर, उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी काल में से नौ कोडाकोडी सागरोपम जितने काल में युगलिया मनुष्य ही रहते हैं। सिर्फ एक कोडाकोडी सागरोपम से कुछ अधिक काल ही धर्म की प्रवृत्ति रहती है। इन दस क्षेत्रों में प्रत्येक क्षेत्र में 32-32 हजार देश हैं, इनमें से प्रत्येक क्षेत्र में 31,974½ देश अनार्य हैं और केवल 25½ देश आर्य हैं। भरतक्षेत्र के मगध देश, अंग देश, बंग देश, कलिंग देश, काशी-देश, कौशल देश, कुरु देश, पांचाल देश आदि 25½ देश आर्य माने जाते हैं।

2. नन्दीश्वर द्वीप में देवता लोग कार्तिक फाल्गुण और आषाढ़ मास के अन्तिम आठ दिनों में तथा तीर्थंकर भगवान् के पंच-कल्याणक आदि शुभ दिनों में अष्टान्हिक महोत्सव किया करते हैं।

19-अरुणवर द्वीप,	20-अरुणवर समुद्र,
21-पवन द्वीप,	22-पवन समुद्र,
23-कुण्डल द्वीप,	24-कुण्डल समुद्र,
25-शंख द्वीप,	26-शंख समुद्र,
27-रुचक द्वीप[1],	28-रुचक समुद्र,
29-भुजंग द्वीप,	30-भुजंग समुद्र,

इस प्रकार अगला-अगला द्वीप-समुद्र पूर्व-पूर्व के द्वीप-समुद्र को घेरे हुए है। असंख्य द्वीप हैं, असंख्यात समुद्र हैं। जगत में प्रशस्त वस्तुओं के जितने नाम हैं, उतने नाम वाले द्वीप समुद्र माने गए हैं। सब का विस्तार दुगुना-दुगुना होता चला जाता है। इन सब के अन्त में स्वयंभूरमण समुद्र है। उसके 12 योजन दूर चारों ओर अलोक है।

ज्योतिष्कमण्डल

मेरु के समतल भूभाग से सात सौ नब्बे योजन की ऊंचाई पर ज्योतिषचक्र के क्षेत्र का आरंभ होता है, जो वहां से एक सौ दस योजन परिमाण और तिरछा असंख्यात द्वीप परिमाण है। उसमें दस योजन की ऊंचाई पर (मेरुपर्वत के समतल से आठ सौ योजन की ऊंचाई पर) सूर्य का विमान है। वहां से 80 योजन की ऊंचाई पर चन्द्र का विमान है। वहां से 20 योजन की ऊंचाई तक ग्रह, नक्षत्र और प्रकीर्ण तारे हैं। प्रकीर्ण तारे का मतलब यह है कि अन्य कुछ तारे जो अनियतचारी होने से कभी सूर्य, चन्द्र के नीचे चलते हैं और कभी ऊपर। चन्द्र के ऊपर बीस योजन की ऊंचाई में पहले चार योजन की ऊंचाई पर नक्षत्र हैं। इसके बाद चार योजन की ऊंचाई पर बुध ग्रह, बुध से तीन योजन ऊंचे शुक्र, शुक्र से तीन योजन ऊंचे गुरु, गुरु से तीन योजन ऊंचे मंगल, और मंगल से तीन योजन ऊंचे शनैश्चर है। अनियतचारी तारा जब सूर्य के नीचे चलता है, तब वह सूर्य के नीचे दस योजन प्रमाण ज्योतिष-क्षेत्र में चलता है। ज्योतिष-प्रकाशमान विमान में रहने के कारण सूर्य आदि ज्योतिष्क कहलाते हैं। इन सबके मुकुटों में प्रभामण्डल का सा उज्ज्वल सूर्य आदि के मण्डल जैसा चिन्ह होता है। सूर्य के सूर्यमण्डल का सा, चन्द्र के चन्द्रमण्डल का सा, और तारा के तारामण्डल का सा चिन्ह समझना चाहिए।

मनुष्य-लोक में जो ज्योतिष्क हैं, वे सदा भ्रमण किया करते हैं। इन का भ्रमण मेरु-पर्वत

1. रुचक द्वीप तक जंघाचारण मुनि जा सकते हैं।

के चारों ओर होता है। अढाई द्वीप से बाहर जो सूर्य-चन्द्र हैं, वे सर्दव स्थिर रहते हैं । उनके विमान स्वभाव से ही एक जगह स्थिर रहते हैं, इधर से उधर भ्रमण नहीं करते हैं। काल-विभाग अढाई द्वीप में ही है, इससे बाहर नहीं है। ज्योतिष्क देवों की गति के आधार पर ही कालविभाग हुआ करता है। अढाई-द्वीप में ज्योतिष्क देवों के भ्रमणशील होने से काल-विभाग होता है। इससे बाहर उनके स्थिर रहने से काल-विभाग नहीं होता।

जम्बूद्वीप में 2 चन्द्र और 2 सूर्य हैं। लवणसमुद्र में 4 चन्द्र और 4 सूर्य हैं। धातकीखण्डद्वीप में 12 चन्द्र और 12 सूर्य होते हैं। इसी प्रकार आगे भी किसी विवक्षित द्वीप या समुद्र की चन्द्र-संख्या या सूर्य-संख्या तिगुनी करके पिछले द्वीप-समुदों की चन्द्र-संख्या या सूर्य-संख्या के जोड़ देने से किसी भी द्वीप और समुद्र के चन्द्रों या सूर्यों की संख्या मालूम की जा सकती है।

एक-एक चन्द्र का परिवार 28 नक्षत्र, 88 ग्रह और छयासठ हजार नौ सौ पचहत्तर कोटा-कोटी तारों का है। नक्षत्र और ग्रहों का विवरण "सूर्यप्रज्ञप्ति" तथा "चन्द्रप्रज्ञप्ति" नामक सूत्र से देख लेना चाहिए। वैसे तो लोकमर्यादा के स्वभाव से ही सूर्य-चन्द्र आदि विमानों की स्वाभाविक गति होती है, और उसी गति से चलते हैं, तथापि क्रीड़ाशील सेवक देव भक्तिवश उनके साथ रहते हैं, या उनको उठाते हैं। सूर्य के विमान को 1600 देव उठाते हैं। चन्द्र के विमान को भी 1600 देव उठाते हैं। तारा के विमान को दो हजार देवता और नक्षत्र के विमान को चार हजार देवता तथा ग्रहों के विमानों को आठ हजार देव उठाए चलते हैं।

समय, आवलिका, मुहूर्त्त, अहोरात्र, पक्ष, मास आदि अतीत, वर्तमान और अनागत तथा संख्येय, असंख्येय आदि रूप से अनेक प्रकार का काल-व्यवहार मनुष्यलोक में होता है, इसके बाहर नहीं। मनुष्यलोक के बाहर यदि कोई कालव्यवहार करने वाला हो और ऐसा व्यवहार करे तो वह मनुष्यलोक प्रसिद्ध व्यवहार के अनुसार ही समझना चाहिए। व्यावहारिक काल-विभाग का मुख्य आधार नियत क्रिया मात्र है। ऐसी क्रिया सूर्य, चन्द्र आदि ज्योतिष्कों की गति ही है। स्थानविशेष में सूर्य के प्रथम दर्शन से लेकर स्थानविशेष में सूर्य का जो अदर्शन होता है, इस उदय और अस्त के बीच की सूर्य की गति-क्रिया से ही दिन का व्यवहार होता है। इसी तरह सूर्य के अस्त से उदय तक की गति-क्रिया से रात का व्यवहार होता है। दिन का तीसवां भाग मुहूर्त्त माना गया है। पन्द्रह दिन-रात का एक पक्ष होता है। इसी प्रकार मास, ऋतु, अयन, वर्ष आदि अनेकविध लौकिक कालविभाग चन्द्र और सूर्य की गतिक्रिया के आधार पर ही किया जाता है। जो क्रिया चालू है, वह वर्तमान काल है। जो होने वाली है वह अनागतकाल और जो

हो चुकी है, वह अतीतकाल कहलाता है। जो काल गिनती में आ सकता है उसे संख्येय और जो गिनती में नहीं आ सकता, केवल उपमान (उदाहरण) द्वारा जाना जा सकता है वह असंख्येय काल कहा गया है। जिस का अन्त न हो उसे अनन्त कहते हैं।

कालचक्र

ज्योतिष्क विमानों की गति-क्रिया के आधार पर लौकिक काल-विभाग और परिमाण की कल्पना की जाती है। अतः प्रस्तुत में जैनदर्शन-मान्य काल-विभाग को भी समझ लेना चाहिए।

अवसर्पिणी काल

मुख्य रूप से काल के दो विभाग हैं—अवसर्पिणी और उत्सर्पिणी। जिस काल में जीवों की शक्ति, अवगाहना, आयु क्रमशः घटती चली जाती है, वह अवसर्पिणी काल कहलाता है और जिस काल में शक्ति, अवगाहना आदि में क्रमशः वृद्धि होती जाती है उसे उत्सर्पिणी काल कहते हैं। अवसर्पिणी काल के छः विभाग होते हैं, जिसे आरा शब्द से व्यवहृत किया जाता है। वे निम्नोक्त हैं—

1—सुषम-सुषमा,	2—सुषमा,	3—सुषम-दुषमा,
4—दुषम-सुषमा,	5—दुषमा,	6—दुषम-दुषमा,

सुषम-सुषमा—इस आरे में शरीर बड़े बलवान और प्रशस्त डीलडौल वाले होते हैं। मनुष्यों का सौन्दर्य विलक्षण और स्वभाव सरल तथा नम्र होता है। एक साथ ही स्त्री और पुरुष पैदा होते हैं अर्थात् युगल-जोड़ा पैदा होता है। युगल रूप से उत्पन्न होने के कारण इन्हें युगलिया कहा जाता है। जब युगल की आयु 15 मास शेष रहती है तो उस समय वेद-मोहनीय कर्म का तीव्र उदय होने से दोनों का सम्बन्ध होता है, और नारी गर्भ धारण करती है, इससे पहले वे भाई-बहिन की तरह ब्रह्मचर्य-पूर्वक रहते हैं। युगलिनी के गर्भ से युगल ही उत्पन्न होता है। केवल 49 दिनों तक नवजात युगल का पालन-पोषण करना होता है। इतने दिनों में वे होशियार और स्वावलम्बी हो जाते हैं। युगल के माता-पिता मरण समय निकट आने पर एक को छींक और दूसरे को जंभाई आने से मृत्यु को प्राप्त हो जाते हैं। युगलियों की गति देव-लोक की होती है। उस क्षेत्र के अधिष्ठाता देव युगल के मृतक शरीर का क्षीर-समुद्र में ले जाकर प्रक्षेप कर देते हैं।

तीन-तीन दिनों के अन्तर से युगलियों को भूख लगती है। इनकी इच्छाएं दस प्रकार के

कल्पवृक्षों से पूर्ण हो जाती हैं। इस आरे में पृथ्वी का स्वाद मिश्री से भी अधिक स्वादिष्ट होता है। पुष्प और फलों का स्वाद चक्रवर्ती के श्रेष्ठ भोजन से भी बढ़कर होता है। भूमि-भाग अत्यन्त रमणीय विविध वृक्षों और पौधों से सुशोभित होता है। सब प्रकार के सुखों से पूर्ण होने के कारण इस आरे को सुषम-सुषमा कहा जाता है। यह आरा चार कोड़ा-कोड़ी सागरोपम का होता है।

सुषमा—यह आरा प्रथम आरे के अनंतर आता है। इस आरे में पहले आरे की अपेक्षा वर्ण, रस, गन्ध और स्पर्श की उत्तमता में हीनता आ जाती है। इस आरे के मनुष्यों को दो दिन के अन्तर से आहार की इच्छा पैदा होती है। पृथ्वी का स्वाद मिश्री के बदले शक्कर जैसा रह जाता है। पहले आरे के समान इसमें भी युगल धर्म रहता है। इसमें नवजात युगल का 64 दिनों तक पालन-पोषण करना होता है। तत्पश्चात् वे स्वावलम्बी बन जाते हैं। यह आरा तीन कोटाकोटि सागरोपम का होता है। शेष कथन पहले आरे के समान समझ लेना चाहिए।

सुषम-दुषमा—इस आरे में सुख बहुत और दु:ख थोड़ा होता है। यह दो कोटाकोटि सागरोपम का है। इस आरे में पूर्वापेक्षया वर्ण, रस, गन्ध और स्पर्श की उत्तमता में ह्रास हो जाता है। एक दिन के अन्तर पर आहार की इच्छा पैदा होती है। पृथ्वी का स्वाद गुड़ जैसा हो जाता है। पहले की भांति इसमें भी युगल-धर्म रहता है। इसमें नवजात युगल का 79 दिनों तक पालन-पोषण करना होता है। इसमें तथा पिछले दो, इस प्रकार तीनों आरों में तिर्यञ्च भी युगल ही होते हैं।

इस आरे के तीसरे भाग की समाप्ति में जब पल्योपम का आठवां भाग शेष रह जाता है, उस समय कालदोष से कल्पवृक्षों की शक्ति न्यून पड़ जाती है। युगलियों में द्वेष और कषायों की मात्रा बढ़ जाती है, आपस में ये विवाद करते हैं। विवाद को शान्त करने के लिए सब मिलकर एक नेता बनाते हैं, जिसे शास्त्रीय भाषा में कुलकर कहा जाता है। ये कुलकर 15 होते हैं। प्रत्येक कुलकर अपने-अपने समय का प्रतापशाली और विद्वान् मनुष्य होता है। वह तत्कालीन समाज की मर्यादा और व्यवस्था करता है। प्रारम्भ के 5 कुलकरों तक हकार की दण्ड-नीति प्रचलित थी। जब कोई मनुष्य कोई अपराध करता था तो कुलकर "हा" ऐसा शब्द कहकर उसके कुकृत्य पर खेद प्रकट किया करता था। अपराधी के लिए इतना दण्ड ही पर्याप्त होता था। इससे वह लज्जित हो जाता था। इसके आगे के पांच कुलकरों तक "मा" की दण्डनीति चलती रही। मा का अर्थ है 'मत'। ऐसा मत करो, इस प्रकार कह देना ही अपराधी के लिए काफी था। इससे आगे के कुलकरों के समय में दण्ड को कुछ कठोर बनाया गया।

उस समय अपराधी को "धिक्" शब्द का दण्ड दिया जाता था। इस दण्ड से ही लज्जित होकर उस युग के लोग अपराध से विरत हो जाते थे।

जब अवसर्पिणी काल का तीसरा आरा समाप्त होने में चौरासी लाख पूर्व, तीन वर्ष और 8½ महीने शेष रह जाते हैं, तब अयोध्या नगरी में महामहिम भगवान् ऋषभदेव का जन्म होता है। ये चोदहवें कुलकर नाभि के पुत्र थे। इनकी माता का नाम मरुदेवी था। इस अवसर्पिणी काल के ये प्रथम राजा, प्रथम जिन, प्रथम केवली, प्रथम तीर्थंकर और प्रथम धर्मचक्रवर्ती थे। इनकी आयु 84 लाख पूर्व[1] की थी। इन्होंने बीस लाख पूर्व वर्ष कुमारावस्था में व्यतीत किए और 63 लाख पूर्व वर्ष तक राज्य किया। अपने शासनकाल में प्रजाहित के लिए इन्होंने लेख, गणित आदि 72 पुरुष-कलाओं[2] और 64 स्त्री-कलाओं का उपदेश दिया। इसी प्रकार जनता को 100 शिल्पों, असि (युद्ध), मसि (व्यापार) और कृषि (खेती) इन तीन कर्मों की शिक्षा दी। 63 लाख पूर्व राज्य भोगकर इन्होंने दीक्षा ली। एक हजार वर्ष छद्मस्थ रहे। एक हजार वर्ष कम एक लाख पूर्व केवली रहे, 84 लाख पूर्व की आयु पूर्ण होने पर निर्वाण पद प्राप्त किया।

प्रथम तीर्थंकर भगवान् ऋषभदेव के समय राजकुल में चक्रवर्ती का जन्म हो जाता है। चक्रवर्ती की माता 14 स्वप्न देखती है। इसके 14 रत्न और 9 निधियां होती हैं। 14 रत्नों में से चक्र, छत्र, दण्ड, खड्ग, मणि, कांगनी और चर्म ये सात एकेन्द्रिय रत्न और सेनापति, गाथापति, वर्धकि, पुरोहित, स्त्री, अश्व और गज ये सात पञ्चेन्द्रिय रत्न होते हैं। उक्त रत्नों का अर्थ इस प्रकार है–

चक्रवर्ती के 14 रत्न

1–**चक्ररत्न**–यह सेना के आगे-आगे आकाश में 'गरणाट' शब्द करता हुआ चलता है, और छ: खण्ड साधने का रास्ता बतलाता है।

2–**छत्ररत्न**–यह सेना के ऊपर 12 योजन लम्बे, 8 योजन चौड़े छत्र के रूप में परिणत हो जाता है। शीत, ताप, वायु आदि के उपसर्ग से रक्षा करता है।

3–**दण्ड-रत्न**–यह विषमस्थान को सम करके सड़क जैसा मार्ग बना देता है। वैताढ्य

---

1. 70 लाख, 56 हजार वर्ष को एक करोड़ से गुणा करने पर 70,56,0000,0000,00 वर्षों का एक पूर्व होता है।
2. 72 कलाओं के संक्षिप्त स्वरूप के जिज्ञासुओं को मेरे द्वारा अनुवादित विपाक-सूत्र के प्रथम श्रुतस्कंध के द्वितीय अध्ययन को देखना चाहिए।

पर्वत की दोनों गुफाओं के द्वार खुले करता है।

4–**खड्गरत्न**–यह पचास अंगुल लम्बा, सोलह अंगुल चौड़ा, आधा अंगुल मोटा एवं अत्यन्त तीक्ष्ण धार वाला होता है। हजारों कोसों की दूरी पर स्थित शत्रुओं का सिर काट सकता है।

ये चारों रत्न चक्रवर्ती की आयुधशाला में उत्पन्न होते हैं।

5–**मणि-रत्न**–यह चार अंगुल लम्बा और दो अंगुल चौड़ा होता है। इसे ऊंचे स्थान पर रख देने से दो योजन तक चन्द्रमा के समान प्रकाश फैल जाता है। हाथी के मस्तक पर रखने से सवार सर्वथा निर्भय हो जाता है।

6–**कांगनी-रत्न**–यह छहों ओर चार-चार अंगुल लम्बा-चौड़ा सुनार की ऐरन के समान, छः तले, आठ कोने, बारह हांसे वाला तथा आठ सोनैया भर वजन का होता है। इससे वैताढ्यपर्वत की गुफाओं में एक-एक योजन के अन्तर पर पांच सौ धनुष के गोलाकार 48 मण्डल किये जाते हैं, इनका प्रकाश चन्द्रमा के समान होता है। और यह जब तक चक्रवर्ती जीवित रहता है, तब तक बना रहता है।

7–**चर्म-रत्न**–यह दो हाथ लम्बा होता है। यह बारह योजन लम्बी और नौ योजन चौड़ी नौका रूप बन जाता है। चक्रवर्ती की सेना इस पर सवार होकर गंगा और सिंधु जैसी महानदियों को पार करती है।

उक्त तीनों रत्न चक्रवर्ती के लक्ष्मी-भण्डार में पैदा होते हैं।

8–**सेनापतिरत्न**–बीच के दोनों खण्डों को चक्रवर्ती स्वयं जीतता है और चारों कोनों के चारों खण्डों को चक्रवर्ती का सेनापति जीतता है। यह वैताढ्यपर्वत की गुफाओं के द्वार दण्ड का प्रहार करके खोलता है और म्लेच्छों को पराजित करता है।

9–**गाथापतिरत्न**–चर्म-रत्न को पृथ्वी के आकार का बनाकर उस पर 24 प्रकार का धान्य और सब प्रकार के मेवे, शाक, सब्जी आदि सभी पदार्थ दिन के प्रथम प्रहर में बोए जाते हैं, दूसरे प्रहर में सब पक जाते हैं, तीसरे प्रहर में उन्हें तैयार करके चक्रवर्ती आदि को खिला देता है। यह सब कार्य करने वाले को ही गाथापतिरत्न कहते हैं।

10–**वर्धकि-रत्न**–यह मुहूर्त्त भर में 12 योजन लम्बा और 9 योजन चौड़ा 42 खण्ड का महल, पौषधशाला, रथशाला, घुड़शाला, पाकशाला, बाजार आदि सब सामग्री से युक्त नगर बना देता है। रास्ते में चक्रवर्ती अपने समस्त परिवार के साथ उसमें निवास करते हैं।

11–**पुरोहितरत्न**–यह शुभ मुहूर्त्त बतलाता है। लक्षण, हस्तरेखा, व्यंजन (तिल, मसा आदि), स्वप्न, अंग का फड़कना आदि सब का शुभाशुभ फल बतलाता है, शान्तिपाठ करता है।

12–**स्त्रीरत्न** (श्रीदेवी)–चक्रवर्ती की स्त्री वैताढ्यपर्वत की उत्तर-श्रेणी के स्वामी विद्याधर की पुत्री होती है, कुमारिका के समान सदा युवती रहती है। इसका देहमान चक्रवर्ती के देहमान से चार अंगुल कम होता है, यह पुत्र प्रसव नहीं करती।

13–**अश्व-रत्न** (कमला-पति घोड़ा)–यह पूंछ से मुख तक एक सौ आठ अंगुल लम्बा, खुर से कान तक 80 अंगुल ऊंचा, क्षण भर में अभीष्ट स्थान पर पहुंचा देने वाला और विजयप्रद होता है।

14–**गजरत्न**–यह चक्रवर्ती से दुगुना ऊंचा होता है, यह महान सौभाग्यशील, कार्य-दक्ष और अत्यन्त सुन्दर होता है। उक्त अश्व और हाथी वैताढ्यपर्वत के मूल में उत्पन्न होते हैं।

चक्रवर्ती की नव निधियां

1–**नैसर्प-निधि**–इससे ग्राम आदि बसाने की तथा सेना का पड़ाव डालने की सामग्री और विधि प्राप्त होती है।

2–**पण्डूक-निधि**–इसमें तोलने और मापने के उपकरण होते हैं।

3–**पिंगल-निधि**–इससे मनुष्यों और पशुओं के सर्वविध आभूषण प्राप्त होते हैं।

4–**सर्वरत्न-निधि**–इससे चक्रवर्ती के 14 रत्न और अन्य सभी रत्नों तथा जवाहरात की प्राप्ति होती है।

5–**महापद्म-निधि**–इससे वस्त्रों तथा वस्त्रों के रंगने की सामग्री प्राप्त होती है।

6–**काल-निधि**–इस से अष्टांग निमित्त सम्बन्धी, इतिहास-सम्बन्धी तथा कुम्भकार आदि के शिल्प-सम्बन्धी शास्त्रों की प्राप्ति होती है।

7–**महाकाल-निधि**–इससे स्वर्ण आदि धातुओं की, बरतनों की और नकद धन की प्राप्ति होती है।

8–**माणवक-निधि**–इससे सर्व प्रकार के शस्त्र-अस्त्रों की प्राप्ति होती है।

9–**शंख-निधि**–इससे धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष के साधन बतलाने वाले शास्त्र तथा प्राकृत, संस्कृत, अपभ्रंश, संकीर्ण, पद्यरूप शास्त्रों और सर्व प्रकार के वादित्रों की प्राप्ति

होती है।

चक्रवर्ती महाराज का छः खण्डों में निष्कण्टक राज्य होता है, 32 हजार मुकुटधारी राजा इनके सेवक होते हैं। 64 हजार रानियां होती हैं। 84 लाख हाथी, 84 लाख घोड़े आदि और भी बहुत-सा वैभव चक्रवर्ती का होता है। इस वैभव का त्याग करके चक्रवर्ती यदि संयम धारण करले तब तो मोक्ष या स्वर्ग को प्राप्त करता है। अन्यथा राज्य का उपभोग करते-करते यदि मृत्यु को प्राप्त हो तो वह नरक में जाता है। इस अवसर्पिणी काल में 12 चक्रवर्ती हुए हैं, जो भिन्न-भिन्न तीर्थंकरों के काल में पैदा हुए थे। उनके नाम निम्नोक्त हैं-

1-भरत,	**2-सगर,**	**3-मघवा,**	**4-सनत्कुमार**
5-शान्तिनाथ,	**6-कुन्थुनाथ,**	**7-अरनाथ,**	**8-सुभूम**
9-महापद्म,	**10-हरिषेण,**	**11-जयसेन,**	**12-ब्रह्मदत्त**

इनमें शान्तिनाथ, कुन्थुनाथ और अरनाथ ये तीनों महापुरुष चक्रवर्ती भी थे और तीर्थंकर भी।

दुषम-सुषमा-यह आरा 42 हजार वर्ष कम एक कोटाकोटि सागरोपम का होता है, इसमें दुःख ज्यादा और सुख अल्प होता है। पूर्वापेक्षया वर्ण, रस, गन्ध और स्पर्श की उत्तमता में कमी आ जाती है। दिन में एक बार आहार की इच्छा पैदा होती है। इसमें मनुष्यों के छहों संहनन[1] और छहों संस्थान[2] होते हैं। इस आरे के मनुष्य पांचों गतियों में जाते हैं। 23 तीर्थंकर, 11

---

1. 1-वज्रऋषभनाराच-संहनन-एक हजार मन का भरा हुआ शकट शरीर पर से निकल जावे तो कच्चे सूत के समान मालूम पड़े वह संहनन-हड्डियों की रचना-विशेष। 2-ऋषभनाराच-संहनन-एक सौ मन का शकट शरीर पर से निकल जावे तो कच्चे धागे की तरह मालूम पड़े वह संहनन। 3-नाराच-संहनन-10 मन का शकट जिस शरीर पर से निकल जावे तो भी कच्चे धागे की तरह मालूम पड़े वह संहनन। 4-अर्द्धनाराच-संहनन-एक मन का शकट जिस शरीर पर से निकल जावे तो भी कच्चे धागे की तरह मालूम देवे वह संहनन। 5-कीलिका-संहनन-जिसमें नरम झाड़ की तरह आसानी से हड्डियां झुक जाती हैं, जो अधिक वजन सहन नहीं कर सकतीं, वह संहनन। 6-सेवार्तक-संहनन-जिसमें हड्डियां अधिक दुर्बल हों, साधारण वजन से टूट जाएं, वह संहनन।
2. 1-समचतुरस्रसंस्थान-जिसमें शरीर की रचना, ऊपर, नीचे तथा बीच में समभाग रूप से हो। 2-न्यग्रोध-परिमण्डल-संस्थान-बड़ के समान जिस शरीर की रचना नीचे से खराब और ऊपर से अच्छी हो अर्थात् नाभि से नीचे के अंग छोटे और ऊपर के बड़े हों। 3-सादि-संस्थान-जिसमें नाभि से नीचे के अंग पूर्ण और ऊपर के अपूर्ण हों। 4-कुब्जकसंस्थान-जिसमें छाती पर या पीठ पर कुबड़ हो। 5-वामनसंस्थान-जिसमें शरीर बौना हो, ठिगना हो। 6-हुण्डकसंस्थान-जिसमें शारीरिक अंगोपांग किसी विशेष आकार में न हों।

चक्रवर्ती, 9 वासुदेव और 9 प्रतिवासुदेव भी इसी आरे में होते हैं।

तीर्थंकर शब्द का अर्थ होता है–तीर्थ की स्थापना करने वाला। तीर्थ शब्द धर्म का परिचायक है। संसार समुद्र से इस आत्मा को तारने वाला एकमात्र धर्म ही है। धर्म रूप तीर्थ की स्थापना करने वाला तीर्थंकर होता है। धर्म का आचरण करने वाले साधु, साध्वी, श्रावक और श्राविका रूप चतुर्विध संघ को तीर्थ कहा जाता है। इस चतुर्विध तीर्थ की अर्थात् संघ की स्थापना करने वाले भी तीर्थंकर कहलाते हैं। इस अवसर्पिणी काल में 24 तीर्थंकर माने जाते हैं। पहले तीर्थंकर भगवान् ऋषभदेव थे, इनका वर्णन पूर्व कर दिया गया है। शेष 23 तीर्थंकरों के नाम निम्नोक्त हैं–

2. श्री अजितनाथ जी	**3. श्री संभवनाथ जी**	**4. श्री अभिनंदन जी**
5. श्री सुमतिनाथ जी	**6. श्री पद्मप्रभ जी**	**7. श्री सुपार्श्वनाथ जी**
8. श्री चन्द्रप्रभ जी	**9. श्री सुविधिनाथ जी**	**10. श्री शीतलनाथ जी**
11. श्री श्रेयांसनाथ जी	**12. श्री वासुपूज्य जी**	**13. श्री विमलनाथ जी**
14. श्री अनंतनाथ जी	**15. श्री धर्मनाथ जी**	**16. श्री शान्तिनाथ जी**
17. श्री कुन्थुनाथ जी	**18. श्री अरनाथ जी**	**19. श्री मल्लिनाथ जी**
20. श्री मुनिसुव्रत जी	**21. श्री नमिनाथ जी**	**22. श्री अरिष्टनेमि जी**
23. श्री पार्श्वनाथ जी	**24. श्री महावीर स्वामी जी**	

वर्तमान अवसर्पिणी काल के तीन आरे व्यतीत हो चुके थे, चौथे आरे का भी अधिकांश भाग बीत चुका था, उसके समाप्त होने में केवल 74 वर्ष 11 मास 7½ रात-दिन बाकी थे। महावीर स्वामी का जन्म इसी समय हुआ था। चतुर्थ आरा समाप्त होने में जब तीन वर्ष और चार मास शेष थे, तब भगवान् महावीर का निर्वाण हो गया था।

चक्रवर्ती 12 होते हैं। इनका नाम-निर्देश पहले किया जा चुका है। वासुदेव 9 होते हैं। वासुदेव पूर्वभव में निर्मल तप-संयम का पालन करके निदान (नियाणा) करते हैं। आयु पूर्ण होने पर ये अवतारी पुरुष एक भव करके उत्तम कुल में अवतरित होते हैं। वासुदेव पद की प्राप्ति के समय सुदर्शनचक्र, अमोघ खड्ग, कौमुदी गदा, पुष्पमाला, धनुष, अमोघबाण (शक्ति), कौस्तुभमणि और महारथ ये सात रत्न पैदा हो जाते हैं। वासुदेव के शरीर में चक्रवर्ती का आधा बल होता है।

वासुदेव से पहले प्रति-वासुदेव पैदा होता है। यह दक्षिणार्ध भरत-क्षेत्र पर राज्य करता है।

पर वासुदेव उसे मार कर उसके राज्य के अधिकारी बन जाते हैं। वासुदेव का तीन खण्डों पर एकछत्र राज्य होता है। बलदेव, वासुदेव से पहले जन्म लेते हैं और वासुदेव के समान होते हैं। दोनों के पिता एक होते हैं, और माता अलग-अलग होती हैं। दोनों भाइयों में परस्पर अत्यन्त प्रेम होने से दोनों ही मिलकर तीन खण्डों पर राज्य करते हैं। वासुदेव से आधा बल बलदेव में होता है। वासुदेव की आयु पूर्ण होने के बाद बलदेव संयम धारण करके आयु का अन्त होने पर स्वर्ग या मोक्ष में चले जाते हैं।

इस अवसर्पिणी काल में जो 9 वासुदेव, 9 प्रतिवासुदेव और 9 बलदेव हुए हैं उनके नाम इस प्रकार हैं–

9 वासुदेव

1–त्रिपृष्ठ	**2–द्विपृष्ठ**	**3–स्वयंभू**
4–पुरुषोत्तम	**5–पुरुषसिंह**	**6–पुरुषपुण्डरीक**
7–दत्त,	**8–लक्ष्मण**	**9–कृष्ण।**

9 प्रतिवासुदेव

1–सुग्रीव	**2–तारक**	**3–मेरक,**
4–मधुकैटभ	**5–नसुम्भ**	**6–बलि**
7–प्रह्लाद	**8–रावण**	**9–जरासंध**

9 बलदेव

1–अचल	**2–विजय**	**3–भद्र**
4–सुप्रभ	**5–सुदर्शन**	**6–आनन्द**
7–नन्दन	**8–पद्मरथ (राम)**	**9–बलभद्र**

दुषमा–यह आरा 21 हजार वर्षों का होता है। इसमें भी पूर्वा-पेक्षया वर्ण, रस, गन्ध और स्पर्श की उत्तमता में कमी आ जाती है। दिन में दो बार आहार की इच्छा पैदा होती है। इस आरे में निम्नोक्त 10 बातों का अभाव हो जाता है–

1–केवलज्ञान	**2–मन:पर्यवज्ञान**	**3–परमावधिज्ञान**
4–परिहारविशुद्धि	**5–सूक्ष्मसम्पराय,**	**6–यथाख्यात चारित्र**
7–पुलाकलब्धि	**8–आहारक शरीर,**	**9–क्षायिक सम्यक्त्व**
10–जिनकल्पी मुनि।		

इस आरे में जन्मा कोई भी जीव मुक्ति नहीं पा सकता। पर चतुर्थ आरे में जन्मे मनुष्य को इस आरे में केवल-ज्ञान हो सकता है, ऐसा व्यक्ति मुक्ति भी प्राप्त करता है, जैसे जम्बू-स्वामी। यह आरा दु:ख-प्रधान है, इसलिए इसका नाम दुषमा रखा गया है। इस आरे के अन्त में सभी धर्मों का विच्छेद हो जाएगा, राजनीति, धर्मनीति आदि सब नीतियां समाप्त हो जाएंगी। बादर (स्थूल) अग्नि भी उस समय समाप्त हो जायगी।

दुषम-दुषमा–यह आरा भी 21 हजार वर्षों का होता है। यह काल मनुष्यों और पशुओं के दु:ख-जनित हाहाकार से व्याप्त होगा। इस आरे के आरम्भ में धूलिमय भयंकर आंधियां चलेंगी, दिशाएं धूलि से भर जाएंगी, सर्वत्र अंधकार छा जाएगा। मेघ आग, विष आदि प्राणनाशक पदार्थों की वर्षा करेंगे। प्रलय-कालीन पवन और वर्षा के प्रभाव से विविध वनस्पतियां और त्रस प्राणी नष्ट हो जाएंगे। पहाड़ और नगर पृथ्वी में मिल जाएंगे। पर्वतों में एक वैताढ्य पर्वत ही बचेगा। नदियों में गंगा और सिंधु शेष रहेंगी। काल के अत्यन्त रूक्ष होने से सूर्य खूब तपेगा, चंद्रमा अति शीत होगा। भरतक्षेत्र की भूमि अंगार और तपे हुए तवे के समान बन जाएगी।

इस आरे के मनुष्यों की शारीरिक उत्कृष्ट अवगाहना एक हाथ की और उत्कृष्ट आयु सोलह और बीस वर्ष की होगी। ये अधिक सन्तान वाले होंगे। छ: वर्ष की नारी सन्तान को जन्म देगी। इनके वर्ण, रस, गन्ध और स्पर्श अशुभ होंगे। शरीर नानाविध व्याधियों से ग्रसित रहेगा। हृदय राग-द्वेष की भट्टी बन जाएगा। धर्म, कर्म का इन्हें कोई भान नहीं होगा। वैताढ्य पर्वत में 72 बिलें होंगी, वे ही इनके निवास स्थान होंगे। ये लोग सूर्योदय और सूर्यास्त के समय अपने-अपने बिलों से निकलेंगे और गंगा, सिंधु महानदी से मच्छ, कच्छप आदि जीवों को पकड़कर रेत में गाड़ देंगे। सायं के गाड़े हुए मच्छ आदि को सुबह निकाल कर खाएंगे, और सुबह के गाड़े हुए मच्छ आदि को सायंकाल निकालकर खाएंगे। ये मांसाहारी जीव मर कर नरकों में उत्पन्न होंगे।

उत्सर्पिणीकाल

अवसर्पिणीकाल के जिन छ: आरों का वर्णन ऊपर दिया गया है, वही छ: आरे उत्सर्पिणी काल में होते हैं। अन्तर केवल इतना है कि उत्सर्पिणीकाल में ये उलटे क्रम से होते हैं। उनका संक्षिप्त विवरण निम्नोक्त है–

दुषम-दुषमा–यह आरा 21 हजार वर्षों का होता है। इसमें मनुष्यों का वर्ण, रस, गन्ध, और

स्पर्श आदि प्रशस्त होना आरंभ हो जाता है। यह आरा अवसर्पिणी कालीन छठे आरे के समान होता है।

दुषमा–यह भी 21 हजार वर्षों का होता है। यह आरा पहले श्रावण कृष्णा प्रतिपदा से चालू होता है। इसके आरंभ होते ही पांच प्रकार की वृष्टि सम्पूर्ण भरतक्षेत्र में होती है। प्रथम वर्षा से धरती की उष्णता दूर हो जाती है। दूसरी से पृथ्वी की दुर्गन्ध दूर हो जाती है। तीसरी से पृथ्वी में स्निग्धता आती है। चौथी से 24 प्रकार के धान्यों के तथा अन्यान्य वनस्पतियों के अंकुर भूमि से निकल पड़ते हैं और पांचवीं से वनस्पति में मधुर, कटुक, तीक्ष्ण, कषैले और अम्लरस ही उत्पत्ति होती है।

प्रकृति की यह निराली लीला देखकर बिलों के निवासी जीव बिलों से बाहर निकलते हैं, वे पृथ्वी को सरस, सुन्दर और रमणीय देख कर फूले नहीं समाते हैं। एक दूसरे को बुलाकर परस्पर हर्षोत्सव मनाते हैं। पत्र, पुष्प, फल आदि से शोभित वनस्पतियों से अपना निर्वाह होते देख वे मिलकर प्रतिज्ञा करते हैं कि आज से हम लोग मांसाहार नहीं करेंगे, आज से हमारे लिए मांसाहारी की छाया भी त्याज्य होगी।

पांच प्रकार की वर्षा बरसाने वाले क्रमश: पुष्कर, क्षीर, घृत, अमृत और रस ये पञ्चविध मेघ हैं। प्रत्येक मेघ सप्ताह भर वर्षा करता है। पुष्कर और अमृत मेघ के वर्षा कर देने के अनन्तर सात-सात दिन तक वर्षा बन्द रहती है। इस प्रकार पांच सप्ताह वर्षा के और दो सप्ताह बिना वर्षा के इन समस्त दिनों को मिलाकर 7x5=35+14=49 दिन होते हैं। 50वें दिन सभी बिल निवासियों ने प्रतिज्ञा की थी और यह दिन श्रावण कृष्णा प्रतिपदा से लेकर भाद्रपद शुक्ला पंचमी को आता है। व्यवहार में उस ही दिन सम्वत्सर का आरंभ होने से 50वें दिन संवत्सरी महापर्व मनाया जाता है। सम्वत्सरी पर्व के सम्बन्ध में पीछे पृष्ठों पर प्रकाश डाला जा चुका है।

उत्सर्पिणी-कालीन द्वितीय आरे में पूर्वापेक्षया मनुष्यों तथा अन्य पदार्थों के वर्ण, रस, गन्ध और स्पर्श आदि की उत्तमता में उन्नति होती चली जाती है। इस आरे के जीव मर कर अपने-अपने कर्मों के अनुसार चारों गतियों में उत्पन्न होंगे। किन्तु सिद्ध पद कोई प्राप्त नहीं करेगा।

दुषम-सुषमा–यह आरा 42 हजार वर्ष कम, एक कोटाकोटि सागरोपम का होता है। इसकी सब स्थिति अवसर्पिणी-कालीन चौथे आरे के समान जाननी चाहिए। इसके तीन वर्ष

और 8½ मास व्यतीत होने के बाद प्रथम तीर्थंकर का जन्म होता है। पहले कहे अनुसार इस आरे में शेष 23 तीर्थंकर, 11 चक्रवर्ती, 9 वासुदेव, 9 प्रतिवासुदेव और 9 बलदेव होंगे। पुद्गल की वर्ण, रस आदि पर्यायों में वृद्धि होगी।

सुषम-दुषमा—यह आरा दो कोटाकोटि सागरोपम का शुभ होगा, और सारी बातें अवसर्पिणी के तीसरे आरे के समान होंगी। इसके भी तीन भाग होंगे, किन्तु क्रम उल्टा होगा। अवसर्पिणी के तीसरे भाग के समान इस आरे का प्रथम भाग होगा। इस आरे में श्री ऋषभदेव के समान चौबीसवें तीर्थंकर होंगे। 12 वां चक्रवर्ती होगा, करोड़ पूर्व का समय हो जाने के बाद कल्पवृक्षों की उत्पत्ति होने लगती है। उन्हीं से मनुष्यों और पशुओं की इच्छाएं पूर्ण होंगी। तब असि, मसि और कृषि के धन्धे समाप्त होंगे और युगलधर्म चालू होगा। इस प्रकार चतुर्थ आरे में सब मनुष्य अकर्म-भूमिज बन जाएंगे।

सुषमा—तीन कोटाकोटि सागरोपम का यह पांचवां आरा है। इस का समस्त वृत्तान्त अवसर्पिणी काल के दूसरे आरे के समान है। वर्ण, रस, गन्ध आदि की उत्तरोत्तर वृद्धि होती चली जाएगी।

सुषम-सुषमा—यह आरा चार कोटा-कोटि सागरोपम का है। इस का विवरण अवसर्पिणी-कालीन प्रथम आरे के समान जान लेना चाहिए।

इस प्रकार दस कोटाकोटि सागरोपम का अवसर्पिणी काल और दस कोटाकोटि सागरोपम का उत्सर्पिणी काल है। दोनों को मिलाकर बीस कोटाकोटि सागरोपम का एक कालचक्र कहलाता है।

ऊर्ध्वलोक

मेरुपर्वत के समतल से 9 सौ योजन नीचे और 9 सौ योजन ऊपर, कुल 18 सौ योजन में मध्यलोक है। इसमें सर्वोच्च शनैश्चर का विमान है। शनैश्चर के विमान की ध्वजा से ऊर्ध्व-लोक का आरंभ होता है। यहां से 1½ राजू ऊपर प्रथम सौधर्म तथा दूसरा ईशान देवलोक है। जम्बूद्वीप के मेरुपर्वत से दक्षिण-दिशा में प्रथम सौधर्म और उत्तर दिशा में दूसरा ईशान देवलोक है। पहले देवलोक के स्वामी का नाम शक्रेन्द्र महाराज है और दूसरे देवलोक के स्वामी ईशानेन्द्र हैं।

उक्त दोनों देवलोकों की सीमा के ऊपर तीसरा देवलोक सनत्कुमार और चौथा माहेन्द्र देवलोक है। मेरुपर्वत से दक्षिण-दिशा में सनत्कुमार और उत्तर-दिशा में माहेन्द्र है। इन दोनों

देवलोकों की सीमा से आधा राजू ऊपर मेरुपर्वत पर बराबर मध्य में पांचवां ब्रह्मलोक नाम का देवलोक है। इसी देवलोक की चारों दिशाओं और विदिशाओं में 9 लोकान्तिक जाति के देवता रहते हैं। ये देवता सम्यगृदृष्टि हैं और विषयरति से रहित होने के कारण देवर्षि कहलाते हैं, तथा आपस में छोटे, बड़े न होने के कारण सभी स्वतन्त्र हैं। ये तीर्थंकरों की दीक्षा के अवसर पर "बुज्झह-बुज्झह" कहकर प्रतिबोध करने का अपना आचार पालन करते हैं। लोक के किनारे पर रहने के कारण इन्हें लोकान्तिक कहा जाता है।

ब्रह्मलोक देवलोक से ऊपर समश्रेणी में क्रम से लान्तक, महा-शुक्र और सहस्रार देवलोक हैं। ये तीनों देवलोक एक दूसरे के ऊपर हैं। इनके ऊपर सौधर्म और ईशान की भांति आनत और प्राणत ये दो देवलोक हैं। इनके ऊपर समश्रेणि में सनत्कुमार और माहेन्द्र की तरह आरण और अच्युत देवलोक हैं। इन देवलोकों के ऊपर क्रम से नव विमान ऊपर-ऊपर हैं, जो पुरुषाकृति लोक के ग्रीवा-स्थानीय भाग में होने के कारण ग्रैवेयक कहलाते हैं। इनके ऊपर विजय, वैजयन्त, जयन्त, अपराजित और सर्वार्थसिद्ध ये पांच विमान ऊपर-ऊपर हैं। ये सब से उत्तर-प्रधान होने के कारण अनुत्तर विमान कहलाते हैं।

सौधर्म से अच्युत तक के देवता कल्पोपपन्न और इनके ऊपर के सभी देव कल्पातीत कहलाते हैं। कल्पोपपन्न में स्वामी-सेवक भाव है, पर कल्पातीत में नहीं है। वे तो सभी इन्द्र के समान होने से अहमिन्द्र कहलाते हैं। मनुष्यलोक में किसी निमित्त से जाना हो तो कल्पोपपन्न देव ही आते-जाते हैं। कल्पातीत देव अपने स्थान को छोड़कर कहीं नहीं जाते।

पहले-दूसरे देवलोक के देवता मनुष्यों की तरह काम-भोग का सेवन करते हैं। तीसरे और चौथे देवलोक के देवता देवी के स्पर्शमात्र से भली प्रकार तृप्त हो जाते हैं। पांचवें, छठे देवलोक के देव, देवियों के सुसज्जित रूप को देखकर ही विषय-सुख-जन्य सन्तोष प्राप्त कर लेते हैं। सातवें, आठवें स्वर्ग के देवों की कामवासना देवियों के विविध शब्द मात्र सुनने से शान्त हो जाती है और उन्हें विषय-सुख के अनुभव का आनन्द मिल जाता है। नौवें, दसवें, ग्यारहवें तथा बारहवें, इन चार स्वर्गों के देवों की वैषयिक तृप्ति केवल देवियों के चिन्तन मात्र से हो जाती है। इस तृप्ति के लिए उन्हें देवियों के न स्पर्श की, न रूप देखने की और न उनके गीत सुनने की अपेक्षा रहती है।

देवियों की उत्पत्ति दूसरे देवलोक तक होती है, इससे ऊपर नहीं। पहले और दूसरे देवलोक की देवियां जब तीसरे, चौथे आदि ऊपर के स्वर्ग में रहने वाले देवों को विषय-सुख के लिए

उत्सुक और इस कारण अपनी ओर आदरशील जानती हैं, तभी वे ऊपर के देवों के पास पहुंच जाती हैं, वहां पहुंचते ही उनके हस्त आदि के स्पर्श मात्र से तीसरे, चौथे स्वर्ग के देवों की काम-तृप्ति हो जाती है। उनके शृंगार सज्जित मनोहर रूप को देखने मात्र से पांचवें और छठे स्वर्ग के देवों की लालसा पूर्ण हो जाती है। इसी तरह उनके सुन्दर संगीतमय शब्द को सुनने मात्र से सातवें और आठवें स्वर्ग के देव वैषयिक आनन्द का अनुभव कर लेते हैं। देवियों की पहुंच सिर्फ आठवें स्वर्ग तक ही है, इसके ऊपर नहीं। नौवें से बारहवें तक स्वर्ग के देवों की कामसुख-तृप्ति केवल मानसिक चिन्तन मात्र से ही हो जाती है। बारहवें स्वर्ग से ऊपर जो देव हैं, वे शान्त और काम-लालसा से रहित हो जाते हैं। इसलिए उनको देवियों के स्पर्श, रूप, शब्द या चिंतन द्वारा कामसुख भोगने की अपेक्षा नहीं रहती, फिर भी वे अन्य देवों से अधिक संतुष्ट और अधिक सुखी होते हैं। कारण स्पष्ट है, और वह यह है कि ज्यों-ज्यों चित्त-संक्लेश अधिक होता है त्यों-त्यों उसको मिटाने के लिए विषयभोग अधिक सेवन किये जाते हैं। दूसरे स्वर्ग तक के देवों की अपेक्षा तीसरे और चौथे के देवों की, और उनकी अपेक्षा पांचवें और छठे के देवों की, इस तरह ऊपर-ऊपर के स्वर्ग के देवों की कामवासना मंद होती है, इसलिए उनके चित्त-संक्लेश की मात्रा भी कम होती जाती है। इसीलिए उनके कामभोग के साधन भी अल्प होते हैं। बारहवें स्वर्ग के ऊपर वाले देवों की काम-वासना शान्त होती है, इस कारण उन्हे स्पर्श, रूप, शब्द, चिन्तन आदि में से किसी भी भोग की इच्छा नहीं होती। वे सन्ताष-जन्य परमसुख में सदा निमग्न रहते हैं। यही कारण है कि नीचे-नीचे की अपेक्षा ऊपर-ऊपर के देवों का सुख अधिकाधिक माना गया है।

जैसे भूमण्डल पर राजा के यहां उमराव, पुरोहित, अंगरक्षक आदि लोग रहते हैं, वैसे ही देवलोक में इन्द्रों के यहां भी देव होते हैं। उनके सामानिक, त्रायस्त्रिंश, पारिषद्य, आत्मरक्षक, लोकपाल, अनीक, प्रकीर्णक, आभियोग्य और किल्विषिक ये भेद हैं। जो आयु में इन्द्र के समान हों, अमात्य, पिता, गुरु आदि की भांति पूज्य हों, जिनमें केवल इन्द्रत्व नहीं होता, शेष सब इन्द्र-वैभव होता है, ऐसे इन्द्र समान देव सामानिक कहलाते हैं। जो देव पुरोहित का काम करते हैं वे त्रायस्त्रिंश, जो मित्रों का काम करते हैं वे पारिषद्य, जो शस्त्र उठाए हुए आत्मरक्षक के रूप में पीठ की ओर खड़े रहते हैं वे आत्मरक्षक देव हैं। लोकपाल वे हैं जो सरहद की रक्षा करते हैं। जो देव सैनिक रूप में हैं, तथा अश्व, गज, रथ, बैल आदि का रूप बनाकर जो सैनिक रूप में इन्द्र के काम आते हैं, वे देव अनीक कहलाते हैं जो नगर-निवासी और देशवासी के समान हैं वे प्रकीर्णक, जो दासतुल्य हैं वे आभियोग्य-सेवक, और जो अन्त्यज के समान हैं,

उनको किल्विषिक कहते हैं।

देवों की उत्पत्ति उत्पादशय्या में होती है। यह देव-दूष्य (देववस्त्र) से ढकी रहती है। धर्मात्मा और पुण्यात्मा जीव जब इसमें उत्पन्न होते हैं तो वह अंगारे पर डाली हुई रोटी के समान फूल जाती है। तब पास में रहे हुए देव तथा उसके अधीन देव हर्षोत्सव मनाते हैं, जय-जयकार ध्वनि से विमान को गुजा देते हैं। अन्तर्मुहूर्त के बाद उत्पन्न हुआ देव तरुण वय वाले मनुष्य की भांति शरीर बनाकर, देवदूष्य–देववस्त्रों से शरीर को आच्छादित करके बैठ जाता है। तब पास में खड़े देव उससे प्रश्न करते हैं–आपने क्या करनी की थी जो आप हमारे नाथ बने? तब वह देव देव-योनि के स्वभाव से प्राप्त हुए अवधिज्ञान से अपने पूर्व-जन्म पर विचार करता है, और यहां के मित्र आदि का विचार आते ही यहां आना चाहता है। तब वे देव कहते हैं–वहां जाकर यहां का क्या हाल सुनाओगे! पहले दो घड़ी यहां के नाटक तो देख लो! तब उसे 32 प्रकार के नाटक दिखलाये जाते हैं। इन नाटकों में यहां के 2000 वर्ष पूरे हो जाते हैं। वह देव वहां के सुखों में लुब्ध हो जाता है, और वहीं भोगोपभोगों में रमण करता रहता है।

सर्वार्थसिद्ध नामक विमान के मध्य छत में एक चन्दोवा 256 मोतियों का होता है। उन सबके बीच का एक मोती 64 मन का होता है। उसके चारों ओर चार मोती 32-32 मन के हैं। इनके पास आठ मोती 16-16 मन के हैं। इनके पास 16 मोती आठ-आठ मन के हैं। इनके पास बत्तीस मोती चार-चार मन के हैं। इनके पास 64 मोती दो-दो मन के हैं। और इन के पास 128 मोती एक-एक मन के हैं। ये मोती हवा से आपस में टकराते हैं तो इनमें से छः राग और छत्तीस रागनियां निकलती हैं। सर्वार्थसिद्ध के देव एक ही भव करके अर्थात् मनुष्य होकर मोक्ष प्राप्त करते हैं। यहां के देव सर्वाधिक सुख के भोक्ता होते हैं।

जिस देव की जितने सागरोपम की आयु होती है, वह उतने ही पक्ष में श्वासोच्छ्वास लेता है और उतने ही हजार वर्ष में उसे आहार करने की इच्छा पैदा होती है। जैसे सर्वार्थसिद्ध विमान के देव की आयु 33 सागरोपम होती है, तो वह तेतीस पक्ष में (16½ महीनों में) एक बार श्वासोच्छ्वास लेते हैं, और तेतीस हजार वर्षों के बाद आहार ग्रहण करते हैं। देव कवलाहार नहीं करते, रोमाहार करते हैं। जब इन्हें आहार की इच्छा होती है तो रत्नों के शुभ पुद्गलों को रोमों द्वारा खींच लेते हैं।

नीचे-नीचे के देवों से ऊपर-ऊपर के देव सात बातों में अधिक होते हैं–स्थिति, प्रभाव, सुख, द्युति, लेश्याविशुद्धि, इन्द्रियविषय और अवधि विषय। स्थिति को लेकर ऊपर के देवों

की जो अधिकता है, सर्वप्रथम इस को समझ लीजिए–

देवलोक	जघन्य आयु	उत्कृष्ट आयु
प्रथम (1)	दस हजार वर्ष (एक पल्योपम)	दो सागरोपम
द्वितीय (2)	कुछ अधिक एक पल्योपम	कुछ अधिक दो सागरोपम
तृतीय (3)	दो सागरोपम	सात सागरोपम
चतुर्थ (4)	कुछ अधिक दो सागरोपम	कुछ अधिक सात सागरोपम
पंचम (5)	सात सागरोपम	दस सागरोपम
षष्ठ (6)	10 सागरोपम	14 सागरोपम
सप्तम (7)	14 सागरोपम	17 सागरोपम
अष्टम (8)	17 सागरोपम	18 सागरोपम
नवम (9)	18 सागरोपम	19 सागरोपम
दशम (10)	19 सागरोपम	20 सागरोपम
एकादशम (11)	20 सागरोपम	21 सागरोपम
द्वादशम (12)	21 सागरोपम	22 सागरोपम

नव ग्रैवेयकों की जघन्य और उत्कृष्ट स्थिति निम्नोक्त है–

ग्रैवेयक	जघन्य आयु	उत्कृष्ट आयु
1	22 सागरोपम	23 सागरोपम
2	23 सागरोपम	24 सागरोपम
3	24 सागरोपम	25 सागरोपम
4	25 सागरोपम	26 सागरोपम
5	26 सागरोपम	27 सागरोपम
6	27 सागरोपम	28 सागरोपम
7	28 सागरोपम	29 सागरोपम
8	29 सागरोपम	30 सागरोपम
9	30 सागरोपम	31 सागरोपम

22वें देवलोक से लेकर 25वें देवलोक तक के देवों की जघन्य आयु 31 सागरोपम और उत्कृष्ट आयु 32 सागरोपम[1] है और सर्वार्थसिद्ध विमान के देवों की आयु 33 सागरोपम है। यहां जघन्य और उत्कृष्ट का भेद नहीं है।

प्रभाव

निग्रह, अनुग्रह करने का सामर्थ्य, अणिमा आदि सिद्धि का सामर्थ्य और आक्रमण करके दूसरे से काम करवाने का बल, ये सब बातें प्रभाव के अन्तर्गत हैं। ऐसा प्रभाव यद्यपि ऊपर-ऊपर के देवों में अधिक होता है, तथापि उनमें उत्तरोत्तर अभिमान व संक्लेश कम होने से वे अपने प्रभाव का उपयोग कम ही करते हैं।

सुख और द्युति

इन्द्रियों के द्वारा उनके ग्राह्य विषयों का अनुभव करना सुख कहा जाता है। शरीर, वस्त्र और आभरण आदि की दीप्ति ही द्युति है। सुख और द्युति ऊपर-ऊपर के देवों में अधिक होने के कारण उत्तरोत्तर क्षेत्र स्वभाव जन्य शुभ पुद्गल परिणाम की प्रकृष्टता ही है।

लेश्या[2] की विशुद्धि

पहले दो स्वर्गों के देवों में पीत अर्थात् तेजोलेश्या होती है। तीसरे से पांचवें स्वर्ग तक के देवों में पद्मलेश्या और छठे से सर्वार्थसिद्ध पर्यन्त के देवों में शुक्ललेश्या होती है। यह नियम शरीरवर्णरूप द्रव्य लेश्या का है, क्योंकि अध्यवसायरूप भावलेश्या तो सब देवों में छहों पाई जाती हैं। भाव यह है कि ऊपर के देवों की लेश्या संक्लेश की कमी होने के कारण उत्तरोत्तर विशुद्ध विशुद्धतर ही होती है।

---

1. तत्त्वार्थसूत्र के मतानुसार।
2. लेश्या (परिणाम की धारा) छ: होती हैं–कृष्ण, नील, कापोत, तेजो, पद्म, और शुक्ल। कृष्ण लेश्या वाला पांच आश्रवों का सेवन स्वयं करता है, दूसरों से कराता है, तीव्र परिणामों द्वारा छ: काया का आरंभ करता है, हिंसा आदि पापों में सदा प्रसन्न रहता है। नील लेश्या वाला ईर्ष्यालु होता है। दूसरों के गुणों को सहन नहीं करता। स्वयं तप नहीं करता, न दूसरों को करने देता है। नित्य-कपटी, लज्जा-रहित, रसगृद्ध और महान आलसी होता है। कापोत लेश्या वाला बांका बोलता चलता है, स्वदोषों को ढकता है, दूसरे के दोषों को प्रकट करता है। चौर्य आदि दूषणों का केन्द्र होता है। तेजो-लेश्या वाला न्यायी, स्थिर-स्वभाव, सरल, कुतूहल-रहित, दान्त, पापभीरु, धर्मी और प्रियधर्मी होता है। पद्मलेश्या वाला सदा उपशान्त रहता है, मन, वाणी और काया को वश में रखता है। शुक्ल-लेश्या वाला आर्त्त और रौद्र ध्यान से अलग होकर धर्म और शुक्ल ध्यान में मग्न रहता है। दान्त, सरागसंयमी या वीतरागी होता है।

इन्द्रियविषय

दूर से इष्ट विषयों को ग्रहण करने का जो इन्द्रियों का सामर्थ्य है, वह भी उत्तरोत्तर गुण की वृद्धि और संक्लेश की न्यूनता के कारण ऊपर-ऊपर के देवों में अधिक-अधिक है।

अवधिज्ञान[1] का विषय

अवधिज्ञान का सामर्थ्य भी ऊपर-ऊपर के देवों में ज्यादा ही होता है। पहले दूसरे स्वर्ग के देव अधोभाग में रत्नप्रभा तक, तिरछे भाग में असंख्यात लाख योजन तक और ऊर्ध्वभाग में अपने-अपने विमान की ध्वजा तक अवधिज्ञान से जानने का सामर्थ्य रखते हैं। तीसरे, चौथे स्वर्ग के देव अधोभाग में शर्कराप्रभा तक, तिरछे भाग में असंख्यात लाख योजन तक और ऊर्ध्वभाग में अपने-अपने विमान की ध्वजा तक अवधिज्ञान से देख सकते हैं। जिन देवों के अवधिज्ञान का क्षेत्र समान होता है, उनमें भी नीचे की अपेक्षा ऊपर के देव विशुद्धतर ज्ञान का सामर्थ्य रखते हैं।

चार बातें ऐसी हैं जो नीचे की अपेक्षा ऊपर-ऊपर के देवों में कम-कम पाई जाती हैं। गति, शरीर, परिग्रह और अभिमान। गमन क्रिया की शक्ति और गमन क्रिया में प्रवृत्ति ये दोनों ऊपर-ऊपर के देवों में कम पाई जाती हैं, क्योंकि ऊपर-ऊपर के देवों में उत्तरोत्तर महानुभावता और उदासीनता अधिक होने के कारण देशान्तर विषयक क्रीड़ा करने की रति कम-कम होती जाती है। सानत्कुमार आदि के देव जिनकी जघन्य स्थिति दो सागरोपम की होती है, वे अधोभाग में सातवें नरक तक और तिरछे असंख्यात हजार कोड़ाकोड़ी योजन पर्यन्त जाने का सामर्थ्य रखते हैं। इसके बाद जघन्य स्थिति वाले देवों का गति-सामर्थ्य घटते-घटते यहां तक घट जाता है कि ऊपर के देव अधिक से अधिक तीसरे नरक तक ही जाने की सामर्थ्य रखते हैं। शक्ति चाहे अधिक हो, पर कोई देव अधो-भाग में तीसरे नरक से आगे न गया है और न जायेगा।

शरीर का परिमाण पहले, दूसरे स्वर्ग में सात हाथ का, तीसरे, चौथे स्वर्ग में छः हाथ का, पांचवें, छठे स्वर्ग में पांच हाथ का, सातवें और आठवें में चार हाथ का, नौवें से बारहवें स्वर्ग तक में तीन-तीन हाथ का, ग्रैवेयक में दो हाथ का, और अनुत्तरविमान में एक हाथ का है।

पहले स्वर्ग में 32 लाख विमान, दूसरे में 28 लाख, तीसरे में 12 लाख, चौथे में आठ

1. इन्द्रियों और मन की सहायता लिए बिना ही केवल आत्मा की शक्ति से रूपी पदार्थों का मर्यादा-पूर्वक जो ज्ञान ग्रहण किया जाता है, उसे अवधि-ज्ञान कहते हैं।

लाख, पांचवें में चार लाख, छठे में पचास हजार, सातवें में 40 हजार, आठवें में 6 हजार, नौवें से 12वें तक सात-सात सौ, अधोवर्ती तीन ग्रैवेयक में 111, मध्यम तीन ग्रैवेयक में 107, ऊर्ध्व तीन ग्रैवेयक में 100 और अनुत्तर में सिर्फ पांच ही विमान का परिग्रह है।

अभिमान अहंकार को कहते हैं। स्थान, परिवार, शक्ति, विषय, विभूति, स्थिति आदि में अभिमान पैदा होता है। ऐसा अभिमान कषाय की कमी के कारण ऊपर-ऊपर के देवों में उत्तरोत्तर कम ही होता है।

प्रश्न—जैनागमों में स्वर्ग और नरक का बड़े विस्तार से वर्णन किया गया है, जैनाचार्यों ने स्वर्ग और नरक के विवेचन को इतना महत्त्व क्यों दिया है?

उत्तर—यह सत्य है कि जैनागमों का अधिक भाग स्वर्ग और नरक के वर्णक पाठों से भरा पड़ा है। और यह भी सत्य है कि आज के शिक्षित व्यक्ति को स्वर्ग और नरक सम्बन्धी वर्णन से प्राय: चिढ़-सी है, तथा वह इसे कल्पना समझता है, उसके विचार में स्वर्ग-नरक सम्बन्धी वर्णन को महत्त्व दिया है, इसके पीछे एक रहस्य है और वह निम्नोक्त है—

यदि हम आत्मतत्त्व की सत्ता को स्वीकार करते हैं तो हमें स्वर्ग और नरक भी स्वीकार करने होंगे। जो व्यक्ति आत्मतत्त्व में विश्वास नहीं रखता उसके लिए स्वर्ग-नरक कल्पना मात्र हैं, किन्तु आत्मतत्त्व में विश्वास रखने वाला व्यक्ति स्वर्ग-नरक का कैसे विरोध कर सकता है? क्योंकि स्वर्ग-नरक भी हमारे भूमण्डल के विशिष्ट अंग हैं। ऐसी दशा में सर्वज्ञ सर्व-दर्शी जग का अधिकांश भाग बिना वर्णन किए कैसे छोड़ सकते थे? नरक-स्वर्ग-सम्बन्धी वर्णन निकाल देने पर कर्मवाद, आत्मवाद, मुक्ति आदि सभी सिद्धान्त समाप्त हो जाते हैं, और जैनधर्म का स्वरूप ही नष्ट हो जाता है। अत: आत्मवादी जैनाचार्यों के लिए स्वर्ग-नरक का वर्णन करना अत्यावश्यक था।

सिद्धशिला

सर्वार्थसिद्ध विमान से 12 योजन ऊपर 45 लाख योजन की लम्बी चौड़ी गोलाकार सिद्ध-शिला है। वह मध्य में आठ योजन मोटी और चारों ओर क्रम से घटती-घटती किनारे पर मक्खी के पंख से भी अधिक पतली हो जाती है। इस सिद्धशिला के एक योजन ऊपर अग्रभाग में 45 लाख योजन लम्बे-चौड़े और 333 धनुष और 32 अंगुल जितने ऊंचे क्षेत्र में अनन्त सिद्ध भगवान् विराजमान हैं। यहीं लोक का अन्त हो जाता है। लोक के चारों ओर अनन्त और असीम अलोकाकाश में आकाश द्रव्य के अलावा और कोई द्रव्य नहीं होता। खाली आकाश ही आकाश है।

इस प्रकार सारा विश्व तीन भागों में विभक्त है। सबसे नीचे नरक हैं और सबसे ऊपर सिद्धशिला है। जैनदर्शन ने भूमण्डल, आकाश-मण्डल का जो स्वरूप बतलाया है, उसका यह संक्षिप्त-सा वर्णन है।

प्रश्न–जैनदर्शन द्वारा मान्य भूगोल और खगोल का आधुनिक भू-सिद्धान्त और ख-सिद्धान्त से मेल नहीं खाता, इसका क्या कारण है?

उत्तर–भूमण्डल और आकाशमण्डल के सम्बन्ध में जैन दर्शन ने जो तथ्य साहित्य-जगत के सामने उपस्थित किये हैं, वे सर्वथा सत्य हैं, उन्हें किसी भी तरह झुठलाया नहीं जा सकता है। भूगोल के विषय में यद्यपि आधुनिक प्रचलित भूगोल और भूभ्रमण के सिद्धान्त जैनदर्शन के भूसम्बन्धी सिद्धान्तों से विरोध रखते हैं किन्तु यह विरोध चिरस्थायी नहीं है, सदा ठहरने वाला प्रतीत नहीं होता। वह घड़ी बहुत शीघ्र आने वाली प्रतीत होती है जब जैनदर्शन का भू-सम्बन्धी और ख-सम्बन्धी सिद्धान्त सर्वमान्य होगा तथा आधुनिक भूवेत्ताओं के सिद्धान्त उलट-पुलट हो जाएंगे। इसका कारण इतना ही है कि भूगोल के विषय में यूरोपीय विद्वानों के सिद्धान्त अभी स्थिर नहीं हो सके हैं। भूगोल को लेकर उनमें अब भी अनेकों मत-भेद हैं। इस मत-भेद के अनेकों उदाहरण उपस्थित किये जा सकते हैं। कोई विद्वान यदि सूर्य को स्थिर मानता है तो कोई उसी सूर्य को "लिये" नामक तारे की ओर प्रति घण्टा बीस हजार मील दौड़ता हुआ लिखता है। कोई सूर्य को पृथ्वी से तेरह लाख गुना और कोई पन्द्रह लाख गुना बतलाता है। अभी कुछ वर्ष पहले उत्तरी ध्रुव का पता लगाने वाले कैनेडा के एक विद्वान ने यह पता लगाया है कि वर्तमान भूगोल में उत्तरी ध्रुव में जो 13 मील का एक गड्ढा माना जाता है वह गलत है। वहां पर उसे चौरस पृथ्वी मिली है। कोई विद्वान् कहता है कि पृथ्वी थाली के समान गोल और स्थिर है, नारंगी के समान नहीं है और घूमती नहीं है। कोई कहता है कि सूर्य एक नहीं है, अनेक हैं। इत्यादि प्रमाणों से यह भली भांति प्रमाणित हो जाता है कि वर्तमान भूगोल और भूभ्रमण का सिद्धान्त अभी निश्चित और असंदिग्ध नहीं है। सिद्धान्त निश्चित वही होता है जो सदा अपने स्वरूप में स्थिर रहे, कभी हिले-चले नहीं, परिवर्तित न हो। आधुनिक भूमण्डल और आकाशमण्डल सम्बन्धी सिद्धान्त अभी स्थिर नहीं कहे जा सकते हैं। अभी तो पाश्चात्य विद्वान स्वयं ही इसका अन्वेषण पूरा नहीं कर पाए हैं। ऐसी अवस्था में जैनदर्शन के भूमिसिद्धान्त को असत्य या अपूर्ण कैसे कहा जा सकता है?

जैनसिद्धान्त की ऐसी अनेकों मान्यताएं मिलती हैं, जो विज्ञान द्वारा पूर्व स्वीकार नहीं की जाती थीं, किन्तु अब उन्हें सहर्ष स्वीकार किया जा रहा है। जैनसिद्धान्त सदा से वनस्पति में

जीवसत्ता स्वीकार करता आया है, किन्तु जन-साधारण इसको सत्य मानने को तैयार नहीं था, और इस मान्यता को कपोल-कल्पित कहता था, किन्तु आज विज्ञान ने इसे प्रमाणित कर दिया है। इसी प्रकार विज्ञान जब उन्नति और विकास के महामन्दिर तक चरण रखेगा तो संभव है कि वह जैनदर्शन द्वारा मान्य भूगोल और खगोल के सिद्धान्त भी स्वीकार कर ले।

श्री मदनकुमार मेहता द्वारा हिन्दी में अनुवादित भगवतीसूत्र की प्रस्तावना के पृष्ठ 15 से लेकर पृष्ठ 26 तक श्री मोहनलाल जी बांठिया ने विज्ञान स्वीकृत जैन सिद्धान्तों पर कुछ प्रकाश डाला है। जिज्ञासुओं को वह स्थल अवश्य देख लेना चाहिए।

इसके अलावा, एक बात और विचारणीय है कि कोलम्बस से पहले अमेरिका अज्ञात अवस्था में ही था, कोलम्बस का जहाज यदि अकस्मात् अमेरिका न पहुंचता तो उसका किसी को पता ही न लगता, ऐसे ही न जाने आज भी कितने अमेरिका अज्ञात पड़े हैं! जैन दृष्टि से वर्तमान में उपलब्ध देशों की संख्या बहुत अल्प है, समय ने यदि कोलम्बस जैसे अन्वेषक और पैदा कर दिये तो सम्भव है उनका भी पता मिल जाए।

❑ ❑ ❑

संदर्भ-ग्रन्थों की सूची

1. **अमोलक सूक्ति रत्नाकर**—कल्याण ऋषि जी महाराज
2. **अहिंसा दर्शन**—उपाध्याय कवि श्री अमरचन्द्र जी महाराज
3. **आचारांग सूत्र**—सन्त बालजी
4. **आचारांग सूत्र (सटीक)**—मुनि श्री सौभाग्यमल जी महाराज
5. **आत्मरहस्य**—रत्नलाल जैन
6. **इञ्जील (बाईबल)**
7. **ऐतिहासिक नोंध**—मोतीलाल वाड़ीलाल शाह
8. **कबीर वाणी**
9. **कल्पसूत्र (हिन्दी)**
10. **गणधर-वाद**—पं. दलसुख मालवणिया
11. **गहरे पानी पैठ**—श्री अयोध्याप्रसाद गोयलीय
12. **गौतम कुलक**
13. **चन्द्र ज्योति जीवन : चरित्र**—महासती श्री चन्दा जी महाराज
14. **जैनतत्त्वादर्श**—श्री विजयानन्दसूरि
15. **जैनतत्त्व प्रकाश**—पूज्य श्री अमोलक ऋषि जी महाराज
16. **जैनत्व की झांकी**—उपाध्याय कवि अमरचन्द जी महाराज
17. **जैनदर्शन**—मुनि न्यायविजय जी
18. **जैन दर्शन**—पं. महेन्द्र कुमार दर्शनाचार्य
19. **जैन दर्शन**—डॉ. मोहनलाल मेहता
20. **जैन दर्शन में श्वेताम्बर तेरहपन्थ**
21. **जैन धर्म**—श्री सुशील मुनि जी
22. **जैन धर्म**—पं. कैलाशचन्द्र जी जैन
23. **जैन शासन**—सुमेरुचन्द्र जी दिवाकर
24. **जैन सिद्धांत बोल संग्रह 8 भाग**—भैरोदान सेठिया, बीकानेर
25. **तत्त्वनिर्णय प्रसाद**—श्री विजयानन्द सूरि

26. **तत्त्वार्थ सूत्र**–पण्डित सुखलाल जी सिंघवी
27. **दशवैकालिक सूत्र**–आचार्य पूज्य श्री आत्माराम जी महाराज
28. **दिगम्बर मत समीक्षा**–मुनि मिश्रीमल जी महाराज
29. **दीघ-निकाय**–(अनुवादक) राहुल सांकृत्यायन
30. **नयवाद**–श्री फूलचन्द्र जी म., 'श्रमण'
31. **निर्ग्रन्थ प्रवचन**–जैनदिवाकर श्री चौथमल जी महाराज
32. **प्रश्न प्रकाश**–मुनि धनराज जी
33. **भगवती सूत्र (हिन्दी)**–मदनकुमार मेहता
34. **भगवद्गीता**
35. **भगवान महावीर (उर्दू)**–श्री काशीराम चावला
36. **भ्रमविध्वंसन**–श्री जयाचार्य
37. **भारतीय संस्कृति की दो धाराएं**–श्री इन्द्रचन्द्र शास्त्री
38. **मुखवस्त्रिका सिद्धि**–श्री रत्नलाल डोशी
39. **शास्त्रार्थ नाभा**–शास्त्रार्थ-महारथी गणी श्री उदयचन्द्र जी महाराज
40. **शृंगार शतक (भर्तृहरि)**
41. **श्रमण भगवान महावीर**–श्री कल्याणविजय जी
42. **श्रमण सूत्र**–उपाध्याय कवि श्री अमर चन्द्र जी महाराज
43. **श्रावक धर्म**–महासती श्री उज्ज्वल कुमारी जी महाराज
44. **श्रीमद्भीषण जी के विचार रत्न**–श्रीचन्द रामपुरिया
45. **सिक्खशास्त्र (गुरु ग्रन्थ साहिब)**
46. **स्थानकवासी**–आचार्य पूज्य श्री आत्माराम जी महाराज
47. **स्थानकवासी और तेरहपन्थियों में अन्तर**
48. **स्थानांग सूत्र**
49. **स्याद्वाद-मंजरी**–(अनुवादक) श्री जगदीश चन्द्र जैन, एम.ए., पी-एच.डी.
50. **स्वर्ण जयन्ती ग्रन्थ**–स्थानकवासी जैन कान्फ्रैंस द्वारा प्रकाशित
51. **ज्ञान गंगा**–भारतीय ज्ञानपीठ काशी

❑❑❑

जैन धर्म दिवाकर,
आचार्य सम्राट् श्री आत्माराम जी महाराज : शब्द चित्र

जन्म भूमि	–	राहों
पिता	–	लाला मनसारामजी चौपड़ा
माता	–	श्रीमती परमेश्वरी देवी
वंश	–	क्षत्रिय
जन्म	–	विक्रम सं. 1939 भाद्र सुदि वामन द्वादशी (12)
दीक्षा	–	वि.सं. 1951 आषाढ़ शुक्ल 5
दीक्षा स्थल	–	बनूड़ (पटियाला)
दीक्षा गुरु	–	मुनि श्री सालिगराम जी महाराज
विद्यागुरु	–	आचार्य श्री मोतीराम जो महाराज (पितामह गुरु)
साहित्य सृजन	–	अनुवाद, संकलन-सम्पादन-लेखन द्वारा लगभग 60 ग्रन्थ
आगम अध्यापन	–	शताधिक साधु-साध्वियों को।
कुशल प्रवचनकार	–	तीस वर्ष से अधिक काल तक।
आचार्य पद	–	पंजाब श्रमण संघ, वि.सं. 2003, लुधियाना।
आचार्य सम्राट् पद	–	अ. भा. श्री वर्धमान स्थानकवासी जैन श्रमण संघ सादड़ी (मारवाड़) 2009 वैशाख शुक्ल
संयम काल	–	67 वर्ष लगभग।
स्वर्गवास	–	वि.सं. 2019 माघवदि 9 (ई. 1962) लुधियाना।
आयु	–	79 वर्ष 8 मास, ढाई घंटे।
विहार क्षेत्र	–	पंजाब, हरियाणा, हिमाचल, राजस्थान, उत्तर प्रदेश, दिल्ली आदि।
स्वभाव	–	विनम्र-शान्त-गंभीर प्रशस्त विनोद।
समाज कार्य	–	नारी शिक्षण प्रोत्साहन स्वरूप कन्या महाविद्यालय एवं पुस्तकालय आदि की प्रेरणा।

आचार्य प्रवर श्री शिवमुनि जी महाराज : शब्द चित्र

जन्म स्थान	–	मलौटमंडी, जिला-फरीदकोट (पंजाब)
जन्म	–	18 सितम्बर, 1942 (भादवा सुदी सप्तमी)
माता	–	स्व. श्रीमती विद्यादेवी जैन
पिता	–	स्व. श्री चिरंजीलाल जी जैन
वर्ण	–	वैश्य ओसवाल
वंश	–	भाबू
दीक्षा	–	17 मई, 1972 समय : 12.00 बजे
दीक्षा स्थान	–	मलौटमण्डी (पंजाब)
दीक्षा गुरु	–	बहुश्रुत, जैनागमरत्नाकर राष्ट्रसंत श्रमणसंघीय सलाहकार श्री ज्ञानमुनि जी महाराज
शिष्य-संपदा	–	श्री शिरीष मुनि जी, श्री शुभममुनि जी श्री श्रीयशमुनि जी, श्री सुव्रतमुनि जी, श्री शमितमुनि जी
प्रशिष्य	–	श्री निशांत मुनि जी, श्री निरंजन मुनि जी
युवाचार्य पद	–	13 मई, 1987 पूना, महाराष्ट्र
श्रमणसंघीय आचार्य पदारोहण	–	9 जून, 1999 अहमदनगर, महाराष्ट्र
चादर महोत्सव	–	7 मई, 2001, ऋषभ विहार, दिल्ली में
विचरण	–	पंजाब, हरियाणा, हिमाचल, दिल्ली, उत्तर प्रदेश, राजस्थान, मध्य प्रदेश, महाराष्ट्र, आंध्र प्रदेश, तमिलनाडु, कर्नाटक, गुजरात आदि
अध्ययन	–	डबल एम.ए., पी-एच.डी., डी.लिट्, आगमों का गहन-गंभीर अध्ययन, ध्यान-योग-साधना में विशेष शोध कार्य
एवार्ड	–	1) साईं मियां मीर इंटरनेशनल एवार्ड-2005 2) महात्मा गांधी सर्विस एवार्ड-2006 3) सर्व धर्म महासंघ के मुख्य संरक्षक
उपाधि	–	युगपुरुष, राष्ट्रसंत, योगिराज आदि

श्रमणसंघीय, मंत्री
श्री शिरीष मुनि जी महाराज : शब्द-चित्र

जन्म स्थान	:	नाई (उदयपुर, राजस्थान)
जन्मतिथि	:	19-02-1964
माता	:	श्रीमती सोहनबाई
पिता	:	श्रीमान ख्यालीलाल जी कोठारी
वंश, गौत्र	:	ओसवाल, कोठारी
दीक्षार्थ प्रेरणा	:	दादीजी मोहन बाई कोठारी द्वारा।
दीक्षा तिथि	:	7 मई, 1990
दीक्षा स्थल	:	यादगिरी (कर्नाटक)
गुरु	:	श्रमण संघ के चतुर्थ पट्टधर आचार्य श्री शिवमुनि जी महाराज
शिक्षा	:	एम. ए. (हिन्दी साहित्य)
अध्ययन	:	आगमों का गहन गंभीर अध्ययन, जैनेतर दर्शनों में सफल प्रवेश तथा हिन्दी, संस्कृत, अंग्रेजी, प्राकृत, मराठी, गुजराती भाषाविद्।
अलंकरण	:	श्रमणसंघीय मंत्री, श्रमणश्रेष्ठ कर्मठयोगी, साधुरत्न
शिष्य सम्पदा	:	श्री निशांत मुनि जी, श्री निरंजन मुनि जी
विशेष प्रेरणादायी कार्य	:	ध्यान योग साधना शिविरों का संचालन, बाल-संस्कार शिविरों और स्वाध्याय-शिविरों के कुशल संचालक। आचार्य श्री के अनन्य सहयोगी।

आत्म - शिव साहित्य

आचार्य-द्वय रचित शब्द-संसार का सूचिपत्र



श्री आचारांग सूत्रम्
(प्रथम श्रुतस्कन्ध)
पृष्ठ संख्या 936
सहयोग राशि : 500 रु

दो श्रुत-स्कन्धों के 25 अध्यायों में सुगुम्फित ज्ञान, दर्शन, चारित्र की आराधना रूप जैन आचार के शाश्वत स्वरूप को अभिव्यंजित-व्याख्यायित करने वाला द्वादशांगी का प्रथम अंग। आगम-वाङ्‌मय के आधुनिक अभयदेव आचार्य श्री आत्माराम जी महाराज की अंत:प्रभा और प्रज्ञा की छाया तथा शिवाचार्य के अनुभव गम्य अध्यात्मसार का सहकार पाकर आचारांग की विशाल और अगाध ज्ञान-राशि सरल और मधुमिष्ठ भाषा-शैली में अवतरित हुई है। दो जिल्दों में प्रस्तुत यह संस्करण आचारांग के कथ्य को हस्तामलकवत् प्रकट करता है।



श्री आचारांग सूत्रम्
(द्वितीय श्रुतस्कन्ध)
पृष्ठ संख्या · 526
सहयोग राशि 400 रु.



श्री स्थानांग सूत्रम्
(प्रथम भाग)
पृष्ठ संख्या : 1248
सहयोग राशि 500 रु

जीव, अजीव, स्व-सिद्धान्त, पर-सिद्धान्त, लोक, अलोक, पर्वत, द्वीप प्रभृति विभिन्न विषयों के साथ-साथ दार्शनिक चर्चाओं का विशद व्याख्यान करने वाला द्वादशांगी का तृतीय अंगागम। विषय और सामग्री की विशालता को देखते हुए इस आगम को दो खण्डों में प्रकाशित किया गया है।



श्री स्थानांग सूत्रम्
(द्वितीय भाग)
पृष्ठ संख्या 884
सहयोग राशि 400 रु



श्री उपासकदशांग सूत्रम्
पृष्ठ स. : 400, सहयोग राशि : 300 रु.

इस आगम में तीर्थंकर महावीर के दस अग्रगण्य और लोकमान्य श्रमणोपासकों के पारिवारिक, व्यावसायिक, सामाजिक और धार्मिक जीवन का सुसम्बद्ध सांगोपांग विवरण उपलब्ध है।



श्री अन्तकृद्दशांग सूत्रम्
पृष्ठ स : 496, सहयोग राशि : 300 रु.

90 अंतकृत् (उसी भव में मोक्ष प्राप्त करने वाले) आत्मजयी महान् साधकों की लोमहर्षक साधनाओं का विहंगम विवरण प्रस्तुत करने वाला आगम। इस आगम का पर्युषणों में सर्वत्र वांचन होता है।



श्री अनुत्तरौपपातिक सूत्रम्
पृष्ठ सं. : 100, सहयोग राशि : 100 रु.

अनुत्तर विमानों में उत्पन्न तीर्थंकर-संस्तुत धन्य अणगार सहित 33 महान साधकों की संयमीय गाथा का चित्रण प्रस्तुत करने वाला नवम अंग।



श्री विपाक सूत्रम्
पृष्ठ सं. : 1024,
सहयोग राशि : 500 रु.

पुण्य के मधुफल और पाप के दुष्फल का विराट और विशाल कथात्मक व्याख्यान करने वाला द्वादशांगी का ग्यारहवां अंग।



श्री उत्तराध्ययन सूत्रम्
(प्रथम भाग 1 से 13 अध्ययन)
पृष्ठ संख्या : 480
सहयोग राशि 300 रु



(द्वितीय भाग-14
से 25 अध्ययन)
पृष्ठ संख्या . 492
सहयोग राशि · 300 रु



(तृतीय भाग-26
से 36 अध्ययन)
पृष्ठ संख्या 496
सहयोग राशि : 300 रु

जैन आचार, विचार, धर्म और दर्शन संबंधी कथा प्रधान उपदेशात्मक शैली के इस आगम का जैन परम्परा मे वही स्थान है जो वैदिकों मे भगवद्गीता, ईसाइयों में बाईबल, और मुसलमानों मे कुरान का है। विषय की विशालता और व्याख्या की विशदता को दृष्टिपथ मे रखते हुए इस आगम को तीन भागो–तीन जिल्दो मे प्रस्तुत किया गया है।



श्री निरयावलिका सूत्रम्
पृष्ठ स. : 440, सहयोग राशि : 300 रु.

कल्पिका, कल्पावतसिका, पुष्पिका, पुष्पचूलिका और वृष्णिदशा–उक्त पाच उपांगो का संयुक्त संस्करण। विभिन्न अगों के उपाग रूप इस संयुक्त सस्करण में कुल 52 जीवो का जीवन-दर्शन वर्णित है।



श्री दशवैकालिक सूत्रम्
पृष्ठ सं. : 498, सहयोग राशि : 300 रु.

श्रमण के विशद आचार-विचार का संवाहक चार मूल आगमों में प्रथम आगम। शिशु हेतु मातृ दुग्ध के तुल्य नवदीक्षित श्रमणों के संयम को पुष्ट करने वाला यह आगम सर्वप्रथम पठनीय माना जाता है।



श्री नन्दी सूत्रम्
पृष्ठ स. : 536, सहयोग राशि : 400 रु.

मति, श्रुत, अवधि, मन: पर्याय और केवलज्ञान का विशद विवेचन करने वाला ज्ञानाचार का प्रतिनिधि मूल आगम।



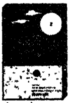
श्री दशाश्रुतस्कन्ध सूत्रम्
पृष्ठ स · 496, सहयोग राशि : 300 रु.

असमाधि, आशातना, शबल दोष, गणि-सपद्, चित्त समाधि, उपासक प्रतिमा, श्रमण प्रतिमा आदि विविध विषयो के स्वरूप को व्याख्यायित-विवेचित करने वाला आगम।



श्री अनुयोग द्वार सूत्र
(पूर्वार्द्ध)
पृष्ठ संख्या . 836
सहयोग राशि . 500 रु

नय, निक्षेप, प्रमाण आदि का सूक्ष्म विवरण प्रस्तुत करने वाला दो खण्डों मे प्रकाशित विशाल आगम।



श्री अनुयोग द्वार सूत्र
(उत्तरार्द्ध)
पृष्ठ संख्या : ७92
सहयोग राशि · 500 रु



श्री आवश्यक सूत्रम्
(शब्दार्थ-भावार्थ सहित)
पृष्ठ स. : 192, सहयोग राशि : 40 रु.

प्रतिदिन पठनीय-आराधनीय सूत्र। यह सूत्र बाहर से भीतर लौटने का विधान-कर्त्ता होने से प्रतिक्रमण भी कहलाता है। परिशिष्ट में श्रावक व्रतों के ग्रहण करने की विधि संयोजित की गई है।



श्री उत्तराध्ययन सूत्रम्
पृष्ठ सं. : 632, सहयोग राशि : 200 रु.

मूल, अन्वयार्थ और मूलार्थ के साथ श्री उत्तराध्ययन सूत्र के सपूर्ण 36 अध्ययनो की सयुक्त प्रस्तुति।



श्री अन्तकृद्दशांग सूत्रम्
पृष्ठ स. : 248, सहयोग राशि : 50 रु.

आचार्य श्री कृत व्याख्या-प्रधान श्री अंतकृद्दशाग सूत्रम् से संकलित मूल, अन्वयार्थ और मूलार्थ को प्रस्तुत करने वाला पर्युषणोपयोगी संस्करण।



तत्वार्थ सूत्र जैनागम समन्वय
पृष्ठ स. : 304, सहयोग राशि : 100 रु.

जैन धर्म की चारो संप्रदायों में मान्य और समावृत "तत्वार्थ सूत्र" के प्रत्येक सूत्र के आगमीय आधार को प्रकाशित करने वाला अपनी कोटि का प्रथम ग्रन्थ।

जैन तत्व विद्या



जैन ज्ञान प्रकाश
पृष्ठ स. . 616
सहयोग राशि · 200 रु.

जैन दर्शन और जैन सिद्धान्तों को प्रकाशित करने वाला प्रश्नोत्तर शैली का एक बृहद्-ग्रंथ।



जैन तत्व कलिका विकास
पृष्ठ स. : 384, सहयोग राशि : 75 रु.

जैन तत्व विद्या को सरल और तरल शब्दावली में प्रस्तुत करने वाला एक श्रेष्ठ ग्रन्थ। नौ कलिकाओ मे विभक्त यह प्रामाणिक ग्रन्थ अपने पृष्ठों मे जैन धर्म और दर्शन की विशाल ज्ञान-राशि सचित किए हुए है।



जिन शासनम्
पृष्ठ स. : 120, सहयोग राशि : 40 रु.

जैन तत्व मीमासा की सरल शब्दावली मे प्रस्तुति। जैन धर्म, जैन श्रमण, जैन श्रावक, जैन आचार्य तथा सघ समन्वय के साथ-साथ नौ तत्वो और आहार-विवेक पर प्रकाश डालने वाली अनुपम कृति।



अध्यात्म सार
पृष्ठ स. : 160, सहयोग राशि : 60 रु.

एक आध्यात्मिक स्वानुभूत अमृत का कोष, जिसमे आचारांग के ध्यान और साधना संबंधी सूत्रो का अंत:स्वरूप उद्घाटित हुआ है। आचाराग जैसे गुरु-गम्भीर आगम मे प्रवेश को सुगम बनाने वाला एक बृहद आलेख।

शोध प्रबन्ध



भारतीय धर्मों मे मुक्ति
पृष्ठ स. : 260,
सहयोग राशि · 220 रु

विविध भारतीय धर्मों मे मोक्ष के स्वरूप को स्पष्ट करके जैन धर्म के मोक्ष सम्बन्धी विशिष्ट सदर्भों को प्रस्तुत करने वाला प्रशसित ग्रन्थ।

जीवन सूत्र



आ घर लौट चले
पृष्ठ स. · 144
सहयोग राशि · 60 रु.

सस्कार, शिक्षा, स्वर्णिम वृद्धत्व, तनाव मुक्ति, समय-संयोजना और समाधान की छाया सहित अपने घर लौटने के वैज्ञानिक सूत्रो का संकलन।



योग मन सस्कार
पृष्ठ स. : 136, सहयोग राशि : 50 रु.

सम्यक् आहार, आचार, विचार और बाल-सस्कार सबंधी विशद चिन्तन, तथा योग, मन और प्रतिक्रमण के विराट् स्वरूप पर सरल शब्दावली में गहन मनन की प्रस्तुति।

ध्यान साहित्य



ध्यान : एक दिव्य साधना
पृष्ठ स. : 256
सहयोग राशि : 120 रु.

जैन, बौद्ध और वैदिक धर्म-शास्त्रो के ध्यान सबंधी सूत्रों तथा महर्षि रमण, अरविन्द प्रभृति योगाचार्यों की ध्यान-पद्धतियों को सुश्रृंखलित लेखमाला में प्रस्तुत करने वाला एक कालजयी ग्रन्थ।



ध्यान-पथ
पृष्ठ सं. : 176, सहयोग राशि : 60 रु.

ध्यान की विधि और उद्देश्य के साथ-साथ धर्म, सद्गुरु, शरणभाव, ओंकार, सामायिक, मौन और प्रतिक्रमण प्रभृति आध्यात्मिक बिन्दुओं के अंतःस्वरूप को स्पष्ट करने वाली एक संपूर्ण पुस्तक।



जैनागमों में अष्टांग योग
पृष्ठ सं. : 154, सहयोग राशि : 60 रु.

आगम साहित्य में यत्र-तत्र प्रकीर्ण अष्टांग योग के बीज सूत्रों को प्रकट करने वाला अन्वेषण प्रधान ग्रन्थ। महर्षि पतंजलि कृत "योग सूत्र" से तुलनात्मक अध्ययन।



आत्म ध्यान : स्वरूप और साधना
पृष्ठ सं. : 112, सहयोग राशि : 25 रु.

आत्म-ध्यान के साधनात्मक स्वरूप की प्रायोगिक प्रस्तुति। इस पुस्तक में बेसिक कोर्स के पांच प्रवचन सरल भाषा में दिए गये हैं। ध्यान में प्रवेश करने वाले मुमुक्षुओं के लिए यह पुस्तक अत्यन्त उपयोगी है।



वीतराग विज्ञान
पृष्ठ सं. : 112, सहयोग राशि : 30 रु.

वीतराग सामायिक का समग्र स्वरूप प्रकट करने वाली तथा दैनिक आराधना में आत्मज्ञान को पुष्ट करने वाली पुस्तिका। साथ ही शिवाचार्य के साधनात्मक समाधान, अरिहंत वाणी और भक्ति-गीतों की सहसंयोजना भी।



आत्म ध्यान - योग साधना
पृष्ठ सं. : 96
सहयोग राशि : 10 रु.

जीवन तत्व, यौवन तत्व, तथा योग के कई विशिष्ट आसनों को प्रस्तुत करने वाली सचित्र पुस्तिका।



सिद्धालय का द्वार : समाधि
पृष्ठ सं. : 72, सहयोग राशि : 10 रु.

शिवाचार्य द्वारा अन्वेषित ध्यान-विधि के प्रारंभिक चरणों को प्रयोग-सहित विश्लेषित करने वाली लघु-पुस्तिका। भाव प्रतिक्रमण की भूमिका एवं अरिहंत वाणी का सह संयोजन भी इस पुस्तक में किया गया है।

प्रवचन साहित्य



अहासुहं देवाणुप्पिया
पृष्ठ सं. : 248
सहयोग राशि : 100 रु.

तीर्थंकर महावीर की मूल वाणी श्री अंतकृद्दशांग सूत्र पर नौ प्रवचनों की तात्विक, सारगर्भित और सरस व्याख्यान-शृंखला।



संबुज्झह किं ण बुज्झह
पृष्ठ सं. : 256, सहयोग राशि : 50 रु.

"जागो! जागते क्यों नहीं हो! संबोधि का पुनः प्राप्त होना सुलभ नहीं है।" प्रभु ऋषभ के इस शाश्वत-संदेश को वर्तमान संदर्भों में विभिन्न प्रवचनों के माध्यम से सामयिक स्वरूप देने वाली पुस्तक।



नदी नाव संजोग
पृष्ठ सं. : 200, सहयोग राशि : 60 रु.

ज्ञान, दर्शन, चारित्र, तप, भावना, योग, संवेग, निर्वेद, अवैर, अप्रमाद, मैत्रीभाव आदि विभिन्न आध्यात्मिक विषयों के अंतःस्वरूप को प्रकाशित करने वाली एक मूल्य-प्रधान कृति।



मा पमायए
पृष्ठ सं. : 200, सहयोग राशि : 60 रु.

उठो! जागो! और पा लो उसे जो सदा से ही पाया हुआ है। अप्रमाद और अंतर्जागृति का शाश्वत संदेश देने वाली पुस्तक।



शिव धारा
पृष्ठ संख्या : 112, सहयोग राशि : 50 रु.

सहज, सरल और सटीक शब्दावली में 22 प्रवचनांशों का चिन्तन-प्रधान नवनीत।



अन्तर्यात्रा
पृष्ठ संख्या : 200, सहयोग राशि : 50 रु.

14 सारगर्भित प्रवचनों में संकलित यह पुस्तक बाहर से भीतर लौटने का संदेश देती है। साथ ही सरस और स्वस्थ जीवन जीने के सूत्रों का निरूपण भी करती है।



पढम नाण
पृष्ठ स. : 128
सहयोग राशि : 50 रु.

आचार्य श्री की प्रारंभिक तीन कृतियो–'पढम नाणं' 'अनुशीलन' एव 'समयं गोयम मा पमायए' का यह सयुक्त सस्करण है।



अनुभूति
पृष्ठ स. : 112
सहयोग राशि : 35 रु.

शिवाचार्य के व्याख्यान-वाङमय से चयनित 47 मधु-मुक्ताओ का श्रेष्ठ संकलन।



अमृत की खोज
पृष्ठ स : 96
सहयोग राशि · 20 रु

अतर्घट के पनघट में संचित अमृत के रहस्य को प्रकट कर उसे पा लेने–पी लेने का सरल सदेश देने वाली पुस्तिका।



सद्गुरु महिमा
पृष्ठ स. . 112
सहयोग राशि : 50 रु.

सद्गुरु की महिमा के पावन-प्रकाश मे देव, गुरु, धर्म, आत्मोपासना और आत्म-प्रेम के आगमीय आधार पर स्वरूप-सृजन की अक्षर-यात्रा।



शिवाचार्य : जीवन दर्शन
लेखक : श्री शिरीष मुनि जी महाराज
पृष्ठ स. : 368
सहयोग राशि : 200 रु.

पचम काल के सिद्ध साधक शिवाचार्य श्री की लोक-मगल यात्रा का सागोपांग सचित्र दर्शन प्रस्तुत करने वाली एक कालजयी रचना।



प्रकाशपुज महावीर
पृष्ठ स. . 48
सहयोग राशि : 20 रु.

चौबीसवें तीर्थंकर प्रकाश-पुज महावीर के जीवन-दर्शन का सरस, और सर्वोपयोगी लघु-प्रकाशन।



शिवाचार्य वचनामृत
पृष्ठ स. : 32
सहयोग राशि : 5 रु.

सृजन-साधक शिवाचार्य की कई श्रेष्ठ सर्जनाओ मे सकलित सूक्त जो पाठक की हृदय-अवनिका पर अमृत की फुहार बनकर बरसते हैं।



शिवाचार्य प्रवचन गीत
पृष्ठ स. : 96
सहयोग राशि : 10 रु.

भक्ति-रस से आप्लावित ऐसे गीति पदो का संकलन जो स्वर-साधको और श्रोताओं के हृदय में भक्ति का क्षीर-सागर लहलहा देते हैं।






बाल साहित्य

जैन धर्म शिक्षावली

(पहला भाग) पृष्ठ संख्या : 24, सहयोग राशि : 10 रु.

(दूसरा भाग) पृष्ठ संख्या : 32, सहयोग राशि : 12 रु.

(तीसरा भाग) पृष्ठ संख्या : 40, सहयोग राशि : 15 रु.

(चौथा भाग) पृष्ठ संख्या : 80, सहयोग राशि : 25 रु.

(पांचवां भाग) पृष्ठ संख्या : 112, सहयोग राशि : 30 रु.

(छठा भाग) पृष्ठ संख्या : 112, सहयोग राशि : 30 रु.

(सातवां भाग) पृष्ठ संख्या : 136, सहयोग राशि : 35 रु.

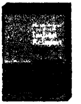
(आठवां भाग) पृष्ठ संख्या : 168, सहयोग राशि : 40 रु.

"जैन धर्म शिक्षावली" भाग 1 से 8 तक जैन-जैनेतर ज्ञान- विज्ञान का इन्साइक्लोपिडिया है। आचार से लेकर विचार तक, धर्म से लेकर दर्शन तक, इहलोक से लेकर परलोक तक तथा जड़ से लेकर चैतन्य के समस्त स्तरो तक, ऐसा कोई तत्व नहीं है जिसका इन आठ पुस्तिकाओ में दिग्दर्शन न हुआ हो। जैन बालक-बालिकाओ के साथ-साथ जैनेतर बालक-बालिकाओ के लिए भी इन पुस्तिकाओं में मन, मस्तिष्क और आत्मा को पुष्ट करने वाली पर्याप्त सामग्री मौजूद है। वय क्रम को ध्यान मे रखकर बाल-मनोवेत्ता आचार्य श्री ने इन पुस्तिकाओ को भाषा और भाव की दृष्टि से सरल और सरस बनाने का सफल प्रयत्न किया है।






अंग्रेजी साहित्य



The Doctrine of liberation In Indian religion

पृष्ठ सं. : 227
सहयोग राशि : 375 रु.

मुक्ति के सिद्धातो का जैन धर्म मे मुक्ति के स्वरूप के साथ तुलनात्मक अध्ययन प्रस्तुत करने वाला देश-विदेश में चर्चित और प्रशंसित शोध प्रबध।



Return to Self

पृष्ठ स. : 180, सहयोग राशि : 100 रु.

शिवाचार्य की विश्रुत कृति "आ घर लौट चलें" की आग्ल भाषा मे अनुदित यह रचना जीवन-निर्माण सबधी स्वर्णिम सूत्रों का अपूर्व सकलन है।



Self Development by Meditation

पृष्ठ सं. : 186, सहयोग राशि : 110 रु.

समाधि द्वारा आत्म-विकास की यात्रा का पथ प्रशस्त करने वाली शिवाचार्य-सृजित "ध्यान-पथ" नामक हिन्दी पाठकों मे अतिशय लोकप्रिय पुस्तक का अंग्रेजी अनुवाद।



Spiritual Practices of Lord Mahavira

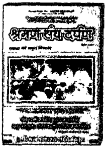
पृष्ठ सं. : 40, सहयोग राशि : 25 रु.

तीर्थंकर महावीर की साधना का सूत्रात्मक विवरण।



श्रमण संघ दर्पण

(श्रमण संघीय श्रावक समिति का मुखपत्र)



जीवन-मूल्यों को समर्पित, धार्मिक, दार्शनिक, राष्ट्रीय और सामाजिक विचार-वैभव का पारदर्शी दर्पण - 'श्रमण संघ दर्पण' एक सम्पूर्ण और सशक्त मासिक पत्रिका है। जैन परिवेश में पल्लवित इस पत्र में प्रतिमाह पारम्परिक सामग्री के साथ-साथ कई अन्वेषणात्मक आलेख भी प्रकाशित होते हैं। आजीवन सदस्यता : रु. 1000 मात्र।

पुस्तकें कैसे मंगवायें?

प्रत्येक ऑर्डर पर अपना नाम व पूरा पता पिन कोड सहित लिखें। अग्रिम राशि प्राप्त होने पर पुस्तकें भेजी जाती हैं। डाक शुल्क अलग से भेजें। 'भगवान महावीर मेडिटेशन एंड रिसर्च सेंटर ट्रस्ट, लुधियाना' के नाम देय डी.डी. या मनीऑर्डर के द्वारा ही सहयोग राशि प्राप्त की जाती है। मनीऑर्डर या डी.डी. प्राप्त होते ही पुस्तकें रजि. डाक द्वारा भेजी जाएंगी। आपके ऑर्डर की पुस्तकें या पत्र का जवाब 15 दिन तक न मिले तो समझें कि आपका पत्र हमें नहीं मिला है। अतः तुरंत दूसरा पत्र लिखें। यदि आप पुस्तक विक्रेता हैं और हमारे प्रकाशनों में रुचि रखते हैं तो एजेन्सी के लिए संपर्क करें। लाइब्रेरी सप्लाई की भी विशेष व्यवस्था है।

सम्पूर्ण साहित्य एक साथ लेने पर सहयोग राशि : रु. 5100 मात्र।
आगम साहित्य एक साथ लेने पर सहयोग राशि : रु. 4100 मात्र।
सी.डी., वी.सी.डी, डी.वी.डी. एवं कैसेट्स सम्पूर्ण सैट : रु. 1600 मात्र।

प्रकाशक

भगवान महावीर मेडिटेशन एंड रिसर्च सैंटर ट्रस्ट
आदीश्वर धाम कुप्प कलां, जि. संगरूर, पंजाब. फोन : 01675-273981

संपर्क सूत्र

भगवान महावीर मेडिटेशन एंड रिसर्च सैंटर ट्रस्ट
द्वारा : श्री अनिल जैन, 1924, गली न. 5, कुलदीप नगर,
लुधियाना (पंजाब). फोन : 09417010298

Website : www.jainacharya.com
E-mail : shivacharyaji@jainacharya.com
shivacharyaji@yahoo.co.in